HINDI HISTORICAL SERIES No. I.

मिस्टर रमेशचन्द्र दत्त का

प्राचीन भारतवर्ष की

सभ्यता का इतिहास

पहिला भाग

जिसे

गोपाल दास ने

सरल हिन्दी में अनुवाद किया

और

इतिहास-प्रकाशक-समिति काशी ने
प्रकाशित किया।

1905.

TARA PRITING WORKS,

BENARES.

समर्पण ।

—:*:—

हिन्दी सम्बादपत्रों के सम्पादकों

को

जो वास्तव में इसमें लिखी बातों के विचार
करने के उपयुक्त पात्र हैं

यह अनुवाद

सादर समर्पित है ।

अनुवादकर्ता ।

निवेदन ।

इस बात को कई वर्ष हुए कि काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने मिस्टर रमेशचन्द्रदत्त से उनके प्राचीन भारतवर्ष की सभ्यता के इतिहास के हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने की आज्ञा प्राप्त की थी और उसे छापने का भार प्रयाग के इण्डियन प्रेस के स्वामी ने लिया था। पहिले तो इस ग्रन्थ के अनुवाद होने में ही बहुत विलम्ब हुआ फिर जब यह अनुवाद प्रस्तुत हुआ तो इण्डियन प्रेस में वह पड़ा रहा। अन्त में सभा ने इस अनुवाद की हस्तलिखित प्रति इण्डियन प्रेस से लौटा ली और उसके स्वयं छपवाने का विचार किया। इसी बीच में हिन्दी समाचारपत्रों में इस ग्रन्थ के विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ हुआ और वे लोग यह सम्मति देने लगे कि सभा द्वारा इस ग्रन्थ का हिन्दी में छपना सर्वथा अनुचित होगा। अस्तु इस झगड़े को शान्त करने के अभिप्राय से बाबू श्याम-सुन्दरदास ने सभा से प्रार्थना की कि उन्हें यह अनुवाद अपने व्यय से छापने के लिये दे दिया जाय। सभा ने इस प्रार्थना को स्वीकार किया और यह ग्रन्थ छपने के लिये प्रेस में दे दिया गया। इधर अनेक मित्रों ने बाबू श्यामसुन्दरदास को यह सम्मति दी कि हिन्दी में ऐतिहासिक ग्रन्थों का पूरा अभाव है अतएव ऐसा उद्योग होना चाहिए कि जिसमें केवल यही नहीं वरन और भी ऐतिहा-सिक ग्रन्थ हिन्दी में प्रकाशित होते रहें। निदान इस सम्मति के अनुसार उद्योग करने पर यह इतिहास-प्रकाशक-समिति स्थापित हुई कि जिसकी नियमावली आदि इस ग्रन्थ के अन्त में दी गई है। इसी समिति की ओर से यह ग्रन्थ अब छाप कर प्रकाशित किया जाता है।

कोई भी ग्रन्थ हो उसके विषय में यह कभी भी नहीं कहा जा सकता कि इसमें जो कुछ लिखा है सब ठीक है, कहीं किसी प्रकार का मतान्तर नहीं है। जब यह अवस्था सब ग्रन्थों की है तो यह

इतिहास उस श्रेणी से कदापि अलग नहीं हो सकता, परन्तु अब तक जितने ग्रन्थ प्राचीन भारतवर्ष के इतिहास के लिखे गए हैं उनमें मिस्टर दत्त का ग्रन्थ सब से श्रेष्ठ माना जाता है। यही कारण है कि यह प्रकाशित किया जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इस ग्रन्थ में निर्धारित विषयों के सम्बन्ध में मतभेद होगा और यह मतभेद पुरातत्व सम्बन्धी विषयों में सदा बना रहेगा। इस अवस्था में यह समिति इस बात की आशा करती है कि वे लोग जो जाने वा अनजाने इस ग्रन्थ के प्रकाशित होने के विरोधी थे अब इस पर पूर्णतया विचार करेंगे और पक्षपात रहित होकर सत्य और असत्य का निर्णय करेंगे। यदि कोई महाशय प्रमाणों सहित इस ग्रन्थ की भूलों को दिखलावेंगे तो यह समिति उनकी सम्मति को आनन्दपूर्वक इस ग्रन्थ के चौथे भाग के साथ छाप कर प्रकाशित करदेगी। इस समिति को कदापि इस विषय में आग्रह नहीं है। इसकी केवल यही इच्छा है कि भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास हिन्दी में हो जाय और भारतवासी अपने देश और समाज की वास्तविक प्राचीन अवस्था को जान जांय अथवा उसके जानने के उद्योग में लग जांय तथा इस विषय मे दूसरे लोग क्या कहते हैं सो जान जांय क्योंकि वास्तव में ऐसी बातों का उचित निर्णय इस देश के पण्डित विद्वान ही कर सकते हैं जो देश की चाल व्यवहारों के जानकार और संस्कृत के ग्रन्थों का मूलतत्त्व समझ सकते हैं, परन्तु अंगरेजी न जानने के कारण उन पर अपना मत प्रकाशित नहीं कर सकते। समिति को विश्वास है कि इस देश के पण्डितों के हाथ से समालोचित होने से ऐसे विषयों में अनेक भ्रम दूर हो जॉयगे। आशा है कि समिति अपने मनोरथ में सफल हो।

दिसम्बर १९०४

अध्यायों की सूची।

वैदिक काल।

ऐतिहासिक काव्य काल।

ग्रन्थकार की भूमिका।

———:o:———

प्रोफ़ेसर मेक्समूलर कहते हैं कि "यदि मुझसे पूछा जाय कि उन्नीसवीं शताब्दी में मनुष्य जाति के प्राचीन इतिहास के विषय में सब से अधिक आवश्यक कौनसी बात विदित हुई है तो इसका उत्तर मैं नीचे लिखी हुई पंक्ति में दूंगा।

" संस्कृत, द्यौश पितर=युनानी, ज़िउस पेट=लेटिन, जुपिटर =ओल्ड नोर्स, टिर"

और वास्तव में योरप के विद्वानों ने पिछले सौ वर्षों के भीतर प्राचीन आर्यभाषा से, जो कि अब तक भारतवर्ष में रक्षित है, जिन बातों का पता लगाया है वे मानवी विद्या की उन्नति के इतिहास में अत्यन्त सुन्दर अध्याय हैं।

मेरा अभिप्राय यहां पर उन इतिहास को वर्णन करने का नहीं है। परन्तु थोड़ी सी बातें जो कि भारतवर्ष के पुरातत्त्व से सम्बन्ध रखती हैं उनका उल्लेख यहां पर मनोरञ्जक होगा।

इस बात को लगभग एक सौ वर्ष हुए कि सर विलियम जोन्स ने शकुन्तला का अनुवाद करके योरप के विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया। यह शकुन्तला जैसा कि उन्होंने अपनी भूमिका में कहा है "एशिया के साहित्य में एक बड़ी भारी अद्भुत वस्तुओं में से है जो कि अब तक प्रगट की गई हैं और वह मनुष्य की कल्पना शक्ति की उन रचनाओं में सब से कोमल और सुन्दर है जो कि किसी युग या किसी देश में कभी की गई हो।

योरप के विद्वानों का ध्यान संस्कृत के साहित्य के माहात्म्य और उत्तमता की ओर आकर्षित हुआ और आज कल के सब से बड़े ग्रन्थकर्ता ने इस हिन्दू नाटक के सम्बन्ध में अपनी सम्मति निम्न-

लिखित पंक्तियों में दी है जो कि इतनी अधिकता से उद्धृत की जाती हैं।

"Wouldst thou the life's young blossoms and the fruits of its decline,
And by which the soul is pleased, enraptured, feasted, fed,—
Wouldst thou the earth and heaven itself in one sweet name combine ?
I name thee, O Sakuntala, and all at once is said.'
—Göethe

सर विलियम जोन्स साहब ने मनु का अनुवाद किया, उन्होंने एशियाटिक सोसायटी को स्थापित किया और संस्कृत साहित्य के भण्डार की खोज करके उसमें से अमूल्य बातों का पता लगाया। परन्तु वे जो भारतवर्ष के " प्राचीन इतिहास को कि जिसमें कल्पित कथा का कुछ भी मेल न हो " ढूंढते थे उसकी कुंजी न पासके। इसका कारण यह है कि उन्होंने केवल पीछे के समय के, अर्थात् बुद्ध के समय के उपरान्त के संस्कृत ग्रन्थों ही में परिश्रम किया और इसके पहिले के ग्रन्थों पर ध्यान नहीं दिया जिनमें कि खजाना भरा हुआ है।

कोलब्रूक साहब ने भी सर विलियम जोन्स के ही ढंग पर काम किया। वे गणित के विद्वान थे और योरप में संस्कृत के सब से बड़े दक्ष और अप्रमत्त पण्डित थे। प्राचीन संस्कृत के ग्रन्थों में कोई बात ऐसी नहीं थी जो कि उनसे छिपी हो। उन्होंने हिन्दू वेदान्त का बड़ा अच्छा और सच्चा वृत्तान्त लिखा, हिन्दू बीजगणित, और गणित पर पुस्तकें लिखीं और सन् १८०५ में उन्होंने पहिले पहिल योरपवासियों को आर्यजाति के सब से प्राचीन ग्रन्थ अर्थात् वेदों से परिचित किया। परन्तु कोलब्रूक साहब यह न जान सके कि उन्होंने कितनी अनमोल वस्तु प्राप्त की है। उन्होंने कहा है कि वेदों के पढ़ने से "अनुवादकर्ता के श्रम का फल तो दूर रहा पर पाठकों को भी उनके श्रम का फल कठिनता से मिलेगा।"

डाक्टर एच० एच० विलसन साहब ने कोलब्रूक का अनुकरण किया। और यद्यपि उन्होंने ऋग्वेद संहिता का अंगरेजी में अनुवाद किया है परन्तु वे अधिकतर पीछे के समय के संस्कृत साहित्य ही में अपना समय लगाते थे। उन्होंने संस्कृत के उत्तमोत्तम नाटकों तथा कालिदास के सुन्दर काव्य 'मेघदूत' का ललित अंगरेजी में अनुवाद किया। उन्होंने विष्णुपुराण का भी अनुवाद किया और हिन्दुओं के उत्तर काल के इतिहास को ठीक करने का यत्न किया और बहुत सी बातों का सन्तोषदायक रीति से निर्णय भी किया।

इसी समय में फ्रान्स में एक बड़े विद्वान हुए। उनसे बढ़कर पूर्वदेशीय विषयों के विद्वानों में और कोई नहीं हुआ। उनका नाम बर्नफ़ साहब है। उन्होंने ज़न्द और वैदिक संस्कृत के परस्पर सम्बन्ध का पता लगाया और अपने लिये एक तारतम्यात्मक व्याकरण बनाया। जर्मनी के विद्वानों ने इनके उपरान्त तारतम्यात्मक व्याकरण बनाए हैं। इस प्रकार उन्होंने ज़न्द भाषा और लेखों को पढ़ कर स्पष्ट किया, ऋग्वेद की व्याख्या की और यह दिखलाया कि आर्यजाति के इतिहास में उसकी क्या स्थिति है। उन्होंने सीरिया के शङ्कुरूपी लेखों को भी पढ़ कर स्पष्ट किया और इस प्रकार से वे योरप में अपना चिरस्मरणीय नाम छोड़ गए। और फिर उन्होंने अपनी "बुधिज़्म" नामक पुस्तक की भूमिका में पहिले पहिल इस बड़े धर्म्म का दार्शनिक और स्पष्ट वर्णन दिया है। उनकी शिक्षा ने योरप में लगभग २५ वर्षों तक (१८२५-१८५२) बड़ा आन्दोलन उत्पन्न किया और पेरिस नगर के अनुरागी और उत्साही शिष्यों पर इसका बड़ा असर पड़ा और इनमें से राथ साहब और मेक्समूलर साहब की नाईं कुछ लोग हमलोगों के समय में वेदों के बड़े पण्डित हुए हैं।

इसी बीच में जर्मनी के विद्वानों ने भी परिश्रम करना आरम्भ किया और जब उन्होंने इस विषय में कार्यारम्भ किया तो शीघ्र ही भारतवर्ष के पुरातत्त्व की खोज करनेवालों में वे सब से बढ़ गए। रोजन साहब ने, जो कि राजा राममोहन राय के समकालीन थे

ऋग्वेद के पहिले अष्टक को लेटिन भाषा में अनुवाद सहित प्रकाशित किया था परन्तु उनकी अकाल मृत्यु ने इस कार्य को रोक दिया।

परन्तु उस समय के प्रसिद्ध विद्वानों ने इससे भी अधिक कार्य करना आरम्भ किया और बॉप, ग्रिम और हमबोल्ट ऐसे ऐसे विद्वानों की बुद्धि और उनके दृढ़ परिश्रम से शीघ्र ही ऐसा फल प्राप्त हुआ कि जो उस शताब्दी की नवीन आविष्कृत बातों में सब से प्रथम श्रेणी में गिने जाने योग्य है। उन लोगों ने सारे इण्डो--आर्यन भाषाओं अर्थात् संस्कृत, जन्द, ग्रीक, लेटिन, स्लेव, टयूटन, और केल्टिक भाषाओं में परस्पर सम्बन्ध का पता लगाया। उन्हों ने यह स्थिर किया कि ये सब भाषाएं किसी एक ही भाषा से निकली हैं और उन्होंने उन नियमों का भी पता लगा लिया जिनसे कि एक भाषा से दूसरी भाषा में जाते हुए शब्द का रूप बदल गया है। उस समय के साहित्य के विद्वान जिनका कि यह मत था कि सब उन्नति और सभ्यता का प्रारम्भ ग्रीक और लेटिन से हुआ है, पहिले पहिल इस सिद्धान्त पर हँसते थे परन्तु [illegible] वे लोग आश्चर्यित हुए और अन्त में उन्हें सत्य के आगे क्रोध और दुःख के साथ हार माननी पड़ी।

इस प्रकार विद्वान लोग जैसे जैसे संस्कृत की पूरी पूरी कदर को जानने लगे वैसे ही वैसे उनमें प्राचीन हिन्दू साहित्य और इतिहास की व्याख्या करने की रुचि बढ़ती गई। अतएव उस शताब्दी के बड़े भारी पण्डित रॉथ साहब ने यास्क को अपनी बहु मूल्य टिप्पणी के साथ सम्पादित किया। इसके पीछे उन्हों ने व्हिटनी साहब के साथ अथर्व वेद को सम्पादित किया और बॉटलिंक साहब के साथ संस्कृत भाषा का एक सर्वोत्तम और पूर्ण कोष तयार किया। इसके उपरान्त लेसन साहब ने अपना बृहद् ग्रन्थ Indische Alterthumskunde प्रकाशित किया जिसमें उन्हों ने ऐसी विद्वत्ता और योग्यता दिखलाई है कि जिसकी समता बहुत कम लोग कर सके हैं। वेबर साहब ने शुक्ल यजुर्वेद और उसके ब्राह्मणों और सूत्रों को प्रकाशित किया, अपने Indische

Studien में बहुत से संदिग्ध विषयों की व्याख्या की और अपने हिन्दू साहित्य के इतिहास में प्रथम वेर संस्कृत साहित्य का स्पष्ट और पूर्ण वृत्तान्त प्रकाशित किया। बेनफी साहब ने सामवेद के एक बहु मूल्य संस्करण को प्रकाशित किया, जिसका अनुवाद सहित एक संस्करण स्टिवेन्सन और विल्सन साहब पहिले निकाल चुके थे। और म्योर साहब ने संस्कृत साहित्य में से अत्यन्त व्यंजक और ऐतिहासिक पाठों का एक संग्रह पांच भागों में प्रकाशित किया जो कि उनके परिश्रम और विद्या का अब तक चिन्ह है।

और अन्त में प्रोफ़ेसर मेक्समूलर साहब ने समस्त प्राचीन संस्कृत साहित्य को समय के क्रम से सन् १८५६ में ठीक किया।

परन्तु इस बृहद् ग्रन्थ से कहीं बढ़ कर अमूल्य—विद्वान प्रोफ़ेसर साहब के भाषा, धर्म और देवताओं के सम्बन्ध की असंख्य पुस्तकों और लेखों मे—हिन्दुओं के लिये उनका ऋग्वेद संहिता का संस्करण है जिसे कि उन्हों ने सायन की टिप्पणी के साथ प्रकाशित किया है। इस पुस्तक का भारतवर्ष में कृतज्ञता और हर्ष के साथ आदर किया गया। यह वृहद् और प्राचीन ग्रन्थ जो कि गिनती के कुछ विद्वानों को छोड़ कर और लोगों के लिये सात तालों के भीतर बन्द था उसका मार्ग अब हिन्दू विद्यार्थियों के लिये खुल गया और उसने उन लोगों के हृदय में भूत काल का इतिहास जानने की, अपने प्राचीन इतिहास और प्राचीन धर्म्म को जानने की अभिलाषा उत्पन्न कर दी।

भारतवर्ष में जोन्स, कोलब्रूक और विलसन साहब के उत्तराधिकारी योग्य हुए परन्तु उनमें से सर जेम्स प्रिन्सेप साहब सब से बढ़ कर हुए। भारतवर्ष में स्तूपों और चट्टानों पर अशोक के जो लेख खुदे हुए हैं वे लगभग १००० वर्ष तक लोगों की समझ में नहीं आए और सर विलियम जोन्स साहब तथा उनके उत्तराधिकारी लोग भी उनका पता नहीं लगा सके। जेम्स प्रिन्सेप साहब ने जो कि उस समय एशियाटिक सोसायटी के मंत्री थे, इन शिलालेखों को पढ़ा और इस प्रकार से बौद्ध पुरातत्व और प्राचीन बौद्ध इतिहास प्रगट किया गया। यह

प्रिन्सेप साहब ही थे कि जिन्हों ने प्राचीन समय के बौद्ध राजाओं के सिक्कों से जो कि सारे पश्चिमी भारतवर्ष में पाए जाते हैं बहुत सी बातों का अत्यन्त पाण्डित्य के साथ वर्णन किया। उनके पीछे बहुत से योग्य विद्वानों ने इस कार्य को किया। डाक्टर हांग साहब ने ऐतरेय ब्राह्मण का अनुवाद किया और पार्सियों का इतिहास प्रगट किया। डाक्टर बर्नेल साहब ने दक्षिणी भारतवर्ष की प्राचीन लिपि विषय में लिखा। डाक्टर बुहलर साहब ने प्राचीन धर्म्मशास्त्र के विषय में बड़ी योग्यता से लिखा है और गतवर्ष में डाक्टर थीबो साहब ने प्राचीन हिन्दू रेखागणित को प्रकाशित किया है।

हमारे स्वदेशियों में से दो बड़े सुधारकों अर्थात् राजा राममोहन राय और स्वामी दयानन्द सरस्वती ने प्राचीन संस्कृत साहित्य की ओर ध्यान दिया। राजा राममोहन राय ने तो कई उपनिषदों का अंगरेज़ी में अनुवाद किया और स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद संहिता का हिन्दी में अनुवाद प्रकाशित किया। सर राजा राधाकान्त देव ने संस्कृत विद्या पर विशेष ध्यान दिया और उन्होंने एक बहुत ही उत्तम और पूर्ण कोष 'शब्दकल्पद्रुम' के नाम से प्रकाशित किया। डाक्टर भाऊदाजी और प्रोफ़ेसर भण्डारकर, डाक्टर के० एम० बेनर्जी और डाक्टर राजेन्द्र लाल मित्र ने भी पुरातत्त्व के सम्बन्ध में अच्छा काम किया है। मेरे योग्य मित्र पण्डित सत्यव्रत समश्रमी ने सायन की व्याख्या के सहित सामवेद का एक अच्छा संस्करण प्रकाशित किया है। उन्हों ने महीधर की व्याख्या के सहित शुक्ल यजुर्वेद को भी सम्पादित किया है और अब वे यास्क के निरुक्त का एक विद्वत्तापूर्ण संस्करण निकाल रहे हैं। और अन्त में, मेरे विद्वान मित्र, मिस्टर आनन्दराम बरुआ ने जो कि बङ्गाल सिविल सर्विस में थे एक छोटा और बहुत उत्तम अंगरेज़ी-संस्कृत का कोष प्रकाशित किया है और वे संस्कृत का बहुत भारी और विद्वत्तापूर्ण एक व्याकरण बना रहे हैं।

जेनरल कानिंघाम साहब ने पुरातत्त्व तथा भारतवर्ष के प्राचीन भूगोल के सम्बन्ध में जो कुछ परिश्रम किया है वह बहुमूल्य

है। इसी प्रकार बरगेस और फ़र्गुसन साहब ने भारतवर्ष की घर बनाने की विद्या पर लिखा है। इस विषय में फ़र्गुसन साहब के ग्रन्थ प्रामाणिक माने जाते हैं।

योरप में डाक्टर फॉसबोल साहब पाली भाषा के अध्ययन की जड़ डालने वाले कहे जा सकते हैं। उन्होंने सन् १८५५ में धम्मपद को सम्पादित किया था और उसके उपरान्त जातक की कथाओं को प्रकाशित किया है। डाक्टर ओडनबर्ग ने विनय के पाठों को सम्पादित किया है। और इन विद्वानों ने तथा ह्राइज़ डेविड्स और मेक्समूलर ने 'सेक्रेड बुक्स आफ़ दी इस्ट' नाम की अमूल्य ग्रन्थावली में बौद्ध ग्रन्थों के सब से मुख्य मुख्य भागों का अंगरेज़ी में अनुवाद हम लोगों के सामने उपस्थित किया है।

मैं इस ग्रन्थावली के विषय में कुछ कहा चाहता हूं क्योंकि मैं इसका विशेष अनुग्रहीत हूं। प्राचीन हिन्दू साहित्य और इतिहास को स्पष्ट करने के विषय में प्रोफ़ेसर मेक्समूलर साहब ने जीवित विद्वानों में सब से अधिक उपकार किया है। उनका यह विचार बहुत ही उत्तम है कि अंगरेज़ी जानने वाले पूर्वदेशीय मूल ग्रन्थों के अक्षरानुवाद से सहायता ले सकें।

संस्कृत, जन्द, पहलवी, पाली, अर्बी आदि के ३० से अधिक ग्रन्थ इसमें छप चुके हैं तथा और ग्रन्थों के छपने की आशा की जाती है। यहां पर मैं यह कह देना चाहता हूं कि इस ग्रन्थावली का मैं बड़ा ऋणी हूं। मैंने इन ग्रन्थों में से बहुत से वाक्य उद्धृत किए हैं और कहीं कहीं पर उनमें एकाध शब्द का अदल बदल कर दिया है और जिन मूल संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद इस ग्रन्थावली में दिया है उन्हें देखने की मुझे बिरलेही कहीं आवश्यकता पड़ी है।

अब मैं इस अपनी पुस्तक के विषय में दो चार शब्द कहूंगा। मैंने अपने मन में कई बेर यह प्रश्न किया है कि अब तक हम को जो सहायता मिल सकती है उससे क्या प्राचीन भारतवर्ष की सभ्यता का एक छोटा स्पष्ट ऐतिहासिक वृत्तान्त लिखा जा सकता है जो कि

प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर हो और जो इतनी सरल रीति से लिखा जाय कि उसे सर्वसाधारण उसे समझ सकें। मैं ऐसे ग्रन्थ के लिखे जा सकने में कोई सन्देह नहीं करता था पर मैं प्राय: यही चाहता था (जब मैंने इस ग्रन्थ का लिखना प्रारम्भ कर दिया था उस समय भी) कि यह किसी योग्य विद्वान द्वारा और ऐसे महाशय द्वारा लिखा जाता जो कि मेरी अपेक्षा इस कार्य में अधिक ध्यान और समय दे सकता।

जिन विद्वानों ने अपना जीवन भारतवर्ष के पुरातत्त्व के अध्ययन में बिताया है और जिन्होंने इस अमूल्य भण्डार से बहुमूल्य रत्न प्राप्त किए हैं वे लोग उन रत्नों के आभूषण बनाकर उन्हें सर्वसाधारण के काम के लिये उपस्थित करने में जी लगाते हुए नहीं दिखाई देते। अतएव यह स्पृहारहित कार्य कम योग्यता के लोगों द्वारा ही किया जाना चाहिए।

सर्वसाधारण के लिये ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता है, इस बात को कोई अस्वीकार नहीं करेगा। हिन्दू विद्यार्थी के लिये भारतवर्ष के इतिहास का समय, सच पूछिये तो मुसलमानों के आक्रमण से आरम्भ होता है। हिन्दुओं के राज्य के समय से वे लोग पूरे अनभिज्ञ हैं। स्कूल के उस विद्यार्थी को जो कि महमूद के बारहो आक्रमणों को अच्छी तरह जानता है उन आर्य लोगों के आक्रमणों और विजयों का बहुतही थोड़ा वृत्तान्त मालूम होगा जिन्होंने कि महमूद के ३००० वर्ष पहिले पंजाब को जीता था और वहां आकर बसे थे। वह शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी का दिल्ली और कन्नोज के जीतने का वृत्तान्त पढ़ता है परन्तु उसे उन्हीं देशों में कुरु और पांचाल लोगों की प्राचीन राजधानी का कुछ भी ऐतिहासिक वृत्तान्त नहीं मालूम होगा। वह जानता है कि शिवा जी के समय में दिल्ली में कौन बादशाह राज्य करता था परन्तु जिस समय में गौतम बुद्ध अपने धर्म पर व्याख्यान देता था उस समय मगध में कौन राज्य करता था इसका पता उसे नहीं होगा। वह अहमदनगर, बीजापुर और गोलकण्डा के इतिहास से अभिज्ञ होगा पर उसने अन्ध्र, गुप्त और चालुक्य राजाओं के विषय में नहीं सुना

होगा । वह नादिरशाह के भारतवर्ष पर आक्रमण करने की तिथि अच्छी तरह जानता होगा परन्तु उसे यह नहीं मालूम होगा कि इस घटना के पूर्व ५०० वर्ष के भीतर ही शक लोगों ने भारतवर्ष पर कब आक्रमण किया और उनको विक्रमादित्य ने हरा कर कब भगा दिया। वह आर्यभट्ट अथवा भवभूति के समय की अपेक्षा फ़रदोसी और फ़रिश्ता की तिथियों को भली भांति जानता है । वह बतला सकता है कि ताजमहल को किसने बनाया पर इस बात का उसे ध्यान भी नहीं होगा कि सांची के स्तूप, कर्ली और एजेण्टा की गुफाएं, एलोरा, भुवनेश्वर और जगन्नाथ के मन्दिर कब बने।

यह भाग्य का फेर जान पड़ता है कि ऐसे देश के प्राचीन समय के इतिहास के पृष्ठ कोरे रहें कि जिसमें हजारों वर्ष तक प्राचीन ऋषी लोगों ने दन्तकथाओं और बड़ी बड़ी रचनाओं को हमें क्रमशः प्राप्त कराया है और जहां कि एक पीढ़ी के पीछे दूसरी पीढ़ी ने इनको बराबर कंठाग्र रख कर संरक्षित रक्खा है। यदि उन रचनाओं से प्राचीन भारतवर्ष के इतिहास का साधारण वृत्तान्त विदित न हो जाय तो इन हजारों प्राचीन समय के विद्यार्थियों और विद्वानों का परिश्रम करके इन्हें संरक्षित रखना व्यर्थ ही हुआ। और फिर पिछली शताब्दी में योरप के जिन प्रख्यात विद्वानों और पुरातत्त्व वेत्ताओं ने जो कार्य किया है उनकी विद्वत्तापूर्ण खोजों का फल यदि हम अब भी शृङ्खलाबद्ध इतिहास के रूप में इस प्रकार से न रख सकें कि वह सर्वसाधारण और साधारण विद्यार्थी की समझ में आसकें तो उन विद्वानों का परिश्रम ही व्यर्थ हुआ।

परन्तु हर्ष का विषय है कि ऐसी बात नहीं है । यद्यपि भारतवर्ष के इतिहास के बहुत से भाग अब तक भी संदिग्ध हैं, यद्यपि बहुत सी बात अब तक विवाद योग्य है परन्तु हिन्दू राज्य के समय का एक साधारण इतिहास तयार करना अब कोई असम्भव कार्य नहीं है। और यद्यपि मैं इस कार्य के लिये अपने को अयोग्य पाता हूं तथापि मैं इस आशा से इस कार्य को आरम्भ करदेने का साहस करता हूं कि योग विद्वान लोग मेरी त्रुटियों को क्षमा करेंगे, मेरी अनि-

बार्ये भूलों को सुधारेंगे और जिन बातों को मैं ने अनाड़ीपन से किया हो अथवा जिन्हें मैं छोड़ गया होऊं उन्हें वे योग्यता पूर्वक भली भांति करेंगे।

इस बड़े कार्य को करने में मैं यह प्रगट कर देता हूं कि पूर्व देश सम्बन्धी विद्याओं के विद्वानों ने खोज कर जो बातें जानी हैं उनके सिवाय मैंने अपनी ओर से किसी नई बात का पता नहीं लगाया है। इस विषय में मेरा परिमित ज्ञान मुझे यह बहाना करने से रोकेगा। और इस ग्रन्थ के उद्देश्य का ख्याल करके भी यह बात असम्भव है कि इसमें किसी नई बात का पता लगाया जा सके। मैंने केवल यह उद्योग किया है कि योग्य विद्वानों के परिश्रम से जो बातें विदित हुई हैं उन सब को सिलसिलेवार मिलाकर सर्वसाधारण के लिये एक पढ़ने योग्य ग्रन्थ बन जाय। और इस उद्देश्य की पूर्ति करने में यदि मैं ने कहीं कहीं पर अपनी ओर से कुछ अनुमान अथवा कल्पना करदी है तो उसके लिये मैं पाठकों से प्रार्थना करता हूं कि वे उन्हें अनुमान और कल्पनाही समझें, उन्हें ऐतिहासिक आविष्कार न समझें।

आज दस वर्ष हुए कि मैं ने अपनी देशभाषा में स्कूल के विद्यार्थियों के लिये एक छोटी पुस्तक बनाने के अभिप्राय से उस समय मुझे जो मसाले मिले उनका सिलसिलेवार संग्रह करदिया था। और वह बङ्गाल के बहुत से स्कूलों में पाठ्य पुस्तक रही है। तब से मैं अपने अवकाश के अनुसार इस कार्य को बराबर करता रहा। इसके तीन वर्ष के उपरान्त मैं बङ्गाल गवर्मेण्ट की उदारता से ऋग्वेद संहिता का एक पूरा बङ्गला अनुवाद अपने स्वदेशियों के सम्मुख उपस्थित कर सका। उस समय से मेरी यह इच्छा बहुत ही प्रबल होगई कि हमारे प्राचीन साहित्य में जो ऐतिहासिक मसाले मिलते हैं उन्हें स्थायी रूप में फिर से श्रेणी बद्ध करूं। इस अभिप्राय से मैं ने कलकत्ता रिव्यू में समय समय पर कुछ लेख प्रकाशित किए हैं। और इन लेखों को तथा इस विषय में और जो कुछ मसाले मैं ने इकट्ठे किए हैं उन्हीं को मैं ने इस ग्रन्थ में सिलसिलेवार वर्णन किया है।

जिस ढंग पर यह ग्रन्थ लिखा गया है वह बहुत ही सरल है इसमें मेरा मुख्य अभिप्राय सर्वसाधारण के सामने भारतवर्ष का एक उपयोगी और छोटा ग्रन्थ उपस्थित करने का रहा है, भारतवर्ष के पुरातत्व के विवाद का वृहद् ग्रन्थ बनाने का नहीं। ऐसे ग्रन्थ का स्पष्टता और अविस्तार के साथ अध्ययन करना कुछ सहज काम नहीं है। इस ग्रन्थ के प्रत्येक अध्याय में जिन विषयों का वर्णन है उनके सम्बन्ध में बहुत सी छान बीन हुई है और भिन्न भिन्न सम्मतियां लिखी गई हैं। मुझे सन्तोष होता यदि मैं पाठकों के लिये प्रत्येक वादविवाद का इतिहास, पुरातत्त्व के सम्बन्ध में जो बातें जानी गई हैं, उनमें से प्रत्येक का वृत्तान्त और प्रत्येक सम्मति के पक्ष और विपक्ष की बातों को लिख सकता। परन्तु ऐसा करने में इस ग्रन्थ का आकार तिगुना वा चौगुना बढ़ जाता और जिस अभिप्राय से यह ग्रन्थ लिखा जाता है उसकी पूर्ति न होती। अपने प्रथम उद्देश्य की पूर्ति करने के लिये मैं ने अनावश्यक वादविवाद को बचाया है और प्राचीन समय की हिन्दू सभ्यता और हिन्दू जीवन की प्रत्येक अवस्था का जितना स्पष्ट और अविस्तृत वर्णन मुझसे हो सका है, दिया है।

परन्तु यद्यपि इस ग्रन्थ में मेरा मुख्य उद्देश्य अविस्तृत वर्णन देने ही का है तथापि मैंने यह उद्योग किया है कि इस पुस्तक को समाप्त कर लेने के उपरान्त भी पाठकों के हृदय पर उसका स्पष्ट प्रभाव बना रहे। इस हेतु मैंने विस्तृत वर्णनों को जहां तक हो सका बचाया है और प्रत्येक काल के मुख्य मुख्य विषयों को स्पष्ट रूप और पूरी तरह से वर्णन करने का उद्योग किया है। उन मुख्य मुख्य घटनाओं को-अर्थात् हिन्दू सभ्यता की कथा की प्रधान बातों को-अपने पाठकों के हृदय पर अङ्कित करने के लिये जहां कहीं पुनरुक्ति की आवश्यकता पड़ी है वहां मैंने पुनरुक्ति को बचाया नहीं है।

संस्कृत ग्रन्थों के अनुवादों से जो बहुत से वाक्य मैंने उद्धृत किए हैं वे पहिले पहिल मेरे अविस्तृत वर्णन के सिद्धान्त के विरुद्ध जान पड़ेंगे। परन्तु इन उद्धृत वाक्यों का देना बहुत ही उचित था

क्योंकि पहिले तो ऐसे विषय में जिसमें कि बहुत सी भिन्न भिन्न सम्मतियां हो सकती हैं, यह नितान्त आवश्यक है कि हम अपने पाठकों के सम्मुख उन मूल पाठों को उपस्थित कर दें कि जिनके आधार पर मैंने अपनी सम्मति स्थिर की है जिसमें कि पाठक लोग उस पर स्वयं विचार कर सकें और यदि मैंने जो सिद्धान्त स्थिर किए हैं उनमें भूल हो तो उसे सुधार सकें। दूसरे, हमारे प्राचीन ग्रन्थकारों के मूल ग्रन्थों से पाठकों को परिचित कराना ऐतिहासिक विद्या के लिये लाभ दायक होगा। यह आशा नहीं की जा सकती कि कार्य-ग्रग्र विद्यार्थी इन प्राचीन और कठिन ग्रन्थों के मूल पाठों को अथवा उनके पाण्डित्य पूर्ण अनुवादों को पढ़ने का समय निकाल सकेगा और वह इतिहासकार जो अपने पाठकों का इन प्राचीन ग्रन्थों के कम से कम कुछ भागों से परिचय कराया चाहता हो वह इस विषय में अपने पाठकों की विज्ञता बढ़ावेगा। और अन्त में, यह ठीक कहा गया है कि विचार ही भाषा है और भाषा ही विचार है। अतः यदि कोई इतिहासकार प्राचीन समय के विचारों को प्रगट किया चाहता हो—यदि वह यह बतलाया चाहता हो कि प्राचीन समय के हिन्दू लोगों के विचार और विश्वास कैसे थे—तो उसके लिये इससे अच्छी कोई बात नहीं होगी कि वह उन शब्दों को उद्धृत करे जिनके द्वारा कि प्राचीन समय के लोगों ने अपने विचार प्रगट किए हैं। अतः इन थोड़े से वाक्यों को उद्धृत कर देने से पाठकों को प्राचीन हिन्दू समाज, उनके चाल व्यवहार और उनके विचारों का जितना ज्ञान हो सकता है उतना यदि मैं उसका पूरा विस्तृत वर्णन लिखूं तो उससे भी नहीं होगा। मैंने इसी अभिप्राय से अपने पाठकों से रिचाओं और सूत्रों के बनाने वालों का सामना करा देने का और उन्हें अपनी सम्मति स्थिर कर लेने का अवसर दिया है कि जिसमें वे प्राचीन हिन्दुओं के स्वभाव और आन्तरिक जीवन को जान सकें।

प्राचीन लोगों के विचारों और आन्तरिक जीवन से इस भांति पूरी तरह से विज्ञ होना ही सच्चे ऐतिहासिक ज्ञान की जड़ है और मैंने इन प्राचीन लोगों के शब्दों को छोड़ कर और किसी प्रकार से

इसका सच्चा और अविस्तृत वर्णन देने में अपने को असमर्थ पाया है। इसी मुख्य कारण से तथा विस्तार न बढ़ाने ही की इच्छा से मैंने अधिकता से प्राचीन ग्रन्थों के वाक्य उद्धृत किए हैं।

अन्त में पाठकों से मेरी यह प्रार्थना है कि वे मुझे उन त्रुटियों के लिये क्षमा करेंगे जो कि निस्सन्देह इस ग्रन्थ में है क्योंकि एक तो मैंने इसे उस समय में लिखा है जिसे कि मैं सर्कारी कामों से कठिनता से बचाता था और दूसरे यह ऐसे स्थानों पर लिखा गया है जहां कोई उत्तम पुस्तकालय नहीं था। परन्तु ऐसी क्षमा बहुत कम प्रदान की जाती है। और पाठक लोग यह पूछते हैं कि जब किसी ग्रन्थकार के पास ग्रन्थ लिखने के लिये सब प्रकार की सामिग्री ही प्रस्तुत नहीं थी तो उसे ग्रन्थ के लिखने में हाथ ही क्यों लगाना चाहिए। परन्तु मैं इन बातों को इस लिये लिखता हूं कि जिस से इस ग्रन्थ की त्रुटियों का यदि बचाव नहीं तो उनका कारण अवश्य विदित होजाय। इस पुस्तक के लेखक का समय उसका नहीं है। उसके ऊपर बंगाल के एक जिले का भार है जिस का क्षेत्रफल ६ हजार वर्ग मील के ऊपर है और जिसमें तीस लाख से अधिक मनुष्यों की वस्ती है। इससे उसको और कामों के करने का बहुतही कम समय मिलता है। इन अवस्थाओं में इस पुस्तक को सिलसिलेवार लिखना मेरे लिये एक कठिन काम रहा है और मैं अपने विचारवान पाठकों से केवल यही प्रार्थना कर सकता हूं कि वे उन भूलों और त्रुटियों के लिये जो कि इस पुस्तक में रह गई हो कृपा कर मुझे क्षमा करें।

जिला- मैनसिंघ- बंगाल। र. च. दत्त।
१२ अगस्त-१८८८

प्रस्तावना।

युग और समय।

प्राचीन आर्यावर्त का इतिहास पिछली ३० शताब्दी में मनुष्यों की उन्नति का इतिहास है। यह इतिहास कई कालों में बांटा गया है जिनमें से हर एक काल की अवधि आज कल की बहुत सी जातियों के पूरे इतिहास की अवधि के बराबर है।

दूसरी जातियां भी हिन्दुओं के बराबर वा उनसे भी अधिक पुरानी होने का घमंड करती हैं। मिस्र के विद्वान लोग कहते हैं कि वहां ईसा के ४००० वर्ष प्रथम पहिला राज्यवंश स्थापित हुआ था। पहिले सौरागन का समय, जिसने सेमेटिक राज्य के समय सुमिर और अकद में मेल कराया था, असीरिया के विद्वान लोग ईसा के ३००० वर्ष पहिले बतलाते हैं और सेमेटिक लोगों के चलडिया जीतने के पहिले की अकद की तूरानी सभ्यता को इस से भी पहिले का कहते हैं। चीन के रहनेवाले अपने यहां के राज्यवंशों और और बातों का प्रामाणिक इतिहास ईसा से २००० वर्ष पहिले का मानते हैं। आज कल के विद्वान ऋग्वेद के सूक्तों का समय २००० वर्ष से पहिले का नहीं समझते। पर इन सूक्तों के संग्रह होने के समय हिन्दुओं की सभ्यता कई सौ वा कई हजार वर्ष पुरानी होगी।

पर हिन्दुओं के इतिहास की सामिग्री दूसरी जातियों के इतिहास की सामिग्री के ऐसी नहीं है। मिस्र के पुराने वासियों के जीवाक्षरों से राजाओं और पिरमड बनाने वालों के नाम, तथा राज्यवंशों और युद्धों के हाल के सिवाय और कुछ पता नहीं लगता। बेबिलन और असीरिया के पत्थर के शिलालेखों से भी इतनाही पता लगता है और चीन की सामग्री से भी वहां के आदमियों की सभ्यता और बुद्धि की धीरे धीरे उन्नति होने का कुछ हाल नहीं जाना जाता।

पुराने समय के हिन्दुओं की पुस्तकें दूसरे तरह की हैं। उनमें कुछ दोष बेशक पाए जाते हैं पर ये दोष राजवंशी युद्धों और बातों में हैं जिन्हें ऐतिहासिक कहते हैं। लेकिन साथ ही इसके इन पुस्तकों में सभ्यता के बढ़ने और बुद्धि की उन्नति होने का ऐसा पूरा सिलसिलेवार और साफ़ हाल मिलता है कि ऐसा दूसरी किसी पुरानी जाति के इतिहास में ढूंढ़े नहीं मिलता। हर समय के साहित्य में उस समय की हिन्दू सभ्यता का मानो एक अच्छा चित्र वा फ़ोटो पाया जाता है और हर एक समय की पुस्तकों में सिलसिलेवार तीन हज़ार वर्षों का ऐसा साफ़ और पूरा इतिहास पाया जाता है कि जिसके जानने के लिये अधिक अनुसन्धान की आवश्यकता नहीं है।

पत्थर, ताम्रपत्र और पपिराई के लेख उस समय की बातों की यादगारी के लिये बनाए गए थे। किसी जाति के गीत, भजन और धार्मिक उद्गार उस जाति की सभ्यता और विचारों का सच्चा और स्वाभाविक पता लगाते हैं। हिन्दुओं के सब से पुराने उद्गार लेख द्वारा नहीं प्रगट किए गए और इसी कारण वे पूर्ण और अविरुद्ध हैं। वे इस जाति के विचारों और भावों के स्वाभाविक और सच्चे बचन हैं। वे पत्थरों पर नहीं खोदे गए पर केवल कंठ करके बचाए गए हैं। और जिन लोगों ने इसे कंठ करके बचा रक्खा उन्होंने ऐसी अच्छी तरह से ज्यों का त्यों बचा रक्खा है कि जो आज कल एक करामात समझी जा सकती है।

जिन विद्वानों ने वेदों के सूक्तों को इतिहास की दृष्टि से पढ़ा है वे जानते हैं कि उनमें सामाजिक इतिहास तयार करने के लिये जो सामिग्री मिलती है वह पत्थर या पत्रों के लेखों से अधिक और ठीक है। और जिन लोगों ने हिन्दुओं के पुराने इतिहास के हर एक समय की पुस्तकों को पढ़ा है वे भी जानते हैं कि इनमें हिन्दुओं की सभ्यता, विचार और धर्म के तीन हज़ार वर्ष तक बढ़ने और बदलने का पूरा पूरा हाल है और आदमियों की सभ्यता के इतिहास जाननेवालों को यह देखने के लिये हिन्दू ही होना ज़रूरी नहीं है कि हिन्दुओं ने इतिहास लिखने के लिये पूरी, सरल और सच्ची बातें बचा रक्खी हैं।

हमारी बातों का मतलब आप कहीं और का और न समझ लें। हमने ऊपर जो बातें लिखी हैं वह खाली इस भ्रमयुक्त विश्वास को दूर करने के लिये लिखी हैं कि भारतवर्ष का कोई भी पुराना इतिहास पढ़ने लायक नहीं है। पुराने समय का कोई भी सिलसिलेवार और विश्वास के लायक वृतान्त ऐसा नहीं है कि जो आज कल के पढ़ने वालों को रोचक वा शिक्षा देने वाला हो।

पुराने आर्यावर्त का भी सिलसिलेवार इतिहास है जिसमें सब से बड़ी बात यह है कि रूखा होने के बदले वह बहुत ही रोचक है। इस पुराने इतिहास से यह जाना जाता है कि एक गुणसम्पन्न आर्य जाति ने संयोगवश बाहरी दुनिया से अलग होकर, अपनी अनुकूल प्राकृतिक अवस्था में अपनी सभ्यता किस तरह से बनाई। हम उनके युगयुगान्तर के मानसिक आविष्कारों को देखते हैं, उनकी एक शताब्दी से दूसरी शताब्दी में जो धर्म में उन्नति और वृद्धि हुई उसको निरखते हैं, उनके राजनीति के व्यवहार को देखते हैं कि जब वे धीरे धीरे भारत में फैलते हैं और नए राज्य और राज्यवंश स्थापन करते हैं। हम पुरोहितों के बल के मुकाबले में उनकी कोशिशों को, उनकी जीत और हार को जांचते हैं। हम उनके समाज के और धर्म के उलट फेरों को और उनके प्रभावोत्पादक फलों को मन लगा कर पढ़ते हैं और एक जाति के मानसिक जीवन की यह बड़ी कहानी जो शाह अरज़दी की कहानियों से भी अधिक रंजक है—कहीं नहीं टूटती और न उसका सिलसिला ही कहीं भङ्ग होता है। जिन सब कारणों से समाज और धर्म के बड़े बड़े उलट फेर हुए वे सब पाठकों को मालूम हो जाते हैं और वे देखने लगते हैं कि हिन्दुओं की पुरानी सभ्यता ने ईसा के २००० वर्ष पहिले से ईसा के १००० वर्ष पीछे तक तीस शताब्दियों में धीरे धीरे किस तरह से उन्नति की।

हिन्दुओं की सभ्यता में जो दोष हैं उनसे यदि यूनान और रोम के पीछे की सभ्यता से मिलान किया जाय तो इस समय के पढ़ने वालों को शिक्षा मिलती है। हमारे गुणों के हाल से ऐसी शिक्षा नहीं मिलती जैसी हमारे दोषों से। विश्वामित्र के सूक्तों, कपिल के

तत्त्वदर्शन और कालिदास के काव्यों के पढ़ने से उतनी शिक्षा नहीं होती जैसी हमारे राजनैतिक जीवन के गिरने और पुरोहितों के प्रभुत्व से। गौतम बुद्ध और अशोक के नायक होने में लोगों के धर्म की उन्नति के हाल में उतनी शिक्षा नहीं मिलती जितनी कि सर्वसाधारण में स्वतंत्रता के लिये यत्न करने के बिलकुल अभाव से। दुनिया के मानसिक जीवन के आरम्भ में ब्राह्मणों और क्षत्रियों की बुद्धि जो बढ़ी चढ़ी थी उससे इतनी बात नहीं सूझती और इतनी शिक्षा नहीं मिलती जितनी कि मामूली काम काज और व्यापार में, यंत्र और समुद्र की विद्या की नई बातों का पता लगाने में, संगतराशी, शिल्प विद्या, और कलाकौशल में, जातीय जीवन के प्रादुर्भाव और जातीय सबलता में।

प्राचीन हिन्दुओं के मानसिक और धार्मिक जीवन का इतिहास अनुबन्धता, पूर्णता और गम्भीर भावों में अनुपम है। परन्तु वह इतिहासवेत्ता जो इस मानसिक जीवन का केवल चित्र उतारता है, अपने कर्तव्य को आधा करता है। हिन्दू इतिहास का एक दूसरा और अधिक खेदजनक भाग भी है और कथा के इस भाग को भी ठीक ठीक कह देना आवश्यक है।

हम पहिले कह चुके हैं कि प्राचीन भारतीय इतिहास कई एक विशिष्ट और लम्बे कालों अथवा युगों में विभाजित होता है। प्रत्येक काल का जुदा जुदा साहित्य है और प्रत्येक की सभ्यता में दूसरे कालों के महान राजनैतिक और सामाजिक कारणों से बड़ा भेद हो जाता है। हमारी इच्छा है कि पहिले हम इन ऐतिहासिक युगों का और जो बड़ी बड़ी घटनाएं हों उनका संक्षेप में वर्णन कर दें जिससे हमारे पाठकों को इस ग्रन्थ का उद्देश्य विदित होजाय और जब हम इन कालों का सविस्तार वृत्तान्त लिखें तो शायद उनको प्रत्येक युग की सब बातों के समझने में सरलता होगी। हम सब से पहिले के काल से आरम्भ करते हैं अर्थात उस समय से जब कि आर्यों ने पंजाब देश में आकर निवास किया था। इस काल के इतिहास का पता ऋग्वेद के सूक्तों से मिलता है।

प्रथम युग।

इस अमूल्य ग्रन्थ अर्थात् ऋग्वेद में हमलोग आर्यों को सिन्ध और उसकी पांचो सहायक नदियों के तट की भूमि को विजय करते हुए और उसमें बसते हुए पाते हैं और सतलज के परे की भूमि से वे प्रायः अनभिज्ञ थे। ये लोग विजय करने वाले थे और इनमें कार्यदक्षता के प्रबल प्रेम और उत्साह युक्त आमोद प्रमोद के साथ साथ तरुण जातीय जीवन का पुरुषार्थ और आत्मगौरव भरा हुआ था। इस विषय में उनसे और उनके पीछे के समय के चिन्ताशील और कार्यक्षम हिन्दुओं मे बड़ा अन्तर था। वे धन पशुसमूह और खेतों से आनन्दित होते थे। उन्होंने अपने बाहुबल से नए अधिकार और नए देश को यहां के आदि निवासियों से छीन लिया और ये आदि निवासी व्यर्थ इन अजय विजयी लोगों के विरुद्ध अपना स्वत्व रखने की कोशिश करते थे। निदान यह युग इन लोगों का आदि निवासियों के साथ युद्ध और विजय करने का था और ये आर्यवीर अपनी जय का अभिमान हर्ष के साथ भजनों में करते थे और देवताओं से प्रार्थना करते थे कि वे उन्हें धन और नए अधिकार दें और असभ्यों का नाश करें। प्रकृति में जो उज्ज्वल आनन्दमय और तेजस्वी था उसकी आर्य लोग प्रशंसा करते थे और वह सब उनके हर्ष का कारण था। प्रकृति की ऐसी विभूति की वे लोग पूजा करते थे और उनको देवता मान कर उनका आवाहन करते थे।

इसके लिखने की आवश्यकता नहीं है कि उस समय आर्य लोग एक ही जाति के थे और जाति का भेद केवल आर्यों और आदि निवासियों में था। उस समय व्यवसाय का भेद भी स्पष्ट नहीं था। कई एकड़ भूमि का अधिकारी जो शान्ति के समय खेती करता था और पशुओं को पालता था वही युद्ध के समय अपने प्राण की रक्षा करता था, आदि निवासियों को लूटने के लिये बाहर जाता और बहुधा भक्ति में आकर युद्ध के देवताओं की स्तुति में ओजस्वी भजन बनाता। उस समय न मन्दिर थे न मूर्तियां। कुल में जो बड़ा होता वह अपने अग्नि कुण्ड में यज्ञ की अग्नि जलाए रखता और अग्नि का हवन दूध और चावल या मांस अथवा सोम-

रस से करता और अपने बच्चों के कुशल, स्वास्थ्य और धन क के लिये देवताओं का आवाहन करता। प्रत्येक दल का एक प्रधान राजा होता और उसकी ओर से यज्ञ करने और भजन करने के लिये प्रोहित होते परन्तु न तो प्रोहितों की ही कोई जाति थी और न राजाओं ही की। लोग स्वतन्त्र थे और स्वतन्त्र और उत्साही पशु रखने वालों और खेती करने वालों में जो आनन्द होता है उस को वे भोगते थे।

अब आर्यों के पंजाब में बसने का समय क्या है? हम समझते हैं कि यदि हम इसको ईसा से २००० वर्ष पहिले से १४०० वर्ष पहिले तक रक्खें तो हम प्रायः सब लोगों से सहमत रहेंगे। इस समय का नाम हम सुबीते के लिये वैदिक युग रक्खेंगे।

दूसरा युग।

अब हिन्दू आर्य लोग सतलज तक आ पहुंचे और उनको सतलज पार करके गंगा की घाटी में पहुंचने में कुछ देर न लगी। गंगा और यमुना का नाम ऋग्वेद में बहुत कम आया है। इससे जान पड़ता है कि प्रथम अर्थात् वैदिक युग में ये नदियां उस समय तक जानी नहीं गई थीं यद्यपि कुछ साहसी अधिवासी पंजाब से निकल कर इन नदियों के तट पर आ बसे होंगे। दूसरे युग में इन बस्तियों की संख्या बढ़ी होगी, यहां लों कि कुछ शताब्दी में गंगा की सारी घाटी आज कल के तिरहुत तक प्रबल राजधानियों और जातियों का निवास स्थान होगई। इन जातियों ने विद्या और साहित्य की वृद्धि की और नवीन रूप से धर्म और सभ्यता को संस्थापित किया जो कि वैदिक समय से बिलकुल ही भिन्न होगए।

उन जातियों में से जो गंगा की घाटी में रहती थीं विख्यात के नाम भारतवर्ष के महाकाव्यों में अब तक वर्तमान हैं। कौरवों की राजधानी वर्तमान दिल्ली के निकट कहीं पर थी। पांचाल लोग दक्षिण पूरब की ओर वर्तमान कन्नौज के समीप बसे। गंगा और

गंडक के बीच की विशाल भूमि में जिसके अन्तर्गत वर्तमान अवध है कोशल लोग बसे। गंडक के पार उस भूमि में जिसे आज कल तिरहुत कहते हैं विदेह लोग रहने लगे और काशी जाति वर्तमान बनारस के आस पास स्थित हुई। दूसरे युग में येही बड़ी विख्यात जातियां थीं। पर इनसे कम बलवान जातियां भी समय समय पर हुईं और अपना अधिकार बढ़ाती रहीं।

जब प्रथम कुरु और पांचाल लोग द्वाब में ठहरे उस समय उनके एक प्रतापशालिनी जाति होने के चिन्ह मिलते हैं। उनके परस्पर युद्ध का वृत्तान्त आर्य्यवर्त के प्रथम जातीय महाकाव्य अर्थात् महाभारत में दिया है और यद्यपि यह ग्रन्थ अपने वर्तमान रूप में पीछे के समय का वा यों कहिए कि पीछे के कई भिन्न भिन्न समयों का बना हुआ है, पर इसमें भी गंगा की घाटी के प्राचीन विजयी लोगों के उद्धत और कट्टर वीर्य और वीरोचित ईर्षाद्वेष के चिन्ह मिलते हैं। परन्तु इस घाटी की नरम आबहवा में हिन्दू लोग बहुत शताब्दियों तक नहीं रहे थे कि वे अपना उत्साह और पुरुषार्थ खो बैठे। परन्तु विद्या और सभ्यता में उन्होंने उन्नति की। ज्यों ज्यों ये लोग इस नदी की ओर बढ़ने लगे त्यों त्यों उनमें वह तत्परता कम होने लगी जो कि विजयिनी जातियों में होती है। विदेह और काशी लोगों की राजसभा के लोग विद्वान और व्युत्पन्न थे परन्तु उस समय के ग्रन्थों में उन लोगों में वीरोचित गुणों के प्रमाण नहीं मिलते। कोशल लोग सुसभ्य थे परन्तु इस जाति की कथा से जो कि आर्य्यवर्त के दूसरे महाकाव्य अर्थात् रामायण में दी हुई है, (जो वर्तमान रूप में पीछे के समय की बनी हुई है) इन लोगों में सांसर्गिक कर्तव्य और कुलाचार से प्रेम होने का, और ब्राह्मणों के आज्ञापालन तथा धर्म में बाहरी आडम्बरों पर अधिक ध्यान करने का परिचय महाभारत के कठोर पराक्रम और तीक्ष्ण उत्साह की अपेक्षा अधिक मिलता है।

इस प्रकार धीरे धीरे हिन्दुओं की शक्ति हीन होने के कारण धार्मिक और सामाजिक नियमों में बड़े बड़े अदल बदल हुए। धर्म ने दूसरा ही रूप धारण किया। गंगा तट के उत्साहहीन और आडम्बरप्रिय हिन्दुओं को पंजाब के पराक्रमी योधाओं के वीरोचित

और सीधे सादे भजन रुचिकर न हुए। उन भजनों का पाठ तो अब भी होता था परन्तु उनके भाव और आशय लुप्त होगए और सीधी सादी विधियों के स्थान पर बड़े बड़े आडम्बर प्रचलित हो गए, पुजारियों की संख्या और उनका प्रभुत्व बढ़ने लगा, यहां तक कि उनकी परम्परागत एक जाति होगई। गंगा तट के राजा और योद्धा उज्ज्वल भवनों में रहने लगे और उनके चारो ओर पंजाब के सीधे खेती करने वाले योधाओं की अपेक्षा अधिक चमक दमक थी और ये राजा लोग समाज मे तुरन्त जुदे हो गए और उन्होंने अपनी एक जाति बनाली। सर्वसाधारण अर्थात् वैश्य-अथवा ऋग्वेद के अनुसार विस-अपने पंजाब निवासी पुरुषाओं से निबल हो गए थे और उन लोगों ने बिना विरोध के उन बन्धनों को स्वीकार करलिया जिनसे पुरोहितों और योधाओं अर्थात् ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने उन्हें बाँधा। परन्तु आधीनता से आचारभ्रष्टता आती है इस कारण हिन्दू शासन में लोग फिर अभी वैसे न हुए जैसा कि योरप के लोगों ने प्राचीन और वर्तमान समय में होने की चेष्टा की है। अन्त में आदिनिवासी जो आर्यों के आधीन हो गए थे और जिन्होंने आर्यों की सभ्यता स्वीकार करली थी, नीच जाति अर्थात् शूद्र हो गए और उनको आर्यों के धार्मिक संस्कारों को करने और धर्म सम्बन्धी विद्या उपार्जन करने का निषेध कर दिया गया।

इस प्रकार से हिन्दू इतिहास के दूसरे युग में आर्यवर्त में जातिभेद की उत्पत्ति हुई। यह रीति लोगों में उत्साहहीनता और निर्बलता से उत्पन्न हुई और किसी अंश में इसने इन दोषों को सदा के लिये स्थायी कर दिया है।

निदान दूसरा युग ऐसा था कि जिसमें लोग ब्राह्मण और क्षत्रियों के आधीन हो गए और क्षत्रियों ने भी ब्राह्मणों की आधीनता स्वीकार कर ली। परन्तु इस युग के अन्त में कुछ प्रत्याघात सा होने लगा और अभिमानी क्षत्री भी विद्या और धर्म में अपने को ब्राह्मणों के समान सिद्ध करने लगे। प्रोहितों की निरर्थक रीतियों और संस्कारों से खिन्न होकर क्षत्रियों ने भी सत्य की खोज में नए विचार और निर्भय अनुसन्धान आरम्भ कर दिए।

पर यह प्रयत्न अकारथ गया। प्रोहितों की बढ़ी चढ़ी ही रही परन्तु क्षत्रियों के ये ओजस्वी विचार ही इस समय के रसशून्य और निर्जीव साहित्य को रोचक बना देते हैं। और ये विचार जाति में पैतृक धन की नाईं रहे और पिछले वर्षों में हिन्दू दर्शनशास्त्र और धार्मिक परिवर्तनों की जड़ हुए।

इसी समय में जब कि आर्य लोग गंगा की घाटी में फैले ऋग्वेद और तीनों दूसरे वेद अर्थात् साम, यजुर और अथर्व, भी संग्रहीत और सम्पादित हुए। तब एक दूसरे प्रकार के ग्रन्थों की रचना हुई जो 'ब्राह्मण' नाम से पुकारे जाते हैं। इन ग्रन्थों में यज्ञों की विधि लिखी है। यह निस्सार और विस्तीर्ण रचना सर्वसाधारण के क्षीण शक्ति होने और ब्राह्मणों के स्वमताभिमान का परिचय देती है। संसार छोड़ कर बनों में जाने की प्रथा, जो पहिले नाम को भी नहीं थी, चल पड़ी और ब्राह्मणों के अन्तिम भाग अर्थात् आरण्यक में बन की विधि क्रियाओं का ही वर्णन है। अन्त में क्षत्रियों के निर्भय विचार जो उपनिषदों के नाम से प्रख्यात हैं, आरम्भ हुए और ये इस युग के साहित्य के अन्तिम भाग हैं और इन्हीं से भारत के उस साहित्य का अन्त होता है जिन्हें ईश्वरकृत कहते हैं।

विद्वानों का मत है कि इस युग के सामाजिक और राजनैतिक परिवर्त्तनों में कम से कम चार या पांच सौ वर्ष लगे होंगे। इतने समय में गंगा की घाटी के उपवन निरहुत तक साफ किए गए और बसाए गए और हिन्दू आचार व्यवहार प्रचलित हुए और यहां प्रतापशालिनी राजधानियां स्थापित हुईं। धार्मिक रीति बहुत ही बढ़ गई, सामाजिक नियम बदल गए, जाति भेद का प्रचार हुआ, पुरोहितों का प्रभुत्व स्थापित होकर दृढ़ हुआ और अन्त में क्षत्रियों ने उसमें शंका की। इसी समय में विविध और विस्तीर्ण ग्रन्थ भी रचे गए। इस कारण इस युग का समय लगभग ईसा से १४०० वर्ष पहिले से १००० वर्ष पहिले तक नियत कर सकते हैं।

यहां एक दो बात जो इस काल निर्णय को दृढ़ करती है लिख देनी चाहिए। इस समय की मुख्य ऐतिहासिक बात कुरु और पांचालों का युद्ध है जिसका वर्णन महाभारत में है और जिस

के विषय में हम आगे चल कर कुछ कहेंगे। इस समय की साहित्य सम्बन्धी मुख्य बात वेदों का संग्रह करना है। पुराणों और महाभारत से भी पता लगता है कि वेदों के संग्रहकर्ता इस युद्ध के समय में हुए हैं परन्तु इस बात को चाहे हम माने अथवा न माने। हम इन दोनों बातों पर अलग अलग विचार करेंगे। दन्तकथाओं में लिखा है कि जब वेद संग्रहीत किए गए तो उसकी तिथि नियत करने के हेतु अयनान्त का स्थान निश्चय कर के लिख लिया गया था। ज्योतिष के जिस ग्रन्थ में निश्चित स्थान लिखा मिलता है वह पीछे का ग्रन्थ है अर्थात् ईसा से ३०० वर्ष के पहिले का नहीं है पर यह विचार निस्सन्देह पहिले का है और बेंटले और आर्कडीकन प्रेट दोनों विद्वान गणितज्ञों ने इसको जांच कर ईसा से ११८१ वर्ष पहिले बतलाया है।

इस आविष्कार के विरुद्ध इन दिनों योरप, एमेरिका और भारतवर्ष में बहुत कुछ लिखा गया है परन्तु इन विवादों में हमें कोई बात भी ऐसी नहीं मिली कि जिससे हमें इस विचार की सत्यता में सन्देह हो। हम इसे ही वेदों के अन्तिम संग्रह का समय मानते हैं और कई पीढ़ी तक कितने ही आचार्यों ने संग्रह का काम किया होगा इस कारण हम अनुमान कर सकते हैं कि वेद ईसा से १४०० अथवा १३०० वर्ष पहिले सम्पादित किए गए और यही काल हमने दूसरे युग का निश्चय किया है।

कुरु पांचालों के युद्ध के विषय में भारतवर्ष की भिन्न भिन्न राजधानियों के इतिहासों में इस युद्ध का नाम आया है और इनमें से बहुत से इतिहास विश्वास योग्य भी हैं। बौद्ध धर्म के आचार्य ईसा से ६०० वर्ष पहिले हुए और देश के दूसरे इतिहासों से पता लगा है कि कुरु पांचाल युद्ध के समय से बुद्ध तक ३५ राजाओं ने राज्य किया। यदि प्रत्येक राज्य का २० वर्ष मान लें तो महाभारत का समय ईसा से १३०० वर्ष पहिले निकल आता है। फिर हमको सिक्कों से मालूम होता है कि कनिष्क ने काश्मीर में ईस्वी की पहिली शताब्दी में राज्य किया और उसके उत्तराधिकारी अभिमन्यु ने शायद उस शताब्दी के अन्त के लगभग। काश्मीर वंश का इतिहासवेत्ता लिखता है कि कुरु पांचाल युद्ध से अभिमन्यु के

समय तक ५२ राजाओं ने १२६६ वर्ष तक राज्य किया। इससे युद्ध का समय ईसा से १२०० वर्ष पहिले निर्धारित होता है।

हम अपने पाठकों से यह नहीं कहते कि ऊपर दी हुई तिथिया में से वे किसी को मान ही लें। भारतवर्ष के इतिहास में सिकन्दर के यहां आने के पहिले की किसी बात का काल निर्णय करना प्रायः असम्भव सा है और जब ज्योतिष की गणना भी कोई वर्ष विशेष बतावे अथवा कोई ऐतिहासिक बात किसी शताब्दी विशेष में प्रगट करे तब भी हम उसके मानने में भली प्रकार संकोच कर सकते हैं। हम केवल यही कहते हैं और इसके कहने का हमको अधिकार भी है कि अब पाठकों का यह मानना सम्भव है कि वेदों का संग्रह और कुरु-पांचाल युद्ध ईसा से लगभग १३०० अथवा १२०० वर्ष पहिले हुआ।

और जब कुरु-पांचाल युद्ध ईसा से १३०० वर्ष पहिले (अर्थात् ट्रोजन युद्ध से एक शताब्दी पहिले) हुआ तो हम इस दूसरे युग का समय ईसा से १४०० वर्ष पूर्व के पीछे कदापि नियत नहीं कर सकते क्योंकि कुरु-पांचाल युद्ध के समय वर्तमान दिल्ली और कन्नौज की निकटस्थ भूमि प्रबल जातियों का निवास स्थान थी जिन्होंने अपना साहित्य और अपनी सभ्यता निर्माण करली थी। और हम आर्यों के पंजाब से चल देने के समय और उनके गंगा की घाटी में बस कर ऐसी उन्नति करने के बीच के समय को दो शताब्दी मान सकते हैं।

आर्यों के पंजाब से चलने के समय को ईसा से १४०० वर्ष पहिले मान लेने में वैदिक समय अर्थात् प्रथम युग का समय जो हमने दिया है (ईसा से २००० वर्ष से १४०० वर्ष पहिले तक) निश्चित हो जाता है।

फिर, कई एक ब्राह्मण ग्रन्थों से आन्तरिक प्रमाण मिलते हैं कि ये ग्रन्थ कुरु और पांचालों के समय में अथवा उसके पीछे बने। इस लिये इनका समय भी हम ईसा से १३०० अथवा १४०० वर्ष पूर्व का निश्चय कर सकते हैं और उपनिषद् जो ब्राह्मण ग्रन्थों की समाप्ति प्रगट करते हैं ईसा से ११०० वर्ष पूर्व बने होंगे। विदेह लोगों के राजा जनक ने उपनिषदों का प्रचार कराया इसलिये हम विदेह

और कोशल लोगों का समय ईसा से १२०० से १००० वर्ष पूर्व तक अनुमान कर सकते हैं क्योंकि कुरु और पांचाल ईसा से १४०० से १२०० वर्ष पहिले तक हुए।

सुबीते के लिये हम इस युग का नाम ऐतिहासिक काव्य काल रखते हैं। इसी समय में वे जातियां जिनका वर्णन जातीयकाव्यों में आया है, हुई और लड़ीं, जब कि गंगा की घाटी में कुरु और पांचाल, कोशल और विदेह लोग राज्य करते थे।

तीसरा युग।

तीसरा युग आर्यवर्त के इतिहास में शायद सब से उज्ज्वल समय है। इसी समय में आर्य लोग गंगा की घाटी से भी आगे बढ़े, दूर दूर फैले और भारतवर्ष के दक्षिण तक उन्होंने हिन्दू सभ्यता का प्रचार किया और वहां हिन्दू राजधानियां स्थापित कीं। मगध अर्थात् दक्षिण बिहार जिससे कि ऐतिहासिक काव्य काल में भी हिन्दू लोग विज्ञ थे, तीसरे युग में पूरी तरह से हिन्दुओं का हो गया और वहां की नई और प्रबल राजधानी ने गंगा तट का प्राचीन राज्य दबा दिया। बौद्ध धर्म मगध के आस पास की राजधानियों में फैला और चन्द्रगुप्त ने जो सिकन्दर का समकालीन था, सारे उत्तरी भारतवर्ष को पंजाब से बिहार तक मगध के राज्याधीन बनाया। इस बड़ी राजनैतिक घटना अर्थात् सारे उत्तरी भारत के एक साम्राज्य के आधीन एकत्रित होने के साथ ही साथ तीसरे युग की समाप्ति होती है और चौथा युग आरम्भ होता है।

आर्य अधिवासी बंगाल तक पहुंचे और उन्होंने आदिनिवासियों में भी हिन्दू धर्म और सभ्यता का प्रचार किया। दक्षिण में जो राजधानियां स्थापित हुईं उन्होंने और भी गौरव पाया। अन्ध्र लोगों ने दक्षिण में एक प्रबल राजधानी स्थापित की और विद्या की बड़ी वृद्धि की। और भी दक्षिण में आर्य लोगों का प्राचीन द्रविड़ सभ्यता से संसर्ग हुआ। [illegible] हिन्दू सभ्यता की जय हुई और द्रविड़ लोग भी हिन्दू [illegible] लिए गए और उन्होंने ऐसी राजधानियां स्थापित कीं कि जो विद्या और प्रताप में विख्यात हो गईं। चोल, चेर

और पांड्य की राजधानियां ईसा से ३०० वर्ष पूर्व अपना प्रताप जमा चुकी थीं और चोल की राजधानी कांची (कांजीवरम) पिछले दिनों में विद्या का मुख्य स्थान हो गई ।

पश्चिम में सौराष्ट्र (जिसके अन्तर्गत गुजरात और महाराष्ट्र देश भी हैं) के लोगों ने भी हिन्दू सभ्यता स्वीकार की और समुद्र में लंका से विज्ञप्ति प्राप्त की जो कि हिन्दू व्यापारियों के आने जाने का स्थान हुई ।

इस समय का व्यवसाय और उत्साह उनके साहित्य और राष्ट्रीय विजय से प्रगट होता है । ब्राह्मण और आरण्यकों की बहुवाक्यमय शिक्षा और धर्मक्रिया सूत्रों में संक्षिप्त की गई जिसमें कि यज्ञों में प्रयोग करने के लिये पुस्तकें बन जांय । कुलाचार और सामाजिक व्यवहार के नियमों के भी सूत्र बनाए गए । सूत्र सम्प्रदाय भारतवर्ष में अधिक फैल गए । उत्तर में और दक्षिण में ग्रन्थों की संख्या बढ़ने लगी । इन धर्मग्रन्थों के अतिरिक्त शिक्षा शास्त्र, छन्द, व्याकरण और कोशों का अध्यन होने लगा । यास्क ने निरुक्त और पाणिनि ने इसी समय अपना व्याकरण लिखा । निश्चित नियमानुसार यज्ञों की बेदी बनाने के कारण रेखागणित की उत्पत्ति हुई जो पहिले पहिल भारतवर्ष ही में जानी गई ।

उपनिषदों की शिक्षा भी वृथा न गई । इन ग्रन्थों का अवलोकन बराबर होता रहा यहां तक कि कपिल ने सांख्यदर्शन का आविष्कार किया जो कि संसार के तत्व दर्शनों में गूढ़ युक्तियुक्त होने में सब से प्रथम है । इसके सिवाय और आचार्यों ने भी दूसरे दर्शन रचे परन्तु सांख्य दर्शन ही को भारत के भविष्य काल पर सब से अधिक प्रभाव डालना था । क्योंकि ईसा से ६०० वर्ष पहिले गौतम बुद्ध का जन्म हुआ और उसने सांख्य की रूखी युक्ति में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के विचार जोड़ दिए जिसके कारण उसका धर्म सारी मनुष्य जाति में से तिहाई लोगों में प्रचलित हो गया ।

इस युग का समय निश्चित करने में कोई कठिनाई नहीं है ।

सिकन्दर के समकालीन चन्द्रगुप्त ने उत्तरीय भारत को ईसा से ३२० वर्ष पहिले एक किया था । इस कारण हम तीसरे युग का काल ईसा से १००० वर्ष पहिले से ३२० वर्ष पहिले तक मानसकते हैं । सुबीते के लिये हम इसको दार्शनिक अथवा युक्तिसिद्ध काल कहेंगे ।

इस समय की राजनैतिक विद्या सम्बन्धी और धार्मिक घटनाओं को ७०० वर्ष लगे होंगे । जितना बड़ा कि हमने यह काल बतलाया है और जितनी बातें हम जानते हैं वे इस काल को प्रमाणित करती हैं । गौतम बौद्धायन, वसिष्ठ और अपस्तम्ब के सूत्रों का जो समय डाक्टर बुहलर ने निश्चय किया है वह ऊपर दिए हुए ही समय में पड़ता है । डाक्टर थीबो सुल्व सूत्रों अर्थात् रेखागणित का काल ईसा से ८ शताब्दी पहिले बतलाते हैं । सांख्य दर्शन पर लिखने वालों ने कपिल के दर्शनों को ७०० वर्ष पहिले का कहा है और गौतम बुद्ध जैसा कि हम कह चुके हैं ६०० वर्ष पहिले हुए ।

यह काल जो प्रायः निश्चित रूप से निर्णीत हुआ है पिछले अर्थात् ऐतिहासिक काव्य काल के समय को भी प्रमाणित करता है क्योंकि यदि कपिल के दर्शन जो कि उपनिषदों के दूरस्थ और परिपक्व परिणाम हैं, सातवीं शताब्दी में रचे गए तब उपनिषद् तो इसके कई शताब्दी पहिले ही निर्माण किए गए होंगे । और हम उपनिषदों का काल, जिनसे कि ऐतिहासिक काव्य काल समाप्त होता है ईसा से १००० वर्ष पहिले बतलाने में सम्भवतः सत्य ठहरेंगे ।

चौथा युग ।

यह युग चन्द्रगुप्त के प्रभावशाली राज्य के समय से आरम्भ होता है । इसके पोते अशोक ने बौद्ध धर्म को भारतवर्ष का राजकीय धर्म बनाया, पटने की महान संघ के सम्मुख बौद्धों के धर्मग्रन्थों का निर्णय किया और अपनी परोपकारी आज्ञाओं को पत्थर के स्तम्भों और चट्टानों पर खुदवाकर प्रकाशित करवाया । उसने जीवहिंसा का निषेध किया और अपने सारे राज्य में मनुष्यों और

पशुओं की चिकित्सा का प्रबन्ध किया। उसने नगरवासियों और कुटुम्बियों के कर्तव्यों को निर्धारित किया और बौद्ध उपदेशकों को पृथ्वी के अन्त तक जाने की आज्ञा दी कि वे धनी और दरिद्री सब से मिलें और सत्य का उपदेश करें। उसके लेखों से प्रगट होता है कि उसने सीरिया देश के एण्टिओकस, मिश्र देश के टोलमी, मैसीडन के एण्टीओकस, सीरीन के मगस और एपिरस के अलक्षेन्द्र से सन्धि की और इन राजधानियों में बौद्ध धर्म का उपदेश करने के निमित्त उपदेशक भेजे। अशोक ने कहा है कि इस देश और विदेश में देवप्रिय के धर्म के सिद्धान्तों पर, जहां कहीं वह पहुंचता है, लोग चलते हैं। एक ईसाई लेखक कहता है "बौद्ध उपदेशकों ने सिरीया में अपना धर्मप्रचार, उत्तरी पेलेस्टाइन में ईसा की शिक्षा (जो उससे बहुत कुछ मिलती जुलती है) के सुने जाने के दो शताब्दी पहिले किया। यह बड़ाही सत्य बचन है कि प्रत्येक महान ऐतिहासिक परिवर्तन का एक अग्रसर होता है"।

आर्यवंश का राज्य अशोक के दादा चन्द्रगुप्त के समय से ईसा से लगभग ३०० वर्ष पहिले आरम्भ हुआ। अशोक के पीछे वह चिरकाल तक न रहा। इसके पीछे दो राज्यवंश अर्थात् संग और काण्व ईसा से १८३ से २६ वर्ष पहिले तक हुए। इसके उपरान्त अन्ध्र लोगों ने, जिन्होंने कि दक्षिण में एक प्रबल राज्य स्थापित किया था, मगध को जीता और ये साढ़े चार शताब्दियों तक (ईसा से २६ वर्ष पहिले से ४२० वर्ष पीछे तक) उत्तरी भारतवर्ष के अधिपति बने रहे। ये लोग प्रायः बौद्ध थे परन्तु ब्राह्मणों और धर्मात्मा हिन्दुओं को आदर करते थे। इस बौद्ध काल मे दोनों धर्म साथ ही साथ प्रचलित थे और उपद्रव नाम का भी नहीं हुआ। अन्ध्रों के पीछे बड़े बड़े गुप्तवंशी राजा हुए जो ५०० इस्वी तक भारतवर्ष में प्रधान थे और इसके पीछे उनके राज्य का नाश हुआ। गुप्तवंशी प्रायः धर्म परायण हिन्दू थे परन्तु वे बौद्ध धर्म पर भी अनुग्रह रखते थे और बौद्ध मंदिरों और मठों में धन की सहायता करते थे।

इसी समय में पश्चिमी भारतवर्ष में विदेशी लोग बराबर चढ़ाई करते रहे। बैकट्रीरिया के यूनानी लोग तुरेनियन शत्रु दल से

निकाले जाकर ईसा से दूसरी और पहिली शताब्दी पहिले भारत-वर्ष में आ घुसे। इन लोगों ने यहां राजधानियां स्थापित कीं, यूनानी सभ्यता और विद्या का प्रचार किया और ईसा के कितनी ही शताब्दी पीछे तक भारतवर्ष के भिन्न भिन्न प्रान्तों में इनकी भिन्न भिन्न दशा रही। कहते हैं कि ये लोग उड़ीसा तक पहुंच गए थे। इनके पीछे यूची जाति के तुरेनियन लोगों ने आक्रमण किया और उन्होंने काश्मीर में एक सबल राज्य स्थापित किया। ईसा की पहिली शताब्दी में काश्मीर के यूची राजा कनिष्क का विस्तृत राज्य था जो काबुल, काशगर और यारकन्द से लेकर गुजरात और आगरे तक फैला हुआ था। वह बौद्ध था और उसने काश्मीर में उत्तरीय प्रान्त के बौद्धों की एक महासभा की। तब कम्बोजियन और काबुल की अन्य जातियां भारत में आने लगीं और उनके पीछे क्रम से हून लोगों का टिड्डीदल पहुंचा जो ईसा की ५ वीं शताब्दी में सारे पश्चिमी भारतवर्ष में फैल गया। अशोक के पीछे कई शताब्दी तक भारत को विदेशी आक्रमणों से चैन नहीं मिला परन्तु ये आक्रमण करने वाले जब अन्त में यहां बस गए तो उन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया और वे भारत वासियों में सम्मिलित हो गए।

बौद्ध धर्म का भी क्रमशः सन् ईस्वी के पीछे की शताब्दियों में ऐसा ही अस्त हुआ जैसा कि ऐतिहासिक काव्य काल में हिन्दुओं के गंगा की घाटी में बसने पर ऋग्वेद के हिन्दू धर्म का हुआ था। बौद्ध वैरागियों के वृहत और अशासनीय दल बन गए जिनके मठ के अधिकार में कई एकड़ भूमि होती थी और जिनका निर्वाह लोगों की आय से होता था। बौद्ध संस्कार और रीतियां बुद्ध की पूजा और मूर्त्तिपूजा के अधिक निकट पहुंचने लगीं और इनमें से बहुत सी रीतियां जो सर्वसाधारण को प्रिय थीं उस समय के हिन्दू धर्म में मिल गईं और इस प्रकार से ईसा के ६०० वर्ष पीछे एक नवीन रुप का हिन्दू धर्म बन गया। इसके अनन्तर भारत के किसी किसी प्रान्त में कई शताब्दी तक जर्जरित रुप से हिन्दू धर्म चला आया और अन्त में भारत के मुसल्मान विजयी लोगों ने उसे बिल्कुल निर्मूल कर दिया।

हमको अशोक के समय से लेकर ईसा की पांचवी शताब्दी तक बौद्ध लोगों की चट्टानों में खुदी हुई गुफाएं, चैत्य अर्थात् मन्दिर और विहार अथवा मठ सारे भारत में मिलते हैं परन्तु पीछे के समय के बौद्ध शिल्प का एक भी नमूना नहीं मिलता। मन्दिर निर्माण करने और हिन्दू शिल्प की प्रथा ईसा की छठीं शताब्दी से लेकर मुसलमानों के भारत विजय के बहुत पीछे तक रही।

बौद्ध साहित्य का जो भाग हमको आज कल मिलता है उसमें सब से बहुमूल्य वे धर्म शास्त्र हैं जिन्हें अशोक ने पटने की महा सभा में निश्चित करके सारे भारतवर्ष में भेज दिया था। ये धर्म्म-शास्त्र जो पाली भाषा में हैं और लङ्का (सिंघल द्वीप) में संरक्षित हैं, प्राचीन बौद्धधर्म के इतिहास की सब से अच्छी सामिग्री हैं। यह साहित्य नए रूप में नैपाल, तिब्बत चीन, जापान और सारे उत्तरीय बौद्ध प्रदेशों में मिला है।

हम कह चुके हैं कि बौद्ध धर्म का हिन्दू धर्म पर स्पष्ट प्रभाव पड़ा। बौद्धधर्म ने वेदों की पवित्रता में सन्देह किया था और आधुनिक अर्थात् पौराणिक हिन्दू धर्म यद्यपि नाम को वेदों का सम्मान करता है परन्तु वह इन प्राचीन ग्रन्थों से पूर्णतया पृथक् भाव रखने और छुटकारा पाने का परिचय देता है। हिन्दू ज्योतिष, गणित, धर्म शास्त्र और दार्शनिक विचार वेदों और वैदिक यज्ञों से उत्पन्न हुए थे और भिन्न भिन्न वैदिक सम्प्रदायों से सम्बन्ध रखते थे पर बौद्ध समय के पीछे के हिन्दू विज्ञान और शास्त्र का अवलम्ब नहीं लेते और न किसी वैदिक सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखते हैं। पौराणिक हिन्दू धर्म वैदिक यज्ञों का धर्म नहीं है वरञ्च उसमें मूर्त्ति और देवताओं की पूजा है जिसका कि वेदों में नाम भी नहीं है।

मनु के धर्म शास्त्र में बौद्ध युग के हिन्दू विचारों और रीतियों का वर्णन है। यह धर्म शास्त्र दार्शनिक काल के प्राचीन धर्म सूत्रों अथवा सामाजिक नियमों पर निर्धारित है परन्तु धर्म सूत्र भिन्न भिन्न वैदिक सम्प्रदायों के हैं। मनु संहिता किसी वैदिक सम्प्रदाय

की नहीं हैं और उसके नियम आर्य मात्र के नियम हैं। इसके विपरीत मनु वैदिक यज्ञों को मानता है, मूर्त्ति पूजा को त्याज्य समझता है और पौराणिक हिन्दू धर्म की त्रिमूर्त्ति (ब्रह्मा-विष्णु-महेश) से अनभिज्ञ है। इस प्रकार मनु वैदिक हिन्दूधर्म से पौराणिक धर्म के परिवर्तन की दशा दिखलाता है।

उपरोक्त बातों से यह प्रगट हो जायगा कि हमारे चतुर्थ युग का समय ईसा से ३२० वर्ष पहिले से लेकर ५०० वर्ष पीछे तक नियत करने का क्या कारण है।

पांचवां युग।

हिन्दू इतिहास का पांचवां अर्थात् अन्तिम युग हिन्दुओं के पुनरुत्थान का समय है जिसका विस्तार ५०० ईस्वी से १००० ईस्वी तक है जब कि महमूद गजनवी ने पहिला आक्रमण किया था।

यह काल राजनीति और साहित्य में महान कार्यों से आरम्भ होता है। कई शताब्दी पूर्व से विदेशी आक्रमणों ने भारत को दुखी कर रक्खा था परन्तु अन्त में एक बड़ा प्रतिहिंसक उत्पन्न हुआ। उज्जैन का विक्रमादित्य उत्तरी भारत का अधिपति था। उसने कोरर के घोर युद्ध में शक नाम के आक्रमण करनेवालों को हरा कर भगा दिया और हिन्दू स्वाधीनता को पुनः जीवित किया। हिन्दू कल्पना, निर्माण-शक्ति और साहित्य का इसके प्रसाद से पुनरुत्थान हुआ और हिन्दूधर्म एक नए रूप में प्रगट हुआ। तीन शताब्दी का समय जो कि विक्रमादित्य के समय से आरम्भ होता है (५०० से ८०० ई०) पीछे के संस्कृत साहित्य का महान युग कहा जा सकता है और प्रायः जितने बड़े बड़े ग्रन्थ आज भारतवर्ष में सर्वप्रिय हैं सब इसी समय के हैं। कालिदास ने अपने अद्वितीय नाटक और काव्य विक्रम की सभा ही में लिखे। अमरसिंह कोषकार इसी सभा के नवरत्नों में से था। और भारवी कालिदास का समकालीन था अथवा कुछ ही पीछे हुआ। विक्रमादित्य के उत्तराधिकारी दूसरे शिलादित्य ने ६१० से ६५० ई० तक राज्य किया। यह रत्नावली का कर्त्ता समझा जाता है। दंडी जिसने दशकुमारचरित

रचा है, दूसरे शिलादित्य के समय हुआ था और कादम्बरी का का रचयिता बाणभट्ट इसकी सभा में रहता था। वासवदत्ता बनाने वाला सुबन्धु भी इसी समय हुआ और यह भी युक्तियुक्त है कि शतक के रचयिता भर्तृहरि ने इसी शासन में भट्टीकाव्य बनाया।

दूसरी शताब्दी में यशोवर्मन ने ७०० ई० और ७५० ई० के बीच के समय में राज्य किया और विख्यात भवभूति ने अपने ओजस्वी नाटकों की रचना इसी काल में की। पर भवभूति प्राचीन आर्यावर्त क कवियों और विद्वानों की मंडली में अन्तिम था और आठवीं शताब्दी के अनन्तर भारतवर्ष में कोई भी अद्भुत बुद्धि सम्पन्न विद्वान नहीं हुआ।

इसी काल में भारतवर्ष के बृहत् जातीय महाकाव्य जो बहुत पूर्व रचे जा चुके थे, बढ़ाए और शुद्ध किए गए और इस प्रकार उन्होंने अपना अन्तिम स्वरूप धारण किया और उन बृहद् पुराणों की रचना जिनके कारण इस युग का नाम पौराणिक युग रक्खा गया है, वर्तमान रूप में आरम्भ हुई।

इन तीन शताब्दियों में भी आधुनिक हिन्दू विज्ञान शास्त्र में हमको प्रबल नाम मिलते हैं। आर्यभट्ट जिसने आधुनिक ज्योतिष शास्त्र की नींव डाली है, सन् ४७६ ई० में पैदा हुआ और उसने अपने ग्रन्थ छट्ठी शताब्दी के आरम्भ में लिखे। उसका उत्तराधिकारी बराहमिहर विक्रम की सभा के नवरत्नों में था। ब्रह्मगुप्त का जन्म ५६८ ई० में हुआ और इसलिये वह उपन्यास लेखक बाणभट्ट का समकालीन था। छठी शताब्दी के लगभग और भी विख्यात ज्योतिषी हुए हैं।

इन तीन शताब्दियों (५०० से ८०० ई० तक) के पीछे की दो शताब्दियां घोर अन्धकार की हुई। उत्तरी भारत का इतिहास ८०० से १००० ई० तक निरा कोरा है। उसमें न तो कोई राज्यवंश पराक्रमशील हुआ, न किसी विद्वान अथवा वैज्ञानिक ने ख्याति पाई और न उत्तरी भारत में कोई बड़ा कारीगरी अथवा शिल्प का काम निर्माण किया गया। इन दोनों निःसत्व शताब्दियों के विषय में इतिहास मौन्य है।

पर उस समय जो कुछ होरहा था उसके चिन्ह हमें कुछ मिलते

हैं। इन्हीं दोनों अन्धकारमय शताब्दियों में प्राचीन राज्यवंशों का पतन और प्राचीन राजधानियों का नाश हुआ। वे योरप के dark ages के समान हैं कि जिसमें रोमन राज्य की क्षति हुई और जो फ्यूडल प्रणाली के उठतेही दूर होगया। भारतवर्ष में भी अन्धकार के समय में प्राचीन राज्यवंशों और जातियों का प्रभाव धीरे धीरे नाश होगया और फिर जब प्रकाश होता है तो हम देखते हैं कि हिंदू फ्यूडल बेरन (Feudal barons) की एक नवीन जाति (अर्थात् वर्तमान राजपूत लोग) भारत में अधिपति होजाती है।

इस प्राचीन राज्य के विध्वंस और नवीन अधिकार के प्रयत्न के समय में सब से तरुण और सब से प्रबल जाति आगे बढ़ गई। लगभग १००० ई० तक हम राजपूत राज्यवंशों को उत्तरी भारत में सर्वत्र राज्य करते पाते हैं। वे उज्जैनी और कन्नौज में विक्रमादित्य और उसके उत्तराधिकारियों के राज्य के अधिकारी हुए। उन्होंने गुजरात और पश्चिमी भारत के प्रबल वल्लभी राजाओं का राज्य छीन लिया, बंगाल और दक्षिण में अपना राज्य जमाया और सुबुक्तगीन और महमूद को पंजाब में आगे बढ़ने से रोकने का प्रयत्न किया।

राजपूत लोगों की उत्पत्ति के विषय में भिन्न भिन्न मत प्रगट किए गए हैं। विलसन और अन्यान्य विद्वानों का मत है कि ये लोग सीदियन आक्रमण करने वालों के वंश में हैं कि जो कई शताब्दियों तक निरन्तर भारतवर्ष में आते रहे, जिन्हे विक्रमादित्य ने एक बेर पीछे हटा दिया था परन्तु जो अन्य आक्रमण करने वालों की नाई पश्चिमी भारत के मरुस्थलों में बस गए और जहां जहां उनसे हो सका, विजय करते और शासन करते रहे। चाहे जो कुछ हो राजपूत लोग निस्सन्देह हिन्दू सभ्यता के नए मानने वाले हुए क्योंकि प्राचीन ग्रन्थों में उनका कहीं नाम भी नहीं है। समस्त नवीन परिवर्तित लोगों की नाईं उन्होंने हिन्दूधर्म को असाधारण उत्साह से अङ्गीकार किया। वे सूर्य और चन्द्रवंशी क्षत्री कहे जाने पर गौरान्वित होते। जहां जहां वे विजय पाते हिन्दू मन्दिर स्थापित करते। पुरोहितों का घोर रुप का अधिकार और वर्तमान हिन्दूधर्म के अत्यन्त हानिकारक बन्धन इसी समय से आरम्भ हुए

और मुसलमानी शासन में सात शताब्दियों के जातीय निरुत्साह से वे चिरस्थायी हो गए।

योरप और भारतवर्ष के इतिहास में प्राचीन काल की समाप्ति की घटनाओं में समानता देखकर आश्चर्य होता है। जिस प्रकार विक्रमादित्य ने शक जाति को निकाल भगाया उसी प्रकार अन्तिम रोमन राज्याधिकारियों और उनकी सेना ने उन असभ्य जातियों को जो बड़े उत्साह से विजय प्राप्त करने के हेतु आगे बढ़ रही थीं, पीछे हटा दिया। कई शताब्दी तक हिन्दू और रोमन लोग विजय पाते रहे परन्तु अन्त में आक्रमणों और विजय की लहरों ने भारतवर्ष और इटली के शासन को ग्रस्त कर लिया और प्राचीन राज्यासनों और प्रणालियों का अधिपतन हुआ। इस घटना के शताब्दियों पीछे का पश्चिमी योरप और उत्तरी भारतवर्ष का कोई इतिहास नहीं है और यदि है भी तो उन्हीं घोर संग्रामों और अत्याचारों का कि जब से प्राचीन युग का अन्त और वर्तमान काल का उदय होता है। अन्त में जब अन्धकार निवृत्त होता है तो योरप और भारत दोनों में फ्यूडल राज्य स्थापित होते हैं और योरप के नए राज्यवंश ईसाई धर्म ग्रहण कर उस समय के पुरोहितों के पक्ष में उसी उत्साह और अनुराग से प्रयत्न करने लगे कि जैसे नवीन परिवर्तित राजपूत लोगों ने ब्राह्मणों और नवीन प्रणाली के हिन्दूधर्म के हेतु किया।

परन्तु इस समानता की समाप्ति यहीं नहीं होजाती। भारत के नवीन अधिकारयों को मुसलमानों के आक्रमणों की लहरों के विरुद्ध उतनाही प्रचण्ड संग्राम करना पड़ा जैसा कि योरप के नवीन सम्राटों को फ़ान्स, स्पेन और सीरिया में। सिंहहृदय रिचर्ड और दिल्लीश्वर पृथुराय एकही समय में उसी बढ़ती हुई जाति से लड़ रहे थे। योरप में राज्याधिकारियों ने अपनी स्वतंत्रता को रक्षित रक्खा और अन्त में मुसलमानों को स्पेन से भी निकाल दिया। भारत में हिन्दू राज्याधिकारियों ने विरोध तो किया परन्तु वह निष्फल हुआ। शहाबुद्दीन गोरी ने दिल्ली, अजमेर, कन्नौज और बनारस के राजपूत राज्यवंशों को सन् ११६३ और ११६४ में नाश कर दिया और राजपूतों के बड़े बड़े योधा भी अपने मरुस्थल के दुर्गों

में भाग गए कि जहां अब लों वे अङ्गरेज़ी गवर्मेण्ट की दयालुता के कारण एक प्रकार की स्वतंत्रता भोग रहे हैं।

हमने पौराणिक युग का काल सन् ५०० से १००० तक रक्खा है परन्तु उपरोक्त बातों से विदित होजायगा कि पौराणिक युग सन् ८०० में समाप्त होगया है। प्राचीन भारत का इतिहास इसी काल में समाप्त होता है और उसके पीछे दो शताब्दियां अन्धकार मग्न हैं।

समय।

भारतवर्ष में दो संवत्सर प्रचलित हैं। विक्रम संवत ईसा से ५६ वर्ष पूर्व से आरम्भ होता है और शकाब्द ७८ इस्वी से। विद्वानों को इस बात के निश्चय करने में बड़ी कठिनाई हुई है कि ये दोनों संवत्सर किन विख्यात घटनाओं के स्मरणार्थ स्थापित हुए थे और जो सिद्धान्त कि वे अब तक निश्चय कर सके हैं वे वादविवाद की सीमा के परे नहीं हैं।

यह अब निश्चय हुआ है कि शकाब्द शाक्य राजा कनिष्क का चलाया हुआ है जिसने ईसा से एक शताब्दी पीछे काश्मीर और पश्चिमी भारत को विजय करके आस पास के देशों में बौद्धधर्म का प्रचार किया। शकाब्द आरम्भ में बौद्धों का संवत्सर था। जब भारतवर्ष में बौद्ध धर्म्म था तो इसका प्रयोग होने लगा और बौद्धों के देश में अर्थात् तिब्बत ब्रह्मा लंका और जावा में सर्वत्र इसका प्रचार था। छठी शताब्दी में हिन्दुओं के पुनरुत्थान के पीछे उन्होंने इसका प्रयोग करना आरम्भ किया और वे यह कहने लगे कि इस शकाब्द का आरम्भ बौद्ध शक राजा के समय से नहीं है वरञ्च उस समय से है जब एक हिन्दू राजा ने शक लोगों पर विजय प्राप्त की थी। परन्तु प्राचीन लेखकों ने जहां कहीं शक संवत् का वर्णन किया है तो इसे शक राजाओं का ही शकाब्द बतलाया है * और

* ७० वर्ष हुए विद्वान कोलब्रूक ने लिखा था कि बराहमिहिर ने जो ईसा की छठी शताब्दी में हुआ, शक संवत् को "शकभूपकाल" अथवा "शकेन्द्रकाल" अर्थात् शक राजाओं का संवत्सर लिखा

आज की घड़ी तक हमारे पत्रों में यह शकाब्द ही लिखा जाता है अथवा पूर्ण रूप में इसे यों लिखते हैं "शकनरपतेर अतीताब्द" जिससे अभिप्राय यह है कि शक राजाओं की संवत्सर, और न कि हिन्दू राजा का शकों को नाश करने का समय।

विक्रम संवत् का निश्चय करना इससे भी कठिन है। साधारणतः इसका आरम्भ विक्रमादित्य के किसी बड़े विजय के काल से समझते हैं परन्तु इतिहास में ईसा से ५६ वर्ष पहिले किसी विक्रमादित्य का वर्णन नहीं आया है और अब निश्चय होगया है कि कालिदास का गुणग्राहक विक्रमादित्य ईसा से छ सौ वर्ष पीछे हुआ था।

इससे अधिक आश्चर्य की बात यह है कि संवत् का प्रयोग अभी थोड़े ही काल से होने लगा है। सन् ईस्वी के तुरन्त पीछे इसके प्रयोग किए जाने का कोई उदाहरण नहीं मिलता। भारतवर्ष में बौद्धों के काल के अथवा तिब्बत, ब्रह्मा, लंका, जावा आदि दूसरे बौद्ध देशों के शिला लेखों पर यह संवत नहीं मिलता।

संवत्सर जो सन् ईस्वी से ५६ वर्ष पहिले प्रचलित हुआ ऐतिहासिक अन्धकार से आच्छादित है। यह किसी ऐसे राजा का चलाया हुआ जान पड़ता है कि जिसका इतिहास में कहीं वर्णन भी नहीं है और जिस काल में इसका आरम्भ समझा जाता है इसके बहुत पीछे तक इसका प्रयोग नहीं हुआ।

कदाचित संवत्सर की उत्पत्ति का ठीक ठीक निर्णय मिस्टर फ्लीट ने अपनी रची हुई गुप्त राजाओं के शिलालेखों के विषय की पुस्तक में किया है। ऐसा जान पड़ता है कि यह संवत्सर आरम्भ में मालवा जाति का एक अप्रसिद्ध संवत था जो पीछे से विक्रमादित्य के नाम के साथ संयुक्त किया गया कि जिसने सन्

है। उसके टीकाकारों ने इसका अर्थ उस संवत्सर से किया है कि जब विक्रमादित्य ने शक लोगों को हराया। फिर ब्रह्मगुप्त ज्योतिषी ने जो ईसा की सातवीं शताब्दी में हुआ इसको 'शक नृपान्ते' अर्थात् शक राजा के पीछे का लिखा है। उसके टीकाकारों ने भी उसका यह अर्थ किया "विक्रमादित्य के पीछे का कि जिसने असभ्य शक जाति का दमन किया।" (कोलब्रूक कृत 'संस्कृत की बीजगणित इत्यादि' देखो)

ईस्वी से ६०० वर्ष पीछे मालवा जाति को भारतवर्ष की प्रधान जाति बनाया।

अब हम सुगमता के हेतु भिन्न भिन्न कालों की एक सूची देते हैं परन्तु इतना कह देना आवश्यक है कि इन तारीखों को केवल यथार्थता के संन्निकट पहुंचती हुई समझना चाहिए और पहिले दी हुई तिथियों में यदि भेद है तो २ या ३ ही सौ वर्ष का होगा।

१ वैदिक काल।

ईसा से २००० वर्ष पहिले से १४०० वर्ष पहिले तक।

आर्यों का सिन्धु की घाटी में अधिनिवास, ऋग्वेद के सूक्तों का निर्माण-ईसा से २००० वर्ष पहिले से १४०० वर्ष पहिले तक।

२ ऐतिहासिक काव्य काल।

ईसा से १४०० वर्ष पहिले से १००० वर्ष पहिले तक।

गंगा की घाटी में आर्यों का अधिनिवास—ईसा से १४०० वर्ष पहिले से १००० वर्ष पहिले तक।

चन्द्रराशिचक्र का स्थिर किया जाना, ज्यौतिषिक वेध, वेदों का सम्पादन—ईसा से १४०० वर्ष पहिले से १२०० वर्ष पहिले तक।

कुरु और पाञ्चालों की उन्नति का समय—ईसा से १४०० वर्ष पहिले से १००० वर्ष पहिले तक।

कुरु-पाञ्चालों का युद्ध—ईसा से १२५० वर्ष पहिले।

कोशल, काशी और विदेह लोगों का उन्नति काल—ईसा से १२०० वर्ष पहिले से १००० वर्ष पहिले तक।

ब्राह्मणों और आरण्यकों का निर्माण काल—ईसा से १३०० वर्ष पहिले से ११०० वर्ष पहिले तक।

उपनिषदों का निर्माण काल—ईसा से ११०० वर्ष पहिले से १००० वर्ष पहिले तक।

३ दार्शनिक काल।

ईसा से १००० वर्ष पहिले से ३२० वर्ष पहिले तक।

आर्यों का भारत विजय—ईसा से १००० वर्ष पहिले से ३२० वर्ष पहिले तक।

यास्क—ईसा के पहिले नौवीं शताब्दी में।
पाणिनि—ईसा के पहिले आठवीं शताब्दी में।
सूत्रकार—ईसा से ८०० वर्ष पहिले से ४०० वर्ष पहिले तक।
सुल्व सूत्र (रेखागणित)—ईसा के पहिले आठवीं शताब्दी में।
अन्य दार्शनिक—ईसा के ६०० वर्ष पहिले से ईस्वी सन् तक।
गौतम बुद्ध—ईसा से ५५७ वर्ष पहिले से ४८५ वर्ष पहिले तक।
बिम्बिसार, मगध का राजा—ईसा से ५३७ वर्ष पहिले से ४८५ वर्ष पहिले तक।
अजातशत्रु—ईसा से ४८५ वर्ष पहिले से ४५३ वर्ष पहिले तक।
प्रथम बौद्ध संघ—ईसा से ४७७ वर्ष पहिले।
द्वितीय बौद्ध संघ—ईसा से ३७७ वर्ष पहिले।
नौ नन्द, मगध के राजा—ईसा से ३७० वर्ष पहिले से ३२० वर्ष पहिले तक।

४ बौद्ध काल।

ईसा से ३२० वर्ष पहिले से ५०० इस्वी तक।

चन्द्रगुप्त, मगध का राजा—ईसा से ३२० वर्ष पहिले से २९० वर्ष पहिले तक।
बिन्दुसार—ईसा से २९० वर्ष पहिले से २६० वर्ष पहिले तक।
अशोक—ईसा से २६० वर्ष पहिले से २२२ वर्ष पहिले तक।
तृतीय बौद्ध संघ—ईसा से २४२ वर्ष पहिले।
मगध में मौर्य्य वंश का अन्त—ईसा से १८३ वर्ष पहिले
मगध में सुंग वंश—ईसा से १८३ वर्ष पहिले से ७१ वर्ष पहिले तक।
मगध में काण्व वंश—ईसा से ७१ वर्ष पहिले से २६ वर्ष पहिले तक।
मगध में अन्ध्र वंश—ईसा से २६ वर्ष पहिले से सन् ४३० ईस्वी तक।
गुप्त वंशी राजा—सन् ३०० से ५०० इस्वी तक।
बक्टेरिया के ग्रीक लोगों का भारत पर आक्रमण—ईसा के पहिले दूसरी और पहिली शताब्दियों में।

यू-ची जाति का भारत पर आक्रमण—ईसा की पहिली शताब्दी में।

काश्मीर के यू-ची राजा कनिष्क ने शक संवत् चलाया—सन् ७८ ईस्वी में।

सौराष्ट्र देश में शाह वंशी राजाओं का राज—सन् १५० से ३०० ईस्वी तक।

कम्बोजी लोगों का भारत पर आक्रमण—ईसा की तीसरी और चौथी शताब्दियों में।

हुन लोगों का भारत पर आक्रमण-ईसा की पाचवीं शताब्दि में।

५ पौराणिक काल।

सन् ५०० ईस्वी से १००० ईस्वी तक।

उज्जैन और उत्तरी भारत का राजा विक्रमादित्य—सन् ५०० से ५५० ईस्वी तक।

कालिदास, अमरसिंह, वररुचि आदि—सन् ५०० से ५५० ईस्वी तक।

भारवी—लगभग ५५० ईस्वी से ६०० ईस्वी तक।

आधुनिक हिन्दू ज्योतिष शास्त्र का संस्थापक आर्यभट्ट—सन् ४७६ से ५३० ईस्वी तक।

वराहमिहिर-सन् ५०० से ६६० ईस्वी तक।

ब्रह्मगुप्त-सन् ५६८ से ६५० तक।

द्वितीय शिलादित्य, उत्तरी भारत का सम्राट—सन् ६१० से ६५० ईस्वी तक।

दण्डी—सन् ५७० से ६२० तक।

बाणभट्ट और सुबन्धु, भर्तृहरि और भट्टिकाव्य—सन् ६१० से ६५० ईस्वी तक।

भवभूति—सन् ७०० से ७५० ईस्वी तक।

शङ्कराचार्य-७८८ से ८५० ईस्वी तक।

उत्तरी भारत का अन्धकारमय समय—सन् ८०० से १००० ईस्वी तक।

—:*:—

प्राचीन भारतवर्ष की

सभ्यता का इतिहास।

पहिला भाग।

काण्ड १

वैदिक काल, इस्वी से २००० वर्ष पूर्व से १४०० वर्ष पूर्व तक।

अध्याय १

आर्य लोग और उनका साहित्य।

आर्य लोगों के रहने की पहिली जगह* के बारे में विद्वान लोगों

---

* आज कल की खोज से मालूम हुआ है कि जो जातियां आर्य भाषाएं बोलती हैं वे सब एकही जाति से नहीं पैदा हुई हैं और न वे कभी एकही जाति की थीं। लेकिन साथही इसके यह भी माना जाता है कि इन सब जातियों के पूर्व पुरुषों ने किसी एकही भंडार से अपनी अपनी भाषाओं को पाया होगा। वे सब किसी एकही बड़ी जाति के अधीन रही होंगी जिसने अपनी भाषा का प्रभाव उन सभों पर डाला अथवा वे सब एक ही देश में रही होंगी। जब हम "आर्य लोगों की सब से पहिली रहने की जगह" लिखें तो उससे वही देश समझना चाहिए जहां ये लोग एक साथ रहते थे और जब हम 'आर्य लोगों' का वर्णन करें तो हमारा मतलब उन्हीं जातियों से होगा जो आर्य भाषाएं बोलती हैं।

का बड़ा मतभेद है। अपने देश को प्यार करने वाले और उत्साही हिन्दू विद्वान यह कभी नहीं मानते कि आर्य लोगों की पहिली रहने की जगह आर्यावर्त के बाहर रही हो और इसी तरह अपने देश से प्रीति रखनेवाले योरप के विद्वान लोग आर्यों की पुरानी रहने की जगह बाल्टिक सागर के किनारे बतलाते हैं। अस्तु जो कुछ हो हमारा काम इस झगड़े में पड़ने का नहीं है। हम यहां सिर्फ पक्ष-पात रहित लोगों का विचार लिख देते हैं कि आर्यों की पहिली रहने की जगह एशिया के बीच में कहीं पर थी।

जिन प्रमाणों से यह बात सिद्ध की गई है उन्हें प्रोफेसर मेक्समूलर ने अपनी एक पुस्तक में दिया है जिसे छपे अभी थोड़ेही दिन हुए हैं। हम नीचे अपने पाठकों के लिये उसका अनुवाद कर देते हैं।

"(१) भाषा के दो स्रोत हैं एक का तो प्रवाह दक्षिण-पूरब की ओर आर्यावर्त को है और दूसरे का उत्तर-पश्चिम की ओर यूरप को। वह जगह जहां ये दोनों स्रोत एक दूसरे से मिलते हैं, एशियाही जान पड़ती है।

"(२) सभ्यता के सब से पुराने स्थान एशियाही में थे और सब आर्य भाषाओं का सब से पहिला रूप (अर्थात् पुरानी आर्य जातियां जो भाषा बोलती थीं उससे बहुत मिलती हुई भाषा) पुराने आर्यावर्त की वैदिक संस्कृत ही है।

"(३) पीछे के समय में मध्य एशिया से यूरप में कई दूसरी जातियां जाकर उपद्रव करने और अपना अधिकार जमाने लगीं जैसे इस्वी की चौथी शताब्दी में हुन जाति और तेरहवीं शताब्दी में मंगोल जाति।

"(४) यदि आर्य लोग यूरप से और विशेष कर स्कैंडिनेविया से एशिया में आए होते तो उनकी मामूली बोलचाल की भाषा में समुद्र की चीजों के भी नाम पाए जाते।" पर ऐसा नहीं है। यद्यपि उसमें विशेष प्रकार के जानवरों और चिड़ियों के नाम पाए जाते हैं पर उसमें विशेष प्रकार की मछलियों के या मछली मात्र के लिये कोई नाम नहीं मिलता और न समुद्र ही के लिये कोई एक साधारण नाम मिलता है।

संसार में भिन्न भिन्न आर्य जातियों के मामूली बोलचाल में जो शब्द पाए जाते हैं उन्हीं के निर्बल और सूक्ष्म [illegible] से बहुत से विद्वानों ने आर्य लोगों की पुरानी सभ्यता का उस समय का कुछ न कुछ कल्पित हाल लिखा है जब कि वे लोग एक दूसरे से अलग नहीं हुए थे। पिक्टेट साहब ने सन् १८५९-६३ में पेरिस में दो बड़े बड़े भागों में जो पुस्तक छपवाई थी, वह उसके पहिले की छपी हुई इस विषय की और पुस्तकों से बहुत अच्छी हुई। इसके पीछे सन् १८६८ में डाक्टर फिक की बनाई पुस्तकें और सन् १८७० में डाक्टर हेन की पुस्तक छपी। यहां पर हमारा मतलब ऐसे वृत्तान्तों को लिखने का नहीं है। हम पुराने आर्य लोगों के बारे में सिर्फ वेही बातें लिखेंगे जिनमें कोई मतभेद नहीं है।

पुराने आर्य लोगों के घर का काम काज बहुत कुछ वैसाही था जैसा कि आज कल आर्य जातियों में है। इतिहास जानने वाले लोग आर्यों के इतिहास में पुरुष और स्त्री में बिना विवेक के सम्बन्ध होजाने का, या स्त्रियों को अपनी मा के वंश में गिने जाने का या स्त्रियों के वारिस होने का, कोई चिन्ह नहीं पाते। वरन इस के विपरीत बाप कुटुम्ब का पालने और रक्षा करनेवाला होता था, मा लड़कों को खिलाती और उनकी खबर लेती थी, बेटी दूध दुहती थी, और ब्याह का सम्बन्ध माना जाता था। कदाचित पुराने आर्य लोग सभ्यता की इतनी ऊंची हालत पर पहुंच गए थे कि जिसमें स्त्री और पुरुष में बिना विवेक के सम्बन्ध नहीं हो सकता। जाति की जगह पर उस समय कुटुम्ब होता था और बाप कुटुम्ब का मुखिया माना जाता था।

बहुत से काम के जानवर पालतू कर लिए गए थे और लोगों के काम में लाए जाते थे। गाय, बैल, सांड, बकरी, भेड़, सूअर, कुत्ते और घोड़े, ये सब पालतू कर लिए गए थे। जङ्गली रीछ, भेड़िए, खरगोश और डरावने सर्प, ये सब उस समय मालूम हो चुके थे। इसी तरह चिड़ियों में राजहंस, बत्तक, कोयल, कौवा, तोता, सारस, और उल्लू भी पुराने आर्य लोगों को मालूम थे।

हर एक तरह के उद्यम तब तक भी शुरू की दशा में थे, लेकिन शिल्प विद्या का आरम्भ हो गया था। आर्य लोग घर, गांव,

नगर और सड़कें बनाते थे और जल से आने जाने और व्यापार करने के लिये [illegible] भी बनाते थे। वे लोग सूत कातना, कपड़े बुनना और उनकी तह लगाना भी जानते थे और रोएं, चमड़े और ऊन के कपड़े बनाते थे। बढ़ई के काम ने जरूर उस समय बड़ी उन्नति की होगी। आर्य लोग रंगना भी जानते थे।

कदाचित यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि पहिले के आर्य लोग खेती करते थे और इसी काम करने के कारण उनका नाम (आर्य=किसान) पड़ा। सब आर्य जातियों की मामूली बोल चाल के बहुत से किसानी शब्दों से, जैसे, हल, गाड़ी, छकड़ा, पहिया, धुरा, जूआ, आदि से यह जान पड़ता है कि वे एक ही शब्द भंडार से निकले हैं। वे अनाज को कूट पीस कर उसे कई तरह से पकाते थे और हरएक कुटुम्बी भेंड और गायों के झुंड रखता था जिससे दूध और मांस मिलता था। यद्यपि उस समय खेती की जाती थी पर इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि बहुतेरे कुलपति जानवरों के लिये नई नई चरने की जगहों की खोज में अपने साथियों और जानवरों को लेकर एक जगह से दूसरी जगह घूमा करते थे और पहिले के बहुत से आर्य लोग इसी तरह से घूम घूम कर रहते थे। इस बात का कुछ पता ऋग्वेद में भी मिलता है, जैसा कि हम आगे चल कर दिखलावेंगे।

उस समय युद्ध की भी कमी नहीं थी। हड्डी, लकड़ी, पत्थर, और धातु के हथियार बनाए जाते थे। ऐसा जान पड़ता है कि तीर, धनुष, तलवार और भाला युद्ध के हथियार थे।

पहिले के आर्य लोगों को सोने और चांदी का प्रयोग जरूर मालूम था जिससे जान पड़ता है कि उन लोगों में सभ्यता कुछ बढ़ी हुई थी। पहिले की जातियों के सादेपन से वे सोने को "पीला" (हिरण्य) और चांदी को "सफ़ेद" (रजत) कहते थे वे लोग एक तीसरी धातु (अयस) को भी जानते थे लेकिन यह धातु लोहा थी या कोई दूसरी चीज इसमें सन्देह है।

कदाचित इसका अनुमान करना सम्भव नहीं है कि उस पुराने ज़माने में राज की प्रणाली किस तरह की थी। इसमें सन्देह नहीं कि जातियों के सरदार और मनुष्यों के मुखिया लोग अधिकार पाते

थे और सीधी सादी प्रजा उन्हें लड़ाई और अमन चैन में अपना बचाने वाला या पालने वाला (पति, विस्पति, राजा) कहती और मानती थी। सभ्य लोगों के मामूली विचारों में उचित या अनुचित में फरक समझा जाता था। उस समय की जो रीति थी और जो बातें जाति की भलाई की समझी जाती थीं वेही उस समय कानून की तरह मानी जाती थीं।

जो बातें सुन्दर और अचम्भे की थीं उन्हींको आर्य लोगों ने अपने पुराने धर्म की जड़ माना। आस्मान या चमकीला आस्मान अचम्भे और पूजा की एक पुरानी चीज थी। सूर्य, उषा, अग्नि, पृथ्वी, आंधी, बादल और बिजली इन सब की पूजा की जाती थी। पर धर्म फिर भी सीधा और पुराना था। देवताओं और उनके बारे की गढ़ी हुई कथाएं अब तक नहीं बढ़ी थीं और न बहुत से विधानों की रीतें ही बनाई गई थीं। आर्य जातियों के वीर पुरखा लोग सृष्टि की सुन्दर और अचम्भे की बातों को पुरुषोचित सत्कार की दृष्टि से देखते थे और ऐसी बातों को ईश्वर से व्याप्त समझते थे और धन्यवाद और उत्साह के साथ उसकी स्तुति और प्रार्थना करते थे।

समय समय पर आर्य लोगों के साहसी दल भोजन, चरागाह, राज्य या लूट की खोज में अपनी पुरानी रहने की जगह छोड़ देते थे। जिस क्रम से जुदी जुदी जातियों ने अपने रहने की जगह छोड़ी है वह मालूम नहीं है और न कभी मालूम हो सकेगा। प्रोफेसर मेक्समूलर का यह विचार है कि पहिले पहिल आर्य जातियों के दो हिस्से हुए, एक तो उत्तर-पश्चिमी या यूरोपी और दूसरा दक्षिण-पूर्वी या एशियाई। ये दोनों हिस्से एक बेर अलग होकर फिर कभी नहीं मिले। उत्तर-पश्चिम की शाखा यूरप की ओर गई और पांच जुदी जुदी जातियां उसके पांच जुदे जुदे हिस्सों में जाकर बसीं, जिसका समय मालूम नहीं किया जा सकता। केल्ट लोग यूरप के बहुत ही पश्चिम में यानी फ्रान्स, आयरलेंड, ग्रेट ब्रिटेन और बेलजियम में जाकर या सम्भव है कि दूसरी जातियों से आगे भगाए जाकर बसे। बलवान ट्यूटन लोग यूरप के उत्तर और बीच के हिस्सों में बसे जहां से कि रोम के अधःपतन के

पीछे वे लोग सारे योरप को जीत लेने के लिये निकले। स्लाव लोग यूरप के पूरब में यानी एशिया आदि में बसे और इटेलिक और ग्रीक जातियां योरप के दक्खिन में बसीं।

एशियाई शाखा दक्खिन की ओर गई और मेक्समूलर का विचार है कि तब तक आपस में मिले हुए हिन्दू-इरानी लोग पंजाब की इंडस नदी तक आए। यहां इंडस और उसकी सहायक नदियों के आस पास दक्खिन-पूर्वी आर्य लोग एक पुरानी भाषा बोलते थे जो कि संस्कृत या ज़िन्द के भी पहिले की है। इसके पहिले धर्म के झगड़ों ने उन्हें अलग कर दिया। देवों के पूजने वाले अर्थात् हिन्दू लोग पंजाब में रहे और असुरों की पूजा करने वाले अर्थात् ईरानी लोग फ़ारस को गए।

इन्हीं देवों के पूजने वाले हिन्दू आर्यों ने वे सूक्त बनाए हैं जिन्हें ऋग्वेद कहते हैं। हम यहां पर इस पुराने ग्रन्थ के बारे में दो चार बातें कहेंगे। शायद किसी जाति के साहित्य में ऐसा मनोहर या शिक्षा देने वाला और ऐसा अपूर्व दूसरा कोई ग्रन्थ नहीं है। इस पुराने ग्रन्थ का बहुतही पुराना होना, इसमें आर्य लोगों की सब से पहिले की सभ्यता का जो चित्र खींचा है और इससे सब आर्य जातियों के धर्म और गढ़ी हुई कथाओं के बारे में जो बातें मालूम होती हैं, इन सब बातों के कारणों से ऋग्वेद बहुत ही मनोरंजक है।

लेकिन यह ग्रन्थ इससे भी ज्यादे काम का है और इससे और भी अधिक गूढ़ बातें मालूम होती हैं। इस ग्रन्थ से मनुष्य जाति के दार्शनिक इतिहास जानने वालों को मालूम होता है कि धर्म सम्बन्धी विश्वास और विचार किस तरह पर पैदा हुए। इस से मालूम होता है कि मनुष्य का मन पहिले उन चीजों की पूजा किस तरह से करने लगता है जो कि सृष्टि में उत्तम और श्रेष्ठ हों और जो बलवान और अचम्भे की हों। कम खुली जातियों में धर्म रोगों और बुराइयों के डर से पैदा होता था, क्योंकि इनके चित्त पर उसका सब से ज्यादा असर पड़ता है। पर आर्य लोगो में सृष्टि के सब से ज्यादा मनोहर और सुन्दर दृश्यों ने, जैसे साफ़ आसमान, खिला हुआ सवेरा, ऊगते हुए सूर्य और दहकती हुई आग ने, सब से ज्यादा असर पैदा किया

और उन लोगों ने कृतज्ञता से इन की प्रशंसा और पूजा के गीत बनाए। यही ऋग्वेद संहिता है। आर्यों के धर्म का सब से पहिला रूप जो हमलोगों को मालूम है यही है।

पर ऋग्वेद से इससे भी ज्यादा बातें मालूम होती हैं। उससे जाना जाता है कि मन सृष्टि से हटकर फिर सृष्टि के देवता की ओर कैसे जाता है। ऋग्वेद के ऋषी लोग सृष्टि के दृश्यों का पूजन करके सदा सन्तुष्ट नहीं हुए। वे कभी कभी इससे भी ऊंचे और गूढ़ विचारों की ओर गए और यह विचारने लगे कि ये सब चीजें (सूर्य आकाश, आंधी और बिजली) सिर्फ उसी एक के काम हैं जो कि अगम और अगोचर है।

जब कि ऋग्वेद मनुष्य जाति के इतिहास जानने वालों के इतने काम का है तो वह आर्य जाति के इतिहास जानने वालों के लिये तो जरूर ही इसे भी ज्यादा काम का है। वह आर्यों का सब से पुराना ग्रन्थ है और उसमें आर्यों की सब से पुरानी सभ्यता का हाल मिलता है। साथही इस के जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं संसार भर की आर्य जातियों के धर्म और गढ़ी हुई कथाओं की जो बातें समझ में नहीं आती वे इस ग्रन्थ से मालूम होजाती हैं। यहां पर इस बात का उदाहरण देकर साबित करना हमारे काम के बाहर बात होगी, लेकिन कुछ बातें इतनी अच्छी तरह से लोगों को मालूम है कि हमारे विचारों को साबित करने के लिये उन बातों के इशारा कर देने की जरूरत होगी।

जिउस वा जुपिटर वही है जो कि वेद का 'द्यु' या आकाश। डफने और एथिना शायद वेद के 'दहना' और 'अहना' अर्थात् प्रभात हैं। युरेनस वरुण या आकाश है और प्रामेथिअस शायद वेद का 'प्रमन्थ' अर्थात् वह अग्नि है जो रगड़ से पैदा होती है।

हिन्दुओं के लिये ऋग्वेद और भी ज्यादा काम का ग्रन्थ है। हिन्दू धर्म में आगे चल कर जो, जो बातें गढ़ी गई वे सब उससे मालूम हो जाती हैं और पुराणों का उलझन भी उससे साफ़ हो जाता है। उससे हिन्दू हृदय की सबसे पहिली दशा का इतिहास मालूम होता है। हिन्दुओं को इस पुराने और अनमोल ग्रन्थ से मालूम होता है कि परम पालक विष्णु और उनके तीन पद से जिन्हों

ने सब सृष्टि को छेंक लिया है मतलब है उदय होते हुए, शिरोबिन्दु पर, और अस्त होते हुए सूर्य से। परम नाशक भयानक देवता रुद्र से पहिले पहिल बिजली या उस बादल से मतलब था जिससे बिजली पैदा होती है और सृष्टि रचने वाले ब्रह्मा से असिल में स्तुति या स्तुति के देवता से मतलब है।

ऋग्वेद में १०२८ सूक्त हैं जिनमें दस हजार से ज्यादा रिचाएं हैं। बहुत करके ये सूक्त सरल हैं और इनसे उन देवताओं में बालकों की नाई सरल विश्वास झलकता है जिन्हें बलि दिया जाता था, सोम रस चढ़ाया जाता था और जिनसे सन्तान, पशु और धन के लिये स्तुति की जाती थी और पंजाब के काले आदिवासियों के साथ जो अब तक लड़ाई होती थी उसमें आर्यों की मदद करने के लिये प्रार्थना की जाती थी।

ऋग्वेद के सूक्त १० मंडलों में बंटे हैं। कहा जाता है कि पहिले और अन्त के मंडलों को छोड़ कर बाकी जो आठ मंडल हैं उनमें से हर एक को एक एक ऋषी (अर्थात् उपदेश करने वालों के एक एक घराने) ने बनाया है। जैसे दूसरे मंडल को गृत्समद ने, तीसरे को विश्वामित्र ने, चौथे को वामदेव ने, पांचवें को अत्रि ने, छठे को भारद्वाज ने, सातवें को वसिष्ठ ने, आठवें को कण्व ने और नवें को अङ्गिरा ने, बनाया है। पहिले मंडल में १६१ सूक्त हैं जिन में से कुछ सूक्तों को छोड़ कर और सबको पन्द्रह ऋषियों ने बनाया है। दसवें मंडल में भी १९१ सूक्त हैं और इनके बनाने वाले प्रायः कल्पित हैं।

ऋग्वेद के सूक्तों को कई सौ बर्ष तक पुत्र अपने पिता से या चेले अपने गुरु से सीखते चले आए। लेकिन उनका सिलसिले वार संग्रह बहुत पीछे अर्थात् पौराणिक काल में हुआ। दसवें मंडल का सब अथवा बहुत सा हिस्सा इसी काल का बना हुआ जान पड़ता है, जो कि पुराने सूक्तों में मिला कर रक्षित रक्खा गया।

ऋग्वेद का क्रम और संग्रह जैसा कि वह अब है पौराणिक काल में समाप्त हो गया होगा। ऐतरेय आरण्यक (२,२) में मण्डलों के क्रम से ऋग्वेद के ऋषियों के नाम की कल्पित उत्पत्ति दी है

और इसके पीछे सूक्तों की, ऋक् की, अर्द्धऋक् की, पद की और अक्षरों तक की गिनती दी है। इससे जान पड़ता है कि पौराणिक काल में ऋग्वेद संहिता का मंडल मंडल करके केवल क्रम ही नहीं कर लिया गया वरन् सावधानी से उसका भाग उपभाग भी कर लिया गया था।

पौराणिक काल के अन्त तक ऋग्वेद की हर एक रिचा, हर एक शब्द और हर एक अक्षर तक की गिनती कर ली गई थी। इस गिनती के हिसाब से रिचाओं की संख्या १०४०२ से लेकर १०६२२ तक, शब्दों की संख्या १५३८२६ और अक्षरों की ४३२,००० है।

अध्याय २ ।

—:o:—

खेती, चराई और व्यापार ।

आज कल के हिन्दुओं की नाई पुराने हिन्दुओं का भी प्रधान काम खेती था। और, जैसा कि आशा की जा सकती है, ऋग्वेद में बहुत सी जगहों से इसका हाल झलकता है। 'आर्य' शब्दही, जिस नाम से कि आर्यावर्त के जीतने वाले लोग अपने को वहां के पुराने रहने वालों अर्थात् दासों से अलग करते थे, उसी की उत्पत्ति एक ऐसे शब्द से कही जाती है जिसका अर्थ 'खेती करना' है। प्रोफ़ेसर मेक्समूलर का मत है कि इसी शब्द के चिन्ह ईरान वा फ़ारस से लेकर एरिन वा आयरलैंड तक बहुत से आर्यदेशों के नामों में मिलते हैं। वे कहते हैं कि आर्यलोगों ने अपनी सब से पहिली रहने की जगह में इस शब्द को खेती में अपनी प्रीति दिखलाने के लिये और उन घुमन्तू तूरानियों से (जिनका नाम, विश्वास किया जाता है कि, उनकी शीघ्र यात्रा और उनके घोड़ों की तेज़ी ज़ाहिर करता है) अपने को अलग करने के लिये, गढ़ा। चाहे जो हो पर इसमें तो सन्देह नहीं है कि ऋग्वेद में 'आर्य' ही एक शब्द है जिससे जीतने वाली जाति यहां के असिल पुराने रहने वालों से अलग समझी जाती थी। साथ ही इसके बहुत से ऐसे वाक्य भी पाए जाते हैं जिनसे जान पड़ता है कि यहां के नए रहने वाले लोग अपने को 'आर्य' पुकारने में इस शब्द के मतलब को बिलकुल भूल नहीं गए थे। हम यहां पर इसका एक उदाहरण दे देते हैं जो कि काफ़ी होगा।

"हे दोनों अश्विन! तुमने आर्यों को हल जोतना और बीज बोना सिखा कर और अनाज पैदा करने के लिये वृष्टि देकर और अपनी बिजली से दस्यु का नाश करके अपना प्रताप दिखलाया है।" (१,११७,२१)

ऋग्वेद में दो और शब्द मिलते हैं जिनका अर्थ 'आर्य जाति' से नहीं बल्कि सब मनुष्यों से है। ये शब्द 'चर्षन' और 'कृष्टि' हैं और ये दोनों शब्द एक ही शब्द भंडार के रूप भेद 'कृष्' या 'चृष' से बने हैं।

इस तरह आर्यावर्त्त के जीतने वाले आर्य अपने को जिस नाम से पुकारते थे खुद वही नाम उस लाभदायक काम अर्थात् खेती को ज़ाहिर करता है जिससे कि सभ्य लोग असभ्यों से अलग समझे जाते थे।

ऋग्वेद में बहुत सी जगहों से खेती का हाल साफ झलकता है। पर उनमें से एक सूक्त सब से अच्छा है जिसमें खेती के एक कल्पित देवता "क्षेत्रपति" की स्तुति है और जिसका पूरा पूरा अनुवाद हम नीचे देते हैं।

" (१) हम लोग इस खेत को "क्षेत्रपति" की मदद से जोतेंगे (बोएंगे)। वह हमारे जानवरों और घोड़ों की रक्षा करके हमें सुखी करे।

" (२) हे क्षेत्रपति! जिस तरह गाएं दूध देती हैं उसी तरह के मीठे, साफ़, घृत की तरह, अच्छे स्वाद की बहुत सी बरसात हम लोगों को दें। पानी के देवता हम लोगों को सुखी करें।

" (३) पेड़ हमारे लिये मीठे हों। आकाश, वर्षा और अन्तरिक्ष मिठास से भरे हों। क्षेत्रपति हम लोगों पर दयालु हों और हम लोग उनका अनुगमन शत्रुओं से बिना सताए जाकर करेंगे।

" (४) बैल आनन्द से काम करें, मनुष्य आनन्द से काम करें, हल आनन्द से चले। जोत को आनन्द से बांधो और पैने को आनन्द से चलाओ।

" (५) हे शुन और हे सीर! इस सूक्त को स्वीकार कीजिए। जो मेह आपने आकाश में बनाया है उससे इस पृथ्वी को सींचिए।

" (६) हे सुभग सीते! आगे बढ़ो, हम लोग तुझ से विनती करते हैं। हम लोगों को धन और अच्छी फ़सिल दे।

" (७) इन्द्र इस सीता को स्वीकार करें। पूषन उसे आगे

बढ़ावें। वह पानी से भर जाय और हम लोगों को हर साल अनाज दें। *

"(८) हल के फाल जमीन को आनन्द से खोदें। मनुष्य बैलों के पीछे आनन्द से चलें। पर्जन्य पृथ्वी को मीठे मेह से तर करें। हे शुन और सीर! हम लोगों को सुखी करो।" (४, ५७)

अहा! इसमें सीधे सादे किसानों की विनीत आशाएं और इच्छाएं कैसी अच्छी तरह से वर्णन की गई हैं, ऐसे वाक्य पीछे के समय की संस्कृत की पुस्तकों में कहीं नहीं पाए जाते। ऋग्वेद में यही अपूर्वता है। ऋग्वेद के सूक्तों में चाहे आदिमवासियों के साथ लड़ाई का वर्णन हो, चाहे इन्द्र से एक प्याला सोम अङ्गीकार करने की प्रार्थना हो और चाहे सीधे सादे किसानों का गीत हो, लेकिन उनमें सब जगह हम लोगों को सीधे सादे वीरों के काम मिलते हैं जो कि पीछे के समय की पुस्तकों में नहीं पाए जाते।

हम यहां एक दूसरे सूक्त का अनुवाद, जिसका सम्बन्ध भी खेती से है, देते हैं—

"(३) हलों को बांधो, जूओं को फैलाओ, और इस तयार की हुई भूमि पर बीज बोओ। अनाज हमलोगों के सूक्तों के साथ बढ़े। आस पास के उन खेतों में हंसुए चलें जहां कि अनाज पक गया है।

---

* इन दोनों रिचाओं में सीता अर्थात् किआरी एक स्त्री की तरह मानी गई है और उससे बहुतायत से फसिल देने की मिन्नत की गई है। यजुर्वेद में भी सीता की इसी तरह से पूजा की गई है। जब आर्य लोगों ने धीरे धीरे करके सारे भारतवर्ष को जीत लिया और जब पहिले के जंगलों और उजाड़ भूमियों में भी किआरियां बनाई गईं तो किआरी या सीता ने और भी अधिक मनुष्य का रूप धारण किया और वह उस बड़े महाकाव्य की नायिका बनाई गई जिसमें कि आर्यों के दक्षिणी भारतवर्ष के जीतने का वर्णन है।

"(४) हल बांध दिए गए हैं। मजदूरों ने जूए फैला दिए हैं। बुद्धिमान लोग देवताओं की प्रार्थना कर रहे हैं।

"(५) जानवरों के पीने के लिये कठड़ा तयार करो, चमड़े की रस्सी बांधो और हमलोग इस गहिरे और अच्छे कुएं से जो कभी सूखता नहीं, जल निकालें।

"(६) जानवरों के लिये कठड़े तयार हो गए हैं। गहिरे अच्छे और कभी न सूखने वाले कुएं में चमड़े की रस्सी चमक रही है और पानी सहज में निकल रहा है। कुएं में से पानी निकालो।

"(७) घोड़ों को ठंढा करो। खेत में ढेरी लगाए हुए अनाज को उठाओ और एक गाड़ी बनाओ जिसमें कि वह सहज में जा-सके। यह कुआं जो कि जानवरों के पानी पीने के लिये पानी से भरा हुआ है, विस्तार में एक द्रोण है और उसमें एक पत्थर का चक्र है। और मनुष्यों के पीने का कुंड एक स्कन्द है। इसे पानी से भरो"। (१०,१०१)

पंजाब में सिंचाई और खेती सिर्फ कुओं ही से हो सकती है। मनुष्यों और जानवरों के पीने के लिये जल भी कुओं ही से मिलता है। इसी लिये ऋग्वेद में कुओं का जो उल्लेख मिलता है वह कोई आश्चर्य की बात नहीं। दूसरी बात जो ऊपर के अनुवाद से जान-पड़ती है, यह है कि उस समय खेती में घोड़े काम में लाए जाते थे। यह चाल आज कल भारतवर्ष से उठगई है, पर योरप में अब तक भी यह रीत पाई जाती है।

मंडल १० सूक्त २५ रिचा ४ से और कई दूसरे स्थानों से कुओं का हाल जाना जाता है। म० १० सू० ६३ रि० १३ में लिखा गया है कि सिंचाई के लिये कुएं से पानी किस तरह निकाला जाता था। इसकी रीति वही थी जो कि उत्तरी भारतवर्ष में अब तक पाई जाती है, अर्थात् एक रस्से में कई घड़े बांध दिए जाते थे। ये घड़े एक चक्कर से ढीले और खींचे जाते थे। इन्हें कुओं में से भर कर ऊपर खींच लेते थे और तब उनका पानी उझल कर उन्हें कुओं में फिर ढील देते थे। इस को 'घटिचक्र' कहते थे और अब तक भी कहते हैं।

मं० १० सू० ९९ रि० ४ से दूसरा पता नालियों से खेती की

सिंचाई का लगता है। इन नालियों में 'द्रोण' से पानी भरा जाता था। म० १२ सू०.६८ रि० १ में लिखा है कि खेतों की सिंचाई करने वाले किसान लोग बड़ा हल्ला करके चिड़ियों को खेतों से दूर रखते थे।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है चरागाहों के उल्लेख उतने नहीं पाए जाते जितने कि खेतों के। गड़ेरियों का देवता पूषण था और वे लोग उसे सूर्य समझते थे और यह विचार करते थे कि वह भ्रमण करने में उन लोगों की तथा और सब मुसाफिरों की रक्षा करता है। पूषण की स्तुति के सूक्तों में कहीं कहीं देखने में आता है कि आर्यावर्त के आर्यलोग अपने साथ उन भ्रमणों की यादगार और गीत भी लेते आये थे जिन्हें यद्यपि वे आर्यावर्त में बसने के पीछे चाहे न गाते हों पर अपने सब से पहिले के रहने की जगह में बहुधा गाया करते थे। हम ऐसे एक सूक्त का भी अनुवाद नीचे देते हैं—

"(१) हे पूषण! हम लोगों को अपनी यात्रा पूरी करने में मदद दे और सब आपत्तियों को दूर कर! हे बादलों के पुत्र, तू हमलोगों के आगे चल।

"(२) हे पूषण! तू हमारे रास्ते से ऐसे लोगों के दूर रख जो कि हम लोगों को बहकाने वाले हों और जो लूट मार और अनुचित काम करते हों।

"(३) तू उन दुष्ट लुटेरे को दूर कर जो यात्रा में उपद्रव करता है।

"(४) अपने पैरों के नीचे उसके अपवित्र मुर्दे को कुचल जो हमें दोनो प्रकार से लूटते (अर्थात् चोरी से और जबरदस्ती) और जो हम पर अत्याचार करते हैं।

"(५) हे बुद्धिमान पूषण, शत्रुओं के नाश करने वाले! हम तुझ से उस रक्षा के लिये प्रार्थना करते हैं जिसमें तू हमारे पुरखाओं को बचाता और उन्हें उत्साहित करता था।

"(६) हे पूषण, जिसकी बड़ी सम्पत्ति, जिसके सोने के अस्त्र हैं और जो जीवों में प्रधान है। हमे धन दे।

"(७) हमे मार्ग बता जिसमें वे शत्रु जो मार्ग में टूट पड़ते हैं हमें हानि न पहुंचा सकें। हमें सीधे और सुगम मार्ग से ले चल। हे पूषण, इस यात्रा में हमारी रक्षा के उपाय निकाल।

"(८) हमें ऐसे सुहावने स्थानों में ले चल जो हरी घास से भरे हों, मार्ग में अधिक गर्मी न हो। हे पूषण, इस यात्रा में हमारी रक्षा के उपाय निकाल।

"(९) रक्षा करने में शक्तिमान हो, हमें धनसम्पन्न कर, हमें सम्पत्ति दे, हमें मज़बूत बना और भोजन दे, इस यात्रा में हमारी रक्षा के उपाय निकाल।

"(१०) हम पूषण को दोष नहीं लगाते पर सूक्तों से उनकी प्रशंसा करते हैं। हम सुन्दर पूषण से धन मांगते हैं।" (१,४२)

एक दूसरा बहुत ही अच्छा सूक्त जानवरों को चराई को ले जाने और उन्हें घर वापस ले आने के बारे में है, जिसकी कुछ रिचाएं भी अनुवाद करने योग्य हैं—

"(४) हम आभीर को बुलाते हैं, वह गौओं को ले जाय, उन्हें खेतों में चराए, वह जानवरों को पहिचाने और उन्हें चुन सके। वह उन्हें घर लौटा लावे। वह उन्हें सब ओर चरावे।

"(५) आभीर गौओं को खोजता है और उन्हें घर लौटा लाता है। वह उन्हें सब ओर चराता है। वह घर सकुशल लौट आवे।

"(८) हे आभीर, गौओं को सब ओर चरावो और उन्हें लौटा लाओ। पृथ्वी के भिन्न भिन्न भागों में उन्हें चराओ और तब उन्हें लौटा लाओ" (१०,१९)

ऊपर के बचनों में उन लुटेरों का हाल भी पाया जाता है जो देश के बाहरी हिस्सों में रहते थे। ये लोग कदाचित् यहां के पुराने रहने वालों में से चोर और पशु उठा ले जाने वाले थे जो आर्यों के गांव आदि के आस पास ताक झांक लगाए रहते थे और अनाज आदि को रास्ते में लूट कर अपना जीवन बिताते थे। हम इन लोगों का विस्तार पूर्वक वर्णन आगे चल कर करेंगे।

देवताओं के सूक्तों में वाणिज्य का वर्णन जरूर ही बहुत कम

होना चाहिए पर फिर भी उनमें कहीं कहीं पर ऐसे वचन मिलते हैं जो उस समय की चाल ढाल का अपूर्व वर्णन देकर हम लोगों को आश्चर्य में डालते हैं। उधार देना और व्याज खाना उस समय अच्छी तरह से मालूम था और ऋषी लोगों ने (याद रखना चाहिए कि ये ऋषी उस समय गृहस्थ थे, योगी या संसार त्यागी नहीं थे) उस पुराने समय की सिधाई से अपने ऋण की दशा पर प्रायः शोक दिखलाया है। एक दूसरी अद्भुत रिचा से हम लोगों को जान पड़ता है कि जब कोई चीज एक बार बेंच दी जाती थी तो वह बिक्री सदा के लिये पक्की समझी जाती थी—

"कोई मनुष्य बहुत सी चीज थोड़े दाम पर बेंच डालता है और तब वह खरीदने वाले के यहां जाकर बिक्री का अस्वीकार करता और अधिक दाम मांगने लगता है। पर एक बार जो दाम तै हो गया उससे अधिक वह यह कह कर नहीं ले सकता कि मैंने थोड़े दाम में बहुत सी चीज दी है। चाहे दाम कम हो या अधिक पर जो बेंचने के समय तै हो गया वही ठीक है।" (४,२४,९)

ऐसे ही ऐसे वचनों से यह भी जान पड़ता है कि उस समय खरीदने और बेचने के लिये सोने का सिक्का भी जारी था। (मं० ५ सू० २७ रि० २ आदि स्थानों पर) ऋषियों के एक सौ सोने का सिक्का पाने के उदाहरण मिलते हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसी एक बंधे हुए दाम के सोने के टुकड़े सिक्के की तरह पर काम में लाए जाते थे, जैसा कि इन वाक्यों से जाना जाता था। साथ ही इसके यह भी मानना चाहिए कि ऋग्वेद में सिक्के का हाल साफ़ तरह पर कहीं नहीं मिलता। ऋग्वेद में (म० १ सू० १२६ रि० २) 'निष्क' शब्द कई जगह पर संदिग्ध अर्थ में आया है। कहीं कहीं पर उसका अर्थ 'सिक्का' है और कहीं कहीं पर 'गले का एक सोने का गहिना'। यह न समझना चाहिए कि ये दोनों अर्थ जरूर एक दूसरे के उलटे होंगे, क्योंकि आर्यावर्त में बहुत पहिले के समय से सोने के सिक्के बराबर गले के गहिनों के काम में लाए जाते हैं।

ऋग्वेद में समुद्र की यात्रा का भी वर्णन साफ़ तरह पर मिलता

है–पर उनमें जो शब्द आए हैं उनका अर्थ 'समुद्र' न होकर केवल 'नदी' भी हो सकता है–म० १ सू० ११६ रि० ३ आदि स्थानों में भुज्यु के जहाज डूब जाने का और अश्विन देवताओं के उसे बचाने का वर्णन भी पाया जाता है और म० १ सू० २५ रि० ७ में लिखा है कि वरुण देवता आकाश में चिड़ियों का रास्ता और समुद्र में जहाजों का मार्ग जानते हैं। म० ४ सू० ५५ रि० ६ में कवि धन कमाने की इच्छा रखने वाले उन मनुष्यों का वर्णन करता है जो जलयात्रा करने के पहिले समुद्र की स्तुति करते हैं। म० ७ सू० ८८ रि० ३ में वशिष्ठ कहते हैं—

"जब वरुण और मैं नाव पर चढ़ कर समुद्र में गए तो मैं उस नाव पर रहा जो पानी पर तैरती थी और मैं उसमें सुखी था। मैं आनन्द से (लहरों पर) इधर उधर हिलता था।"

ऋग्वेद में समुद्र यात्रा के ऐसे ऐसे बहुत से साफ़ वर्णन मिलते हैं पर उसमें इसकी मनाही कहीं पर भी नहीं पाई जाती।

अध्याय ३

——.o.——
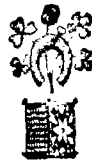
भोजन, कपड़े और शान्ति के व्यवसाय।

जौं और गेहूं खेत की खास पैदावार और भोजन की खास वस्तु जान पड़ती है। ऋग्वेद में अनाज के जो नाम मिलते हैं वे कुछ सन्देह उत्पन्न करने वाले हैं क्योंकि पुराने समय में उनका जो अर्थ था वह आज कल बदल गया है। आज कल संस्कृत में 'यव' शब्द का अर्थ केवल 'जौं' है पर वेद में इसी शब्द का मतलब गेहूं और जौं से लेकर अन्न मात्र से है। इसी तरह आज कल 'धान' शब्द का अर्थ, कम से कम बङ्गाल में चावल से है पर ऋग्वेद में यह शब्द भुने हुए जौं के लिये आया है, जो कि भोजन के काम में आता था और देवताओं को भी चढ़ाया जाता था। ऋग्वेद में व्रीहि (चावल) का कहीं उल्लेख नहीं है।

हम लोगों को इन्हीं अनाजों की बनी हुई कई तरह की रोटियों का भी वर्णन मिलता है जो कि खाई जाती थीं और देवताओं को भी चढ़ाई जाती थीं। 'पक्ति' (पच=पकाना) का अर्थ है 'पकी हुई रोटी'। इसके सिवाय कई दूसरे शब्द, जैसे पुरोदास, 'अपूप' और 'करम्भ' आदि भी (म० ३ सू० ५२ रि० १ और २; म० ४ सू० २४ रि०७ आदि में) पाए जाते हैं।

यह बात बहुत सहज में विचारी जा सकती है कि पंजाब के पुराने हिन्दू लोग विशेष करके मांस आदि खाते थे। हम लोगों को गऊ, भैंसे और बैलों को बलि चढ़ा कर पकाए जाने का कई जगह वर्णन मिलता है (म० १ सू० ६१ रि० १२; म० २ सू० ७ रि० ५; म० ५ सू० २६ रि० ७ और ८; म० ६ सू० १७ रि० ११; म० ६ सू० १६ रि० ४७; म० ८ सू० २८ रि० ४; म० १० सू० २७ रि० २; म० १० सू० २८ रि० ३ आदि)

म० १० सू० ८९ रि० १४ में ऐसी जगह का वर्णन है जहां गो-मेध किया जाता था और म० १० सू० ९१ रि० १४ मे घोड़ो, बैलों और भेड़ों के बलिदान का वर्णन है। घोड़ों के बलिदान का उल्लेख बहुत कम आया है जिससे जान पड़ता है कि यद्यपि पुराने आर्य लोग यह चाल अपने पहिले रहने की जगह से आर्यावर्त में ले आए थे पर घोड़े के मांस खाने की यह चाल यहां पर बहुत जल्दी उठ गई। यहां पर पीछे के समय में तो घोड़े का बलिदान अर्थात् 'अश्वमेध' विरलेही कभी होता था। अर्थात् जब कोई बड़ा प्रतापी राजा अपने आस पास के सब राजाओं को जीत कर सम्राट की पदवी लेता था उस समय वह बड़ी धूम धाम से अश्वमेध करता था। इसमें कोई संदेह नहीं है कि राजाओं की यह बड़ी रसम उसी पुराने समय की घोड़ों के मारने की सीधी सादी चाल से निकली है जबकि घोड़े का मांस खाया जाता था। पीछे के समय में अश्वमेध जिस धूम धाम और कुछ जघन्य रीतियों के साथ किया जाता था वे सब बातें वैदिक समय में नहीं थीं।

वैदिक समय में घोड़ों के मारने का पूरा हाल ऋग्वेद के पहिले मंडल के १६२ वें सूक्त में पाया जाता है। घोड़े की देह पर बेंत से निशान किया जाता था और फिर वह इसी निशान की हुई लकीर पर से काटा जाता था। उसकी पसलियां और सब अंग अलग अलग कर दिए जाते थे। फिर उसका मांस सेंक कर उबाला जाता था और यह समझा जाता था कि घोड़ा देवताओं को पहुंच गया।

यह कौन विश्वास कर सकता था कि ऋग्वेद का सीधा सादा अश्ववध अर्थात् पूजा और भोजन के लिये घोड़े की बोटी बोटी काट कर और उसे सेंक कर उबालने की रीति आगे चल कर इतनी बढ़ जायगी और अन्त में राजाओं का अश्वमेध हो जायगी? पर वेद की बहुत सी सीधी सादी और स्वाभाविक बातें पीछे के समय में इसी तरह से बढ़ कर विविध विधानों की बड़ी बड़ी रीतें हो गई हैं। वेद के बहुत से रूपकों ने जो कि सृष्टि के अद्भुत दृश्यों के विषय में हैं, पुराणों में बड़ी लम्बी चौड़ी कथाओं का रूप धारण

किया है। वेद की सच्ची प्रतिष्ठा इसी में है कि उससे हम लोगों को हिन्दुओं की रीति व्यवहार की और साथ ही उनके धर्म की उत्पत्ति का पता लगता है।

ऐसा जान पड़ता है कि वैदिक समय में नशे की पीने वाली चीज केवल एक मात्र सोम वृक्ष का उबला हुआ रस ही था। पुराने आर्य लोगों को इसका इतना व्यसन था कि आर्यावर्त और ईरान में (ईरान में 'हओम' के नाम से) जल्दी ही इसकी पूजा देवता की नाईं होने लगी और ऋग्वेद के एक पूरे मंडल में इस देवता ही का वर्णन है। जान पड़ता है कि हिन्दू-आर्य लोगों को उनके शान्त ईरानी भाइयों की अपेक्षा इस सोम मदिरा का अधिक व्यसन था। जंदवस्था में हिन्दुओं की इस बुरी लत का कई जगह उल्लेख है। पुरानी बातों की खोज करने वाले बहुत से विद्वानों का यह भी मत है कि दक्षिणी आर्यों में बिगाड़ हो कर हिन्दुओं और ईरानियों के जुदे हो जाने का एक बड़ा भारी कारण यह सोम पान भी है।

सोमरस जिस तरह से बनाया जाता था उसका पूरा ब्योरा म० ६ सू० ६६ और दूसरे कई सूक्तों में भी दिया है। हम यहां इस सूक्त की कुछ रिचाओं का अनुवाद देते हैं—

"(७) हे सोम ! तुम कुचले गए हो। तुम चारों ओर खुशी फैलाते हुए, इन्द्र के लिये नदी की नाईं बहते हो। तुम अक्षय आहार देते हो।

"(८) सात स्त्रियां तुम्हारा गीत गाती हुई, अपनी अंगुलियों से तुम्हें हिलाती हैं। तुम यज्ञ करने वाले को यज्ञ में उसके कर्मों का स्मरण दिलाते हो।

"(६) तुम खुश करने वाली आवाज़ से पानी में मिलते हो। और अंगुलियां तुम्हें एक ऊनी छनने के ऊपर हिलाकर छानती हैं। तब तुम्हारे छींटे उड़ते हैं और ऊनी छनने में से आवाज निकलती है।

"(११) ऊनी छन्ना एक बर्तन पर रक्खा जाता है और अंगुलियां सोम को बराबर हिलाती रहती हैं, जिससे एक मीठी धार बर्तन में गिरती है।

"(१३) हे सोम ! तब तुम दूध में मिलाए जाते* हो। पानी तुम्हारी और खुश करने वाली आवाज़ के साथ जाता है।"

इस वर्णन से जान पड़ता है कि सोम रस दूध के साथ मिला कर पिया जाता था, जिस तरह आज कल भांग पी जाती है। ऋग्वेद के कवि लोग सोम के गुणों और उसकी आनन्द देनेवाली शक्ति का वर्णन करते करते मारे खुशी के उन्मत्त हो जाते हैं। उन के कुछ वर्णनों ने आगे के समय में चल कर पुराणों में अजीब कथाओं का रूप धारण किया है। इस बात का उदाहरण देकर समझाने के लिये दो एक रिचाएं बहुत होंगी।—

"हे सोम! तेरे समान दिव्य कोई चीज नहीं है। जब तू गिराया जाता है तो तू सब देवताओं को अमरत्व देने के लिये निमंत्रित करता है। (९,१०८,३)

"प्रशंसा के योग्य सोम पुराने समय से देवताओं के पीने के काम में चला आता है। वह आकाश के गुप्त स्थानों से निकाला गया है। वह इन्द्र के लिये बनाया गया और उसकी प्रशंसा हुई। (९,११०,८)

"हे सोम जिस लोक में अक्षय ज्योति होती है और जहां स्वर्ग स्थित है उसी अमर और मरण विहीन लोक में तू मुझे ले चल! तू इन्द्र के लिये बह।" (९,११३,७)

ऐसे ऐसे वाक्य ऋग्वेद के नौवें मण्डल भर में पाए जाते हैं। यह कौन अनुमान कर सकता था कि समुद्र मथ कर उसमें से अमृत के निकलने की अजीब पौराणिक कथाएं सोम के इन्हीं वेद के सीधे सादे वर्णनों से निकली होंगी। वेद में आकाश जलमय समझा गया है और इसीलिये वह अक्सर समुद्र के अर्थ में भी आया है। सोम के आकाश में से मिलने का अर्थ पुराण में अमृत के लिये समुद्र का मथना किया गया है।

ऋग्वेद के बहुत से वाक्यों से जाना जाता है कि उस समय बहुत सी शिल्पविद्याओं की बहुत अच्छी उन्नति होगई थी। कपड़ा बुनना जरूर ही बहुत अच्छी तरह से मालूम हो चुका था और

स्त्रियों की निपुण उंगलियां पुराने समय में भी ताना बाना बुनना वैसाही जानती थीं जैसा कि आज कल लोग जानते हैं (म० २ सू० ३ रि० ६; म० २ सू० ३८ रि० ४ आदि) । एक अपूर्व पद में (म०६ सू० ९ रि० २) एक ऋषी अपने धर्म के क्रिया कर्म्मों के गूढ़ अर्थ को न जानने को इस तरह वर्णन करता है कि "मैं धर्म के क्रिया कर्म्मों के ताने और बाने नहीं जानता।" एक दूसरी जगह (म० १० सू० २६ रि० ६) ऊन बुनने और उसके रङ्ग उड़ाने का देवता पूषण कहा गया है, जिसे हम ऊपर दिखला चुके हैं कि चर-वाहों का देवता है।

आज कल की तरह सम्भवतः उस समय में भी आर्यों के हरएक गाँव में एक नाई होता था । एक जगह पर (म० १ सू० १६४ रि० ४४ में) आग लगा कर जंगल के साफ़ करने को 'पृथ्वी का मुंडन करना' कहा गया है। बढ़ई का काम भी बहुत अच्छी तरह मालूम था और छकड़े और रथ बनाए जाने का हाल कई जगह मिलता है (म० ३ सू० ५३ रि० १६ ; म० ४ सू० २ रि० १४ ; म० ४ सू० १६ रि० २० इत्यादि) लोहे, सोने और दूसरी धातुओं का व्यवहार भी अच्छी तरह से मालूम था। म० ५ सू० रि० ५ में एक लोहार के काम का उल्लेख और म० ६ सू० ३ रि० ४ में सोनारों के सोना गलाने का वर्णन मिलता है।

पर वैदिक समय की धातुओं के व्यापार का इससे भी ज़्यादा हाल हमलोगों को उन सब सोने के गहनों और लोहे के बर्तनों और हथियारों से मालूम होता है जिनका हाल सारे ऋग्वेद में पाया जाता है। इनका हाल अनगिनती जगहों पर आया है। इस लिये हम यहां सिर्फ उतने ही का वर्णन कर सकते हैं जितने से कि हम लोगों को उस समय की बनी हुई चीजों का साधारण ज्ञान हो जाय। म० १ सू० १४० रि० १०; म० २ सू० ३६ रि० ४; म० ४ सू० ५३ रि० २ और कई दूसरी जगहों में लड़ाई के हथि-यारों का वर्णन है। म० २ सू० ३४ रि० ३ में सिर के सोनहले अस्त्र का उल्लेख है और म० ४ सू० ३४ रि० ६ में कन्धों या भुजाओं के लिये कवच का वर्णन है जिसका मतलब शायद ढाल से है।

म० ५ सू० ५२ रि० ६ और म० ५ सू० ५४ रि० ११ में ऋष्टि को, और म० ५ सू० ५७ रि० २ में तलवार वा बाण को तथा तीर धनुष और तूणीर को, बिजली की उपमा दी गई है। म० ६ सू० २७ रि० ६ में तीन हजार कवचधारी योधाओं का उल्लेख है; म० ६ सू० ४६ रि० ११ में तेज और चमकते हुए बाणों का वर्णन है और म० ६ सू० ४७ रि० १० में तेज धार वाली तरवारों का उल्लेख है और इसी सूक्त की २६ वीं और २७ वीं रिचाओं में लड़ाई के रथों और दुन्दुभी का भी वर्णन है और अन्त में छठें मण्डल के ७५ वें सूक्त में लड़ाई के हर्बे हथियार और साज सामान का एक उत्तेजना देने वाला वर्णन है, जिसका अनुवाद हम अपने पाठकों के लिये आगे चल कर देंगे।

म० ४ सू० २ रि० ८ में सोनहले साज के घोड़ों का उल्लेख है और म० ४ सू० ३७ रि० ४, म० ५ सू० १९. रि० ३ और दूसरे कई स्थानों पर 'निष्क,' अर्थात् गले में पहिरने के एक सोने के गहिने का उल्लेख है। म० ५ सू० ५३ रि० ४ में मरुत् के चमकीले आभूषणों को रत्न (अञ्जि), गले के गहिने (स्रक), सोनहले कवच (रुक्म) और हाथ के गहिने तथा नूपुर (खादि) की उपमा दी गई है। म० ५ सू० ५१ रि० ११ में फिर पैर के नूपुरों, छाती के कवचों और सिर के सोने के मुकुट (शिप्राः हिरणमयीः) का वर्णन है।

इस तरह पर यह बात जानी जाती है कि उस समय हरबे हथियार और सब तरह के गहिनों आदि के बनाने में बहुत कुछ उन्नति हो गई थी। हम लोगों को (म० ६ सू० ४८ रि० १८ में) चमड़े और (म० ५ सू० ३० रि० १५ में) लोहे के बर्तनों का भी उल्लेख मिलता है। इसके सिवाय और कई जगहों पर (म० ७ सू० ३ रि० ७; म० ७ सू० १५ रि० १४, म० ७ सू० ९५ रि० १ आदि में) लोहे के नगरों आदि का भी वर्णन है, जिससे हम लोगों को बड़े मजबूत किले समझने चाहिए। (म० ४ सू० ३० रि० २० आदि कई जगहों पर पत्थर के बने हुए सैकड़ों नगरों का भी वर्णन है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि पुराने समय के हिन्दू लोग पथरीले और पहाड़ी देशों में भी आकर बसे और पत्थरों को सस्ता और

टिकाऊ पाकर उन्हें घर बनाने के काम में लाने लगे। इस बात के विश्वास करने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती कि हिन्दुओं के बहुत से नगरों के बहुतेरे भवन और चारों ओर की दीवारें पत्थरों की थीं। हजारों खम्भों के भवनों के जो कई जगह पर (म० २ सू० ४१ रि० ५, म० ५ सू० ६२ रि० ६ आदि में) वर्णन मिलते हैं उनसे जान पड़ता है कि घर बनाने की विद्या भी उन्नति पर पहुंच गई थी। पर साथही इसके यह बात भी माननी पड़ेगी कि ऋग्वेद में संग तराशी की विद्या का कहीं पर साफ़ उल्लेख नहीं मिलता। पुरानी बातों का पता लगाने वाले लोग भी आर्यावर्त के किसी हिस्से में बौद्ध संवत के बहुत पहिले की बनी हुई कोई पत्थर की मूर्ति अब तक नहीं पासके हैं। योरप के अगणित बड़े बड़े अजायब घरों में, जो कि इजिप्ट और बेबिलन के बने हुए पुराने पत्थरों से भरे हुए हैं, भारतवर्ष के बने हुए कोई ऐसे पत्थर नहीं हैं जिनका समय बुद्ध से बहुत पहिले का हो।

आज कल के बहुत से पालतू जानवर ऋग्वेद के समय में भी आर्यावर्त में पालतू कर लिए गए थे। कई जगहों में (मं० ६ सू० ४६ रि० १३ और १४ आदि में) हम लोगों को युद्ध के घोड़ों के जोश दिलाने वाले वर्णन मिलते हैं।

वास्तव में आर्य लोग यहां के पुराने रहने वालों के साथ लड़ाई करने के लिये इन घोड़ों को इतने काम का समझते थे कि वे लोग शीघ्र ही 'दधिका' के नाम से घोड़ों की पूजा करने लग गए। इस देवतुल्य पशु की जो पूजा की जाती थी उसका एक जोश दिलाने वाला वर्णन म० ६ सू० ३८ में दिया है।

म० ४ सू० ४ रि० १ में एक राजा का अपने मंत्रियों के साथ हाथी पर सवार होने का हाल है। पालतू जानवरों में से गाय, बकरे, भेड़, भैंस और कुत्तों का उल्लेख कई जगहों पर मिलता है। ये कुत्ते बोझा ढोने के काम में लाए जाते थे।

——:o:——

अध्याय ४

——:o:——

लड़ाइयां और झगड़े।

ऊपर कहा जा चुका है कि पुराने हिन्दुओं ने सिन्धु और उसकी सहायक नदियों के किनारे की उपजाऊ जमीन को पञ्जाब के पुराने रहने वालों से छीन लिया। पर इन पुराने वासियों ने अपने पुरखों की जमीन बिना युद्ध किए ही नहीं दे दी। यद्यपि वे लड़ाई के मैदान में हिन्दुओं की सभ्य सेना और वीरता के आगे नहीं ठहर सकते थे, पर फिर भी वे लोग करीब करीब सब ही हिन्दुओं की बस्ती और गांव के आस पास किलों और बनों के निकट आया जाया करते थे, हिन्दुओं को बाहर आने जाने में दुःख देते थे, उनकी घात में बैठे रह कर जभी मौका पाते थे तभी उन्हें लूट लेते थे, उनके पशु चुरा लेते थे और बड़े बड़े दल बांध कर प्रायः उन पर चढ़ाई करते थे। अतएव स्काटलैंड की गाल जातियों की तरह जिनसे सेक्सन लोगों ने उनकी उपजाऊ जमीन इसी तरह से छीन ली थी और जो कि इसी तरह से उजाड़ किलों में आकर बसे थे, ये लोग भी अपनी दशा इस तरह वर्णन कर सकते थे—

"ये समथर उर्वरा, और यह नरमी घाटी।
रही एक दिन गेल जाति ही केरि बपौती॥
आय बिदेसी घोर-कर्म-कारी कर-धारो।
मम पुरखन सों छीनि लियो भूभाग हमारो॥
रहत कहां हम अबै? अहो देखहु तहं अडबड़।
पड़े सैल पै सैल और बीहड़ पै बीहड़॥

*   *   *   *

पचि, याहि उत्तर खंड केर परकोटे माहीं।
तू समुझत क्या कबहुँ निकरिहैं हम सब नाहीं॥

लूटन वारे कहं लूटन को ज्यों हौं सकिहौं।
और छीनवे हेत शिकारहिं वह डांकू सौं ?
सोंह आतमा फेरि ! तहां समथर पर जावत।
सैक्सन एकहु अन्न रासि खलिहान रखावत ॥
जब लौं, एकहु, दसों सहस पशुवृन्द सम्भारी।
भटकत, वहं उहि नदी तीर की भूलनवारी ॥
गेल नदी मैदान केर सधरम अधिकारी।
फेरि लेइहैं प्रवल भुजा सो (निज) पट्टीदारी ॥*

पर अभाग्यवश उन लोगों में कोई ऐसा कवि नहीं था जो हम लोगों को उनका हाल सुनाता। हम लोगों को इस हज़ारों वर्ष के युद्ध का जो कुछ हाल मिलता है वह केवल जीतने वाले हिन्दुओं ही से मिलता है। यहां पर यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि ये विजयी लोग आदिवासियों को वैसी ही अनादर और घृणा की दृष्टि से देखते थे जैसे कि सब जीतने वाली जातियां देखती आई हैं, चाहे वे जातियां ईसा के सत्रह सौ वर्ष पहिले सिन्धु नदी के किनारे पर रही हों वा ईसा के सत्रह सौ वर्ष पीछे मिसिसिपी नदी के तट पर ! इतिहास की घटनाएं घूम फिर कर एक सी होती हैं। पञ्जाब उसी तरह अनार्य आदिवासियों से विहीन हो गया जैसा कि आज कल के समय में अमेरिका का यूनाइटेड स्टेट्स उन प्रतापी और वीर इंडियन जातियों से विहीन कर दिया गया है, जो कि उसके पुराने जंगलों के भीतर बसती, शिकार खेलती और राज्य करती थीं।

ऋग्वेद में आदिवासियों के साथ इन युद्धों के बहुत से वर्णन पाए जाते हैं। इन युद्धों का वर्णन हम स्वयम् न लिख कर यदि इन्हीं वर्णनों में से कुछ का अनुवाद कर दें तो इन अगणित वैरियों का अधिक ज्ञान हो जायगा। ये वर्णन इतने अधिक हैं कि कठिनाई केवल उनके चुनने में है।

---

* इस पद्यमय अनुवाद के लिये मैं बाबू काशीप्रसाद का अनुग्रहीत हूं।

" इन्द्र जिसका आवाहन बहुतों ने किया है और जिसके साथ उसके शीघ्रगामी साथी हैं, उसने अपने वज्र से पृथ्वी पर रहने वाले दस्युओं और सिम्यों का नाश करके खेतों को अपने गोरे मित्रों (आर्यों) में बांट दिया। वज्र का पति सूर्य का प्रकाश करता है और जल बरसाता है। " (१,१००,१८)।

" इन्द्र ने अपने वज्र और अपनी शक्ति से दस्युओं के देश का नाश कर दिया और अपनी इच्छा के अनुसार भ्रमण करने लगा। हे वज्री ! तू हम लोगों के सूक्तों पर ध्यान दे, दस्युओं पर अपने शस्त्र चला, और आर्यों की शक्ति और यश बढ़ा। " (१, १०३, ३)।

इसके पीछे ही के सूक्त में हम लोगों को उन आदिवासी लुटेरों का एक अद्भुत वर्णन मिलता है जो कि शिफा, अञ्जसी, कुलिशी और वीरपत्नी नाम की नदियों के किनारे पर रहते थे। ये नदियां कहां हैं सो अब जाना नहीं जा सकता। ये लुटेरे अपने किलों में से निकल कर सभ्य आर्यों के गावों को उसी तरह दुःख देते थे जैसे कि हम लोगों के समय में इन आदिवासियों की एक सच्ची सन्तान, तांतिया भील, मध्य प्रदेश के सुखी गांवों को सताता था। हम इन दोनों रिचाओं का अनुवाद नीचे देते हैं—

" कुयव दूसरे के धन का पता पाकर उसे अपने काम में लाता है। वह पानी में रह कर उसे खराब करता है। उसकी दोनों स्त्रियां, जो नदी में स्नान करती हैं, शीफा नदी में डूब मरें !

" अयु पानी में एक गुप्त किले में रहता है। वह पानी की बाढ़ में आनन्द से रहता है। अञ्जसी, कुलिशी और वीरपत्नी नदियों के पानी उसकी रक्षा करते हैं। " (१,१०४,३ और ४)।

हम कुछ वाक्य और उद्धृत करते हैं—

" इन्द्र लड़ाई में अपने आर्य पूजकों की रक्षा करता है। वह जो कि हज़ारों बार उनकी रक्षा करता है, सब लड़ाइयों में भी उनकी रक्षा करता है। जो लोग प्राणियों (आर्यों) के हित के लिये यज्ञ नहीं करते, उन्हें वह दमन करता है। शत्रुओं की काली चमड़ी को वह उधेड़ डालता है, उन्हें मार डालता और (जला

कर) राख कर डालता है। जो लोग हानि पहुंचाने वाले और निर्दयी हैं उन्हें वह जला डालता है।" (१,३०.८)

"हे शत्रुओं के नाश करने वाले। इन सब लुटेरों के सिर को इकट्ठा करके उन्हें अपने चौड़े पैर से कुचल डाल! तेरा पैर चौड़ा है!

"हे इन्द्र! इन लुटेरों का बल नष्ट कर! उन्हें उस बड़े और घृणित खड्डे में फेंक दे।

"हे इन्द्र! तूने ऐसे ऐसे पचास के भी तिगुने दलों का नाश किया है। लोग तेरे इस काम की प्रशंसा करते हैं। पर तेरी शक्ति के आगे यह कुछ भी बात नहीं है।

"हे इन्द्र! उन पिशाचों का नाश कर जो कि लाल रंग के हैं और भयानक हल्ला मचाते हैं। इन सब राक्षसों का नाश कर।" * (१,१३३,२-५)।

"हे इन्द्र! कवि तुझ से अच्छे भोजन की प्रार्थना करता है। तूने इस पृथ्वी को दासों की शय्या (समाधि स्थान) बनाया है। इन्द्र ने अपने दान से तीनों भुवन को सुशोभित किया है। उसने राजा दर्योणि के लिये कुयवाच को मारा है।

"हे इन्द्र! ऋषी लोग अब तक शक्ति के उस पुराने कार्य की प्रशंसा करते हैं! तूने युद्ध का अन्त करने के लिये बहुत लुटेरों का नाश किया है, तूने देवताओं की पूजा न करने वाले शत्रुओं के नगरों को नष्ट किया है और देवताओं के न पूजने वाले वैरियों के शस्त्रों को नीचा कर दिया है।" (१,१७४,७ और ८)।

"हे अश्विनो! उन लोगों का नाश करो जो कुत्तों की नाईं भयानक रीति से भूंक रहे हैं और हमलोगों का नाश करने के लिये आरहे हैं। उन लोगों को मारो जो हमलोगों से लड़ने की इच्छा

---

* पिशाचों और राक्षसों से कदाचित कल्पित भूतों का तात्पर्य है। परन्तु हमारा विचार यह है कि यहां पर उनका तात्पर्य आदिम निवासियों से है।

रखते हैं। तुम उन लोगों के नाश करने का उपाय जानते हो। जो लोग तुम्हारी प्रशंसा करते हैं उनके हर एक शब्द के बदले उन्हें धन मिले। हे सत्यदेव! हम लोगों की प्रार्थना स्वीकार करो।

"जगत प्रसिद्ध और दयावान इन्द्र मनुष्यों (आर्यों) पर दया रखता है। नाश करने वाले और शक्तिमान इन्द्र ने दुष्ट दास का सिर नीचे गिरा दिया है।

"वृत्र को मारने वाले और नगरों का नाश करने वाले इन्द्र ने काले दासों के झुंडों का नाश किया है और मिट्टी और जल मनु * के लिये बनाया है। वह होम करनेवाले की इच्छाओं को पूरा करे।" (२,२०,६ और ७)।

हमलोग जानते हैं कि अमेरिका जीतने वाले स्पेन देश वासियों की जीत का कारण अधिक करके उनके घोड़े ही थे, जिनको अमेरिका के आदिवासी लोग काम में लाना नहीं जानते थे और इस कारण से उन्हें डर की दृष्टि से देखते थे। ऐसा ज्ञान पड़ता है कि प्राचीन हिन्दू आर्यों के घोड़ों ने भी आर्यावर्त के आदिवासियों में ऐसाही डर उत्पन्न किया। अतएव नीचे लिखा हुआ वर्णन जो कि दधिक्रा अर्थात् देवतुल्य युद्ध के घोड़े के सम्बन्ध में एक सूक्त का अनुवाद है, मनोरञ्जक होगा।

"जिस तरह लोग किसी कपड़ा चोरी करनेवाले चोर पर चिल्लाते और हल्ला करते हैं, उसी तरह शत्रु लोग दधिक्रा को देख कर चिल्लाते हैं! जिस तरह झपटते हुए भूखे बाज को देख कर चिड़ियां हल्ला करती हैं, उसी तरह शत्रु लोग भोजन और पशु लूटने की खोज में फिरते हुए दधिक्रा को देख कर हल्ला करते हैं।

"शत्रु लोग दधिक्रा से डरते हैं जो कि बिजली की नाईं

*यहां पर तथा अन्यत्र भी "मनु" आर्य जाति का पूर्व पुरुष कहा गया है। बहुत से स्थानों पर वह कृषिविद्या तथा अग्निपूजा का जिनके लिये कि आर्य लोग प्रसिद्ध हैं, चलाने वाला कहा गया है।

दीप्तिमान और नाश करने वाला है। जिस समय वह अपने चारो ओर के हजारों आदमियों को मार भगाता है उस समय वह क्रोध में आ जाता है और अधिकार के बाहर हो जाता है।" (४,३८,५ और ८)।

ऋग्वेद के अनेक वाक्यों से जाना जाता है कि कुत्स एक प्रतापी योधा और काले आदिवासियों का एक प्रबल नाश करने वाला था। मं० ४ सू० १६ में लिखा है कि इन्द्र ने कुत्स को धन देने के लिये मायावी तथा पापी दस्यु का नाश किया, उसने कुत्स की सहायता की और आप दस्यु को मारने के लिये उसके घर आया और उसने लड़ाई में पचास हजार "काले शत्रुओं" को मारा। मं० ४, सू० २८, रि० ४ से जाना जाता है कि इन्द्र ने दस्युओं को गुणहीन तथा सब मनुष्यों का घृणपात्र बनाया है। म० ४ सू० ३० रि० १५ से जाना जाता है कि इन्द्र ने एक हजार पांच सौ दासों का नाश किया।

म० ५ सू० ७० रि० ३ में; मं० ६ सू० १८ रि० ३ में; और म० ६ सू० २५ रि०२ में दस्यु लोगों वा दासों के दमन करने और नाश करने के इसी तरह के वर्णन है। म० ६ सू० ४७ रि० २० में दस्यु लोगों के रहने की एक अज्ञात जगह का विचित्र वर्णन है जो कि अनुवाद करने योग्य है—

"हे देवता लोग! हमलोग यात्रा करते हुए अपना रास्ता भूल कर ऐसी जगह आगए हैं जहां पशु नहीं चरते। यह बड़ा स्थान केवल दस्युओं को ही आश्रय देता है। हे वृहस्पति! हम लोगों को अपने पशुओं की खोज में सहायता दो। हे इन्द्र! मार्ग भूले हुए अपने पूजनेवालों को ठीक रास्ता दिखला।"

यह जान पड़ता है कि आर्य कवि लोग आदिवासी असभ्यों के चिग्घाड़ और हल्ले का वर्णन करने में बहुत ही निंदक हैं। ये सभ्य विजयी लोग यह बात कठिनता से विचार सकते थे कि ऐसी चिग्घाड़ भी भाषा होसकती है, अतएव उन्होंने इन असभ्यों को कहीं कहीं बिना भाषा का लिखा है। म० ५ सू० २६ रि० १०, आदि)।

हम दो आदिवासी लुटेरों अर्थात कुयव और श्यु का हाल लिख

चुके हैं, जो कि नदियों से घिरे हुए किलों में रहते थे और गावों में रहनेवाले आर्यों को दुःख दिया करते थे। हम लोगों को कई जगह एक तीसरे आदिवासी प्रबल मुखिया का भी वर्णन मिलता है जो कि, कदाचित काला होने के कारण कृष्ण कहा गया है। उसके सम्बन्ध का वर्णन अनुवाद करने योग्य है—

"तेज कृष्ण अंशुमती के किनारे दस हजार सेना के साथ रहता था। इन्द्र अपने ज्ञान से इस चिल्लाने वाले सरदार की बात जान गया। उसने मनुष्यों (आर्यों) के हित के लिये इस लुटेरी सेना का नाश करडाला।

"इन्द्र ने कहा मैं ने तेज कृष्ण को देखा है। जिस तरह सूर्य बादलों में छिपा रहता है उसी तरह वह अंशुमती के पास वाले गुप्त स्थान में छिपा है। हे मरुत्स मेरा मनोरथ है कि तुम उससे लड़कर उसका नाश कर डालो।

"तब तेज कृष्ण अंशुमती के किनारे पर चमकता हुआ दिखाई पड़ा। इन्द्र ने बृहस्पति को अपनी सहायता के लिये साथ लेकर उस तेज और बिना देवता की सेना का नाश कर दिया"। (८, ९६.१३-१५)।

आदिवासी लोग केवल चिल्लाने वाले तथा बिना भाषा के ही नहीं लिखे गए हैं, परन्तु कई जगह पर तो वे मुशकिल से मनुष्यों की गिनती में समझे गए हैं। एक जगह पर लिखा है—

"हम लोग चारों ओर दस्यु जातियों से घिरे हुए हैं। वे यज्ञ नहीं करते, वे किसी चीज में विश्वास नहीं करते, उनकी रीति व्यवहार भिन्न हैं, वे मनुष्य नहीं हैं! हे शत्रुओं के नाश करने वाले, उन्हें मार। दास जाति का नाश कर!" (१०,२२,८)

म० १० सू० ४९ में इन्द्र कहता है कि मैंने दस्यु जाति को "आर्य" के नाम से रहित रक्खा है (रि० ३), दास जाति के नववास्तव और बृहद्रथ का नाश किया है (रि० ६) और दासों को काट कर दो टुकड़े कर डालता हूं—"उन लोगों ने इसी गति को प्राप्त होने के लिये जन्म लिया है!" (रि० ७)

वे आदिवासी जिनसे प्राचीन हिन्दू लोग बराबर युद्ध करते रहे, इस प्रकार के थे, और हिन्दू अपने असभ्य पड़ोसियों अर्थात् भारतवर्ष की भूमि के प्राथमिक अधिकारियों की इस तरह दुर्गति करते थे। यह बात भली भांति स्पष्ट है कि विजयी लोगों और पराजित लोगों में कोई प्रीति नहीं थी। विजयी लोग अपने नए जीते हुए देश में निरन्तर युद्ध करके ही अपनी रक्षा करते थे, धीरे धीरे कृषी की सीमा को बढ़ाते थे, नए नए गांव बनाते थे, प्राथमिक जंगलों में नई बस्तियां बनाते थे, और सभ्यता तथा अपने प्रताप की कीर्ति चारो ओर फैलाते थे। वे तिरस्कृत असभ्यों को पूरी घृणा की दृष्टि से देखते थे, जब कभी मौका पाते तो उनके झुंडों को मार डालते थे, अपने घोड़ों द्वारा उनकी सैन्य-पांकियों को कम कर देते थे, उन्हें भूकने वाले कुत्ते तथा बिना भाषा का मनुष्य कहते थे, और उन्हें मनुष्य नहीं वरन् पशु की श्रेणी में गिनते थे और समझते थे कि वे लोग मारे जानेही के लिये जन्मे हैं, उन लोगों ने इसी गति को प्राप्त होने के लिये जन्म लिया है!" परन्तु हठी असभ्य लोग भी बिना अपना बदला लिये नहीं रहते थे। यद्यपि वे हिन्दुओं की अधिक सभ्य वीरता के आगे हार जाते थे, परन्तु वे नदियों की प्रत्येक मोड़ और प्रत्येक किले के निकट लगे रहते थे, और घात में लगे रह कर पथिकों को लूटते थे, गांवों में आकर उपद्रव मचाते थे, पशुओं को मार डालते या चुरा ले जाते थे और कभी कभी बड़े बड़े झुंडों में हिन्दुओं पर आक्रमण करते थे, वे लोग प्रत्येक इंच भूमि देने के पहिले उस कठोर दृढ़ता के साथ लड़ते थे जोकि असभ्य जातियों का विशेष गुण है। वे विजयी लोगों के धर्म कर्म में बाधा डालते थे, उनके देवताओं का अनादर करते थे, तथा उनका धन लूट लेते थे। परन्तु इन सब बाधाओं के होते भी, सभ्य जातियों की नई बस्तियां चारो ओर बढ़ती ही गईं, सभ्यता का क्षेत्र फैलता ही गया, जंगल और मरु भूमियों में खेती होने लगी, गांव और नगर बनते गए, और पंजाब भर में प्राचीन हिन्दुओं का राज्य हो गया। असभ्य जातियां या तो निर्मूल ही कर दी गईं और या आर्य सभ्यता की बढ़ती हुई

सेना से भाग कर उन पहाड़ियों और दुर्गों में जा बसीं जहां कि उनके सन्तान अब तक हैं।

यह कल्पना की जा सकती है कि निर्बल असभ्य जातियों में से कुछ लोगों ने निर्मूल किए जाने या देश से निकाले जाने की अपेक्षा अधम अधीनता स्वीकार करना अच्छा समझा होगा। इसके अनुसार ऋग्वेद में ऐसे दस्यु लोगों का वर्णन मिलता है जिन्होंने अन्त में प्रतापी जातियों का प्रभुत्व स्वीकार और उनकी सभ्यता और भाषा को ग्रहण किया। अतएव ये लोग भारतवर्ष के प्रथम आदि वासी थे जो हिन्दू हो गए।

आदिवासियों और आर्य लोगों के युद्ध के विषय में हम बहुत से वर्णन उद्धृत कर चुके हैं। अब हम दो एक ऐसे वाक्य उद्धृत करेंगे जिनसे जान पड़ेगा कि विजयी आर्य लोग स्वयं आपस में सदा मेल मिलाप से नहीं रहते थे। सुदास एक आर्य राजा तथा विजयी था। उसके विषय में यह प्रायः वर्णन आया है कि अनेक आर्य जातियां और राजा लोग मिलकर उससे लड़े, पर उसने उन सभों को पराजित किया। आर्य जातियों के बीच इन विनाशी युद्धों के, तथा जो जातियां सुदास से लड़ी थीं उनके वर्णन ऋग्वेद में इतिहास के ध्यान से बड़े मूल्यवान हैं।

"(८)—धूर्त शत्रुओं ने नाश करने का उपाय सोचा और अदीन नदी का बांध तोड़ डाला। परन्तु सुदास अपनी शक्ति से पृथ्वी पर स्थित रहा और चयमान का पुत्र कवि मरा।

"(९) क्योंकि नदी का पानी अपने पुराने मार्ग से ही बहता रहा, उसने नया मार्ग नहीं किया और सुदास का घोड़ा समस्त देश में घूम आया। इन्द्र ने लड़ाके और बतकड़ वैरियों और उनके बच्चों को सुदास के आधीन कर दिया।

"(११) सुदास ने दोनों प्रदेशों के २१ मनुष्यों को मार कर यश प्राप्त किया। जिस तरह यज्ञ के घर में युवा पुरोहित कुश काटता है उसी तरह सुदास ने अपने शत्रुओं को काट डाला। वीर इन्द्र ने उसकी सहायता के लिये मरुत्स को भेजा।

" (१४) अनु और द्रुह्य के छाछठ हजार छ सौ छाछठ योधा लोग, जिन्होंने पशुओं को लेना चाहा था और सुदास के शत्रु थे सब मार डाले गए । ये सब कार्य इन्द्र का प्रताप प्रगट करते हैं।

" (१७) इन्द्र ने ही बिचारे सुदास को इन सब कामों के करने योग्य किया। इन्द्र ने बकरे को इस योग्य बनाया कि वह जोरावर शेर को मारे। इन्द्र ने बलिदंड को एक सूई से गिरा दिया। उसने सब सम्पत्ति सुदास को दी।" (७, १८)

कवि तृत्सु वा वशिष्ठ, जिसने सुदास के इस यश का वर्णन किया है,वह अपनी चिरस्थायिनी कविता के लिये बिना पुरस्कार पाए ही नहीं रहा। क्योंकि २२ और २३ रिचाओं में वह कृतज्ञता के साथ स्वीकार करता है कि वीर सुदास ने उसे दो सौ गाय, दो रथ और सोने के गहिनों से सजे हुए चार घोड़े दिए ! नीचे सुदास के सम्बन्ध का एक दूसरा सूक्त उद्धृत किया जाता है—

" (१) हे इन्द्र और वरुण ! तुम्हारे पूजने वाले तुम्हारे ऊपर भरोसा करके पशु जीतने के अभिप्राय से अपने अस्त्र शस्त्र लेकर पूरब की ओर गए हैं। हे इन्द्र और वरुण, अपने शत्रुओं का, चाहे वे दास हों वा आर्य, नाश करो और सुदास को अपनी रक्षा से बचाओ।

" (२) जहां पर लोग झंडा उठा कर लड़ते हैं, जहां हम लोगों की सहायता करने वाली कोई वस्तु नहीं दिखाई देती, जहां लोग आकाश की ओर देख कर भय से कांपते हैं, वहां पर, हे इन्द्र और वरुण ! हम लोगों की सहायता करो और हमें धीरज दो।

" (३) हे इन्द्र और वरुण ! पृथ्वी के छोर खो गए से जान पड़ते हैं और हल्ला आकाश तक पहुंचता है। शत्रुओं की सेना निकट आ रही है । हे इन्द्र और वरुण ! तुम सदा प्रार्थनाओं को सुनते हो, हमारे निकट आकर रक्षा करो।

" (४) हे इन्द्र और वरुण ! तुमने अभी तक अपराजित भेद को मार कर सुदास को बचाया। तुमने तृत्सुओं की प्रार्थनाओं को सुना। उनकी दीन प्रार्थना लड़ाई के समय फलीभूत हुई।

"(५) हे इन्द्र और वरुण ! शत्रुओं के हथियार हमें चारों ओर से आक्रमण करते हैं, शत्रु लोग हमें लुटेरों में आक्रमण करते हैं। तुम दोनों प्रकार की सम्पत्ति के स्वामी हो ! युद्ध के दिन हमारी रक्षा करो।

"(६) युद्ध के समय दोनों दल सम्पत्ति के लिये इन्द्र और वरुण की प्रार्थना करते थे। पर इस युद्ध में तुमने तृत्सुओं के सहित सुदास की रक्षा की, जिन पर दस राजाओं ने आक्रमण किया था।

"(७) हे इन्द्र और वरुण ! वे दस राजे जो कि यज्ञ नहीं करते थे, मिलकर भी सुदास को हराने में समर्थ नहीं हुए।

"(८) हे इन्द्र और वरुण ! जिस समय सुदास दस सरदारों से घिरा हुआ था और जिस समय सफेद वस्त्र पहिने हुए, जटा जूट धारी तृत्सु लोगों ने नैवेद्य और सूक्तों से तुम्हारी पूजा की थी तो तुमने सुदास को शक्ति दी थी।" (७, ८३)

एक दूसरे सूक्त में उस समय में जो हथियार काम में लाए जाते थे उनका वर्णन मिलता है। हम उसका कुछ भाग नीचे उद्धृत करते हैं।

"(१) जब युद्ध का समय निकट पहुंचता है और योधा अपना कवच पहिर कर चलता है तो वह बादल के समान देख पड़ता है ! योधा, तेरा शरीर न छिदे, तू जय लाभ कर, तेरे शस्त्र तेरी रक्षा करें !

"(२) हम लोग धनुष से पशु जीत लेंगे, हमलोग धनुष से जय प्राप्त करेंगे, हमलोग धनुष से भयानक और घमंडी शत्रुओं की अभिलाषा को नष्ट करें ! हमलोग धनुष से अपनी जीत चारों ओर फैलावेंगे !

"(३) जब धनुष की प्रत्यंचा खींची जाती है तो वह युद्ध में आगे बढ़ते हुए तीर चलाने वाले के कान तक पहुंचती है, उसके कान में धीरज के शब्द कहती है और वह तीर को इस तरह गले लगाती है जैसे कोई प्यार करने वाली स्त्री अपने पति को गले लगाती है।

" (५) तरकस बहुत से तीरों के पिता के समान है, बहुत से तीर उसके बाल बच्चों की नांई हैं। वह आवाज करता हुआ, योधा की पीठ पर लटकता है, लड़ाई में उसे तीर देता है और शत्रु को जीतता है।

" (६) चतुर सारथी अपने रथ पर खड़ा होकर जिधर चाहता है उधर अपने घोड़ों को हांकता है, रास घोड़ों को पीछे से रोके रहती है, उनका यश गाओ!

" (७) घोड़े ज़ोर से हिनहिनाते हुए अपने खुरों से धूल उड़ाते हैं और रथों को लेकर क्षेत्र पर जाते हैं। वे हटते नहीं वरन् लुटेरे शत्रुओं को अपने पैरों के नीचे कुचल डालते हैं।

" (११) तीर में पर लगे हैं, उसकी नोक हरिन (के सींग) की है। अच्छी तरह से खींची जाकर तथा तांत से छोड़ी जाकर वह शत्रु पर गिरती है। जहां पर मनुष्य इकट्ठे वा जुदे जुदे खड़े रहते हैं वहां पर तीर लाभ उठाती है।

" (१४) चमड़े का बंधन कलाई को धनुष की तांत की रगड़ से बचाता है और कलाई के चारों ओर सांप की नांई लपटा रहता है। वह अपना काम जानता है, गुणकारी है और हर तरह पर योधा की रक्षा करता है।

" (१५) हम उस तीर की प्रशंसा करते हैं जो कि जहर से बुझी हुई है, जिसकी नोक लोहे* की है और जो पर्जन्य की है।"(६७५)

अपने इन उद्धृत वाक्यों को समाप्त करने के पहिले हम एक वाक्य और उद्धृत करेंगे जिसमें विजयी राजाओं के गद्दी पर बैठने का वर्णन है।

---

* इससे प्रगट होता है कि तीर का सिरा लोहे का होता था। 'पर्जन्य वृष्टि का देवता है। अतएव पर्जन्य की शाखा से कदाचित उन नरकटों से तात्पर्य है जो वृष्टि में उत्पन्न होते हैं। ग्यारहवीं रिचा से प्रगट होता है कि तीर के सिरे कभी कभी हरिन के सींग के भी होते थे।

"(१) हे राजा ! मै तुम्हें राजा की पदवी पर स्थित करता हूं। तुम इस देश के राजा हो ! स्थिर और चिरस्थायी हो ! सब प्रजा तुम्हें चाहे ! तुम्हारा राज्य नष्ट न हो !

"(२) तुम यहां पहाड़ की नाई स्थिर रहो; राज्य सिंहासन पर से उतारे मत जाओ, इन्द्र की नाई चिरस्थायी रह कर राज्य का पोषण करो।

"(३) इन्द्र ने यज्ञ का भाग पाया है और वह राज सिंहासन पर बैठा हुआ नए राजा की सहायता करता है ! सोम उसको आशीर्वाद देती है।

"(४) आकाश अचल है, पृथ्वी अचल है, पर्वत अचल है, यह लोक अचल है। वह भी अपनी प्रजा के बीच राजा की नाई अचल है।

"(५) राजा वरुण तुम्हे अचल करें ! अच्छे बृहस्पति तुम्हें अचल करें; इन्द्र और अग्नि तुम्हारी सहायता करके तुम्हें अचल करें।

"(६) देखो मैं इस अमृत तुल्य नैवेद्य को अमृत सोम के रस के साथ मिलता हूं। इन्द्र ने तुम्हारी प्रजा को तुम्हारे आधीन करके उनसे तुम्हें कर दिलवाया है !" (१०, १७३)

इतना वर्णन बहुत होगा। हम पहिले दिखला चुके हैं कि योधा लोग केवल कवच और शिरोऽस्त्र ही नहीं काम में लाते थे वरन् वे लोग कंधों के लिये भी एक शस्त्र, कदाचित् ढाल, रखते थे। वे तीर धनुष के सिवाय भाले, फरसे तथा तीखी धार की तलवारों को भी काम में लाते थे। पुराने समय में युद्ध के जो जो शस्त्र दूसरे देशवासियों को मालूम थे उन सब को भारतवासी चार हजार वर्ष पहिले जानते थे। युद्ध में वे लोग दुन्दुभी बजा कर मनुष्यों को इकट्ठा करते थे, झंडियां लेकर दृढ़ झुंडों में आगे बढ़ते थे और वे लोग युद्ध के घोड़ों और रथों का प्रयोग भी भली भांति जानते थे। पालतू हाथी भी काम में लाए जाते थे और राजाओं का अपने मंत्रियों के साथ सजे हुए हाथियों पर सवार होने के वर्णन पाए जाते हैं (म० ४ सू० ४ ऋ० १)। परन्तु ऐसा जान नहीं

पड़ता कि वैदिक काल में हाथी युद्ध में नियमपूर्वक व्यवहार में लाए जाते हों, जैसा कि ईसा की पहिली, तीसरी और चौथी शताब्दियों मे होता था, जब कि ग्रीक लोग भारतवर्ष में आए थे।

अब केवल यही कहना है कि वह समय, जब कि वैदिक योधा लोग रहते और लड़ते थे, अशान्तमय था, उन लोगों को केवल आदिम निवासियों हीं से निरन्तर युद्ध नहीं करना पड़ता था, वरन् हिन्दू राज्य भी कई अनुशासकों के बीच बटा हुआ था और बलवान अनुशासक लोग अपने परोसियों के राज्य को अपने में मिला लेना चाहते थे। ऋषी लोग भी जो कि यज्ञादि करते थे बलवान होने की कामना रखते थे अथवा देवताओं से ऐसे पुत्र मांगते थे जो युद्ध में जय लाभ करें। प्रत्येक हृष्ट पुष्ट मनुष्य योधा होता था और अपने घर, खेतों तथा पशुओं की अपनी बलिष्ट दहिनी भुजा से रक्षा करने के लिये सदैव प्रस्तुत रहता था। प्रत्येक हिन्दू की बस्ती अथवा जाति, यद्यपि देवताओं की पूजा और शान्ति के भिन्न भिन्न व्यवसायों की उन्नति में दत्तचित्त थी पर साथ ही इसके इस बात से भी सचेत थी कि उसका जातीय जीवन सदैव युद्ध के लिये प्रस्तुत रहने ही पर निर्भर है और हिन्दू जाति के बड़े समूह में, जो सिन्धु के किनारे से लेकर सरस्वती के किनारे तक फैला था ऐसेही ऐसे कट्टर, और रणप्रिय लोग थे जिन्होंने निरन्तर युद्ध से भूमि पर अपनी स्थिति, अपनी स्वाधीनता, तथा अपने जातीय जीवन को स्थिर रक्खा था और जो जय प्राप्त करने अथवा देह ही त्याग देने का दृढ़ संकल्प रखते थे।

ऐसी अवस्था का स्मरण करना शोक जनक है। परन्तु क्या कोई ऐसा भी देश है जहां प्राचीन काल में जातियों को अपनी उन्नति या अपने जीवन के लिये भी निरन्तर युद्ध न करना पड़ा हो? अथवा आधुनिक समय में ही, अर्थात् उन दो हजार वर्षों में जो कि गौत्तम बुद्ध और ईसूमसीह को अपने शान्तिमय संदेसे के उपदेश करने के समय से आज तक हो गए, क्या कोई ऐसी भी जाति देखने में आती है जो बिना अपने परोसियों से निरन्तर युद्ध किए ही अपने शान्तिमय व्यवसाय के फल प्राप्त करने की आशा करसकती हो? कुछ देशों को छोड़ कर जो अच्छे मौके पर स्थित

हैं, योरप की सब जातियां सिर से लेकर पैर तक अस्त्र शस्त्र से सु-
सज्जित हैं। बड़ी बड़ी राजधानियों का प्रत्येक व्यक्ति सदा युद्ध
के लिये इतना प्रस्तुत रहता है कि केवल एक सप्ताह की सूचना पर
अपना घर द्वार तथा काम काज छोड़ कर रणक्षेत्र की यात्रा कर
सके। सभ्यता ने मनुष्यता के हित के लिये बहुत कुछ किया है।
परन्तु सभ्यता ने तलवार को हंसुआ नहीं बना दिया अथवा
मनुष्यों को इस योग्य नहीं कर दिया कि वे अपने पड़ोसियों से
अन्तिम श्वास पर्य्यन्त बिना लड़े ही अपने शान्तिमय व्यवसायों
का फल भोग सकें।

अध्याय ५

सामाजिक जीवन।

आर्य लोगों ने आदिवासियों के साथ इसी तरह लगातार युद्ध करके ही, अन्त को सारा पञ्जाब अर्थात् सिन्धु से लेकर सरस्वती तक और पर्वतों से लेकर सम्भवतः समुद्र तक जीत लिया।

जैसा कि आशा की जासकती है, हमलोगों को सिन्धु और उसकी पांचो सहायक नदियों का उल्लेख कई जगह पर मिलता है। दसवें मण्डल का ७५ वां सूक्त इसका एक अच्छा उदाहरण है और हम अपने पाठकों के लिये यहां पर इस पूरे सूक्त का अनुवाद कर देते हैं—

"(१) हे नदियो! कवि, भक्त के घर में तुम्हारी बड़ी शक्ति की प्रशंसा करता है। उनकी तीन प्रणाली है, प्रत्येक प्रणाली में सात सात नदियां हैं। सिन्धु की शक्ति और सब नदियों से अधिक हैं।

"(२) हे सिन्धु! जब तुम ऐसी भूमि की ओर दौड़ी जहां कि अन्न बहुत होता है, तो वरुण ने तुम्हारे लिये मार्ग खोल दिया। तुम भूमि पर एक विस्तृत मार्ग से बहती हो। तुम सब बहती हुई नदियों से अधिक चमकती हो।

"(३) सिन्धु का घोर नाद पृथ्वी से आकाश तक पहुंचता है! वह चमकती हुई बड़े वेग से बहती है। उसका घोर नाद ऐसा जान पड़ता है जैसे बादल में से बड़ी आवाज के साथ पानी बरसता हो। सिन्धु सांड की नांई गरजती हुई आती है।

"(४) जैसे गाय अपने बछड़ों को दूध देती है, हे सिन्धु वैसेही दूसरी नदियां तेरे निकट अपना जल लेकर आती हैं! जैसे कोई राजा अपनी सेना सहित युद्ध में जाता है उसी प्रकार तू भी अपने

बगल बगल बहती हुई नदियों * की दो प्रणालियों को लेकर आगे आगे चलती है !

"(५) हे गंगा ! हे यमुना और सरस्वती और शतुद्रि (सतलज) और परुष्णी (रावी) ! मेरी इस प्रशंसा को अपने में बांट लो ! हे असिक्नी (चनाब) से मिलने वाली नदी ! हे वितस्ता (झलम) ! हे आर्जीकीया (व्यास), जोकि सुषोमा (सिन्धु) से मिली है ! मेरी बात सुनो।

"(६) हे सिन्धु ! तू पहिले तृष्टामा से मिलकर और फिर सुसर्तु, रसा और श्वेती से मिलकर बहती है। तू क्रुमु (कुरम) और गोमती (गोमल) को क़ुभा (काबुल) और मेहत्नु से मिलाती है। तू इन सब नदियों को साथ लेकर बहती है।

"(७) प्रबल सिन्धु सफेद और चमकती हुई सीधी बहती है ! वह बड़ी है और उसका जल चारों ओर बड़े वेग से भरता है। सब बहनेवाली नदियों में से उसके समान कोई भी नहीं बहती ! वह घोड़ों की नांई प्रबल और प्रौढ़ा की नांई सुन्दरी है !

"(८) सिन्धु सदा यौवना और सुन्दरी रहती है। उसके पास बहुत से घोड़े, रथ और वस्त्र हैं। उसके पास बहुत सा स्वर्ण है और वह सुन्दर वस्त्र पहिरे है ! उसके पास बहुत अन्न, ऊन और तृण हैं और उसने अपने को मृदु फूलों से ढक रक्खा है।

"(९) सिन्धु ने अपने सुख से जाने वाले रथ में घोड़े बांधे हैं और उसमें रख कर हम लोगों के लिये भोजन लाती है। इस रथ की महिमा बड़ी है, इसका यश बहुत है और वह बड़ा और अजित है।"

यह रिचा बहुत ही मनोहर और हृदयग्राहिणी है और कवि की विस्तृत दृष्टि को भी प्रकाशित करती है। प्रोफेसर मैक्समूलर कहते हैं कि यह कवि एक ही बेर में नदियों के तीन बड़े बड़े प्रवाहों

* अर्थात् पश्चिम में काबुल की सहायक नदियां और पूरब में वे सहायक नदियां जो कि पञ्जाब में बहती हैं और जिनका नाम नीचे की दो रिचाओं में है।

का वर्णन करता है, अर्थात् वे जो उत्तर-पश्चिम से बह कर सिन्धु में मिलती हैं, वे जो उत्तर-पूर्व से उसमें मिलती है और अपनी शाखों सहित दूरस्थ गंगा और जमुना। "यह वैदिक कवि विस्तृत भौगोलिक ज्ञान को प्रकाशित करता है, जो ज्ञान उत्तर में हिमालय से, पश्चिम में सिन्धु नदी और सुलेमान पहाड़, दक्षिण में सिन्धु नदी या समुद्र और पूर्व में गंगा और जमुना नदियों से सीमाबद्ध है। इसके अतिरिक्त पृथ्वी के अन्य भागों का वैदिक कवि को ज्ञान नहीं था।"

पञ्जाब की सब नदियां मिल कर कहीं कहीं पर "सप्तनदी" के नाम से पुकारी गई हैं और एक जगह पर यह भी कहा गया है कि "सप्तनदी" की माता सिन्धु है और उसमें सातवीं नदी सरस्वती है (म० ७ सू० ३६ रि० ६)। सिन्धु और उसकी पांचों शाखें आदिम हिन्दुओं के प्राचीन निवास स्थान में अब तक बहती हैं। परन्तु सरस्वती, जो कि प्राचीन नदियों में सबसे पवित्र थी और जो उस प्राचीन समय में भी देवी की तरह पूजी जाती थी, अब नहीं बहती। उसका मार्ग कुरुक्षेत्र और थानेश्वर के निकट अब तक देख पड़ता है और इन स्थानों को हिन्दू लोग अब तक पवित्र मानते हैं।

एक किञ्चित अपूर्व स्थान पर ऋषी विश्वामित्र को, सुदास के दिए हुए रथों, घोड़ों और अन्य पुरस्कारों के साथ, व्यास और सतलज नदी के संगम के पार करने में कठिनाई पड़ी, और उन्होंने गरजते हुए जल के कोप को शान्त करने के लिये एक पूरा सूक्त बना डाला (म० ३ सू० ३३)। हम ऊपर कह आए हैं कि यह सुदास एक प्रतापी विजयी था और आस पास के दस राजाओं को हरा चुका था। उसने कई लड़ाइयां जीती थीं, जिनका वर्णन कई उत्तेजित सूक्तों में किया गया है। यह प्रतापी विजयी विद्या और धर्म का रक्षा करने वाला भी जान पड़ता है। उसने विश्वामित्र और वसिष्ठ के घराने के ऋषियों को उदारता से बराबर पुरस्कार दिया। इसका फल यह हुआ कि इन दोनों ऋषियों के वंशों में आपस में द्वेष हो गया, जिसका वर्णन हम आगे चल कर करेंगे।

यद्यपि पंजाब की नदियों का उल्लेख अनेक स्थानों पर मिलता है, पर गंगा और यमुना का उल्लेख बहुत कम मिलता है। हम ऊपर एक सूक्त का अनुवाद दे चुके हैं जिसमें इन दोनों नदियों का नाम आया है।

ऋग्वेद भर में दूसरा स्थान, जहां गंगा का उल्लेख आया है, केवल छठे मंडल के ४५ वें सूक्त की ३१ वीं रिचा है। वहां पर गंगा के ऊंचे तटों की उपमा दी गई है। यमुना के तट पर के चरागाहों में के प्रसिद्ध पशुओं का वर्णन म० ५ सू० ५२ रि० १७ में है।

इस तरह, भारतवर्ष में आर्य अधिवासियों की रहने की सब से पहिली जगह पांच नदियों की भूमि में थी। इसके सिवाय यह भी जान पड़ता है कि पांचों नदियों के बसने वालों की धीरे धीरे करके पांच जातियां हो गईं। म० १ सू० ७ रि० ९ में, म० १ सू० १७६ रि० ३ में, म० ६ सू० ४६ रि० ७ में तथा कई दूसरे स्थानों पर "पांच भूमियों' (पंच-क्षिति) का उल्लेख है। इसी प्रकार म० २ सू० २ रि० १० और म० ४ सू० ३८ रि० १० में "खेती करने वाली पांच जातियों" (पञ्च-कृष्टि) का वर्णन है, और म० ६ सू० ११ रि० ४, म० ६ सू० ५१ रि० ११, म० ८ सू० ३२ रि० २२, म० ९ सू० ६५ रि० २३ आदि स्थानों में "पांच जनों" (पञ्च-जन) का उल्लेख मिलता है।

सरल, वीर और उद्योगी आर्य लोगों की इन्हीं "पांच जातियों" ने, जो कि सिन्धु और उसकी सहायक नदियों के उपजाऊ तटों पर खेती और चराई करके रहती थीं, अपनी सभ्यता हिमालय से लेकर कुमारी अन्तरीप तक फैलाई है।

अब हम पंजाब की इन पांच जातियों के सामाजिक और घरेऊ आचार व्यवहारों के तथा उनके घरेऊ जीवन के मनोरंजक और रम्य विषय का वर्णन करेंगे। पहिली बात, जो कि हम लोगों को विस्मित करती है, यह है कि उस समय में वे बुरे नियम और रुकावट, और एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य में तथा एक जाति और दूसरी जाति में वे स्पष्ट भेद नहीं थे जो कि आज कल के हिन्दू समाज के बड़े दुःखजनक लक्षण हैं। हम लोग देख

चुके हैं कि वैदिक समय के बलिष्ट हिन्दू लोग गौ मांस को काम में लाने में कोई बाधा नहीं समझते थे और वे लोग अपने व्यापारियों की समुद्र यात्रा का वर्णन अभिमान के साथ करते हैं। हम लोग यह भी देख चुके हैं कि ऋषियों की कोई अलग जाति नहीं होती थी और न वे अपना जीवन केवल तपस्या और ध्यान में संसार से अलग ही रह कर बिताते थे। इसके विपरीत, ऋषी लोग संसार के व्यवहारी मनुष्य होते थे जोकि बहुत से पशुओं के स्वामी होते थे, खेती करते थे, युद्ध के समय में आदिवासी शत्रुओं से लड़ते थे और देवताओं से धन और पशु के लिये, युद्ध में विजय पाने के लिये, और अपनी स्त्री और बाल बच्चों की मंगलकामना के लिये प्रार्थना करते थे। वास्तव में प्रत्येक कुटुम्ब का मुखिया, एक प्रकार से ऋषी ही होता था और अपने देवताओं की पूजा अपने घर में अपनी ही नम्र रीति से करता था। कुटुम्ब की स्त्रियां भी पूजा में सम्मिलित होकर कार्य के सम्पादन करने में सहायता देती थीं। परन्तु समाज में कुछ लोग सूक्त बनाने और बड़े बड़े होम करने में अवश्य प्रधान थे और राजा तथा धनी लोग ऐसे लोगों को बड़े बड़े अवसरों पर बुला कर उदारता से पुरस्कार देते थे। परन्तु इन महान रचयिता लोगों की—ऋग्वेद के इन महान् ऋषी लोगों की—भी कोई अन्य साधारण जाति नहीं थी। वे लोग भी संसारी मनुष्य थे जो सर्व-साधारण के साथ मिले हुए थे, उनसे विवाहादि करते थे। उनके साथ सम्पत्ति के भागी होते थे, उनके युद्धों में लड़ते थे और सारांश यह कि उन्हीं में के होते थे।

जैसे एक रणप्रिय ऋषी एक ऐसे पुत्र के लिये आराधना करता है (म० ५ सू० २३ रि० २) जो युद्ध में शत्रुओं को जीते। दूसरा ऋषी (म० ६ सू० २० रि० १ में) धन, खेत तथा ऐसे पुत्र के लिये प्रार्थना करता है जो उसके शत्रुओं का नाश करे। एक तीसरा ऋषी (म० ६ सू० ६९ रि० ८ मे) धन और स्वर्ण के लिये, घोड़े और गौओं के लिये, प्रचुर अन्न और उत्तम सन्तति के लिये आराधना करता है। एक चौथा ऋषी बहुत ही सिधाई के साथ कहता

है कि मेरे पशु ही मेरे धन और मेरा इन्द्र हैं (म० ६ सू० २८ रि० ५) ऋग्वेद भर में ऋषी लोग साधारण मनुष्य हैं। इसका तनिक भी प्रमाण नहीं मिलता कि ऋषियों की कोई अलग जाति होती थी जोकि योधाओं वा किसानों से भिन्न थी * ।

निष्पक्ष विचार के लोग इसे जाति भेद न होने का एक अच्छा प्रमाण समझेंगे। यह अभाव रूप प्रमाण बहुतेरे भावरूप प्रमाणों की अपेक्षा भी अधिक दृढ़ है। सूक्तों के ऐसे बड़े संग्रह में जो कि छ सौ वर्षों से भी अधिक समय में बनाया गया था, और जो लोगों की चाल ढाल और रीति व्यवहार के वर्णनों से भरा हुआ है,—जो कि कृषि, चराई और शिल्पनिर्मित वस्तुओं के, आदिवासियों के युद्धों के, विवाह और घरेऊ नियमों के, स्त्रियों की स्थिति तथा

---

* म० १० सू० ९० रि० १२ में जो चार जातियों का वर्णन आया है उसे हमारे प्रमाणों का खण्डन न समझना चाहिए। यह सूक्त ऋग्वेद के सूक्तों के सैकड़ों वर्ष पीछे का बना है जैसा कि उसकी भाषा और विचार से ही प्रगट होता है। वह ऋक्, साम, तथा यजुर्वेदों के जुदे जुदे किए जाने के (रिचा ९) उपरान्त का, तथा जिस समय हिन्दू धर्म में परमेश्वर ने (जिसका कि उल्लेख ऋग्वेद में है ही नहीं) स्थान पा लिया था उसके भी उपरान्त का बना हुआ है। अर्थात् कोलब्रूक के कथनानुसार वह उस समय का बना हुआ है जब कि ऋग्वेद की असंस्कृत रिचाओं के उपरान्त उत्तर काल में अधिक सोहावने छन्द बनने लग गए थे। इस बात पर तो सब ही विद्वान सहमत हैं कि यह बहुत ही उत्तर काल का बना हुआ है।

धर्मों के, धर्म्म विषय के और उस समय की ज्योतिष विद्या के वर्णनों से भरा हुआ है—हम लोगों को एक भी ऐसा वाक्य नहीं मिलता जिससे प्रगट होता हो कि उस समय समाज में जातिभेद वर्तमान था। क्या इस बात का विचारना सम्भव है कि उस समय जाति भेद वर्तमान था और फिर भी ऋग्वेद की दस हजार रिचाओं में समाज के इस प्रधान सिद्धान्त का कहीं उल्लेख नहीं है? क्या उत्तर काल की एक भी ऐसी धर्म पुस्तक का मिलना सम्भव है जो विस्तार में ऋग्वेद का दसवां ही भाग हो और उसमें जाति भेद का कहीं वर्णन न हो?

यहां तक हमने अभावरुप प्रमाणों को केवल उसी प्रकार से सिद्ध किया है जिस प्रकार से कि कोई अभावरुप प्रमाण सिद्ध किया जा सकता है। परन्तु बड़े आश्चर्य का विषय है कि इस बात के भावरुप प्रमाण भी मिलते हैं और ऋग्वेद के कई वाक्यों से प्रगट होता है कि उस समय जाति भेद नहीं था। स्वयं "वर्ण" शब्द कि जिसका अर्थ आज कल की संस्कृत में "जाति" से है ऋग्वेद में केवल आर्यों और अनार्यों में भेद प्रगट करने के लिये आया है और कहीं भी आर्यों की भिन्न भिन्न जातियों को प्रगट करने के लिये नहीं आया (म० ३ सू० ३४ रि० ६ आदि)। वेद में "क्षत्रिय" शब्द का, जिसका अर्थ आज कल की संस्कृत में "क्षत्री जाति" से है, प्रयोग केवल विशेषण की भांति देवताओं के सम्बन्ध में हुआ है और उसका अर्थ "बलवान" है (म० ७ सू० ६४ रि० २; सू० ७ सू० ८६ रि० १; आदि)। "विप्र" जिसका अर्थ आज कल "ब्राह्मण जाति" से ही, वह भी ऋग्वेद में केवल विशेषण की भांति देवताओं के सम्बन्ध में आया है और वहां पर उसका अर्थ "बुद्धिमान" है। (म० ८ सू० ११ रि० ६ आदि)। और "ब्राह्मण" शब्द जो आज कल की संस्कृत में "ब्राह्मण जाति' प्रगट

करता है, उसका प्रयोग ऋग्वेद में सैकड़ों जगह पर केवल "सूक्त-कार" के अर्थ में हुआ है (म० ७ सू० १०३ रि० ८ आदि)।

हम खुशी से इसके और भी अनेक प्रमाण दे सकते हैं, परन्तु हमारी सीमा यहां ऐसा करने से रोकती है। परन्तु हम एक और प्रमाण दिए बिना नहीं रह सकते। उस मनोरम सरलता के साथ जो कि ऋग्वेद का साधारण सौन्दर्य्य है, एक ऋषी अपने विषय में करुणा से यों कहता है—

"देखो, मैं सूक्तों का रचयिता हूँ, मेरा पिता वैद्य है और मेरी माता पत्थर पर अनाज पीसती है। हम सब जुदे जुदे कामों में लगे हुए हैं। जिस तरह गौएं (भिन्न भिन्न दिशाओं में) चरागाह में आहार के लिये घूमती हैं उसी तरह, हे सोम! हम लोग (भिन्न भिन्न व्यवसायों में) तेरी पूजा धन के लिये करते हैं। तू इन्द्र के लिये बह!" (म०६ सू० ११२ रि० ३)। जो लोग कल्पना करते हैं कि वैदिक समय में जाति भेद था, उन्हें ऊपर की नांई वाक्यों को स्पष्ट करने में तनिक कठिनता होगी, जहां कि पिता, माता, और पुत्र, वैद्य, पिसनहारी और सूक्तकार वर्णन किए गए हैं!

उत्तर काल के जाति भेद के पक्षपाती लोगों ने कभी कभी इन वचनों को निरुपण करने का यत्न किया है और इसका फल बहुत ही अद्भुत हुआ है! ऋग्वेद के बहुत से ऋषियों की नांई (जिन्हें हम ऊपर देख चुके हैं कि वे योधा पुत्र होने के लिये निरन्तर आराधना करते थे) विश्वामित्र भी योधा और सूक्तकार थे। उत्तर काल के हिन्दू इस पर घबड़ाए और उन्होंने एक सुन्दर पौराणिक कथा गढ़ दी कि विश्वामित्र पहिले क्षत्रिय थे और फिर ब्राह्मण हो गये। परन्तु ये सब निरर्थक प्रयत्न हैं। विश्वामित्र न तो क्षत्री ही थे और न ब्राह्मण। वे एक वैदिक ऋषी, अर्थात

योधा तथा पुजेरी थे, जो कि "ब्राह्मण" और "क्षत्रियों" के होने के बहुत पहिले हुए थे ! *

अस्तु, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, प्रत्येक कुटुम्ब का पिता स्वयं अपना ही पुरोहित होता था और उसका घर ही

---

*यहां पर हमको उन तीनों विद्वानों की सम्मति उद्धृत करते हुए बड़ा हर्ष होता है जिन्होंने कि अपना जीवन काल वेद ही के देखने में व्यतीत कर दिया है और जिन्हें कि योरप के वैदिक विद्वानों का त्रियंविराट कहना चाहिए—

"तब यदि हम लोग इन सब प्रमाणों पर ध्यान देकर यह प्रश्न करें कि जाति, जैसा कि मनु के ग्रन्थों में अथवा आज कल है, वेद के प्राचीन धर्म का अंग है अथवा नहीं, तो हमको इसके उत्तर में निश्चय करके 'नहीं' कहना पड़ेगा" Maxmuller, Chips from a German Workshop Vol II (1867) p. 307.

"अब तक जातियां नहीं थीं । लोग अब तक एक में मिलकर रहते थे और एक ही नाम से (अर्थात् 'विसस' के नाम से) पुकारे जाते थे" । Weber's Indian Literature (translation) p 38.

और अन्त में डाक्टर रोथ साहब ने यह दिखलाया है कि वैदिक समय में छोटे छोटे राजाओं के घराने के पुजारी ब्राह्मण कहलाते थे परन्तु तब तक उनकी कोई अलग जाति नहीं हो गई थी । और इस बड़े विद्वान ने यह भी दिखलाया है कि आगे चल कर अर्थात् महाभारत के समय में किस प्रकार से छोटे छोटे राजाओं के घराने के पुजेरियों के प्रबल दल हो गए और उनके घरानों ने किस प्रकार से जीवन के प्रत्येक विभाग में सब से अधिक प्रावल्य प्राप्त किया और उनकी एक जुदी जाति हो गई । Quoted in Muir's Sanskrit Texts, Vol I (1872) p. 291.

उसका मन्दिर होता था। ऋग्वेद में मूर्ति का, अथवा मन्दिरों अर्थात् पूजा करने के उन स्थानों का जहां पर लोग इकट्ठे होते थे, कहीं कोई उल्लेख नहीं है। प्रत्येक कुटुम्बी के घर पवित्र अग्नि सुलगाई जाती थी और वह उन सुन्दर और सरल सूक्तों को गाता था, जिन्हें कि अब हम लोग ऋग्वेद में संग्रह किया हुआ देखते हैं। हम लोगों को उन स्त्रियों का एक मनोहर वर्णन मिलता है जो कि इन यज्ञों में सहायता देती थीं, जो आवश्यक सामिग्रियों को जुटाती थीं, उन्हें ओखली और मूसल से तयार करती थीं, सोम का रस निकालती थीं, उसे अपनी अंगुलियों से हिलाती थीं और ऊनी छनने से छानती थीं। हम लोगों को अनेक स्थानों पर स्त्रियों के अपने पति के साथ यज्ञ करने का वर्णन मिलता है। वे लोग मिल कर हव्य देते थे और इस प्रकार एक साथ ही स्वर्ग को जाने की आशा रखते थे (म० १ सू० १३१ रि० ३; म० ५ सू० ४३ रि० १५ आदि)। इस विषय में एक पवित्र सूक्त की कुछ रिचाएं निस्सन्देह हमारे पाठकों को मनोरञ्जक होंगी।

"(५) हे देवता लोग ! जो दम्पति एक साथ मिल कर नैवेद्य तयार करते हैं और सोम के रस को साफ करके दूध के साथ मिलाते हैं

"(६) वे अपने खाने के लिये भोजन पावें और दोनों साथ साथ यज्ञ में आवें। उनको भोजन की खोज में कभी न घूमना पड़े।

"(७) वे देवताओं से बलि चढ़ाने की झूठी प्रतिज्ञा कभी नहीं करते और न तुम्हारी स्तुति करने में चूकते हैं। वे तुम्हारी पूजा सब से अच्छे नैवेद्य से करते हैं।

"(८) वे युवा औ बढ़ती हुई अवस्था में पुत्र से सुखी हो कर स्वर्ण प्राप्त करते हैं और दोनों दीर्घ आयु तक जीते हैं।

"(६) स्वयम् देवता लोग ऐसे दम्पति द्वारा पूजा किए जाने की लालसा रखते हैं जो कि यज्ञ करने के अनुरागी हों और देवताओं को कृतज्ञता से नैवेद्य चढ़ाते हों। वे अपना वंश चलाने के

लिये एक दूसरे को गले लगाते हैं और वे अपने देवताओं की पूजा करते हैं।" (८,३१)

हम लोगों के लिये उन बुद्धिमती स्त्रियों का वर्णन और भी रमणीय है जो स्वयं ऋषी थीं और पुरुषों की नांई सूक्त बनाती और होम करती थीं। क्योंकि उस समय में स्त्रियों के लिये कोई बुरे बन्धन, अथवा समाज में उनके उचित स्थान से उन्हें अलग परदे में अथवा अशिक्षित रखने की रीतें नहीं थीं। घूंघट काढ़े हुई स्त्रियों और दुलहिनों का वर्णन मिलता है पर स्त्रियों के पर्दे में रक्खे जाने का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसके विपरीत हम लोग उन्हें उनके कार्यों को उचित स्थिति में, उन्हें होम में सम्मिलित होते हुए और समाज पर अपना प्रभाव डालते हुए पाते हैं। हम लोग सुशिक्षित स्त्री, विश्ववारा का वृत्तान्त अब तक स्मरण करते हैं, जो कि हजारों वर्षों से हम सुनते आते हैं। यह धार्मिक स्त्री सूक्त बनाती थी, होम करती थी और अग्नि देवता से विवाहित दम्पति के परस्पर सम्बन्धों को स्थिर करने और सदाचार में रखने के लिये सच्चे उत्साह के साथ प्रार्थना करती थी (म० ५ सू० २८ रि० ३)। हम लोगों को ऐसी दूसरी स्त्रियों के भी नाम मिलते हैं जो ऋग्वेद की ऋषी थीं।

ऐसे सरल समाज में, जैसा कि वैदिक समय में था, जीवन के सम्बन्ध प्राणियों की आवश्यकताओं के अनुसार निश्चित किए जाते थे और न कि वज्र समान नियमों के अनुसार, जैसा कि उत्तर काल में होता था। अतएव उस समय में यह कोई धर्म सम्बन्धी आवश्यक बात नहीं थी कि प्रत्येक कन्या का विवाह हो ही। इसके विपरीत हम लोगों को ऐसी बिन ब्याही स्त्रियों के भी वर्णन मिलते हैं जो अपने पिता ही के घर रहती थीं और स्वाभाविक रीति से अपने पिता की सम्पत्ति के कुछ अंश का स्वत्व मांग कर, उसे पाती थीं (म० २ सू० १७ रि० ७)। इसके सिवाय चतुर और मेहनती पत्नियों का भी वर्णन मिलता है जो घर के कामों को देखती भालती थीं और प्रभात की नांई सवेरे घर के सब प्राणियों को जगा कर, उन्हें अपने अपने कामों में लगाती थीं (म० १ सू०

१२४ रि० ४) और जो गृहस्थी के उन गुणों को रखती थीं जिनके लिये हिन्दू स्त्रियां सबसे पहिले के समय से लेकर आज तक प्रसिद्ध रही हैं। परन्तु बहुधा बुरी स्त्रियों के जो कुमार्ग पर चलती थीं (१,२९,१) ऐसी बिन ब्याही स्त्रियों के जिन्हें उनके चरित्र की रक्षा करने के लिये भाई नहीं थे, और ऐसी स्त्रियों के भी (म० ४ सू० ५, रि० ५; म० १० सू० ३४ रि० ४) जो अपने पति से सच्चा प्रेम नहीं रखती थीं उल्लेख मिलते हैं। एक स्थान पर एक क्षीणधन जुआरी की स्त्री का उल्लेख है जो कि दूसरे पुरुषों की लालसा की वस्तु हुई थी [म० १० सू० ३४ रि० ४]।

ऐसा ज्ञात पड़ता है कि कन्याओं को भी अपना पति चुनने में कुछ अधिकार होता था। उनका यह चुनाव सदा सुखी ही नहीं होता था। क्योंकि "बहुत सी स्त्रियां अपने चाहनेवाले के धन की लालच में आजाती हैं। परन्तु मृदु स्वभाव और सुन्दर रूप की स्त्री अनेकों में से केवल अपने ही प्रियतम को अपना पति चुनती हैं" [म० १० सू० २७ रि० १२]। हमलोग ऊपर के इस वाक्य में उत्तर काल के स्वयम्बर की छाया देखने की कल्पना कर सकते हैं। परन्तु इस में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि पिता भी अपनी कन्या का पति चुनने में एक उपयुक्त प्रभाव का प्रयोग करता था, और आज कल की नाईं वह अपनी कन्याओं को सुन्दरता से सज कर और सोने के गहिने पहिना कर, देता था [म० ९ सू० ४६ रि० २ ; म० १० सू० ३९ रि० १४]।

विवाह की रीति बहुत ठीक होती थी और वे प्रतिज्ञाएं जो वर और कन्या एक दूसरे से करते थे, इस अवसर योग्य होती थीं। हम यहां पर ऋग्वेद के अन्तिम भाग के एक सूक्त की कुछ रिचाओं का अनुवाद देते हैं, जिसमें इस रीति का एक मनोहर वर्णन है। नीचे लिखी रिचाओं में से पहिली दो रिचाओं से ज्ञात पड़ेगा कि बाल विवाह की स्वभाव विरुद्ध रीति उस समय नहीं ज्ञात थी और कन्याओं का विवाह उनके युवा होने पर किया जाता था।

"(२१) हे विश्वावसु ! (विवाह के देवता), इस स्थान से उठो, क्योंकि इस कन्या का विवाह समाप्त हो गया। हम लोग सूक्तों से

और दंडवत करके विश्वावसु की स्तुति करते हैं। अब किसी दूसरी कुमारी के पास जाओ, जोकि अब तक अपने पिता के घर हो और विवाह करने की अवस्था के चिन्हों को प्राप्त कर चुकी हो। वह तुम्हारा भाग होगी, उसे जानो।

"(२२) हे विश्वावसु ! इस स्थान से उठो। हम तुम्हें दंडवत करके तुम्हारी पूजा करते हैं। अब किसी दूसरी कुमारी के पास जाओ जिसका अंग प्रौढ़ता को प्राप्त होता हो, उसे एक पति से मिलाकर पत्नी बनाओ।

"(२३) जिस मार्ग से हमारे मित्र लोग विवाह के लिये कुमारी ढूंढ़ने को जाते हैं उस मार्ग को सीधा और कांटों से रहित करो। अर्यमन और भग हम लोगों को अच्छी तरह से ले जाय। हे देवता लोग ! पति और पत्नी अच्छी तरह से मिलें।

"(२४) हे कुमारी ! सुन्दर सूर्य ने तुझे (कुंआरेपन के) बन्धनों से बांधा है, अब हम लोग तुझे उन बन्धनों से छोड़ाते हैं। हम तुझे तेरे पति के साथ ऐसे स्थान में रखते हैं जो कि सचाई और पुण्य का घर है।

"(२५) हम इस कुमारी को इस जगह (उसके पिता के घर) से मुक्त करते हैं, परन्तु दूसरी जगह (उसके पति के घर) से नहीं। हम उसका सम्बन्ध अच्छी तरह से दूसरे स्थान से करते हैं। हे इन्द्र ! वह भाग्यशालिनी और योग्य पुत्रों की माता हो।

"(२६) पूषण इस जगह से तेरा हाथ पकड़ कर तुझे ले चले। दोनों अश्विन तुझे एक रथ में ले चलें। अपने (पति के) घर जा और उस घर की मालकिन हो। उस घर में सब चीजों की मालकिन हो और सब पर अपना प्रभुत्व कर।

"(२७) तुझे सन्तान हो और यहां तुझे आशीर्वाद मिले। अपने घर का काम काज सावधानी से कर। अपना शरीर अपने इस पति के शरीर के साथ एक कर और बुढ़ापे तक इस घर में प्रभुत्व कर।

"(४०) पहिले सोम तुझे अङ्गीकार करता है, तब तुझे गन्धर्व

अङ्गीकार करता है, तेरा तीसरा स्वामी अग्नि है और तब चौथी बेर मनुष्य का पुत्र तुझे अङ्गीकार करता है। *

"(४१) सोम ने यह कन्या गन्धर्व को दी, गन्धर्व ने उसे अग्नि को दिया, और अग्नि ने उसे धन और सन्तति के साथ मुझे दिया है।

"(४२) हे दुलहा और दुलहिन ! तुम दोनों यहां साथ मिल कर रहो, जुदे मत हो। नाना प्रकार के भोजन का सुख भोगो ; अपने ही घर में रहो और अपने पुत्र और पौत्र के साथ आनन्द भोगो।

"(४३) [दुलहा और दुलहिन कहते हैं] प्रजापति हमलोगों को सन्तान दें, अर्यमन हमलोगों को बुढ़ापे तक एक साथ रक्खे। (दुलहिन के प्रति) हे दुलहिन, अपने पति के घर में शुभ पैरे से प्रवेश कर। हमारे दास दासियों और पशुओं का हित करो।

"(४४) तेरी आंखें क्रोध से रहित रहें और तू अपने पति के सुख के लिये यत्न करे, और हमारे पशुओं का हित करे। तेरा मन प्रसन्न रहे और तेरी सुन्दरता शोभायमान हो। तू वीर पुत्रों की माता और देवताओं की भक्त हो। हमारे दास, दासियों और पशुओं का हित करे।

"(४५) हे इन्द्र ! इस स्त्री को भाग्यवती और योग्य पुत्रों की माता बना। उसके दस पुत्र हों, जिसमें घर में पति को लेकर ग्यारह पुरुष होजांय।

"(४६) (दुलहिन के प्रति) तेरे सास और ससुर पर तेरा प्रभाव रहे और तू अपनी ननद और देवर पर रानी की नाईं शासन करे।

"४७) (दुलहा और दुलहिन कहते हैं) सब देवता लोग हमारे हृदय को एक करें। मातरिश्वन और धातृ और वाग्देवी हम लोगों को एक करें।" (१०, ८५)

---

* इससे तथा इसके नीचे की रिचाओं से जाना जाता है कि कन्या का वर से विवाह किए जाने के पहिले वह इन तीनों देवताओं को अर्पण की जाती थी।

ऊपर का उद्धृत भाग कुछ अधिक लम्बा चौड़ा है परन्तु हमारे पाठकों को इसके लिये पछताना नहीं पड़ेगा। इस उद्धृत भाग से विवाह विधि की उपयुक्तता और नई दुलहिन की अपने पति के घर में स्थिति और उसके स्वामी का अनुराग एक बार ही प्रगट होता है।

वैदिक समय में राजा और अमीर लोग एक साथ कई स्त्रियों से विवाह करने पाते थे और यह रीति पुराने ज़माने में सब देशों और सब जातियों में थी। ऐसी दशा में घराऊ झगड़े स्वाभाविक ही होते थे और ऋग्वेद के अन्तिम भाग में ऐसे सूक्त पाए जाते हैं जिसमें स्त्रियां अपनी सवतों को शाप देती हैं (म० १० सू० १४५; म० १० सू० १५६)। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि यह कुरीति वैदिक युग के अन्तिम भाग में ही चली थी, क्योंकि प्राथमिक सूक्तों में इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता।

दो अपूर्व रिचाएं ऐसी भी मिलती हैं जिनसे उत्तराधिकारी होने के नियम प्रगट होते हैं। अतएव वे विशेष मनोहर हैं। हम उनका अनुवाद नीचे देते हैं—

"(१) जिस पिता के पुत्र नहीं होता वह पुत्र उत्पन्न करने वाले अपने दामाद को मानता है और अपनी पुत्री के पुत्र के पास जाता है (अर्थात् अपनी सम्पत्ति उसे देता है)। बिना पुत्र का पिता अपनी पुत्री की सन्तति पर भरोसा करके सन्तोष करता है।

"(२) पुत्र अपने पिता की सम्पत्ति का कोई भाग अपनी बहिन को नहीं देता। वह उसे उसके पति की पत्नी की भांति दे देता है। यदि किसी माता को पुत्र या पुत्री, दोनों हों तो एक (अर्थात् पुत्र) तो अपने पिता के काम काज में लगता है और दूसरा (अर्थात् पुत्री) सम्मान पाती है।" (८३,३१)।

यह हिन्दुओं के उत्तराधिकारी होने के नियम का पहिला सिद्धान्त है जिससे कि पुत्र, और न कि पुत्री, अपने पिता की सम्पत्ति और धर्म्म कार्यो का उत्तराधिकारी होता था और जिससे केवल पुत्र सन्तान न होने ही पर सम्पति नाती को मिलती थी।

हमारा विचार है कि नीचे लिखे हुए प्रकार के वाक्यों से हिन्दुओं के पुत्र गोद लेने के नियम के प्रथम सिद्धान्तों का भी पता लगता है—

"जिस तरह से, जिस मनुष्य को ऋण नहीं होता वह बहुत धन पाता है उसी तरह हम लोग भी उस धन को पावेंगे जो दृढ़ रहता है (अर्थात् पुत्र)! हे अग्नि! हमें दूसरों का जन्मा हुआ पुत्र न ग्रहण करना पड़े। मूर्खों की रीति पर मत चलो।

"दूसरों का जन्मा हुआ पुत्र हमें सुख दे सकता है, परन्तु कभी अपने पुत्र की तरह नहीं हो सकता। और वह अन्त में अपने ही घर चलाजाता है। इससे हम एक नया पुत्र जन्में जो कि हमें अन्न दे और हमारे शत्रुओं का नाश करे।" (७,४,७ और ८)

हमने इस अध्याय में विवाह और उत्तराधिकारी होने के विषय में लिखा है। अब हम अपने गृहस्थी के रीति व्यवहारों के वर्णन को अन्त्येष्टि क्रिया सम्बन्धी कुछ वाक्यों को उद्धृत करके, समाप्त करेंगे। ऋग्वेद में यम, नर्क का देवता नहीं है वरन् स्वर्ग का देवता है जो कि पुण्यात्मा मनुष्यों को मरने के पीछे सुखी भूमि में पुरस्कार देता है। केवल उसके दो कुत्ते ऐसे हैं कि जिनसे बचना चाहिए या जिन्हें सन्तुष्ट करना चाहिए।

"(७) हे मृतक! जिस मार्ग से हमारे पुरखा लोग जिस स्थान को गये हैं उसी मार्ग से तुम भी उसी स्थान को जाओ। यमराज और वरुण, दोनों, नैवेद्यों से प्रसन्न हैं। जाकर उनका दर्शन करो।

"(८) उस सुखी स्वर्ग में जाकर पूर्वजों में मिलो। यम से तथा अपनी पुण्याई के फलों के साथ मिलो। पाप को पीछे छोड़ो, अपने घर में प्रवेश करो।

"(६) हे प्रेत लोग! इस स्थान को छोड़कर यहाँ से चल जाओ। क्योंकि पितरों ने मृतक के लिये एक स्थान तयार किया है। वह स्थान दिन से, चमकते हुए जल से, और प्रकाश से सुशोभित है। यम इस स्थान को मृतक के लिये नियत करता है।

"(१०) हे मृतक! इन दोनों कुत्तों में से प्रत्येक की चार चार आंखें हैं और इनका रंग विचित्र है। उनके निकट से जल्दी से निकल

आओ। तब उस सुन्दर मार्ग से उन बुद्धिमान पितरों के पास जाओ जो कि अपना समय यम के साथ प्रसन्नता और सुख में बिताते हैं।" (१०, १४)

इन रिचाओं से हमें वैदिक समय के हिन्दुओं का आने वाले सुख में विश्वास प्रगट होता है। अन्त्येष्टि क्रियाओं का उल्लेख नीचे लिखे वाक्यों में आया है—

"हे अग्नि! इस मृतक को भस्म मत कर डाल, उसे दुःख मत दे, उसके चमड़े या शरीर को टुकड़े टुकड़े मत कर डाल। हे अग्नि! ज्यों ही उसका शरीर तेरी ज्वाला से जल जाय त्योंही उसे हमारे पितरों के लोक मे भेज दे।" (१०, १६ १)

"(१०) हे मृतक! उस विस्तृत भूमि पर जाओ कि माता की नाईं है। वह विस्तृत और सुन्दर है। उसका स्पर्श ऊन या स्त्री की नाईं मृदु हो। तुमने यज्ञ किए हैं अतएव वह तुम्हें पाप से बचावे।

"(११) हे पृथ्वी! उसके पीछे उठो, उसे दुःख मत दो। उसे अच्छी चीजें दो, उसे धीरज दो। जैसे माता अपने पुत्र को अपने अंचल से ढकती है वैसे ही तुम इस मृतक को ढँको।

"(१२) उसके ऊपर मिट्टी का जो ढूहा उठाया जाय वह उसके लिये हलका हो। मिट्टी के हजारों कण उसके ऊपर पड़ें। वे सब उसके लिये मक्खन से भरे हुए घर की नाईं हों, वे उसको आश्रय दें।" (१०, १८)

अब इस सूक्त की केवल एक अद्भुत रिचा का उल्लेख करना बाकी रह गया है, जिसमें कि विधवा विवाह का होना स्पष्ट लिखा है—

"हे स्त्री, उठ, तू ऐसे के निकट पड़ी है जिसका प्राण निकल गया है। जीवित लोगों की सृष्टि में आ, अपने पति से दूर हो, और उसकी पत्नी हो जो कि तेरा हाथ पकड़े हुए है और तुझ से विवाह करने को तयार है।" (१०,१८,८)

यह अनुवाद तैतिरीय आरण्यक से सायन के अनुसार है और इसके शुद्ध होने में बहुत कम सन्देह हो सकता है, क्योंकि 'दिधिषु' शब्द का संस्कृत भाषा में केवल एक ही अर्थ है अर्थात् "स्त्री का दूसरा

पति" । हम यहां नीचे लिखे वचन उद्धृत करते हैं जो कि डाक्टर राजेन्द्र लाल मित्र ने प्राचीन भारतवर्ष में अन्त्येष्टि क्रिया के विषय के एक लेख के अन्त में दिए हैं–"वैदिक समय में विधवा विवाह की चाल थी, यह बात अनेक प्रमाणों और वितर्कों से सिद्ध की जा सकती है। प्राचीन काल से संस्कृत भाषा में ऐसे शब्दों का रहना जैसे कि 'दिधिषु' अर्थात् वह मनुष्य जिसने विधवा से विवाह किया हो, 'परपूर्व' अर्थात् जिस स्त्री ने दूसरे पति से विवाह किया हो, 'पौनर्भव' अर्थात् किसी स्त्री का उसके दूसरे पति से उत्पन्न हुआ पुत्र, आदि इस बात को सिद्ध करने के लिये बहुत हैं।"

यहां हमको दुःख और पश्चाताप के साथ, इस सूक्त के सम्बन्ध में एक दूसरे वचन का वर्णन करना पड़ता है। यह वचन ऋग्वेद में पूरी तरह से अनिष्ट रहित है परन्तु जिसका अनुवाद सती होने की निष्ठुर रीति को प्रमाणित करने के लिये उत्तरकाल में उसको बदल कर उलटा किया गया है। इस महा निष्ठुर आधुनिक हिन्दू रीति का ऋग्वेद में कोई प्रमाण नहीं है। उसमें केवल एक पूर्णतया अनिष्ट रहित वर्णन है (म० १० सू० १८ रि० ७) जिसमें अन्त्येष्टि क्रिया में स्त्रियों के प्रस्थान का हाल है। इसका अनुवाद यों किया जा सकता है।

"ईश्वर करे ये स्त्रियां विधवापन के दुःखों को न सहें, इन्हें अच्छे और मन माने पति मिलें और ये उनके घरों में नेत्रांजन और मक्खन सहित प्रवेश करें। इन स्त्रियों को बिना रोए हुए और बिना दुःख के, अमूल्य आभूषण पहिर कर पहिले उस घर को आने दो"

ऊपर के वाक्यों में विधवाओं के जलाए जाने के सम्बन्ध का एक शब्द भी नहीं है। परन्तु इसमें के एक शब्द 'अग्रे' का 'अग्ने' करके मिथ्यानुवाद किया गया और यह वाक्य बङ्गाल में विधवाओं के जलने की आधुनिक रीति का प्रमाण दिया गया है। प्रोफेसर मेक्समूलर कहते हैं कि "यह इस बात का कदाचित सब से

निन्दित उदाहरण है कि अशिक्षित प्रोहितों द्वारा क्या क्या बातें हो सकती हैं। केवल एक छिन्न भिन्न किए हुए, मिथ्यानुवादित और मिथ्याप्रयुक्त वाक्य के प्रमाण पर हजारों जीव आहुति दिए गए और इसीके कारण धर्मोन्मत्त राजविद्रोह भी हुआ चाहता था।"

अध्याय ६.

——:o:——

वैदिक धर्म ।

ऋग्वेद का धर्म सुप्रख्यात है—वह प्रधानतः बड़े गम्भीर और उच्च रूप में प्रकृति की पूजा है। वह आकाश जो चारो ओर घेरे हुए है, वह सुन्दर और विकसित प्रभात जो काम काजी गृहिणी की नांई मनुष्यों को नींद से जगा कर उनके कामों पर भेजता है, वह चमकीला उष्ण सूर्य जो पृथ्वी को सजीव करता है, वह वायु जो संसार भर में व्याप्त है, वह अग्नि जो हम लोगों को प्रसन्न और सजीव करती है, और वे प्रचण्ड आंधियं जो भारतवर्ष में भूमि को उपजाऊ करनेवाली वृष्टि का आना प्रगट करती हैं—येही सब देवता थे जिनकी प्राचीन हिन्दू लोग पूजा करते थे। और जब कोई प्राचीन ऋषी श्रद्धा और भक्ति के साथ इन देवताओं में से किसी एक की स्तुति करने लगाता था तो वह बहुधा उस समय यह भूल जाता था कि इस एक देवता के अतिरिक्त और कोई देवता भी है। इसलिये उसके उक्त सूक्तों में सृष्टि के एक मात्र ईश्वर की स्तुति के उत्कर्ष और लक्षण पाए जाते हैं। यही कारण है कि बहुत से विद्वान वैदिक धर्म को अद्वैत वादी कहने में बहुधा रुकते और हिचकिचाते हैं। वास्तव में ऋषी लोग बहुधा प्रकृति-पूजा से ऊंचे और गूढ़ विचारों की ओर गए हैं और उन लोगों ने साफ़ साफ़ कहा है कि भिन्न भिन्न देवता लोग केवल एक ही आदिकारण के भिन्न भिन्न रूप अथवा नाम हैं। उन लोगों ने प्रकृति-पूजा और अद्वैतवाद के बीच की सीमा को उल्लंघन कर डाला है और ऋग्वेद के बड़े बड़े ऋषी लोग प्रकृति से प्रकृति के देवताओं की ओर बढ़े हैं।

आकाश स्वभावतः ही पूजा की सब से मुख्य वस्तु थी। और आकाश के भिन्न भिन्न रूप धारण करने के कारण उसे भिन्न भिन्न नाम दिए गए थे और इसी लिये भिन्न भिन्न देवताओं की कल्पना की गई थी। इनमें से सबसे प्राचीन कदाचित 'द्यु' (जिसका अर्थ 'चमकता हुआ' है) है, जो कि ग्रीक लोगों का जीउस, रोमन लोगों के जुपिटर का प्रथम अक्षर ('जु'), सेकसन लोगों का टिउ, और जर्मन लोगों का जिओ है। बहुत सी आर्य भाषाओं में इस नाम के मिलने से ऐसा जान पड़ता है कि इन सब जातियों के पूर्व पुरुषा लोग अपने प्रथम प्राचीन निवासस्थान में इस देवता की पूजा करते थे।

परन्तु यद्यपि ग्रीस और रोम देश के देवताओं में जीउस और जुपिटर प्रधान रहे, परन्तु भारतवर्ष में उसकी स्थिति शीघ्र ही जाती रही और आकाश की अपनी एक विशेष शक्ति ने उसका स्थान ग्रहण किया। क्योंकि भारतवर्ष में नदियों की वार्षिक बाढ़, पृथ्वी का उपजाऊपन, और फ़सिल का अच्छा होना, हम लोगों के ऊपर चमकने वाले आकाश पर निर्भर नहीं है वरन् बरसने वाले मेघ पर निर्भर है। अतएव इन्द्र जिसका अर्थ 'वृष्टि करने वाला' है, वैदिक देवताओं में शीघ्र ही प्रधान हो गया।

अकाश का एक दूसरा नाम वरुण था, जो कि ग्रीक लोगों का 'उरेनस' है। इस शब्द का अर्थ 'ढांकना' है, और वरुण, वह आकाश, कदाचित बिना प्रकाश का अथवा रात्रि का आकाश—था जो पृथ्वी को ढांके हुए है, क्योंकि दिन के उज्वल आकाश के लिये हम लोगों को एक दूसरा शब्द 'मित्र' मिलता है, जो कि ज़ेंदवस्ता का 'मिथ्र' है। संस्कृत भाष्यकार लोग स्वभावतः ही वरुण को रात्रि और मित्र को दिन बतलाते हैं और इरानी लोग मिथ्र के नाम से सूर्य को पूजते हैं और 'वरुण' को यदि आकाश नहीं तो एक सुखमय लोक कहते हैं।

इन सब बातों से प्रगट होता है कि आकाश के देवता वरुण का नाम और उसकी कल्पना आर्य जातियों के पूर्व पुरुषों को उनके

अलग होकर यूनान, फारस और भारतवर्ष में जाने के पहिले से ज्ञात थी। वास्तव में प्रख्यात जर्मन विद्वान डाक्टर राथ का मत है कि हिन्दू-आर्य और ईरानियों के जुदा होने के पहिले वरुण उन लोगों के देवताओं में सब से श्रेष्ठ और पवित्र था और उनके धर्म के आध्यात्मिक अंश को निरूपण करता था। उनके अलग होने के पीछे यह साधुवृत्त का देवता ईरानियों का परम देवता 'अहुरमज्द' हो गया और भारतवर्ष में यद्यपि वरुण ने देवताओं में अपना प्रधान स्थान युवा और प्रबल वृष्टि के देवता इन्द्र को दे दिया परन्तु फिर भी उसने उस पवित्रता को कदापि नहीं खोया जो उसकी पहिली कल्पना में वर्तमान थी और ऋग्वेद के सबसे पवित्र सूक्त उसीके हैं, न कि इन्द्र के। यह सम्मति चाहे जैसी हो, परन्तु ऋग्वेद में वरुण की प्रधान पवित्रता तो अस्वीकार नहीं की जा सकती और इसके उदाहरण के लिये हम वरुण के सूक्तों में से कुछ का अनुवाद देते हैं—

"(६) हे वरुण ! जो चिड़ियां उड़ती हैं उन्होंने तुम्हारा बल या तुम्हारी शक्ति नहीं पाई है। निरन्तर बहने वाला पानी और चलती हुई हवा भी तुम्हारी गति का मुकाबला नहीं कर सकते।

"(७) निष्कलंकित शक्ति का राजा वरुण आकाश में रहता है और ऊपर प्रकाश की किरणों को पकड़े रहता है। ये किरणें नीचे की ओर उतरती हैं, परन्तु आती हैं ऊपर ही से। उनसे हमारा जीवन बना रहे।

"(८) राजा वरुण ने सूर्य की परिक्रमा के लिये मार्ग फैला दिया है। उसने मार्ग रहित आकाश में सूर्य के लिये मार्ग बना दिया है। वह हमारे उन शत्रुओं को निन्दित करे जो कि हमारे हृदय को दुखित करते हैं।

"(९) हे राजा वरुण! सैकड़ों, हजारों जड़ी बूटी तेरी हैं। तेरी दया अधिक और विस्तृत हो। हम लोगों से पाप को दूर रख। जो पाप हमने किए हैं उनसे हमारा उद्धार कर।

"(१०) ये सब तारे * जो कि ऊपर स्थित हैं और रात को दिखाई देते है, दिन में कहां चले जाते हैं? वरुण के कार्य अनिवार्य हैं, चन्द्रमा उसी की आज्ञा से शोभायमान होकर चमकता है।" (१, २४)

"(३) हे वरुण! मैं उत्सुक हृदय से तुझसे अपने पापों के विषय में पूछता हूँ। मैं पण्डितों के पास इसकी पूछपाछ के लिये गया हूँ। सब पण्डितों ने मुझसे यही कहा है कि वरुण तुझसे अप्रसन्न हैं।

"(४) हे वरुण! मैंने ऐसा क्या किया है कि जिससे तू अपने मित्र, अपने पूजने वाले को नाश किया चाहता है? हे महाशक्तिमान्, तू मुझे इसका वृत्तान्त कह जिसमें कि मैं तुझे शीघ्र दण्डवत करूँ और तेरी शरण आऊँ।

"(५) हे वरुण! हमलोगों का हमारे पितरों के पापों से उद्धार कर, जो पाप हमलोगों ने स्वयं किये हैं उनसे हमारा उद्धार कर। हे वरुण, वशिष्ट का उद्धार कर जैसे एक बछड़े का रस्सी से और

* यहां पर "रिक्ष" शब्द आया है जिसका अभिप्राय या तो नक्षत्र मात्र से अथवा सप्तर्षि के नक्षत्र से भी हो सकता है। 'रिच' धातु का अर्थ 'चमकना' है। अतएव समय पाकर 'रिक्ष' शब्द का दो अर्थ हो गया अर्थात् एक तो किसी विशेष नक्षत्रपुंज के चमकते हुए तारे और दूसरे एक जानवर जिसकी चमकीली आँखें और चमकने हुए चिकने बाल होते हैं। इन दोनों अर्थों के स्वाभाविक गड़बड़ से स्वयम् वे नक्षत्र ही 'रिक्ष' कहलाने लगे। इस विषय पर मेक्समूलर साहब ने अपनी बनाई Science of Language नामक पुस्तक में बहुत स्पष्टता और पाण्डित्य के साथ विचार किया है। वे कहते हैं कि "बहुतेरे विचारवान पुरुषों ने जो इस बात पर आश्चर्य करते रहे हैं कि इन सातों नक्षत्रों का नाम रिक्ष क्यों रक्खा गया उनका समाधान मनुष्य की पहिले की भाषा पर ध्यान देने से हो जाता है।'

चोर का जिसने एक चुराए हुए जानवर का भोजन किया है उद्धार होता है।

"(६) हे वरुण! ये सब पाप हमने जान बूझ कर नहीं किये हैं। भूल, मद्य, क्रोध, द्यूत, अथवा अविचार से पाप होते हैं। एक बड़ा भाई भी छोटे को कुमार्ग पर लगाता है। स्वप्नों में पाप होता है।

"(७) पाप से मुक्त हो कर दास की भांति मैं उस वरुण की सेवा करूंगा जो हमारे मनोरथों को पूरा करता और हमें सहायता देता है। हम अज्ञ हैं। आर्य देवता हमें ज्ञान दें। बुद्धिमान देवता हमारी प्रार्थना स्वीकार करें और हमें धन दें।" (७,८६)

"(१) हे वरुण राजा, मैं कभी मौमिक गृह में न जाऊं। हे महद्शक्ति, दया कर, दया कर।

"(२) हे शस्त्र सज्जित वरुण, मैं कांपता हुआ आता हूं जैसे वायु के आगे मेघ आता है। हे महद्शक्ति, दया कर, दया कर।

"(३) हे धनी और पवित्र वरुण, दृढ़ता के अभाव से मैं सत् कर्मों से विमुख रहा हूं। हे महद्शक्ति, दया कर, दया कर।

"(४) तेरी पूजा करने वाला पानी में रह कर भी प्यासा रहा है। हे महद्शक्ति, दया कर, दया कर।

"(५) हे वरुण, हम नाशवान हैं। जिस किसी तरह हमने देवताओं के विरुद्ध पाप किया हो, जिस किसी भांति हमने अज्ञान से तेरा काम न किया हो—इन पापों के लिये हमें नष्ट न कर।" (७,८६)

इन तथा और अनेक सूक्तों से विदित होता है कि भारतवर्ष में वरुण की वह पवित्र भावना अपहरण नहीं हो गई जिससे कि उसकी आदि में पूजा की जाती थी। परन्तु फिर भी द्यु की नाईं वरुण का प्रभाव युवा इन्द्र के सामने हट गया। वह इन्द्र विशेषतः भारतवर्ष ही का देवता है, अन्य आर्य जातियों में इस देवता का पता नहीं चलता।

इन्द्र के विषय की एक बड़ी प्रसिद्ध कथा, जो कि आर्य संसार में कदाचित सबसे अधिक प्रसिद्ध है, वृष्टि करने के सम्बन्ध की

है। वे काले घने बादल जिन्हें मनुष्य उत्कण्ठा से देखते है परन्तु जो उन्हें अकाल में बहुधा निराश करते हैं, उन्हें "वृत्र" का प्राचीन नाम दिया गया है।

ऐसी कल्पना की जाती है कि वृत्र जल को रोक लेता है और नीचे नहीं आने देता जब तक कि आकाश वा वृष्टि का देवता इन्द्र इस दुष्ट को अपने वज्र से न मारे। तब यह रुका हुआ जल अनेक धाराओं में नीचे आता है। नदियां शीघ्रही बढ़ने लगती हैं और मनुष्य और देवता लोग प्रकृति की इस बदली हुई आकृति से प्रसन्न होते हैं। ऋग्वेद में बहुत से उत्तेजित सूक्त हैं जिनमें इस युद्ध का वर्णन बड़ी प्रसन्नता और हर्ष के साथ किया गया है। इस युद्ध में आंधी के देवता मरुत्स इन्द्र की सहायता करते हैं और गरजने के शब्द से पृथ्वी और आकाश कांपने लगते हैं। वृत्र बहुत देर तक युद्ध करता है और तब गिर कर मर जाता है, अकाल का अन्त हो जाता है और वृष्टि प्रारम्भ हो जाती है।

हम कह आये हैं कि इन्द्र विशेषतः भारतवर्ष ही का देवता है और अन्य आर्य जातियां इसे नहीं जानतीं। परन्तु ऊपर की कथा और वृत्र का नाम भिन्न भिन्न आर्य जातियों में भिन्न भिन्न रूप से पाया जाता है। वृत्रघ्न अथवा वृत्र का मारने वाला, जन्दवस्ता में 'वेरथ्रघ्न' के नाम से पूजा गया है और इसी पुस्तक में अहि (जो कि वेद में वृत्र का दूसरा नाम है) के नाश होने का भी वृत्तान्त दिया है। अहि का मारने वाला थ्रेयतन है। प्रसिद्ध फ़रासीसी विद्वान बर्नाफ ने अपनी बुद्धि से इस बात का पता लगाया है कि यह थ्रेयतन फ़िर्दौसी के शाहनामे का 'फरुदीन' है। कदाचित् पाठकों को यह जान कर और भी आश्चर्य होगा कि विद्वानों ने वेद और जन्दवस्ता के इस अहि का पता यूनानी पुराण के 'एचिस' और 'एशिडना' नामक परवाले सांप में पाया है। एशिडना की सन्तान ओरथ्रोस (Orthros) में उन लोगों ने हमारे वृत्र अथवा मेघ को पहिचान लिया है और इसलिये ओथ्रोस का मारनेवाला हर्क्युलीज़ जन्दवस्ता के थ्रेयतन अथवा ऋग्वेद के इन्द्र का समगुणापन्न है।

इन कथाओं का बढ़ाना बहुत सहज होगा परन्तु स्थानाभाव से हम ऐसा नहीं कर सकते। इसलिये हम यहां एक और कथा का, अर्थात् रात्रि के अन्धकार के पीछे इन्द्र द्वारा पूरे प्रकाश के आने की कथा का साधारणतः उल्लेख करेंगे। प्रकाश की किरणों की उन पशुओं से समानता की गई है जिन्हें अन्धकार की प्रबलता ने चुरा लिया है और जिनकी खोज इन्द्र (आकाश) व्यर्थ कर रहा है। वह सरमा अर्थात् प्रभात को उनकी खोज के लिये भेजता है और सरमा उस बिलु अर्थात् किले को पा लेती है जिसमें कि पनिस अर्थात् अन्धकार की प्रबलता ने पशुओं को चुरा रक्खा है। पनिस सरमा को ललचाता है लेकिन उसका ललचाना सब व्यर्थ हुआ। सरमा इन्द्र के पास लौट कर आई, इन्द्र ने अपनी सेना सहित कूच किया और उस किले को नष्ट करके वह पशुओं को ले आया—अन्धकार दूर होगया और अब प्रकाश होगया। यह एक प्रसिद्ध वैदिक कथा है और इन्द्र के सूक्तों में इसके बराबर उल्लेख आए हैं।

प्रोफ़ेसर मेक्समूलर इस बात का समर्थन करते हैं कि ट्राय का युद्ध इसी सीधी सादी वैदिक कथा को बढ़ा कर लिखा गया है और यह केवल उसी युद्ध की पुनरुक्ति है जो नित्यप्रति पूर्व दिशा में सूर्य द्वारा हुआ करती है जिसका कि अति दीप्तिमान धन प्रति दिन सन्ध्या को पश्चिम दिशा में छीन लिया जाता है। उक्त प्रोफ़ेसर साहब के अनुसार इलिअम (Ilium) ऋग्वेद का बिलु अर्थात् किला अथवा गुफा है, पेरिस (Paris) वेद का पनिस है जो कि ललचाता है और हेलेना (Helena) वेद की सरमा है जो कि वेद में लालच को रोकती है परन्तु यूनानी पुराण में लालच में आ जाती है।

हम यह नहीं कह सकते कि मेक्समूलर ने अपने सिद्धान्त को प्रमाणित कर दिया है परन्तु ट्राय के ऐतिहासिक मुहासारे का होना इस बात का खण्डन नहीं करता, क्यों कि प्राचीन समय के इतिहास में पौराणिक नामों और घटनाओं को बहुत करके ऐतिहासिक घटनाओं से मिला देते थे। कुरु और पाञ्चालों के ऐति-

हासिक युद्ध का नायक अर्जुन कल्पित है और यह वृष्टि के देवता इन्द्र का दूसरा नाम है। अतएव यह असम्भव नहीं है कि जिस कवि ने ट्राय के ऐतिहासिक युद्ध का वर्णन किया है उसने इसकी घटनाओं और नामों में सौर्य कथाओं को मिला दिया हो। अब हम इन कथाओं को स्पष्ट दिखाने के लिये ऋग्वेद से कुछ थोड़े से वाक्य उद्धृत करेंगे—

"(१) हम उन वीरोचित कार्यों का वर्णन करेंगे जिन्हें कि वज्र धारण करने वाले इन्द्र ने किया है। उसने अहि का नाश किया और पानी बरसाया और पहाड़ी नदियों के बहने का मार्ग खोल दिया।

"(२) इन्द्र ने पहाड़ों पर विश्राम करते हुए अहि को मार डाला, त्वष्टि ने उसके लिये दूर तक पहुंचने वाले वज्र को बनाया था। पानी की धाराएं समुद्र की ओर इस भांति बहने लगीं जैसे गाय उत्सुक हो कर अपने बछवों की ओर दौड़ती हैं।

"(३) सांड़ की नाईं कुपित होकर इन्द्र सोम रस को पी गया। उसको तीनों यज्ञों में जो द्रव पदार्थ चढ़ाए गए उन्हें उसने पिया। तब उसने वह वज्र लिया और उससे सबसे बड़े अहि को मार डाला।

"(४) जब तुमने सबसे बड़े अहि को मारा उस समय तुमने चतुर उपाय रचने वालों की युक्तियों का नाश कर दिया। तुमने धूप, प्रभात तथा आकाश को साफ कर दिया और किसी शत्रु को छोड़ नहीं रक्खा।

"(५) इन्द्र ने अपने सर्वनाशी वज्र से अन्धकार करने वाले वृत्र (बादल) को मार डाला और उसके हाथ पैर काट डाले। अहि अब पृथ्वी पर इस तरह से पड़ा है जैसे कोई कुठार से गिराए हुए पेड़ का धड़।

"(६) घमण्डी वृत्र ने समझा कि हमारी बराबरी का कोई नहीं है और उसने नाश करने वाले तथा विजयी इन्द्र को युद्ध के लिये ललकारा। परन्तु वह मृत्यु से नहीं बचा और यह इन्द्र का शत्रु गिरा और उसके गिरने से नदियां नष्ट हो गईं।

"(८) प्रसन्नचित्त पानी उसके पड़े हुए शरीर के ऊपर से कूदता हुआ इस भांति बह रहा है जैसे गिरे हुए तटों के ऊपर से नदियां बहती हों। वृत्र जब जीवित था तो उसने अपने बल से पानी को रोक रक्खा था। अहि अब उसी पानी के नीचे पड़ा हुआ है।

"(९) उसका शरीर निरन्तर बहते हुए चंचल पानी के नीचे अज्ञात छिपा पड़ा है और पानी उसके ऊपर बहता है। यह इन्द्र का शत्रु अब चिरकाल के लिये सो रहा है।" (१,३२)

ऊपर का सूक्त वृत्र की कथा के सम्बन्ध का है। अब हम एक दूसरा सूक्त उद्धृत करते हैं जो कि सरमा से सम्बन्ध रखता है—

(१) पनिस कहता है—"हे सरमा! तू यहां क्यों आई है? यह स्थान बहुत दूर है। जो पीछे की ओर देखेगा वह इस मार्ग से नहीं आ सकता। हम लोगों के पास क्या है कि जिसके लिये तू आई है? तू ने कितनी दूर यात्रा की है? तू ने रसा नदी को कैसे पार किया?।

(२) सरमा उत्तर देती है—"मैं इन्द्र की भेजी हुई हूँ। हे पनिस! तुमने जो बहुत से पशुओं को छिपा रक्खा है उनको प्राप्त करनाही मेरा उद्देश्य है। जल ने मेरी सहायता की है मेरे पार होने पर जल ने भय माना और इस प्रकार मैं रसा को पार करके आई।"

(३) पनिस—"वह इन्द्र किसके समान है जिसकी भेजी हुई तू इतनी दूर से आती है? वह किसके समान देख पड़ता है? (वे परस्पर कहते हैं –) इसको आने दो, हमलोग इसे मित्र भाव से स्वीकार करेंगे। इसको हमारी गायें लेलेने दो।"

(४) सरमा—"मैं किसी को ऐसा नहीं देखती जो उस इन्द्र को जीत सके जिसकी भेजी हुई मैं बहुत दूर से आती हूं। वही सबको जीतने वाला है। बड़ी बड़ी नदियां उसके मार्ग को नहीं रोक सकतीं। हे पनिस! तुम निस्सन्देह इन्द्र से मारे जाकर नीचे गिरोगे।"

(५) पनिस—"हे सुन्दर सरमा! तुम आकाश के सब से दूर के ओर से आई हो। हम तुम्हारी इच्छा के अनुसार तुम्हें यह सब गाय बिना झगड़ा किए हुए देदेंगे। दूसरा और कौन इन गायों को बिना झगड़ा किए हुए देदेता? हमलोगों के पास बहुत से चोखे हथियार हैं।

(६) पनिस—"हे सरमा! तुमको उस देवता ने धमका कर भेजा है इसलिये तुम यहां आई हो। हमलोग तुमको अपनी बहिन की नाई स्वीकार करेंगे। तुम लौट कर मत जाओ। हे सुन्दर सरमा, हम तुमको इन पशुओं में से एक भाग देंगे।"

(१०) सरमा—"मेरी समझ में नहीं आता कि तुम कैसा भाई और बहिन कहते हो। इन्द्र और अङ्गिरस के प्रबल पुत्र यह सब जानते हैं। जब तक ये पशु न प्राप्त हो जांय तब तक उन पर दृष्टि रखने के लिये उन्होंने मुझको भेजा है। मैं उन्हीं की रक्षा के लिये यहां आई हूं। हे पनिस! यहां से दूर, बहुत दूर भाग जाओ।"(१०,१०८)

जो थोड़े से वाक्य ऊपर उद्धृत किए गए हैं उनसे जान पड़ेगा कि इन्द्र के सूक्तों में बल और शक्ति की विशेषता पाई जाती है, जैसा कि वरुण के सूक्तों में सदाचार के भावों की विशेषता है। सच पूछिए तो इन्द्र वैदिक देवताओं में सब से प्रबल है जो कि सोम मदिरा का अनुरागी, युद्ध में प्रसन्नता प्राप्त करने वाला, अपने साथी मरुत्सों का नायक बन कर अनावृष्टि से लड़ने वाला, काले आदिवासियों से लड़ने वाले आर्य लोगों के दलों का नेता और पंजाब की पांचो नदियों के तट पर सब से उपजाऊ भूमियों को खोदने में उनका सहायक है। पृथ्वी और आकाश ने उसे शत्रुओं को दण्ड देने के लिये उत्पन्न किया है (३,४९,१)। यह बलवान बच्चा जब अपनी माता अदिति के पास आहार के लिये गया तो उसने उसकी छाती पर सोम का रस देखा और अपनी माता का दूध पीने के पहिले उसने सोम का ही पान किया (३,४८,२ और ३)। और यह बड़ा पान करने वाला तथा लड़ने वाला बहुधा इस विचार में पड़ जाता है कि वह यज्ञ में जाय जहां कि सोम रस उसे चढ़ाया

जाता है, अथवा घर पर रहे जहां कि एक सुन्दर पत्नी उसके निकट रहती है। (३,५३,४-६)

हमने यहां तक द्यु, वरुण, मित्र और इन्द्र का ऋग्वेद के मुख्य मुख्य आकाश के देवताओं की नांई वर्णन किया है। परन्तु ये सब देवता प्रकाश के देवता भी समझे जा सकते हैं, क्योंकि इन सब देवताओं की (कहीं कहीं पर वरुण की भी) कल्पना में आकाश के उज्वल प्रकाश का ध्यान आता है। परन्तु अब हम कुछ ऐसे देवताओं का वर्णन करेंगे जो साफ साफ सौर्य गुण सम्पन्न हैं और जिनमें से कुछ आदित्य (अर्थात् अदिति के पुत्र) के साधारण नाम से पुकारे जाते हैं। यह नाम ऋग्वेद की कथाओं में बड़ा अद्भुत है। इन्द्र शब्द इन्द् से निकला है जिसका अर्थ वृष्टि होना है और द्यु शब्द का अर्थ चमकना है, परन्तु 'अदिति' शब्द इन दोनों हीं से अधिक मिश्रित विचार रखता है। अदिति का अर्थ अभिन्न, अपरिमित और अनन्त है। यह कहा जा चुका है कि वास्तव में यह पहिला नाम है जिसे कि मनुष्य ने अनन्त को,—अर्थात् दृश्यमान अनन्त, वा उस अनन्त विस्तार को जो कि पृथ्वी, मेघ और आकाश से भी परे है—प्रगट करने के लिये गढ़ा था। यह बात देवता की कल्पना में पाई जाती है। इसीसे प्रगट होता है कि प्राचीन हिन्दुओं की सभ्यता और उनके विचारों में बहुत ही अधिक उन्नति हुई थी। दूसरी आर्य जातियों के देवताओं में ऐसा शब्द नहीं पाया जाता और यह अवश्य आर्यो के इस देश में बस जाने के उपरान्त गढ़ा गया होगा। जर्मनी के प्रसिद्ध डाक्टर राथ के अनुसार इस शब्द का अर्थ अनादि और अनिवार्य सिद्धान्त अर्थात् ईश्वरी प्रकाश है।

ऋग्वेद में यह बात बहुत ही स्पष्ट है कि इस ईश्वरी प्रकाश के पुत्र, आदित्य लोग कौन हैं। म० २ सू० २७ में वरुण और मित्र के सिवाय जिनका कि उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, अर्यमन, भग, दक्ष और अंस का नाम दिया है। मं० ६ सू० ११४ तथा मं० १० सू० ७२ में आदित्यों की संख्या ७ कही गई है परन्तु उनका नाम नहीं लिखा गया। हम देख चुके हैं कि इन्द्र अदिति का एक

पुत्र कहा गया है। सवितृ अर्थात् सूर्य भी बहुधा आदित्य कहा गया है और इसी भांति पूषण और विष्णु भी, जो कि सूर्य के दूसरे नाम हैं। आगे चल कर जब वर्ष १२ महीनों में बांटा गया तो आदित्यों की संख्या १२ स्थिर की गई और वे बारहो महीने के सूर्य हुए।

ऋग्वेद में 'सूर्य' और 'सवितृ' ये दोनों सूर्य के नाम बहुत ही प्रसिद्ध हैं। इनमें से पहिला नाम ठीक वही काम देता है जो कि ग्रीक हेलिओस (Helios), लेटिन सोल (Sol) और ईरानी खुरशेद (Khorshed)। भाष्यकारों ने सवितृ और सूर्य में यह भेद किया है कि सवितृ ऊगते हुए अथवा बिना ऊगे हुए सूर्य को कहा है और सूर्य ऊगे हुए प्रकाशित सूर्य को कहा है। सूर्य की सोनहली किरणों का दृष्टान्त स्वभावतः ही हाथों से दिया गया है यहां तक कि हिन्दुओं के पुराणों में यह कथा भी हो गई है कि सवितृ का हाथ एक यज्ञ में जाता रहा और उसके स्थान पर उसको एक सोनहला हाथ लगाया गया। यही कथा जर्मन देश के पुराणों में भी दूसरे रूप में पाई जाती है जिसमें यह वर्णन है कि सूर्य देवता अपना हाथ एक बाघ के मुँह में रख कर हस्तरहित हो गया।

अब हम सूर्य के विषय का जो एक मात्र सूक्त उद्धृत करते हैं वह ऋग्वेद के सूक्तों में सब से अधिक प्रसिद्ध, अर्थात गायत्री वा उत्तरकाल के ब्राह्मणों का सबेरे के समय का सूक्त है। परन्तु ऋग्वेद में ब्राह्मण लोग नहीं माने गए हैं, उस समय जाति भेद ही नहीं हुआ था और यह उत्कृष्ट सूक्त उन प्राचीन हिन्दुओं की जातीय सम्पत्ति थी जो कि सिन्ध के तटों पर रहते थे। हम मूल सूक्त को तथा डाक्टर विलसन के अनुसार उसके अनुवाद को नीचे देते हैं—

"तत्सवितुर्वरेण्यम्भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्"

"हम लोग उस दिव्य सवितृ के मनोहर प्रकाश का ध्यान करते हैं जो हम लोगों को पवित्र कर्मों में प्रवृत्त करता है।" (३,६२,१०

पूषन उन गोपों का सूर्य है जो नए नए चरागाहों की खोज में घूमा करते थे। वह बकरों से जुते हुए रथों पर चढ़ कर चलता है, मनुष्यों और पशुओं की यात्रा अथवा भ्रमण में उनको मार्ग दिखाता है, और पशुओं के झुंडों को जानता है तथा उनकी रक्षा करता है। अतएव पूषन के सूक्तों में बहुधा बड़ी सरलता पाई जाती है। ऐसे कुछ सूक्तों का अनुवाद पहिले दिया जा चुका है।

विष्णु ने आज कल के हिन्दू धर्म में सर्वोच्च देवता होने के कारण ऐसा प्रधान स्थान पा लिया है कि आज कल के कट्टर हिन्दू उसे उसके वैदिक रूप में अर्थात् केवल एक सूर्य देवता की नाईं स्वीकार करने में स्वभावतः हिचकते हैं। परन्तु ऋग्वेद में वह ऐसा ही है और वैदिक देवताओं में वह बहुत ही तुच्छ देवता है, जिसका पद इन्द्र वा वरुण, सवितृ अथवा अग्नि से कहीं नीचा है। पौराणिक समय में अर्थात् ईसा के बहुत पीछे आकर विष्णु परमात्मा समझा जाने लगा, इसके पीछे वह ऐसा नहीं समझा जाता था। वेद में लिखा है कि विष्णु तीन पद में अर्थात् उगते हुए, शिरोबिन्दु पर तथा अस्त होते हुए आकाश को पार कर देता है। पुराणों में इस सादे रूपक की एक बड़ी लम्बी चौड़ी कथा बना डाली गई है।

सब पुरानी जातियों में अग्नि एक पूजने की वस्तु थी परन्तु भारतवर्ष मे होमाग्नि सब से अधिक सत्कार की दृष्टि से देखी जाती थी। अग्नि के बिना कोई होम किया ही नहीं जा सकता था अतएव अग्नि देवताओं का आवाहन करने वाली कही जाती थी। वह 'यविष्ठ' अर्थात् देवताओं में सब से छोटी भी कही जाती थी क्यों कि हर बार होम के समय वह अरनी को रगड़ कर नए सिरे से उत्पन्न की जाती थी। इसी कारण से वह 'प्रमन्थ' अर्थात् रगड़ से उत्पन्न होने वाली भी कही गई है। *

* कोक्स साहब का मत है कि बहुत से ग्रीक और लेटिन देवताओं की उत्पत्ति अग्नि के संस्कृत नामों से हुई है। "अग्नि का जो 'यविष्ठ' नाम है वह किसी वैदिक देवता को नहीं दिया

ऋग्वेद के देवताओं में अग्नि का इतना बड़ा सत्कार है कि जब प्राचीन भाष्यकार यास्क ने वैदिक देवताओं की संख्या कम करके उनकी संख्या ३३ कर देने का यत्न किया तो उसने अग्नि को पृथ्वी का देवता रक्खा, इन्द्र अथवा वायु को अन्तरिक्ष का देवता, और सूर्य को आकाश का देवता रक्खा।

परन्तु ऋग्वेद में अग्नि केवल इस पृथ्वी ही पर की अग्नि नहीं है वरन् वह बिजली तथा सूर्य में की आग भी है और उस का निवास स्थान अदृश्य स्वर्ग में है। भृगु ऋषियों ने उसे वहां पाया, मातरिश्वन उसे नीचे ले आए और अथर्वन तथा अङ्गिरा लोगों ने जो कि सब से प्रथम यज्ञ करने वाले थे उसे इस पृथ्वी पर मनुष्यों के रक्षक की भांति स्थापित किया।

वायु ने वैदिक कवीश्वरों से कम सम्मान पाया है और उसके सम्बन्ध में बहुत थोड़े सूक्त पाए जाते हैं परन्तु हम देख चुके हैं कि मरुत्स अर्थात् आंधी के देवताओं को बहुधा आवाहन किया गया है जिस का कारण सम्भवतः यह है कि वे अधिक भय उत्पन्न करते थे और यह ख्याल किया जाता है कि रुष्ट मेत्रों से वृष्टि प्राप्त करने में वे इन्द्र के साथी होते थे। जब वे अपने हरिण जुते हुए रथ पर सवार होकर चलते थे तो पृथ्वी कांपने लगती थी

गया परन्तु इस नाम को हम Hllenic Hesphaistos में पाते हैं। नोट—इस प्रकार से 'अग्नि' को छोड़ कर आग वा आग के देवताओं के और सब नामों को पश्चिम के आर्य लोग भी अपने साथ ले गए। हम लोग 'प्रमन्थ' को 'प्रोमिथिअस' के रूप में, 'भरण्यु' को 'फोरोनस' के रूप में और संस्कृत के 'उल्का' को लैटिन में 'वल्कैनस' के रूप में पाते हैं।" Cox's Mythology of Aryan nations.

"आग का देवता 'अग्नि' लैटिन में इग्निस् (Ignis) और साल्वोनियन लोगों में ओग्नि (Ogni) के रूप में पाया जाता है"

Muir's Sanskrit Texts.

और मनुष्य उनके शस्त्रों तथा उनके आभूषणों की चमक को बिजली के रूप में देखते थे परन्तु यह सब होने पर भी वे परोपकारी थे और मनुष्यों के हित के लिये अपनी माता पृश्नि (बादलों) के स्तन से बहुत सी वृष्टि दूहते थे।

रुद्र, जो कि एक भयानक देवता है, मरुतों का पिता है, वह बड़ा कोलाहल करनेवाला है जैसा कि उसके नाम ही से प्रगट होता है, और यास्क और सायन भाष्यकारों ने उसका रूप अग्नि बतलाया है। अतएव डाक्टर राथ के इस कथन में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि इस जोर से शब्द करनेवाली अग्नि का, आंधियों के इस देवता का असल अर्थ बिजली से है। ऋग्वेद में विष्णु की नाईं रुद्र भी एक छोटा सा देवता है और उसके सम्बन्ध में केवल बहुत थोड़े से सूक्त पाए जाते हैं। विष्णु ही की नाईं रुद्र ने भी उत्तरकाल में विख्याति प्राप्त की है और वह पुराणों की त्रिमूर्ति में से एक है, अर्थात् परमेश्वर का एक अंश है। कुछ उपनिषदों में काली, करालो, इत्यादि नाम अग्नि की भिन्न भिन्न प्रकार की लपटों के लिये आया है और श्वेत यजुस्संहिता में 'अम्बिका' रुद्र की बहिन कही गई है। परन्तु पुराणों में जब रुद्र ने अधिक स्पष्टता प्राप्त की तो ये सब नाम उसकी पत्नी के भिन्न भिन्न नाम कर दिए गए! अब हमको केवल इतना ही कहना है कि इनमें से किसी देवी का अथवा लक्ष्मी का (जो कि पौराणिक विष्णु की पत्नी है) नाम तक भी ऋग्वेद में नहीं है।

दूसरा देवता जिसका चरित्र पुराणों में बदल गया है 'यम' अर्थात् मृतकों का देवता है। पुराणों में वह सूर्य का पुत्र कहा गया है और इस बात के विचारने के कुछ कारण हैं (जिन्हें प्रोफ़ेसर मेक्समूलर अपने स्वाभाविक फ़साहत से वर्णन करते हैं) कि ऋग्वेद में यम की आदि कल्पना अस्त होते हुए सूर्य से की गई है। सूर्य उसी तरह अस्त हो कर लोप हो जाता है जैसे कि मनुष्य के जीवन का अन्त हो जाता है। किसी सीधी सादी जाति का विचार सहज ही में एक भविष्यत लोक में विश्वास करने लगेगा

जहां कि यह देवता मरे हुए प्राणियों की आत्माओं पर अधिष्ठान करता है।

ऋग्वेद के अनुसार विवस्वत अर्थात् आकाश यम का पिता है, सरण्यु अर्थात् प्रभात उसकी माता, और यमी उसकी बहिन है।

आकाश और प्रभत का पुत्र सिवाय सूर्य अथवा दिन के और कौन हो सकता है? यम और यमी की आदि कल्पना दिन और रात से है, इस विचार का विरोध करना कठिन है। ऋग्वेद में एक अद्भुत वर्णन है जिसमें कि कामी बहिन यमी, यम से अपने पति की नाईं आलिंगन किया चाहती है परन्तु उसका भाई ऐसे अपवित्र समागम को स्वीकार नहीं करता। इस बात के तात्पर्य को समझ लेना बहुत कठिन नहीं है। दिन और रात यद्यपि सदा एक दूसरे का पीछा किया करते हैं परन्तु उनका परस्पर समागम नहीं हो सकता।

परन्तु यम की असिल कल्पना चाहे जो कुछ हो, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऋग्वेद में भी इस देवता ने एक अलग रूप प्राप्त करलिया है अर्थात् उसमें वह मृतकों का राजा है। यहां तक तो उसका वैदिक चरित्र उसके पौराणिक चरित्र से मिलता है परन्तु इसके आगे इस समानता का अन्त हो जाता है। वेद में वह उस सुखी लोक का परोपकारी राजा है जहां कि पुण्यात्मा लोग मृत्यु के उपरान्त रहते और सुख भोगते हैं। तेजवान शरीर धारण करके वे लोग प्रकाश तथा चमकीले पानियों के प्रदेश में यम के अगल बगल बैठते हैं, यहां अनन्त सुख भोगते हैं और यहां इस पृथ्वी पर उनकी पूजा 'पितरों' के नाम से की जाती है। परन्तु पुराण में यम का जो वर्णन पापियों के निष्ठुर और भयानक दण्ड देनेवाले की नाईं किया गया है वह वेद से कितना विपरीत है!

"(१) विवस्वत के पुत्र यम की पूजा भोगादि सहित करो। सब लोग उसीके पास जाते हैं। जिन लोगों ने पुण्य किया है उन्हें वह सुख के देश में ले जाता है। वह बहुतों के लिये मार्ग कर देता है।

"(२) यम ही ने पहिले पहिल हम लोगों के लिये मार्ग खोजा। यह मार्ग अब नष्ट नहीं होगा। सब जीवधारी लोग अपने कर्म के अनुसार उसी मार्ग से जायंगे जिससे कि हमारे पितर लोग गए हैं।" (१०, १४)

हम यहां पर सोम के विषय का भी एक सूक्त उद्धृत करेंगे जिसमें कि परलोक का इससे अधिक वर्णन दिया है। यह बात तो भली भांति विदित है कि सोम एक पौधे का रस था और वह यज्ञों में तर्पण के काम में आता था। सोम ने शीघ्रही देवता का पद प्राप्त कर लिया और नवें मण्डल के सब सूक्त उसी की स्तुति और प्रशंसा में बनाए गए हैं।

"(७) हे बहते हुए सोम! मुझे उस अमर और नाश न होने वाली भूमि में ले चलो जहां सदा प्रकाश वर्तमान रहता है और जो स्वर्ग में है। हे सोम! इन्द्र के लिये बहो।

"(८) मुझे वहां ले चलो जहां का राजा यम है, जहां स्वर्ग के फाटक हैं और जहां बड़ी बड़ी नदियां बहती हैं। मुझे वहां ले चल कर अमर बना दो। हे सोम! इन्द्र के लिये बहो।

"(९) मुझे वहां ले चलो जहां कि तीसरा स्वर्ग है,जहां आकाश के ऊपर प्रकाश का तीसरा लोक है और जहां मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार घूम सकते हैं। मुझे वहां ले चलो और अमर बना दो। हे सोम! तुम इन्द्र के लिये बहो।

"(१०) मुझे वहां ले चलो जहां कि सब इच्छाएं तृप्त हो जाती हैं, जहां प्रध्न का निवासस्थान है और जहां भोजन और सन्तोष है। मुझे वहां लेचलकर अमर बना दो। हे सोम! तुम इन्द्र के लिये बहो।

"(११) मुझे वहां लेचलो जहां कि सुख, हर्ष और सन्तोष है जहां उत्सुक हृदय की सब इच्छाएं तृप्त होजाती हैं। मुझे वहां ले-चलो और अमर बनाओ। हे सोम! तुम इन्द्र के लिये बहो।" (९,११३)।

हम ऊपर कह चुके हैं कि विवस्वत अर्थात् आकाश और सरण्यु अर्थात् प्रभात से यम और यमी ये दो सन्तान हुए। लेकिन यह एक अपूर्व बात है कि उन्हीं दोनों माता पिता से और एक यमज अर्थात् दोनों अश्विन हुए। इसमें संदेह नहीं हो सकता कि यम और यमी की नाईं इन दोनों की भी असिल कल्पना दिन और रात से अथवा प्रभात और सन्ध्या से हुई है।

परन्तु अश्विनों की असिल कल्पना चाहे जो कुछ हो पर ऋग्वेद में हम उन्हें बड़े भारी वैद्य पाते हैं जो कि रोगियों और घायलों की औषधि करनेवाले और बहुतों का बड़ी मेहरबानी के साथ उपचार करनेवाले वर्णन किए गए हैं। दोनों अश्विनों के बहुत से दयालु कार्यों का कई सूक्तों में वर्णन किया गया है और उन्हीं चिकित्साओं का बार बार उल्लेख है। ये दोनों अश्विन अपने तीन पहिये वाले रथ पर सवार होकर पृथ्वी की परिक्रमा प्रति दिन करते हैं और दुखी लोगों का उपकार करते हैं।

बृहस्पति अथवा ब्रह्मनस्पति सूक्तों के स्वामी हैं क्योंकि ऋग्वेद में ब्रह्मन का अर्थ सूक्त से है। इस देवता की कल्पना की उत्पत्ति उसी तरह हुई जिस तरह कि अग्नि और सोम देवताओं की कल्पना की उत्पत्ति हुई। जिस प्रकार से अग्नि और यज्ञ के हवन में शक्ति है उसी प्रकार स्तुति के सूक्तों में भी शक्ति है और स्तुति की इस शक्ति का रूप वैदिक देवता ब्रह्मनस्पति में कर दिया गया है।

ऋग्वेद में वह बिलकुल छोटा सा देवता है परन्तु उसका भविष्यत बहुत ऊंचा है क्योंकि कई शताब्दियों के पीछे उपनिषदों के तत्वज्ञों ने एक सर्वव्यापक परमात्मा की कल्पना की और उस को वैदिक नाम "ब्रह्मन" दिया। उसके उपरान्त जब देश में बौद्धमत फैला तब बौद्धमतवालों ने अपने देवताओं में 'ब्रह्मा' को एक कोमल और उपकारी देवता की नाईं रक्खा। और फिर जब पौराणिक हिन्दूधर्म ने भारतवर्ष में बौद्ध मत को दबा दिया तो पौराणिक काल के तत्त्वज्ञों ने सारे विश्व के रचने वाले को 'ब्रह्मा' का नाम दिया। इस प्रकार से अपनी जातीय पुस्तकों की

सब से पुरानी बातों के देखने से हमको पुराणों की उन चटकीली भड़कीली कथाओं की उत्पत्ति के सीधे सादे कारण मालूम होते हैं जिन्होंने कि एक हजार वर्ष से ऊपर हुए कि हमारे करोड़ों देश भाइयों और देश भगिनियों के विश्वास और आचरण पर अपना प्रभुत्व जमाया है। यह कार्य इसी तरह का है जैसा कि हमारे भारतवर्ष की किसी ऐसी नदी के सोते का पता लगाना है जो कि अपने मुहाने के निकट कई मील तक फैली हुई हो परन्तु जो अपने सोते के पास केवल एक छोटी सी परन्तु साफ़ और चमकीली धारा से अनादि पहाड़ों से निकल रही हो ! काल पाकर विचार भी उसी तरह बढ़ कर परिपक्व होजाते हैं जैसे कि नदियां अपने मार्ग में नया पानी पाकर बढ़ती जाती हैं यहां तक कि वे अपने पहिले रूप को बिलकुल ही खो देती हैं यद्यपि उनका नाम वही रहता है । हम वैदिक ब्रह्मन। वैदिक विष्णु। वैदिक सूर्य और वैदिक रुद्र को पुराण के बिश्वकर्ता, पालक और संहारक के रूप में उसी भांति नहीं पहिचान सकते जैसे कि हम हरिद्वार की चमकीली छोटी धारा को गङ्गा के उस समुद्रवत फैलाव में नहीं पहिचान सकते जो कि उसके बङ्गाल की खाड़ी में मिलने के स्थान पर है।

ये ऋग्वेद के मुख्य देवता हैं। देवियों मे केवल दो हैं जिन्होंने कि कुछ स्पष्ट रूप पाया था अर्थात् उषस् वा प्रभात, और सरस्वती जो कि इस नाम की नदी थी परन्तु पीछे से वाग्देवी हुई।

ऋग्वेद में प्रभात से सुन्दर और कोई कल्पना नहीं है। प्रभात के सम्बन्ध में जो सूक्त हैं उनसे अधिक वास्तविक कवितामय सूक्त वेद भर में कोई नहीं है और किसी प्राचीन जाति के सांगीत काव्य में इससे अधिक मनोहर कोई वस्तु नहीं पाई जाती। यहां पर हम इस सम्बन्ध के केवल कुछ सूक्त उद्धृत करसकते हैं ।

"(२०) हे अमर उषस् ! तू हमारी प्राथना की अनुरागिनी है। तुझे कौन जानता है ! हे तेजस्वनी, तू किसपर दयालु है ?

"(२१) हे दूर तक फैली हुई नाना रंगों की चमकीली उषस् !

हम लोग तेरा निवास स्थान नहीं जानते, चाहे वह निकट हो या दूर।

"(२२) हे आकाश की पुत्री ! इन भेंटों को स्वीकार कर और हमारे सुखों को चिरस्थायी कर।" (१,३०)

"(७) आकाश की वह पुत्री जो युवती है, स्वेत वस्त्र धारण किए है और सारे सांसारिक खजाने की मालिक है, वह अन्धकार को दूर करके हम लोगों को प्रकाश देती है। हे शुभ उषस् ! इस स्थान पर हम लोगों पर प्रकाश कर।

"(८) जिस मार्ग से बहुतेरे प्रभात बीत गए हैं और जिस मार्ग से अनन्त प्रभात आने वाले हैं उसी मार्ग से चलती हुई तेजस्विनी उषस् अन्धकार को दूर करती है और जो लोग मृतकों की नाईं नींद में बेखबर पड़े हैं उन सब को जीवित कर के जगाती है।

"(१०) कितने दिनों से बराबर प्रभात होता रहा है और कितने दिनों तक वह बराबर होता रहेगा ? आज का प्रभात उन सब का पीछा करता है जो कि बीत गए हैं, आगामी प्रभात आज के चमकीले उषस का पीछा करेगा।

"(११) जिन प्राणियों ने प्राचीन उषस् को देखा था वे अब नहीं हैं, हम लोग उसे इस समय देखते हैं और हमारे उपरान्त भी लोग होंगे जो कि भविष्यत में उसे देखेंगे।" (२,११३)

"(४) अहना धीरे से सब के घर में प्रवेश करती है। वह फैलने वाली प्रभा आती है और हम लोगों को आशीर्वाद दे कर हमरी भेंट स्वीकार करती है।

"(११) अपनी माता के द्वारा सिंगारी हुई दुलहिन की नाईं शोभायमान हो कर तू अपना शरीर प्रगट करती है ! हे शुभ उषस् ! इस आच्छादित अन्धकार को दूर कर; तेरे सिवाय और कोई इसे छिन्न भिन्न नहीं कर सकता।" (१,१२३)

प्रभात बहुत से नामों से विख्यात था और इनमें से बहुत से नाम तथा उनके सम्बन्ध की कथाओं को हिन्दू लोग अपने आदि

निवास से ले आए थे क्योंकि इन नामों के सामानार्थवाची शब्द तथा इनमें से बहुत सी कथाओं की पुनरुक्ति भी यूनानी पुराण में पाई जाती हैं। उषस को हम यूनानी भाषा में इओस (Eos) और लेटिन भाषा में अरोरा (Aurora) के नाम से पाते हैं। भाषातत्ववेत्ताओं के अनुसार अर्जुनी वही है जो कि यूनानी आर्जिनोरिस् (Argynoris), बृसया, यूनानी ब्रिसेइस (Briseis) और दहना यूनानी दफ्ने (Daphne) है। सरमा, ध्वनि के अनुसार वही है जो कि यूनानी लोगों की हेलेना (Helena) । यम और अश्विनी की माता सरण्यु यूनानी में एरिनिस् (Erinys) है, और अहना प्रसिद्ध देवी एथिना (Athena) है।

हम सरण्यु की कथा का उल्लेख ऊपर ही कर चुके हैं कि वह अपने पति विवस्वत के यहां से निकल गई और तब उसने दोनों अश्विनों को जना। यही कथा हम ग्रीक लोगों में भी पाते हैं। उनका विश्वास है कि इरिनिस डेमेटर (Erinys Demeter) इसी भांति अपने पति के यहां से निकल गई थी और तब उसने एरिअन (Areion) और डेस्पोइना (Desposina) को जना था। दोनों कथाओं का आशय एक ही है। वह यह है कि जब दिन अथवा रात आती है तो प्रभात निकल भागती हैं। इसी आशय पर यूनान की एक दूसरी कथा की भी उत्पत्ति हुई है और इसकी उत्पत्ति का पता भी ऋग्वेद से लगता है। बहुत से स्थानों में (जैसे १, ११५, २ में) हम लोग सूर्य को प्रभात का पीछा करते हुए पाते हैं जिस तरह से कि कोई मनुष्य किसी स्त्री का पीछा करता हो। इसी तरह से यूनानी एपोलो (Apollo) दफ्ने का पीछा करता है यहां तक कि अन्त में उसका रुप बदल जाता है अर्थात् प्रभात का लोप हो जाता है।

सरस्वती, जैसा कि उसके नाम ही से प्रगट होता है, इस नाम की नदी की देवी थी। यह नदी इस कारण से पवित्र मानी जाती थी कि उसके तटों पर धार्मिक कार्य किए जाते थे और वहां पवित्र सूक्तों का उच्चारण किए जाते थे। परन्तु विचारों की स्वाभाविक प्रगति से यह देवी उन्हीं सूक्तों की देवी समझी जाने लगी

अर्थात् वह वाणी की देवी हो गई और इसी भांति से उसकी अब भी पूजा की जाती है। वैदिक देवताओं में से केवल यही एक देवी है जिसकी पूजा कि भारतवर्ष में आज तक चली जाती है। इस के और सब साथी अर्थात् दुर्गा, काली, लक्ष्मी, इत्यादि सब आधुनिक समय की रचना हैं।

ऋग्वेद की प्रकृति पूजा इस प्रकार की है। जिन देवताओं और देवियों की पूजा हमारे पुरखे लोग चार हजार वर्ष हुए कि सिन्ध के तटों पर करते थे वे इस प्रकार के थे। प्रकृति के देवताओं की कल्पना तथा जिस एक मात्र भक्ति के साथ उनकी पूजा की जाती थी उससे एक वीर जाति की सरलता तथा शक्ति प्रगट होती है और इससे उन लोगों की उन्नति तथा सविचारता भी प्रगट होती है जिन्होंने कि सभ्यता में बहुत कुछ उन्नति कर ली थी। वैदिक देवताओं की केवल कल्पना ही से एक उच्च भाव प्रगट होता है जिससे विदित होता है कि जिन लोगों ने इन देवताओं की कल्पना की होगी वे बड़े ही सदाचारी होंगे। एम० बार्थ साहब बहुत ठीक कहते हैं कि वैदिक देवता निकटवर्ती स्वामियों की नाईं है और वे मनुष्यों से अपने धर्म का उचित प्रतिपालन चाहते हैं। "लोगों को उनसे निष्कपट होना चाहिए, क्यों कि उनको धोखा नहीं दिया जा सकता। नहीं, स्वयम् वे भी किसी को धोखा नहीं देते अतएव यह उनका हक है कि वे मित्र, भाई और पिता की भांति अपने ऊपर लोगों का विश्वास तथा प्रीति प्राप्त करें।... मनुष्यों को बुरे होने की अनुज्ञा कैसे दी जा सकती है जब कि स्वयम् देवता लोग अच्छे हैं। सूक्तों में निस्सन्देह यह एक अ_त बात है कि उनमें कोई दुष्ट प्रकृति के देवता नहीं पाए जाते, कोई नीच और हानिकारक बात नहीं पाई जाती......अत एव हम लोगों को यह स्वीकार करना चाहिए कि सूक्तों में एक उच्च और विस्तृत नीति की शिक्षा पाई जाती है और उनसे यह विदित होता है कि वैदिक कवीश्वरों को अदिति और आदित्यों के सामने निर्दोष होने का यत्न करने के सिवाय इस बात का भी ज्ञान था कि देवताओं को भेट चढ़ाने के सिवाय उनके और भी कर्तव्य थे।

ऋग्वेद में मनुष्यों के बनाए हुए ऐसे मन्दिरों का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता जो कि पूजा के काम में लाए जाते हों। इसके विरुद्ध प्रत्येक गृहस्थ, जो प्रत्येक घराने का मालिक था अपने घर ही में होमाग्नि प्रगट करता था और अपने घराने के सुख के लिये, बहुत से धन धान्य और पशु के लिये, रोग रहित रहने के लिये, और काले आदिवासियों पर जय पाने के लिये, देवताओं से वहीं प्रार्थना करता था। पुजारियों की कोई अलग जाति नहीं थी और न लोग धर्म पर विचार करने और इन सूक्तों को बनाने के लिये बनहीं में निकल जाया करते और वहां तपस्या करते थे। इसके विरुद्ध प्राचीन ऋषि लोग—अर्थात् वे सच्चे ऋषिलोग जिनका कि वर्णन ऋग्वेद में है और न कि वे कल्पित ऋषि जिनकी बनावटी कथाएं पुराणों में पाई जाती हैं—सांसारिक मनुष्य थे अर्थात् वे ऐसे मनुष्य थे जिनके पास अन्न और पशु के रूप में बहुत सा धन था, जोकि बड़े बड़े घरानों में रहते थे, समय पड़ने पर हल के बदले भाला और तलवार धारण करते थे और काले असभ्यों से सभ्यता के उन सुखों की रक्षा करते थे जिनको कि वे अपने देवताओं से मांगा करते थे और जिन्हें उन लोगों ने इतने कष्ट से प्राप्त किया था।

परन्तु यद्यपि प्रत्येक गृहस्थ स्वयं पुजारी, योद्धा और कृषक तीनो ही होता था, फिर भी हम इस बात के प्रमाण पाते हैं कि राजा लोग बहुत करके ऐसे लोगों की सहायता से धर्मविधानों को करते थे जो लोग कि सूक्तों के गाने में विशेष निपुण होते थे, और इन लोगों को वे इस कार्य के लिये द्रव्य भी देते थे। जब हम ऋग्वेद के उत्तर काल के सूक्तों को देखते हैं तो हम इस प्रकार के पुजेरियों की प्रसिद्धि धन में बढ़ते हुए, सरदारों और राजाओं के यहां प्रतिष्ठा प्राप्त करते हुए, और पशु और रथों का पुरस्कार पाते हुए देखते हैं। हम कुछ घरानों को धार्मिक विधानों के करने में और सूक्तों के बनाने में विशेष निपुण पाते हैं और यह बहुत सम्भव है कि ऋग्वेद के वर्तमान सूक्त इन्हीं घरानों के लोगों के बनाए हुए हों और इन्हीं घरानों में बाप से बेटे को सिखाए जाकर वे रक्षित रक्खे गए हों।

ऋग्वेद के सूक्त दस मण्डलों में बंटे हैं और वे उनके रचयिता ऋषियों के नाम के क्रम से हैं। पहिला मण्डल और अन्तिम मण्डल कई ऋषियों का बनाया हुआ है परन्तु बाकी के आठ मण्डलों में से प्रत्येक किसी एक ऋषि, अथवा यों कहिए कि ऋषियों के किसी एक घराने वा शाखा का बनाया हुआ है। हम पहिले कह चुके हैं कि दूसरे मण्डल के सूक्त भृगुवंशी गृत्समद के बनाए हुए हैं, तीसरा मण्डल विश्वामित्र का, चौथा वामदेव का, पांचवां अत्रि का, छठां भारद्वाज का, सातवां वसिष्ठ का, आठवां कन्व का, और नवां अङ्गिरा का बनाया हुआ है। ये सब नाम आधुनिक हिन्दुओं को उन अगणित कथाओं द्वारा परिचित हैं जो कि पौराणिक समय में रची गई थीं और आधुनिक हिन्दू लोग अब भी इन प्राचीन और पूज्य घरानों से अपनी उत्पत्ति बताना पसन्द करते हैं। हम इन ऋषियों और उनके सम्बन्ध की कथाओं के विषय में आगे के अध्याय में लिखेंगे।

इन्हीं तथा कुछ अन्य पूज्य घरानों ही के द्वारा आर्य जाति की सब से पुरानी रचना आज तक रक्षित है। लगातार कई शताब्दियों तक ये सूक्त जबानी सिखाए गए और पुजेरियों के घराने के युवक लोग अपने जीवन के प्रथम भाग को अपने वृद्ध पिता से इन पवित्र सूक्तों के सीखने में व्यतीत करते थे। इस प्रकार से ऋग्वेद का अमूल्य खजाना सैकड़ों वर्ष तक रक्षित रक्खा गया।

काल पाकर पुजेरी लोग बेधड़क सृष्टि की अधिक गूढ़ बातों पर विचार करने लगे। वे लोग सृष्टि की रचना तथा परलोक के विषय में सोचने लगे और उन्होंने प्रकृति के देवताओं को परमेश्वर में मिश्रित किया।

"(१) उस सर्वज्ञ पिता ने सब स्पष्ट देखा और उचित विचार के उपरान्त उसने आकाश और पृथ्वी को उनके द्रव रूप में एक दूसरे को छूते हुए बनाया। और जब इनकी सीमाएं दूर दूर खींची गई तो पृथ्वी और आकाश अलग अलग होगए।

"(२) वह जो सब का स्रष्टा है, बड़ा है। वह सब का उत्पन्न

करनेवाला और पालन करनेवाला है । वह सब के ऊपर है और सबको देखता है । वह सातों ऋषियों के स्थान से भी ऊपर है। ज्ञानी लोग ऐसाही कहते हैं और ज्ञानी लोगों की सब कामनाएं परिपूर्ण होती हैं।

" (३) वह जो हम लोगों को जीवन देता है, वह जो हमलोगों का बनानेवाला है, वह जो इस सृष्टि के सब स्थानों का जानने वाला है वह एक ही है. यद्यपि वह अनेक देवताओं के नाम से प्रसिद्ध है। दूसरे लोग भी उसको जानने की इच्छा रखते हैं ।

" (७) तुम इन सब चीजों के बनानेवाले का चिन्तन नहीं कर सकते। वह तुम्हारे लिये अचिन्त्य है। लोग अन्धकार से घिरे रह कर केवल अनुमान करते हैं । वे अपने जीवन को रखने के लिये भोजन करते हैं और सूक्तों का पाठ करते हुए इधर उधर घूमते फिरते हैं।" (१०, ८२)

इस उक्त सूक्त से हमको बिना किसी सन्देह के यह विदित होता है कि वेद के भिन्न भिन्न देवता लोग केवल एक ही अचिन्त्य ईश्वर के भिन्न भिन्न नाम हैं। हम ऐसा ही एक दूसरा सूक्त नीचे उद्धृत करते हैं।

" (१) इस समय जो चीजें हैं वे उस समय नहीं थीं और जो इस समय नहीं है वे भी उस समय नहीं थीं। पृथ्वी नहीं थी और दूर तक फैला हुआ आकाश भी नहीं था। तो फिर कौन सी चीज़ ढकं हुई थी ? कौन स्थान किस चीज के लिये नियत था ? क्या उस समय अलंघ्य और गहिरा जल था ?

" (२) उस समय न तो मृत्यु थी और न अमरत्व, दिन और रात का भेद भी नहीं था। उस समय केवल वही एक था जो बिना हवा के सांस लेता था और अपनी आप रक्षा करता था। उसके सिवाय और कुछ नहीं था।

" (३) पहिले अन्धकार अन्धकार ही में ढंका हुआ था। कोई चीज़ अपनी अपनी सीमा में न थी, सब जल के रूप में थी। सृष्टि

बिलकुल शून्य थी और जो वस्तुएं नहीं थीं उनसे ढंकी थी, और उसकी रचना ध्यान द्वारा हुई।

" (४) मन में इच्छा प्रगट हुई और इस प्रकार से सृष्टि रचना का कारण उत्पन्न हुआ। ज्ञानी लोग विचार करते हैं और अपने ज्ञान के द्वारा, जो वस्तुएं नहीं हैं उनसे वर्तमान वस्तुओं की उत्पत्ति निश्चित करते हैं।

" (५) पुरुष लोग वीर्य के सहित उत्पन्न किए गए और शक्तियां भी उत्पन्न की गईं। उनकी किरणें दोनों ओर तथा ऊपर और नीचे की ओर फैलीं, एक स्वयं रक्षित सिद्धान्त नीचे और एक शक्ति ऊपर।

" (६) यथार्थ बात कौन जानता है ? कौन वर्णन करेगा ? सब की उत्पत्ति कब हुई ? इन सब की उत्पत्ति कहां से हुई ? देवता लोग सृष्टि के उपरान्त बनाए गए। यह कौन जानता है कि वे कहां से बनाए गए ?

" (७) ये सब वस्तुएं कहां से बनाई गईं, उनकी उत्पत्ति किस से हुई, किसीने उनको बनाया वा नहीं,—यह केवल उसीको ज्ञात है जो कि इन सब का ईश्वर हो कर सर्वोच्चतम स्थान में स्थित है। यदि वह भी न जानता हो (तो और कोई इस को नहीं जानता।) " (१०, १२०)

सृष्टि के भेद का पता लगाने के विषय में यह संसार की आर्य जातियों का सबसे पहिला यत्न है जो कि लिखा हुआ पाया जाता है। इस सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में हजारों वर्ष पहिले हमारे पुरुषों के हृदय में इस प्रकार के अभीत और उच्च, यद्यपि संदिग्ध, विचार उत्पन्न हुए थे।

हम यहां पर एक अद्भुत सूक्त को और उद्धृत करेंगे जिस से जान पड़ेगा कि उत्तर काल के ऋषि लोग किस प्रकार से प्रकृति के देवताओं की कल्पना से आगे बढ़ कर केवल एक मात्र परमेश्वर के उच्च विचार में प्रवृत्त हुए।

"(१) पहिले पहल हिरण्यगर्भ था। वह अपने जन्म से ही सब का स्वामी था। उसने इस पृथ्वी और आकाश को अपने अपने स्थान में रक्खा। हम लोग हव्य से किस की पूजा करें ?

"(२) उसकी, जिसने कि जीवन और शक्ति दी है, जिसकी आज्ञा का सब देवता पालन करते है, जिसकी परछाहीं अमरत्व है और मृत्यु जिसका दास है। हम लोग हव्य से किस देवता की पूजा करें ?

"(३) उसकी जो कि देखने और चलने वाले समस्त प्राणियों का एक मात्र अधिपति है, उसकी जो कि समस्त दो पैर वालों तथा चौपायों का मालिक है। हम लोग हव्य से किस देवता की पूजा करें ?

"(४) उसकी जिसकी शक्ति से कि ये बरफ़वाले पहाड़ बने हैं और जिसकी रचना यह पृथ्वी और उसमें के समुद्र हैं। उस की जिस के कि हाथ ऋक्ष के अंश हैं। हम लोग हव्य से किस देवता की पूजा करें ?

"(५) उसकी जिसने कि इस आकाश और इस पृथ्वी को अपने अपने स्थान पर स्थित किया है, उसकी जिसने कि आकाश को नापा है। हम लोग हव्य से किस देवता की पूजा करें ?

"(६) उसकी जिसने कि शब्दमय आकाश और पृथ्वी को स्थित करके विस्तृत किया है, उसकी जिसको कि चमकीला आकाश तथा पृथ्वी सर्व शक्तिमान मानती है, उसकी जिसकी सहायता से सूर्य ऊगता और प्रकाश प्राप्त करता है। हम लोग हव्य से किस देवता की पूजा करें ?

"(७) प्रबल जल सारे विश्व में व्याप्त था। उसने अपने गर्भ में अग्नि को धारण कर के उसे उत्पन्न किया। तब वह एक मात्र ईश्वर जो कि देवताओं का जीवन है, प्रगट हुआ। हम लोग हव्य से किस देवता की पूजा करें ?

"(८) वह जिसने कि अपनी शक्ति से जल को (जिससे कि

शक्ति उत्पन्न हुई) प्रगट किया, वह, जो कि सब देवताओं का मालिक है, वह एक ही है। हम लोग हव्य से किस देवता की पूजा करें ?

"(९) वह सत्यधर्म्मा जो कि इस पृथ्वी का रचनेवाला है, इस आकाश का रचनेवाला है और हर्षजनक तथा प्रबल जल का रचनेवाला है, वह हम लोगों की हिंसा न करे। हम लोग हव्य से किस देवता की पूजा करें ?

"(१०) हे प्राणियों के स्वामी ! तेरे सिवाय और किसी ने इन सब वस्तुओं को नहीं उत्पन्न किया। जिस मनोरथ से हमलोग पूजा करते हैं वह पूरा हो। हम लोग धन और सुख को प्राप्त करें।" (१०, १२१)

अब हम लोग इस कथन के भाव को समझते हैं कि ऋग्वेद का धर्म प्रकृति से प्रकृति के देवताओं की ओर जाता है। पूजा करनेवाला प्रकृति के अद्भुत दृश्यों को समझता है और इन दृश्यों से सृष्टि तथा सृष्टिकर्ता के भेदों को समझने का यत्न करता है।

अध्याय ७

——o——
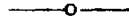
वैदिक ऋषि ।

हम पिछले अध्याय में कह चुके हैं कि वैदिक काल में कुछ धार्मिक और विद्वान वंशो को यज्ञ आदि की विधि जानने और सूक्त बनाने की शक्ति होने के कारण, श्रेष्ठता दी जाती थी । राजा लोग ऐसे वंशों का आदर करते थे और उन्हें पुरस्कार देते थे । इस के सिवाय, आर्य लोग वैदिक सूक्तों को पीढ़ी दर पीढ़ी बनाते रहने के कारण, इन्हीं वंशों के अनुग्रहीत हैं । आज कल के हिन्दू लोग इन पुराने वंशों से अपनी उत्पत्ति बताने में अपना गौरव समझते हैं और उनके नाम आधुनिक हिन्दू समाज मे प्रसिद्ध हैं । अतएव इन प्राचीन ऋषियों,—अर्थात् हिन्दूधर्म्म के पूज्य मार्गदर्शकों का कुछ वृत्तान्त हिन्दू पाठकों को अप्रिय न होगा ।

वैदिक ऋषियों में, वा यों कहिए कि ऋषिकुलों में, सब से प्रधान विश्वामित्र और वसिष्ठ हैं । विद्वान और उद्योगी डाक्टर म्योर ने अपने 'संस्कृत टेक्स्ट्स' (Sanskrit texts) के पहिले भाग में उत्तर काल की संस्कृत पुस्तकों में से इन ऋषियों के विषय में बहुत सी कल्पित कथाओं का संग्रह किया है । परन्तु ऐसा कोई बिरला ही हिन्दू होगा जिसने इन पूज्य ऋषियों के विषय में इस प्रकार की अनेक कथाएं बचपन से ही न सुनी हों ।

प्रबल विजयी सुदास, वशिष्ठ और विश्वामित्र दोनों ही को बड़ा मानता था । तीसरे मंडल के सूक्तों के बनानेवाले, विश्वामित्र कहे जाते हैं और उनके ५३ वें सूक्त में नीचे लिखे वाक्य मिलते हैं—"देवताओं से उत्पन्न हुए और देवताओं के भेजे हुए महर्षि ने जो कि मनुष्यों के देखने वाले हैं, जल की धारा को रोक दिया । जब विश्वामित्र ने सुदास के लिये यज्ञ किया, तो इन्द्र कौशिकों द्वारा सन्तुष्ट हुआ । " फिर, सातवां मण्डल वसिष्ठ का

बनाया हुआ कहा जाता है और उसके तेंतीसवें सूक्त में निम्न लिखित वाक्य मिलते हैं—"सफ़ेद वस्त्र पहिने हुए, दाहिनी ओर जूट बांधे हुए और यज्ञादि करते हुए वसिष्ठ ने मुझे प्रसन्न किया है। मैं उठ कर लोगों को यज्ञ के शस्य के पास बुलाता हूं। वसिष्ठ हमारे द्वार से न जांय।"

इन दोनों ऋषिकुलों में स्वाभाविक ही कुछ द्वेष था और ये आपस में एक दूसरे को कटुवचन भी कहते थे। यह कहा जाता है कि मंडल ३ सूक्त ५३ की नीचे लिखी रिचाओं में वसिष्ठ के कुल को ही कटुवचन कहा गया है—

"(२१) हे इन्द्र, आज तू हमलोगों के पास बहुत सी उत्तम सहायताओं के साथ आ; हम लोगों का मंगल कर। जो कोई हम लोगों से घृणा करता हो उसका अधोपतन हो और जिस किसी से हम लोग घृणा करते हैं उसके जीवन प्राण उससे निकल जांय।

"(२२) जिस तरह से पेड़ को फरसे से हानि पहुँचती है, जिस तरह सिम्बल का फूल तोड़ लिया जाता है, जिस तरह खौलते हुए कड़ाहे में से फेन निकलता है, वही दशा, हे इन्द्र, शत्रुओं की भी हो।

"(२३) नाशकर्ता की शक्ति नहीं देख पड़ती। लोग ऋषिओं को इस तरह दुरदुराते हैं जैसे कि वे पशु हों। बुद्धिमान लोग मूढ़ों की हँसी करने पर नहीं उतारू होते। वे लोग घोड़ों के आगे गदहों को नहीं ले चलते।

"(२४) इन भारतों ने (वसिष्ठों के साथ) हेल मेल करना नहीं सीखा वरन् दुराव करना सीखा है। वे शत्रुओं की नाईं उन लोगों के विरुद्ध घोड़ों को दौड़ाते हैं। वे युद्ध में धनुष धारण करते हैं।"

ऐसा विचारा जाता है कि वसिष्ठ ने म० ७ सू० १०४ की नीचे लिखी रिचाओं में इसी कुवाक्य का उत्तर दिया है—

"(१३) सोम बुरे लोगों को अथवा उस शासक को आशीर्वाद नहीं देता जो अपनी शक्ति को बुरी तरह से काम में लाता है। वह राक्षसों का नाश करता है; वह झूठे आदमियों का नाश करता है; दोनों इन्द्र के बन्धनों से बँधे हैं।

"(१४) हे जातवेदस्,यदि मैंने झूठे देवताओं की पूजा की होती वा यदि मैंने देवताओं का आह्वान झूठ मूठ किया होता,-परन्तु तू मुझ से अप्रसन्न क्यों है ? वृथा बकवाद करनेवाले तेरे संहार के नीचे पड़ें।

"(१५) यदि मैं यातुधान होऊँ वा यदि मैंने किसी के जीव को दुःख दिया हो, तो मैं अभी मर जाऊँ। पर जिसने मुझे झूठ मूठ यातुधान कहा हो वह अपने दस मित्रों के बीच से उठ जाय।

"(१६) यदि मैं यातुधान नहीं हूँ और कोई मुझे यातुधान कहता है अथवा सुन्दर राक्षस कहता है, तो इन्द्र उसे अपने बड़े शस्त्र से मारे। वह सब जीवों से अधम हो।"

यहां तक तो इन दोनों कुपित ऋषियों का द्वेष समझ में आने लायक और स्वाभाविक है, यद्यपि वह उनकी विद्या और पवित्रता के योग्य नहीं है। परन्तु जब हम लोग इसके पीछे के समय की संस्कृत पुस्तकों की ओर देखते हैं तो इन मानुषी और स्वाभाविक घटनाओं को अद्भुत और विलक्षण कथाओं के बादल से ढँका हुआ पाते हैं।

इन उत्तर काल की कथाओं में शुरू से यह माना गया है कि वसिष्ठ एक ब्राह्मण और विश्वामित्र एक क्षत्रिय था, यद्यपि ऋग्वेद में ऐसा कहीं नहीं माना गया और न उसमें ब्राह्मण और क्षत्रिय की कोई जाति ही मानी गई है। इसके विरुद्ध, विश्वामित्र ने बहुत से श्रेष्ठतम सूक्त बनाए हैं, जिन्हें कि उत्तर काल के ब्राह्मण लोग सम्मान की दृष्टि से देखते हैं और जिनमें आज कल के ब्राह्मणों का प्रातःकाल का भजन अर्थात् गायत्री भी है।

यह मान कर कि विश्वामित्र ने क्षत्रिय कुल में जन्म लिया था, महाभारत, हरिवंश, विष्णुपुराण तथा उत्तर काल की दूसरी दूसरी पुस्तकों में उनके ब्राह्मण हो जाने की एक मनोरञ्जक कथा लिखी है। सत्यवती एक क्षत्राणी कन्या थी। उसका विवाह ऋचीक नामक ब्राह्मण से हुआ। ऋचीक ने अपनी स्त्री के लिये एक भोजन बनाया, जिसके खाने से उसे एक ब्राह्मण के गुणवाला पुत्र होता और एक

दूसरा भोजन अपनी सास के लिये बनाया जिसके खाने से उसे एक क्षत्री के गुणवाला पुत्र होता। परन्तु इन दोनों स्त्रियों ने अपने भोजन बदल लिए। अतएव क्षत्राणी को ब्राह्मण के गुणवाले विश्वामित्र हुए और ब्राह्मणी सत्यवती को जमदग्नि हुए जिनके पुत्र क्रोधी परशुराम, यद्यपि ब्राह्मण थे, परन्तु एक प्रसिद्ध और नाश करने वाले योधा हुए ! उत्तर काल के लेखक गण, वैदिक ऋषियों को एक विशेष जाति मान कर और इस तरह से अपने को उलझन में डाल कर, इस उलझन को सुलझानें के लिये ऐसी ऐसी कथाएँ गढ़ते थे।

राजा हरिश्चन्द्र की प्रसिद्ध कथा में विश्वामित्र का एक लोभी ब्राह्मण की नाईं वर्णन किया गया है। उसने राजा से केवल उसका राज्य ही नहीं ले लिया वरन् अपनी निष्ठुर दक्षिणा लेने के लिये उसे अपनी स्त्री, पुत्र और अपने को भी दास की नाईं बेचने के लिये विवश किया ! यदि ये कथाएँ ब्राह्मणों की भक्ति और मान सिखलाने के लिये गढ़ी गई हैं तो वे अपने उद्देश्य को पूरा नहीं करतीं वरन् दूसरे ही भाव उत्पन्न करती हैं। वियोग से संतप्त हरिश्चन्द्र को अन्त में इसका अच्छा फल मिला। विश्वामित्र ने उसके पुत्र को राजगद्दी पर बैठाया और हरिश्चन्द्र स्वर्ग को गया। वसिष्ठ इससे कुपित हुआ और उसने विश्वामित्र को शाप दिया कि वह बक हो जाय और विश्वामित्र ने भी वसिष्ठ को अरि पक्षी बना दिया ! इन दोनों पक्षियों में आपस में इतना युद्ध हुआ कि सारा ब्रह्मांड कांप उठा और अन्त में ब्रह्मा को मध्यस्थ होना पड़ा अर्थात् उन्होंने इन दोनों ऋषियों को उनके असिल रूप में करके उनमें मेल मिलाप करा दिया।

फिर तृशङ्कु की कथा सुनिए। यह राजा सदेह स्वर्ग में जाया च हता था। वसिष्ठ ने उसके इस मनोरथ को असम्भव कहा और जब राजा इस बात पर कुपित हुआ तो उसने उसे चाण्डाल बना दिया। अब क्रोधी विश्वामित्र इस स्थान पर आ उपस्थित हुए। उन्होंने राजा की इच्छा को पूर्णतया सम्भव कहा। उन्होंने एक बड़ा यज्ञ प्रारम्भ किया और वसिष्ठ के न सम्मिलित होने पर भी उसे

किया। तृशङ्कु स्वर्ग को चढ़ा परन्तु इन्द्र ने उसे ग्रहण करना स्वीकार नहीं किया और उसका सिर नीचे और पैर ऊपर करके उसे पृथ्वी की ओर फेंका। परन्तु अनिवार्य विश्वामित्र ने इन्द्र, देवताओं और तारों के सहित एक दूसरा स्वर्ग बनाने को धमकाया! अतएव देवताओं को हार मानना पड़ा और तृशङ्कु पुनः स्वर्ग को चढ़ा और सूर्य के रास्ते से दूर तारे की नाईं चमकने लगा, यद्यपि कुछ असुखी स्थिति में अर्थात् उसका सिर अब तक भी नीचे की ओर था।

ऐसी ही ऐसी बहुतेरी कथाएं पाई जाती हैं जो हिन्दुओं के लड़के और लड़कियों के लिये घरेलू कहानियां ही होगई हैं और जिनमें ये दोनों ऋषी काल क्रम का अनादर करके सदैव एक दूसरे से बैर भाव में देख पड़ते हैं जो एक दूसरे से बीस, बीस, तीस, तीस अथवा पचास पचास पीढ़ी के अन्तर पर हुए हैं। किसी राज्यवंश या किसी दूसरे नायक की ऐसी ही कोई संस्कृत की लेख रचना होगी जिसमें हमें वसिष्ठ और विश्वामित्र सदैव एक दूसरे के प्रति द्वन्दी न मिलें, यथा विष्णुपुराण में वसिष्ठ इक्ष्वाकु के पुत्र निमि का पुरोहित कहा गया है और वह सगर का भी जो इक्ष्वाकु से ३७ वीं पीढ़ी में हुआ, पुरोहित कहा गया है। फिर रामायण में वसिष्ठ राम का पुरोहित कहा गया है, जो कि इक्ष्वाकु से ६१ वीं पीढ़ी में हुआ! उत्तर काल की गढ़ी हुई कथा बनाने वाले लोग ऋग्वेद की सीधी सादी बातों को इस तरह पर काम में लाए हैं और उन्होंने पुराने वेद की सामान्य, स्वाभाविक और मानुषी बातों के सम्बन्ध में ऐसी ऐसी झूठी कथाएं गढ़ डाली हैं। केवल वेद के ऋषियों ही की नहीं, वरन् प्रत्येक देवता और प्राकृतिक अद्भुत बातों के विषय की लगभग प्रत्येक उपमा वा रूप की भी उत्तर काल के कल्पनाशील हिन्दुओं ने ऐसी ही दशा की है।

परन्तु यद्यपि उत्तर काल में विश्वामित्र के ब्राह्मण हो जाने के विषय में सैकड़ों कथाएं गढ़ी गई हैं, पर इस बात का प्रत्यादेश करने का किसी ने विचार भी नहीं किया। महाभारत से लेकर मनुस्मृति और पुराणों तक की प्रत्येक कथा, प्रत्येक विद्याविशिष्ट

लेख, प्रत्येक आलोचित कहानी और प्रत्येक बड़े बड़े ग्रन्थ में यही लिखा है कि विश्वामित्र क्षत्री और ब्राह्मण दोनों ही थे। महाभारत के अनुशासन पर्व में युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा है कि वसिष्ठ केवल ब्राह्मण ही नहीं वरन् इस बड़े कुशिक वंश का संस्थापक कैसे हुआ जिसमें कि ब्राह्मण और सैकड़ों ऋषी भी हुए। इस प्रश्न का उत्तर देना उस पौराणिक काल में कठिन होगा जिसमें कि महाभारत रचा गया था। परन्तु उस काल में इसका उत्तर कठिन न होगा जब कि जातिभेद अदृढ़ था। और स्वयम् विश्वामित्र के, अर्थात् वेद के, काल में जब कि जातिभेद था ही नहीं, तो यह प्रश्न ही न उठता।

अब अंगिरा, वामदेव भारद्वाज और भृगु ऋषियों के हाल भी सुनिए, जो कि विश्वामित्र और वसिष्ठ से कम प्रसिद्ध नहीं हैं। ये सब वैदिक ऋषि, अर्थात् वैदिक सूक्तों के रचनेवाले थे। अतएव उत्तर काल के लेखकों को इनकी जाति के विषय में कुछ संदेह जान पड़ता है। ये लोग कभी तो क्षत्री गुणवाले ब्राह्मण कहे गए हैं, और कभी ब्राह्मण गुणवाले क्षत्री। कहीं कहीं पर निर्भयता से यह भी सत्य अनुमान किया गया है कि ये सब ऋषि उस समय रहते थे जब कि जाति भेद नहीं था।

अंगिरा ऋग्वेद के नौवें मंडल के बनानेवाले हैं। इनके विषय में विष्णुपुराण (म० ४, अ० २, श्लो० २) में यों लिखा है:—"नभाग का पुत्र नाभाग था, उसका पुत्र अम्बरीष था, उसका पुत्र विरूप था, उस से पृषदश्व उत्पन्न हुआ, और उससे रथीनर।" इस विषय में यह कहा है-" ये लोग, जो कि क्षत्री वंश से उत्पन्न हुए और पीछे अङ्गिरा कुल के कहलाए, रथीनरों के सरदार थे, अर्थात् ये लोग ब्राह्मण थे जिनमें क्षत्रियों के गुण भी थे।

वामदेव और भारद्वाज ऋग्वेद के चौथे और छठें मंडलों के बनानेवाले हैं। मत्स्यपुराण में (अध्याय १३२) इन्हें अङ्गिरा वंश का ही ठहराया है, जिसका हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं।

गृत्समद ऋग्वेद के दूसरे मंडल के सूक्तों के बनानेवाले कहे

जाते हैं। इनके विषय में भाष्यकार सायन यह कहते हैं कि वह पहिले अङ्गिरा के कुल के थे, परन्तु पश्चात् वे भृगुवंश के गृत्समद हो गए। इस अद्भुत कथा की टीका महाभारत के अनुशासन पर्व में इस तरह की गई है। उसमें लिखा है कि वीतहव्य एक क्षत्री राजा था और उसने भृगु के आश्रम में शरण ली थी। भृगु ने इस शरणागत को, उसके पीछा करनेवाले से रक्षा करने के लिये कहा "यहां कोई क्षत्री नहीं है, ये सब ब्राह्मण हैं।" भृगु के वाक्य झूठे नहीं हो सकते थे, अतएव शरणागत क्षत्री वीतहव्य तुरन्त ब्राह्मणत्व को प्राप्त होकर गृत्समद हो गया। यह बात अवश्य स्वीकार करने योग्य है कि ब्राह्मण हो जाने का यह रास्ता विश्वामित्र की अपेक्षा सहज है, जिसे कहा जाता है कि हजारों वर्ष तपस्या करनी पड़ी,–उसके अतिरिक्त कि उसकी माता ने एक ब्राह्मण की पत्नी से भोजन का बदला कर लिया है।

परन्तु गृत्समद के जाति बदलने की बात सब जगह स्वीकार नहीं की गई है। विष्णुपुराण और वायुपुराण ने सच सच कह ही दिया है कि गृत्समद जाति भेद होने के पहिले रहता था–"गृत्समद से सौनिक उत्पन्न हुआ, जिसने कि चारों जातियां बनाईं।" (विष्णुपुराण ४,८)

अन्त में कन्व और अत्रि का वृत्तान्त भी सुन लीजिए। कन्व ऋग्वेद के आठवें मंडल के बनानेवाले हैं। इनकी जाति के विषय में भी हमलोगों को वैसाही सन्देह है। विष्णुपुराण (४,१६) और भागवतपुराण (४,२०) में लिखा है कि कन्व पुरु की सन्तान था, जो कि क्षत्री था। परन्तु फिर भी कन्व के वंशवाले ब्राह्मण समझे जाते थे। "अजमीध से कन्व उत्पन्न हुआ और उससे मेधातिथि, जिससे कि कन्वनय ब्राह्मण उत्पन्न हुए।" (वि० पु० ४,१६)

अत्रि ऋग्वेद के पांचवे मंडल के बनानेवाले कहे जाते हैं, परन्तु उनकी जाति के विषय में भी ऐसाही संन्देह पाया जाता है। विष्णुपुराण (४,६) में अत्रि पुरुरवा के दादा कहे गए हैं, जो कि क्षत्री था।

इतने उद्धृत वाक्य बहुत हैं। ये सब ऐसे ग्रन्थों से उद्धृत किए गए हैं जोकि वैदिक ऋषियों के दो तीन हजार वर्ष पीछे के बने हुए हैं। परन्तु इन उद्धृत वाक्यों से हम लोग वैदिक धर्माचार्यों और योधाओं की दशा और स्थिति विचार कर सकते हैं, अतएव वैदिक काल के वृत्तान्त में इनका उद्धृत करना अनुचित नहीं है। वैदिक काल के इतने पीछे के समय के लेखकों ने प्रायः प्राचीन बातों और कथाओं का असल तत्त्व नहीं समझा। परन्तु फिर भी पिछले समय की बातों में दृढ़ भक्ति होने के कारण, उन लोगों ने ऐसी ऐसी कथाओं में हस्तक्षेप नहीं किया। ये कथाएं ऐसे समाज की थीं जिसको हुए बहुत काल हो गया था और जो अब अस्पष्ट हो गया था। पुराणों के जाननेवाले यह नहीं सोच सकते थे कि धर्माचार्य और योधा दोनों एकही कुल से उत्पन्न हो सकते हैं, ऋषि भी योद्धा हो सकता है, अथवा योद्धा भी धर्माचार्य हो सकता है। अतएव उन लोगों ने इन कथाओं की हजारों तरह की कल्पनाओं और उपाख्यानों द्वारा व्याख्या करने का उद्योग किया है। पर फिर भी उन लोगों ने इन कथाओं को बिना विकार वा परिवर्तन के भक्ति और निष्कपटता के साथ लिखा है। इसके उदाहरण के लिये हम एक वाक्य और उद्धृत करेंगे। मत्स्यपुराण में ६१ वैदिक ऋषियों के वर्णन के बाद अन्त में यों लिखा है (अध्याय १३२)—" इस तरह ९१ मनुष्यों का वर्णन किया गया है जिन्होंने कि सूक्तों को रचा। ये ब्राह्मण, क्षत्री और वैश्य, सब ऋषियों के पुत्र थे।"

इस तरह से इस पुराण में की यह पुरानी बात ठीक ठीक लिखी गई है कि वैदिक सूक्त सब आर्य जाति मात्र के बनाए हुए हैं; और जब ग्रन्थकार यह कहता है कि इन सूक्तों के बनानेवाले ब्राह्मण, क्षत्री और वैश्य थे तो इससे हम लोगों के यह अनुमान करने में बहुत कठिनाई नहीं पड़ती कि ये सूक्त इन जातियों के संयुक्त पूर्वपुरुषों द्वारा बनाए गए थे।

आज कल के ग्रन्थकारों ने ऋषियों के तीन भेद किए हैं, देवर्षि अर्थात नारद की नाई देवताओं के तुल्य ऋषि लोग, ब्रह्मर्षि

अर्थात् शकुन्तला नाटक के कन्व की नाईं साधु ब्राह्मण, और राजर्षि अर्थात् विदेह के राजा जनक की नाईं पुण्यात्मा क्षत्री लोग। पुराने वैदिक समय के ऋषि लोग इन तीनों में से किसी एक खास तरह के नहीं थे और इसी कारण आज कल के ग्रन्थकारों को उनके विषय में कठिनाई पड़ती थी। इस लिये उन लोगों ने एक ऐसी बात का कारण बतलाने के लिये कि जिसका कारण है ही नहीं, लाखों कथाएं गढ़ डालीं। परन्तु फिर भी उनके इन निराले अनुमानों में प्रायः यह यथार्थ अनुमान भी पाया जाता है कि वैदिक ऋषि लोग जाति भेद होने के पहिले रहे होंगे। इसलिये हम इन सब कल्पनाओं और कथाओं पर आश्चर्य नहीं करते वरन् उनके इस साहस की प्रशंसा करते हैं कि उन्होंने कभी कभी इस बात का भी अनुमान किया है।

अन्त में इन अनमोल बातों से,—कि धर्माचार्य और योधा लोग एकही जाति के थे और प्रायः एकही ऋषि धर्माचार्य और योधा दोनों था—हम लोगों को वैदिक ऋषियों की सच्ची स्थिति समझ में आती है। क्योंकि यदि इन कथाओं की अद्भुत गढ़ी हुई बातों पर ध्यान न दिया जाय तो उनमें क्या विदित होता है? उनसे यह विदित होता है कि पुराने समय में वसिष्ठ, विश्वामित्र, अंगिरा और कन्व आदि की नाईं पूज्य वंशों में विद्वान पुरोहित और उसके साथही बड़े बड़े योधा लोग भी होते थे। जिस तरह परसी (Percy) अथवा डगलस (Douglas) के खानदान का कोई मनुष्य चाहे उत्साही पादरी वा चाहे कट्टर योधा हो सकता है उसी तरह कन्व या अंगिरा के वंश के लोगों का भी हाल था। यह बात निश्चित है कि जिस तरह से योरप के लोग विशेष करके बड़े विख्यात योधा होते थे उसी तरह हिन्दू लोग विशेष करके बड़े विख्यात पुरोहित होते थे, परन्तु जाति भेद जैसे योरप निवासियों में नहीं था उसी तरह हिन्दुओं में भी नहीं था। योरप में मध्य समय (Mediaeval Europe) में उन जमींदारों (Barons) में से बहुतेरों के पिता, चाचा, पुत्र वा भतीजे पवित्र मठों के एकान्त में निवास करते थे, जिनका कि नाम अब तक धर्म्मार्थ युद्ध (Crusades)

के इतिहास में पाया जाता है। इसी तरह से वशिष्ठ अथवा विश्वामित्र के जिनके धार्मिक सूक्तों को हम लोग अब तक स्मरण करते और सत्कार की दृष्टि से देखते हैं। उनके पुत्र अथवा भतीजे वैदिक काल के उन युद्धों में लड़े थे जोकि आदिम निवासियों से भूमि लेने के लिये निरन्तर हुआ करते थे। ये बातें स्वयम् ऋग्वेद से सिद्ध होती हैं जिसके कुछ भाग हम एक पहिले के अध्याय में उद्धृत कर चुके हैं और वे कथाएं भी इनकी पुष्टि करती हैं जिन्हें हमने इस अध्याय में उत्तर काल के संस्कृत ग्रन्थों से उद्धृत किया है। वैदिक काल के ऋषि लोग सूक्त बनाते थे, वे युद्धों में लड़ते थे और खेतों में हल भी जोतते थे, परन्तु न तो ब्राह्मण थे, न क्षत्री थे, और न वैश्य ही थे। वैदिक समय के बड़े बड़े ऋषियों के वंश में भी पुरोहित और योद्धा दोनों ही उत्पन्न होते थे, परन्तु वे इसी तरह से न तो ब्राह्मण और न क्षत्री थे, जिस तरह से कि मध्य समय में योरप में परसी वा डगलस लोग ब्राह्मण वा क्षत्री नहीं थे।

काण्ड २

ऐतिहासिक काव्य काल, इस्वी से १४०० वर्ष पूर्व से १००० वर्ष पूर्व तक।

अध्याय १

---:o:---

इस काल के ग्रन्थ।

हम वैदिक काल का वृत्तान्त समाप्त कर चुके जब कि हिन्दू आर्य लोग उस सारी भूमि को जीत कर उसमें बस गए थे, जो कि सिन्ध और उसकी पांचो सहायक नदियों से सींची जाती है। हम दिखला चुके हैं कि उस समय का एक मात्र ग्रन्थ जो हम लोगों को प्राप्त है, केवल ऋग्वेद संहिता है और साथही इसके यह भी दिखला चुके हैं कि इस संहिता के सूक्तों से वैदिक काल की सभ्यता का पता किस भांति लगता है। अब हम उस काल की सभ्यता का वर्णन करेंगे जब हिन्दू लोग सतलज के आगे गंगा और यमुना के गर्भ में बढ़े और उन्होंने इनकी घाटियों में आधुनिक बनारस और उत्तरी बिहार तक बड़े बड़े राज्य स्थापित किए। वैदिक काल की नाईं इस काल का वृत्तान्त भी हम उस समय के ग्रन्थों में से देंगे।

परन्तु इस काल के कौन से ग्रन्थ हैं और उसके पीछे जो दार्शनिक काल हुआ उस समय के कौन कौन से ग्रन्थ हैं ? ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् जिसमें गंगा की घाटी में रहने वाले कुरु, पाञ्चालों, कोशलों और विदेहों का बराबर वर्णन है, इस काल के ग्रन्थ हैं। इसी तरह से सूत्र, जिसमें भारतवर्ष में न्यायवाद के बढ़ने के चिन्ह मिलते हैं और जो कि उस समय बनाए गए थे जब कि आर्य लोग सारे भारतवर्ष में फैल गए थे, दार्शनिक काल के ग्रन्थ हैं।

तीस वर्ष के करीब हुआ कि प्रोफ़ेसर मेक्समूलर ने संस्कृत ग्रन्थों के बारे में एक पुस्तक छपवाई थी। उसमें उन्होंने वे सब कारण दिखलाए हैं जिनसे कि सूत्र ग्रन्थों को ब्राह्मण ग्रन्थों के पीछे का समझना चाहिए, और ये कारण प्राय: माने भी गए हैं। उन्होंने दिखलाया है कि सूत्र ग्रन्थों नें ब्राह्मण ग्रन्थों को मान लिया है और उनसे उद्धृत भी किया है। परन्तु इसके विपरीत ब्राह्मण ग्रन्थों में सूत्र ग्रन्थों का कोई चिन्ह नहीं मिलता। उन्होंने यह भी दिखलाया है कि ब्राह्मण ग्रन्थों से यह झलकता है कि धर्माचार्यों का उस समय बड़ा प्रभुत्व था और उनमें लोगों की निस्संशय आज्ञापरता थी, जोकि सूत्र ग्रन्थों के व्यवहारिक, दार्शनिक और संशयात्मवादी समय के पहिले थी। फिर उन्होंने यह भी दिखलाया है कि उपनिषदों के समय तक ब्राह्मण ग्रन्थों को लोग भारतवर्ष में दैविक प्रकाश द्वारा प्राप्त मानते थे। परन्तु सूत्र ग्रन्थ मनुष्यों के बनाए समझे जाते हैं। प्रोफ़ेसर मेक्समूलर ने इन सब बातों को उदाहरण के साथ ऐसे पांडित्य से वर्णन किया है कि जिससे बढ़ कर अब होही नहीं सकता। *

---

* इसके उपरान्त की खोज ने इस बात को और भी पुष्ट कर दिया है। केवल किसी विशेष संप्रदाय के सूत्र उस संप्रदाय ही के ब्राह्मण के पीछे नहीं बनाए गए वरन् सब सूत्र ग्रन्थ मात्र ब्राह्मण ग्रन्थों के पीछे बनाए गए हैं। इसके केवल एक उदाहरण के लिये हम डाक्टर बुलहर के वाक्य उद्धृत करते हैं जो कि इस विषय में मेक्समूलर से पूर्णतया सहमत नहीं हैं। उन्होंने अपने "धर्मसूत्र" नामक पुस्तक की भूमिका में दिखलाया है कि उन सूत्रों में अनेक स्थानों पर भिन्न भिन्न ब्राह्मणों के विचार उद्धृत किए गए हैं। उन्होंने दिखलाया है कि गौतम का धर्म सूत्र जो कि सब से प्राचीन है उसमें स्यामयजुर्वेद के एक आरण्यक के, सामवेद के एक ब्राह्मण के और अथर्ववेद के भी एक उपनिषद के

यह कहने की कोई जरूरत नहीं है कि हम यहां पर इन प्रश्न झगड़ों को विस्तार के साथ नहीं लिख सकते। इस ग्रन्थ के उद्देश्यों के अनुसार हम ऊपर लिखी हुई बातों के विषय में कुछ साहित्य के सम्बन्ध की नहीं, वरन इतिहास के सम्बन्ध की बातें कहेंगे। भिन्न भिन्न श्रेणियों के पुराने संस्कृत ग्रन्थों में इस अनुक्रम का ऐतिहासिक कारण क्या है? प्राचीन हिन्दुओं ने कई शताब्दी तक अपने ग्रन्थ एक विशेष रूप में अर्थात् वैदिक सूक्तों के रूप में क्यों बनाए? फिर उन्होंने धीरे धीरे इस प्रणाली को छोड़ कर, कई आगे की शताब्दियों में सुविस्तर और गद्य में ब्राह्मणों को क्यों लिखा? और फिर धीरे धीरे इस प्रणाली को भी बदल कर इसके आगे की कई शताब्दियों में उन्होंने संक्षिप्त सूत्रों की प्रणाली क्यों ग्रहण की? ऐसी क्या बात थी कि जिससे प्राचीन हिन्दुओं ने अपने इतिहास के भिन्न भिन्न समयों में भिन्न भिन्न प्रणाली में लेख लिखे हैं और इस तरह पर वे भविष्यत में इतिहास बनानेवालों के लिये अपने लेखों के काल का पता लगाने का मार्ग छोड़ गए हैं?

विचार पाए जाते हैं। उन्होंने दिखलाया है कि वशिष्ठ के धर्मसूत्र में ऋग्वेद के एक ब्राह्मण का, श्यामयजुर्वेद के एक आरण्यक का और श्वेतयजुर्वेद के एक ब्राह्मण का विचार उद्धृत किया गया है और उसमें अथर्ववेद के एक उपनिषद का भी उल्लेख है। इसी प्रकार से बौधायन के धर्मसूत्र में श्याम और श्वेत यजुर्वेद के ब्राह्मणों से उद्धृत विचार पाए जाते हैं। इसके विरुद्ध किसी ब्राह्मण ग्रन्थ में कहीं पर भी किसी सूत्र ग्रन्थ के विचार उद्धृत नहीं पाए जाते।

कोई विद्वान भी इस बात को नहीं मानता कि सब से अन्तिम ब्राह्मण ग्रन्थ सबसे प्रथम सूत्रग्रन्थ के लिखे जाने के पहिले बना हो। परन्तु इन सब प्रमाणों से अब इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि एक समय ऐसा था जब कि लेख प्रणाली ब्राह्मण ग्रन्थों के ढंग की थी और उसके उपरान्त लिखने का ढंग सूत्रों का सा होगया।

इन प्रश्नों का पूछना जितना सहज है उतना ही सहज इनका उत्तर देना नहीं है। परन्तु इसका उत्तर इसी की नाईं एक प्रश्न पूछने से दिया जा सकता है। क्या ऐसी बात थी कि जिससे योरप के मध्य काल के इतिहास और कल्पित कथाएं उसी प्रणाली में नहीं बनाई गई कि जिस प्रणाली में चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दियों के ग्रन्थ बनाए गए हैं? ह्यूम और गिबन ने मध्यकाल की प्रणाली के अनुसार इतिहास क्यों नहीं लिखा? और फीलाडिङ्ग और स्काट ने मध्यकालीन कल्पित कथाएं क्यों नहीं लिखी? फिर भी इन सबके विषय एकही थे। तो फिर लेख प्रणाली में इतना फर्क क्यों है कि यदि योरप के इतिहास का नाम भी मिट जाय तो भी केवल इन्हीं साहित्य की पुस्तकों से हमलोग आजकल के समय से फ्यूडल समय का विभाग कर सकते हैं?

कोई अंगरेज इन प्रश्नों का उत्तर यों देगा कि एलिज़बेथ के राज्य-काल के, और शेक्सपियर और बेकन के लेखों के पीछे भी मध्यकाल के इतिहासों और कल्पित कथाओं की प्रणाली में लेख लिखना असम्भव था, क्योंकि इसके पीछे योरप में एक नया प्रकाश उदय हो गया था, मनुष्यों की बुद्धि बढ़ गई थी, धर्म संशोधित हो गया था, पूर्वी गोलार्द्ध का पता लग गया था, आज कल की फ़िलासोफ़ी (न्याय शास्त्र) की उत्पत्ति हो गई थी, वाणिज्य और समुद्री व्यवसाय में अद्भुत उन्नति हो गई थी, सैनिक काश्तकारी पूरी तरह से उठ गई थी, सारांश यह कि योरोपियन सृष्टि ही बदल गई थी।

यदि पाठकों के सामने हिन्दू सभ्यता का इतिहास वैसी ही स्पष्टता से उपस्थित करना सम्भव होता जैसा कि उनके सामने योरप की सभ्यता का इतिहास है, तो वे भारतवर्ष के ऐतिहासिक कालों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही उत्तर दे सकते। ऐतिहासिक काव्य के काल में हिन्दुओं की विस्तृत सभ्यता और उनकी धार्मिक क्रियाओं के आडम्बर होने के पीछे यह बात असम्भव थी कि ग्रन्थ वैदिक सूक्तों की प्रणाली में लिखे जाते। वह सीधी सादी भक्ति जिससे कि पंजाब के आर्य लोग आकाश, प्रभात अथवा सूर्य को देखते थे, सदैव के लिये लोप हो गई थी। अब प्रकृति की वे सहज

शोभाएं, गंगा की घटी में रहनेवाले सभ्य आर्यों की, जोकि अब बड़े आडम्बर के आचारों और यज्ञों में लिप्त थे, धार्मिक प्रशंसा विस्मय को आकर्षित नहीं करती थी। अब इस मकान में वृष्टि के देवता इन्द्र की अथवा प्रभात की देवी उषा की, भक्ति के साथ स्तुति करना सम्भव नहीं था, प्राचीन सरल सूक्तों का अर्थ और उद्देश्य ही भूल गया था और अब का मुख्य धर्म सादे प्रभात और सायंकाल के अर्घ्य से लेकर बड़े बड़े विधान के राजसूय यज्ञों तक, जो कई वर्षों में समाप्त होते थे, नाना प्रकार के यज्ञों ही में था। यज्ञों के नियम, छोटी छोटी बातों का गुरुत्व और उद्देश्य और तुच्छ रीतों के नियम, ये ही अब लोगों के धार्मिक हृदय में भरे थे, ये ही अब विद्वान राजाओं और राजगुरुओं में विचार के विषय थे, और इन्हीं का ब्राह्मण ग्रन्थों में उल्लेख है। इसलिये इस समय के सभ्य ग्रन्थकारों और विद्वानों का पुरानी प्रणाली के अनुसार वैदिक सूक्तों की प्रणाली में लिखना वैसा ही असम्भव था जैसा कि योरप के मध्य काल के विद्वानों का पुराने समय की वन्य और सादी नारवेजियन प्रणाली में लिखना।

फिर, डेकार्ट और बेकन के लेखों के पीछे योरप में मध्य कालीन दर्शन शास्त्रों की विवेचना असम्भव थी। इसी प्रकार से, और इसी कारण से, भारतवर्ष में कपिल और गौतम बुद्ध की शिक्षाओं के पीछे ब्राह्मणों की विस्तृत किन्तु व्यर्थ की बकवाद भी असम्भव थी। भारतवासियों के हृदय में एक नया प्रोत्साहन उदय हो गया था। विन्ध्याचल के आगे एक नई भूमि भी ज्ञात हो गई थी, यद्यपि उस मनुष्य का नाम जिसने कि पहिले पहिल इस दक्षिणी भूमि को ज्ञात किया, भूल गया है। उत्साह और भक्ति से पूर्ण उपनिषद लिखे जा चुके थे, जो ब्राह्मणों के विद्याभिमान के बड़े विरोध में थे। कपिल ने, जोकि भारतवर्ष का एक बड़ा भारी दर्शनज्ञ था, अपने सांख्यदर्शन से भारतवर्ष में हलचली मचा दी थी और गौतम ने, जो भारतवर्ष का बड़ा भारी सुधारक था, जिसने दीन दुखियों के लिये एक संशोधित धर्म चलाया और ब्राह्मणों के विशेषाधिकारों का दृढ़ विरोध किया। कई नए नए विज्ञान

भी आविष्कृत हो गए थे और भारतवर्ष में एक नया प्रकाश उदय हो गया था।

ब्राह्मण साहित्य का लोप साधारणतः हुआ। विस्तृत और अर्थ विहीन नियमों पर अंधकार छा गया और भिन्न भिन्न प्राचीन धर्मसम्बन्धी कर्मों के नियम संक्षिप्त रूप में लिखे गए। दार्शनिक शास्त्रों के सूत्र बनाए गए और विद्या के प्रत्येक विभाग का रूप संक्षिप्त किया गया। मानवी विद्या के प्रत्येक विभाग पर संक्षेप रूप से ग्रन्थ लिखे गए कि जिसमें गुरू सुगमता से पढ़ा सके और विद्यार्थी मुंहज़बानी पढ़ सके। और यही कारण है कि दर्शन काल का समस्त साहित्य सूत्रों के रूप में लिखा गया।

इन तीनों प्रकार के प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों का, जो हिन्दू इतिहास के तीन भिन्न भिन्न कालों का वर्णन करते हैं, ऐतिहासिक गुरुत्व यह है। सूक्तों से वैदिक समय की वीरोचित सरलता प्रगट होती है, ब्राह्मण ऐतिहासिक काव्य काल के आडम्बर युक्त आचार प्रगट करते हैं और सूत्रों से विवेकमय काल की विद्या, शास्त्र और अविश्वास प्रगट होते हैं।

हम ऊपर कह चुके हैं कि इनमें से प्रत्येक काल में हिन्दुओं का अधिनिवेश पूरब और दक्षिण की ओर बढ़ता गया, और जिन संस्कृत ग्रन्थों का ऊपर वर्णन हुआ है उनसे भी ये बातें प्रमाणित होती हैं। योरप में इटली, जर्मनी, फ्रांस और इंगलैंड में फ्यूडल समय के ग्रन्थों और आज कल के साहित्य की एक ही स्थल में वृद्धि हुई, परन्तु भारतवर्ष में ऐसा नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि आर्य लोग प्रत्येक काल में विजय करते हुए आगे बढ़ते गए और प्रत्येक काल के ग्रन्थों में भारतवर्ष के केवल उतने ही भाग का उल्लेख है जितने में कि उस काल में आर्य लोगों का अधिकार और राज्य था। और केवल इसी बात से हम लोगों को भिन्न भिन्न श्रेणी के ग्रन्थों के समय का बहुत कुछ पता लग सकता है।

ऋग्वेद के सूक्तों में केवल पंजाब का उल्लेख है, उसमें पंजाब के आगे के भारतवर्ष का कुछ समाचार नहीं है। उसमें दूरस्थ गंगा

और यमुना के तटों का कहीं विरले ही उल्लेख है। उसमें सब युद्धों सामाजिक संस्कारों और यज्ञों के स्थान केवल सिन्धु नदी, उसकी शाखाएं और सरस्वती के तट ही हैं। अतएव जिस समय ये सूक्त बनाए गए थे उस समय हिन्दुओं को भारतवर्ष का केवल इतना ही भाग मालूम था।

परन्तु हिन्दू लोग शीघ्र ही उत्तरी भारतवर्ष भर में जा बसे और कुछ ही शताब्दियों में इन लोगों ने उन्नति कर के बड़े बड़े राज्य स्थापित कर लिए और अपनी उन्नति और विद्या से अपनी जन्मभूमि पंजाब को दबा दिया। ब्राह्मणों में, आधुनिक दिल्ली के आस पास के देश में प्रबल कुरुओं का, आधुनिक कन्नौज के आस पास के देशों में प्रतापी पांचालों का, आज कल के उत्तरी विभाग में विदेहों का, अवध में कोशलों का, और आधुनिक बनारस के आस पास के देश में काशियों का उल्लेख मिलता है। इन लोगों ने बड़े आडम्बर के यज्ञादि कर्मों को बढ़ाया और इनमें जनक, अजातशत्रु, जनमेजय और पारीक्षित की भांति प्रतापी और विद्वान राजा हुए। उन लोगों ने ग्रामों और नगरों में परिषद् अर्थात् पाठशालाएं स्थापित कीं और जातिभेद की एक नई सामाजिक रीति चलाई। ब्राह्मण ग्रन्थों में हम लोग ज्यादा करके इन्हीं लोगों का तथा इन की सभ्यता का उल्लेख पाते हैं। पंजाब उस समय प्रायः भूल सा गया था और दक्षिणी भारतवर्ष ज्ञात नहीं हुआ था। और यदि दक्षिणी भारतवर्ष का उल्लेख कहीं पर मिलता है तो वहां पर वह जंगली मनुष्यों और पशुओं का निवास स्थान कहा गया है। और अन्त में सूत्र ग्रन्थों में हम लोगों को दक्षिणी भारतवर्ष के बड़े बड़े राज्यों का वर्णन मिलता है। इस प्रकार से भिन्न भिन्न ग्रन्थों में जिन देशों और जातियों का वर्णन है उससे उनके समय का पता लगता है।

हम इस पुस्तक के पहिले काण्ड में वैदिक काल के तथा ऋग्वेद के सूक्तों के विषय में लिख चुके हैं। अब इस दूसरे काण्ड में हम ऐतिहासिक काव्य काल के और ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय में

और तीसरे काण्ड में दर्शन काल के तथा सूत्र ग्रन्थों के विषय में लिखेंगे।

हम ऊपर दिखला चुके हैं कि ऋग्वेद के सूक्त वैदिक काल में बनाए गए थे, परन्तु वे आखीर में ऐतिहासिक काव्य काल में संग्रहीत किए गए थे। अन्य तीनों वेद, अर्थात् सामवेद यजुर्वेद और अथर्ववेद भी इसी काल में संग्रहीत किए गए थे।

सामवेद और यजुर्वेद के संग्रहीत होने के कारण, कुछ निश्चित रूप से जाने जा सकते हैं। हम लोगों को ऋग्वेद के सूक्तों में भिन्न भिन्न प्रकार के धर्माचार्यों का उल्लेख मिलता है, जिन्हे यज्ञ में जुदे जुदे कार्य करने पड़ते थे। अध्वर्युओं को यज्ञ के सब प्रधान काम करने पड़ते थे, जैसे उन्हें भूमि नापनी पड़ती थी, मूर्त्ति और यज्ञ कुंड बनाना पड़ता था, लकड़ी और पानी लाना पड़ता था और पशुओं को बलिदान करना पड़ता था। पुरानी रीति के अनुसार यज्ञ में गाना भी होता था और यह गाने का काम उद्गात्री लोग करते थे। होत्री लोगों को वेद की ऋचाएं पढ़नी पड़ती थी, और ब्राह्मण लोग यज्ञ में सब पर अधिष्ठान करते थे।

इन चारों प्रकार के धर्माचार्यों में न तो ब्राह्मणों और न होत्रियों को किसी विशेष पुस्तक की आवश्यकता थी क्योंकि ब्राह्मणों को केवल सब यज्ञकर्म जानने की आवश्यकता थी, जिसमें कि वे यज्ञ का अधिष्ठान कर सकें, दूसरे धर्माचार्यों को संदिग्ध विषयों में उनका कर्तव्य बता सकें और उनकी भूलों को सुधार सकें। होत्रियों को भी केवल ऋचाएं पढ़नी पड़ती थीं और यदि वे ऋग्वेद के सूक्तों को जानते हों तो उन्हें किसी दूसरी पुस्तक की आवश्यकता नहीं थी। परन्तु अध्वर्युओं और उद्गात्रियों को विशेष शिक्षा की आवश्यकता थी। वैदिक समय में अध्वर्युओं के लिये कुछ विशेष याज्ञिक मंत्र अवश्य रहे होंगे और ऋग्वेद में उद्गात्रियों के लिये कुछ स्वर-ताल-बद्ध सूक्त भी अवश्य रहे होंगे क्योंकि ऋग्वेद में 'यजुस' और 'सामन' नाम पाए जाते हैं। इसके पीछे अर्थात् ऐतिहासिक काव्य काल में इन मंत्रों और गीतों का एक अलग

संग्रह किया गया और इन्हीं संग्रहों के जो अन्त में रूप होगए वे हमारे इस समय के यजुर्वेद और सामवेद हैं।

सामवेद के संग्रह करनेवाले का हमलोगों को कोई पता नहीं लगता। डाक्टर स्टिवेन्सन का जो अनुमान था उसे प्रोफ़ेसर बेनफ़े ने सिद्ध कर दिखला दिया है कि सामवेद की कुछ ऋचाओं को छोड़ कर और सब ऋग्वेद में पाई जाती हैं। साथ ही इसके यह भी विचार किया जाता है कि ये बाकी की थोड़ी ऋचाएं भी ऋग्वेद की किसी प्रति में, जो कि अब हमलोगों को अप्राप्त है, अवश्य रही होंगी। अतएव यह बात स्पष्ट है कि सामवेद केवल ऋग्वेद में से ही संग्रह किया गया है और वह एक विशेष कार्य के लिये सुर-ताल-बद्ध किया गया।

यजुर्वेद के संग्रह करनेवालों का हमें कुछ पता लगता है। श्याम यजुर्वेद तित्तिरि के नाम से तैतिरीय संहिता कहलाता है, और कदाचित इसी तित्तिरि ने इसे इसके आधुनिक रूपमें संग्रहीत या प्रकाशित किया था। इस वेद की आत्रेय प्रति की अनुक्रमणी में यह लिखा है कि यह वेद वैशम्पायन से याइक पैङ्गि को प्राप्त हुआ, फिर याइक से तित्तिरि को, तित्तिरि से उख को, और उख से आत्रेय को प्राप्त हुआ। इससे प्रगट होता है कि यजुर्वेद की जो इस समय सबसे पुरानी प्रति मिलती है वह आदि प्रति नहीं है।

स्वेत यजुर्वेद के विषय में हमें इससे भी अधिक पता लगता है। यह वेद अपने संग्रह करनेवाले अथवा प्रकाशित करनेवाले याज्ञवल्क्य वाजसनेय के नाम से वाजसनेयी संहिता कहलाता है। याज्ञवल्क्य, विदेह के राजा जनक की सभा में प्रधान पुरोहित थे और यह नया वेद कदाचित इसी विद्वान राजा की सभा से प्रकाशित हुआ। श्याम और स्वेत यजुर्वेदों के विषयों के क्रम में सबसे बड़ा भेद यह है कि पहिले में तो याज्ञिक मंत्रों के आगे उनका व्याख्यान और उनके सम्बन्धी यज्ञकर्म का वर्णन दिया है, परन्तु दूसरी संहिता में केवल मंत्र ही दिए हैं, उनका व्याख्यान तथा

यज्ञकर्म का वर्णन एक अलग ब्राह्मण में दिया है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि सम्भवतः पुराने क्रम को सुधारने और मंत्रों को व्याख्या से अलग करने के लिये जनक की सभा के याज्ञवल्क्य ने एक नई वाजसनेयी सम्प्रदाय खोली और इसके उद्योगों का फल एक नई (वाजसनेयी) संहिता और एक पूर्णतया भिन्न (सतपथ) ब्राह्मण का बनाया जाना हुआ।

परन्तु यद्यपि स्वेत यजुर्वेद के प्रकाशक याज्ञवल्क्य कहे जाते हैं, पर इस वेद को देखने से जान पड़ेगा कि यह किसी एक मनुष्य या किसी एक ही समय का भी संग्रह किया हुआ नहीं है। इसके चालिसो अध्यायों में से केवल प्रथम १८ अध्यायों के मंत्र सतपथ ब्राह्मण के प्रथम नौ खंडों में पूरे पूरे उद्धृत किये गए हैं और यथा क्रम उन पर टिप्पणी भी दी गई है। पुराने श्याम यजुर्वेद में इन्हीं अट्ठारहों अध्याओं के मंत्र पाए जाते है। इसलिये ये अट्ठारहों अध्याय स्वेत यजुर्वेद के सबसे पुराने भाग हैं और सम्भवतः इन्हें याज्ञवल्क्य वाजसनेय ने संकालित वा प्रकाशित किया होगा। इसके आगे के सात अध्याय सम्भवतः उत्तरकाल के हैं और शेष १५ अध्याय तो निस्सन्देह और भी उत्तर काल के हैं जो कि साफ़ तरह से परिशिष्ट वा खिल कहे गए हैं।

अथर्व वेद के विषय में हमें केवल यह कहने ही की आवश्यकता है कि जिस काल का हम वर्णन कर रहे हैं, उसके बहुत पीछे तक भी इस ग्रन्थ की वेदों में गिनती नहीं की जाती थी। हां,ऐतिहासिक काव्य काल में एक प्रकार के ग्रन्थों की जिन्हें अथर्वाङ्गिर कहते हैं उत्पत्ति अवश्य हो रही थी जिसका उल्लेख कुछ ब्राह्मणों के उत्तर कालीन भागों में है। हिन्दू इतिहास के तीनों कालों में और मनु की तथा दूसरी छन्दोबद्ध स्मृतियों में भी, प्रायः तीन ही वेद माने गए हैं। यद्यपि कभी कभी अथर्वन, वेदों में गिने जाने के लिये उपस्थित किया जाता था,परन्तु फिर भी ईस्वी सन् के बहुत पीछे तक यह ग्रन्थ प्रायः चौथा वेद नहीं माना जाता था। जिस काल का हम वर्णन कर रहे हैं उस काल की पुस्तकों में से बहुतेरे वाक्य

उद्धृत किए जा सकते हैं जिनमें केवल तीन ही वेद माने गए हैं, परन्तु स्थान के अभाव से हम उन वाक्यों को यहां उद्धृत नहीं कर सकते। हम अपने पाठकों को केवल इन ग्रन्थों के निम्नलिखित भागों को देखने के लिये कहेंगे, अर्थात् ऐतरेय ब्राह्मण ५, ३२, सतपथ ब्राह्मण ४, ६, ७ ऐतरेय आरण्यक ३, २, ३, वृहदारण्यक उपनिषद् १, ५, और छान्देग्य उपनिषद् ३ और ७। इस अन्तिम पुस्तक में तीनों वेदों का नाम लिखने के पीछे अथर्वाङ्गिर की गिनती इतिहासों में की है। केवल अथर्व वेद ही के ब्राह्मण और उपनिषदों में इस पुस्तक को वेद माने जाने का बराबर उल्लेख मिलता है। यथा गोपथ ब्राह्मण का मुख्य उद्देश्य एक चौथे वेद की आवश्यकता दिखलाने का है। उसमें यह लिखा है कि चार पहियों बिना गाड़ी नहीं चल सकती, पशु भी चार टांगों बिना नहीं चल सकता, और न यज्ञ ही चार वेदों बिना पूरा हो सकता है। ऐसी विशेष युक्तियों से केवल यही सिद्ध होता है कि गोपथ ब्राह्मण के बनने के समय तक भी चौथा वेद प्रायः नहीं गिना जाता था।

अथर्वन और अङ्गिरा जैसा कि प्रोफ़ेसर व्हिटनी कहते हैं, प्राचीन और पूज्य हिन्दू वंशों के अर्द्ध पौराणिक नाम हैं और इस आधुनिक वेद का इन प्राचीन नामों से किसी प्रकार सम्बन्ध करने का यत्न किया गया। इस वेद में २० कांड हैं, जिनमें लगभग ६ हजार ऋचाएं हैं। इसका छठां भाग गद्य में है और शेष अंश का छठां भाग ऋग्वेद के, प्रायः दसवें मंडल के, सूक्तों में मिलता है। उन्नीसवां कांड एक प्रकार से पहिले अट्ठारह कांड का परिशिष्ट है और बीसवें कांड में ऋग्वेद के उद्धृत भाग हैं।

इस सारे वेद में खास करके दैवी शक्तियों की हानि से, रोग से, हिंसक जानवरों से और शत्रुओं के शाप से मनुष्यों को अपनी रक्षा करने के लिये मंत्र हैं। इसमें बहुत से भूतों और पिशाचों का उल्लेख है और उनकी स्तुति दी है जिसमें वे कोई हानि न करें। यह कल्पना की गई है कि ये मंत्र देवताओं से उन आवश्यक चीजों को भी दिलवाते हैं, जिनके देने के लिये उन देवताओं की इच्छा

नहीं होती । इस पुस्तक में दीर्घायु होने, धन प्राप्त करने अथवा रोग से अच्छे होने के लिये मंत्र और यात्रा, जुए आदि में सफलता प्राप्त करने के लिये स्तुतियां भरी हैं। ये मंत्र उन्हीं मंत्रों की नाईं हैं जो कि ऋग्वेद के आखरी मंडल में दिए हैं । परन्तु, जैसा कि प्रोफेसर वेबर ने दिखलाया है, उनमें भेद केवल इतना ही है कि ऋग्वेद में वे साफ़ उस समय के बनाए हुए हैं जिस समय कि ऋग्वेद बना था, पर अथर्ववेद में वे आधुनिक समय के बनाए हुए हैं।

अब हम ब्राह्मण रचना का वृतान्त देंगे जिसके कारण इस काल के ग्रन्थ ब्राह्मणों का साहित्य कहलाते हैं। हम दिखला चुके हैं कि श्याम यजुर्वेद में मूल के आगे सदा उसकी व्याख्या भी दी है। ऐसा विचारा जाता था कि यह व्याख्या मूल को स्पष्ट करती है और उसके छिपे हुए अर्थ को प्रगट करती है। इन व्याख्याओं में कई पीढ़ियों के धर्माचार्यों के विचार हैं। इस प्रकार की व्याख्या को "ब्राह्मण" कहते थे और उत्तर काल में इन व्याख्याओं के संग्रह अथवा उनके सारांश को 'ब्राह्मण' कहने लगे।

ऋग्वेद के दो ब्राह्मण हैं अर्थात् ऐतरेय और कौशीतकि । इनमें से पहिले के बनानेवाले इतरा के पुत्र महिदास ऐतरेय कहे जाते हैं और कौशीतकि ब्राह्मण में कौशीतक ऋषि का विशेष आदर किया गया है और इन्हींका कथन निश्चित समझा गया है । और सब बातों में ये दोनों ब्राह्मण, एक ही ग्रन्थ की केवल दो प्रतियां जान पड़ते हैं, जिन्हें क्रम से ऐतरेय और कौशीतकि लोग व्यवहार करते थे। ये ब्राह्मण एक दूसरे से अनेक बातों में मिलते हैं, सिवाय इसके कि ऐतरेय के अन्तिम दस अध्याय कौशीतकि में नहीं हैं, और कदाचित ये उत्तर काल के हैं।

सामवेद के टाण्ड्य वा पञ्चविंश ब्राह्मण, सड्विंश ब्राह्मण, मन्त्र ब्राह्मण, और सुप्रसिद्ध छान्दोग्य हैं।

श्याम यजुर्वेद वा तैत्तिरीय संहिता का तैत्तिरीय ब्राह्मण है

और स्वेत यजुर्वेद वा वाजसनेयी संहिता का एक बड़ा भारी सतपथ ब्राह्मण है। हम ऊपर कह आए हैं कि सतपथ ब्राह्मण के बनाने वाले याज्ञवल्क्य कहे जाते हैं, पर यह अधिक सम्भव है कि उन्होंने जो सम्प्रदाय स्थापित की थी उसीने इसे बनाया हो, क्योंकि इस पुस्तक में कई स्थान पर उसका उल्लेख किया गया है। परन्तु यह पूरा ग्रन्थ किसी एक ही सम्प्रदाय वा एक ही समय का बनाया हुआ नहीं है वरन स्वेत यजुर्वेद संहिता की नाईं, इस ब्राह्मण के भी भिन्न भिन्न समयों में बनाए जाने के प्रमाण मिलते हैं। इस संहिता के पहिले १८ अध्याय सब से पुराने हैं और इस ब्राह्मण के पहिले ६ कांड, जिनमें इन अट्ठारहो अध्यायों की व्याख्या दी है, सब से पुराने हैं। इसके शेष ५ कांड प्रथम ९ कांडों के पीछे के समय के हैं।

अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण है जो कि बहुत ही थोड़े समय का बना हुआ जान पड़ता है। इसके लेख नाना प्रकार के मिश्रित हैं और अधिकांश भिन्न भिन्न स्थानों से लिए गए हैं।

ब्राह्मणों के पीछे आरण्यक बने, जो कि वास्तव में ब्राह्मणों के अन्तिम भाग समझे जा सकते हैं। सायन ने लिखा है कि वे आरण्यक इसलिये कहे जाते थे क्योंकि वे अरण्य अर्थात् बन में पढ़े जाते थे, परन्तु ब्राह्मण उन यज्ञों में व्यवहार किए जाते थे जिन्हें गृहस्थ लोग अपने घरों में करते थे।

ऋग्वेद के कौशीतकि आरण्यक और ऐतरेय आरण्यक हैं जिनमें से ऐतरेय आरण्यक महिदास ऐतरेय का बनाया हुआ कहा जाता है। श्याम यजुर्वेद का तैत्तिरीय आरण्यक है और सतपथ ब्राह्मण का अन्तिम अध्याय भी उसका आरण्यक कहा जाता है। सामवेद और अथर्व वेद के आरण्यक नहीं हैं।

इन आरण्यकों का विशेष गुरुत्व इसलिये है कि वे उन प्रसिद्ध धार्मिक विचारों के विशेष भंडार हैं जो उपनिषद कहलाते हैं। जो उपनिषद सुप्रसिद्ध और निस्सन्देह प्राचीन है वे ये हैं–

ऋग्वेद के ऐतरेय और कौशीतकि उपनिषद् जो इन्हीं नामों के आरण्यकों में पाए जाते हैं, सामवेद के छान्दोग्य और तनलवकार (वा केन) उपनिषद्, स्वेत यजुर्वेद के वाजसनेयी (वा ईश) और वृहदारण्यक, श्याम यजुर्वेद के तैत्तिरीय, कठ और श्वेताश्वतर, और अथर्ववेद के मुण्डक, प्रश्न और माण्डुक्य । ये बारह प्राचीन उपनिषद् हैं और शंकराचार्य ने अपने वेदान्त सूत्रों के भाष्य में मुख्यतः इन्हीं उपनिषदों से प्रमाण लिया है । परन्तु जब उपनिषद् पवित्र और प्रामाणिक गिने जाने लगे तो इस श्रेणी के नए नए ग्रन्थ बनने लगे यहां तक कि इनकी संख्या दो सै से भी अधिक होगई । उत्तर काल के उपानिषद् जो प्रायः अथर्ववेद उपनिषद् कहे जाते हैं, पौराणिक काल तक के बने हुए हैं। उनमें प्राचीन उपनिषदों की नाईं ब्रह्मज्ञान के विषय की वार्ता न होकर साम्प्रदायिक विचार पाए जाते हैं । वास्तव में उत्तर काल के उपनिषद्, भारतवर्ष में मुसलमानों के आने के बहुत पीछे तक के भी बने हैं और सम्राट अकबर जो एक सार्वभौम धर्म स्थापित करना चाहता था उसका विचार एक उपनिषद् में पाया जाता है, जिसका नाम अल्लाह उपनिषद् है । यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि हम इस पुस्तक में उत्तर काल के उपनिषदों का नहीं वरन् केवल प्राचीन उपनिषदों का ही उल्लेख करेंगे ।

उपनिषदों के साथ ही ऐतिहासिक काव्य काल का अन्त होता है और भारतवर्ष के इश्वरप्राप्त साहित्यभंडार का भी अन्त होता है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त इस काल में निसन्देह दूसरी श्रेणियों के भी ग्रन्थ थे, परन्तु अब लुप्त हो गए हैं अथवा उनमें से अधिकांश की जगह पर अब नए नए ग्रन्थ हो गए हैं । इस काल के बड़े भारी ग्रन्थ समूह का केवल एक अंश हम लोगों को प्राप्त है और इस अंश के मुख्य ग्रन्थों का उल्लेख ऊपर किया गया है ।

स्वयम् ऐतिहासिक काव्यों में से मुख्य महाभारत और रामायण का वर्णन हम अगले दो अध्यायों में करेंगे ।

———:०:———

अध्याय २

——:o:——

कुरु और पांचाल ।

विजयी आर्य लोग आगे बढ़ते गए। यदि पाठक भारतवर्ष का नकशा लेकर देखेंगे तो उन्हें विदित होगा कि सतलज के किनारे से लेकर गंगा और यमुना के किनारों तक यात्रा करने के लिये कोई बहुत ही बड़ी भूमि नहीं है। आर्यलोगों के लिये, जो सारे पंजाब में बस गए थे, सतलज अथवा सरस्वती के ही तटों पर चुपचाप पड़ा रहना सम्भव नहीं था। वैदिक काल में ही उद्योगी अधिवासियों के कई झुंड इन नदियों को पार करके यमुना और गंगा के दूरस्थ तटों की छान बीन कर चुके थे और ये नदियां अविदित नहीं थीं, यद्यपि सूक्तों में इनका हिन्दू संसार के पूर्णतया अन्त में होने की भांति उल्लेख आया है। कुछ काल में इन दोनों नदियों के उपजाऊ तटों पर के अधिवासी लोग संख्या में बहुत बढ़ गए होंगे यहां तक कि अन्त में इन्होंने आधुनिक दिल्ली के निकट एक बड़ा राज्य, अर्थात् कुरु लोगों का राज्य स्थापित किया।

ये अधिवासी वे ही भारत लोग थे जो सुदास के युद्धों में प्रसिद्ध हैं। परन्तु इनके राजा कुरुवंशी थे और इसलिये उनकी जाति भारत और कुरु दोनों ही नामों से प्रसिद्ध है। कुरु लोग पंजाब के किस भाग से आए इसका अभी पता नहीं लगा है। ऐतरेय ब्राह्मण (७, १४) में यह उल्लेख है कि उत्तर कुरु तथा उत्तर माद्रलोग हिमालय के उस पार रहते थे। उत्तरकाल के ग्रन्थों अर्थात् महाभारत (१.४७,१९ इत्यादि) और रामायण (४, ४४ ८८, इत्यादि) में तो उत्तर कुरु लोगों की भूमि कल्पित देश सी हो गई है। यह स्थिर किया गया है कि टालमी का 'ओट्टोर कोर' उत्तर कुरु ही है और लेसेन उनका देश आधुनिक काशगर के पूर्व में किसी

स्थान पर बतलाता है। परन्तु जिन उत्तर कुरु लोगों का ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लेख है उनका स्थान हमारे विचार में हिमालय की छोटी छोटी चोटियों के कहीं उत्तर में अर्थात्त काश्मीर में कहीं पर था। हम यह मान लेते हैं कि ईसा के लगभग १४०० वर्ष पहिले इन कुरु लोगों की राजधानी गंगा के तट पर उन्नति को प्राप्त हुई।

जब एक बार हिन्दू लोग जमुना और गंगा के तटों पर आकर बस गए तो फिर झुंड के झुंड लोग आकर इन नदियों के तटों पर बसने लगे और शीघ्र ही इन दोनों नदियों के बीच की उस सारी भूमि में बस गए जिसको द्वाब कहते हैं। जिस समय हमलोग कुरु अथवा भारत लोगों को आधुनिक दिल्ली के निकट बसते हुए पाते हैं उसी समय एक दूसरी उद्योगी जाति अर्थात् पांचालों को आधुनिक कन्नौज के निकट भी बसते हुए पाते हैं। पांचालों के आदि स्थान के विषय में कुरु लोगों की अपेक्षा और कम पता लगा है और यह कल्पना करली गई है कि वे लोग भी कुरु लोगों की नाईं उत्तरी पहाड़ियों से आकर बसे। पांचाल के अर्थ 'पांच जातिया' हैं और इससे यह प्रगट होता है कि वे कदाचित् उस पञ्चकृष्टि अथवा पञ्चजनों में से थे जिनका उल्लेख ऋग्वेद में कई जगहों पर आया है।

सम्भवतः पांचालों के राज्य की अभिवृद्धि उसी समय हुई जिस समय कि कुरु लोगों के राज्य की हुई। ब्राह्मण ग्रन्थों में इन दोनों राज्यों का हिन्दू संसार के केन्द्र की नाईं कई जगह पर उल्लेख है, जो कि अपने पराक्रम, विद्या और सभ्यता के लिये प्रसिद्ध हैं। बहुतेरे ब्राह्मण ग्रन्थों में इन लोगों के विद्याभिवृद्धि का, इनके पुरोहितों की पवित्रता का, इनके राजाओं के आडम्बरयुक्त यज्ञों का तथा और लोगों के दृष्टान्त योग्य जीवनों का उल्लेख है।

आर्यों को सिन्धु के तट पर आकर बसे कई शताब्दियां हो गई थीं और उन्होंने इन शताब्दियों में उन्नति और सभ्यता में बहुत कुछ किया था। कुरु और पांचाल लोग अब उन खेतिहर योधाओं की नाईं नहीं थे जिन्होने कि सिन्धु और उसकी सहायक नदियों के

किनारों की भूमि को काले आदिम निवासियों से लड़ लड़ कर जीता था। अब रीति व्यवहार बदल गए थे, समाज अधिक सभ्य हो गया था और विद्या और कलाकौशल में बहुत कुछ उन्नति हो गई थी। राजा लोग पंडितों को अपनी सभा में बुलाते थे, अपने पुरोहितों से पाण्डित्यपूर्ण वादविवाद करते थे, उस समय के नियमानुसार बड़े आडम्बरयुक्त यज्ञ करते थे, रणक्षेत्र में माननीय और शिक्षित सेनाओं के नेता होते थे, सुयोग्य पुरुषों को कर उगाहने और न्याय करने के लिये नियुक्त करते थे, और सभ्य शासकों को जो जो कार्य करने चाहिए वे सब करते थे। राजा के सम्बन्धी तथा मित्र लोग और जाति के सब योधा लोग बचपन ही से धनुष चलाना और युद्ध में रथ हांकना सीखते थे और वेदों को तथा उस पवित्र विद्या को भी पढ़ते थे जो कि एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को जबानी सिखाई जाती थी। पुरोहित लोग धर्मसम्बन्धी क्रिया कर्मों के विधानों को बढ़ाए जाते थे, देश के प्राचीन साहित्य को रक्षित रखते थे, और लोगों को उनके धार्मिक कर्मों में शिक्षा और सहायता देते थे। लोग नगरों और ग्रामों में रहते थे, अपने घर में पवित्र होमाग्नि स्थापित रखते थे, शान्ति के उपायों का अवलम्बन करते थे। अपने लड़कों को बचपन से वेदों की तथा धार्मिक और सामाजिक कार्यों की शिक्षा देते थे और धीरे धीरे उन सामाजिक रीतियों को पुष्ट करते थे जो कि भारतवर्ष में कानून की तरह पर हैं। समाज में स्त्रियों का उचित प्रभाव था और उनके लिये किसी प्रकार की कैद अथवा रुकावट नहीं थी। भारतवर्ष में वैदिक काल की अपेक्षा, ईसा के चौदह सौ वर्ष पहिले समाज बहुत कुछ सभ्यता और उन्नति की अवस्था में था और उत्तरकाल की अपेक्षा उसमें बहुत कुछ स्वास्थ्य और ओजस्वीनी रहन सहन थी।

परन्तु यह कोई आवश्यक बात नहीं है कि जहां सभ्यता हो वहां लड़ाई झगड़ा न हो। अस्तु, कुरुओं और पांचालों में भी लड़ाई झगड़े होते थे, परन्तु हम लोगों को उनमें से केवल एक ही भयानक युद्ध का वर्णन मिलता है जिसमें कि बहुत सी आस पास की

जातियां सम्मिलित हुई थीं और जो कि भारतवर्ष के दो महाकाव्यों में से एक का प्रसंग है।

महाभारत में युद्ध की जिन घटनाओं का वर्णन है वे उसी प्रकार की कल्पित हैं जैसा कि इलिअड (Iliad) की घटनाएं कल्पित हैं। पांचो पांडव और उन सब की एक मात्र पत्नी, एचिलस (Achilles), पेरिस (Paris) और हेलन (Helen) की नाई कल्पित हैं। परन्तु फिर भी यह महाकाव्य बड़े भारतों के एक सच्चे युद्ध के आधार पर बनाया गया है और इसमें प्राचीन हिन्दुओं की चाल व्यवहार का वर्णन वैसाही ठीक ठीक किया गया है जैसा कि प्राचीन यूनान वासियों का वर्णन इलिअड में किया गया है।

महाभारत की कथा से प्राचीन हिन्दुओं की सामाजिक अवस्था का बहुत अच्छा पता लगता है। अतएव मैं यहां पर इस कथा का संक्षेप में वर्णन कर देना आवश्यक समझता हूं। पाठकों को नामों पर अथवा कथा पर, जो कि अधिकतर कल्पित हैं, ध्यान देना नहीं चाहिए, वरन् उन्हें इस कथा में से ऐतिहासिक काव्य काल में (अर्थात् उस समय जब कि आर्य लोग गंगा की घाटी में फैल रहे थे) हिन्दू लोगों के जीवन का एक चित्र खींचने का यत्न करना चाहिए।

जिस समय का हम वर्णन कर रहे हैं उस समय कुरु लोगों की राजधानी हस्तिनापुर में थी, जिसका अनुमानित खंडहर गंगा के ऊपरी भाग में, दिल्ली से लगभग ६५ मील उत्तर-पूरब में मिला है। हस्तिनापुर का वृद्ध राजा शान्तनु मर गया। उसके दो पुत्र हुए, एक तो भीष्म जिसने कुंआरे रहने का प्रण कर लिया था, और दूसरा छोटा भाई जो राजा हुआ। कुछ काल में यह युवा राजा मर गया। इसके दो पुत्र हुए, पहिला धृतराष्ट्र जो अन्धा था, और दूसरा पाण्डु जो राजगद्दी पर बैठा।

पाण्डु अपने पांच पुत्रों को छोड़ मर गया और येही पांचो पुत्र

इस महाकाव्य के नायक हैं। पांचो पांडवों तथा अपने लड़कों की बाल्यावस्था में धृतराष्ट्र वस्तुतः राजा था और धृतराष्ट्र का चचा, प्रसिद्ध योधा भीष्म, प्रधान मंत्री और राज्य का शुभचिन्तक था।

युवा पाण्डवों और धृतराष्ट्र के पुत्रों की शस्त्र विद्या के वर्णन से राज्यवंशों की चाल व्यवहार का बहुत कुछ पता लगता है। द्रोण एक ब्राह्मण और प्रसिद्ध योधा था, क्योंकि अभी तक जाति भेद पूरी तरह से नहीं माना जाता था, अभी तक क्षत्रियों को शस्त्र प्रयोग करने का और ब्राह्मणों को धार्मिक शिक्षा का ठेका नहीं मिल गया था। द्रोण का उसके मित्र अर्थात् पांचालों के राजा ने अनादर किया था। इसलिये वह घृणा से कुरुओं के यहां आकर रहा और उसने राजकुमारों को शस्त्र चलाने में शिक्षा देने का भार लिया।

पाण्डवों में सब से बड़े युधिष्ठिर कोई बड़े योधा नहीं हुए परन्तु उन्होंने उस समय की धार्मिक शिक्षा में बड़ी निपुणता प्राप्त की और वे इस महाकाव्य में बड़े धर्मात्मा पुरुष हैं। दूसरे पाण्डव भीम ने गदा चलाना बहुत अच्छी तरह से सीखा और वह अपने बड़े भारी शरीर और बहुत ही अधिक बल के लिये प्रसिद्ध थे (और वह इस महाकाव्य के एजाक्स हैं)। तीसरे, अर्जुन शस्त्र चलाने में सब राजकुमारों से बढ़ गए और इसी कारण से धृतराष्ट्र के पुत्र, बाल्यावस्था में भी, इनसे द्वेष तथा घृणा रखते थे। चौथे नकुल ने घोड़ों को आधीन करना सीखा और पांचवें सहदेव ज्योतिष में बड़े निपुण हुए। धृतराष्ट्र का सबसे बड़ा पुत्र दुर्योधन गदा चलाने में निपुण था और वह भीम का प्रतिद्वन्द्वी था।

अन्त को राजकुमारों ने शस्त्र चलाने में जो निपुणता प्राप्त की थी उसे सब लोगों को दिखलाने का दिन आया। एक बड़ी भारी रंगभूमि बनाई गई और इसके चारों ओर प्राचीन योधाओं, सरदारों, स्त्रियों और सभासदों के बैठने के लिये स्थान बनाया गया। कुरुभूमि के सब निवासी अपने राजकुमारों की निपुणता देखने के लिये चारों ओर से इकट्ठे हुए। अन्धा राजा धृतराष्ट्र अपने

स्थान पर बैठाया गया और स्त्रियों में अग्रसर धृतराष्ट्र की रानी गान्धारी, और प्रथम तीन पाण्डवों की माता कुन्ती थीं। अन्तिम दोनों पाण्डव, पाण्डु की दूसरी स्त्री से हुए थे।

एक निशाने पर तीर चलाई गई और ढाल, तलवार और गदाओं से युद्ध हुआ। दुर्योधन और भीम शीघ्रही बड़े जोश से लड़ने लगे और एक दूसरे की ओर मदान्ध हाथियों की नाईं झपटे। हल्ला आकाश तक पहुंचने लगा और शीघ्रही लड़ाई का परिणाम दुखान्त जान पड़ने लगा। अन्त को ये दोनों क्रोधान्ध युवा छोड़ा दिए गए और शान्ति हो गई।

तब अर्जुन अपनी अद्भुत धनुष के साथ इसमें सम्मिलित हुआ। उसकी धनुष चलाने की निपुणता ने उसकी प्रशंसा करनेवालों को बड़ा आश्चर्यित कर दिया और उसकी माता के हृदय को हर्ष से भर दिया। लोग प्रशंसा कर के समुद्र की गरज की नाईं हल्ला मचा रहे थे। तब उसने तलवार चलाई जो कि बिजली की नाईं चमकती थी, फिर चोखा चक्र चलाया जिसका निशाना कभी खाली नहीं गया। अन्त में उसने पाश से घोड़ों और हरिणों को भूशायी किया और एकत्रित लोगों की जयध्वनि के बीच अपने योग्य गुरु द्रोण को दंडवत कर के खेल की समाप्ति की।

इससे धृतराष्ट्र के पुत्रों को बड़ा द्वेष हुआ। इसलिये वे रंगभूमि में एक अपरिचित योधा कर्ण को लाए जो धनुर्विद्या में अर्जुन का प्रतिद्वंद्वी था। योरप के प्राचीन योधाओं (Knights) की भांति राजपुत्र लोग केवल अपने बराबरवालों के साथ लड़ सकते थे, इसलिये धृतराष्ट्र ने इस अपरिचित योधा को उसी स्थान पर राजा बनाया, जिसमें अर्जुन को लड़ाई अस्वीकार करने का कोई बहाना न मिले। कर्ण से जो बेढब प्रश्न किए गए उसका उत्तर उसने यह दिया कि नदियां और योधा लोग अपनी उत्पत्ति और जन्म के विषय में कुछ नहीं जानते, उनका बल ही उनकी वंशावली है। परन्तु पांडवों ने युद्ध अस्वीकार किया और घमंडी कर्ण चुपचाप क्रोधित होकर चला गया।

द्रोण ने अब अपनी गुरुदक्षिणा मांगी। प्राचीन वीर योधाओं की नाईं वह बदला लेने में सब से अधिक प्रसन्न होता था। इसलिये उसने अपनी दक्षिणा में पाञ्चालों के राजा द्रुपद से जिसने कि उसका अपमान किया था बदला लेने के लिये कुरुओं की सहायता मांगी। उसने जो कुछ मांगा वह अस्वीकार नहीं किया जा सकता था। द्रोण सेना सहित लड़ाई करने को चला, उसने पांचाल के राजा को पराजित किया, और उसका आधा राज्य छीन लिया। द्रुपद ने भी इसका बदला लेने का संकल्प कर लिया।

कौरव देश को अब भयानक मेघों ने आ घेरा। अब यह समय आ गया था कि धृतराष्ट्र एक युवराज को अर्थात् उस राजकुमार को जो कि उसकी वृद्धावस्था में राज करेगा, चुने। युधिष्ठिर का अपने पिता के राज्य पर स्वत्व अस्वीकार नहीं किया जासकता था और वही युवराज बनाया गया। परन्तु घमण्डी दुर्योधन ने इस बात को स्वीकार नहीं किया और धृतराष्ट्र को उसकी इच्छा के अनुसार काम करना पड़ा। उसने पांचो पाण्डवों को वारणावत में जो आधुनिक इलाहाबाद के निकट कहा जाता है और जो उस समय हिन्दू राज्य का सामाप्रान्त था, निकाल दिया। परन्तु दुर्योधन के द्वेष ने उनका वहां भी पीछा किया। जिस घर में पांडव लोग रहते थे उसमें आग लगा दी गई। पांडव लोग तथा उनकी माता एक सुरंग के मार्ग से बच गए और बहुत दिनों तक ब्राह्मणों के वेष में घूमते रहे।

इस समय देश देश में दूत लोग जाकर यह प्रकाशित कर रहे थे कि पांचाल देश के राजा द्रुपद की कन्या इस समय के सब से निपुण योधाओं में से अपना पति चुनेगी। जैसा कि ऐसे स्वयम्बर के अवसर पर हुआ करता था, सब बड़े बड़े राजा राजकुमार और योधा लोग चारो ओर से द्रुपद की सभा में इकट्ठे हो रहे थे। इनमें से प्रत्येक यह आशा करता था कि मैं इस सुन्दर दुलहिन को जो कि युवा हो चुकी है और अपनी सुन्दरता के लिये प्रसिद्ध है, पाऊंगा। वह सब से निपुण योधा से व्याही जाने वाली थी और

इसके लिये जो परीक्षा नियत की गई थी वह तनिक कठिन थी। एक बहुत बड़े भारी धनुष को चलाना था और तीर एक चक्र में से होकर एक सोने की मछली की आंख में लगने को था, जो कि बहुत ऊंचे एक डंडे के सिरे पर लगाई गई थी।

पांचालों की राजधानी कामपिल्य में केवल राजकुमार और योधा ही नहीं, वरन् देश के सब हिस्सों से देखनेवालों के झुंड के झुंड भी इकट्ठे हो रहे थे। बैठने के स्थान में राजकुमार लोग भरे हुए थे और ब्राह्मण वेदध्वनि कर रहे थे। तब द्रौपदी अपने हाथ में हार लिए हुए आई, जो कि आज के विजयी को पहिनाने के लिये था। उसके साथ उसका भाई धृष्टद्युम्न था और उसने आज की परीक्षा का कार्य कहा।

राजा लोग एक एक करके उठे और उन्होंने उस धनुष को चलाना चाहा, परन्तु उनमें से कोई भी कृतकार्य नहीं हुआ। तब घमण्डी तथा निपुण कर्ण परीक्षा के लिये उठा परन्तु वह रोका गया।

तब अचानक एक ब्राह्मण उठा और उसने धनुष तान कर चक्र में से सोने की मछली की आंख में तीर मारा। इस पर जयध्वनि उठी! और क्षत्री की कन्या द्रौपदी ने वीर ब्राह्मण के गले में जयमाल डाल दिया और यह ब्राह्मण उसे अपनी पत्नी की भांति ले चला। परन्तु एक ब्राह्मण के विजय प्राप्त करने और योधाओं के मान भंग होने के कारण क्षत्री लोग तूफानी समुद्र की नाईं असन्तोष में झुनझुनाने लगे। वे दुलहिन के पिता को घेर कर मार पीट करने को धमकाने लगे। अब पांडवों ने अपना भेष उतार दिया और आज के विजयी ने अपने को सच्चा क्षत्रिय अर्जुन प्रकाशित किया।

इसके आगे एक अद्भुत कल्पित कथा दी है कि पाण्डव लोग अपनी माता के पास गए और बोले कि हमने एक बहुमूल्य वस्तु जीती है। उनकी माता ने यह न जान कर कि यह वस्तु क्या है, अपने पुत्रों से उसे बांट लेने के लिये कहा। माता की आज्ञा उल्लङ्घन न करने के कारण पांचो भाइयों ने द्रौपदी से विवाह किया।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि द्रौपदी और पांचो पांडवों की कथा बनावटी है। पांडवों ने अब पांचालों के प्रबल राजा के थसा संधि करके अन्धे राजा धृतराष्ट्र को इस बात के लिये विवश किया कि वह कुरुदेश को उन लोगों में और अपने पुत्रों में बांट दे। परन्तु, बंटवारा बराबर नहीं किया गया। जमुना और गंगा के बीच की उपजाऊ भूमि तो धृतराष्ट्र के पुत्रों के पास रही और पांडवों को पश्चिम का जंङ्गल दिया गया। यह खाण्डवप्रस्थ जंङ्गल शीघ्र ही आग लगा कर साफ कर दिया गाय और इसमें एक नई राजधानी इन्द्रप्रस्थ बनाई गई, जिसका अनुमानित खंड हर आधुनिक दिल्ली जानेवालों को दिखलाया जाता है।

अब पांडवों ने चारों ओर सेना लेकर आक्रमण किया। परन्तु इन आक्रमणों का वर्णन हम नहीं करेंगे, विशेषतः इस कारण से कि ये दूर दूर के आक्रमण, आधुनिक समय के जोड़े हुए हैं। जब हमको महाभारत में लंका अथवा बंगाल के आक्रमणों का उल्लेख मिलता है तो हम विना संशय के कह सकते हैं कि ये उत्तरकाल के जोड़े हुए लेख हैं।

अब युधिष्ठिर राजसूय अर्थात् राज्याभिषेक का उत्सव करने को था। उसने सब राजाओं को, और अपने हस्तिनापुर के कुटुम्बियों को, भी निमंत्रण दिया। सब से पूज्य स्थान गुजरात के यादवों के नायक कृष्ण को दिया गया। चेदिवंश के शिशुपाल ने इसका बड़ा विरोध किया, और कृष्ण ने उसे वहीं मार डाला। महाभारत के प्राचीन भागों में कृष्ण केवल एक बड़ा नायक है, कोई देवता नहीं है, और उसकी कथा से विदित होता है कि ऐतिहासिक काव्य के काल में गुजरात को जमुना के तटों से जाकर लोगों ने बसाया था।

यह कोलाहल शान्त होने पर नवीन राजा पर पवित्र जल छिड़का गया और ब्राह्मण लोग दान से लदे हुए विदा किए गए।

परन्तु नवीन राजा के भाग्य में बहुत दिनों तक राज्य भोगना नहीं बदा था। सब सदाचारों के रहते भी युधिष्ठिर को उस समय

के दूसरे नायकों की नांई जुआ खेलने का व्यसन था और दीर्घ-द्वेषी और कठोरचित्त दुर्योधन ने उसे जुआ खेलने के लिये ललकारा। युधिष्ठिर राज्य, धन, अपने को, अपने भाइयों को, और अपनी स्त्री को भी बाजी लगा कर हार गया, और अब पांचो पांडव और द्रौपदी दुर्योधन के गुलाम हो गए। अभिमानी द्रौपदी ने अपनी इस दशा में दबना अस्वीकार किया, परन्तु दुःशासन उसके झोंटे पकड़ कर उसे सभा भवन में घसीट ले गया और दुर्योधन ने मुग्ध सभा के सामने उसे बलात् अपने चरणों पर गिराया। पांडवों का क्रोध बढ़ रहा था, परन्तु इस समय वृद्ध धृतराष्ट्र के सभागृह में आने से यह कोलाहल शान्त हो गया। यह निश्चय हुआ कि पांडव लोग अपना राज्य हार गए, परन्तु वे दास नहीं हो सकते। उन्होंने बारह वर्ष के लिये देश से निकल जाना, और इसके पीछे एक वर्ष तक छिप कर रहना स्वीकार किया, । यदि धृतराष्ट्र के पुत्र उस वर्ष में उनका पता न लगा सकें तो उन्हें उनका राज्य फिर मिल जायगा।

इस प्रकार से पांडव लोग दूसरी बार देश से निकाले गए और बारह वर्ष तक भिन्न भिन्न स्थानों में घूमने के पीछे तेरहवें वर्ष में भेष बदल कर उन्होंने विराट के राजा के यहां नौकरी कर ली। युधिष्ठिर का काम राजा को जुआ सिखलाने का था। भीम प्रधान रसोइयां था, अर्जुन राजपुत्री को नाचना और गाना सिखलाता था, नकुल और सहदेव यथाक्रम घोड़ों और पशुओं के अध्यक्ष थे, और द्रौपदी रानी की परिचारिका थी। परन्तु इसमें एक कठिनाई उपस्थित हुई। रानी का भाई इस नई परिचारिका के अत्यन्त सौन्दर्य पर मोहित हो गया। वह उसे कुवचन कहता था और उसने उससे विवाह करने का संकल्प कर लिया था। अतएव भीम ने इसमें हस्तक्षेप करके उसे गुप्त रीति से मार डाला।

उस समय के राजाओं में पशुओं की चोरी कोई असामान्य बात नहीं थी। हस्तिनापुर के राजकुमार विराट से कुछ पशु चोरा ले गए। नृत्यशिक्षक अर्जुन इसे न सह सका। उसने अपने शस्त्र लिये रथ पर सवार होकर वहां गया और पशुओं को ले आया। परन्तु

ऐसा करने से वह प्रगट हो गया। परन्तु उसके प्रगट होने के समय उनके छिप कर रहने का वर्ष समाप्त हो गया था अथवा नहीं, सो कभी निर्णय नहीं हुआ।

अब पांडवों ने अपने राज्य को फिर से पाने के लिये दूत को हास्तिनापुर भेजा। परन्तु उनका स्वत्व अस्वीकार किया गया और दोनों दल युद्ध की तैयारियां करने लगे। यह ऐसा युद्ध था कि जिसके समान भारतवर्ष में कभी कोई युद्ध नहीं हुआ था। इस युद्ध में सब प्रसिद्ध प्रसिद्ध राजा लोग एक अथवा दूसरे दल में सम्मिलित हुए और यह दिल्ली के उत्तर कुरुक्षेत्र में अट्ठारह दिन तक हुआ और इसका परिमाण भयानक बध और हिंसा हुई।

युद्ध की लम्बी कथा और अगणित उपकथाओं का वर्णन हम यहां नहीं करेंगे। भीष्म जिस समय युद्ध से रुकने के लिये विवश हुए उस समय अर्जुन ने उन्हें अन्याय से मार डाला। द्रोण ने अपने अभेद्य चक्रव्यूह से अपने पुराने शत्रु द्रुपद को मार डाला, परन्तु द्रुपद के पुत्र ने अपने पिता की मृत्यु का बदला लिया और द्रोण को अनुचित रीति से मार डाला। भीम का दुःशासन से सामना हुआ, कि जिसने जुआ खेलनेवाले गृह में द्रौपदी का अपमान किया था। भीम ने उसकी मूड़ी काट डाली और बदला लेने के क्रोध में उसका रक्त पान किया। अन्त में कर्ण और अर्जुन में, जिनमें कि जन्म भर द्वेष था, बड़ा भारी युद्ध हुआ। जिस समय कर्ण के रथ का पहिया पृथ्वी में धँस गया था और वह न हिल सकता था और न लड़ सकता था उस समय अर्जुन ने उसे अनुचित रीति से मार डाला। अन्तिम अर्थात् अट्ठारहवें दिन दुर्योधन भीम के आगे से भागा परन्तु बोली ठोली और ताने से वह फिर कर लड़ने को विवश हुआ। भीम ने एक अनुचित आघात से (क्योंकि आघात कमर के नीचे किया गया था) उस जंघ को चकनाचूर कर डाला जिस पर दुर्योधन ने एक समय द्रौपदी को खींचा था। और यह घायल योधा मरजाने के लिये वहीं छोड़ दिया गया। अभी नरहत्या का अन्त नहीं हुआ, क्योंकि द्रोण के पुत्र ने रात्रि के समय शत्रु

के दल पर आक्रमण करके द्रुपद के पुत्र को मार डाला, और इस प्रकार से पुराने कलह को रक्त बहाकर शान्त किया।

शेष कथा अब बहुत थोड़ी रह गई है। पांडव हस्तिनापुर को गए और युधिष्ठिर राजा हुआ। कहा जाता है कि उसने आर्यावर्त के सब राजाओं को पराजित किया और अन्त में अश्वमेधयज्ञ किया। एक घोड़ा छोड़ा दिया गया जो अपनी इच्छा के अनुसार एक वर्ष तक घूमता रहा और किसी राजा ने उसे रोकने का साहस नहीं किया। इससे सब आस पास के राजाओं का वशवर्ती होना समझा गया और वे लोग इस बड़े अश्वमेध में निमंत्रित किए गए। हम लोग देख चुके हैं कि वैदिक काल में घोड़ा केवल खाने के लिये मारा जाता था। ऐतिहासिक काव्य काल में अश्वमेध पापों के प्रायश्चित के लिये किया जाने लगा और राजाओं में इससे आधिपत्य की कल्पना की जाने लगी।

महाभारत की, उसके अगणित उपाख्यानों और उपकथाओं, और अमानुषी प्रसंगों और वृत्तान्तों को छोड़ कर, यह कथा है। कृष्ण द्वैपायन, (यादवों के नायक कृष्ण नहीं) जिन्होंने वेदों को सङ्कलित किया था उस कुमारी कन्या के पुत्र कहे जाते हैं जिसने पीछे से शान्तनु से विवाह किया। अतएव वह भीष्म के अर्धभ्राता थे। वह अकस्मात् अमानुषिक रीति से दिखलाई पड़ते हैं और उपदेश और शिक्षा देते है। इस कथा से एक ऐतिहासिक बात विदित होती है। वह यह कि वेद कुरु और पाञ्चालों के युद्ध के पहिले सङ्कलित किए गए थे।

ऊपर के संक्षिप्त वृत्तान्त से जान पड़ेगा कि गङ्गा की घाटी के प्रथम हिन्दू अधिवासियों ने उस समय तक वैदिक काल की वह प्रबल वीरता और दृढ़ रणप्रिय विचार नहीं खोए थे। अब, राजा लोग अधिक देशों और लोगों पर राज्य करते थे, आचार व्यवहार अधिक सभ्य हो गए थे, सामाजिक और युद्ध के नियम अधिक उत्तमता से बढ़ गए थे, और स्वयं युद्ध शास्त्र अच्छी तरह से बन गया था। परन्तु फिर भी कुरुओं और पांचालों के सभ्य आचारों

में वैदिक योधाओं की कठोर और निर्दय वीरता झलकती है और उन जातियों ने, यद्यपि सभ्यता प्राप्त की थी, पर जातीय जीवन की वीरता बहुत नहीं खोई थी। इन कठोर जातियों में जातिभेद कैसी अधूरी तरह से था सो कई बातों से विदित होता है, जो कि उत्तर काल के लेखकों के जोड़े हुए लेखों के रहते भी अब तक मिलती हैं। हस्तिनापुर के प्राचीन राजा शान्तनु का भाई देवापि एक पुरोहित था। महाभारत का सबसे विद्वान नायक, युधिष्ठिर क्षत्री है और सबसे निपुण योधा द्रोण ब्राह्मण है। और वेदों को सङ्कलित करनेवाले स्वयम् पूज्य कृष्णद्वैपायन ब्राह्मण थे अथवा क्षत्री ?

अध्याय ३

——:o:——

विदेह कोशल और काशी।

आर्यों के जीते हुए देश की सीमा बढ़ती गई। जब जमुना और गंगा के बीच का देश पूरी तरह से जीता जाकर बस गया और हिन्दुओं का हो गया, तो उद्योगी अधिवासियों के नए झुंडों ने गंगा को पार करके नए नए अधिनिवेशों और हिन्दु राज्यों को स्थापित करने के लिये पूरब की ओर और आगे बढ़ना प्रारम्भ किया। इस प्रकार से उन्होंने एक एक नदियों को पार किया, एक एक जंगल को ढूंढ कर के साफ़ किया और एक एक देश को धीरे धीरे जीता, बसाया और हिन्दुओं का बनाया। इन देशों में दीर्घकाल तक लड़ाइयों और धीरे धीरे हिन्दुओं का अधिकार होने का इतिहास अब हम लोगों को अप्राप्त है और जो ग्रन्थ इस समय तक बचे हैं उनसे हम लोगों को गंगा के पूरब में प्रबल और सभ्य हिन्दु राज्यों के, अर्थात् आधुनिक अवध देश में कोशलों के राज्य, उत्तरी बिहार में विदेहों के राज्य, और आधुनिक बनारस के आस पास काशियों के राज्य, स्थापित होने का पता लगता है।

विदेहों के पूरब की ओर बढ़ने का कुछ अस्पष्ट सा हाल नीचे उद्धृत किए हुए सतपथ ब्राह्मण के वाक्यों में मिलता है—

"(१०) माधव विदेघ के मुँह में अग्नि वैस्वानर थी। उसके कुल का पुरोहित ऋषि गोतम राहूगण था। जब यह उससे बोलाता था तो माधव इस भय से कोई उत्तर नहीं देता था कि कहीं अग्नि उसके मुंह से गिर न पड़े।

"(१३) फिर भी उसने उत्तर नहीं दिया। (तब पुरोहित ने कहा) 'हे घृतस्नु, हम तेरा आवाहन करते हैं!' (ऋग्वेद म० ५

सू ० २६ रि ०२) । उसका इतना कहना था कि घृत का नाम सुनते ही अग्नि वैश्वानर राजा के मुंह से निकल पड़ी । वह उसे रोक न सका । वह उसके मुंह से निकल कर इस भूमि पर गिर पड़ी ।

"(१४) माधव विदेघ उस समय सरस्वती नदी पर था । वहां से वह (अग्नि) इस पृथ्वी को जलाते हुए पूरब की ओर बढ़ी । और ज्यों ज्यों वह जलाती हुई बढ़ती जाती थी त्यों त्यों गौतम राहूगण और विदेघ माधव उसके पीछे पीछे चले जाते थे । उसने इन सब नदियों को जला डाला (सुखा डाला) । अब वह नदी जो सदानीर (गण्डक) कहलाती है उत्तरी (हिमालय) पर्वत से बहती है । उस नदी को उसने नहीं जलाया । पूर्व काल में ब्राह्मणों ने इस नदी को यही सोच कर पार नहीं किया क्योंकि अग्निवैश्वानर ने उसे नहीं जलाया था ।

"(१५) परन्तु इस समय उसके पूरब में बहुत से ब्राह्मण हैं । उस समय वह (सदानीर के पूरब की भूमि) बहुत करके जोती बोई नहीं जाती थी और बड़ी दलदलही थी, क्योंकि अग्निवैश्वानर ने उसे नहीं चक्खा था ।

"(१६) परन्तु इस समय वह बहुत जोती बोई हुई है क्योंकि ब्राह्मणों ने उसमें होमादि करके उसे अग्नि से चखवाया है । अभी भी गरमी में वह नदी उमड़ चलती है । वह इतनी ठंढी है, क्योंकि अग्नि वैश्वानर ने उसे नहीं जलाया ।

"(१७) माधव विदेघ ने तब अग्नि से पूछा कि 'मैं कहां रहूं ?' उसने उत्तर दिया कि "तेरा निवास इस नदी के पूरब हो ।" अब तक भी यह नदी कोशलों और विदेहों की सीमा है, क्योंकि ये माधव की सन्तति हैं ।" (सतपथ ब्राह्मण १,४,१)

ऊपर के वाक्यों में हम लोगों को कल्पित कथा के रूप में अधिवासियों के सरस्वती के तट से गण्डक तक धीरे धीरे बढ़ने का वृत्तान्त मिलता है । यह नदी दोनों राज्यों की सीमा थी । कोशल लोग उसके पश्चिम में रहते थे और विदेह लोग उसके पूरब में ।

वर्षों में, सम्भवतः कई शताब्दियों में विदेहों का राज्य शक्ति और सभ्यता में बढ़ा, यहां तक कि वह उत्तरी भारतवर्ष में सब से प्रधान राज्य हो गया।

भारतवर्ष के ऐतिहासिक काव्य काल के इतिहास में विदेहों का राजा जनक कदाचित सब से प्रधान व्यक्ति है। इस सम्राट ने केवल भारतवर्ष के हिन्दू राज्य की दूरतम सीमा तक अपना प्रभुत्व ही नहीं स्थापित कर लिया था वरन् उसने अपने निकट उस समय के बड़े बड़े विद्वानों को रक्खा था, उनसे वह शास्त्रार्थ किया करता था और जगदीश्वर के विषय में उन्हें शिक्षा दिया करता था। यही कारण है कि जनक के नाम ने अक्षय कीर्ति प्राप्त की है। काशियों के राजा अजातशत्रु ने, जोकि स्वयम् एक विद्वान था और विद्या का एक प्रसिद्ध फैलानेवाला था, निराश हो कर कहा कि "सचमुच, सब लोग यह कह कर भागे जाते हैं कि हमारा रक्षक जनक है!" (बृहदारण्यक उपनिषद ११,३१)

जनक के बड़े यश का कारण कुछ अंश में उसकी सभा के प्रधान पुरोहित याज्ञवल्क्य वाजसनेयी की बुद्धि और विद्या है। राजा जनक के आश्रय में इस पुरोहित ने उस समय के यजुर्वेद को दोहराने, मन्त्रों को व्याख्यानों से अलग करने, उनको संक्षिप्त करके नए यजुर्वेद (शुक्ल यजुर्वेद) के रूप में बनाने, तथा इसका विस्तृत वर्णन एक बड़े ब्राह्मण (सतपथ ब्राह्मण) में करने का साहस किया। इस महत्कार्य में ब्राह्मणों ने कई पीढ़ी तक श्रम किया, परन्तु इस कार्य को आरम्भ करने का गौरव इस शाखा के संस्थापक याज्ञवल्क्य वाजसनेयी और उसके विद्वान आश्रयदाता, विदेहों के राजा जनक को ही प्राप्त है।

परन्तु जनक इससे भी अधिक सत्कार और प्रशंसा किए जाने योग्य है। जब कि ब्राह्मण लोग क्रिया संस्कारों को बढ़ाए जाते थे और प्रत्येक क्रिया के लिये स्वमतानुसार कारण बतलाते जाते थे तो क्षत्री लोग ब्राह्मणों के इस पाण्डित्य दर्प से कुछ अधीर से जान पड़ते हैं। विचारवान और सच्चे लोग यह सोचने लगे कि

क्या धर्म केवल इन्हीं क्रिया संस्कारों और विधियों को सिखला सकता है। विद्वान क्षत्री लोग, यद्यपि अब तक ब्राह्मणों के बनाए हुए क्रिया संस्कारों को करते थे, परन्तु उन्हों ने अधिकपुष्ट विचार प्रचलित किए और आत्मा के उद्देश और ईश्वर के विषय में खोज की। ये नए तथा कृतोद्यम विचार ऐसे वीरोचित, पुष्ट और दृढ़ थे कि ब्राह्मण लोगों ने, जो कि अपने ही विचार से अपने को बुद्धिमान समझते थे, अन्त को हार मानी और वे क्षत्रियों के पास इस नई सम्प्रदाय के पाण्डित्य को समझने के लिये आए। उपनिषदों में येही दृढ़ तथा पुष्ट विचार हैं जो ऐतिहासिक काव्य काल के अन्त में प्रचलित हुए थे और विदेह के राजा जनक का उपनिषदों के इन विचारों को उत्पन्न करने के कारण, उस समय के अन्य राजाओं की अपेक्षा बहुत अधिक सत्कार किया जाता है।

उपनिषदों की शिक्षा के विषय में पूरा पूरा वर्णन हम आगे चलकर किसी अध्याय में करेंगे; परन्तु जनक तथा उस समय के और राजाओं का वृतान्त पूरा न होगा जब तक कि हम यहां उनमें से कुछ ऐसे वाक्य उद्धृत न करें जिनसे ब्राह्मणों का उनसे सम्बन्ध तथा कृतोद्यम वेदान्तिक विचारों के लिये भारतवर्ष में उनके उद्योग, प्रगट होते हैं।

"विदेह के जनक की भेट कुछ ऐसे ब्राह्मणों से हुई जो कि अभी आए थे। ये स्वेत केतु आरुणेय, सोमसुष्म सत्ययज्ञि, और याज्ञवल्क्य थे। उसने उनसे पूछा कि 'आप अग्निहोत्र कैसे करते हैं?"

तीनों ब्राह्मणों ने अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार उत्तर दिया, पर किसी का उत्तर ठीक नहीं था। याज्ञवल्क्य का उत्तर यथार्थ बात के बहुत निकट था, परन्तु वह पूर्णतया ठीक नहीं था। जनक ने उनसे ऐसा कहा और वह रथ पर चढ़ कर चला गया।

ब्राह्मणों ने कहा "इस राजन्य ने हम लोगों का अपमान किया है।" याज्ञवल्क्य रथ पर चढ़ कर राजा के पीछे गया और उससे शंका निवारण की (सतपथ ब्राह्मण ११,४,५) "अब से जनक ब्राह्मण हो गया" (सतपथ ब्राह्मण ११,६,२१)

छान्दोग्य उपनिषद (५, ३) में लिखा है कि ऊपर के तीनों ब्राह्मणों में से एक, अर्थात् स्वेतकेतु आरुणेय, पांचालों की एक सभा में गया और प्रवाहन जैवलि नामक एक क्षत्री ने उससे कुछ प्रश्न किए, जिसका उत्तर वह न दे सका। वह उदासचित्त अपने पिता के पास आया और बोला "उस राजन्य ने मुझसे पांच प्रश्न किए और मैं उनमें से एक का भी उत्तर न दे सका।" उसका पिता गौतम भी स्वयम् इन प्रश्नों को न समझ सका और वह अपना समाधान करने के लिये उस क्षत्री के पास गया। प्रवाहन जैवलि ने उत्तर दिया कि "हे गौतम, यह ज्ञान तुम्हारे पहिले और किसी ब्राह्मण ने नहीं प्राप्त किया और इसलिये यह शिक्षा इस सृष्टि भर में केवल क्षत्री जाति की ही है।" और तब उसने गौतम को वह ज्ञान दिया।

इस उपनिषद में एक दूसरे स्थान पर, इसी प्रवाहन ने दो घमण्डी ब्राह्मणों को निरुत्तर कर दिया और तब उन्हें परमेश्वर के विषय में सच्चा ज्ञान दिया।

सतपथ ब्राह्मण (१०, ६, १, १) में यह कथा लिखी है और वही छान्दोग्य उपनिषद (५, २) में भी लिखी है कि पांच ब्राह्मण गृहस्थों और वेदान्तियों को इस बात की जिज्ञासा हुई कि 'आत्मा क्या है और ईश्वर क्या है?' वे लोग यह ज्ञान प्राप्त करने के लिये उद्दालक आरुणी के पास गए। परन्तु आरुणी को भी इसमें सन्देह था और इसलिये वह उन्हें क्षत्री राजा अश्वपति कैकेय के पास ले गया, जिसने उन्हें उस यज्ञ में विनयपूर्वक ठहरने को निमंत्रित किया जिसे वह किया चाहता था। उसने कहा "मेरे राज्य में कोई चोर, कंजूस, शराबी, कोई ऐसा मनुष्य जिसके यहां मूर्ति न हो, कोई मूर्ख, व्यभिचारी अथवा व्यभिचारिणी नहीं है। महाशयो, मैं यज्ञ करता हूं और जितना धन मैं प्रत्येक ऋत्विक को दूंगा उतना आप लोगों को भी दूंगा। कृपाकर आप यहां ठहरिए।"

वे लोग ठहरे और उन्होंने अपने आने का अभिप्राय कहा और "दूसरे दिन प्रातः काल वे लोग अपने हाथों में ईंधन लिए (शिष्यों

की नाईं) उसके निकट गए और उसने बिना किसी संस्कार की विधि के उन्हें वह ज्ञान दे दिया जिसके लिये वे आए थे।

यह बात आश्चर्यजनक है कि भिन्न भिन्न उपनिषदों में पुनः पुनः एकही नाम और भिन्न भिन्न रूपों में एक ही कथाएं मिलती हैं, जिससे प्रगट होता है कि प्राचीन उपनिषद लगभग एकही समय में बनाए गए थे। उद्दालक आरुणि, जिसका नाम गौतम भी है, और उसके पुत्र श्वेतकेतु का वर्णन फिर कौशीतकि उपनिषद् में भी मिलता है। उसमें पिता और पुत्र हाथ में ईंधन लेकर चित्र-गांग्यायनी के पास ज्ञान सीखने को गए। क्षत्री राजा चित्र ने कहा "हे गौतम तुम ब्राह्मण होने योग्य हो, क्योंकि तुम में अभिमान नहीं आया। यहां आओ, हम तुम्हारा समाधान कर देंगे।" (१,१)

कौशीतकि उपनिषद् में (४) प्रसिद्ध विद्वान गार्ग्य बालाकि और काशियों के विद्वान राजा अजातशत्रु के वादविवाद के विषय में एक प्रसिद्ध कथा लिखी है। इस घमंडी ब्राह्मण ने राजा को ललकारा, परन्तु इस पर जो शास्त्रार्थ हुआ उसमें उसकी हार हुई और वह निरुत्तर हो गया। अजातशत्रु ने उससे कहा 'हे बालाकि, तुम यहीं तक जानते हो?' बालाकि ने उत्तर दिया 'केवल यहीं तक'। अब अजातशत्रु ने उससे कहा कि 'तुमने मुझे व्यर्थही यह कहकर ललकारा कि क्या मैं तुम्हें ईश्वर के विषय का ज्ञान दूं?' 'हे बालाकि, वह जो उन सब वस्तुओं का (जिसका तुमने वर्णन किया है) कर्ता है, वह जिसकी यह सब माया है, केवल उसीका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।'

तब बालाकि अपने हाथ में ईंधन लेकर यह कहता हुआ आया कि '*क्या मैं आपके निकट शिष्य की नाईं आऊं?*' अजातशत्रु ने उसे कहा 'मै इसे अनुचित समझता हूं कि कोई क्षत्री किसी ब्राह्मण को शिष्य बनावे। आओ, मैं तुम पर सब बात स्पष्ट कर देता हूं।"

यह कथा, तथा श्वेतकेतु आरुणेय और क्षत्री राजा प्रवाहन जैवलि की कथा भी बृहदारण्यक उपनिषद् में पुनः दी है।

उपनिषदों में ऐसे अगणित वाक्य मिलते हैं जिनमें क्षत्री लोग सच्चे धार्मिक ज्ञान के सिखलाने वाले लिखे गए हैं। परन्तु यहां पर अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है। जितना हम ऊपर कह आए हैं वह यह दिखलाने के लिये बहुत है कि हिन्दू धर्म तथा वेदान्त के इतिहास में ऐतिहासिक काव्य काल के अन्त में क्षत्री लोग किस अवस्था में थे। मानुषी ज्ञान के इतिहास में उपनिषद् एक नया समय स्थिर करते हैं। यह ज्ञान, जिसका समय ईसा के लगभग १००० वर्ष पहिले है "पहिले किसी ब्राह्मण ने नहीं प्राप्त किया था। वह इस सृष्टि में केवल क्षत्रियों ही का था।"

येही यथार्थ कारण हैं जिससे हम लोगों को विदेह के राजा जनक की प्रशंसा करनी चाहिए और उनका कृतज्ञ होना चाहिए। यह बड़े कौतूहल की बात है कि हम लोग जनक, विदेहों तथा कोशलों से एक कल्पित कथा द्वारा भी परिचित हैं, जो कि इन पूज्य नामों के विषय में कही गई है। यह कल्पित कथा आर्य लोगों के दक्षिणी भारतवर्ष को विजय करने से सम्बन्ध रखती है। परन्तु उत्तरकाल के कवियों ने भक्ति और कृतज्ञता में चूर होकर इस बड़ी ऐतिहासिक घटना का सम्बन्ध उन प्राचीन राजाओं के नाम से कर दिया है जिनका इस विजय से कोई भी सम्बन्ध नहीं था। योरप में उस अन्धकारमय समय का भी इतिहास कभी ऐसा अस्पष्ट नहीं था कि कोई कवि जेरुसलेम का प्रत्युद्धार शार्लमेगन अथवा एल्फ्रेड दी ग्रेट द्वारा वर्णन करता! परन्तु भारतवर्ष का दूसरा महाकाव्य लंका का विजय होना एक कोशिलों के राजा द्वारा वर्णन करता है, जिसका विवाह विदेहों के राजा जनक की कन्या से हुआ था।

हमारे आधुनिक ज्ञान से इस बात का निर्णय करना सम्भव नहीं है कि रामायण पहिले पहिल कब बनाई गई। हम लोगों को सूत्र ग्रन्थों में महाभारत के उल्लेख मिलते हैं परन्तु उनमें रामायण का कोई उल्लेख नहीं मिलता। ईसा के पांच शताब्दी पहिले बङ्गाल के विजय नामी राजा ने लंका का पता लगाया था और उसे जीता

था। अतएव पहिले पहिल लोगों का यह विचार हो सकता है कि यह महाकाव्य उसी समय में रचा गया होगा। परन्तु इसके विरुद्ध ही इस टापू का होना, विजय के कई शताब्दी पहिले से हिन्दुओं को मालूम था। अतएव रामायण, जिसमें कि विजय की जीत का उल्लेख कहीं पर नहीं आया है, विजय के पहिले उस समय में बनी होगी जब कि यह द्वीप हिन्दुओं को बहुत ही अस्पष्ट रीति से ज्ञात था।

इस अनुमान का अधिक सम्भव होना इस बात से भी प्रगट होता है कि विन्ध्या पर्वत के दक्षिण का भारतवर्ष का भाग रामायण में एक अनन्त बन की नांई वर्णन किया गया है और वहां के आदि वासियों का बन्दरों और भालुओं की नांई उल्लेख है। हम लोगों को यह मालूम है कि आर्य लोग गोदावरी और कृष्णा नदी के तट पर दर्शनकाल के आदि में बसे और ईसा के कई शताब्दि पहिले अन्ध्र आदि वंशों के बड़े बड़े राज्य विभव को प्राप्त हुए और शास्त्र तथा विद्या के नए नए सम्प्रदाय स्थापित हुए। अतएव रामायण, दक्षिण में इन सब बातों के होने के पहिले ही रची गई होगी, क्योंकि उसमें विन्ध्या के दक्षिण में आर्य लोगों की सभ्यता का उल्लेख कहीं भी नहीं है। अतः आदि महाभारत की नांई आदि रामायण भी ऐतिहासिक, काव्य काल ही में बनी थी।

महाभारत की नांई रामायण में भी ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन नहीं है वरन् उसीकी भांति इसके नायक भी कल्पित मात्र हैं।

ऋग्वेद के समय ही से खेत की हल रेखा, सीता ने देवी की ख्याति प्राप्त की थी और उसकी पूजा भी देवी की भांति की जाती थी। अतएव जब दक्षिणी भारतवर्ष में धीरे धीरे कृषि फैलती गई तो कवियों के लिये यह रचना करना कुछ कठिन नहीं था कि लोग सीता को चोरा कर दक्षिण में ले गए। और जब इस देवी तथा स्त्री ने, जोकि मानुषी कल्पना की सबसे उत्तम रचना है, ख्याति

तथा स्नेह प्राप्त कर लिया था, तो वह स्वभावतः ही राजाओं में सब से पुण्यात्मा और विद्वान, विदेहों के राजा जनक की कन्या कही गई।

परन्तु इस महाकाव्य में जिस सीता के पति और कोशलों के राजा राम का वर्णन है, वह कौन हैं ? उत्तरकाल के पुराणों में लिखा है कि वे विष्णु का अवतार थे। परन्तु जिस समय का हम वर्णन कर रहे हैं उस समय तक स्वयम् विष्णु ने श्रेष्ठता नहीं प्राप्त की थी। उस समय भी ऐतिहासिक काव्य काल के देवताओं में इन्द्र प्रधान माना जाता था और सूत्र ग्रन्थों (यथा पारस्कर गृह्य सूत्र २, १७, ९) में हलरेखा की देवी, सीता इन्द्र की पत्नी कही गई है। तो क्या यह अनुमान ठीक नहीं है कि महाभारत के नायक अर्जुन की नाईं रामायण के नायक राम की रचना, केवल दूसरे रूप में अनावृष्टि के दैत्यों से लड़ते हुए इन्द्र की कथा से की गई हो ? इस प्रकार से इस महाकाव्य का, जो उत्तरी भारतवर्ष के ऐतिहासिक युद्ध का वर्णन करता है, और उस महाकाव्य का सम्बन्ध, जो दक्षिणी भारतवर्ष की ऐतिहासिक विजय वर्णन करता है, इन्द्र की कथा के द्वारा कर दिया गया है।

परन्तु यद्यपि रामायण ऐतिहासिक घटनाओं के वर्णन की भांति बिलकुल निरर्थक है, फिर भी महाभारत की नांईं उससे भारतवर्ष की पुरानी सामाजिक दशा का पता लगता है। अतएव यहां पर उसकी कथा का संक्षेप में लिखना आवश्यक जान पड़ता है। परन्तु इसके पहिले केवल इतना और कहना है कि जीवन के दृश्य के लिये भी रामायण, महाभारत के समय से बहुत पीछे की अर्थात् ऐतिहासिक काव्य काल के बिलकुल अन्त की है। रामायण में महाभारत के क्षत्रियों की प्रचण्ड वीरता तथा आत्मरक्षा नहीं पाई जाती। उसमें लोग ब्राह्मणों के अधिक आधीन पाए जाते हैं। स्वयम् जनक, क्षत्रियों की विद्या और गौरव का अभिमानी प्रतिपादक नहीं, वरन् ब्राह्मणों का एक नम्र सेवक वर्णन किया गया है। और इस महाकाव्य का नायक, स्वयम् राम, यद्यपि एक क्षत्री

योधा परशुराम से सामना करके उसे पराजित करता है, परन्तु वह इसे अनेक क्षमा प्रार्थनाओं के साथ करता है ! कदाचित परशुराम की कथा में एक बड़ी ऐतिहासिक बात है। यह वर्णन किया गया है कि उसने क्षत्रियों से लड़ कर उस जाति को निर्मूल कर दिया और फिर इस महाकाव्य के नायक राम ने उसे पराजित किया। ऐसा जान पड़ता है कि यह कथा ब्राह्मणों और क्षत्रियों के वास्तविक विरोध और द्वेष को प्रगट करती है, जिसके चिन्ह हम लोग कथा के रूप में उपनिषदों में देख चुके हैं।

सारांश यह कि रामायण के पढ़ने से यह विदित होता है कि भारतवर्ष की सच्ची सूरता का समय बीत गया था और आर्यलोग गंगा की घाटी में कई शताब्दियों तक पड़े रहने के कारण शिथिल से हो गए थे। उसमें महाभारत की वे वीरोचित, यद्यपि कुछ अशिष्ट और आचार व्यवहार की बातें नहीं मिलतीं। उसमें सच्ची वीरता के मनुष्य और सच्ची दृढ़ता और संकल्प के साथ लड़े हुए युद्ध नहीं मिलते। उसमें कर्ण, दुर्योधन और भीम की नाईं शारीरिक बल के तथा अभिमानी और दृढ़चित्त मनुष्य नहीं मिलते। रामायण में उन्नति को प्राप्त नायकाएं हैं,जैसे अभिमानी और भीतरी मार करने वाली कैकेयी, अथवा शान्त और सदा दुःख सहती हुई सीता। रामायण के नायक लोग किंचित् सीधे और साधारण मनुष्य हैं जोकि ब्राह्मणों के बड़े माननेवाले और शिष्टाचार और धर्म के नियमों का पालन करने में बड़े उत्सुक और बड़े युद्ध करने वाले हैं, परन्तु उनमें सच्चे लड़नेवालों की दृढ़ता नहीं है ! जाति की सूरता में परिवर्तन होगया था, और यदि राजा प्रजा बहुत सभ्य और नियमानुसार चलनेवाले होगए थे तो उनमें दृढ़ता और वीरता भी कम होगई थी। तेरहीं शताब्दी के, अर्थात् जब दृढ़ और विजयी कुरु और पांचाल लोग द्वाब में राज्य करते थे उस समय के हिन्दू लोगों का जीवन जानने के लिये हम अपने पाठकों को महाभारत पढ़ने को कहेंगे और ग्यारहवीं शताब्दी के अर्थात् जब कोशल और विदेह लोग गंगा की घाटी में अधिक काल तक रहने से नियमानुकूल चलनेवाले ब्राह्मणों के आधीन, विद्वान और शिथिल हो

गए थे, उस समय के हिन्दुओं के जीवन का वृतान्त जानने के लिये हम पाठकों को रामायण पढ़ने को कहेंगे। ऐतिहासिक काव्य काल के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक हिन्दू समाज में जो परिवर्तन हुआ वह इन दोनों महाकाव्यों से प्रगट होता है।

अब हम रामायण की कथा प्रारम्भ करते हैं। हम ऊपर कह चुके हैं कि जो लोग गंगा और गंडक नदी के बीच के विस्तृत देश में रहते थे वे कोशलों के नाम से प्रसिद्ध थे। इस जाति के एक प्रसिद्ध राजा दशरथ की राजधानी अयोध्या अथवा अवध में थी और इस प्राचीन नगर का खंडहर अब तक यात्री लोगों को कुछ ढूहों के रूप में दिखलाया जाता है। दशरथ की रानियों में से तीन का सब से अधिक सत्कार किया जाता था। इनमें से कौशल्या से उसे उसका सब से बड़ा पुत्र राम हुआ, कैकेयी से भारत और सुमित्रा से लछमण और शत्रुघ्न हुए। दशरथ ने अपनी वृद्धावस्था में राम को युवराज बनाने का विचार किया परन्तु अभिमानी और सुन्दर कैकेयी ने यह हठ किया कि उसीका पुत्र युवराज बनाया जाय, और दुर्बल वृद्ध राजा को अपनी पत्नी की इस दृढ़ इच्छा को मानना पड़ा।

उसके पहिलेही राम ने एक स्वयम्बर में विदेहों के राजा जनक की कन्या सीता को प्राप्त किया था। इस स्वयम्बर में बहुतेरे राजे और राजकुमार इकट्ठे हुए थे, परन्तु उनमें से केवल राम ही भारी धनुष को उठाकर उसके दो टुकड़े कर सके थे। परन्तु इस समय जब कि राम के युवराज बनाए जाने की आशा में सारी अयोध्या में हर्ष हो रहा था, कैकेयी के महल में यह निश्चय हुआ कि भरत युवराज हों और राम १४ वर्ष के लिये देश से निकाल दिए जांय।

राम इतना आज्ञाकारी और धर्मज्ञ था कि इस आज्ञा को टालना तो दूर रहा, उसने इसपर रोष भी नहीं किया। उसका श्रद्धालू भाई लक्ष्मण भी उसके साथ हुआ और सुशीला सीता तो अपने पति से अलग होने की बात ही नहीं सुनती थी। अतः अयोध्या

वासियों को दुःख में रोते छोड़कर राम सीता और लक्ष्मण नगर से बाहर निकल गए।

ये लोग पहिले प्रयाग वा इलाहाबाद में भारद्वाज मुनि के आश्रम में और फिर वहां से आधुनिक बुन्देलखंड के निकट चित्रकूट में वाल्मीकि के आश्रम में गए। वाल्मीकि रामायण के बनानेवाले कहे जाते हैं, ठीक उसी तरह से जैसे कि वेदों के संकलित करनेवाले कृष्णद्वैपायन व्यास महाभारत के बनानेवाले कहे जाते हैं।

दशरथ राम के शोक में मर गए और भरत ने चित्रकूट में राम के पास जाकर पिता की मृत्यु का समाचार कहा और लौट चलने की प्रार्थना की। परन्तु राम ने प्रतिज्ञा की थी उससे उसने अपने को बद्ध समझा और अन्त में यह स्थिर हुआ कि १४ वर्ष बीत जाने पर राम लौट कर राजगद्दी पर बैठें। भरत अयोध्या को लौट आए।

चित्रकूट छोड़कर राम दण्डक वन में और गोदावरी के उद्गम के निकट के वनों और अनार्य जातियों में घूमते रहे। क्योंकि अभी दक्षिणी भारतवर्ष में आर्य लोग आकर नहीं बसे थे। इस प्रकार से १३ वर्ष बीत गए।

लंका और दक्षिणी भारतवर्ष के राक्षसों के राजा रावण ने सीता की जो अब वना में थी, सुन्दरता का समाचार पाया और राम की अनुपस्थिति में वह उसे उनकी कुटी से चोरा कर लंका को लेगया। राम ने बहुत खोज करने पर इसका पता पाया। उसने दक्षिणी भारतवर्ष की अनार्य जातियों से जो बन्दर और भालू वर्णन किए गए हैं, मेल किया और लंका जाकर अपनी पत्नी को प्राप्त करने की तैयारियां की।

अनार्य जातियों में बाली एक राजा था। उसका भाई सुग्रीव उसका राज्य और उसकी स्त्री छीनना चाहता था। राम ने बाली से लड़कर उसे मार डाला, सुग्रीव को राज्य और बाली की विधवा स्त्री को पाने में सहायता दी, और तब सुग्रीव ने अपनी सेना लेकर लंका को प्रस्थान किया।

हनुमान जो कि अनार्य सेना का प्रधान सेनापति था मार्ग दिख-लाता हुआ चला। वह उस साठ मील के जलडमरू मध्य को लांघ गया जो भारतवर्ष को लंका से अलग करता है, वहां उसने सीता को पाया और उसे राम की भेजी हुई अंगूठी दी। तब उसने रावण की राजधानी में आग लगा दी और राम के पास लौट आया।

अब इस अन्तरीप में पत्थरों से एक सेतु बनाया गया। पाठक जानते होंगे कि इस अन्तरीप के लगभग आर पार एक प्राकृतिक सेतु है और इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इस स्थान के प्राकृतिक रूप ने ही कवि के मन में यह विचार उत्पन्न किया कि यह सेतु राम की सेना के अमानुषी परिश्रम से बनाया गया था। तब सब सेना ने पार होकर रावण की राजधानी में घेरा डाला।

इसके पीछे जो युद्ध का वर्णन दिया है वह यद्यपि काव्यमय घटनाओं और उत्तेजक वर्णनों से भरा है, पर अस्वाभाविक और चित्त को उबा देनेवाला है। रावण ने इन आक्रमण करनेवालों को भगाने के लिये एक एक करके अपने सब सरदारों को भेजा। परन्तु वे सब राम के अमानुषी शस्त्रों और गुप्त मंत्रों से युद्ध में मारे गए। रावण के अभिमानी पुत्र इन्द्रजीत ने बादलों पर से युद्ध किया पर लक्ष्मण ने उसे मार डाला। रावण क्रोधित होकर आया और उस-ने लक्ष्मण को मार डाला, परन्तु यह मृतक वीर, दृढ़ भक्त हनुमान की लाई हुई किसी औषधि के प्रभाव से फिर जी उठा। रावण का एक भाई विभीषण अपने भाई को छोड़ कर राम से मिल गया था। उसने राम से वह भेद बता दिया था जिससे प्रत्येक योधा मारा जा सकता था, और इस प्रकार से रावण की अभिमानी सेना के सब नायक एक एक करके मरते जाते थे। अन्त में स्वयम् रावण आया और राम के हाथों मारा गया। सीता पुनः प्राप्त हो गई परन्तु उसे अपने सतीत्व का प्रमाण जलती हुई चिता में कूद कर और फिर उसमें से बिना जले हुए निकल कर देना पड़ा।

अब चौदह वर्ष बीत गए थे, इसलिये राम और सीता अयोध्या को लौट आकर राजगद्दी पर बैठे। परन्तु लोग सीता पर सन्देह

करते थे, क्योंकि वह रावण के यहां रही थी और इसलिये वे लोग विचारते थे कि उसका सतीत्व अवश्य भ्रष्ट हो गया होगा। इसलिये राम ने अपने पिता की नाईं दुर्बल होकर, बिचारी दुःख सहती हुई सीता को, जो उस वक्त गर्भवती थी, देश से निकाल दिया।

वाल्मीकि ने उसका चित्रकूट मे स्वागत किया और वहां उसे दो पुत्र, लव और कुश हुए। वाल्मीकि ने रामायण बनाई और इन लड़कों को उसे कंठ कराया। इस प्रकार से कई वर्ष बीत गए।

तब राम ने अश्वमेध करना निश्चय किया और इसके लिये घोड़ा छोड़ा गया। वह वाल्मीकि के आश्रम तक आया और वहां इन लड़कों ने उसे खेलवाड़ में पकड़ कर रख लिया। राम की सेना ने व्यर्थही इस घोड़े को उनसे ले लेने का यत्न किया। अन्त को स्वयम राम आए और उन्होंने इन राजकुमारों को देखा, परन्तु यह नहीं जाना कि ये कौन हैं। राम ने उनके मुख से रामायण का पाठ सुना, और अन्त में उन्हें अपना पुत्र जानकर गले से लगाया।

परन्तु सीता के भाग्य में अब भी सुख नहीं था। लोगों का सन्देह अब तक भी शान्त नहीं हुआ था और राम इतने दुर्बल मन के थे कि लोगों के विरुद्ध काम नहीं कर सकते थे। जिस पृथ्वी ने सीता को जन्म दिया था वह फट गई और दीर्घकाल तक दुःख सहते हुए अपने बालक को उसने ले लिया।

सीता की वैदिक कल्पना अर्थात् क्षेत्रों की हल रेखा की स्पष्टता इस अन्तिम घटना मे प्रगट होती है। परन्तु लाखों हिन्दुओं के लिये सीता वास्तव में कोई मनुष्यधारी प्राणी हुई थी जो स्त्री धर्म और आत्मनिग्रह की आदर्श है। अब तक हिन्दू लोग अपनी कन्या का नाम सीता रखते हुए डरते हैं क्योंकि यदि उसका नम्र स्वभाव, उसका पातिव्रत धर्म, उसका अविचल अनुराग और अपने पति के लिये उसका अजित प्रेम मानवी प्राणियों से बढ़ कर था तो उसका दुःख और संताप भी उससे कहीं बढ़ कर था जैसा

कि संसारी जीवों के भाग्य में प्रायः बदा होता है। समस्त भारतवर्ष में एक भी ऐसी स्त्री न होगी जिसे संतप्त सीता की कथा विदित न हो और जिसे उसका चरित्र आदर्शमय और अनुकरणशील न हो और राम भी चाहे वे चरित्र में सीता की बराबरी न कर सकते हों, मनुष्यों के लिये अपने सत्याचरण, आज्ञापालन और पवित्रता में आदर्श हैं। इसी प्रकार से यह कथा लाखों भारतवासियों के लिये नीतिशिक्षा का उपाय है और उसका गौरव इस कारण से बहुत है।

अध्याय ४

—————:o:—————

आर्य और अनार्य लोग।

उत्तरी भारतवर्ष की नदियां, आर्यों के विजय का भाग निश्चय करती हैं। जब कोई इन नदियों का मार्ग देखता है तो उसे आर्यों के विजय का दस शताब्दियों का इतिहास विदित होता है। और जब कोई सिन्धु और उसकी सहायक नदियों का मार्ग और फिर बनारस और उत्तरी बिहार तक गंगा और यमुना का मार्ग देख चुकता है तो उसने ऐतिहासिककाव्य काल के अन्त तक अर्थात् ईसा के १००० वर्ष पहिले का हिन्दू-आर्यों का सारा राज्य देख लिया। इस हिन्दुओं के राज्य की बड़ी भूमि के आगे का सारा भारतवर्ष आर्यों से बिना अनुसन्धान किया हुआ अथवा यों कहिए कि बिना विजय किया हुआ पड़ा था जिसमें भिन्न भिन्न आदिवासिनी जातियां बसती थीं। इस अनार्यभूमि का एक थोड़ा भाग, जो हिन्दू राज्य को पूरब, दक्षिण और पश्चिम में घेरे हुए था, ऐतिहासिक काव्य काल के अन्त में हिन्दुओं को ज्ञात होता जाता था। दक्षिणी बिहार, मालवा, दक्षिण का एक भाग और राजपूताना मरुस्थल के दक्षिण के देश, यह एक अर्धमंडलाकार भूमि थे जो कि हिन्दुओं की नहीं हो गई थी परन्तु हिन्दुओं को धीरे धीरे विदित हो गई थी। इस लिये इस भूमि का उल्लेख सब से उत्तरकाल के ब्राह्मणों में कहीं कहीं पर आया है कि इसमें सत्व लोग, अर्थात् जीवित लोग जोकि कठिनता से मनुष्य कहे जा सकते हैं, रहते थे। हम लोग साहसी अधिवासियों को इस अज्ञात और असभ्य भूमि में घुसते हुए, जहां जहां वे गए वहां आदिवासियों पर अपना प्रभुत्व प्राप्त करते हुए, उपजाऊ नदियों के तटों पर जहां तहां बस्तियां स्थापित करते हुए, और विस्मित असभ्यों को सभ्य शासन और सभ्य जीवन के कुछ फल दिखलाते हुए, अनुमान कर सकते हैं।

हम लोग पुण्यात्मा साधुओं को इन जंगलों में शान्ति से जाकर पर्वतों की चोटियों पर वा उपजाऊ घाटियों में जो कि विद्या और पवित्रता का स्थान थी आश्रम बना कर रहते हुए ख्याल कर सकते हैं। और अन्त में साहसी राजकीय शिकारी भी बहुधा इन जंगलों में जाते थे, और दुर्भागे राजा लोग जिन्हें उनसे अधिक बलवान प्रतिद्वंद्वी लोग देश से निकाल देते थे वे भी बहुधा संसार से विरक्त होकर इन्हीं एकान्त जंगलों में आकर बसते थे। यह अनार्यों का देश जो धीरे धीरे हिन्दुओं को विदित होता जाता था ऐसी दशा में था। हम यहां पर कुछ ऐसे वाक्य उद्धृत करेंगे जिससे जान पड़ेगा कि हिन्दुओं को इस देश के विषय में कितना ज्ञान था और वे लोग उन भिन्न भिन्न आदिवासियों को किस नाम से पुकारते थे, जो कि इसमें सम्भवतः ईसा के पहिले ग्यारहवीं शताब्दी में रहते थे।

ऐतरेय ब्राह्मण की अन्तिम पुस्तक में एक ऐसा वाक्य है जिस में उस समय के मुख्य मुख्य हिन्दू राज्यों के वर्णन के साथ ही साथ दक्षिण और दक्षिण पश्चिम की आदिवासिनी जातियों का भी उल्लेख है। अतएव वह यहां पर उद्धृत करने योग्य है—

"तब पूरब दिशा में वासवों ने सारे संसार का राज्य पाने के लिये ३१ दिन तक इन्हीं तीनों ऋक् और यजु की रिचाओं और उन गम्भीर शब्दों से (जिनका वर्णन अभी किया जा चुका है) उस (इन्द्र) का प्रतिष्ठापन किया। इसी लिये पूर्वी जातियों के सब राजाओं को देवताओं के किए इस आदर्श के अनुसार सारे संसार के महाराजा की भांति राजतिलक दिया जाता है और वे सम्राट् कहलाते हैं।

"तब दक्षिण देश में रुद्रलोगों ने सुखभोग प्राप्त करने के लिये इन्द्र को ३१ दिन तक इन तीनों ऋकों अर्थात् यजुस् और उन गम्भीर शब्दों से (जिसका उल्लेख अभी हो चुका है) प्रतिष्ठापन किया। इसी लिये दक्षिण देश के जीवों के राजाओं को सुखभोग के लिये राजतिलक दिए जाते हैं और वे भोज अर्थात् भोग करने वाले कहलाते हैं।

"तब पश्चिम देश में दैवी आदित्यों ने स्वतंत्र राज्य पाने के लिये उसका उन तीनों ऋकों अर्थात् यजुस् की रिचाओं और उन गम्भीर शब्दों से प्रतिष्ठापन किया। इसी लिये पश्चिम देशों के नीच्यों और अपाच्यों के सब राजे स्वतंत्र राज्य करते हैं और 'स्वराट' अर्थात् स्वतंत्र राजा कहलाते हैं।

"तब उत्तरी देश में विश्वदेवों ने प्रख्यात शासन के लिये उसका उन्हीं तीनो रिचाओं से प्रतिष्ठापन किया। इसी लिये हिमालय के उस ओर के उत्तरी देशों से सब लोग, जैसे उत्तर कुरुलोग, उत्तरमाद्र लोग, बिना राजा के बसने के लिये स्थिर किए गए और वे "विराज" अर्थात् बिना राजा के कहलाते हैं।

"तब मध्य देश में, जो कि एक दृढ़ स्थापित स्थान है, साध्यों और अपत्यों ने राज्य के लिये इन्द्र का ३१ दिन तक प्रतिष्ठापन किया। इसी लिये कुरु, पांचालों तथा वस्रों और उसीनरों के राजाओं को राज्यतिलक दिया जाता है और वे 'राजा' कहलाते हैं।

इन उद्धृत वाक्यों से हम एक क्रम से ऐतिहासिक काव्य काल के अन्त में जहां तक हिन्दुओं का राज्य था वह सब विदित हो जाता है। जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं, सब से पूरब में विदेह, काशी और कोशल लोग रहते थे और ये सब से नए हिन्दू अधिवासी विद्या और प्रसिद्धता में अपने पश्चिम में रहनेवाले भाइयों से बढ़े हुए थे। उनके राजा लोग, यथा जनक, अजात शत्रु आदि गर्व से 'सम्राज' की पदवी ग्रहण करते थे और अपनी विद्या और बल से अपनी प्रतिष्ठा का निर्वाह योग्यता से करते थे।

दक्षिण में कुछ आर्य अधिवासी लोग चम्बल की घाटी तक जा कर आधुनिक मालवा देश में रहनेवाले आदिम निवासियों से अवश्य परिचित हो गए होंगे। ये जातियां 'सत्व' अर्थात् ऐसे जीव जो मनुष्य कहे जाने योग्य नहीं हैं, कहलाती थीं। यहां पर यह लिख देना भी उचित है कि इस ओर का राज्य तो 'भोज' के नाम से कहलाता ही था (इस शब्द की उत्पत्ति चाहे कैसीही कल्पित क्यों

न दी गई हो), पर उत्तर काल मे उस देश का नाम भी, जो कि विन्ध्य पर्वतों से सटा हुआ दक्षिण में चम्बल की घाटी में है, 'भोज' था।

इस स्थान से आर्य अधिवासी वा साहसी लोग पश्चिम की ओर बढ़े, यहां तक कि वे अरब के समुद्र के तटों तक पहुँच गए जिसके आगे वे नहीं बढ़ सकते थे। इन दूरस्थ देशों के आदिवासियों को सभ्य अधिवासी लोग कुछ तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे और इसी अभिप्राय से उन्हें 'नीच्यों' और 'अपाच्यों' का नाम दिया गया था और उनके शासक लोग 'स्वराव' अर्थात् स्वतंत्र राजा कहलाते थे। ये ही लोग जो कि ऐतिहासिक काव्य काल के अन्त में बहुत कम प्रसिद्ध थे, उत्तर काल की सब से अधिक अभिमानी और रण, प्रिय हिन्दू जाति के अर्थात् मरहट्ठों के पूर्वपुरुष थे।

लिखा है कि उत्तर में उत्तर कुरु लोग, उत्तर माद्र लोग तथा अन्य जातियां हिमालय के उस ओर रहती थीं, परन्तु इससे सम्भवतः यह तात्पर्य है कि वे नीची पर्वतश्रेणियों के उस ओर हिमालय की घाटियों में रहती थीं। अब तक भी इन पहाड़ियों के रहने वाले स्वतन्त्रता से प्राथमिक समाज में रहते हैं और सरदारों अथवा राजाओं से उनका सम्बन्ध बहुत कम होता है। अतएव यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि प्राचीन काल में वे 'बिना राजा के' कहे जाते थे।

अतः हिन्दू सृष्टि के बिलकुल बीच में गंगा की घाटी में कुरु और पांचालों की प्रबल जातियां तथा वसों और उशीनरों की कम प्रसिद्ध जातियां रहती थीं।

पश्चिम में, राजपुताने के मरुस्थलों का आर्य लोगों ने कुछ भी अनुसंधान नहीं किया था। इन मरुस्थलों और पर्वतों के भील आदिवासी तब तक बिना छेड़ छाड़ किए ही छोड़ दिए गए थे जब तक कि ईस्वी सन् के पीछे नए तथा भयानक आक्रमण करने वाले भारतवर्ष में आकर इन भागों में नहीं बसे।

दूर पूरब में दक्षिणी बिहार तब तक हिन्दुओं के अधिकार में नहीं हुआ था। प्रोफ़ेसर वेबर ने अथर्व वेद में एक वाक्य दिखलाया है जिसमें अङ्गों और मगधों का एक विशेष, परन्तु उनके विरुद्ध, उल्लेख है। इस वाक्य से जान पड़ता है कि दक्षिणी बिहार के लोग तब तक हिन्दू जाति में सम्मिलित नहीं हुए थे, परन्तु आर्य लोग उनसे परिचित होते जाते थे। बङ्गाल प्रान्त अब तक ज्ञात नहीं हुआ था।

दक्षिणी भारतवर्ष अर्थात् विन्ध्य पर्वतों के उत्तर के भारतवर्ष में हिन्दू लोग तब तक नहीं बसे थे। ऐतरेय ब्राह्मण (७,१८) में कुछ नीच असभ्य जातियों का, और उनमें अन्ध्रों का भी, नाम दिया है। हम आगे चल कर दिखलावेंगे कि दर्शन काल में अन्ध्र लोगों ने बड़ी उन्नति की थी और दक्षिण में उनका एक बड़ा सभ्य हिन्दू राज्य हो गया था।

अब हम ऐतिहासिक काव्य काल की सब मुख्य मुख्य आर्य जातियों और राज्यों का तथा उन अनार्य राज्यों का जो कि हिन्दू राज्य के दक्षिण में अर्द्धावृत्त में थे, वर्णन कर चुके। आगे के अध्यायों में हम इन लोगों की सामाजिक रीतियों और गृहाचारों का वर्णन करेंगे। परन्तु राजाओं का वृत्तान्त समाप्त करने के पहिले, ऐतिहासिक राज्याभिषेक की वृहद् रीति का कुछ वर्णन करेंगे, जैसा कि ऐतिहासिक काव्य काल के बहुत से ग्रन्थों में दिया है। यह रीति तथा अश्वमेध, ये दोनों प्राचीन भारतवर्ष की बड़ी ही गम्भीर और आडम्बरयुक्त राजकीय रीतें हैं और इनका कुछ वर्णन हम हिन्दुओं के दोनों महाकाव्यों के सम्बन्ध में कर चुके हैं। यहां पर राज्याभिषेक के सम्बन्ध के केवल एक दो वाक्य ही उद्धृत करने की आवश्यकता है।—

"वह सिंहासन पर व्याघ्र का चर्म इस प्रकार से बिछाता है कि रोयं ऊपर की ओर हों और उसकी गर्दन के ऊपरवाला भाग पूरब की ओर हो, क्योंकि व्याघ्र बन के पशुओं का क्षत्र है। क्षत्र राजकीय पुरुष है। इस क्षत्र के द्वारा राजा अपने क्षत्र की समृद्धि

करता है । राजा सिंहासन पर बैठने के लिये अपना मुंह पूरब की ओर किए हुए उसके पीछे से आता है, पैर पर पैर रख कर घुटने के बल इस प्रकार से बैठता है कि उसका दहिना घुटना पृथ्वी से लगा रहता है और अपने हाथों से सिंहासन को पकड़ कर उसकी प्रार्थना यथोचित मंत्र द्वारा करता है।

"तब पुरोहित राजा के सिर पर पवित्र जल छिड़कता है और यह कहता है— 'इसी जल को, जो कि शुभ, सब रोगों को अच्छा करनेवाला और राज्य की समृद्धि करनेवाला है, अमर प्रजापति ने इन्द्र पर छिड़का था, इसी को सोम ने वरुण राज पर छिड़का था, और मनु पर यम ने छिड़का था, सो इसीको हम तेरे ऊपर छिड़कते हैं। तू इस संसार के राजाओं का राजा हो। तेरी प्रख्यात माता ने तुझे संसार भर के मनुष्यों का महाराजा होने के लिये जन्म दिया है । भाग्यवती माता ने तुझे जन्म दिया है, इत्यादि'। फिर पुरोहित राजा को सोम की मदिरा देता है और क्रिया समाप्त होती है।" (ऐतरेय ब्राह्मण ८, ६-७)

इसके आगे लिखा है कि पुरोहितों ने इसी रीति से कई राजाओं का अभिषेक किया, जिनके नाम से कि हम परिचित हो चुके हैं। कवष के पुत्र तुर ने इसी प्रकार से परीक्षित के पुत्र जनमेजय का अभिषेक किया था। "वहां से जनमेजय सब जगह गया, उसने पृथ्वी के छोर तक विजय प्राप्त किया, और अश्वमेध के घोड़े का बलिदान किया।" पर्वत और नारद ने इसी प्रकार से उग्रसेन के पुत्र युधंश्रौष्टि का राज्याभिषेक किया था। इसी प्रकार से वसिष्ठ ने ऋग्वेद के महा विजयी सुदास का, और दीर्घतमस् ने दुःषन्त के पुत्र भारत का राज्याभिषेक किया था।

श्वेत यजुर्वेद में भी राज्याभिषेक की रीति का एक दूसरा अच्छा वर्णन मिलता है। उसमें से हम यहां एक अद्भुत वाक्य उद्धृत करते हैं जिसमें पुरोहित नए राजा को आशीर्वाद देता है "वह ईश्वर जो जगत का राज्य करता है, तुम्हे अपनी प्रजा का राज्य करने की शक्ति दे। वह अग्नि जो गृहस्थों से पूजी जाती है, तुम्हें गृ-

हस्तियों पर प्रभुत्व दे। वृक्षों का स्वामी सोम तुम्हें वनों पर प्रभुत्व दे। वाणी का देवता बृहस्पति तुम्हें बोलने में प्रभुत्व दे। देवताओं में सबसे बड़ा इन्द्र, तुम्हें सबसे बड़ा प्रभुत्व दे। जीवों का पालक रुद्र तुम्हे जीवों पर प्रभुत्व दे। मित्र, जोकि सत्य का अवतार है, तुम्हे सत्यता में अति श्रेष्ठ बनावे। वरुण जो पुण्य कार्यों का रक्षक है, तुम्हें पुण्य के कार्यों में अति श्रेष्ठ बनावे।"

इसके आगे प्रजा को जो वचन कहे गए हैं उसमें पुरोहित उन्हे कहता है— "हे अमुक अमुक जातियां, यह तुम्हारा राजा है।" काण्व में यह पाठ है कि "हे कुरु और पांचाल लोग, यह तुम्हारा राजा है।"

हम इस अध्याय को वह उत्तम उपदेश देकर समाप्त करेंगे जो कि इसी वेद में आगे चल कर राजाओं के लिये दिया है और जिसे यदि आज कल के शासक लोग स्मरण रक्खेंगे तो बहुत लाभ होगा। "यदि तुम शासक हुआ चाहते हो तो आज से समर्थों और असमर्थों पर बराबर न्याय करो। प्रजा पर निरन्तर हित करने का दृढ़ विचार करलो और सब आपत्तियों से देश की रक्षा करो।"(१०,२७)

अध्याय ५

——:o:——

जाति भेद।

हिन्दू आर्यलोग सैकड़ों वरन् हजारों वर्ष तक बाहरी लोगों से बिलकुल अलग रहे जैसा कि हम लोग और किसी जाति के इतिहास में नहीं पाते। इस प्रकार से अलग रहने में लाभ और हानि दोनों ही थी। इसके अन्य फलों में एक यह भी फल हुआ कि सामाजिक नियम अधिक दृढ़ और कठोर होते गए और इससे लोगों की स्वतंत्रता और स्वाधीनता पूर्वक कार्य करने की शक्ति धीरे धीरे क्षीण होती गई। गंगा और जमुना के उपजाऊ और रमणीक तटों पर चार पांच शताब्दियों तक शान्ति पूर्वक रहने के कारण ये सभ्य राज्य स्थापित कर सके थे, दर्शन, विज्ञान तथा शिल्प की उन्नति कर सके थे और अपने समाज तथा धर्म की भी उन्नति कर सके थे पर इन्हीं शान्त, परन्तु दुर्बल करनेवाले प्रभावों से लोग उन सामाजिक वर्गों में भी अलग हो गए जो 'जातियां' कहलाते हैं।

हम देख चुके हैं कि वैदिक काल के अन्त के लगभग धर्माध्यक्ष लोगों का एक जुदा व्यवसाय ही होगया था और पुत्र लोग भी अपने पिता ही का काम करने लग गए थे। ऐतिहासिक काव्य काल में जब धार्मिक रीतों में बड़ा आडम्बर होगया और जब उपजाऊ दोआब में नए नए राज्य स्थापित होगए और राजा लोग अनगिन्ती रीति विधानों के बड़े बड़े यज्ञ करने ही में अपना गौरव समझने लगे तो ऐसी अवस्था में यह बहुत सीधी बात है कि केवल धर्माध्यक्ष लोगों के ही ऐसे कठिन विधानों को कर सकने के कारण लोग उन्हें सत्कार की दृष्टि से देखने लगे यहां तक कि वे अन्त में स्वभावतः ही सामान्य लोगों से अलग तथा श्रेष्ठतर श्रेणी के अर्थात् एक अलग जाति के समझे जाने लगे। वे अपना

जीवन केवल इन्हीं विधानों के सीखने में बिताते थे और केवल वे लोग ही उन्हें विस्तार पूर्वक करसकते थे, और इसलिये लोग सम्भवतः यह विचारने लगे कि केवल वे ही इन पवित्र कर्मों को करने के पात्र हैं । और जब वंशपरम्परागत पुरोहित लोग इन आडम्बर युक्त विधानों के वास्तविक ज्ञान और लोगों की कल्पित पवित्रता के कारण पूर्णतया जुदे होगए तो उनके लिये अपनी श्रेणी के लोगों को छोड़ कर किसी अन्य से सम्बन्ध करना अच्छा नहीं समझा जाता था। फिर भी वे किसी किसी कुल की कन्याओं से विवाह करके उसका मान बढ़ा सकते थे। परन्तु पुरोहितों के घर की कन्या अपनी श्रेणी के लोगों को छोड़ कर और किसी से विवाह नहीं कर सकती थी। आज कल के हिन्दुओं की जो भावना और रीति है वह शीघ्रही गंगा के तटों पर रहनेवाले हिन्दुओं का जो नियमानुसार चलनेवाले थे और बाहरी सृष्टि से अलग थे धार्मिक तथा अलंघ्य नियम होगई।

ठीक ऐसे ही कारण राजकीय जाति की उत्पत्ति के भी थे। पंजाब के हिन्दुओं में राज्याधिकार ने बहुत ही अधिक प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त की थी। रणप्रिय सरदार लोग अपनी जाति को एक के पीछे दूसरी को विजय के लिये आगे बढ़ाते थे और उनमें से वसिष्ठों और विश्वामित्रों के आश्रयदाता सुदास की नांईं बड़े बड़े सरदार लोग प्रबल राजा ही की नांईं नहीं समझे जाते थे वरन् वे मनुष्यों के नायक और जातियों के रक्षक की भांति समझे जाते थे। परन्तु गंगा के तटों पर रहनेवाले हिन्दुओं में यह बात नहीं थी। सम्भवतः रणप्रिय कुरुओं और पांचालों के समय के आरम्भ में जाति भेद पूरी तरह से नहीं हो गया था। परन्तु इसके पीछे शान्त कोसल और विदेह लोगों को जो कि सब राजसी ठाट बाट से युक्त थे, प्रजा देवतुल्य समझती थी। इसलिये ऐसी अवस्था में यह सम्भव नहीं था कि राजकीय वा क्षत्री जाति की कन्याएं दूसरी स्थिति के मनुष्यों से विवाह करें। ऐसे अनुचित विवाह तो सारे संसार ही में दूषित समझे जाते हैं, परन्तु भारतवर्ष में यह एक अलंघनीय नियम होगया। इस प्रकार से जब ब्राह्मण और क्षत्री

लोग दृढ़ और अलङ्घनीय नियमों द्वारा अन्य लोगों से जुदे हो गए, यहां तक कि ब्राह्मण जाति की दीनातिदीन कन्या भी वैश्यों के सब से बड़े और धनाढ्य मनुष्य से भी विवाह नहीं कर सकती थी।

योरप के समाजिक इतिहास में भारतवर्ष के जाति भेद के समान कोई भी उल्लेख मिलना कठिन है। फिर भी योरप में एक समय ऐसा था जब कि भारतवर्ष के जाति भेद ही के समान रीति वहां उन्हीं कारणों से प्रचलित हुई थी जिनसे कि भारतवर्ष में हुई थी। अर्थात् जन साधारण की दुर्बलता और योधाओं और धर्माध्यक्षों की प्रबलता के कारण। जब रोम का राज्य टूटा और सरदार और बेरन लोग योरप के सब से अच्छे अच्छे भाग ले रहे थे, उस समय जन साधारण में राजनैतिक उत्साह तथा स्वतंत्रता नहीं थी। योरप में प्रबल पादरियों तथा सैनिकों और निरुत्साही और दुर्बल जन साधारण में सैनिक राज्य प्रणाली के दिनों में जितना अधिक भेद था उतना और कभी नहीं रहा। योरप भर में बड़े बड़े मठ बने, प्रत्येक नाव चलने योग नदी पर और प्रत्येक तुच्छ गाँव में सैनिक दुर्ग देख पड़ते थे और ग्रामीणों तथा छोटे छोटे नगरों के दीन शिल्पकारों के साथ गुलामों का सा बर्ताव किया जाता था। मध्यकाल में योरप के पादरी, योधा (Knights) और जन साधारण लोग भारतवर्ष के ब्राह्मण, क्षत्री और वैश्यों के कुछ कुछ समान थे।

परन्तु यह समता केवल देखने ही में है। सैनिक योरप के पादरी लोग विवाह नहीं करते थे, और जन साधारण में जो सब से योग्य, सब से बुद्धिमान, और सब से विद्वान होते थे उन्हीं में से पादरी बनाए जाते थे। नाइट लोग भी जन साधारण में से शूर पुरुष और वीर योधाओं को अपनी श्रेणी में प्रसन्नता से सम्मिलित कर लेते थे। जन साधारण ने भी अपने वाणिज्य की रक्षा के लिये शीघ्र ही एका कर लिया, लुटेरे सरदारों से सामना करने के लिये अपने नगरों को सुरक्षित कर लिया, म्युनिसिपैलिटियां बनाईं और उस भययुक्त काल में अपनी रक्षा करने के लिये शस्त्र चलाना सीखा। उमंगी बेरन लोग भी बहुधा जन साधारण में मिल जाते

थे और मंत्रणा के लिये सभा तथा रणक्षेत्र में उनकी सहायता करते थे। इस सुनकर हेलमेल ने, जिसे कि भारतवर्ष में जातिभेद ने रोक दिया था, योरप के लोगों को पुनर्जीवित और दृढ़ बना दिया। ज्यों ज्यों जन साधारण के व्यापार और राजनैतिक जीवन की उन्नति होती गई त्यों त्यों [illegible]मिक राज्य प्रणाली तथा पादरियों की प्रबलता नष्ट होती गई, और इस प्रकार से योरप में लोगों के तीन जातियों में बंट जाने का यदि कोई भय था तो वह सदा के लिये जाता रहा।

जाति भेद की उत्पत्ति का जो स्पष्ट कारण ऊपर दिखलाया गया है वह हिन्दुओं के ग्रन्थों में विचित्र कल्पित कथाओं में वर्णन किया गया है। परन्तु इन अद्भुत कल्पित कथाओं के रहते उत्तर काल के हिन्दू ग्रन्थकार लोग इस बात से बिल्कुल अनभिज्ञ कभी नहीं हुए थे कि जातिभेद वास्तव में केवल व्यवसाय ही के कारण हुआ था। जाति भेद की उत्पत्ति का यह स्पष्ट और स्वाभाविक कारण कई स्थानों पर उन्हीं पुराणों में पाया जाता है जोकि दूसरे स्थानों पर इनकी उत्पत्ति के विषय में अद्भुत और विचित्र कल्पित कथाएं वर्णन करते हैं। यहां पर हमको केवल एक ही दो ऐसे वाक्यों के उद्धृत करने का स्थान है।

वायु पुराण में लिखा है कि आदि वा कृत युग में जाति भेद नहीं था और इसके उपरान्त ब्रह्मा ने मनुष्यों के कार्य के अनुसार उनमें भेद किया। "उनमें से जो लोग शासन करने योग्य थे और लड़ाई भिड़ाई के काम में उद्यत थे उन्हें औरों की रक्षा करने के कारण उसने क्षत्री बनाया। वे निस्वार्थी लोग जो उनके साथ रहते थे, सत्य बोलते थे और वेदों का उच्चारण भली भांति करते थे ब्राह्मण हुए। जो लोग पहिले दुर्बल थे, किसानों का काम करते थे, भूमि जोतते बोते थे, और उद्यमी थे, वे वैश्य अर्थात् कृषक और जीविका उत्पन्न करनेवाले हुए। जो लोग सफाई करने वाले थे और नौकरी करते थे और जिनमें बहुत ही कम बल वा पराक्रम था वे शूद्र कहलाए।" ऐसे ही ऐसे वर्णन और पुराणों में भी पाए जाते हैं।

रामायण अपने आधुनिक रुप में बहुत पीछे के काल में बनाई गई थी, जैसा कि हम ऊपर दिखला चुके हैं। उत्तर काण्ड के ७४ वें अध्याय में लिखा है कि कृत युग में केवल ब्राह्मण ही लोग तपस्या करते थे; त्रेता युग में क्षत्री लोग उत्पन्न हुए और तब आधुनिक चार जातियां बनी। इस कथा की भाषा का ऐतिहासिक भाषा में उलथा कर डालने से इसका यह अर्थ होता है कि वैदिक युग में हिन्दू आर्य लोग संयुक्त थे और हिन्दुओं के कृत्य करते थे परन्तु ऐतिहासिक काव्य काल में धर्माध्यक्ष और राजा लोग जुदे होकर जुदी जुदी जाति के हो गए और जनसाधारण भी वैश्यों और शूद्रों की नीचस्थ जातियों में बंट गए।

हम यह भी देख चुके हैं कि महाभारत भी अपने आधुनिक रुप में बहुत पीछे के समय का ग्रन्थ है। परन्तु उसमें भी जाति की उत्पत्ति के प्रत्यक्ष और यथार्थ वर्णन पाए जाते हैं। शान्ति पर्व के १८८ वें अध्याय में लिखा है कि "लाल अंगवाले द्विज लोग जो सुख भोग में आसक्त थे, क्रोधी और साहसी थे और अपनी यज्ञादि की क्रिया को भूल गए थे, वे क्षत्री के वर्ण में हो गए। पीत रंग के द्विज लोग जो गौओं और खेती बारी से अपनी जीविका पाते थे और अपनी धार्मिक क्रियाओं को नहीं करते थे वे वैश्यवर्ण में हो गए। काले द्विज लोग जो अपवित्र दुष्ट, झूठे और लालची थे और जो हर प्रकार के काम करके अपना पेट भरते थे, शूद्र वर्ण के हुए। इस प्रकार से द्विज लोग अपने अपने कामों के अनुसार जुदे होकर, भिन्न भिन्न जातियों में बंट गए।"

इन वाक्यों के तथा ऐसेही दूसरे वाक्यों के लिखनेवाले निसन्देह इस कथा को जानते थे कि चारो जातियों की उत्पत्ति ब्रह्मा की देह के चार भागों से हुई है। परन्तु उन लोगों ने इसे स्वीकार न करके इसे कवि का अलंकारमय वर्णन समझा है जैसा कि वह यथार्थ में है भी! वे बराबर इस बात को लिखते हैं कि पहिले पहिल जातियां नहीं थीं और वे बहुत ही अच्छा तथा न्याय संगत अनुमान करते हैं कि काम काज और व्यवसाय के भेद के कारण पीछे

से जाति भेद हुआ। अब हम इस प्रसंग को छोड़ कर इस बात पर थोड़ा विचार करेंगे कि ऐतिहासिक काव्य काल में जाति भेद किस प्रकार का था।

हम ऊपर कह चुके हैं कि पहिले पहिल जाति भेद गंगा के तटों के शान्त वासियों ही में हुआ। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि इस रीति के बुरे फल तब तक नहीं दिखाई दिए, और न तब तक दिखाई देही सकते थे, जब तक कि हिन्दू लोगों के स्वतन्त्र जाति होने का अन्त नहीं होगया। ऐतिहासिक काव्य काल में भी लोग ठीक ब्राह्मणों और क्षत्रियों की नाईं धर्म विषयक ज्ञान और विद्या सीखने के अधिकारी समझे जाते थे। और ब्राह्मणों क्षत्रियों और वैश्यों में किसी किसी अवस्था में परस्पर विवाह भी होसकता था। इसलिये प्राचीन भारतवर्ष का इतिहास पढ़नेवाले इस जाति भेद की रीति के आरम्भ होने के लिये चाहे कितनाही अफ़सोस क्यों न करें पर उसे याद रखना चाहिए कि इस रीति के बुरे फल भारतवर्ष में मुसल्मानों के आने के पहिले दिखाई नहीं पड़े थे।

स्वेत यजुर्वेद के सोलहवें अध्याय में कई व्यवसायों के नाम मिलते हैं जिससे कि उस समय के समाज का पता लगता है जिस समय इस अध्याय का संग्रह किया गया था। यह बात तो स्पष्ट है कि इसमें जो नाम दिए हैं वे जुदे जुदे व्यवसायों के नाम हैं कुछ जुदी जुदी जातियों के नाम नहीं हैं। जैसे २० और २१ कण्डिका में भिन्न भिन्न प्रकार के चोरों का उल्लेख है और २६ वीं में घोड़ सवारों, सारथियों और पैदल सिपाहियों का। इसी प्रकार से २७ वीं कण्डिका में जो बढ़इयों, रथ बनानेवालों कुम्हारों और लोहारों का उल्लेख है वे भी भिन्न भिन्न कार्य करनेवाले हैं कुछ भिन्न जातियां नहीं हैं। उसी कण्डिका में निषाद और दूसरे दूसरे लोगों का भी वर्णन है। यह स्पष्ट है कि ये लोग यहां की आदि देशवासिनी जातियों में से थे और आज कल की नाईं उस समय की हिन्दू समाज में सब से नीचे थे।

इसी ग्रन्थ के ३० वें अध्याय में यह नामावली बहुत बढ़ा कर

दी है। हम पहिले दिखला चुके हैं कि यह अध्याय बहुत पीछे के समय का है और वास्तव में उपोद्‌घात है। पर इसमें भी बहुत से ऐसे नाम मिलते हैं जो केवल व्यवसाय प्रगट करते हैं और बहुत से ऐसे हैं जो निस्सदेह आदिवासियों के हैं। और उसमें इसका तो कहीं प्रमाण ही नहीं मिलता कि वैश्यलोग कई जातियों में बटे थे। उसमें नाचनेवाले, वक्ताओं और सभासदों के नाम, रथ बनानेवालों, बढ़इयों, कुम्हारों, जवाहिरियों, खेतिहरों, तीर बनानेवालों और धनुष बनानेवालों के नाम, बौने, कुबड़े, अन्धे, और बहिरे लोगों के, वैद्य और ज्योतिषियों के, हाथी घोड़े और पशु रखने वालों के, नौकर, द्वारपाल, रसोइयें, और लकड़िहारों के, चित्रकार और नामादि खोदने वालों के, धोबी रंगरेज और नाइयों के, विद्वान मनुष्य, घमंडी मनुष्य और कई प्रकार की स्त्रियों के, चमार मछुआहे, व्याधे और बहेलियों के, सोनार व्यापारी और कई तरह के रोगियों के, नकली बाल बनाने वालों, कवि और कई प्रकार के गवैयों के नाम मिलते है। यह स्पष्ट है कि ये सब नाम जातियों के नहीं हैं। इसके सिवाय मागध, सूत, भीमल मृगयु, स्वनिन्, दुमेद आदि जो नाम आए हैं वे स्पष्टतः आदिवासियों के नाम हैं जो आर्य समाज की छाया में रहते थे। यहां पर हमें केवल इतना ही और कहना है कि करीब करीब यही नामावली तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी दी है।

ऊपर की नामावली से जिस समय का हम वर्णन कर रहे हैं उस समय के समाज और व्यवसाय का कुछ हाल जाना जाता है; पर इस नामावली से और जाति से कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐतिहासिक काव्य काल में और इसके पीछे भी मुसलमानों के यहां आने के समय तक बराबर आर्यों में से बहुत ही अधिक लोग वैश्य थे, यद्यपि वे कई प्रकार का व्यवसाय करते थे। वैश्य, ब्राह्मण और क्षत्री यही तीन मिलकर आर्य जाति बनाते थे और वे इस जाति के सब स्वत्व के और पैत्रिक विद्या और धर्म सीखने के अधिकारी थे। केवल पराजित आदिवासी ही, जो शूद्र जाति के थे, आर्यों के स्वत्वों से अलग रक्खे गए थे।

पुराने समय की जाति-रीति और आज कल की जाति-रीति में यही मुख्य भेद है। पुरान समय में जाति ने ब्राह्मणों को कुछ विशेष अधिकार और क्षत्रियों को भी कुछ विशेष अधिकार दिया था, पर आर्यों को कदापि बांट कर अलग अलग नहीं कर दिया था। ब्राह्मण, क्षत्री और साधारण लोग यद्यपि अपना जुदा जुदा पैत्रिक व्यवसाय करते थे, पर वे सब अपने को एक ही जाति का समझते थे, एक ही धर्म की शिक्षा पाते थे, एक ही पाठशाला में पढ़ने जाते थे, उन सब का एक ही साहित्य और कहावतें थीं, सब साथ ही मिलकर खाते पीते थे, सब प्रकार से आपस में मेल मिलाप रखते थे और एक दूसरे से विवाह भी करते थे और अपने को पराजित आदिवासियों से भिन्न "आर्य जाति" का कहने में अपना बड़ा गौरव समझते थे। पर आज कल जाति ने वैश्य आर्यों को सैकड़ों सम्प्रदायों में जुदा जुदा कर दिया है, इन सम्प्रदायों ने जाति भेद बहुत ही बढ़ा दिया है, उनमें परस्पर विवाह और दूसरे सामाजिक हेल मेल को रोक दिया है, सब लोगों में धर्मज्ञान और साहित्य का अभाव कर दिया है और उन्हें वास्तव में शूद्र बना दिया है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में बहुत से ऐसे वाक्य मिलते हैं जिनसे जान पड़ता है कि पहिले समय में जाति भेद ऐसा कड़ा नहीं था जैसा कि पीछे के समय में हो गया। उदाहरण के लिये ऐतरेय ब्राह्मण (७, २६) में एक अपूर्व वाक्य मिलता है। जब कोई क्षत्री किसी यज्ञ में किसी ब्राह्मण का भाग खा लेता है तो उसकी सन्तान ब्राह्मणों के गुणवाली होती है जो "दान लेने में तत्पर, सोम की प्यासी, और भोजन की भूखी होती है और अपनी इच्छा के अनुसार सब जगह घूमा करती है।" और "दूसरी वा तीसरी पीढ़ी में वह पूरी तरह ब्राह्मण होने के योग्य हो जाती है।" जब वह वैश्य का भाग खा लेता है तो "उसे वैश्य के गुणवाली सन्तान होगी जो दूसरे राजा को कर देगी" "और दूसरी वा तीसरी पीढ़ी में वे लोग वैश्य जाति के होने के योग्य हो जाते हैं।" जब वह शूद्र का भाग लेखता है तो उसकी सन्तान में "शूद्र के गुण होंगे; उन्हें तीनों उच्च जाति-

यों की सेवा करनी होगी और वे अपने मालिकों के इच्छानुसार निकाल दिए जांयगे और पीड़े जांयगे।" और "दूसरी वा तीसरी पीढ़ी में वे शूद्रों की गति पाने के योग्य हो जाते हैं।"

किसी पहिले के अध्याय में हम दिखला चुके हैं कि विदेहों के राजा जनक ने याज्ञवल्क्य को ऐसा ज्ञान दिया कि जो इसके पहिले ब्राह्मण लोग नहीं जानते थे और तब से वह ब्राह्मण समझा जाने लगा (सतपथ ब्राह्मण ११, ६, २, १) ऐतरेय ब्राह्मण (२, १६) में इलुषा के पुत्र कवष का वृत्तान्त दिया है, जिसमें उसे और ऋषियों यह कह कर सत्र से निकाल दिया था कि "एक धूर्त दासी का पुत्र, जो कि ब्राह्मण नहीं है, हम लोगों में कैसे रह कर दीक्षित होगा।" परन्तु कवष देवताओं को जानता था और देवता लोग कवष को जानते थे और इसलिये वह ऋषियों की श्रेणी में हो गया। इसी प्रकार से छान्दोग्य उपनिषद् (४, ४) में सत्यकाम जबाला की सुन्दर कथा में यह बात दिखलाई गई है कि उन दिनों में सच्चे और विद्वान लोगों हीं का सब से अधिक आदर किया जाता था और वे ही सब से ऊंची जाति के समझे जाते थे। यह कथा अपनी सरलता और काव्य में ऐसी मनोहर है कि हम उसको यहां लिख देना ही उचित समझते हैं:—

"(१) जबाला के पुत्र सत्यकाम ने अपनी माता को बुलाकर पूछा कि 'हे माता, मैं ब्रह्मचारी हुआ चाहता हूं। मैं किस वंश का हूं।,

" (२) उसने उससे कहा 'पुत्र, मैं नहीं जानती कि तू किस वंश का है। मेरी युवावस्था में जब मुझे बहुत करके दासी का काम करना पड़ता था उस समय मैं ने तुझे गर्भ में धारण किया था। मैं यह नहीं जानती कि तू किस वंश का है। मेरा नाम जबाला है, तू सत्यकाम है; इसलिये यह कह कि मैं सत्यकाम जबाला हूं।'

" (३) वह गौतम हरिद्रुमत के पास गया और उनसे बोला 'महाशय मैं आप के पास ब्रह्मचारी हुआ चाहता हूं। महाशय क्या मैं आपके पास आसकता हूं ?"

"(४) उसने उससे कहा 'मित्र तू किस वंश का है।' उसने उत्तर दिया, 'महाशय, मैं यह नहीं जानता कि मैं किस वंश का हूं। मैंने अपनी माता से पूछा था, उसने उत्तर दिया कि 'मेरी युवावस्था में जब मुझे बहुत करके दासी का काम करना पड़ता था उस समय मैं ने तुझे गर्भ में धारण किया था। मैं यह नहीं जानती कि तू किस वंश का है। मेरा नाम जबाला है, तू सत्यकाम है, इसलिये महाशय मैं सत्यकाम जबाला हूं।'

"(५) इसने कहा 'सच्चे ब्राह्मण के सिवाय और कोई इस प्रकार से नहीं बोलेगा। मित्र, जाओ ईंधन लेआवो मैं तुझे दीक्षा दूंगा। तुम सत्य से नहीं टले।"

इसलिये यह सत्य-प्रिय युवा दीक्षित किया गया और उस समय की रीति के अनुसार अपने गुरू के पशु चराने के लिये जाया करता था। कुछ समय में उसने प्रकृति और पशुओं से भी उन बड़ी बड़ी बातों को सीखा जो कि ये लोग सिखनहार हृदयवाले मनुष्यों को सिखलाते हैं। वह जिस झुंड को चराता था उसके बैल से, जिस अग्नि को जलाता उससे, और सन्ध्या समय जब वह अपनी गौओं को बाड़े में बन्द करने और सन्ध्या की अग्नि में लकड़ी डालने के पीछे उसके पास बैठता था तो उसके पास जो राजहंस और अन्य पक्षी उड़ते थे उनसे भी बातें सीखता था। तब यह युवा शिष्य अपने गुरू के पास गया और उसने उस से तुरन्त पूछा "मित्र तुम्हारे में ऐसा तेज है जैसे कि तुम ब्रह्म को जानते हो। तुम्हें किस ने शिक्षा दी है?" युवा शिष्य ने उत्तर दिया "मनुष्य ने नहीं"। जो बात युवा शिष्य ने सीखी थी वह यद्यपि उस समय के मनगढ़त शब्दों में छिपी हुई थी पर वह यह थी कि चारो दिशा पृथ्वी आकाश स्वर्ग और समुद्र, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि और जीवों की इन्द्रियां तथा मन, सारांश यह कि सारा विश्व ही ब्रह्म अर्थात् ईश्वर है।

उपनिषदों की ऐसी शिक्षा है और यह शिक्षा इसी प्रकार की कल्पित कथाओं में वर्णित है जैसा कि हम आगे चल कर दिख-

लावेंगे। जब कोई विद्वान ब्राह्मणों के नियमों विधानों के अरोचक और निरर्थक पृष्ठों को उलटता है तो उसे उस सत्यकाम जबाल के ऐसी कथाएं, जो कि मानुषी भावना और करुणा और उच्चतम सुचरित की शिक्षाओं से भरी हैं, धीरज देती और खुश करती हैं। पर इस कथा को यहां पर लिखने में हमारा तात्पर्य यह दिखलाने का है कि जिस समय ऐसी कथाएं बनी थीं उस समय तक जाति भेद के नियम इतने कड़े नहीं होगए थे। इस कथा से हमको यह मालूम होता है कि एक दासी का लड़का जो कि अपने बाप को भी नहीं जानता था, केवल सचाई के कारण ब्रह्मचारी होगया, प्रकृति तथा उस समय के पंडित लोग उसे जो कुछ सिखला सकते थे उन सब बातों को उसने सीखा और अन्त में उस समय के सब से बड़े धर्म शिक्षकों में होगया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस समय की जाति प्रथा में बड़ी ही स्वतंत्रता थी। पीछे के समय की प्रथा की नाई उस समय रुकावटें नहीं थीं कि जब ब्राह्मणों को छोड़ा कर और सब जाति को धर्म का ज्ञान ही नहीं दिया जाता था, वह ज्ञान जो कि जाति का मानसिक भोजन और जाति के जीवन का जीव है।

यज्ञोपवीत का प्रचार ऐतिहासिक काव्य कालही से हुआ है सतपथ ब्राह्मण में (२, ४, २) लिखा है कि जब सब लोग प्रजापति के यहां आए तो देवता और पितृलोग भी यज्ञोपवीत पहिने हुए आए। और कौशीतकि उपनिषद् (२, ७) में लिखा है कि सब को जीतने वाला कौशीतकि यज्ञोपवीत पहिन कर उदय होते हुए सूर्य की पूजा करता है।

इस प्राचीन काल में यज्ञोपवीत को ब्राह्मण, क्षत्री और वैश्य तीनों ही पहिनते थे, लेकिन केवल यज्ञ करते समय। पर अब उस प्राचीन काल की सब बातें बदल गई हैं। अब तो केवल एक ही जाति के लोग, अर्थात् ब्राह्मण लोग ही यज्ञोपवीत को हर समय रीति और आडम्बर के लिये धारण किए रहते हैं और ये लोग वैदिक यज्ञ करना भी भूल गए हैं।

———:o:———

अध्याय ६

——:o:——

सामाजिक जीवन ।

वैदिक समय के समाज और ऐतिहासिक काव्य काल के समाज में बड़ा भेद यह था कि वैदिक समय में तो जाति भेद था ही नहीं परन्तु इस काल में यह था। पर केवल यही एक भेद नहीं है। सैकड़ों वर्ष की सभ्यता और उन्नति का भी समाज पर प्रभाव पड़ा। ऐतिहासिक काव्य काल के सभ्य हिन्दू लोगों की सामाजिक चाल व्यवहार वैदिक समय के योधा-खेतिहरों से उतनी ही भिन्न थी जितनी कि पेरिकलीज़ के समय की ग्रीस देश निवासी अगामेमन और युलीसिस से भिन्न थी।

जिस समय का हम वर्णन कर रहे हैं उस समय के हिन्दू लोग सभ्य और शिष्ट होगए थे और उन्होंने अपने घर के तथा सामाजिक काम करने के लिये सूक्ष्म नियम तक बना लिए थे। राजाओं की सभा, विद्या का स्थान थी और उसमें सब जाति के विद्वान और बुद्धिमान लोग बुलाए जाते थे, उनका आदर सम्मान किया जाता था और उन्हें इनाम दिया जाता था। विद्वान अधिकारी लोग न्याय करते थे, और जीवन के सब काम नियम के अनुसार किए जाते थे। सब जातियों में मजबूत दीवारों और सुन्दर मकानों के नगर बहुतायत से हो गए थे, जिनमें न्यायाधीश, दण्ड देनेवाले और नगर रक्षक लोग होते थे। खेती की उन्नति की जाती थी और राज्याधिकारी लोगों का काम कर उगाहने और खेतिहारों के हित की ओर ध्यान देने का था।

हम कह चुके हैं कि विदेहों, काशियों और कुरु पंचालों की नाईं सभ्य और विद्वान राजाओं की सभाएं उस समय में विद्या की मुख्य जगह थीं। ऐसी सभाओं में यज्ञ करने और विद्या की

उन्नति करने के लिये विद्वान पंडित लोग रक्खे जाते थे और बहुत से ब्राह्मण ग्रन्थ जो कि हमलोगों को आज कल प्राप्त है उन्हीं सम्प्रदायों के बनाए हुए हैं जिनकी नीव इन पंडितों ने डाली थी। बड़े बड़े अवसरों पर विद्वान लोग बड़े बड़े दूर के नगरों और गांवों से आते थे, और शास्त्रार्थ केवल क्रिया संस्कार ही के विषय में नहीं होता था, वरन् ऐसे ऐसे विषयों पर भी जैसे कि मनुष्य का मन, मरने के पीछे आत्मा का उद्देश्य स्थान, आनेवाली दुनियां, देवता, पितृ और भिन्न भिन्न तरह के जीवों के विषय में, और उस सर्वव्यापी ईश्वर के विषय में जिसे कि हम सब चीजों में देखते हैं।

पर विद्या का स्थान केवल सभा ही नहीं थी। विद्या की उन्नति के लिये परिषद् अर्थात् ब्राह्मणों के विद्यालय होते थे, जो कि योरप के विद्यालयों का काम देते थे और इन परिषदों में युवा लोग विद्या सीखने जाते थे। बृहदारण्यक उपनिषद (६,२) में इसी प्रकार से लिखा है कि स्वकेतु विद्या सीखने के लिये पंचालों के परिषद् में गया। प्रोफ़ेसर मेक्समूलर ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में ऐसे वाक्य उद्धृत किए हैं जिनसे ज्ञान पड़ता है कि इसके ग्रन्थकारों के अनुसार परिषद् में २१ ब्राह्मण होने चाहिए जो दर्शन वेदान्त और स्मृति शास्त्रों को अच्छी तरह जानते हों। पर उन्होंने यह दिखलाया है कि ये नियम पीछे के समय की स्मृति की पुस्तकों में दिए हैं और ये ऐतिहासिक काव्य काल के परिषदों का वर्णन नहीं करते। पराशर कहता है कि किसी गांव के चार वा तीन योग्य ब्राह्मण भी जो वेद जानते हों और होमाग्नि रखते हों, परिषद् बना सकते हैं।

इन परिषदों के सिवाय अकेले एक एक शिक्षक भी पाठशालाएं स्थापित करते थे जिनकी तुलना योरप के प्राइवेट स्कूलों से दी जा सकती है और इनमें बहुधा देश के भिन्न भिन्न भागों से विद्यार्थी लोग इकट्ठे हो जाते थे। ये विद्यार्थी रहने के समय तक दास की नाईं गुरू की सेवा करते थे और बारह वर्ष वा इससे

भी अधिक समय के पीछे गुरू को उचित दक्षिणा देकर अपने घर अपने लालायित सम्बन्धियों के पास लौट जाते थे। उन विद्वान ब्राह्मण लोग के पास भी जो वृद्धावस्था में संसार से जुदे होकर बनों में आ बसते थे, बहुधा विद्यार्थी लोग इकट्ठे होजाते थे और उस समय की अधिकतर कल्पनाएं इन्हीं बन मे रहनेवाले विरक्त साधू और विद्वान महात्माओं की हैं। इस तरह से हिन्दू लोगों में हजारों वर्ष तक विद्या की उन्नति और रक्षा हुई है और इन लोगों में विद्या और ज्ञान की जितनी कदर थी उतनी कदाचित किसी दूसरी जाति में प्राचीन अथवा नवीन समय में भी नहीं हुई। हिन्दुओं के धर्म के अनुसार अच्छे काम वा धर्म की क्रियाओं के करने से केवल उनको उचित फल और जीवन में सुख ही मिलता है, पर ईश्वर में मिलकर एक होजाना, यह केवल सच्चे ज्ञान ही से प्राप्त होसकता है।

जब विद्यार्थी लोग इस तरह से किसी परिषद में अथवा गुरू से उस समय की परम्परागत विद्या सीख लेते थे तो वे अपने घर आकर विवाह करते थे और गृहस्थ होकर रहने लगते थे। विवाह के साथ ही साथ उनके गृहस्थी के धर्म भी आरम्भ होते थे और गृहस्थ का पहिला धर्म यह था कि वह किसी शुभ नक्षत्र में होमाग्नि को जाल दें, सबेरे और सन्ध्या के समय अग्नि को दूध चढ़ाया करे, दूसरे धर्म के और गृहस्थी के कृत्य किया करे, और सब से बढ़ कर यह कि अतिथियों का सत्कार किया करे। हिन्दुओं के कर्तव्य का सार नीचे लिखे ऐसे वाक्यों में समझा गया है—

"सत्य बोलो! अपना कर्तव्य करो! वेदों का पढ़ना मत भूलो! अपने गुरू को उचित दक्षिणा देने के पीछे बच्चों के जीव का नाश न करो! सत्य से मत टलो! कर्तव्य से मत टलो! हितकारी बातों की उपेक्षा मत करो! बड़ाई में आलस्य मत करो! वेद के पढ़ने पढ़ाने में आलस्य मत करो!

"देवताओं और पितरों के कामों को मत भूलो! अपनी माता को देवता की नांई मानो! अपने पिता को देवता की नांई मानो!

अपने गुरु को देवता की नाईं मानो ! जो काम निष्कलंक हैं उन्हीं के करने में चित्त लगाओ, दूसरों में नहीं ! जो जो अच्छे काम हम लोगों ने किए हैं उन्हें तुम भी करो !"

(तैत्तिरीय उपनिषद् १, २)

इस समय के ग्रन्थों में समाज की सुखी दशा के वर्णन भी अनेक स्थानों में मिलते हैं। एक अश्वमेध में पुरोहित कहता है कि "हमारे राज्य में ब्राह्मण लोग धर्म के साथ रहें, हम लोगों के योधा लोग बलवान और शस्त्र चलाने में चतुर हों, हम लोगों की गौवें बहुत सा दूध दें, हमारे बैल बोझा ढोंए और हमारे घोड़े तेज हों; हम लोगों की स्त्रियां अपने घर की रक्षा करें. और हमारे योधा लोग जय लाभ करें; हमारे युवा लोग अपने रहन सहन में सभ्य हों......परजन्य प्रत्येक घर और प्रत्येक देश में वृष्टि करे, हम लोगों के अनाज के वृक्षों में अन्न उत्पन्न हो और पके, हम लोगों के मनोरथ सिद्ध हों और हम लोग सुख से रहें।" (शुक्ल यजुर्वेद २२, २२)

धनवानों का धन सोना, चांदी और जवाहिर, गाड़ी, घोड़ा गाय, खच्चर और दास, घर और उपजाऊ खेत, और हाथी भी होता था (छान्दोग्य उपनिषद ५. १३. १७, १९; ७, २४; सतपथ ब्राह्मण ३, २, ४८; तैत्तिरीय उपनिषद् १, ५, १२ आदि)। यज्ञों में सोना उचित दान समझा जाता था और उनमें चांदी का दान देने का बहुत ही निषेध किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में जैसे और सब बातों के कारण दिए हैं वैसे ही इसका कारण भी बड़ा ही विलक्षण दिया है—जब देवताओं ने अग्नि को सौंपा हुआ धन उससे फिर मांगा तो अग्नि रोई और उसके जो आंसू बहे वे चांदी हो गए। इसी कारण से यदि चांदी दक्षिणा में दी जाय तो उस घर में रोना मचेगा। पर यह कारण ब्राह्मणों के लालच को नहीं छिपा लेता, जो कि सोना दान का मुख्य कारण है।

लोगों को उस समय केवल सोने और चांदी ही का प्रयोग नहीं मालूम था वरन् शुक्ल यजुर्वेद (१८, १३) में कई दूसरी धातु-

ओं का भी वर्णन है। छान्दोग्य उपनिषद के निम्न लिखित वाक्य से उस समय की कुछ धातुओं का पता लगता है—

"जिस तरह कोई सोने को लवण (सोहागे) से जोड़ता है, चांदी को सोने से, टीन को चांदी से, जस्ते को टीन से, लोहे को जस्ते से, काठ को लोहे अथवा चमड़े से" (४, १७, ७)

ऐतरेय ब्राह्मण (८, २२) में लिखा है कि अत्रि के पुत्र ने दस हज़ार हाथियों और दस हज़ार दासियों को दान दिया था जो कि "गले में आभूषणों से अच्छी तरह से सज्जित थीं और सब दिशाओं से लाई गई थीं," पर यह बात स्पष्टतः बहुत बढ़ा कर लिखी गई है।

वैदिक काल की नांई इस समय में भी लोग कई प्रकार का अन्न और पशुओं का मांस भोजन करते थे। बृहदारण्यक उपनिषद् में (६, ३, १३) दस चीजों के दानों का नाम लिखा है, अर्थात् चावल और जव (बृहियवास्) का, तिल और माष (तिलमाषास्) का, अणु और प्रियंगु का, गेहूं (गोधूमस्) का, मसूर का, खल्वास और खलकुलास का।

श्वेत यजुर्वेद (१८, १२) में इन अनाजों के नाम के सिवाय मुद्ग, नीवार और श्यामाक का भी नाम दिया है। अन्न पीसा जाता था और फिर इसमें दही, शहद और घी मिला कर कई तरह की रोटियां बनाई जाती थीं। दूध और उसकी बनाई हुई सामग्रियां भारतवर्ष में सदा से खाने की बड़ी प्रिय वस्तुएं होती आई हैं।

ऐतिहासिक काव्य काल में मांस खाना प्रचलित था और इसके लिये गाय और बैल की बहुधा आवश्यकता पड़ती थी। ऐतरेय ब्राह्मण (१,१५) मे लिखा है कि किसी राजा या प्रतिष्ठित मेहमान का सत्कार किया जाता था तो बैल वा गाय मारी जाती थी और बहुत हाल की संस्कृत में भी प्रतिष्ठित मेहमान को 'गाय मारनेवाला' कहते हैं।

श्याम यजुर्वेद के ब्राह्मण में यह ब्योरेवार लिखा है कि छोटे छोटे यज्ञों में विशेष देवताओं को प्रसन्न करने के लिये किस प्रकार का पशु मारना चाहिए। उसे किस प्रकार से काटना चाहिए सो भी ब्राह्मण में लिखा है और गोपथ ब्राह्मण से यह मालूम होता है कि उसका भिन्न भिन्न भाग किसको मिलता था। पुरोहित लोग जीभ, गला, कंधा, नितम्ब, टांग इत्यादि पाते थे, घर का मालिक (चतुराई से) अपने लिये पीठ का भाग लेता था और उसकी स्त्री को पेडू के भाग से सन्तोष करना पड़ता था। मांस के धोने के लिये बहुत सी सोम मदिरा की प्रसादी चढ़ाई जाती थी।

सतपथ ब्राह्मण (३,१,२,२१) में इस विषय का एक मनोहर वादानुवाद दिया है कि बैल का मांस खाना चाहिए अथवा गाय का! परन्तु अन्त में जो परिणाम निकाला है वह बहुत निश्चित रूप से नहीं निकाला- " उसे (पुरोहित को) गाय और बैल का मांस न खाना चाहिए।" फिर भी याज्ञवल्क्य कहता है कि "यदि वह मृदु हो तो हम तो उसे खाते हैं!"

कदाचित याज्ञवल्क्य ने फलाहार और मांसाहार के परिणाम का विचार न किया हो जैसा कि वृहदारण्यक उपनिषद् (६,४,१७,१८) के निम्न लिखित वाक्यों से प्रगट होता है—

"और यदि कोई मनुष्य चाहता है कि उसे विद्वान कन्या उत्पन्न हो और वह कन्या दीर्घायु हो तो तिल और मक्खन के साथ चावल को पकाकर उन दोनों (पति और स्त्री) को खाना चाहिए, जिसमें वे सन्तान उत्पन्न करने योग्य हो जांय।

"और यदि कोई मनुष्य चाहता है कि उसे विद्वान, प्रसिद्ध, उपकारी, बड़ा प्रसिद्ध वक्ता, सब वेदों का जाननेवाला, और दीर्घजीवी पुत्र हो तो उन दोनों (पति और स्त्री) को मांस और मक्खन के साथ चावल पका कर खाना चाहिए, जिसमें वे सन्तान उत्पन्न करने योग्य हो जांय। मांस किसी जवान वा वृद्ध बैल का होना चाहिए।"

हम नहीं समझ सकते कि वैदिक ब्राह्मण ग्रन्थों के पूज्य बनाने वाले कभी भी बैल के मांस खाने में और प्रसिद्ध वक्ता होने में कोई भी सम्बन्ध सोचते हों, जैसा कि पीछे के समय में सोचा गया है।

अब हमारे पाठकों को ऐतिहासिक काव्य काल के हिन्दुओं के अर्थात् हस्तिनापुर और काम्पिल्य और अयोध्या और मिथिला के निवासियों के, तीन हजार वर्ष पहिले के समाजिक जीवन का, अपनी आंखों के सामने चित्र खींचना चाहिए। उस समय नगर दीवारों से घिरे रहते थे, उनमें सुन्दर सुन्दर भवन होते थे और गलियां होती थीं। वे आज कल के मकानों और सड़कों के समान नहीं होते थे वरन् उस प्राचीन समय में सम्भवतः बहुतही अच्छे होते थे। राजा का महल सदा नगर के बीच में होता था जहां कोलाहलयुक्त सर्दार, असभ्य सिपाही, पवित्र साधु संत और विद्वान पुरोहित प्रायः आया करते थे। बड़े बड़े अवसरों पर लोग राजमहल के निकट इकट्ठे होते थे, राजा को चाहते थे, मानते थे और उसकी पूजा करते थे और राजभक्ति से बढ़कर और किसी बात को नहीं मानते थे। सोना, चांदी और जवाहिर, गाड़ी, घोड़ा खच्चर और दास लोग और नगर के आस पास के खेत ही गृहस्थों और नगरवासियों का धन और सम्पति थे। उन लोगों में सब प्रतिष्ठित घरानों में पवित्र अग्नि रहती थी। वे अतिथियों का सत्कार करते थे, देश के कानून के अनुसार रहते थे, ब्राह्मणों की सहायता से बलि इत्यादि देते थे और विद्या की कदर करते थे। प्रत्येक आर्य-बालक छोटेपन से ही पाठशाला में भेजा जाता था। ब्राह्मण, क्षत्री और वैश्य सब एक ही साथ पढ़ते थे और एक ही पाठ और एक ही धर्म की शिक्षा पाते थे और फिर घर आकर विवाह करते थे और गृहस्थों की नाईं रहने लगते थे। पुरोहित तथा योधा लोग भी जन-साधारण के एक अंग ही थे, जनसाधारण के साथ परस्पर विवाह आदि करते थे और जनसाधारण के साथ खाते पीते थे। अनेक प्रकार के कारीगर सभ्य समाज की विविध अवश्यकताओं को पूरा करते थे और अपने पुश्तैनी व्यवसाय को पीढ़ी दर पीढ़ी क-

रते थे, परन्तु वे लोग जुदे जुदे होकर भिन्न भिन्न जातियों में नहीं बँट गए थे । खेतिहर लोग अपने पशु तथा हल इत्यादि लेकर अपने अपने गांवों में रहते थे और हिन्दुस्तान की पुरानी प्रथा के अनुसार प्रत्येक गाँव का प्रवन्ध और निपटारा उस गाँव की पंचायत द्वारा होता था । इस प्राचीन जीवन का वर्णन बहुत बढ़ाया जासकता है पर सम्भवतः पाठक लोग इसकी स्वयम ही कल्पना करलेंगे । हम अव प्राचीन समाज के इस साधारण वर्णन को छोड़ कर इस बात की जांच करेंगे कि उस समाज की स्त्रियों की कैसी स्थिति थी ।

यह तो हम देखलाही चुके हैं कि प्राचीन भारतवर्ष में स्त्रियों का बिलकुल परदा नहीं था। चार हजार वर्ष हुए कि हिन्दू सभ्यता के आदि से ही हिन्दू स्त्रियों का समाज में प्रतिष्ठित स्थान था, वे पैत्रिक सम्पत्ति पाती थीं और सम्पत्ति की मालिक होतीं थीं, वे यज्ञ और धर्मों के काम में सम्मिलित होती थीं, वे बड़े बड़े अवसरों पर बड़ी बड़ी सभाओं में जाती थीं, वे खुल्लम खुल्ला आम जगहों में जाती थीं, वे बहुधा उस समय के शास्त्र और विद्या में विशेष योग्यता पाती थीं, और राजनीति तथा शासन में भी उन का उचित अधिकार था, यद्यपि वे मनुष्यों के समाज में इतनी स्वाधीनता से नहीं सम्मिलित होतीं थीं जितना कि आज कल योरप की स्त्रियां करती हैं, पर फिर भी उन्हें पूरे पूरे परदे और कैद में रखना हिन्दू लोगों की चाल नहीं थी।यह चाल भारतवर्ष में मुसलमानों के समय तक नहीं थी और अव तक भारतवर्ष के कुछ भागों में जैसे महाराष्ट्र में यह चाल नहीं है, जहां कि मुसलमानो का राज्य बहुत थोड़े दिनों तक रहा है । किसी प्राचीन जाति में हिन्दुओं से बढ़ कर स्त्रियों को प्रतिष्ठा नहीं थी, पर हिन्दुओं के साथ कुछ ऐसे ग्रन्थकारों ने चूक और अन्याय किया है जो कि उनके ग्रन्थों से अनभिज्ञ हैं और जिन्होंने यहां की स्त्रियों के विषय में अपना विचार तुर्क और अरब लोगों की रीति से पाया है ।

ब्राह्मण ग्रन्थों से बहुत से ऐसे ऐसे वाक्य उद्धृत किए जा-

सकते हैं जिनसे जान पड़ेगा कि स्त्रियों की उस समय बड़ी प्रतिष्ठा थी, पर हम यहां केवल एक वा दो ऐसे ऐसे वाक्य उद्धृत करेंगे। इनमें से पहिला वाक्य, जिस दिन याज्ञवल्क्य घर बार छोड़ कर बन में गए उस सन्ध्या को याज्ञवल्क्य और उनकी स्त्री की प्रसिद्ध बात चीत है।

" (१) जब याज्ञवल्क्य दूसरी वृत्ति धारण करनेवाला था तो उसने कहा 'मैत्रेयी, मैं अपने इस घर से सच सच जारहा हूं। इसलिये मैं तुझ में और कात्यायनी में सब बात ठीक करदूं।"

"(२) मैत्रेयी ने कहा 'मेरे स्वामी, यदि यह धन से भरी हुई सब पृथ्वी ही मेरी होती तो कहिए कि क्या मैं उससे अमर होजाती'। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया 'नहीं, तेरा जीवन धनी लोगों के जीवन की नांई होता। पर धन से अमर होजाने की कोई आशा नहीं है।'

"(३) तब मैत्रेयी ने कहा 'मैं उस वस्तु को लेकर क्या करूं कि जिससे मैं अमर ही नहीं हो सकती? मेरे स्वामी, आप अमर होने के विषय में जो कुछ जानते हों सो मुझ से कहिए।'

" (४) याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया 'तू मुझे सचमुच प्यारी है, तू प्यारे वाक्य कहती है। आ, यहां बैठ, मैं तुझे इस बात को बतऊंगा। जो कुछ मैं कहता हूं उसे सुन।'

और तब उसने उसे यह ज्ञान दिया जो कि बारम्बार उपनिषदों में बहुत जोर देकर वर्णन किया गया है, कि सर्वव्यापी ईश्वर पति में, स्त्री में, पुत्रों में, धन में, ब्राह्मणों और क्षत्रियों में, और सारे संसार में, देवों में, सब जीवों में, सारांश यह है कि सारे विश्व भर ही में है। मैत्रेयी ने, जोकि बुद्धिमान, गुणवती और विद्वान स्त्री थी, इस बड़े सिद्धान्त को स्वीकार किया और समझा और वह इसकी कदर संसार की सब सम्पत्ति से अधिक करती थी। (बृहदारण्यक उपनिषद)

हमारा दूसरा उद्धृत भाग भी उसी उपनिषद् से है और यह

विदेहों के राजा जनक के यहां पंडितों की एक बड़ी सभा से सम्बन्ध रखता है—

"जनक विदेह ने एक यज्ञ किया जिसमें (अश्वमेध के) याज्ञिकों को बहुत सी दक्षिणा दी गई। उसमें कुरुओं और पंचालों के ब्राह्मण आए थे और जनक यह जानना चाहते थे कि उनमें से कौन अधिक पढ़े हैं। अतएव उन्होंने हजार गौओं को घिरवाया और प्रत्येक की सींघों में (सोने के) दस पद बांधे।

"तब जनक ने उन सभों से कहा 'पूज्य ब्राह्मणो, आप लोगों में जो सब से बुद्धिमान हो वह इन गौओं को हांके।" इस पर उन ब्राह्मणों का साहस न हुआ, पर याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य से कहा 'मेरे प्यारे, इन्हें हांक ले जाओ।' उसने कहा 'सामन् की जय!' और वह उन्हें हांक ले गया।"

इस पर ब्राह्मणों ने बड़ा क्रोध किया और वे घमंडी याज्ञवल्क्य से प्रश्न पर प्रश्न पूछने लगे। पर याज्ञवल्क्य अकेले उन सब का मुकाबला करने योग्य थे। होत्री अस्वल, जारत्करव आरतभाग, भुज्यु लाह्यायनि, उषस्त चाक्रायन, केहाल कौशीनतकय उद्दालक आरुनि, तथा अन्य लोग याज्ञवल्क्य से प्रश्न पर प्रश्न करने लगे, पर याज्ञवल्क्य किसी बात में कम नहीं निकला और सब पंडित एक एक करके शान्त हो गए।

इस बड़ी सभा में एक व्यक्ति ऐसा था जो उस समय की विद्या और पांडित्य में कम नहीं था, क्योंकि वह व्यक्ति एक स्त्री थी (यह एक ऐसी अपूर्व बात है जिससे उस समय की रहन सहन का पता लगता है)। वह इस सभा में खड़ी हुई और बोली कि "हे याज्ञवल्क्य, जिस प्रकार से काशी अथवा विदेहों के किसी योधा का पुत्र अपनी ढीली धनुष में डोरी लगा कर और अपने हाथ में दो नोकीली शत्रु को बेधनेवाली तीर ले कर युद्ध करने खड़ा होता था, उसी प्रकार से मैं भी दो प्रश्नों को लेकर तुम से लड़ने के लिये

खड़ी हुई हूं। मेरे इन प्रश्नों का उत्तर दो।" ये प्रश्न किए गये और इनका उत्तर भी दिया गया और गार्गी वाचक्नवी चुप हो गई।

क्या इन वाक्यों तथा ऐसे ही अन्य वाक्यों से यह प्रगट नहीं होता कि प्राचीन भारतवर्ष में स्त्रियों की इतनी प्रतिष्ठा थी कि जितनी कदाचित दुनियां के किसी भाग में भी किसी प्राचीन जाति में नहीं थी ?

हिन्दू स्त्रियां अपने पति की बुद्धि विषयक साथिनी, इस जीवन में उनकी प्यारी सहायक, और उनके धर्म विषयक कामों की अभिन्न भागिनी समझी जाती थीं और इसीके अनुसार उनकी प्रतिष्ठा और सम्मान भी था। वे सम्पत्ति और बपौती की भी मालिक होती थीं, जिससे प्रगट होता है कि उनका कैसा आदर था। इन प्राचीन रीति व्यवहारों की तुलना, आज कल की सभ्यता के रीति व्यवहारों से करना कदाचित न्याय्य नहीं होगा। पर भारतवर्ष के इतिहास जाननेवाले को, जिसने कि प्राचीन हिन्दुओं के ग्रन्थ पढ़े हों यह कहने में कुछ भी सोच विचार न होगा कि तीन हजार वर्ष पहिले भारतवर्ष में स्त्रियों का जितना अधिक मान्य था उतना ग्रीस वा रोम में सबसे सभ्य समय मे भी कभी नहीं था।

हम ऊपर कह चुके हैं कि ऐतिहासिक काव्य काल तक भी बाल विवाह नहीं होता था, और महाकाव्यों में तथा अन्य पुस्तकों में लड़कियों का विवाह उचित वय में होने के अनेक उल्लेख मिलते हैं। विधवा विवाह केवल अवर्जित ही नहीं था वरन् उसके करने की स्पष्ट आज्ञा है और विधवाओं को दूसरा विवाह करने के पहिले जो विधान इत्यादि करने पड़ते थे वे भी साफ़ साफ़ दिए हैं। चूंकि जाति भेद अब तक पूरा पूरा नहीं माना जाता था इसलिये एक जाति के लोग बहुधा दूसरी जाति की विधवाओं से विवाह कर लेते थे और ब्राह्मण लोग बिना किसी सोच विचार के दूसरी जाति की विधवाओं को ब्याह लेते थे। "और यदि किसी स्त्री के दस पति, जो ब्राह्मण न हों, हो चुके हों, और यदि इसके उपरान्त

कोई ब्राह्मण उससे विवाह करे तो केवल वही उसका पति है।" (अथर्व वेद ५, १७, ८)

बहुत सी दूसरी प्राचीन जातियों की नाईं हिन्दुओं में भी बहु-भार्यता प्रचलित थी, परन्तु यह बात केवल राजाओं और बड़े बड़े धनाढ्य लोगों ही में थी। आज कल के पाठकगण को जो कि इस रीति के प्रचलित होने के कारण प्राचीन हिन्दू सभ्यता के विरुद्ध विचार करेंगे यह याद रखना चाहिए कि प्राचीन समय में प्रायः सब जातियों के धनाढ्य लोगों में यह रीति प्रचलित थी। उदाहरण के लिये, सिकन्दर आज़म और उसके उत्तराधिकारी लिसिमकस, सिल्यूकस, टालेमी, डेमिट्रियस, पिर्हस तथा अन्य लोग सब अनेक पत्नी रखनेवाले थे। यहां यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि आर्यावर्त में अनेक पति रखने की रीति नहीं थी—"क्योंकि एक मनुष्य के कई स्त्रियां होती हैं, पर एक स्त्री के एक साथ ही कई पति नहीं होते।" (ऐतरेय ब्राह्मण ३, २३)

ऐतरय ब्राह्मण (१, ८, ३, ६) में एक अद्भुत वाक्य है जिसमें तीन वा चार पीढ़ी तक आत्मीय सम्बन्धियों में विवाह करने की मनाही है, "इसीलिये भोगनेवाले (पति) और भोगनेवाली (स्त्री) दोनों एक ही मनुष्य से उत्पन्न होते हैं।" "क्योंकि सम्बन्धी यह कहते हुए हंसी खुशी से इकट्ठे रहते हैं कि तीसरी वा चौथी पीढ़ी में हम लोग फिर सम्मिलित होंगे।" यह मनाही का नियम पीछे के समयों में अधिक कड़ा होता गया।

भारतवर्ष की स्त्रियां अपने पति से स्नेह और भक्ति के लिये सदा से प्रसिद्ध हैं। उनके विश्वासघात करने के ऐसे कोई बिरले ही उदाहरण मिलते हैं। यह जान पड़ेगा कि रोमन कैथोलिक पाद-रियों की नाईं हिन्दू ब्राह्मणों ने भी दुर्बल स्त्रियों के गुप्त से गुप्त रहस्यों को जानने के लिये एक उपाय निकाला था। निम्न लिखित वाक्य कैथोलिक लोगों के नियम की नाईं है—

"इस पर प्रतिप्रस्थातृ वहां जाता है जहां यज्ञ करनेवाले की

स्त्री बैठी रहती है। जब वह स्त्री को ले जाया चाहता है तब उससे पूछता है 'तू किससे संसर्ग रखती है?' अब, यदि किसी की स्त्री किसी दूसरे मनुष्य से संसर्ग रखती है तो वह निस्सन्देह वरुण की अपराधिनी होती है। इसलिये वह उससे पूछता है कि जिसमें वह मन ही मन में वेधना के साथ यज्ञ न करे; क्योंकि पाप कह देने से कम हो जाता है क्योंकि तब वह सत्य हो जाता है; इसी लिये वह उससे इस प्रकार पूछता है। और जो वह संसर्ग नहीं कबूलती तो वह उसके सम्बन्धियों के लिये हानिकारक होगा।" (सतपथ ब्राह्मण १, ५, २, २०)

अध्याय ७

स्मृति, ज्योतिष और विद्या।

अपराधियों को दण्ड देना और कानून का उचित बर्ताव करना ये ही दोनों नीव हैं जिस पर कि सब सभ्य समाज बनाए जाते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों के कुछ वाक्यों में कानून की सच्ची गुणग्राहकता पाई जाती है—"कानून क्षत्र का क्षत्र (बल) है, इसलिये कानून से बढ़ कर कोई चीज नहीं है। तदुपरान्त, राजा की सहायता की नांई कानून की सहायता से दुर्बल मनुष्य भी प्रबल मनुष्य पर शासन कर सकता है। इस प्रकार से कानून वही बात है जिसे कि सत्य कहते हैं। जब कोई मनुष्य सत्य बात को कहता है तो लोग कहते हैं कि वह कानून कहता है; और यदि वह कानून कहता है तो लोग कहते हैं कि वह वही कहता है जो कि सत्य है। इस प्रकार से दोनों एक ही हैं।" (वृहदारण्यक १, ४. १४)। संसार भर के कानून जाननेवाले कानून की इससे बढ़ कर व्याख्या नहीं कर सके हैं।

परन्तु न्याय करने की रीति उस समय भी अपक्व थी और दूसरी प्राचीन जातियों की नांई बहुधा अपराधी लोगों की परीक्षा अग्नि द्वारा ली जाती थी।

"लोग एक मनुष्य को पकड़ कर यहां ले आते हैं और कहते है कि उसने कोई वस्तु ले ली है, उसने चोरी की है।" (जब वह मनुष्य इसे स्वीकार नहीं करता तो वे लोग कहते है) 'इसके लिये कुल्हाड़ी तपाओ।' यदि उसने चोरी की हो तो वह .....कुल्हाड़ी को पकड़ने से जल जाता है और मारा जाता है। परन्तु यदि उसने चोरी न की हो तो वह......जलती हुई कुल्हाड़ी को पकड़ लेता है, जलता नहीं, और छोड़ दिया जाता है (छान्दोग्य ६, १६)।

हत्या, चोरी, सुरापान और व्यभिचार, ये बड़े भारी दोष समझे जाते हैं।

अब हम ज्योतिष की ओर मुंह मोड़ेंगे। ज्योतिष शास्त्र का साधारण ज्ञान पहिले पहिल स्वयम् ऋग्वेद में मिलता है। वर्ष १२ चान्द्र मासों में बँटा था और चन्द्र वर्ष को सूर्य वर्ष से मिलाने के लिये एक तेरहवां अर्थात् अधिक मास जोड़ दिया जाता था (१, २५, ८)। वर्ष की छ ऋतुओं के नाम मधु, माधव, शुक्र, शुचि, नभ और नभस्य थे, और उनका सम्बन्ध भिन्न भिन्न देवताओं से कर दिया गया था (२, ३६)। चन्द्रमा के भिन्न भिन्न रुप उन लोगों को मालूम थे और ये देवताओं के अवतार माने जाते थे। पूर्ण चन्द्रमा राका है, नवचन्द्र का पहिला दिन सिनीवालि है, और नव चन्द्र गुङ्गु है (२, ३२)। नक्षत्रों के हिसाब से चन्द्रमा की स्थिति का भी उल्लेख (८, ३, २० में) आया है और (१०, ८५, १३ में) नक्षत्रों की कुछ राशियों के नाम भी दिए हैं इससे यह जान पड़ेगा कि वैदिक काल में नक्षत्र देखे गए थे और उनका नाम भी पड़ गया था और ऐतिहासिक काव्य काल में राशिचक्र अन्तिम रुप से निश्चित हो गया था।

जैसा कि आशा की जा सकती है ऐतिहासिक काव्य काल में बहुत ही उन्नति हुई। उस काल में ज्योतिष एक जुदा शास्त्र समझा जाने लगा और जो लोग ज्योतिषी का काम करते थे वे नक्षत्रदर्श और गणक कहलाते थे (तैत्तिरीय ब्राह्मण ४, ५ और शुक्ल यजुर्वेद ३०, १०, २०)। श्याम यजुर्वेद में २८ नक्षत्रों के नाम दिए हैं और दूसरे तथा इसके पीछे के समय के नाम अथर्व संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण में दिए हैं। सतपथ ब्राह्मण (२, १, २) में एक मनोहर वृत्तान्त है जिससे यह जान पड़ता है कि इन नक्षत्रों के सम्बन्ध से जो चन्द्रमा की स्थिति होती थी उससे यज्ञ के विधान किस प्रकार किए जाते थे। परन्तु वह पूरा वृत्तान्त बहुत ही बड़ा है इसलिये हम यहां पर केवल उसका कुछ भाग उद्धृत करेंगे।

"(१) वह कृत्तिका नक्षत्र में दो अग्नि जला सकता है, क्योंकि ये कृत्तिका निस्सन्देह अग्नि के नक्षत्र हैं... .....

"(६) वह रोहिणी में भी आग जला सकता है, क्योंकि प्रजापति को जिस समय संतति की इच्छा हुई उस समय उन्होंने रोहिणी ही में अग्नि जलाई थी......

"(८) वह मृगसीर्ष नक्षत्र में भी अग्नि जला सकता है क्योंकि मृगसीर्ष निस्सन्देह प्रजापति का सिर है..... वह फाल्गुणी में भी अग्नि जला सकता है। ये फाल्गुणी इन्द्र के नक्षत्र हैं और इनका नाम भी उसी के अनुसार है। क्योंकि यथार्थ में इन्द्र का गुप्त नाम अर्जुन भी है, और ये (फाल्गुणी) भी अर्जुनी कहलाते हैं......

"(१२) जो कोई यह चाहता है कि उसे दान मिले उसको हस्ता नक्षत्र में अग्नि जलानी चाहिए। तब निस्सन्देह उसकी सिद्धि तुरन्त होगी। क्योंकि जो कुछ हाथ (हस्त) से दिया जाता है वह यथार्थ में उसे ही दिया जाता है।

"(१३) वह चित्रा में भी अग्नि जला सकता है।" इत्यादि

इससे ज्ञात पड़ेगा कि होमाग्नि नक्षत्रों के अनुसार जलाई जाती थी। इसी प्रकार से जो यज्ञ एक वर्ष तक होते थे वे सूर्य की वार्षिक चाल से स्थिर किए जाते थे। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुवादक और प्रकाशक, डाक्टर हाग ने इस विषय में अपनी बहुत अच्छी सम्मति लिखी है जो यहां उद्धृत करने योग्य है।

"बड़े बड़े यज्ञ प्रायः बसन्त ऋतु में चैत्र बैसाख के महीनों में होते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण के चौथे भाग को ध्यान पूर्वक अध्ययन करने वालों को विदित होगा कि सत्र, जोकि एक वर्ष तक होता था, केवल सूर्य के वार्षिक मार्ग का अनुकरण है। उसके दो स्पष्ट भाग होते थे, प्रत्येक भाग में तीस तीस दिन के छ महीने होते थे। इन दोनों के बीच में विषुवत् अर्थात् समदिन होता था जोकि सत्र को दो भागों में बांटता था। इन दोनों अर्द्ध भागों के विधान बिलकुल एकही थे, परन्तु दूसरे अर्द्ध भाग में वे उलटे क्रम से किए जाते थे। इसके उत्तरायन होने से दिनों का बड़ा होना और

दक्षिणायन होने से उनका छोटा होना प्रगट किया जाता है, क्योंकि बढ़ना और घटना दोनों ठीक एकही हिसाब से होता है।

हम कह चुके हैं कि भारतवर्ष में राशिचक्र अन्तिम बार ऐतिहासिक काव्य काल के प्रारम्भ में अर्थात् ईसा के लगभग १४०० वर्ष पहिले ठीक किया गया था। प्रसिद्ध कोल्ब्रूक साहब (Colebrooke) का पहिले पहिल यह मत था कि हिन्दुओं ने नक्षत्रों को अपने ही विचार से ठीक किया था और इसके पीछे वैदिक विधानों में और नक्षत्रों के हिसाब से चन्द्रमा की स्थिति में जो घना सम्बन्ध है उस पर ध्यान पूर्वक विचार करने से इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि हिन्दू ज्योतिष की उत्पत्ति हिन्दुस्तानही से हुई थी। परन्तु फिर भी योरप के कुछ विद्वान लोग यह मिथ्या अनुमान करते हैं कि हिन्दू ज्योतिष की उत्पत्ति दूसरे देश से हुई है और इस विषय में यूरप और अमेरिका में बड़ा विवाद हुआ है, जिसे पुस्तकों का युद्ध कह सकते हैं।

प्रसिद्ध फरासीसी विद्वान बायोट (Biot) ने सन् १८६० में चीन की सिउ प्रणाली की उत्पत्ति चीन देश में ही होनी लिखी है और उससे परिमाण यह निकाला है कि हिन्दू-नक्षत्र और अरब मनज़िल चीनही से लिए गए थे। जर्मनी के विद्वान लसन (Lassen) ने भी यह राय मान ली थी। परन्तु प्रोफ़ेसर वेबर (Weber) ने इस विषय पर विचार किया और सन् १८६० और १८६१ में दो बड़े ही अच्छे लेख प्रकाशित किए जिनमें उन्होंने यह सिद्ध किया कि चीनी सिउ और अरबों की मनज़िल, नक्षत्रों के विषय में हिन्दुओं के आधुनिक सिद्धान्तों से क्रम, संख्या, सीमाबद्ध तारों, और दूरी की समानता, में मिलती है। प्रोफ़ेसर वेबर ने नक्षत्रों की उत्पत्ति चीन देश से होने का इस प्रकार खंडन किया है और यह भी सिद्ध किया है कि अरब मनज़िल भी अरब लोगों ने भारतवर्ष ही से ली थी। ठीक यही राय कोलब्रूक साहब ने भी सन् १८०७ में स्थिर की थी, जब कि उन्होंने लिखा था कि हिन्दुओं का क्रान्ति मंडल "जान पड़ता है कि उन्हीं का है। उसे अरब वालों ने निस्सन्देह लिया था।"

इस प्रकार से चीनी और अरबी सिद्धान्तों का खण्डन करके प्रोफ़ेसर वेबर को एक अपना ही सिद्धान्त अवश्य ही स्थापित करना पड़ा, जिसे कि हम लोग चालडियन सिद्धान्त कह सकते हैं! उनका अनुमान है कि कदाचित् हिन्दू प्रथा किसी दूसरे देश से, सम्भवतः बेबिलन से, उद्धृत की गई थी। परन्तु यह केवल अनुमान और सन्देह ही है, क्योंकि असीरियन विद्वानों ने बेबिलन की प्राचीन विद्या की पुस्तकों में अभी तक राशिचक्र का कहीं भी चिन्ह नहीं पाया। परन्तु अमेरिका के प्रोफ़ेसर व्हिटने (Whitney) इस 'सन्देह' का समर्थन करते हैं क्योंकि वे विचारते हैं कि हिन्दू लोग "ऐसी प्रकृति के लोग नहीं थे" कि आकाश की ये सब बातें देखते और राशिचक्र स्थिर करते। यह तर्क वितर्क इतना मनोहर है कि उसे हमारे विद्वान प्रोफ़ेसर स्वयम् यह कह कर लगभग फेर ही लेते हैं कि यह युक्ति "ऐसी नहीं है कि उस पर अवश्य विश्वास हो ही हो।"

जब विद्वान लोग ऐसे ऐसे बे सिर पैर के तर्कों पर उतारु हो जाते हैं तो उन पर वाद्विवाद करना केवल समय का नष्ट करना होगा। इसलिये हम इस विषय को प्रोफ़ेसर मेक्समूलर के कुछ वाक्यों को उद्धृत करके समाप्त करेंगे कि जिसमें उन्होंने इस विषय को साधारण रीति से वर्णन किया है। "२७ नक्षत्र जो कि भारतवर्ष में एक प्रकार के चान्द्र राशिचक्र की भांति चुने गए थे वे बेबिलन से आए हुए विचार किए जाते थे। परन्तु बेबिलन का राशिचक्र सौर्य है और वहां के शिलालेखों में जिनसे कि बहुत सी बातें प्रगट हुई हैं, बार बार खोज करने पर भी चान्द्र राशिचक्र का कोई चिन्ह तक नहीं मिला। इस पर भी यदि यही कल्पना की जाय कि बेबिलन में चान्द्र राशिचक्र पाया गया है तौ भी जिस मनुष्य ने वैदिक ग्रन्थों और प्राचीन वैदिक संस्कारों को पढ़ा है वह कदापि इस बात को सहज में न मान लेगा कि आकाश का यह सरल विभाग हिन्दुओं ने बेबिलन देश निवासियों से लिया था।"*

---

* Indian: What can it teach us (1883) p. 126.

चान्द्र राशिचक्र को स्थिर करने के सिवाय इस काल में हिन्दुओं ने बड़ी बड़ी घटनाओं की तिथि नियत करने के लिये अयनान्तों को जाना और वर्ष को महीनों में बाँटा। प्रत्येक महीने का नाम उस नक्षत्र के हिसाब से रक्खा जिस नक्षत्र में कि उस महीने का पूर्णचन्द्र होता था। बेंटले साहब (Bentley) के अनुसार चान्द्र राशिचक्र ईसा के १४२६ वर्ष पहिले स्थिर किया गया था और महीनों का नाम ईसा के ११८१ वर्ष पहिले रक्खा गया था। * ईस्वी सन् के उपरान्त सौर राशिचक्र का ज्ञान ग्रीस देशवासियों से उद्धृत किया गया, जैसा कि हम आगे चलकर दिखलावेंगे।

ऐतिहासिक काव्य काल में ज्योतिष के सिवाय दूसरी विद्याओं की भी उन्नति हुई। छान्दोग्य उपनिषद (७, १, २) में नारद सनत-कुमार से कहते हैं "महाशय, मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, चौथे अथर्वन वेद, पांचवें इतिहास पुराण, वेदों का वेद (व्याकरण) जानता हूं। पित्र्य (पितरों के श्राद्धादि के नियम), राशि (गणित शास्त्र), दैव (अशुभ लक्षणों का शास्त्र), निधि (समय का शास्त्र), वाकोवाक्य (तर्क शास्त्र) एकायन (नीति विद्या), देव विद्या (शब्दों के उत्पत्ति की विद्या), ब्रह्मविद्या (उच्चारण तथा छन्द निर्माण आदि का शास्त्र), भूत विद्या, क्षत्र विद्या (शस्त्र चलाने की विद्या), नक्षत्र विद्या (ज्योतिष शास्त्र), सर्प देवजन विद्या, यह सब मैं जानता हूं।"

बृहदारण्यक (२, ४, १०) में लिखा है कि "ऋग्वेद, युजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरा, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान (टीका), व्याख्यान, ये सब परमेश्वर के मुख से निकले हैं। "

फिर सतपथ ब्राह्मण के ग्यारहवें कांड में तीनों वेदों, अथर्वाङ्गिरों, अनुशासनों, विद्याओं, वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण नरसंसियों और गाथाओं का उल्लेख आया है।

* Hindu Astronomy (London, 1825) pp 3 & 10.

प्रोफ़ेसर वेबर कहते हैं कि यह कोई आवश्यक बात नहीं है कि ऐतिहासिक काव्य काल में इन नामों के जुदे जुदे ही ग्रन्थ हों जो कि अब हम लोगों को प्राप्त नहीं हैं। वे कहते हैं कि इनमें से बहुत से शास्त्रों से केवल उन्हीं भिन्न भिन्न विषयों से तात्पर्य होगा जिन्हें कि हम लोग अब तक ब्राह्मण ग्रन्थों में पाते हैं। ये भिन्न भिन्न विषय जो ब्राह्मणों और उपनिषदों में मिलते हैं, इसके पीछे अर्थात् दर्शन काल में अध्ययन के जुदे जुदे विषय हुए और वे भिन्न भिन्न सूत्र के ग्रन्थों मे पढ़ाए जाते थे, जो कि अब तक हमें प्राप्त हैं।

ऊपर के विचार में कुछ युक्ति है। परन्तु साथ ही इसके, ऊपर लिखे हुए शास्त्रों में से बहुत से ऐसे है कि जो उन शास्त्रों की विशेष पुस्तकों की सहायता बिना, केवल गुरु के मुख ही से शिष्यों को नहीं पढ़ाए जा सकते। इसलिये हमारा यह विश्वास है कि ऐतिहासिक काव्य काल में ऐसे ग्रन्थ थे। ये अब हम लोगों को प्राप्त नहीं हैं क्योंकि इसके पीछे के समय में उनके स्थान पर अधिक उत्तम और उच्च ग्रन्थ बन गए थे।

अध्याय ८

——*——

ब्राह्मणों के यज्ञ।

ऐतिहासिक काव्य काल के समय के धर्म में तथा उसके पहिले के समय के धर्म में मुख्य भेद यह था कि इस काल में यज्ञादि आवश्यक समझे जाने लगे। वैदिक काल के आरम्भ में लोग सृष्टि के सब से अद्भुत आविष्कारों की स्तुति में सूक्त बनाते थे। वे सृष्टि के इन भिन्न भिन्न आविष्कारों को न मान कर इन आविष्कारों के देवताओं को इन्द्र वा वरुण और अग्नि वा मरुत्स के नाम से पूजने लगे। इस पूजा ने धीरे धीरे यज्ञ (अर्थात् देवतओं को दूध, अन्न, जीव वा सोमरस चढ़ाने) का रूप धारण किया।

वैदिक काल के अन्त से इसमें धीरे धीरे परिवर्तन होने का पता लगता है। और ऐतिहासिक काव्य काल में तो यज्ञ के विधान इत्यादि इतने प्रधान हो गए कि उसकी और सब बातें भूल गईं। ब्राह्मण लोगों की एक जुदी जाति हो जाने के कारण यह परिणाम आवश्यक ही था। वे लोग विधानों को बढ़ाए जाते थे और प्रत्येक छोटी छोटी बातों पर भी बहुत ही जोर देते थे, यहां तक कि ऐसा करते करते स्वयम् वे तथा पूजा करने वाले दोनों ही इन भारी विधानों में उन देवताओं को लगभग भूल ही गए जिनकी पूजा की जाती थी।

यज्ञों में बहुधा पशुओं, सोने, गहिने और अन्न के दान दिए जाते थे और पशु का बलिदान भी किया जाता था। सतपथ ब्राह्मण (१, २, ३, ७ और ८) में पशुओं के बलिदान के विषय में एक अद्भुत वाक्य है जो यहां उद्धृत करने योग्य है—

"पहिले पहिल देवताओं ने मनुष्य को बलि दिया। जब वह

बलि दिया गया तो यज्ञ का तत्व उसमें से निकल गया और उस-ने घोड़े में प्रवेश किया। तब उन्होंने घोड़े को बलि दिया। जब घोड़ा बलि दिया गया तो यज्ञ का तत्व उसमें से निकल गया और उसने बैल में प्रवेश किया। तब उन्होंने बैल को बलि दिया। जब बैल बलि दिया गया तो यज्ञ का तत्व उसमें से निकल गया और उसने भेड़ी में प्रवेश किया। जब भेड़ी बलि दी गई तो यज्ञ का तत्व उसमें से भी निकल गया और उसने बकरे में प्रवेश किया। तब उन्होंने बकरे को बलि दिया। जब बकरा बलि दिया गया तो यज्ञ का तत्व उसमें से भी निकल गया और तब उसने पृथ्वी में प्रवेश किया। तब उन्होंने उसे खोजने के लिये पृथ्वी को खोदा और उसे चावल और जव के रूपों मे पाया। इसी लिये अब भी लोग इन दोनों को खोद कर तब पाते हैं। जो मनुष्य इस कथा को जानता है उसको (चावल आदि) का हव्य देने से उतना ही फल होता है जितना कि इन सब पशुओं के बलि करने से।"

प्रोफेसर मेक्समूलर ऊपर के उद्धृत भाग से यह सिद्धान्त निकालते हैं कि प्राचीन हिन्दुओं में मनुष्यवध प्रचलित था, परन्तु यह ऐतिहासिक काव्य काल अथवा वैदिक काल में नहीं, वरन् उससे भी बहुत पहिले था। हमें खेद है कि डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र ने भी प्रोफेसर मेक्समूलर का अनुकरण करके इसी काल के ग्रन्थों में से कुछ और वाक्य भी उद्धृत किए हैं और उनसे स्थिर किया है कि बहुत प्राचीन समय में यह अमानुषी प्रथा प्रचलित थी। हम इन दोनों विद्वानों के सिद्धान्तों में शंका करते हैं।

यदि भारतवर्ष में यह प्रथा ऋग्वेद के सूक्तों के बनने के पहिले प्रचलित होती तो उसका उल्लेख उत्तर काल के ब्राह्मण ग्रन्थों से कहीं अधिक मिलता। परन्तु उनमें इसका उल्लेख ही नहीं है। ऋग्वेद में जो सुनहसेफ की कथा है वह मनुष्य बध का कोई प्रमाण नहीं हो सकती। और ऋग्वेद में और कहीं भी कोई ऐसी बात नहीं मिलती जिससे कि इस कथा के प्रचलित रहने का अनुमान किया जाय। यह विचार करना असम्भव है कि ऐसी भयानक कथा प्रचलित रह

कर धीरे धीरे उठ गई हो और उसका कुछ भी चिन्ह उन वैदिक सूक्तों में न पाया जाय जिनमें कुछ तो बहुत ही प्राचीन समय के हैं।

फिर ऐतिहासिक काव्य काल ही के किस ग्रन्थ में इस प्रथा का उल्लेख पाया जाता है? सामवेद का संग्रह वैदिक सूक्तों ही से किया गया है और इस वेद में भी मनुष्यों के बलिदान किए जाने का कहीं वर्णन नहीं है। सिवाय इसके श्यामयजुर्वेद और मूल शुक्ल यजुर्वेद में भी इसका कहीं उल्लेख नहीं है। ऐतिहासिक काव्य काल के केवल सब से अन्तिम ग्रन्थों में अर्थात् शुक्ल यजुर्वेद के खिल वा उपोद्घात में, श्याम यजुर्वेद ब्राह्मण में, ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण में और सतपथ ब्राह्मण के अन्तिम भाग के पहिले वाले भाग में, मनुष्य बलिदान किए जाने का हाल मिलता है। तो क्या यह सम्भव है कि यह प्रथा भारतवर्ष में बहुत प्राचीन समय में रही हो और उसका उल्लेख ऋग्वेद, सामवेद, श्याम या शुक्ल यजुर्वेद में कहीं न आवे और फिर एक हजार वर्ष पीछे वेदों के ब्राह्मणों और खिलों में एकाएक उसका स्मरण हो आवे? इसके विपरीत, क्या यह अधिक सम्भव नहीं है कि ऐतिहासिक काव्य काल के अन्तिम ग्रन्थों में मनुष्य बलि दिए जाने के जो उल्लेख मिलते हैं वे उसी प्रकार की ब्राह्मणों की कल्पनाएं हैं जैसी कि स्वयम् ईश्वर के बलि दिए जाने की कल्पनाएं मिलती हैं? और यदि ब्राह्मणों को इस कल्पना में किसी सहारे की आवश्यकता हो तो वह सहारा उन्होंने उन अनार्य जातियों की रीति व्यवहार से पाया होगा, जिससे कि वे ऐतिहासिक काव्य काल में परिचित हुए थे।

अब, इस समय जो मुख्य मुख्य यज्ञादि होते थे उनको हम संक्षेप में वर्णन करेंगे। इन यज्ञादि का पता यजुर्वेद से लगता है।

जिस दिन नवचन्द्र अथवा पूर्णचन्द्र होता था उसके दूसरे दिन दर्श पूर्णमास किया जाता था और इन दोनों दिनों को हिन्दू लोग आज तक पवित्र मानते हैं। पिण्डपितृयज्ञ मृत पूर्वजों के लिये किया जाता था और यह आज तक भी किया जाता है।

अग्निहोत्र नित्य सन्ध्या और सबेरे किया जाता था जिसमें अग्नि को दूध चढ़ाया जाता था। चातुर्मास्य यज्ञ हर चौथे महीने किया जाता था।

अग्निष्टोम, सोम का यज्ञ होता था और अधिक सोमपान करने के प्रायश्चित्त में सौत्रामणि किया जाता था। बड़े बड़े राजा लोग जब बिजय करके प्रताप और कीर्ति प्राप्त कर लेते थे तो वे राजसूय यज्ञ करते थे, और अश्वमेध भी बड़े बड़े युद्धों और विजयों के पीछे किया जाता था। इन सब से अधिक नम्र, परन्तु हमारे काम के लिये बहुत ही मुख्य, अग्न्याधान अर्थात् होमाग्नि का जालना होता था, जिसका कि प्रत्येक हिन्दू के जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा और इस लिये इसका थोड़ा सा वर्णन यहां कर देना उचित है।

यह पहिले कहा जा चुका है कि अश्वपति इस बात की शेखी करता था कि उसके राज्य में कोई चोर, कृपण, शराबी, मूर्ख, व्यभिचारी वा व्यभिचारिन अथवा कोई "ऐसा मनुष्य जिसके घर में वेदी न हो" नहीं था। उन दिनों, वेदी में पवित्र होमाग्नि रखना प्रत्येक गृहस्थ का आवश्यक धर्म समझा जाता था और उसको न करना पाप और अधर्म समझा जाता था। जो विद्यार्थी अपने शिक्षक वा परिषद् में शिक्षा समाप्त करके घर लौट जाता था तो वह यथा समय विवाह करता था और तब होमाग्नि प्रज्वलित करता था। यह प्रायः शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को किया जाता था परन्तु कभी कभी, कदाचित नवदम्पति को धर्म कार्यों में शीघ्र सम्मिलित करने के लिये, पूर्णिमा को भी किया जाता था। अग्न्याधान को करने में प्रायः दो दिन लगते थे। होम करनेवाला अपने चारों विप्रों अर्थात् ब्राह्मण, होतृ, अध्वर्यु, और अग्नीध्र को चुनता था और गार्हपत्य और आहवनीय अग्नियों के लिये दो अग्नि कुण्ड बनाता था। गार्हपत्य अग्नि के लिये एक वृत्त बनाया जाता था और आहवनीय अग्नि के लिये समचतुर्भुज, और यदि दक्षिणाग्नि की आवश्यकता होती थी तो उसके लिये इन दोनों के बीच की जगह के दक्षिण में एक अर्धवृत्त बनाया जाता था।

तब अध्वर्यु गाँव में से कुछ विशेष रीति से अथवा रगड़ कर आग उत्पन्न करता था और गार्हपत्य के अग्नि कुण्ड को पांच प्रकार से शुद्ध करके उस पर अग्नि रखता था। सन्ध्या होने के समय होम करनेवाला देवताओं और पितरों का आवाहन करता था। तब वह और उसकी पत्नी गार्हपत्य गृह में प्रवेश करते थे और अध्वर्यु उसे दो काठ की अरणी दूसरे दिन प्रातःकाल आहवनीय अग्नि उत्पन्न करने के लिये देता था। होम करनेवाला और उसकी पत्नी इनको अपनी गोद में रख कर शान्ति की क्रियाओं को करते थे और रात भर जाग कर अग्नि को जलती रखते थे। सवेरे अध्वर्यु अग्नि को बुझा देता था वा यदि दक्षिणाग्नि होने को होती थी तो उसके लिये अग्नि जलाने तक इसको रहने देता था। यह अग्न्याधान की रीति का संक्षेप में वर्णन हुआ। इस प्राचीन समय में जब कि सब लोग अपने अपने अग्निकुंड में देवताओं की पूजा करते थे और जब मन्दिर वा मूर्तियां नहीं थीं तो अग्न्याधान प्रत्येक हिन्दू गृहस्थ का बड़ा आवश्यक धर्म समझा जाता था।

प्रसिद्ध विद्वान डाक्टर राथ ने ऋग्वेद के एक वाक्य (१०,१८, ११) से सन् १८५४ ईस्वी में पहिले पहिल यह बात दिखलाई है कि प्राचीन समय में हिन्दू लोग मुर्दों को गाड़ते थे। इसके पीछे मृतक लोग जलाए जाने लगे और उनकी राख गाड़ी जाने लगी। यह दूसरी प्रथा ऋग्वेद के समय में प्रचलित थी जिसका पता ऋग्वेद के अन्य वाक्यों (यथा १०, १५, १४ और १०, १६ १) से मिलता है। ऐतिहासिक काव्य काल में, जिसका कि हम अब वर्णन कर रहे हैं, मृतक को गाड़ने की चाल बिलकुल उठ गई थी और मृतक जलाए जाते थे और उनकी राख गाड़ी जाती थी। इसका वर्णन शुक्ल यजुर्वेद के ३५वें अध्याय में मिलता है। मृतक की हड्डियां एक बर्तन में इकट्ठी करके किसी नदी के निकट की भूमि में गाड़ी जाती थीं और उस पर घुटने तक ऊंचा एक चबूतरा उठा कर घास से ढांक दिया जाता था। तब मृतक के सम्बन्धी स्नान करके कपड़े बदलते थे और उस स्थान से चले आते थे।

इसी रीति का वर्णन अधिक विस्तार पूर्वक श्याम यजुर्वेद के आरण्यक में भी दिया है। यहां पर यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि हिन्दुओं में आज कल केवल जलाने की रीति प्रचलित है, राख और हड्डियां गाड़ी नहीं जातीं। डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र के अनुसार यह आधुनिक प्रथा ईस्वी सन् के प्रारम्भ के होने से कुछ ही पीछे से चली है।

दूसरा यज्ञ जो वर्णन करने योग्य है पिण्डपितृ यज्ञ है जिसमें मृत पितरों को पिण्ड दिया जाता था। ये पिण्ड अग्नि और सोम को दिए जाते थे और पितर लोगों का, उनका भाग देने के लिये आवाहन किया जाता था। तब पितरों को वर्ष की छ ऋतुओं के अनुसार सम्बोधन किया जाता था। तब पूजा करनेवाला अपनी पत्नी की ओर देखकर कहता था "हे पितृगण! आपने हम लोगों को गृहस्थ बनाया है। हम लोग अपनी शक्ति के अनुसार आपके लिये ये वस्तुएं ले आए हैं।" तब वह कुछ डोरा वा ऊन वा बाल रख कर कहता था "हे पितृगण! यह आपका वस्त्र है, इसे पहिनो।" तब स्त्री पुत्र होने की इच्छा से एक पिण्ड खाती थी और कहती थी—"हे पितर! मुझे इस ऋतु में एक पुत्र दो। तुम इस गर्भ में उस पुत्र की सब रोगों से रक्षा करो।" हिन्दूधर्म के अनुसार मृत पितर लोग अपनी जीवित सन्तति से पिण्ड आदि पाते हैं और उनका वंश लुप्त होजाने पर यह उन्हें नहीं मिलता। इसी लिये हिन्दू लोग बिना पुत्र के निस्सन्तान मरने में इतना अधिक भय करते हैं और पुत्र का जन्माना अथवा गोद लेना उनके धर्म का एक भाग समझा जाता है।

हम यहां दूसरे यज्ञादि का वर्णन नहीं किया चाहते। जितना ऊपर लिखा जा चुका है उतनेही से पाठकगण समझ जांयगे कि यज्ञादि किस प्रकार से होते थे। अब हम ब्राह्मणों की कुछ कथाओं का वर्णन करेंगे जो कि बहुत ही अद्भुत और रोचक हैं। मनु के विषय में एक बहुतही अद्भुत कथा कही जाती है। वैदिक सूक्तों में मनु मनुष्यों का प्राचीन उत्पन्न करनेवाला कहा गया है जिसने कि खेती तथा अग्नि की पूजा प्रचलित की। सतपथ ब्राह्मण की कथा

(१,८,१) पुरानी बायबिल की नाई है। जब मनु अपने हाथ धो रहा था तो उसके निकट एक मछली आई और बोली कि "मुझे पाल, तो मैं तेरी रक्षा करूंगी।" मनु ने उसे पाला और समय पाकर उसने उससे कहा कि "अमुक वर्ष में जल प्रलय होगा। इस लिये तू मेरा कहना मान कर एक जहाज तैयार कर।" जल प्रलय हुई और मनु ने उस जहाज में प्रवेश किया जिसे कि वह यथा समय बना चुका था। मछली उसके पास तैर कर आई और जहाज को उत्तरी पर्वत के उधर ले गई। वहां पर वह जहाज एक पेड़ में बांध दिया गया और जल प्रलय धीरे धीरे शान्त होने लगी तो मनु धीरे धीरे नीचे उतरा। तो जल प्रलय इन सब जीवों को बहा ले गई और केवल मनु यहां रह गया।"

इस संसार की सृष्टि के सम्बन्ध की कथा भी बड़ी रोचक है। वेद में एक बड़ा अच्छा रूपक है जिसमें प्रभात का पीछा करते हुए सूर्य की उपमा किसी कुमारी का पीछा करते हुए पुरुष से दी गई है। इसी से ब्राह्मणों की उस कथा (सतपथ १,७,४, ऐतरेय ३, ३३ आदि) की उत्पत्ति हुई जिसमें परमात्मा प्रजापति का अपनी पुत्री पर मोहित होना और इसीसे सृष्टि की उत्पत्ति होना लिखा है! ब्राह्मणों की यह कथा पुराणों में और भी अधिक बढ़ा दी गई है और उन में ब्रह्मा का अपनी पुत्री पर मोहित होना लिखा है। ये सब विचित्र कथाएं ऋग्वेद के उसी सरल रूपक से निकली हैं जो कि प्रभात का पीछा करते हुए सूर्य के विषय में है। इन सब पौराणिक कथाओं की उत्पत्ति हिन्दू ऋषियों और भाष्यकारों को मालूम भी थी जैसा कि *बौद्ध धर्म के बड़े भारी विपक्षी और शङ्कराचार्य के* पूर्वाधिकारी कुमारिल के निम्नलिखित प्रसिद्ध वाक्यों से जान पड़ेगा—

"यह एक कल्पित कथा है कि सृष्टि के कर्ता प्रजापति ने अपनी पुत्री के साथ प्रीति की परन्तु, इसका अर्थ क्या है? 'प्रजापति' अर्थात् 'सृष्टि का करने वाला' सूर्य का एक नाम है क्योंकि वह सब जीवों की रक्षा करता है। इसकी पुत्री उषस् प्रभात है। अतएव जहां यह कहा गया है कि वह उस पर मोहित हो गया तो उसका तात्पर्य

केवल यह है कि सूर्योदय के समय सूर्य प्रभात का पीछा करता है। प्रभात सूर्य की पुत्री इसलिये कही गई है क्योंकि जब सूर्य निकट आता है तब वह उत्पन्न होती है। इसी भांति यह कहा गया है कि इन्द्र अहल्या पर मोहित हो गया। इसका यह अर्थ नहीं है कि इन्द्रदेवता ने ऐसा सचमुच पाप किया। परन्तु इन्द्र से सूर्य का और अहल्या से रात्रि का तात्पर्य है। सवेरे के समय सूर्य रात्रि को मोहित करके नष्ट कर देता है, इसलिये इन्द्र का अहल्या पर मोहित होना लिखा गया है।"

तैत्तिरीय ब्राह्मण (१, १, ३, १) में सृष्टि की उत्पत्ति होने की एक दूसरी ही कथा लिखी है। पहिले पहिल सब जलमय था और उसमें से केवल एक पद्म निकला हुआ था। प्रजापति ने उसमें बराह का रूप धर कर गोता मारा और कुछ मिट्टी बाहर निकालकर उसे फैलाया और उसे कंकड़ों के आधार पर रक्खा। यही पृथिवी हुई।

ऐसी ही एक कथा सतपथ ब्राह्मण (२, १, १, ८) में भी लिखी है कि सृष्टि होने के पीछे देवता और असुर दोनों प्रजापति से उत्पन्न हुए और इन दोनों में प्रभुत्व पाने के लिये ऐसा युद्ध हुआ कि पृथ्वी कमल के पत्ते की नाईं कांपने लगी। "ऋग्वेद में "असुर" शब्द का प्रयोग विशेषण की भांति हुआ है और उसका अर्थ है बलवान वा शक्तिमान। अन्तिम मण्डल के अन्त के कुछ सूक्तों को छोड़ कर और सब जगह यह शब्द देवताओं के लिये आया है। परन्तु ब्राह्मणों में इस शब्द का अर्थ बिलकुल ही बदल गया है अर्थात् वहां वह देवताओं के शत्रुओं के लिये आया है जिनके विषय में कि बहुत सी नई कथाएं गढ़ी गई हैं।

सतपथ ब्राह्मण में (२, ५, १) सृष्टि उत्पन्न होने की एक दूसरी कथा भी मिलती है। "पहिले पहिल निस्सन्देह यहां केवल प्रजापति ही था।" उसने प्राणियों, पक्षियों, कीड़ों मकोड़ों और सर्पों को उत्पन्न किया। परन्तु ये सब आहार के अभाव से मर गए।

तब उसने उनके शरीर के अग्रभाग में छाती में दूध दिया जिससे कि सब जन्तु जीवित रह सके और इस प्रकार सृष्टि में पहिले पहिल जीव जन्तु बनाए गए।

ऐतिहासिक काव्य काल में यद्यपि कथाएं और यज्ञादि इस प्रकार बढ़ रहे थे पर लोगों का धर्म वैसाही था जैसा कि वैदिक काल में। ऋग्वेद के देवताओं की पूजा अब भी की जाती थी और ऋक्, सामन, और यजुस् के सूक्तों का पाठ अब तक किया जाता था। भेद केवल इतना ही था कि वैदिक काल में देवता लोगों की जितनी प्रतिष्ठा थी वह अब लोप हो गई और उसके स्थान में यज्ञ के विधानों की प्रतिष्ठा होने लगी।

परन्तु इस काल में धीरे धीरे नए देवता भी हिन्दुओं के देवताओं की नामावली में स्थान पाते जाते थे और इन नए नामों ने आगे चलकर प्रधानता प्राप्त कर ली। हम देख चुके हैं कि सतपथ ब्राह्मण में भी 'अर्जुन' इन्द्र का दूसरा नाम है। शुक्ल यजुर्वेद ही के १६ वें अध्याय में हम रुद्र को अपना पौराणिक नाम धारण करते हुए तथा एक भिन्न रूप धारण करते हुए देखते हैं। हम देख चुके हैं कि ऋग्वेद में रुद्र आंधियों का पिता अर्थात् बिजली है। शुक्ल यजुर्वेद में भी वह बिजली उत्पन्न करनेवाला मेघ कहा गया है, परन्तु वहां उसका वर्णन एक भयानक देवता की नाईं किया गया है, जो कि चोरों और पापियों का देवता है और एक बिलकुल संहारक शक्ति है। वह 'गिरीश' कहा गया है क्योंकि मेघ पर्वतों के ऊपर होते हैं। वह (मेघ की रक्षा के कारण) ताम्र वा अरुण वा बभ्रु कहा गया है। वह (उसी कारण से) नीलकण्ठ वा नील गलेवाला भी कहा गया है। उसका नाम 'कपर्दिन' वा लम्बे केशवाला, 'पशुपति' वा पशुओं का रक्षक, 'शङ्कर' वा उपकारी, और 'शिव' वा हित करनेवाला भी, मिलता है। इस प्रकार से ऐतिहासिक काव्य काल में हम रुद्र को परिवर्तन होने की अवस्था में पाते हैं और उसी काल में उसके विषय की कुछ पौराणिक कथाओं की उत्पत्ति भी दृष्टि गोचर होती है। परन्तु ब्राह्मण

ग्रन्थों में ये कथाएं अपने पूरे विस्तृत रूप से कहीं भी नहीं मिलतीं। रुद्र का पौराणिक शिव अर्थात् काली वा दुर्गा के पति की भांति कहीं भी वर्णन नहीं मिलता। कौषीतकि ब्राह्मण में एक स्थान पर ईशान वा महादेव को बहुत ही प्रधानता दी गई है। सतपथ ब्राह्मण में निम्न लिखित वाक्य मिलता है—"हे रुद्र! यह तेरा भाग है। कृपा कर इसे अपनी बहिन अम्बिका के साथ स्वीकार कर!" (२, ६, २, ६) और अथर्व वेद का जो मण्डूक उपनिषद् है उसके एक प्रसिद्ध वाक्य में अग्नि की सात जिह्वाओं के ये नाम मिलते हैं अर्थात् काली, कराली, मनोजया, सुलोहिता, सुधूमवर्णा, स्फुलिङ्गिणी, और विश्वरुपी। सतपथ ब्राह्मण (२, ४, ४, ६) में दक्ष पार्वती के एक यज्ञ करने का वर्णन है और केनोपनिषद में एक उमा हैमवती नाम की स्त्री का वर्णन है जिसने कि इन्द्र के सामने आकर उसे ब्रह्म ज्ञान दिया। ये ब्राह्मण ग्रन्थों के उन वाक्यों के कुछ उदाहरण दे दिए गए जिनसे कि पुराण में शिव और उसकी पत्नी के विषय में इतनी भारी कथा गढ़ी गई है।

ऐतरेय ब्राह्मण (६, १५) और सतपथ ब्राह्मण (१, २, ५) में यह कथा है कि देवताओं ने असुरों से पृथ्वी का उतना भाग ले लिया जितना कि विष्णु ढँक सके और इस प्रकार से उन्होंने सारी पृथ्वी ले ली। सतपथ ब्राह्मण की अन्तिम पुस्तक में जाकर तब कहीं विष्णु ने और सब देवताओं से अधिक श्रेष्ठता पाई है और तब इन्द्र ने उसका सिर काट लिया है। देवकी के पुत्र कृष्ण की तब तक भी देवताओं में गणना नहीं थी, वह छान्दोग्य उपनिषद् में घोर आङ्गिरस का केवल एक शिष्य है (३, १७, ६)

जिस प्रकार से इन उधर उधर फैले हुए उल्लेखों में उन लम्बी चौड़ी पौराणिक कथाओं की रचना की सामिग्री पाई जाती है जो कि आगे चल कर हुई वैसे ही ऐतिहासिक काव्य काल में ब्राह्मणों के विधानों और धर्म में उस अविश्वास के भी चिन्ह दिखाई देते हैं जो कि आगे चल कर बौद्ध सिद्धान्तों के रुप में प्रगट हुए। सामवेद के ताण्ड्य ब्राह्मण में ब्रात्य-स्तोम दिए हुए हैं जिनसे

व्रात्य लोग (अर्थात् वे लोग जो ब्राह्मणों की रीति से नहीं रहते थे) उस सम्प्रदाय में सम्मिलित हो सकते थे। उनमें से कुछ इस प्रकार से हैं—वे खुले हुए युद्ध के रथों पर सवारी करते हैं, धनुष और भाले साथ रखते हैं, पगड़ी, ढीले ढाले लाल किनारे वाले कपड़े, जूता और दोहरी भेड़ी की खाल पहिनते हैं, उनके नायक लोग भूरे कपड़े और गले में चाँदी के गहिने पहिनते हैं, वे न तो खेती करते हैं और न वाणिज्य, उनके कानून भी बहुत ही गड़बड़ हैं, वे ब्राह्मणों के संस्कार पाए हुए लोगों की ही भाषा बोलते हैं, परन्तु जिसका उच्चारण सहज में हो सकता है उसे उच्चारण में कठिन बतलाते हैं।" परन्तु व्रात्य तब तक घृणा की दृष्टि से नहीं देखे जाते थे और प्रश्न उपनिषद में स्वयम् परमेश्वर व्रात्य कहा गया है।

अध्याय १

——:o:——

उपनिषदों का धर्मपथ।

ब्राह्मणों के विधानों और कथाओं को छोड़ कर उपनिषदों के प्रबल विचारों का उल्लेख करना तनिक सुखद है। वृहद् ब्राह्मणों में जो बड़े बड़े, परन्तु निरर्थक विधान हैं, जो निर्देशरूप परन्तु बालोचित व्याख्यान हैं, जो गुप्त और हंसने योग्य उक्तियां हैं, उन से लोगों को कुछ असन्तोष सा जान पड़ता है। बुद्धिमान लोग बिचारने लगे कि क्या धर्म में यही सब शिक्षा हो सकती है। एकाग्रचित पुरुष यद्यपि ब्राह्मणों के विधानों के अनुसार चलते थे पर वे आत्मा के उद्देश्य तथा परमात्मा के विषय में विचार करने लगे। अवश्यमेव विद्वान क्षत्रियों ही ने इन उत्तम विचारों को चलाया होगा वा कम से कम तब तक तो उन्हें पौरुष और सफलता के साथ अवश्य ही चलाया होगा जब तक कि ब्राह्मणों ने इस नए सम्प्रदाय का कुछ ज्ञान न प्राप्त कर लिया हो। इन उपनिषदों में दिए हुए धर्म पथ की प्रबलता, एकाग्रता, और दर्शनिकता ऐसी है कि यद्यपि उनको तीन हजार वर्ष हो गए परन्तु अब तक भी यह असम्भव है कि उनके देखने से आश्चर्य न हो। इनमें से सब से मुख्य ये हैं (१) सर्वगत आत्मा का सिद्धान्त (२) सृष्टि की उत्पत्ति का सिद्धान्त (३) आत्मा के पुनर्जन्म का सिद्धान्त और (४) अन्तिम मुक्ति पाने का सिद्धान्त।

पहिले पहिल हम सर्वगत आत्मा का सिद्धान्त वर्णन करेंगे जो कि उपनिषदों के दर्शन शास्त्र की जड़ है। यह सिद्धान्त उत्तर काल के अद्वैतवाद से कुछ भिन्न है, क्योंकि इस अद्वैतवाद में सृष्टि कर्ता ईश्वर अपनी रची हुई सृष्टि से अलग समझा जाता है। परन्तु उपनिषदों के अद्वैतवाद में जो सदा से हिन्दू धर्म का एकेश्वर-

वाद सिद्धान्त रहा, ईश्वर सर्वात्मा समझा गया है अर्थात् सब वस्तुएं इसी से उत्पन्न हुई हैं, उसीकी अंश हैं और अन्त में उसी में मिल जांयगी; किसी वस्तु का उससे भिन्न जीवन नहीं है। यही शिक्षा सत्यकाम जवालि ने प्रकृति से पाई थी और इसी शिक्षा को याज्ञवल्क्य ने अपनी प्यारी और माननीय स्त्री मैत्रेयी को दिया था। यही शिक्षा उपनिषदों में सैकड़ों रुपकों, कहानियों और उत्तम कथाओं में वर्णित है जो कि उपनिषदों को सारे संसार के ग्रन्थों में सबसे श्रेष्ठ बनाती हैं।

"यह सब ब्रह्म है। मनुष्य को इस संसार की उत्पत्ति, नाश और स्थिति उसी ब्रह्म के रुप में विचारनी चाहिए...

"वह सर्वज्ञ, जिसका शरीर आत्मा है, जिसका रुप ज्योति है, जिसके विचार सत्य हैं, जो आकाश की नांई (अर्थात् सर्वव्यापी और अदृश्य) है, जिससे सब कर्म, इच्छाएं, सब सुगन्धि और स्वाद उत्पन्न होते हैं, जो इन सभों में व्याप्त है और जो कभी बोलता नहीं और न कभी आश्चर्य करता है।

"वही मेरे हृदय के भीतर मेरी आत्मा है, जो कि चावल के दाने से छोटी, यव के दाने से छोटी, सरसों के दाने से छोटी, कनेरी के दाने से छोटी और कनेरी के दाल के दाने से भी छोटी है। वही मेरे हृदय के भीतर की आत्मा है जो कि पृथ्वी से बड़ी, आकाश से बड़ी, स्वर्ग से बड़ी और इन सब लोकों से भी बड़ी है।

"वह जिससे सब कार्य, सब इच्छाएं, सब सुगन्धि और स्वाद उत्पन्न होते हैं, जो सबमें व्याप्त है, जो कभी बोलता नहीं और न आश्चर्य करता है, वही मेरे हृदय के भीतर की आत्मा ब्रह्म है। जब मैं इस संसार से कूच करुंगा तब उसे प्राप्त करुंगा।" (छान्दोग्य ३, १४)

प्राचीन समय के हिन्दू लोगों ने सूक्ष्म और सर्वव्यापी परमात्मा, के विषय के जिसे कि वे ब्रह्म कहते थे, अपने उच्च विचारों को ऐसी उच्च भाषा में प्रगट किया है।

हम यहां छान्दोग्य के कुछ और उदाहरण उद्धृत करेंगे। हम पहिले देख चुके हैं कि स्वेत केतु अपने गुरु के साथ बारह वर्ष की अवस्था से लेकर चौबीस वर्ष की अवस्था तक रहा और तब "सब वेदों का अध्ययन करके मानी तथा अपने को पंडित और दृढ़ समझता हुआ" घर लौट आया। परन्तु अब तक भी उसे कुछ बातें सीखनी बाकी थीं जो कि उस समय की पाठशालाओं में नहीं सिखाई जाती थीं। अतएव उसके पिता उद्दालक आरुणेय ने उसे सुन्दर रुपकों में परमात्मा के ज्ञान की शिक्षा दी—

"हे पुत्र, जिस प्रकार मधुमक्खियां दूर दूर के वृक्षों के रस इकट्ठा करके मधु बनाती हैं और इन रसों को एक रुप में कर देती हैं और जिस प्रकार से इन रसों में कोई विवेक नहीं रहता जिससे कि ये कहें कि मैं इस वृक्ष का रस हूं और मैं उस वृक्ष का, उसी प्रकार ये सब जीव जब परमात्मा में मिल जाते हैं तो उन्हें यह ज्ञान नहीं रहता कि हम परमात्मा में मिल गए............

"हे पुत्र, ये नदियां बहती हैं, पूर्वी नदी (जैसे गङ्गा) पूरब की ओर, और पश्चिमी (जैसे सिन्ध) पश्चिम की ओर। वे समुद्र में से ही समुद्र में जाती हैं (अर्थात् मेघ समुद्र के जल को आकाश में उठा कर फिर उसे वृष्टि के रुप में समुद्र ही में भेजता है) और वास्तव में समुद्र ही हो जाती हैं, और जिस प्रकार से ये नदियां समुद्र में जाने के पीछे यह नहीं समझतीं कि मैं यह नदी हूं और मैं वह नदी हूं, वैसे ही ये सब जीव परमात्मा ही से उत्पन्न होकर यह नहीं जानते कि हम परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं.........

" व इस नमक को पानी में डाल दो और हमारे पास सवेरे आओ।'

"पुत्र ने जैसी आज्ञा पाई वैसा ही किया। पिता ने उससे पूछा 'कल रात को जो नमक तुमने पानी में डाला था उसे मुझको दो।' पुत्र ने उसे ढूंढा पर न पाया, क्योंकि निस्सन्देह वह गल गया था।

"पिता ने कहा 'इस अन्न को ऊपर से चखो। कहो, कैसा है?' पुत्र ने उत्तर दिया 'यह नमकीन है।' 'इसे बीच में से चखो। कहो, कैसा है?' पुत्र ने उत्तर दिया 'नमकीन है।' 'उसे पेंदे से चखो। कैसा है?' पुत्र ने उत्तर दिया 'नमकीन है।' पिता ने कहा 'इसे फेंक कर मेरे पास आओ।'

"पुत्र पिता के पास गया और पिता ने उसे उपदेश दिया कि 'जल में जिस प्रकार से नमक था उसी प्रकार से हम लोगों में परमात्मा रह कर अदृश्य है।" (छान्दोग्य ६)

छान्दोग्य के इन वाक्यों से हमको परमात्मा के विषय में हिन्दुओं के विचार प्रगट होते हैं। अब हम केन और ईश में से दो तीन वाक्य उद्धृत करेंगे—

'शिष्य ने पूछा "यह मन किसकी इच्छा से भेजा जाकर अपने कार्य में लगता है? किसकी आज्ञा से पहिले पहिल सांस निकलता है? किसकी इच्छा से हम लोग बोलते हैं! कौन देवता आंख और कान का अधिष्ठाता है?"

गुरु उत्तर देता है—"वह कान का कान, मन का मन, वाणी की वाणी, स्वांस का स्वांस, और आंख की आंख है...

"वह जिसका वर्णन वाणी नहीं कर सकती परन्तु उसीसे वाणी वर्णन करती है......वह जिसे मन नहीं सोच सकता परन्तु जिससे मन सोचा जाता है......वह जो आंख से नहीं देखा जा सकता परन्तु जिससे आंख देखती है......वह जो कान से नहीं सुना जाता और जिससे कान सुना जाता है......वह जो स्वांस नहीं लेता और जिससे स्वांस लिया जाता है,—केवल वही ब्रह्म है,—न कि वह जिसे लोग यहां पूजते हैं।" (केन उपनिषद् १)

ऊपर के वाक्य में कौन नहीं देखेगा कि उन निरर्थक विधाओं के बन्धनों को दूर करने का यत्न किया गया है जिसे कि ब्राह्मण लोग सिखाते थे और "लोग यहां" करते थे तथा समझ में न आवे

वाले अर्थात् स्वांस के स्वांस और आत्मा की आत्मा के उच्चतम विषय के समझने का उद्योग किया गया है ? तीन हजार वर्ष पहिले हिन्दू जाति ने अज्ञात सृष्टिकर्ता को जानने और ध्यान में न आनेवाले ईश्वर को ध्यान में लाने का साहस के साथ जो उद्योग किया था उससे कौन आश्चर्य न करेगा ?

और जिसने ध्यान में न आनेवाले ईश्वर के विषय में कुछ भी समझ लिया है उसे जो आनन्द प्राप्त होता है वह बहुत अच्छी तरह से वर्णन किया गया है ।

"वह जो आत्मा में सब प्राणियों को और सब प्राणियों में आत्मा को देखता है वह उससे कभी विमुख नहीं होता ।

"जब कोई ज्ञानी सब चीजों में आत्मा को समझने लगता हो तो फिर जिसने इस एकता को एक बार समझ लिया है उसे क्या कोई शोक अथवा कष्ट हो सकता है ।

उस आत्मा ने जो प्रदीप्त, निराकार, अक्षत, स्नायुरहित, पवित्र, पाप से अस्पृष्ट, सर्वदर्शी, बुद्धिवान सर्वस्थायी और स्वयम् है, सब बातों को सदा के लिये ठीक ठीक निर्धारित किया है ।

अन्त में बृहदारण्यक उपनिषद् मे लिखा है कि सब देवता आत्मा वा पुरुष के ही स्वरूप है "क्योंकि वही सब देवता है" (१, ४, ६) और साथ ही इसके वह सब मनुष्यों में ब्राह्मण, क्षत्री वैश्य और शूद्र में भी है (१, ४, १५)

हमने इस विषय में जो भाग उद्धृत किए हैं वे कुछ लम्बे चौड़े है परन्तु इसके लिये हमारे पाठकों को पछताना नहीं पड़ेगा क्योंकि आत्मा का सिद्धान्त हिन्दूधर्म की जड़ है और इस लिये यह जानना आवश्यक है कि यह विचार भारतवर्ष में उपनिषदों में पहिले पहिल कैसे परिपक्व हुआ । अब हम दूसरे मुख्य सिद्धांत अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति के सिद्धान्त का वर्णन करेंगे ।

इन प्राचीन विद्वानों के लिये सृष्टि की उत्पत्ति अभी तक एक गूढ़ विषय था इस लिये उसका वर्णन करने के जो यत्न किए गए वे अवश्य ही बड़े विचित्र और कल्पित थे। यहां पर हम कुछ वाक्य उद्धृत करेंगे—

"आदि में यह नहीं था। जब यह बढ़ा तब उसका अस्तित्व हुआ। वह एक अण्डे के रूप में हो गया। अण्डा एक वर्ष तक रहा। फिर अण्डा फूटा। इसके जो दो टुकड़े हुए उनमें एक चांदी का दूसरा सोने का था।

"चांदी वाले टुकड़े की पृथ्वी, और सोने वाले टुकड़े का आकाश, मोटी झिल्ली के पर्वत और पतली झिल्ली के कोहिरे और मेघ, छोटी छोटी नसों की नदियां और द्रव भाग का समुद्र बन गया।

"और जो कुछ उससे उत्पन्न हुआ वह आदित्य अर्थात् सूर्य था। जब वह उत्पन्न हुआ तो जय जय की ध्वनि होने लगी और उसी के साथ सब जीवों की तथा उन्हें जिन वस्तुओं की आवश्यकता थी उनकी भी उत्पत्ति हुई।" (छान्दोग्य ३, १९)

उसी उपनिषद (६, २) में एक दूसरा भी वर्णन दिया है जिसमें लिखा है कि "आदि में केवल वही एक था जो कि अद्वैत है।" उससे अग्नि उत्पन्न हुई, अग्नि से पानी और पानी से पृथ्वी उत्पन्न हुई।

एतरेय आरण्यक में लिखा है कि प्राण अर्थात् विश्वप्राण ने इस संसार को रचा और फिर उसमें इस बात पर विचार किया है कि संसार किन वस्तुओं से बना। ऋग्वेद (१०,१२६) के तथा यहूदी लोगों के सृष्टि उत्पन्न होने के वर्णन के अनुसार जल ही इसका प्रथम तत्व है।

"क्या वह सचमुच पानी था? क्या वह पानी था? हां वास्तव में यह सब पानी था। पानी ही जड़ थी और पृथ्वी उसका अंकुर

हुआ। वह जीव पिता है और वे (पृथ्वी अग्नि आदि) पुत्र है।" महिदास ऐतरेय इस सिद्धान्त को जानता था। (२, १, ८, १)

उसी उपनिषद् के दूसरे स्थान में सृष्टि की उत्पत्ति का नीचे लिखा वर्णन दिया है—

"आदि में निस्सन्देह केवल एक आत्मा थी। उसके सिवाय और कुछ नहीं देख पड़ता था।" और उस आत्मा ने पानी (स्वर्ग के ऊपर) उत्पन्न किया, प्रकाश उत्पन्न किया जो कि आकाश है, नाशवान जीव जो कि पृथ्वी है, और पृथ्वी के नीचे जल उत्पन्न किया। उसने तब पुरुष बनाया और उस पुरुष से सारी सृष्टि उत्पन्न हुई।

इनमें से कुछ उद्धृत भागों में से किसी में तो एक आदि कर्त्ता, अर्थात् प्राण, आत्मा या स्वयं को, और किसी में एक तत्व अर्थात् पानी वा अग्नि को, सृष्टि का कारण माना है। हम आगे चल कर दिखलावेंगे कि आदि आत्मा वा आदि तत्व का यह सिद्धान्त उत्तर काल के हिन्दुओं के वेदान्त में किस प्रकार से बढ़ाया गया है। अब हम पुनर्जन्म के बड़े प्रधान सिद्धान्त का वर्णन करेंगे। यह सिद्धान्त हिन्दुओं के लिये वैसाही है जैसा कि ईसाइयों के लिये पुनरुज्जीवन का सिद्धान्त। ईसाई लोगों का यह विश्वास है कि हमारी आत्माएं मृत्यु के पीछे दूसरी अवस्था में रहेंगी, परन्तु हिन्दुओं का यह विश्वास है कि हमारी आत्माएं पहिले भी दूसरी अवस्था में रह चुकी हैं और फिर मृत्यु के पीछे दूसरी अवस्था में रहेंगी।

इसका मुख्य विचार वही है जो कि हिन्दू धर्म का मुख्य सिद्धान्त माना गया है अर्थात् यह कि अच्छे कर्म करने से आने वाले जन्म में उनका अच्छा फल मिलता है, परन्तु परमात्मा में लीन हो जाना, केवल सच्चे ज्ञान से प्राप्त होता है। "जिस प्रकार से इस संसार में जो कुछ परिश्रम कर के उपार्जन किया जाता है उसका क्षय हो जाता है उसी प्रकार से इस संसार में यज्ञ तथा अच्छे कर्मों द्वारा उस संसार के लिये जो कुछ प्राप्त किया जाता है उस-

का भी क्षय होजाता है। जो लोग परमात्मा और उन सच्ची इच्छाओं का ज्ञान बिना प्राप्त किए ही इस संसार से उठ जाते हैं वे किसी लोक में भी मुक्ति नहीं पाते।" (छान्दोग्य ८, १, ६)

पुनर्जन्म का सिद्धान्त बृहदारण्यक में बहुत अच्छी तरह से तथा पूरी तरह से वर्णन किया गया है। हम यहां पर उस उपनिषद का कुछ भाग उद्धृत करेंगे—

"जिस प्रकार से कीड़ा किसी घास के पत्ते के अन्त तक पहुंच कर दूसरे पत्ते पर जाने के लिये अपने को बटोर के उस पर जाता है उसी प्रकार से आत्मा इस शरीर को छोड़ कर तथा सब अज्ञान को दूर कर के दूसरे शरीर में जाने के लिये अपने को बटोर कर उसमें जाती है।

"और जिस प्रकार से सोनार सोने के किसी टुकड़े को लेकर उसका एक नया और अधिक सुन्दर रूप बना देता है उसी प्रकार से आत्मा इस शरीर को छोड़ कर और सब अज्ञान को दूर कर के अपने लिये एक नया और अधिक सुन्दर रूप बनाती है। चाहे वह रूप पितरों का हो, चाहे गन्धर्वों का, चाहे देवों का, चाहे प्रजापति का, चाहे ब्रह्म के सदृश वा चाहे अन्य किसी की नाईं हो.........

"यह सब तो उस मनुष्य के लिये हुआ जो इच्छा रखता है। परन्तु जो मनुष्य कोई इच्छा नहीं रखता, इच्छाओं से मुक्त तथा अपनी इच्छाओं में सन्तुष्ट है वा केवल परमात्मा ही की इच्छा रखता है, उसकी आत्मा और कहीं नहीं जाती, ब्रह्म हो कर वह ब्रह्म ही में जाती है.........

"और जिस प्रकार से सांप की केचुली किसी टीले पर छोड़ी हुई मृत पड़ी रहती है उसी प्रकार से शरीर रह जाता है, परन्तु उस शरीर से पृथक हुई अमर आत्मा केवल ब्रह्म और केवल प्रकाश ही है।"

अब अन्तिम मुक्ति के सिद्धान्त को लीजिए। प्राचीन हिन्दुओं के ग्रन्थों में उन अंशों से उच्चतम और कोई बात नहीं है जिनमें उन लोगों ने बड़े उत्सुक होकर यह आशा और विश्वास प्रगट किया है कि सब कलङ्कों और पापों से रहित तथा शरीर से अलग हुई आत्मा अन्त को परमात्मा में इस प्रकार से मिल जायगी जैसे कि प्रकाश में प्रकाश मिल जाता है। हम यहां वृहदारण्यक से एक अंश उद्धृत करते हैं—

"वह जो शान्त, दबा हुआ, सन्तुष्ट, सहनशील और एकाग्रचित्त होकर आत्मा में अपने को देखता है वह आत्मा में सब वस्तुओं को देखता है। पाप उसे नहीं जीतता, वही सब पापों को जीत लेता है। पाप उसे नहीं जला सकता, वही सब पापों को जला देता है। सब पापों, कलंकों और सन्देहों से रहित होकर वह सच्चा ब्रह्म हो जाता है और ब्रह्म लोक में प्रवेश करता है।"

इसी अन्तिम मुक्ति के सिद्धान्त को मृत्यु ने नचिकेतस् से एक उपनिषद् के उस सुन्दर कविता में वर्णन किया है जो 'कथा' के नाम से प्रसिद्ध है। हम अब इसी उपनिषद् का एक अंश, जो कि पवित्रता और कल्पना शक्ति की एक बहुत ही सुन्दर रचना है, उद्धृत करके इस अध्याय को समाप्त करेंगे।

नचिकेतस् के पिता ने उसे मृत्यु को सौंप दिया और उसने यम वैवस्वत के निवास स्थान में प्रवेश किया और उससे तीन वर मांगे जिनमें से अन्तिम यह था—

"जब मनुष्य मर जाता है तो यह शङ्का रहती है—कोई कहता है कि वह है और कोई कहता है वह नहीं है। यह मैं तेरे ही मुख से जानना चाहता हूं यही मेरा तीसरा वर है।"

परन्तु मृत्यु अपने भेद प्रगट करना नहीं चाहता था, इसलिये उसने नचिकेतस् से दूसरे दूसरे वर मांगने के लिये कहा।

"ऐसे पुत्रों और पौत्रों को मांग जिनकी आयु सौ सौ वर्ष की

हो। गाय, हाथी, घोड़े, और सोना मांग। पृथ्वी पर बहुत काल तक का निवास मांग और जितने वर्ष तक तेरी इच्छा हो, जीवित रह।

"यदि तू इसके समान और किसी वर को सोच सकता हो तो धनी और दीर्घ जीवी होने का वर मांग। हे नचिकेतस्, सारी पृथ्वी का राजा हो। मैं तेरी सब इच्छाएं पूरी कर सकता हूं।

"मृत्युलोक में जिन जिन कामनाओं का पूरा होना कठिन है उनमें से जो तेरी इच्छा हो मांग। ये सुन्दर कुमारियां जो कि अपने रथ और बाजे लिए हैं, निस्सन्देह मनुष्यों को ये प्राप्त नहीं होतीं। मैं इनको तुझे देता हूं, इनकी सेवा का सुख मांग परन्तु मुझ से मरने के विषय में मत पूछ।"

नचिकेतस् ने कहा—"हे मृत्यु, ये सब वस्तुएं केवल कल तक टिकेंगी, क्योंकि ये सब इन्द्रियों के बल का नाश कर देती हैं। समस्त जीवन भी थोड़ा है। तू अपने घोड़े और अपना नाच गाना अपने ही पास रख।"

धर्मात्मा जिज्ञासु के इतने आग्रह करने पर मृत्यु ने अन्त को अपना बड़ा भेद प्रगट कर दिया। यह वही भेद है जो कि उपनिषदों का सिद्धान्त तथा हिन्दू धर्म का सिद्धान्त है—

"वह बुद्धिमान जो अपनी आत्मा का ध्यान करके उस आदि ब्रह्म को जान लेता है जिसका दर्शन कठिन है, जिसने अन्धकार में प्रवेश किया है, जो गुफा में छिपा है, जो गम्भीर गर्त में रहता है,—वह निस्सन्देह सुख और दुःख को बहुत दूर छोड़ देता है।

"एक नाशवान जीव जिसने यह सुना और माना है, जिसने उससे सब गुणों को पृथक कर दिया है, और जो इस प्रकार उस सूक्ष्म आत्मा तक पहुंचा है, प्रसन्न होता है कि उसने उसे पा लिया जो आनन्द का कारण है। हे नचिकेतस् मैं विश्वास करता हूं। ब्रह्म का स्थान खुला है।"

ऐसा कौन है जो आज कल भी पुरातन काल के इन शुद्ध प्रश्नों और पवित्र विचारों को पढ़कर अपने हृदय में नए भावों का उदय न अनुभव करता हो, अपनी आंखों के साम्हने नया प्रकाश न पाता हो। अज्ञात भविष्य का रहस्य मनुष्य की बुद्धि या विद्या से कभी प्रगट न होगा किन्तु प्रत्येक देशहितैषी हिन्दू और विचारवान पुरुष के लिये इस रहस्य को जानने के लिये जो प्रारम्भ में पवित्र उत्सुक और शुद्ध दार्शनिक भाव से उद्योग किए गए थे उनमें सदा अनुराग वर्तमान रहेगा।

प्रसिद्ध जर्मन लेखक और दार्शनिक स्कोपनहार ने ठीक लिखा है। "प्रत्येक पद से गहरे, नवीन और उच्च विचार उत्पन्न होते हैं। और सब में उत्कृष्ट पवित्र और सच्चे भाव वर्तमान हैं। भारतीय वायु मंडल हमें घेरे हुए हैं, और अनरूप आत्माओं के नवीन विचार भी हमारे चारों ओर हैं। समस्त संसार में मूल पदार्थों को छोड़ कर किसी अन्य विद्या का अध्ययन ऐसा लाभकारी और हृदय को उच्च बनाने वाला नहीं है जैसा कि उपनिषदों का। इसने मेरे जीवन को शान्ति दी है और यह मृत्यु के समय भी मुझे शान्ति देगा।"

पहिला भाग समाप्त।

———:o:———

इतिहास-प्रकाशक-समिति, काशी की
नियमावली।

(१) इस मंडली का नाम "इतिहास-प्रकाशक समिति" होगा।

(२) इस समिति का मुख्य कार्य यह होगा कि हिन्दी में सब प्रकार के ऐतिहासिक* ग्रन्थ सम्पादित कर वा करा के छपवावे।

(३) कोई महाशय एक बेर २५) रु० वा उससे अधिक देने पर इसके सभ्य हो सकेंगे और वे इसके सहायक कहलावेंगे।

(४) सहायकों को प्रत्येक पुस्तक की जिसे यह समिति अपने व्यय से छपवावेगी एक प्रति बिना मूल्य दी जायगी। उन्हें अपने दान के बदले में और किसी प्रकार का हिस्सा या लाभांश न मिलेगा।

(५) इस समिति का काम चलाने के लिये नौ सहायकों की एक कमेटी प्रति तीसरे वर्ष नवम्बर मास में चुन दी जाया करेगी।

(६) इस कमेटी के काम ये होंगे—

(१) समिति के धन और आय व्यय के हिसाब को ठीक ठीक रखना।

(२) ग्रन्थों के लिखवाने, सम्पादित करवाने, छपवाने और बेचने का उचित प्रबन्ध करना।

(३) उचित पुरस्कार पर ग्रन्थों का स्वत्व प्राप्त करना।

(४) प्रति वर्ष अपने कार्य की एक रिपोर्ट समिति को देना और अन्य लोगों में वितरण करना।

(७) यह कमेटी अपने कार्य की प्रणाली स्वयं निश्चय करेगी और अपने सभासदों में से एक को अपना मंत्री नियत करेगी।

(८) समिति के वर्ष का प्रारम्भ पहिली नवम्बर से माना जायगा।

(९) कमेटी या समिति के अधिवेशनों में सब प्रश्नों का निर्णय अधिक सम्मति से होगा।

(१०) समिति या कमेटी के अधिवेशनों में पत्र द्वारा भी सम्मति ग्रहण की जायगी।

(११) समिति के अधिवेशनों में पांच सभ्यों का और कमेटी के अधिवेशनों में तीन सभ्यों का कोरम माना जायगा।

(१२) समिति के सब सहायकों को सूचना देकर इन नियमों के परिवर्तन करने या कमेटी के चुनने या बदलने का समिति का पूर्ण अधिकार होगा।

---

* इसमें जीवनचरित और यात्रा के ग्रन्थ भी सम्मिलित हैं।

इतिहास-प्रकाशक-समिति काशी के

सहायकों की नामावली।

(१) बाबू राधाकृष्णदास-काशी।
(२) पण्डित रामनारायण मिश्र बी० ए०-काशी।
(३) बाबू गोविन्ददास-काशी।
(४) बाबू जुगुलकिशोर-काशी।
(५) पण्डित हरि नारायण शर्म्मा बी० ए०-सवाई रामगढ़।
(६) पण्डित किशोरीलाल गोस्वामी-काशी।
(७) पण्डित चन्द्रधरशर्मा बी० ए०-अजमेर।
(८) बाबू अयोध्यादास बी० ए०- गोरखपुर।
(९) पण्डित श्यामबिहारी मिश्र एम० ए०-बस्ती।
(१०) आनरेबुल पण्डित मदनमोहन मालवीय, बी० ए०, एल एल० बी०-इलाहाबाद।
(११) पण्डित बिन्ध्यनाथ झा, एम० ए०-दरभंगा।
(१२) बाबू उपेन्द्रनाथ बसु, बी० ए० एल एल० बी- काशी।
(१३) बाबू राधाचरण, बी० ए०-ग़ाज़ीपुर।
(१४) बाबू ज्ञानेन्द्रनाथ बसु, बी० ए०-भिनगा।
(१५) बाबू काशीप्रसाद-मिर्जापुर।
(१६) लाल रघुनाथप्रसाद सिंह-गोरखपुर।
(१७) राय शिवप्रशाद-काशी
(१८) लाला मुंशीराम, बी० ए०-हरिद्वार।
(१९) लाला लाजपतराय-लाहोर।
(२०) बाबू गोविन्दराम सिंघानिया-मिर्जापुर।
(२१) बाबू शिवप्रसाद गुप्त-काशी।
(२२) बाबू माधोप्रसाद-काशी।
(२३) बाबू श्यामसुन्दर दास बी० ए०-काशी।
(२४) राजा कमलानन्दसिंह-श्रीनगर-पुर्निया।
(२५) बाबू बेनीप्रसाद-काशी।
(२६) बाबू सीताराम बी०ए०-काशी।
(२७) डाक्टर गनेशप्रसाद भार्गव-काशी।

HINDI HISTORICAL SERIES No II.

मिस्टर रमेशचन्द्र दत्त का

प्राचीन भारतवर्ष की

सभ्यता का इतिहास

दूसरा भाग।

जिसे

गोपालदास ने

सरल हिन्दी में अनुवाद किया

और

इतिहास-प्रकाशक-समिति काशी ने

प्रकाशित किया।

1906
TARA PRINTING WORKS,
BENARES.

अध्यायों की सूची ।

———:o:———

दार्शनिक काल ।

———:o:———

प्राचीन भारतवर्ष की

सभ्यता का इतिहास।

दूसरा भाग।

काण्ड ३

दार्शनिक काल, १००० ई० पूर्व से ३२० ई० पूर्व तक।

अध्याय १

इस काल का साहित्य।

तीसरे युग में हिन्दुओं के स्वभाव में अन्तर हो गया और इस अन्तर की झलक भारतवर्ष के सूत्रग्रन्थों में मिलती है। ऐतिहासिककाव्य काल में हिन्दुओं की अन्तिम दक्षिणी सीमा विन्ध्यपर्वत था पर अब उन लोगों ने इस पर्वतश्रेणी को पार किया और वे मध्यभारतवर्ष के जंगलों में घुसे और उन्होंने गोदावरी और कृष्णा के तटों पर बड़े बड़े राज्य स्थापित किये जोकि समुद्रतट तक फैले हुए थे। पूरब में मगध का राज्य बड़ा प्रबल हुआ और वहां से लोग बंगाल और उड़ीसा में जाकर बसे और पश्चिम में सौराष्ट्र का राज्य अरब के समुद्र तक फैल गया। हिन्दुओं के इस फैलाव का प्रभाव उनके स्वभाव पर भी पड़ा। वे अधिक साहसी हो गए और उनके विचार अधिक विस्तृत हो गए। प्राचीन समय से जो कुछ साहित्य यथाक्रम वंशपरम्परा में रहा वह संक्षिप्त

और प्रायोगिक रूप में लाया गया और विज्ञान के सब विभागों में उस साहस के साथ आविष्कार किए गए जोकि नए अन्वेषियों और विजइयों में स्वाभाविक होता है।

इस समय के साहित्य ने जो रूप धारण किया था उसी से इस काल की प्रायोगिक वृत्ति प्रगट होती है कि सब विद्या, सब शास्त्र और सब धर्म्म सम्बन्धी ग्रन्थों को संक्षेप करके पुस्तकें बनाई गई। जिस प्रकार से ब्राह्मणग्रन्थों में शब्दबाहुल्य प्रधान है, उसी तरह सूत्र-ग्रन्थों में संक्षिप्त होना ही विशेष बात है। वास्तव में ग्रन्थकार लोग एक ओर की हद से दूसरी ओर की हद पर चले गए अर्थात् कहां तो उनके लेखों में इतना शब्दबाहुल्य होता था और कहां इतने संक्षिप्त सूत्रों में ही वे लिखने लगे। सूत्रों के विषय में यह कहावत बहुधा कही जाती है कि "ऋषियों को अर्द्धह्रस्व स्वर ही को कम कर देने में इतनी प्रसन्नता होती थी जितनी कि एक पुत्र के जन्म में होती है।"

इतने अधिक संक्षिप्त ग्रन्थों के बनने का एक प्रधान कारण यह था कि बालक विद्यार्थियों को बचपन में ये सूत्र रटाए जाते थे। आर्य बालक लोग आठ, दस वा बारह वर्ष की अवस्था में किसी गुरु को करते थे और बारह वर्ष अथवा इससे अधिक समय तक वे गुरु ही के यहां रहते थे। उनकी सेवा करते थे। उनके लिये भिक्षा मांगते थे और अपने पुरखाओं के धर्म को नित्य कण्ठाग्र करके सीखते थे। अतएव विस्तृत ब्राह्मणों के संक्षिप्त छोटे छोटे ग्रन्थ बनाए गए कि जिसमें वे सुगमता से पढ़ाए और कण्ठाग्र किए जा सकें। इस प्रकार से प्रत्येक सूत्रचरण अर्थात् प्रत्येक पाठशालाओं के जुदे जुदे सूत्रग्रन्थ तैयार हो गए। इन सूत्रों के बनानेवालों में से बहुतों के नाम हम लोगों को विदित हैं। जिस प्रकार वेद और ब्राह्मणग्रन्थ ईश्वरकृत माने जाते हैं, उसी प्रकार सूत्रग्रन्थ नहीं कहे जाते वरन वे मनुष्य के बनाए हुए स्वीकार किए जाते हैं। भारतवर्ष में जो ईश्वरकृत ग्रन्थ कहे जाते हैं उनकी समाप्ति उपनिषदों से होती है जोकि ब्राह्मणों के उत्तर काल के भाग हैं।

जब एक बेर सूत्र बने तो इस प्रणाली का प्रचार भारतवर्ष में बहुत शीघ्र फैल गया और सूत्र चरण बढ़ने लगे। चारणव्यूह में ऋग्वेद के ५ चरण, कृष्णयजुर्वेद के २७ चरण, शुक्लयजुर्वेद के १५, सामवेद के १२, और अथर्ववेद के ६ चरण लिखे हैं। प्रत्येक सूत्र चरण के जुदे जुदे सूत्रग्रन्थ रहे होंगे और जिस चरण के जो अनुयायी थे वे भारतवर्ष के चाहे किसी भाग में क्यों न रहते हों पर उसी चरण के सूत्र पढ़ते थे और उसेही विद्यार्थियों को पढ़ाते थे। इस प्रकार से धीरे धीरे भारतवर्ष में इन सूत्रग्रन्थों का एक बृहद् भण्डार हो गया। पर दुखःका विषय है कि इन बहुत से चरणों में जो बहुत से सूत्रग्रन्थ बने और पढ़ाए जाते थे उनमें से अब बहुत ही थोड़े हम लोगों को प्राप्त हैं। जो दशा ब्राह्मणग्रन्थों की है वही सूत्रग्रन्थों की भी है कि प्राचीन संस्कृत भण्डार में से केवल गिनती के ग्रन्थ अब बच रहे हैं। अब हम शीघ्रता से उन शास्त्रों की आलोचना कर जांयगे कि जिन्होंने धीरे धीरे सूत्रों का रूप धारण किया। और पहिले हम धर्मशास्त्र को लेंगे। वैदिक बलिदानों के सम्बन्ध की रीतियों के विस्तार पूर्वक वर्णनों के संक्षिप्त ग्रन्थ बनाए गए और वे श्रौतसूत्र कहे जाते हैं। उन श्रौतसूत्रों में से ऋग्वेद का दो सूत्र अर्थात् आस्वलायन और सांख्यायन, सामवेद के तीन अर्थात् मासक, लात्यायन और द्राह्यायन; कृष्णयजुर्वेद के चार अर्थात् बौद्धायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब और हिरण्यकेशिन, और शुक्लयजुर्वेद के पूरे पूरे प्राप्त हैं। इन श्रौतसूत्रों का वर्णन हमारे पाठकों को रोचक न होगा तथापि इनके विषय में कुछ बातें उल्लेख करने योग्य हैं।

आस्वलायन प्रसिद्ध सौनक का शिष्य कहा जाता है और ऐसा कहा जाता है कि इन गुरु और शिष्य दोनों ने मिलकर ऐतरेय आरण्यक की अन्तिम दो पुस्तकें बनाई। इस बात से यह मनोहर वृत्तान्त विदित होता है कि सबसे पहिले के सूत्रग्रन्थों का ऐतिहासिककाव्य काल के ब्राह्मणों की अन्तिम दो पुस्तकों से लगाव है।

वास्तव में सौनक ऐतिहासिककाव्य काल में एक ध्यान के योग्य व्यक्ति है। यह कहा जाता है कि वही पूर्व जन्म में गृत्समद था जो-

कि ऋग्वेद की द्वितीय पुस्तक का वक्ता था। इससे कदाचित् यह अनुमान किया जा सकता है कि सौनक उसी कुल में हुआ था जिस कुल ने ऋग्वेद को कई शताब्दियों तक रक्षित रक्खा था। फिर जनमेजय पारिक्षित के प्रसिद्ध अश्वमेध में भी हम इन्हीं सौनक को पुरोहित पाते हैं। इससे हमलोग यह निश्चय करसकते हैं कि ऐतिहासिककाव्य काल में सौनकवंश प्रसिद्ध पुरोहितों और विद्वानों का एक कुल था। आश्चर्य नहीं कि सब से पहिले के सूत्रों के बनानेवाले इस पूज्यकुल से अपना सम्बन्ध जोड़ना चाहते हों।

यह अनुमान किया जाता है कि साङ्खायन स्रौतसूत्र भारतवर्ष के पश्चिमी भाग का है तथा आस्वलायन पूर्वीभाग का।

सामवेद के मासक स्रौतसूत्र में भिन्न भिन्न विधानों के भजनों का उल्लेख है, और लात्यायन में भिन्न भिन्न आचार्यों के मत दिए हैं और ये दोनों सूत्र सामवेद के वृहत ताण्ड्य वा पञ्चविंश ब्राह्मण से सम्बन्ध रखते हैं। द्राह्मायन में लात्यायन से बहुत थोड़ा अन्तर है। कृष्णयजुर्वेद के सूत्र उनके लिखे जाने के समय के अनुसार इस क्रम में रक्खे गए हैं अर्थात् बौद्धायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब, और हिरण्यकेशिन्। अप्राप्त भारद्वाजसूत्र का उद्धार करनेवाले डाक्टर बुहलर साहब ने यह बहुत ठीक कहा है कि बौद्धायन और आपस्तम्ब के समयों में दशाब्दियों का नहीं वरन् शताब्दियों का अन्तर है। उन्होंने आपस्तम्ब के धर्मसूत्र का जो अनुवाद किया है उसकी बहुतही उत्तम भूमिका में वे लिखते हैं कि सन् ईस्वी के पहिले दाक्षिणी भारतवर्ष में एक प्रबल हिन्दूराज्य अर्थात् अन्ध्रों का राज्य स्थापित होगया था, इस राज्य की राजधानी कृष्णा नदी के तट पर आज कल की अमरावती के निकट कहीं पर थी। इसी राजधानी में सम्भवतः आपस्तम्ब ने जन्म लिया अथवा यहाँ पर वह आकर बसा और यहीं उसने अपना सूत्र चरण स्थापित किया, और उसका समय ईसा के पहिले तीसरी शताब्दी के उपरान्त नहीं रक्खा जा सकता। आपस्तम्ब ने केवल छ वेदाङ्गों का ही नहीं वरन् पूर्व मीमांसा और वेदान्तलेखकों का भी उल्लेख किया है जिससे कि हम यह निश्चय करते हैं कि उसके समय के पहिले

भारतवर्ष में दार्शनिक लेखकों ने अपना काम प्रारम्भ कर दिया था।

शुक्लयजुर्वेद का श्रौतसूत्र कात्यायन ने बनाया है, जोकि प्रसिद्ध सौनक का शिष्य होने का भी दावा रखता है। कात्यायन वैय्याकरण पाणिनीय का समालोचक था और मैक्समूलर के अनुसार उसका समय ईसा के पहिले चौथी शताब्दी में है। पाणिनीय के समय के विषय में विद्वानों में बड़ा मत भेद है परन्तु हम इस झगड़े में नहीं पड़ेंगे क्योंकि यह कार्य्य बड़े बड़े विद्वानों का है। हम केवल प्रचलित मत को मानलेंगे कि यह वैय्याकरण अपने समालोचक के कुछ शताब्दी पहलेही हुआ होगा। कात्यायन सूत्र ने सतपथब्राह्मण का पूरी तरह से अनुकरण किया है और इस सूत्र के प्रथम १८ अध्याय इस ब्राह्मण के प्रथम नौ अध्यायों से मिलते है। लात्यायन की भाँति कात्यायन में भी मगधदेशीय ब्रह्मबन्धुओं का उल्लेख मिलता है जोकि सब से पहिले के बौद्ध समझे गए हैं।

अब श्रौतसूत्रों के उपरान्त हम धर्मसूत्रों का प्रसन्नता पूर्वक वर्णन करते हैं। इनमें इस समय के चाल व्यवहार और कानून का वर्णन है और इसलिये वे हमारे इतिहास के लिये बड़े ही काम के हैं। श्रौतसूत्रों में हम हिन्दुओं को बलिदान करते हुए पाते हैं, परन्तु धर्मसूत्रों में हम नगरवासियों की नाईं उनका वर्णन पाते हैं।

केवल इतना ही नहीं वरन् प्राचीन समय के ये धर्मसूत्र इससे भी अधिक ध्यान देने योग्य है क्योंकि ये ही मूल ग्रन्थ हैं जिनको उत्तरकाल में सुधार कर पद्य में स्मृतियाँ बनाई गई हैं जिनसे आज कल के हिन्दू परिचित हैं यथा मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियाँ। आज तीस वर्ष हुए कि इस बात को मैक्समूलर साहब ने दिखलाया था और तब से जो खोज हुई है उससे यह बात पूरी तरह से सिद्ध हुई है। मनुस्मृति के विषय में पहिले जो यह मिथ्या अनुमान किया जाता था कि वह कानून बनानेवालों और शासकों की बनाई हुई है यह भ्रम इस आविष्कार से पूरी तरह जाता रहा और अब

हम लोग यह जान गए कि ये स्मृतियाँ क्या हैं और वे कैसे और क्यों बनाई गई? वे मूल सूत्र के रूप में (जोकि बहुधा गद्य में हैं और कहीं कहीं गद्यपद्यमय भी हैं, परन्तु कहीं भी स्मृतियों की नाई लगातार पद्य में नहीं हैं) श्रौतसूत्रों की भाँति सूत्रचरणों के संस्थापकों द्वारा बनाई गई थीं और वे युवा हिन्दुओं को इसलिये रटाई जाती थीं जिसमें वे अपने पीछे के जीवन में यह न भूलें कि नगरवासी तथा समाज के सभ्य की भाँति उनके क्या कर्तव्य हैं। समाज के प्रत्येक जन के हृदय पर उनके धार्मिक, सामाजिक और स्मृतियुक्त धर्मों को अंकुरित करने के लिये हिन्दुओं ने जो उद्योग किया था उससे बढ़कर किसी जाति ने नहीं किया है।

जो धर्मसूत्र खोगए हैं और अब तक कहीं प्राप्त नहीं हुए हैं उनमें एक तो मानवसूत्र अर्थात् मनु का सूत्र है जिससे कि पीछे के समय में पद्यमय मनुस्मृति बनाई गई है। ऐसा जान पड़ता है कि सूत्रकाल में मनु का धर्मसूत्र इसी भांति सत्कार की दृष्टि से देखा जाता था जैसे कि आज कल पद्यमय मनुस्मृति देखी जाती है। सूत्रग्रन्थों में मनु का बहुधा उल्लेख किया गया है और डाक्टर बुहलर साहब ने वसिष्ठ और गौतम के धर्मसूत्रों में दो स्थानों पर मनु के उद्धृत वाक्य दिखलाए है।

जो धर्मसूत्र अभी तक मिले हैं उनमें से डाक्टर बुलहर ने ऋग्वेद के वासिष्ठसूत्र, सामवेद के गौतमसूत्र, और कृष्णयजुर्वेद के बौद्धायन और आपस्तम्ब सूत्रों का अनुवाद किया है।

समय के विचार से गौतम के धर्मसूत्र सब से प्राचीन हैं और हमें बौद्धायन के सूत्र में गौतम का एक पूरा अध्याय उद्धृत मिलता है और फिर वसिष्ठ ने वही अध्याय बौद्धायन से उद्धृत किया है। और हम यह भी देख चुके हैं कि आपस्तम्ब बौद्धायन के पीछे हुआ है।

हम श्रौतसूत्रों का उल्लेख कर चुके हैं जिसमें कि पूजा करनेवालों के धर्म दिए हैं और धर्मसूत्रों का भी वर्णन कर चुके हैं जिसमें कि नगरवासियों के धर्म हैं। परन्तु मनुष्य के पूजा करने

और नगरवासी होने के अतिरिक्त और भी धर्म और कर्तव्य हैं। उसे अपने घर के लोगों पर, पुत्र, पति, अथवा पिता की नाईं धर्म पालन करना पड़ता है। घरेलू घटनाओं के सम्बन्ध में उसे बहुत ही थोड़े विधान करने पड़ते थे और वे श्रौतसूत्रों के विस्तृत विधानों से बहुत भिन्न थे। इन गृह्यविधानों के लिये एक अलग नियम बनाने की आवश्यकता पड़ी और ये नियम "गृह्यसूत्रों" में दिए हुए हैं।

इन सीधे सादे गृह्यविधानों में, जोकि घर की अग्नि के निकट किए जाते थे और जिनमें बड़े बड़े यज्ञों की भांति विशेष चूल्हे नहीं जलाए जाते थे, बहुत सी मनोरञ्जक बातें हैं। घर की अग्नि प्रत्येक गृहस्थ अपने विवाह पर जलाता था और उसमें पाकयज्ञ के सीधे सादे विधान सुगमता से किए जाते थे। प्रोफेसर मेक्समूलर साहब कहते हैं कि "चूल्हे की अग्नि में एक लकड़ी रखना, देवतों को अर्घ देना, और ब्राह्मणों को दान देना, यही पाकयज्ञ में होता था।" गौतम ने सात प्रकार के पाकयज्ञ लिखे है—(१) अष्टका जोकि जाड़े में चार महीना किए जाते थे (२) पार्वण जोकि पूर्णिमा और अमावास्या को किए जाते थे (३) श्राद्ध अर्थात् पितरों को प्रतिमास अर्घ देना (४-७) श्रावणी, आग्रहायणी, चैत्री और आस्वयुजी जोकि उन महीनों की पूर्णमासी को किए जाते थे, जिनसे कि उनका नाम पड़ा है। इन विधानों का जो वृत्तान्त गृह्यसूत्रों में दिया है वह हिन्दुओं को बड़ा मनोरञ्जक होगा क्योंकि दो हजार वर्षों के बीत जाने पर भी हम लोग अब तक उन्हीं मनोरञ्जक विधानों को किसी को तो उसी प्राचीन नाम से और बहुतों को किसी दूसरे नाम और कुछ दूसरी तरह पर कर रहे हैं। गृह्यसूत्रों में उन सामाजिक विधानों के भी वृत्तान्त दिये हैं जोकि विवाहपर, पुत्र के जन्म में, उसके अन्नप्राशन पर, उसके विद्याध्ययन आरम्भ करने आदि में होते थे। और इस प्रकार से इन अमूल्य गृह्यसूत्रों से हमें प्राचीन हिन्दुओं के घरेलू जीवन का पूरा पूरा वृत्तान्त विदित हो जाता है।

ऋग्वेद के साङ्खायन और आस्वलायन गृह्यसूत्रों और शुक्ल-यजुर्वेद के पारस्करगृह्यसूत्र का हमने ओल्डनबर्ग साहब ने अनु-

वाद किया है। एक दूसरे ग्रन्थ का विज्ञापन दिया गया है जिसमें गोभिल आदि का अनुवाद होगा। परन्तु वह अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ *।

श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र, और गृह्यसूत्र को मिलाकर कल्पसूत्र कहते हैं। वास्तव में, ऐसा समझा जाता है कि प्रत्येक सूत्र चरण में एक पूरा कल्पसूत्र होता था जिनके विभागों का उल्लेख ऊपर किया गया है। परन्तु जितने सूत्र थे उनमें से बहुत से खो गए हैं और अब सूत्रग्रन्थों के केवल बहुत थोड़े अंश हम लोगों को प्राप्त हैं। आपस्तम्ब का पूरा कल्पसूत्र अब तक है और वह ३० प्रश्नों अथवा भागों में है। इनमें से पहिले २४ में श्रौतयज्ञों का वर्णन है। पच्चीसवें में व्याख्या करने के नियम हैं, छब्बीसवें और सत्ताईसवें में गृह्यविधानों का उल्लेख है, अट्ठाईसवें और उनतीसवें में धर्मसूत्र हैं, और तीसवें प्रश्न अर्थात् सुल्वसूत्र में रेखागणित की उन रीतियों का वर्णन है जिनसे कि श्रौतयज्ञों के लिये वेदियां बनाई जाती थीं। डाक्टर थीबो साहब ने इन मनोरंजक सुल्व सूत्रों से पाश्चिमात्य देशों को परिचित किया है। उनके ग्रन्थ के छपने से वान स्रेडर का यह मत दृढ़ होता है कि पिथेगोरस ने केवल पुनर्जन्म का सिद्धान्त ही नहीं वरन अपना गणितशास्त्र भी भारतवर्ष ही से ईसा के पहिले छठीं शताब्दी में सीखा था।

हमने यहां तक कल्पसूत्रों का वर्णन किया है, क्योंकि कल्पसूत्र इस समय के ग्रन्थों में सब से मुख्य और इतिहास के लिये सब से बहुमूल्य हैं। हमारे प्राचीन ग्रन्थकारों ने पांच अन्य वेदाङ्गों अर्थात् वैदिक विभागों की गणना की है और हम यहां संक्षेप में उनका उल्लेख करेंगे।

"शिक्षा"-उच्चारण करने का शास्त्र। इस बात को मानने के प्रमाण हैं कि इस शास्त्र के नियम पहिले आरण्यकों में और ऐति-

---

* उपरोक्त वाक्यों के लिखे जाने के उपरान्त यह ग्रन्थ प्रकाशित हो गया है।

हासिक काव्य काल के ब्राह्मणों में भी थे परन्तु दार्शनिक काल में इस शास्त्र पर अधिक उत्तम ग्रन्थ बनने के कारण उनका लोप हो गया। ये ग्रन्थ प्रातिसाख्य कहलाते हैं और इनमें वेद की प्रत्येक शाखा के सम्बन्ध में उनके उच्चारण करने के नियम हैं।

परन्तु बहुत से प्रातिसाख्य खो गए हैं और (सामवेद को छोड़कर) प्रत्येक वेद का केवल एक एक प्रातिसाख्य हम लोगों को अब तक प्राप्त है। ऋग्वेद का प्रातिसाख्य प्रसिद्ध सौनक का बनाया कहा जाता है। इसी भांति शुक्ल यजुर्वेद का एक प्रातिसाख्य भी वर्तमान है और वह कात्यायन का बनाया हुआ कहा जाता है। कृष्ण यजुर्वेद और अथर्ववेद के भी एक एक प्रातिसाख्य हैं परन्तु उनके ग्रन्थकारों के नाम अब विस्मृत हो गए हैं। हमारे पाठकों को यह बात बड़ी मनोरंजक होगी कि कृष्णयजुर्वेद के प्रातिसाख्य में जिन ऋषियों के नाम हैं उनमें एक वाल्मीकि भी हैं।

छन्दों का उल्लेख वेदों में किया गया है और आरण्यकों और उपनिषदों में उसके लिये पूरे अध्याय के अध्याय लगाए गए हैं। परन्तु जो दशा शिक्षा की है, वही छन्दों की है अर्थात् छन्दों का शास्त्र की नाईं वर्णन पहिले पहिल हमको सूत्रग्रन्थों ही में मिलता है। ऋग्वेद के छन्दों के विषय में इस वेद के प्रातिसाख्य के अन्त में कुछ अध्याय हैं। सामवेद के लिये प्रसिद्ध निदानसूत्र है।

व्याकरण के विषय में सुयोग्य पाणिनि के सुयश ने उस समय के और सब वैय्याकरणों को अन्धकार में डाल दिया है। पाणिनि भारतवर्ष के उत्तरपश्चिमी कोने के छोर में था और वहाँ ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों का, जोकि अधिकतर गंगा और यमुना के किनारों पर बनाए गए थे, बहुत कम प्रचार वा सत्कार था। अतएव पाणिनि भी इनसे बहुत कम परिचित था। डाक्टर गोल्ड स्टूकर साहब का यह सिद्धान्त ठीक है कि पाणिनि बुद्ध के पहिले हुआ था।

इसी भांति निरुक्तशास्त्र में यास्क के नाम ने (जोकि डाक्टर

गोल्डस्टूकर तथा अन्य विद्वानों के मत से पाणिनि के पहिले हुआ है) अपने पूर्वजों के नाम को अन्धकार में डाल दिया है और हमको उनके विषय में जो कुछ पता लगता है वह यास्क के ग्रन्थों से ही लगता है। लोग यह बहुधा भूल करते हैं कि यास्क के ग्रन्थ को 'निरुक्त' कहते हैं। सायन लिखता है कि निरुक्त एक ऐसे ग्रन्थ को कहते हैं जिसमें थोड़े शब्द दिए हुए हों। यास्क ने ऐसा एक पुराना निरुक्त लेकर उस पर टीका लिखी है और यह टीका ही उसका ग्रन्थ है।

कोलब्रूक साहब ने प्रत्येक वेद के ज्यौतिष पर भिन्न भिन्न ग्रन्थों का उल्लेख किया है और इनमें से एक को, जिसकी टीका भी है, वे 'ऋग्वेद का ज्यौतिष' कहते हैं। परन्तु प्रोफ़ेसर मेक्समूलर साहब ने पता लगाया है कि ये सब ग्रन्थ एक ही ग्रन्थ की भिन्न भिन्न प्रतियाँ हैं और उनका यह विश्वास है कि यह ग्रन्थ सूत्रों के समय के उपरान्त बनाया गया था, यद्यपि उसमें जो सिद्धान्त और नियम दिए हैं वे हिन्दू ज्यौतिष के सब से प्रथम समय के हैं। उसका प्रायोगिक उद्देश्य यह है कि नक्षत्रों के विषय में इतना ज्ञान होजाय जिसमें कि यज्ञों के करने का समय नियत हो सके और धर्मसम्बन्धी कार्यों के लिये एक पंचाङ्ग बन सके। अतएव इस ग्रन्थ के बनने का समय चाहे कितना ही पीछे का क्यों न हो पर उसमें भारतवर्ष के ऐतिहासिक काव्य काल के अर्थात् जब कि वेद संग्रहीत करके ठीक किए गए थे उस समय के निरीक्षणों का फल दिया है और इसलिये ये उस समय के प्रमाण हैं जिनका कि सहज में तिरस्कार नहीं करना चाहिए।

उपरोक्त छ वेदांगों के सिवाय एक दूसरी श्रेणी के ग्रन्थ भी हैं जो 'अनुक्रम' कहलाते हैं और ये भी सूत्रग्रन्थों से सम्बन्ध रखते हैं। ऋग्वेद की अनुक्रमणी कात्यायन की बनाई हुई कही जाती है और उसमें प्रत्येक सूक्त का पहिला शब्द, ऋचा की संख्या, उसके बनानेवाले का नाम, छन्द और देवता का नाम दिया है। ऋग्वेद की कई प्राचीनतम अनुक्रमणियां भी थीं परन्तु उन सब का स्थान कात्यायन के अधिक पूर्ण ग्रन्थ ने ले लिया है।

यजुर्वेद की तीन अनुक्रमणियाँ हैं अर्थात् एक तो ऐत्रेय कृष्ण-यजुर्वेद के लिये, दूसरी चरक के लिये और तीसरी माध्यन्दिन शुक्लयजुर्वेद के लिये।

सामवेद की एक प्राचीन सूची आर्षेय ब्राह्मण में है और कुछ सूची परिशिष्टों में है। अथर्ववेद की एक अनुक्रमणी का पता बृटिश म्यूज़ियम में लगा है।

हमको अभी दार्शनिक काल के सब से उत्तम ग्रन्थों का वर्णन करना बाकी ही है। ऐतिहासिक काव्य काल के अन्त में उपनिषदों में जिन सिद्धान्तों और दार्शनिक खोजों का आरम्भ हो गया था उनसे उन गहरे अनुसंधानों और गूढ़ विचारों का प्रारम्भ हुआ जो षट्दर्शनशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रोफ़ेसर वेबर साहब ने यह बहुत ठीक कहा है कि हिन्दुओं के मन ने दर्शनशास्त्र और व्याकरण में अपनी विचारशील शक्ति का सब से अद्भुत परिचय दिया है। भौतिक पदार्थ और जीव, सृष्टि की उत्पत्ति और पुनर्जन्म के गूढ़ से गूढ़ विषयों का वर्णन सांख्यदर्शन में उपनिषदों की नाई अनुमान की भाँति नहीं, वरन् अविचल शास्त्रीय नियमों और तर्कशास्त्र के अटल सिद्धान्तों के साथ दिया है। अन्य लोगों ने भी सांख्यदर्शन का अनुकरण किया और जीव और मन, सृष्टि और सृष्टिकर्ता के भेदों को जानने के लिये अन्वेषण किया।

कट्टर हिन्दूलोग इन विचारों के प्रचार से भयभीत होने लगे और उन्होंने इसके विरुद्ध कार्य आरम्भ किया। उसका फल वह वेदान्त है जोकि उपनिषदों के मत का पुनरुल्लेख करता है और जो वर्तमान समय में हिन्दुओं के धर्मसम्बन्धी विश्वासों का मूल है। परन्तु इसी बीच में दार्शनिक सम्मतियों से एक अधिक प्रबल विचार वेग आरम्भ हो गया था। गौतम बुद्ध इसी के पहिले छठीं शताब्दी में हुआ और गरीब और नीच लोगों को यह शिक्षा देनेलगा कि वैदिक विधान निरर्थक हैं, और पवित्र शान्त और परोपकारी जीवन ही धर्म्म का सार है और जो लोग पवित्रता और शुद्धता के लिये यत्न करते हैं उनमें जाति भेद नहीं रहता। इस विचार को

हजारों मनुष्यों ने स्वीकार किया और इस प्रकार भारतवर्ष में बुद्ध का धर्म फैलने लगा यहां तक कि समय पाकर वह समस्त एशिया का धर्म हो गया।

ऊपर इस काल के ग्रन्थों का जो संक्षिप्त वर्णन दिया गया है उस से पाठकों को हिन्दूसभ्यता के इस अति चमत्कृत काल के मानसिक उत्साह का कुछ बोध हो जायगा। इसमें गृहस्थों के लिये धार्मिक अधिकार और कर्तव्य स्पष्टता और संक्षेप के साथ नियत किए गए।

अध्याय २

——:o:——

हिन्दुओं का फैलाव ।

दार्शनिक काल में भारतवर्ष के इतिहास का एक नया वृत्तान्त विदित होता है । अर्थात् इसी काल में यूनानी लोग भारतवर्ष में आए और उन्होंने यहां का वृत्तान्त लिखा । भारतवर्ष के वैदिक-काल की शताब्दियों में युनानियों की सभ्यता और उनका जातीय जीवन आरम्भ नहीं हुआ था । और ट्रोजन युद्ध के असभ्य योधाओं को भी अपने समकालीन और दूरदेशी सभ्य हिन्दुओं का बहुत कम वृत्तान्त विदित था । अतएव यूनानी साहित्य से भारतवर्ष के इतिहास के प्रथम दो कालों का कुछ वृत्तान्त विदित नहीं होता । जिस यूनानी ने पहिले पहिल भारतवर्ष से विद्या प्राप्त की कि वह दर्शनशास्त्रज्ञ पिथेगोरेस समझा जाता है । वह ईसा के पहिले छठीं शताब्दी में हुआ, अर्थात् हिन्दू इतिहास के दार्शनिक काल में । और उसके सिद्धान्तों और विचारों से उस समय के हिन्दुओं के विचारों का कुछ पता लगता है । उसने उपनिषदों तथा हिन्दुओं के प्रचलित विश्वासों से पुनर्जन्म होने तथा अन्त में मुक्ति पाने का सिद्धान्त सीखा । और उसने जिन कठोर नियमों का पालन करने तथा मांस और सेम न खाने के लिये लिखा है । यह भी उसने भारतवर्ष ही से सीखा था । उसने अपनी रेखागणित सल्वसूत्रों से सीखी है, संख्याओं के गुणों के विषय में उसके विचार सांख्यदर्शन से उद्धृत हैं, और उसका पांच तत्वों का सिद्धान्त तो भारतवर्ष के सिद्धान्त से बिलकुल मिलता है ।

प्रसिद्ध यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस ईसा से पांचवीं शताब्दी पहिले हुआ । वह स्वयं भारतवर्ष में नहीं आया था । फिर भी उसने भारतवर्ष का जो इतिहास सुन कर लिखा है वह बड़ा बहु-

मूल्य है, यद्यपि उसने उसमें दन्त कथायें भी मिला दी हैं और प्रायः भ्रम से हिन्दुओं के स्थान पर उन असभ्य आदिमवासियों की चाल व्यवहार का वर्णन किया है जो कि भारतवर्ष के बड़े बड़े भागों में उस समय तक बसे थे। हेरोडोटस् लिखता है कि हिन्दू-लोग उस समय की जातियों में सब से बड़े थे, वे कई जातियों में बँटे हुए थे और जुदी जुदी भाषाएँ बोलते थे, उन्होंने अपने देश में बहुत सा सोना एकत्रित किया था, भारतवर्ष में और देशों की अपेक्षा बड़े चौपाए और चिड़ियां अधिकता से होते थे और उसमें जंगली पौधे होते थे जिनमें ऊन (रुई) उत्पन्न होता था जिससे कि वे लोग अपने लिये कपड़ा बनाते थे। (III. 94-106) एक दूसरे स्थान पर वह थ्रेसियन के विषय में लिखता है कि वे लोग हिन्दुओं को छोड़ कर और सब जातियों से बड़े थे। (V, 3) हेरो-डोटस् और भी एक बात लिखता है जोकि कदाचित सच्ची ऐति-हासिक घटना है अर्थात् उसने लिखा है कि पारस के राजा दारा ने भारतवर्ष का कुछ भाग जीत लिया था और उसके जहाज सिन्धु नदी में होकर समुद्र तक गए थे (IV, 44)।

और अन्त में, ईसा के पहिले चौथी शताब्दी में मेगास्थनीज़ भारतवर्ष में आया था और पाटलिपुत्र अर्थात् प्राचीन पटना के राजा चन्द्रगुप्त के दर्बार में रहा था। और यद्यपि उसका बनाया हुआ मूल इतिहास अब नहीं मिलता तथापि उसके अंश बहुत सी उत्तरकाल की पुस्तकों में उद्धृत मिलते हैं। इनका संग्रह बोन के डाक्टर स्वानबेक ने किया है और मिस्टर मेकक्रिंडल ने उनका अंग्रेज़ी में अनुवाद किया है। ये भारतवर्ष के इतिहास के लिये बड़े ही उपयोगी हैं और हमको इन्हें बहुधा उद्धृत करने का अव-सर मिलेगा। पैथेगोरेस हेरोडोटस् और मेगास्थनीज़ दार्शनिक काल की इन तीनों शताब्दियों में अर्थात् ईसा के पहिले छठीं, पांचवीं और चौथी शताब्दियों में भारतवर्ष की उच्च सभ्यता के साक्षी हैं।

हम देख चुके हैं कि ऐतिहासिक काव्य काल के अन्त तक दिल्ली से लेकर उत्तरी बिहार तक गंगा और यमुना की सारी घाटी जीती

जा चुकी और हिन्दुओं की हो चुकी थी। हम यह भी देख चुके हैं कि उस काल के बिलकुल अन्त में अर्थात् ईसा के लगभग १००० वर्ष पहिले हिन्दू अधिवासी, उद्योगी और यात्री लोग अज्ञातभूमि में दूर दूर अर्थात् दक्षिणीबिहार, मालवा, दक्षिण और गुजरात तक जा घुसे थे। और हम यह भी देख चुके हैं कि ये अनार्य देश धीरे धीरे हिन्दुओं को विदित होते जाते थे और ऐतिहासिक काव्य काल के अन्त तथा दार्शनिक काल के प्रारम्भ में धीरे धीरे हिन्दुओं के अधिकार में आते जाते थे।

हिन्दू लोग आगे की ओर विजय करते गए और आदिवासी उनकी उच्च सभ्यता और उत्तम धर्म को स्वीकार करते गए। उन्हों ने नदियों को पार किया, जंगलों को साफ़ किया, भूमि को काम में लाने योग्य बनाया, उजाड़ भूमि को बसाया और उन नए देशों में जो अब तक आदिवासियों के थे, हिन्दूशासन और हिन्दूधर्म का प्रचार हुआ। जहां पहिले थोड़े से लोग जा घुसे थे वहां नई प्रबल बस्तियां हो गईं और जहां धार्मिक आचार्य लोग एकान्त में जा बसे थे उन स्थानों पर शान्त गांव और नगर हो गए। जिन स्थानों पर दो चार व्यापारी लोग किसी अविदित नदी द्वारा जा पहुंचे थे वहां अब सभ्य लोगों के काम की अमूल्य वस्तुओं से लदी हुई नावें आती जाती थीं। जहां किसी राज्यवंश का कोई मनुष्य देश से निकाला जा कर वा शिकार के लिये आ बसा था, वहां अब एक हरा भरा राज्य दिखाई देता था जिसकी प्रजा वेही आदिमवासी लोग थे जो कि जीते जा कर सभ्य और हिन्दू हो गए थे। और जहां जंगलियों ने कुछ पेड़ गिरा कर जंगल का थोड़ा सा भाग साफ कर लिया था वहां अब कोशों दूर तक फैले हुए सुहावने खेत दिखाई देते थे जिनमें कि हरेभरे अनाज के पेड़ लहरा रहे थे और सभ्यता की उन्नति की साक्षी दे रहे थे।

एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में तथा एक शताब्दी से दूसरी शताब्दी में आर्यों के विजय का इतिहास इस प्रकार है। और प्रत्येक सूत्रग्रन्थ से यथाक्रम यही विदित होता है कि सभ्यता की उन्नति तथा असभ्यता की कमी होती गई। दार्शनिक काल के

समाप्त होने अर्थात् ईसा के पहिले चौथी शताब्दी के बहुत पहिले ही हमलोग सारे भारतवर्ष को बसाया हुआ, सभ्य तथा हिन्दू बनाया हुआ पाते हैं और आदिमनिवासी लोग केवल उन पहाड़ियों और जंगलों में रह गए थे जिनको जीतने से आर्य लोग घृणा करते थे। इनमें केवल विजय करने का ही इतिहास नहीं है कि जो दर्शन-शास्त्र जाननेवालों के लिये मनोरञ्जक न हो। इनमें तब तक अविदित देशों और आदिबासी जातियों में हिन्दू सभ्यता के प्रचार की भी कथा है। दक्षिण के अन्ध्रलोग, गुजरात के सौराष्ट्र लोग, दक्षिणी भारतवर्ष के चोल, चेरा और पांड्य लोग और पूर्वी भारतवर्ष के मगध, अङ्ग, वङ्ग और कलिङ्ग लोगों ने हिन्दू आर्यों के श्रेष्ठ धर्म्म भाषा और सभ्यता को ग्रहण कर लिया था। यह दार्शनिक काल का सब से बड़ा कार्य है।

बौधायन सम्भवतः ईसा के पहिले छठीं शताब्दी में हुआ है और जैसा कि हम पहिले देख चुके हैं वह सब से पहिले के सूत्र-कारों में से है। उसके समय में हिन्दुओं के राज्य और सभ्यता की सीमा दक्षिण में कलिङ्ग वा पूर्वी समुद्रतट तक थी और आधुनिक उड़ीसा से लेकर दक्षिण की ओर कृष्णा नदी के मुहाने तक फैली हुई थी। नीचे उद्धृत किए हुए वाक्य मनोरञ्जक हैं क्योंकि उनसे विदित होता है कि गंगा और यमुना की घाटी का प्राचीन आर्यदेश तब तक भी आर्यों के लिये योग्य निवास स्थान समझा जाता था और वह देश जिसमें की अनार्य जातियां अभी ही हिन्दू बनाई गई थीं तुच्छता की दृष्टि से देखा जाता था।

(९) "आर्यों का देश (आर्यावर्त्त) उस देश के पूरब में है जहां कि यह नदी (सरस्वती) लोप होती है, यह कालक बन के पश्चिम, पारिपात्र (विन्ध्यपर्वत) के उत्तर और हिमालय के दक्षिण में है। उस देश के चाल व्यवहार के नियम प्रामाणिक हैं।

(१०) "कुछ लोग कहते हैं कि यह यमुना और गंगा के बीच का देश (आर्यावर्त्त) है।

(११) "अब भाल्लविन लोग भी नीचे लिखे हुए वाक्य कहते हैं।

(१२) "पश्चिम में सीमा की नदी, पूरब में वह देश जहां कि सूरज ऊगता है, उतनी दूर तक जहां कि काले हिरन घूमते हैं वहां तक धर्म्म की श्रेष्ठता पाई जाती है।

(१३) "अवन्ति (मालवा), अंग (पूर्वी बिहार), मगध (दक्षिणी बिहार), सौराष्ट्र (गुजरात), दक्षिण, उपावृत्त, सिन्ध और सौवीरस (दक्षिणी पंजाब) के निवासी लोग मिश्रित जाति के हैं।

(१४) "जिसने आरत्तों (पंजाब में), कारक्षरों (दक्षिणी भारतवर्ष में), पुन्द्रों (उत्तरी बंगाल में), सौवीरों (पंजाब में) बंगों (पूर्वी बंगाल में), कलिंगों (उड़ीसा में), वा प्रानूतों से भेंट की है उस को पुनस्तोम वा सर्वपृष्ठयज्ञ करना चाहिए।" (बौद्धायन १,१,२)

उपरोक्त वाक्य मनोरञ्जक हैं क्योंकि उनसे हमको मालूम होता है कि दार्शनिक काल के आरम्भ में हिन्दुओं का फैलाव कहां तक था, और उनसे यह भी विदित होता है कि हिन्दू लोग तीन श्रेणियों में विभाजित थे जोकि सत्कार की भिन्न भिन्न दृष्टि से देखी जाती थीं। पहिली श्रेणी के लोग आर्यावर्त्त में रहते थे जो कि सरस्वती से लेकर बिहार की सीमा तक और हिमालय से लेकर विन्ध्याचल पर्वत तक था। यह बात विचित्र है कि पंजाब, जो कि वैदिक समय में आर्यों का सब से प्राचीन निवासस्थान था, वह आर्यावर्त्त में सम्मिलित नहीं है। यह देश तब से पीछे के समय में हिन्दुओं के धर्म्म और सभ्यता की उन्नति में पिछड़ता रहा है और उसका उल्लेख ऐतिहासिक काव्य काल के ग्रन्थों में भी बहुत ही कम पाया जाता है।

दूसरी श्रेणी के लोग, जोकि मिश्रित जाति के कहे गए हैं, उस देश में रहते थे जिसमें कि दक्षिणी पंजाब, सिंध, गुजरात, मालवा, दक्षिण और दक्षिणी और पूर्वी बिहार सम्मिलित हैं। यदि पाठकगण हमारे दूसरे कांड के चौथे अध्याय को देखेंगे तो उनको विदित होगा कि ये वही देश हैं जोकि ऐतिहासिक काव्य काल के अंत में हिन्दुओं को बहुत थोड़े अंश में मालूम होते जाते थे। दार्शनिक काल के प्रारम्भ में वे हिन्दुओं के देश हो गए थे और हिन्दुओं

का अधिकार और उनकी सभ्यता का प्रचार इनके आगे के उन अन्य देशों में भी होने लगा था जिनके निवासी तीसरी श्रेणी के समझे जाते थे। इस तीसरी वा अन्तिम श्रेणी के देश में पञ्जाब में आरत्त लोगों का देश, उड़ीसा, पूर्वी और उत्तरी बंगाल और दक्षिणी भारतवर्ष के कुछ भाग सम्मिलित हैं। इन देशों में जो लोग यात्रा करते थे उनको अपने पापों का प्रायश्चित्त करने के लिये यज्ञ करना पड़ता था। यह–ईसा के पहले छठीं शताब्दी के लगभग–हिन्दुओं के देश की सब से अन्तिम सीमा थी।

दक्षिणी भारतवर्ष के भागों में इस समय तक हिन्दू लोग केवल बसही नहीं गए थे परन्तु ये देश हिन्दूराज्य और न्याय और विद्या के सम्प्रदाय के मुख्य स्थान हो गए थे जैसा कि बौद्धायन के लिखने से विदित होता है–बौद्धायन स्वयं कदाचित् दक्षिण का रहनेवाला हो–कम से कम वह दक्षिणी भारतवर्ष की विशेष चालव्यवहारों और रीतियों का सावधानी से वर्णन करता है।

हम उसका एक वाक्य उद्धृत करेंगे—

(१) दक्षिण और उत्तर में पांच कर्म्मों में भेद है।

(२) हम दक्षिण की विशेषता को वर्णन करेंगे।

(३) "वे ये हैं–अदीक्षित मनुष्य के संग खाना, अपनी पत्नी के संग खाना, बासी खाना, मामा या चाचा की कन्या से विवाह करना *।

(४) "अब उत्तर देश की जिन रीतियों में विशेषता है वे ये हैं–ऊन बेचना, शराब पीना, उन पशुओं को बेचना जिनके ऊपर और नीचे के जबड़े में दांत होते हैं, शस्त्र का व्यवसाय करना और समुद्र यात्रा करना †।

---

* डाक्टर बुहलर कहते हैं कि दक्षिण के देशस्थ और करहाड़ ब्राह्मणों में ऐसा विवाह अब तक प्रचलित है।

† उत्तर काल के अधपतन ने: समुद्र यात्रा रोक दी है।

(५) "जिस देश में ये व्यवहार प्रचलित हैं उसके अतिरिक्त दूसरे देश में वे पाप समझे जाते हैं।

(६) "इनमें से प्रत्येक काम के लिये किसी देश का व्यवहार ही प्रमाण समझा जाना चाहिए।

(७) "गौतम कहते हैं कि यह झूठ है।" [बौद्धायन १, १, २]।

अब हम बौद्धायन को छोड़कर भारतवर्ष के दूसरे सूत्रकार को लेते हैं। यदि बौद्धायन का समय ईसा के पहिले छठीं शताब्दी में समझा जाय तो आपस्तम्ब सम्भवतः पांचवी शताब्दी में हुआ*। इस में कदाचित् सन्देह नहीं है कि आपस्तम्ब अन्ध्रों के राज्य और समय में रहता था। इस बड़े साम्राज्य में गोदावरी और कृष्णा के बीच के सब देश सम्मिलित हैं। डाक्टर बुहलर साहब विचारते हैं कि इस साम्राज्य की राजधानी कृष्णा के तट पर आज कल की अमरावती के निकट थी। आपस्तम्ब तैत्तिरीय आरण्यक के अन्ध्र ग्रन्थ को मानता था और उसकी शिक्षा आजतक नासिक, पूना, अहमदाबाद, सूरत, शोलापुर, कोल्हापुर और दक्षिण के दूसरे देशों के उन ब्राह्मणों में जो कि आपस्तम्बीय हैं बड़े सत्कार से मानी जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दक्षिणी भारतवर्ष का विजय, जो कि ऐतिहासिक काव्य काल के अन्त में आरम्भ किया गया था आगे की शताब्दियों में होता रहा। छठीं शताब्दी तक बंगाल, उड़ीसा गुजरात और दक्षिण विजय कर लिया गया था और उनमें रहनेवाले लोग आर्य्य बना लिए गए थे, और पांचवीं शताब्दी तक दक्षिण में कृष्णा नदी तक एक बड़ा हिन्दुओं का साम्राज्य स्थापित हो गया था। ईसा के पहिले चौथी शताब्दी तक कृष्णा नदी के दक्षिण का संपूर्ण दक्षिणी भारतवर्ष हिन्दुओं का हो गया था और उनमें कोलों, चेरों

---

* डाक्टर बुहलर भाषातत्व के सिद्धान्तों के अनुसार आपस्तम्ब का समय ई० पू० तीसरी शताब्दी में स्थिर करते हैं। परन्तु दूसरे कारणों से वे उस सूत्रकार का समय १५०,२०० वर्ष पीछे अर्थात् पाचवीं शताब्दी में रखते हैं।

और पांड्यों के तीन बड़े २ हिन्दू साम्राज्य स्थापित हो गए थे जो कि दक्षिण में कन्याकुमारी तक फैले हुए थे और लङ्का भी जानी जा चुकी थी। जब हम इस (चौथी) शताब्दी के अन्त में आते हैं तो हमको सूत्रग्रन्थों के फुटकाट वाक्यों के अन्धकार से युनानियों का लिखा हुआ भारतवर्ष का प्रकाशमय इतिहास मिलता है। क्योंकि इसी शताब्दी में सिल्यूकस का राजदूत मेगास्थनीज़ भारतवर्ष में आया था और पाटलिपुत्र (प्राचीन पटना) में ईसा के पहिले सन् ३१७ से लेकर ३१२ तक चन्द्रगुप्त के दरबार में रहा था।

मेगास्थनीज़ ने भारतवर्ष की जातियों और राज्यों का पूरा और समझ में आने योग्य वृत्तान्त लिखा है और उससे हमको दार्शनिक काल के अन्त में भारतवर्ष की अवस्था का स्पष्ट ज्ञान होता है।

ईसा के पहिले चौथी शताब्दी में भारतवर्ष में प्राच्य लोग, जिससे कि हम को मगध लोगों को समझना चाहिए, सब से प्रबल हो गए थे, जैसा कि ऐतिहासिक काव्य काल में कुरु, पाञ्चाल, विदेह, और कोशल लोग हो गए थे।

उनकी राजधानी पाटलिपुत्र था जो कि एक भरापूरा नगर था और ८० स्टडिया अर्थात् ९ मील लम्बा [१ स्टडिया=२०२½ अंगरेज़ी गज़] और १५ स्टडिया अर्थात् लगभग दो मील चौड़ा कहा गया है। वह समचतुर्भुज के आकार का था और चारो ओर काठ की दीवार* से घिरा हुआ था जिसमें तीर चलाने के लिये छेद बने हुए थे और सामने रक्षा के लिये एक खाई थी।

---

* यह काठ की दीवार ईसा के उपरान्त पांचवीं शताब्दी तक खड़ी थी जब कि उसे चीन के यात्री फाहियान ने देखा था। फाहियान लिखता है "शहर में जो राजा के महल हैं उनकी दीवारों के पत्थरों का संग्रह देवों ने किया था। खिड़कियों पर शोभा के लिये संतराशी की जो चित्रकारी खुदी थी वैसी इस समय में कदापि नहीं बन सकती। वे अब तक वर्तमान हैं।"

यह मालूम होगा कि सारा उत्तरी भारतवर्ष चन्द्रगुप्त के प्रबल और विस्तृत राज्य में सम्मिलित नहीं था, क्योंकि मथुरा और करसीबोरा में बहती हुई यमुना पाटलिपुत्र की राजधानी में कही गई है। यहां के लोग भारतवर्ष की और सब जातियों से बल और यश में प्रबल थे और उनके राजा चन्द्रगुप्त की सेना में ६००,००० पैदल सिपाही, ३०,००० सवार और ६००० हाथी थे "जिससे कि उसके बल का अनुमान किया जा सकता है।"

फाहियान के थोड़े ही समय पीछे पाटलिपुत्र का पतन होगया क्योंकि जब ईसा की सातवीं शताब्दी में ह्वेनत्सांग यहां आया तो उसने सिवाय खँडहर और एक गांव के जिसमें दो तीन सौ मकान थे और कुछ न देखा। सन् १८७६ में एक तालाब बनाने के लिये जो भूमि खोदी गई थी उसमें कुछ वस्तुएं निकली हैं जोकि मेगास्थनीज़ की वर्णन की हुई काठ की दीवार का टूटन फूटन समझी गई हैं। पटने में रेलवे स्टेशन और चौक के बीचो बीच खोदनेवालों ने जमीन से १२ या १५ फीट नीचे एक लम्बी ईटों की दीवार पाई थी जोकि उत्तर पश्चिम कोण से लेकर दक्षिण पूरब कोण तक थी। इस दीवाल के समानान्तर एक कटघरों की पंक्ति थी जिसकी मजबूत लकड़ियां दीवार की ओर थोड़ी झुकी हुई थीं। एक स्थान पर एक रास्ता या फाटक मालूम होता था, जहां कि दो लकड़ी के खम्भे ८ या ९ फीट ऊंचे उठे हुए थे परन्तु उनके ऊपर का चौकठ नहीं था। कुछ कूएं भी पाए गए थे जिनमें टूटे हुए मिट्टी के बर्तन भरे हुए थे। उनमें से एक कूआं साफ किया गया जिसमें साफ पीने का पानी निकला और जो कूड़ा बाहर निकाला गया था उसमें बहुत से लोहे के भालों के शिर पाए गए थे। मेकक्रिण्डल साहेब की 'मेगास्थनीज़ ऐण्ड एरियन' नामक पुस्तक का पृष्ठ २०७ का नोट देखो।

दक्षिणी बंगाल के विषय में मेगास्थनीज़ लिखता है कि कलिंग लोग समुद्र के सब से निकट रहते थे, मंडू और मल्ली लोग उसके ऊपर, गंगे रीव लोग गंगा के मोहाने पर, और मध्य-कलिंग लोग गंगा के एक टापू में।

यह असम्भव है कि इनमें से पहिले और अन्तिम नामों से हम लोग कलिंग का प्राचीन नाम न जान सकें जिसमें कि उड़ीसा और बंगाल का समुद्रतट सम्मिलित है। मेगास्थनीज़ कलिंग की राजधानी पार्थलिस बतलाता है। इसके प्रबल राजा के पास ६०,००० पैदल सिपाही, १००० घोड़े और ७०० हाथी थे।

गंगा नदी के एक बड़े टापू में मध्य-कलिंग लोगों का निवास कहा गया है और उनके आगे कई बड़ी बड़ी जातियां एक राजा के राज्य में रहती थीं जिसके पास ५०,००० पैदल सिपाही, ४००० सवार और ४०० हाथी थे।

उनके आगे अंडरी लोग रहते थे जिससे कि दक्षिणी भारतवर्ष के अन्ध्र लोगों को न समझना असम्भव है।

अन्ध्र एक बहुत बड़ी जाति थी जो कि पहिले पहिल गोदावरी और कृष्णा के बीच में आ बसी थी। परन्तु मेगास्थनीज़ के समय के पहलेही उसने अपना राज्य उत्तर में नर्वदा तक फैला दिया था। मेगास्थनीज़ लिखता है कि वह एक प्रबल जाति थी जिसके पास बहुत से गावँ और दीवारों से घिरे हुए ३० नगर थे और जिस के राजा के पास १००,००० पैदल सिपाही, २००० सवार और १००० हाथी थे।

उत्तर पश्चिम की छोर पर मेगास्थनीज़ लिखता है कि ईसरी, कोसिरी, और अन्य जातियाँ थीं जो कि कदाचित काश्मीर या उस के आस पास होंगी।

सिंध नदी प्राच्यों के देश की सीमा कही गई है जिससे यह समझना चाहिए कि मगध का प्रबल और विस्तृत राज्य पंजाब की

सीमा तक फैला हुआ था और उसमें समस्त उत्तरी भारतवर्ष सम्मिलित था।

मेगास्थनीज़ के समय में आधुनिक राजपुताने के बहुत से भागों में आदिवासी जातियां अब तक भी थीं जो कि ऐसे जंगलों में रहती थीं जहां के चीते भयानकता के लिये प्रसिद्ध थे। उसमें उन जातियों का वर्णन लिखा है जो कि बियाबान से घिरी हुई उपजाऊ भूमि में रहती थीं और उन जातियों का भी वर्णन है जो कि समुद्रतट के समानान्तर की लगातार पर्वतश्रेणी पर रहती थीं। उसने उन जातियों का भी उल्लेख किया है जो सब से ऊंचे पर्वत कपित-लिया—जिससे कि आबू समझना चाहिए—से घिरे हुए स्थान में रहती थीं। फिर उसने होरेटी लोगों का उल्लेख किया है जो कि निस्सन्देह सौराष्ट्र लोग थे। उनकी राजधानी समुद्रतट पर थी और वह बड़ा वाणिज्यस्थान था और उनके राजा के पास १६००० हाथी, १५०,००० पैदल सिपाही और ५००० सवार थे।

"उसके उपरान्त पेंड्री जाति थी और यह भारतवर्ष में केवल एक ही ऐसी जाति थी जिसका शासन स्त्रियां करती थीं। वे कहते हैं कि हरक्यूलिज़ की केवल एक ही कन्या थी और इसलिये वह उसे बहुत ही प्रिय थी। उसने उसे एक बड़ा राज्य दिया। उसकी सन्तति २०० नगरों पर राज्य करती थी और उनके पास १५०,००० पैदल सिपाही और ५०० हाथी थे"।

यह आधी कल्पित कथाओं से मिला हुआ मेगास्थनीज़ का वर्णन पाण्डव लोगों के विषय में है जोकि दक्षिणी भारतवर्ष के छोर पर राज्य करते थे। इन पाण्डवों का एक अद्भुत इतिहास है।

कृष्ण के साथ जो यादव लोग मथुरा को छोड़ कर गुजरात में द्वारिका में आ बसे थे वे वहां बहुत काल तक नहीं रहे। उनमें परस्पर लड़ाई होने लगी और मरकट कट जो बचे उन्हों ने समुद्र के मार्ग से द्वारिका छोड़ दी। ऐसा विश्वास किया जाता है कि वे लोग दक्षिणी भारतवर्ष में आए और वहां एक नया राज्य स्थापित किया। वे लोग अपने को पाण्डव सम्भवतः इसलिये कहते थे क्योंकि वे

पाण्डवों की जाति के होने का दावा करते थे और उन्होंने अपनी नई दक्षिण की राजधानी का नाम मथुरा वा मदुरा रक्खा और वह आज तक इसी नाम से पुकारी जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि हरक्युलीज़ के नाम से मेगास्थनीज़ का तात्पर्य कृष्ण से है। उसने कदाचित् कृष्ण के विषय में अपनी कन्या के लिये दक्षिण में एक राज्य स्थापित करने के लिये कोई कथा सुनी होगी जोकि भारतवर्ष में उस समय प्रचलित रही हो।

और अन्त में मेगास्थनीज़ के समय में लंका भी जानी जा चुकी थी। उसको मगध के एक राजकुमार ने जीता था जिसको कि ईसा के पहिले पांचवीं शताब्दी में उसके पिता ने उसके कुशकर्मों के लिये देश से निकाल दिया था। जब मेगास्थनीज़ भारतवर्ष में आया उस समय लंका में हिन्दुओं का राज्य था। इस टापू को युनानी लोग तप्रोबनी के नाम से पुकारते थे जोकि पाली भाषा के तम्बपन्नी और संस्कृत के ताम्रपर्णी से मिलता है। मेगास्थनीज़ कहता है कि यह टापू भारतवर्ष से एक नदी के द्वारा अलग था और उसमें सोना और बड़े बड़े मोती होते थे और वहां के हाथी भारतवर्ष से बहुत बड़े होते थे। ईलियन जिसने कि मेगास्थनीज़ के बहुत उपरान्त लिखा है परन्तु अन्य यूनानी और रोमन ग्रन्थकारों की नाईं बहुत सा वृत्तान्त मेगास्थनीज़ से लिया है, कहता है कि तप्रो- बनी एक बड़ा टापू था जिसमें बहुत से पर्वत थे और उसमें बहुत अधिकता से खजूर के पेड़ थे। वहां के लोग नरकटों की बनी हुई झोंपड़ी में रहते थे, अपने हाथियों को आर पार लेजाने के लिये नाव बनाते थे और उन्हें कलिंग के राजा के यहां लेजाकर बेचते थे।

हम दार्शनिक काल की सातो शताब्दियों का राज्य सम्बन्धी वृत्तान्त लिख चुके जैसा कि गत अध्याय में हमने उस के साहित्य का वर्णन किया था। इस काल में झुंड के झुंड हिन्दू लोग गंगा की घाटी से निकल कर अज्ञात देशों में गए, वहां की जातियों को पराजित किया और धीरे धीरे उनमें अपनी भाषा धर्म्म और सभ्यता का प्रचार किया। दक्षिण बिहार के मगध लोग केवल हिन्दू ही

नहीं बना लिए गए थे वरन् वे भारतवर्ष में सब से प्रबल हो गए। गुजरात के राष्ट्र लोग और पूरब के अंग, बंग, और कलिंग लोग हिन्दू बना लिए गए थे। बड़ी अन्ध्र जाति ने केवल हिन्दूधर्म्म और सभ्यता ही को स्वीकार नहीं कर लिया था वरन् उसने हिन्दू-विद्या के ऐसे चरणों से अपने को विख्यात किया था जोकि गंगा की घाटी के बड़े बड़े चरणों के बराबर के थे। उनके पीछे अन्य जातियों ने आर्यों की श्रेष्ठ सभ्यता, धर्म्म और भाषा को स्वीकार किया और भारतवर्ष की सब आर्य और अनार्य्य जातियों ने हिन्दू आर्यसभ्यता का कलेवर धारण कर लिया।

अध्याय ३

राज्यप्रबन्ध, खेती और शिल्प।

भारतवर्ष में २००० वर्ष पहिले कैसा राज्यप्रबन्ध था यह बात हमारे पाठकों को स्वभावतः मनोरञ्जक होगी और यह हर्ष का विषय है कि इसका विश्वास योग्य वृत्तान्त हिन्दूसूत्रकारों और युनानीलेखकों दोनों ही से हमको मिलता है। हम पहिले सूत्रग्रन्थों के कुछ वाक्यों से प्रारम्भ करेंगे। राजा के लिये अपना नगर और महल जिसका द्वार दक्षिण की ओर हो बनाने के लिये कहा गया है—

(३) "महल नगर के बीचो बीच रहना चाहिए"।

(४) "उसके सामने एक दालान रहनी चाहिए। वह अतिथियों की दालान कहलाती है"।

(५) "नगर से कुछ दूर पर दक्षिण की ओर उसे एक सभागृह बनवाना चाहिए जिसके द्वार उत्तर और दक्षिण की ओर हों जिसमें कि लोग देख सकें कि उसके भीतर और बाहर क्या होता है"।

अग्नि बराबर जला करै और उसमें शाकला डाला जाया करै और—

(८) "दालान में उसे अतिथियों को कम से कम उन लोगों को जो वेद जानते हों बैठाना चाहिए"।

(९) "उनकी योग्यतानुसार उन्हें स्थान, आसन, मांस और मद्य देना चाहिए"।

उसमें एक चौकी पर पासे भी रहने चाहिए और वहां ब्राह्मणों वैश्यों और शूद्रों को खेलने देना चाहिए। राजा के नौकरों के घरों

में शस्त्र के खेल, नाच और गाना बजाना हो सकता है, और राजा को अपनी प्रजा का बराबर ध्यान रखना चाहिए।

(१५) "वही राजा अपनी प्रजा के सुख का ध्यान रखता है जिसके राज्य में, चाहे वह गांव में हो वा जंगल में, चोर का भय नहीं रहता।" (आपस्तम्ब २,१०,२५)

वशिष्ठ राजा के धर्म्मों का यों वर्णन करता है—

(१) "राजा का मुख्य धर्म्म सब प्राणियों की रक्षा करना है; इसको पूरा करने से उसे सफलता होती है।

(३) "उसे गृहस्थों की रस्मों को करने के लिये एक पुरोहित नियत करना चाहिए।

(८) "जो लोग धर्म्म के पथ पर न चलें उन्हें दंड देना चाहिए।

(११) "जिन वृक्षों में फूल और फल होते हैं उनकी हानि उसे नहीं करनी चाहिए।

(१२) "परन्तु खेती को बढ़ाने के लिये वह उनकी हानि कर सकता है।

(१३) "गृहस्थों के लिये जिस नाप और तौल की आवश्यकता है उसको ठीक रखना चाहिए।

(१४) "उसको अपने राज्य के लोगों की संपत्ति अपने लिये नहीं छीननी चाहिए।

(१५) "इन संपत्तियों में से केवल कर की नाईं कुछ अंश लिया जा सकता है। (वशिष्ठ १४)

वशिष्ठ (१,४२) और बौद्धायन (१,१०,१८,१) कहते हैं कि राजा अपनी प्रजा की आय का छठां भाग कर की भांति ले सकता है, परन्तु उसे उन लोगों को छोड़ देना चाहिए जो कर देने के अयोग्य हैं। गौतम कर के विषय में इस भांति लिखता है—

(२४) "खेती करनेवालों को राजा को (पैदावार का) दसवां, आठवां, या छठां भाग कर देना चाहिए।

(२५) "कुछ लोग कहते हैं कि पशु और सोने का पांचवां भाग कर देना चाहिए।

(२६) "वाणिज्य में (बेचनेवाले को) बीसवां भाग कर देना चाहिये

(२७) "कंद, फल, फूल, जड़ी, बूटी, मधु, मांस, घासपात और लकड़ी में छठां भाग।

(३१) "हर एक शिल्पकार को महीने में एक दिन (राजा का) काम कर देना चाहिए।

(३२) "इससे जो लोग मजदूरी करके अपना पालन करते हैं उनके कर का निर्णय हो गया।

(३३) "और उनका भी जो लोग कि जहाज़ या गाड़ी के मालिक हैं।

(३४) "जब तक ये लोग उसके लिये काम करें तो उन्हें उसे खाना देना चाहिए। (गौतम १०)

जिस भांति राज्य का प्रबन्ध वास्तव में किया जाता था उसका वर्णन मेगास्थनीज़ ने बहुत अच्छी तरह लिखा है। उसके निम्न लिखित वाक्य मनोरञ्जक होंगे—

"जिन लोगों के जिम्मे नगर का प्रबन्ध रहता है वे ६ श्रेणी के हैं जिनमें से प्रत्येक श्रेणी में पांच मनुष्य होते हैं; पहिली श्रेणी के लोग शिल्प के विषय का सब प्रबन्ध करते हैं। दूसरी श्रेणी के विदेशियों के सत्कार का प्रबन्ध करते हैं। इनके लिये वे ठहरने को स्थान देते हैं और जिन लोगों को उनकी सेवा के लिये नियत करते हैं उनके द्वारा उनकी चौकसी रखते हैं। जब वे लोग शहर से जाने लगते हैं तो उनको वे मार्ग में

अपनी रक्षा के लिये जाते हैं और यदि उनकी मृत्यु होजाय तो उनका माल असबाब उनके सम्बन्धियों के पास भेजदेते हैं। यदि वे बीमार पड़ें तब भी उनकी सेवा करते हैं और यदि मरजांय तो उनको गाड़ देते हैं। तीसरी श्रेणी के प्रबन्धकर्ता इस बात की खोज रखते हैं कि जन्म और मृत्यु कब और कैसे हुई। इस काम को केवल वह कर लगाने के लिये ही नहीं करते वरन् इसलिये भी कि जिसमें बड़े या छोटे आदमियों की जन्म वा मृत्यु राज्य की जानकारी से बच न जाय। चौथी श्रेणी के प्रबन्धकर्ता वाणिज्य और व्यापार की देख भाल करते हैं। वे लोग नाप और बटखरों की देख भाल रखते हैं और इसकी जांच रखते हैं कि फस्ल की पैदावार राज्य की जानकारी के बिना बेची न जाय। कोई मनुष्य एक से अधिक वस्तु का व्यापार नहीं करने पाता जब तक कि वह दूना कर न दे। पांचवीं श्रेणी के प्रबन्धकर्ता दस्तकारी की वस्तुओं की देख भाल करते हैं और उसे लोगों की जानकारी से बेचते हैं। नई वस्तुएं पुरानी वस्तुओं से अलग बेची जाती हैं। यदि कोई उन्हें मिलाकर बेचें तो उसे दण्ड दिया जाता है। छठीं श्रेणी के प्रबन्धकर्ता का यह काम है कि बिक्री की वस्तुओं का जो मूल्य आवै उसका दशांश उगाहे।

सेना के पदाधिकारी "भी ६ श्रेणी के होते हैं तिन में से प्रत्येक श्रणी में पांच पांच मनुष्य होते हैं।

पहिली श्रेणी के पदाधिकारी जंगी जहाज़ के सेनापति की सहायता के लिये होते हैं; दूसरी श्रेणी के उन छकड़ों की जो कि युद्ध के शस्त्रों को लेजाने के काम में आते हैं, सिपाहियों के भोजन की, पशुओं के लिये घास की, तथा सेना सम्बन्धी अन्य आवश्यक वस्तुओं की देख भाल करते हैं। तीसरी श्रेणी के लोगों पर पैदल सिपाहियों के प्रबन्ध का भार होता है। चौथी श्रेणी पर घोड़ों के प्रबन्ध का, पांचवीं श्रेणी पर युद्ध के रथों का और छठीं श्रेणी पर हाथियों का।" नगर और सेना के प्रबन्धकर्ताओं के अतिरिक्त एक तीसरी श्रेणी के पदाधिकारी भी होते थे जोकि खेती, जल सींचने और जंगल तथा दिहातों में राज्य का सब

प्रबन्ध करते थे । "कुछ लोग नदियों की देख भाल करते थे और भूमि को नापते थे जैसा कि ईजिप्ट देश में होता है और उन फाटकों की देख भाल करते थे, जिनके द्वारा कि मुख्य नहर में से उनकी शाखाओं में पानी जाता था जिससे कि सब को बराबर पानी मिले। इन्हीं लोगों के जिम्मे शिकारियों का भी प्रबन्ध होता था और उनकी योग्यता के अनुसार उन्हें पुरस्कार वा दण्ड देने का उन्हें अधिकार भी होता था। वे लोग कर उगाहते थे और भूमि से सम्बन्ध रखनेवाले व्यापारों की, जैसे कि लकड़ी काटनेवाले बढ़ई, लोहार और खान में काम करनेवालों की देख भाल रखते थे। वे सड़क बनवाते थे और दस दस स्टेडिया पर दूरी दिखलाने के लिये पत्थर गड़वाते थे।" (मेकक्रिण्डल का अनुवाद)।

राजाओं के निज की चाल व्यवहार के विषय में मेगास्थनीज़ ने जो वर्णन लिखा है वह संस्कृत साहित्य के वर्णन से मिलता है। राजा के शरीर की रक्षा का भार दासियों के ऊपर रहता था। ये लोग अपने बाप मा से मोल लेलिए आते थे। और रक्षक तथा अन्य सिपाही लोग द्वार के बाहर रहते थे। राजा नित्य राजसभा करते थे, और वहां बिना कार्य्य में रोकावट डाले दिन भर रहते थे। दूसरे अवसरों पर वे महल के बाहर केवल तब जाते थे जबकि या तो उन्हें यज्ञ करना हो अथवा शिकार को जाना हो। जब वे शिकार को जाते थे तो झुण्ड की झुण्ड स्त्रियां उनके चारो ओर होती थीं और उनके उपरान्त भाला लिए हुए सिपाही होते थे। राजा के साथ जब कि यह हाथी पर बैठकर शिकार करता था रथों में, घोड़ों वा हाथियों पर शस्त्र लिए हुए स्त्रियां होती थीं। कभी कभी वह एक कटघरे के भीतर चबूतरे पर बैठकर तीरों से शिकार करता था और उस समय शस्त्र लिए हुए दो या तीन स्त्रियां चबूतरे पर खड़ी रहती थीं। इस वृत्तान्त से विदित होता है कि ऐतिहासिक काव्य काल के कुरु और पांचाल लोगों की बलवान और वीरोचित चाल व्यवहार के स्थान पर दार्शनिक काल में कुछ विलासप्रियता और स्त्रीवत चाल व्यवहार होगई थी। वीरता का समय चला गया था और विलास का समय आगया था।

हिन्दुओं का युद्ध के लिये तैय्यार होने का वर्णन एरियन इस भांति देता है–"पैदल सिपाही लोग अपनी ऊंचाई के बराबर धनुष धारण करते हैं। इसको वे भूमि पर टेक कर और अपने बायें पैर से उसको दबाकर कमान की डोरी को पीछे की ओर खींचकर तीर छोड़ते हैं। उनकी तीर तीन गज से कुछ ही कम लम्बी होती है और ढाल, कवच वा उससे भी बढ़कर रक्षा की कोई चीज नहीं है जोकि हिन्दू धनुष चलानेवाले के निशाने से बच सके। वे अपने बायें हाथ में बैल के चमड़े की ढाल लिए रहते हैं जोकि धारण करनेवाले मनुष्य के इतनी चौड़ी नहीं रहती परन्तु उनके बारबार लम्बी रहती है। कोई कोई सिपाही धनुष के बदले में भाला लिए रहते हैं और वे एक तलवार भी लिए रहते हैं जिसकी धार चौड़ी रहती है, परन्तु वह तीन हाथ से अधिक लम्बी नहीं रहती और जब वे युद्ध करने लगते हैं तो अपनी रक्षा के लिये इस तलवार को दोनों हाथों से चलाते हैं। घोड़सवारों के पास दो भाले होते हैं जोकि सौनिया की भांति होते हैं, और उनकी ढाल पैदल सिपाहियों से छोटी होती है। क्योंकि वे लोग घोड़ों पर ज़ीन नहीं कसते और न वे यूनानियों वा केल्ट लोगों की भांति लगाम लगाते हैं; परन्तु वे घोड़ों के मुंह के चारो ओर बैल के चमड़े को बांध देते हैं जिसके नीचे एक नोकीला लोहे वा पीतल का कांटा लगाते हैं, परन्तु वह बहुत तीखा नहीं होता। यदि कोई आदमी अमीर होता है तो वह हाथीदांत का कांटा लगाता है।" (मेकक्रिण्डल का अनुवाद)।

हिन्दुओं में युद्ध के नियम संसार की दूसरी जातियों की अपेक्षा अधिक अच्छे थे। "आर्य्य लोग उनलोगों को नहीं मारते थे जोकि अपना शस्त्र रख देते थे वा जो लोग बाल खोलकर वा हाथ जोड़ कर दया की प्रार्थना करते थे अथवा जो लोग भाग जाते थे।" (आपस्तम्ब २, ५, १०, ११) जो लोग भयभीत हों अथवा नशे में हों, पागल हों वा आपे से बाहर हों अथवा जिन लोगों के पास शस्त्र न हो उनसे तथा स्त्रियों बच्चों बुड्ढों और ब्राह्मणों से युद्ध न करना चाहिए।" (बौधायन १, १०, १८, ११) "मृत सिपाहियों की स्त्रियों का निर्वाह करना चाहिए।" (वशिष्ठ १६,२०) और मेगास्थ-

भीज़ भी हिन्दुओं के युद्ध के अच्छे नियम होने की साक्षी देता है। "क्योंकि जहां अन्य जातियां युद्ध में भूमि को उजाड़ कर ऊसर की भांति करडालती हैं इसके विरुद्ध हिन्दू लोग किसानों को एक पवित्र और अभंग जाति समझते हैं और जमीन जोतने बोने वाले यदि उनके निकट ही युद्ध हो रहा हो तो वे किसी भय में नहीं रहते, क्योंकि दोनों दल के लड़नेवाले युद्ध में केवल एक दूसरे को मारते हैं परन्तु खेती करनेवालों से कुछ भी छेड़छाड़ नहीं करते। इसके अतिरिक्त वे न तो अपने शत्रु की भूमि में आग लगाते हैं और न वहां पेड़ों को काट गिराते हैं।

मेगास्थनीज़ कहता है कि हिन्दू जातियां गिनती में सब एक-सौ अठारह थीं। भारतवर्ष के उत्तर में और हिमालय के उस पार के देश में "वे सीदियन लोग रहते थे जोकि सकाई कहलाते थे।" यह उस प्रबल जाति का संक्षेप में वर्णन है जोकि हिमालय पर्वत की उत्तरी ढाल पर काले बादलों की भांति ईसा के पहिले चौथी शताब्दी में रहती थी और जो कुछ शताब्दी में पश्चिम में भारतवर्ष पर प्रबल आंधी की भांति आपड़ी और जिसने हिन्दू राज्य को छिन्न भिन्न कर डाला।

भारतवर्ष के शान्त और न्याय के अनुसार रहनेवाले लोगों का मेगास्थनीज़ जो वर्णन करता है उसे प्रत्येक हिन्दू घमण्ड से पढ़ सकता है। "वे बड़े सुख से रहते हैं और बड़े सीधे सादे और कम खर्च होते हैं। वे यज्ञों को छोड़कर और कभी शराब नहीं पीते। उनकी शराब जौ के बदले चावल से बनाई जाती है और उनका मुख्य आहार चावल ही होता है। उनका सीधापन और उनकी प्रतिष्ठा इसी से समझ लीजिए कि वे बहुत ही कम न्यायाधीश के पास जाते हैं। गिरवी रखने वा अमानत के विषय में उनका कभी कोई दावा नहीं होता और न उनको मोहर वा गवाहों की आवश्यकता होती है। वे अमानत रखदेते हैं और एक दूसरे पर विश्वास रखते हैं। वे अपने गृह और संपत्ति को बहुधा अरक्षित छोड़ देते हैं। इन बातों से उनका धीर स्वभाव विदित होता है। वे सत्यता और धर्म्म को समान आदर की दृष्टि से देखते हैं। इसी लिये वे

वृद्धों को यदि उनमें विशेष बुद्धि न हो तो कोई विशेष अधिकार नहीं देते।" इसके अतिरिक्त मेगास्थिनीज़ कहता है कि हिन्दू लोग विदेशियों को भी गुलाम नहीं बनाते, स्वदेशियों को तो भला वे क्यों बनाने लगे। उनमें चोरी विरलेही कभी होती थी। उनमें न्याय ज़बानी होता था और वे लिखना नहीं जानते थे नियार्कस से हमलोगों को विदित होता है कि भारतवर्ष में दार्शनिक काल में लोग लिखना जानते थे। अतएव मेगास्थिनीज़ के वर्णन से केवल यह समझा जाना चाहिए कि लिखने का प्रचार कम होगा अर्थात् पाठशालाओं में बालकों को शिक्षा ज़बानी ही दी जाती थी और ज़बानी ही वे अपना धर्म्म पाठ कंठाग्र करते थे और न्यायालयों में भी विद्वान न्यायाधीश लोग धर्म्मसूत्रों को कंठस्थ रख कर उनके अनुसार न्याय करते थे।

एरियन ने नियार्कस का एक वाक्य उद्धृत किया है और वह कहता है कि भारतबासी "नीचे रूई का एक वस्त्र पहिनते हैं जो घुटने के नीचे आधी दूर तक रहता है और उसके ऊपर एक दूसरा वस्त्र पहिनते हैं जिसे कुछ तो वे कंधों पर रखते हैं और कुछ अपने सिर के चारों ओर लपेट लेते हैं। ... ... वे सफेद चमड़े के जूते पहिनते हैं और ये बहुत ही अच्छे बने हुए होते हैं। उनके तले चित्र विचित्र के तथा बड़े मोटे होते हैं"। और भारतवर्ष के अधिकांश लोग अन्न खा कर रहते हैं और भूमि जोतते बोते हैं परन्तु इनमें पहाड़ी लोग सम्मिलित नहीं है जोकि शिकारी जन्तुओं के मांस खाते हैं। हमारा सच्चा हाल बतलानेवाला मेगास्थिनीज़ प्राचीन भारतवर्ष की खेती का भी वृत्तान्त लिखता है जोकि प्रायः आजकल की खेती की रीति से मिलता है। मेगास्थिनीज़ ने जाड़े की वृष्टि को लगातार वृष्टि समझ कर लिखा है कि वर्ष में दो बार वृष्टि होती थी। वह कहता है कि यहां "बहुत से बड़े बड़े उपजाऊ और सुहावने मैदान थे और सब में बहुत सी नदियां बहती थीं। भूमि का अधिक भाग सिंचाई में था और इस कारण वर्ष में दो फस्ल होती थी। उस के साथ ही उसमें सब भांति के पशु, खेत के चौपाए और भिन्न भिन्न बल और आकार की चिड़ियां

बहुतायत से होती थीं। इसके अतिरिक्त वहां बड़े बड़े हाथी भी अधिक होते थे...... आनाज के अतिरिक्त भारतवर्ष में बाजरा भी बहुतायत से होता है और वह नदियों के अधिक होने के कारण अच्छी तरह सींचा जाता है। वहां कई प्रकार की दाल और गेहूं और "बासपोरम" तथा खाने के लिये दूसरे बहुत से पेड़ होते हैं जिनमें से बहुतेरे आप से आप ऊगते हैं। इस के सिवाय इस भूमि में जानवरों के खाने योग्य बहुत प्रकार की चीजें होती हैं जिनका ब्योरा लिखना कठिन है। कहा जाता है कि भारतवर्ष में अकाल कभी नहीं आया और कभी खाने की चीजों की महँगी नहीं हुई। इसका कारण यह है कि वर्ष में दो बार वृष्टि होती है,—अर्थात् एक तो जाड़े में गेहूं बोने के समय जैसा कि अन्य देशों में होता है, और दूसरे गर्मी में जब कि चावल "बासपोरम", बाजरा और तिल बोने का ठीक समय है.—भारतवर्ष के लोग प्रायः सदा ही वर्ष में दो फस्ल काटते हैं और यदि एक फस्ल कुछ खराब भी हो जाय तो उन को सदा निश्चय रहता है कि दूसरी फस्ल अच्छी होगी। इसके सिवाय आपसे होनेवाले वृक्षों के फल और खाने योग्य कन्द जो कि नम जगहों में भिन्न भिन्न मिठास के होते हैं, मनुष्यों के खाने के लिये बहुतायत से हैं"।

आज कल किसी हिन्दू के लिये यह असम्भव है कि वह दो हजार वर्ष पहिले की हिन्दुओं के समय की भारतवर्ष की इस भाग्यवती दशा का वृत्तान्त जो कि इस बुद्धिमान और योग्य विदेशी ने पक्षपात रहित हो कर लिखा है, बिना घमण्ड के न पढ़े। सुन्दर गांवों में परिश्रमी और शान्त खेती करनेवाले रहते थे और वे विस्तृत उपजाऊ खेतों को सावधानी और परिश्रम के साथ जोतते बोते और सींचते थे। और नगर के शिल्पकार बड़ी ही उत्तमता के साथ भांति भांति की वस्तुएं बनाते थे। यह विचारना असम्भव है कि ये सब फल राज्य की सावधानी और सुप्रबन्ध के बिना ही, जान और माल की उत्तम रक्षा के बिना और उचित और उत्तम कानून की सहायता के बिना हो गए हों। और जब कभी राजा लोगों में परस्पर युद्ध भी होता था और लड़ाके क्षत्री सर्दार लोग

रणभूमि में होते थे उस समय भी भारतवर्ष में एक ऐसी दयालु रीति प्रचलित थी जिसने कि युद्ध की भयानकता को कम कर दिया था और शान्त गाँव के रहनेवालों और परिश्रमी खेती करनेवालों को उपद्रव और विपत्ति से रक्षित रक्खा था। यह रीति प्राचीन समय में और कहीं प्रचलित नहीं थी।

भारतवर्ष की उत्तम शिल्प की वस्तुएं ईसा के बहुत पहिले फिनीशिया के व्यापारियों और पश्चिमी एशिया तथा ईजिप्ट के बाजारों में परिचित थीं। मेगास्थनीज़ कहता है कि भारतबासी "शिल्प में बड़े चतुर थे जैसा कि स्वच्छ वायु में रहनेवाले और बहुत ही उत्तम जल पीनेवाले लोगों से आशा की जा सकती है"। भूमि के भी "नीचे सब प्रकार की धातुओं की बहुत सी खाने थीं क्योंकि उसमें बहुत सा सोना और चाँदी, ताँबा और लोहा और टीन तथा अन्य धातुएं भी होती हैं जो कि काम की चीज और गहने तथा युद्ध के हरबे हथियार और हर तरह के औज़ार बनाने के काम में आती थीं। गहनों और आभूषणों के विषय में मेगास्थिनीज़ कहता है कि "उनकी सीधी सादी चाल पर ध्यान देते हुए उनको आभूषण और गहने बहुत प्रिय हैं। उन के कपड़ों में सुनहला काम होता है और उन में रत्न जड़े रहते हैं और वे सर्वोत्तम मलमल के फूलदार काम के कपड़े भी पहिनते हैं। उनके पीछे नौकर लोग उन्हें छाता लगा कर चलते हैं, क्योंकि वे सुन्दरता पर बहुत ही अधिक ध्यान रखते हैं और अपनी सुन्दरता बढ़ाने के लिये सब प्रकार के उपाय करते हैं।"

परन्तु स्ट्रेबो ने जिस धूमधाम की यात्रा का वर्णन किया है वह बड़ा मनोरञ्जक है और ऐसी धूमधाम मेगास्थिनीज़ ने भी पाटलीपुत्र की गलियों में अवश्य देखी होगी।

"त्योहारों में उनके जो यात्राप्रसंग निकलते हैं उन में सोने और चाँदी के आभूषणों से सज्जित बहुत से हाथियों की कतार होती है, बहुत सी गाड़ियाँ होती हैं जिन में चार चार घोड़े वा कई जोड़ी बैल जुते रहते हैं। उस के उपरान्त पूरी पौशाक में बहुत से नौकर चाकर

रहते हैं जिनके हाथ में सोने के बर्तन, बड़े बड़े बर्तन और कटोरे मेज़, तांमजान ताँबे के पीने के प्याले और बर्तन जिन में से बहुतों में पन्ने, फीरोज़े, लाल इत्यादि रत्न जड़े रहते हैं, सोनहले कामदार वस्त्र, जंगली जानवर यथा भैंसे, चीते, और पालतू शेर और अनेक प्रकार के परवाले और मधुर गीत गानेवाले पक्षी रहते हैं"।
(बान साहेब का स्ट्रेबो का अनुवाद ३ पृष्ट ११७)

अध्याय ४

——:o:——

कानून ।

संसार के प्राचीन इतिहास में कहीं भी विजय करनेवालों और पराजित लोगों में अथवा पुजेरियों और सांसारी मनुष्यों में बराबरी के कानून नहीं रहे हैं। प्राचीन समय में ग्रीक और हेलोट लोगों के लिये, पेट्रीशियन और प्लिबिअन लोगों के लिये, ज़मीदारों और काश्तकारों के लिये, पुजेरियों और संसारी लोगों के लिये, अंग्रेज़ों और हबशियों के लिये, वा अंग्रेजों और अमेरिका के लाल मनुष्यों के लिये, एक ही कानून नहीं थे। और संसार के अन्य देशों की नाईं भारतवर्ष में भी भिन्न भिन्न श्रेणी के लोगों के लिये भिन्न भिन्न कानून थे। ब्राह्मणों के लिये एक कानून था, शूद्रों के लिये दूसरा। ब्राह्मणों से अनुचित उदारता के साथ वर्ताव किया जाता था और शूद्रों के साथ बहुत अधिक निर्दयता और कड़ाई के साथ। यदि कोई ब्राह्मण स्मृति में लिखे हुए चार वा पांच महापातकों में से कोई पाप करे अर्थात् यदि वह किसी ब्राह्मण को मारडाले, अपने गुरू की स्त्री से व्यभिचार करे, किसी ब्राह्मण का द्रव्य चुरावे वा शराब पीये तो राजा उसके ललाट को गरम लोहे से दगवा कर उसे अपने देश से निकाल देता था। यदि कोई नीच जाति का मनुष्य किसी ब्राह्मण को मारडाले तो उसे फांसी दी जाती थी और उसकी सम्पत्ति छीन ली जाती थी। यदि कोई मनुष्य अपने बराबर की जाति वा अपने से नीच जाति के मनुष्य को मारडाले तो उसको उपयुक्त दण्ड दिया जाता था (बौद्धायन १, १०, १८, १६)

व्यभिचार भारतवर्ष में सदा से केवल दोष ही नहीं वरन् एक घोर पाप समझा जाता है। परन्तु उसके लिये भी जो दण्ड दिया जाता था वह दोषी की जाति के अनुसार दिया जाता था। यदि

कोई ब्राह्मण, क्षत्री वा वैश्य किसी शूद्र स्त्री के साथ व्यभिचार करे तो वह देश से निकाल दिया जाता था परन्तु यदि कोई शूद्र प्रथम तीनों जाति की किसी स्त्री के साथ व्यभिचार करे तो उसे प्राणदण्ड दिया जाता था। (आपस्तम्ब २, १०, २७)

परन्तु कानून बनानेवाले ब्राह्मण इन बातों से जैसे बुरे समझे जा सकते हैं वैसे वे वास्तव में नहीं हैं। अपने और शूद्रों के बीच बड़ा भारी अन्तर दिखलाने के अभिप्राय से उन्होंने घमण्डी शूद्रों के लिये बड़े बड़े दण्ड नियत किए हैं जिनके विषय में यह कह देना उचित होगा कि वे केवल धमकी मात्र रहे और केवल धमकी ही के लिये बनाए गए थे। जो शूद्र प्रथम तीनो जातियों के किसी धार्मिक मनुष्य की बुराई करता था, उसकी जीभ काट ली जाती थी और जो शूद्र उन जातियों की बराबरी करता था उसको कोड़े लगाए जाते थे (आपस्तम्ब २, १०, २७)

इसी प्रकार जो शूद्र किसी द्विज को गाली देता वा मारता था उसका वह अंग काट डाला जाता था जिससे कि उसने दोष किया हो। यदि उसने वेद का पाठ सुना हो तो उसके कान गली हुई लाह वा टीन से बन्द कर दिए जाते थे, यदि उसने वेद का पाठ किया हो तो उसकी जीभ काट डाली जाती थी और यदि उसे वेद का पाठ स्मरण हो तो उसकी देह काट कर दो टुकड़े कर दी जाती थी। (गौतम १२)।

पाठकगण यह बात सहज में समझ लेंगे कि सूत्रों के बनानेवाले ब्राह्मण लोग अपने और अन्य जातियों, और विशेषतः शूद्रों, के बीच अंतर प्रगट करने के लिये बड़े उत्सुक थे और इसलिये उन्होंने कानूनों को उसका दस गुना कठोर दिखलाया है जैसा कि योग्य राजा, क्षत्री कर्मचारी वा ब्राह्मण न्यायाधीश भी वास्तव में करते थे।

जो क्षत्री किसी ब्राह्मण को गाली दे उसे सौ कार्षापण देने पड़ते थे और जो ब्राह्मणों को मारे उसे दो सौ कार्षापण देने पड़ते

थे। जो वैश्य किसी ब्राह्मण को गाली दे उसे डेढ़ सौ कार्षापण और कदाचित मारने के लिये तीन सौ कार्षापण देने पड़ते थे। परन्तु जो ब्राह्मण किसी क्षत्री को गाली दे तो उसे केवल पचास कार्षापण देने पड़ते थे, वैश्य को गाली देने के लिये उसे २५ कार्षापण, और शूद्र को गाली देने के लिये कुछ भी नहीं देना पड़ता था। (गौतम १२, ८—१३)।

जान पड़ता है कि चोरी के लिये, कम से कम कुछ अवस्थाओं में, प्राणदण्ड वा शारीरिकदण्ड दिया जाता था। और कहा जाता है कि चोर राजा के सन्मुख खुले हुए बालों से अपने हाथ में एक लकड़ी लिए हुए उपस्थित होता था और अपने दोष को स्वीकार करता था। यदि राजा उसे क्षमा कर दे, उसे प्राणदण्ड न दे वा न मारे तो अपराध का भागी राजा होता था (गौतम १२, ४५)।

क्षमा करने का विशेष अधिकार केवल राजा ही को था। प्राणदण्ड के दोषों को छोड़ कर अन्य अवस्थाओं में दोषी के लिये गुरू, उपरोहित, कोई विद्वान गृहस्थ वा कोई राजकुमार बीच में पड़ सकता था (आपस्तम्ब २, १०, २७, २०)

वशिष्ट कहते हैं कि यदि कोई मनुष्य किसी आनतायी अर्थात् किसी घर जलानेवाले, किसी कैदी किसी ऐसे मनुष्य से जो कि प्राण लेने के लिये अपने हाथ में शस्त्र लिए हो, किसी लुटेरे अथवा किसी ऐसे मनुष्य से जिसने कि किसी दूसरे की भूमि ले ली हो वा किसी की स्त्री छीन ली हो-आक्रमण किया जाय तो वह आत्मरक्षा कर सकता है। यदि कोई आनतायी किसी मनुष्य का प्राण लेने के लिये आवे तो उस मनुष्य को अधिकार है कि वह उसे मार डाले चाहे वह "समस्त वेदों और उपनिषदों का जाननेवाला" क्यों न हो। (वशिष्ट ३, १५-१८)

खेती और व्यापार लोगों की जीविका थी और खेती करनेवाले की भूमि से अथवा किसी शिल्पकार के व्यापार से सम्बन्ध रखनेवाले दोषियों को सब से अधिक कठोरता के साथ दण्ड दिया जाता था। हम दिखला चुके हैं कि भूमि की रक्षा करनी उन अवस्थाओं

में से थी जिसमें कि आत्मरक्षा की जा सकती थी और भूमि के विषय में झूठी गवाही अत्यन्त घृणा की दृष्टि से देखी जाती थी। किसी छोटे जानवर के सम्बन्ध में झूठी साक्षी देने से साक्षी देनेवाला दस मनुष्यों के मारने के अपराध का भागी होता था। गाय, घोड़े वा मनुष्यों के सम्बन्ध में झूठी साक्षी देने से वह क्रमात एक सौ, एक हजार वा दस हजार मनुष्यों के मारने के अपराधी के बराबर होता था परन्तु भूमि के सम्बन्ध में झूठी साक्षी देने से वह समस्त मनुष्य जाति को मारडालने के अपराधी के बराबर होता था। "भूमि की चोरी के लिये नर्क का दण्ड होता है।" (गौतम १३, १४, १७,)

इसी प्रकार शिल्पकारों के विषय में मेगास्थिनीज़ कहता है कि जो मनुष्य किसी शिल्पकार की आंख फोड़ डाले वा हाथ काट डाले उसे प्राणदण्ड होता था। जो मनुष्य आत्महत्या करना चाहता था उसके लिये एक कठोर प्रायश्चित नियत था और आत्महत्या करनेवाले के सम्बन्धियों के लिये उसकी अंत्येष्टि क्रिया करना वर्जित था (वशिष्ठ २३, १४, इत्यादि)

दो हजार वर्ष पूर्व हिन्दुओं का दण्डक्रम इस प्रकार का था। अब हम दीवानी कानून के पेचीले विषय का वर्णन करेंगे जोकि सुगमता से पांच भागों में बांटा जा सकता है अर्थात् (१) खेती और चराई के कानून (२) सम्पत्ति के कानून (३) अधिक व्याज खाने के कानून (४) उत्तराधिकारी होने के अत्यन्त आवश्यक कानून और (५) बटवारे के कानून। हम खेती और चराई के नियमों से आरम्भ करते हैं।

(१) "यदि कोई मनुष्य किसी भूमि का ठीका ले और उसमें यत्न न करे और उसके कारण भूमि में अन्न न उपजे तो यदि वह मनुष्य अमीर हो तो उससे उतने अन्न का मूल्य ले लिया जायगा जो उस भूमि में उपज सकता था।

(२) "खेती के काम में जो नौकर रक्खा जाय वह यदि अपना काम छोड़ दे तो उसे कोड़े लगाए जांयगे।

(३) "यही दण्ड उस चरवाहे को दिया जायगा जो अपना काम छोड़ देगा।

(४) "और जिन पशुओं की रखवारी उसके सपुर्द होगी वे ले लिए जांयगे।

(५) "यदि पशु अपना तबेला छोड़ कर किसी का अन्न खाजाय तो अन्न का मालिक उन्हें हाते में बन्द रख कर दुर्बल कर सकता है परन्तु इससे अधिक कुछ नहीं कर सकता।

(६) "यदि कोई चरवाहा जिसने अपने जिम्मे कुछ पशुओं को लिया हो उन पशुओं को नष्ट हो जाने वा खो जाने दे तो उसे पशुओं के स्वामी को उनके पलटे दूसरे पशु देने पड़ेंगे।

(७) "यदि (राजा का बनरखा) ऐसे पशुओं को देखे कि जो असावधानी से जंगल में चले गए हों तो वह उन्हें गांव में ला कर उनके स्वामियों को दे देगा। (आपस्तम्ब २, ११, २८)

फिर गौतम कहते हैं।

(१९) "यदि पशु कुछ हानि करें तो उनका दोष उनके मालिक पर होता है।

(२०) "परन्तु यदि उन पशुओं के साथ कोई चरवाहा हो तो वही उसका उत्तरदाता होगा।

(२२) "यदि किसी सड़क के निकट बिना घिरे हुए खेत में यह हानि हो तो उसका उत्तरदाता चरवाहा और उस खेत का स्वामी दोनों ही होंगे"। (गौतम १२)

आज कल की भांति उस समय भी बिना घिरे हुए खेत पशुओं को चराने और लकड़ी काटने के लिये साधारणतः काम में आते थे।

"यदि खेत घिरे न हों तो वह उनमें से गऊ के लिये घास, अपनी

अग्नि जलाने के लिये लकड़ी, तथा पेड़ और लताओं के फूल और फल ले सकता है . (गौतम १२, २८)

वासिष्ठ मार्ग के हक़ और अचल सम्पत्ति के विषय के झगड़ों में आवश्यक गवाही के लिये उचित नियम देते हैं।

(१०) "स्मृति में सम्पत्ति के अधिकार के लिये तीन प्रकार के प्रमाण लिखे हैं अर्थात् दस्तावेज़, गवाही और कब्ज़ा। इन प्रमाणों से कोई मनुष्य उस सम्पत्ति को फिर से पा सकता है जो कि पहिले उसके अधिकार में रही हो।

" जिन खेतों में मार्ग का हक़ होता है उनमें सड़क के लिये आवश्यक जगह और इसी प्रकार गाड़ी घूमने के लिये जगह भी छोड़ देनी चाहिए।

(१२) "नए बने हुए मकानों और इसी प्रकार की अन्य इमारतों के निकट तीन फुट चौड़ा रास्ता होना चाहिए।

(१३) "किसी घर वा खेत के विषय के झगड़े मे पड़ोसियों की साक्षी पर विश्वास करना चाहिए।

(१४) "यदि पड़ोसियों की गवाही एक दूसरे के विरुद्ध हो तो कागज पत्र को प्रमाण मानना चाहिए।

(१५) "यदि कागज पत्र झगड़े के हों तो गांव वा नगर के वृद्ध लोगों और शिल्पकारों वा व्यापारियों की पंचायतों की सम्मति पर भरोसा करना चाहिए। (वासिष्ठ १६)

और अब हम सम्पत्ति के कानून के विषय में लिखेंगे। सम्पत्ति नीचे लिखे अनुसार आठ प्रकार की कही गई है।

(१६) "अब वे इसको भी उद्धृत करते हैं 'पिता से मिली हुई सम्पत्ति, मोल ली हुई वस्तु, गिरों की सम्पत्ति, वह सम्पत्ति जो विवाह के उपरान्त स्त्री को अपने पति के घराने से मिलती है, दान की सम्पत्ति

जो सम्पत्ति यज्ञ करने के लिये मिली हो, पुनर्सम्मिलित साझीदारों की सम्पत्ति और आठवें मजदूरी,

(१७) "इन आठों प्रकार की सम्पत्तियों में से किसी को भी यदि कोई दूसरा मनुष्य लगातार १० वर्षों तक भोगे तो उसका मालिक फिर उसे नहीं पा सकता।

(१८) "दूसरे दल के लोग भी निम्नलिखित वाक्य उद्धृत करते हैं 'गिरों की वस्तु, सीमा, नाबालिग़ की सम्पत्ति, (खुली हुई) धरोहर, मोहर की हुई धरोहर, स्त्री, राजा की सम्पत्ति, श्रोत्रीय का धन, यह सब दूसरों से भोगे जाने पर भी उनका नहीं हो जाता।

(१९) "जिस सम्पत्ति को उसका मालिक बिलकुल छोड़ दे वह राजा की होती है (वासिष्ठ १६)

गौतम भी इसी प्रकार का नियम लिखते हैं :—

(३७) "जो मनुष्य न तो पागल हो और न नाबालिग, उसकी सम्पत्ति यदि उसके सामने दूसरा कोई मनुष्य भोगे तो वह सम्पत्ति भोग करनेवाले की हो जाती है।

(३८) "परन्तु यदि वह श्रोत्रियों सन्यासियों वा राज्यकर्मचारियों से भोगी जाय तो ऐसा नहीं होता।

(३९) "पशु, भूमि, और स्त्रियों के दूसरों के अधिकार में रहने से भी उन पर उनके मालिक का स्वत्व छूट नहीं जाता"। (गौतम १२)

उपरोक्त वाक्यों में स्त्रियों से दासियों का अर्थ है। नाबालिगों और विधवाओं इत्यादि के विषय में यह नियम है कि राजा उनकी सम्पत्ति का प्रबन्ध करे और नाबालिग के बालिग होने पर उसकी सम्पत्ति उसे देदे (वसिष्ठ १६, ८, ९)

अब हम भारतवर्ष के प्राचीन समय के अधिक ब्याज के कानून को लिखेंगे। हमारे पाठकों में से बहुत से लोग इस बात को स्वी-

कार करेंगे कि वे उस कानून से बुरे नहीं थे जो कि केवल कुछ शताब्दी पहिले यूरप में प्रचलित थे। "रुपए उधार देनेवाले के लिये ब्याज का दर वसिष्ठ के वाक्यों में सुनिए, । बीस (कार्षापण) के लिये प्रतिमास पांच माशा लिया जा सकता है; और इससे नियम नहीं टूटता" (वसिष्ठ २, ५१)

इसी प्रकार गौतम कहते हैं (१२, १९)—

"जो रुपया उधार दिया जाय उसका उचित ब्याज बीस (कार्षापण) के लिये प्रति मास पाँच माशा है।

भाष्यकार हरदत्त कार्षापण का ब्याज बीस माशा कहते हैं जिससे कि ब्याज का दर प्रति मास सवा रुपये सैकड़े वा प्रति वर्ष पन्द्रह रुपये सैकड़े होता है। कृष्ण पंडित यह ठीक कहता है कि यह ब्याज उस द्रव्य के लिये है जो वस्तु गीरों रख कर दिया जाय। मनु विशेषतः कहता है (८, १४०) कि यह ब्याज वसिष्ठ का नियत किया हुआ है। गौतम कहता है कि जब मूल द्रव्य ब्याज मिला कर दूना हो जाय तो उसके उपरान्त ब्याज नहीं लगता और गिरों रक्खी हुई वस्तु का यदि भोग किया जाता हो तो उस रुपए का बिलकुल ब्याज नहीं लगता। (१२, ३१ और ३२)

दूसरी वस्तुएं बहुत अधिक ब्याज पर भी दी जा सकती हैं, पर उसी अवस्था में जब कि उसके पल्टे में कोई वस्तु गिरों न रक्खी गई हो।

(४४) "सोना जितना उधार दिया जाय उसका दूना लिया जा सकता है और अन्न तिगुना लिया जा सकता है।

(४५) "स्वादिष्ट वस्तुओं के लिये भी अन्न का नियम कहा गया है।

(४६) "और फूल, कंद, और फल के लिये भी।

(४७) "जो वस्तुएं तौल कर बिकती हैं उनको उधार दे कर उनका अठगुना ले सकते हैं।

इसी प्रकार गौतम कहते हैं—

"पशु, जात वस्तुएं, ऊँन, खेत की पैदावार और बोझा ढोनेवाले पशुओं को उधार दे कर उनके पचगुने मूल्य से अधिक नहीं लिया जा सकता। (गौतम १२, ३६)

इस प्रकार वस्तु गिरों रख कर द्रव्य उधार देने के अतिरिक्त अन्य वस्तु और पैदावार, उनके पलटे में बिना कोई वस्तु गिरों रक्खे हुए, बड़े अधिक सूद पर उधार दिए जाते थे। द्रव्य की अवस्था में ब्याज केवल पन्द्रह रुपए सैकड़े वार्षिक था और वह मूल धन से केवल दूना हो सकता था, परन्तु अन्य अवस्थाओं में वह छगुना वा आठगुना तक हो सकता था।

गौतम छ भिन्न भिन्न प्रकार के ब्याज लिखता है अर्थात् ब्याज दर ब्याज, समय समय पर दिए जानेवाला ब्याज, बन्धेज किया हुआ ब्याज, शारीरिक ब्याज, दैनिक ब्याज और भोगबन्धक ब्याज (१२, ३४० और ३५)। वह कहता है कि मृत पुरुष के उत्तराधिकारी को उसका देना चुकाना चाहिए परन्तु किसी जमानत का द्रव्य, व्यापार सम्बन्धी ऋण, दुलहिन के माता पिता का द्रव्य, अधर्म के लिये ऋण और दण्ड का द्रव्य मृतक के लड़कों को नहीं देना पड़ेगा। (१२, ४० और ४१)।

और अब हम दीवानी कानून की सब से आवश्यक बात अर्थात् उत्तराधिकारी होने के कानून का उल्लेख करेंगे।

प्राचीन हिन्दू लोग पुत्र सन्तान का होना धर्म्म की बात समझते थे और इस कारण अपना पुत्र न होने पर प्राचीन समय में और प्रकार के पुत्र माने जाते थे।

निम्नलिखित वाक्यों में गौतम ने भिन्न भिन्न प्रकार के उन पुत्रों का वर्णन किया है जिन्हें कि वह उत्तराधिकारी समझता था और ऐसों का जिन्हें उत्तराधिकारी नहीं वरन् केवल वंशज समझता था—

(३२) "अपना पुत्र (औरस), अपनी स्त्री से उत्पन्न हुआ पुत्र (क्षेत्रज), गोद लिया हुआ पुत्र (दत्तक), माना हुआ पुत्र (कृत्रिम)

गुप्त रीति से उत्पन्न हुआ पुत्र (गूधज) और त्यागा हुआ पुत्र (अपविद्ध), सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है।

(३३) "अविवाहिता बालिका का पुत्र (कानीन), गर्भवती दुलहिन का पुत्र (सहोध), दो बेर विवाहिता स्त्री का पुत्र (पौनर्भव) नियुक्त कन्या का पुत्र (पुत्रिका पुत्र) स्वयं दिया हुआ पुत्र (स्वयं दत्त), और मोल लिया हुआ पुत्र (क्रीत) अपने वंश का होता है।" (२८)

"बौद्धायन और वसिष्ठ गौतम के बहुत पीछे हुए और उनकी सम्मतियां गौतम से तथा एक दूसरे से कुछ बातों में भिन्न हैं।

(१४) "जिस पुत्र को पति अपनी जाति की विवाहिता स्त्री से उत्पन्न करे वह अपना निज का पुत्र होता है (औरस),

(१५) "पुत्री को नियुक्त करने के पीछे उस से जो पुत्र उत्पन्न हो वह नियुक्त पुत्री का पुत्र (पुत्रिकापुत्र) होता है।

(१७) "किसी मृत मनुष्य, किसी हिजड़े, वा किसी रोगी मनुष्य की स्त्री से यदि कोई दूसरा मनुष्य अनुमति ले कर पुत्र उत्पन्न करे तो वह स्त्री से उत्पन्न हुआ पुत्र (क्षेत्रज) कहलाता है।

(२०) "गोद लिया हुआ पुत्र (दत्तक) वह कहलाता है जिसे कोई मनुष्य उस के माता पिता वा उनमें से किसी एक से ले कर अपने पुत्र के स्थान पर रखे।

(२१) "वह बनाया हुआ पुत्र (कृत्रिम) कहलाता है जिसे कोई मनुष्य केवल (उस पुत्र की) सम्मति से अपना पुत्र बनावे और वह उसी की जाति का हो।

(२२) "गुप्त रीति से उत्पन्न हुआ पुत्र (गूधज) वह कहलाता है जो घर में गुप्त रीति से उत्पन्न हो और उसका उत्पन्न होना पीछे से विदित हो।

(२३) "त्यागा हुआ पुत्र (अपविद्ध) वह कहलाता है जिसे

उस के पिता वा माता ने वा उन में से किसी एक ने त्याग दिया हो और उसे कोई अपने पुत्र की भांति रख ले।

(२४) "यदि कोई मनुष्य किसी अविवाहिता कन्या के साथ (उसके पिता वा माता की) आज्ञा के बिना, रहे तो ऐसी कन्या से उत्पन्न हुआ पुत्र अविवाहिता कन्या का पुत्र (कानीन) कहलाता है।

(२५) "यदि कोई जान कर वा बिना जाने किसी गर्भवती दुलहिन से विवाह करे तो उससे उत्पन्न हुआ पुत्र दुलहिन के साथ लिया हुआ (सहोढ) कहलाता है।

(२६) "मोल लिया हुआ पुत्र (क्रीत) वह कहलाता है जिसे कोई मनुष्य उसके पिता माता वा उन में से किसी एक से मोल ले कर अपने पुत्र की भांति रक्खे।

(२७) "स्त्री के दूसरे विवाह का पुत्र (पौनर्भव) वह कहलाता है जो किसी स्त्री के दूसरे विवाह से अर्थात् जिस स्त्री ने अयोग्य पुरुष को छोड़ कर दूसरे पुरुष से विवाह कर लिया हो उससे उत्पन्न हुआ हो।

(२८) "स्वयं दिया हुआ पुत्र (स्वयंदत्त) वह कहलाता है जिसे उसके माता पिता ने त्याग दिया हो और वह किसी दूसरे के यहां अपने को स्वयं दे दे।

(२९) "वह जो प्रथम द्विज जाति के मनुष्य और किसी शूद्र जाति की स्त्री से उत्पन्न हो निषाद कहलाता है।

(३०) "जो एक ही माता पिता से कामासक्त होने के कारण उत्पन्न हो वह पार्शव कहलाता है..." (बौद्धायन २, २, ३.) ।

उसके उपरान्त बौद्धायन कुछ वाक्यों को उद्धृत करते हैं जिस से विदित होता है कि उपरोक्त चौदह प्रकार के पुत्रों में से प्रथम सात प्रकार के पुत्र अर्थात् औरस, पुत्रिकापुत्र क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम, गूढ़ज, और अपविद्ध उत्तराधिकारी हो सकते थे

उनके आगे के छ प्रकार के पुत्र अर्थात् कानीन, सहोध, क्रीत, पौनर्भव, स्वयं दत्त और निषाद वंशज समझे जाते थे। पार्सव वंशज भी नहीं समझा जाता था।

गौतम की नाईं वसिष्ठ बारह प्रकार के पुत्र लिखते हैं।

(१२) "प्राचीन लोगों ने केवल बारह प्रकार के पुत्र माने हैं।

(१३) "पहिला पुत्र स्वयं पति द्वारा उसकी विवाहिता स्त्री से होता है (औरस)।

(१४) "दूसरा पुत्र वह है जो उस स्त्री वा विधवा से उत्पन्न किया जाय जिसे औरस पुत्र न होने के कारण पुत्र उत्पन्न करने का अधिकार प्राप्त हो (क्षेत्रज)।

(१५) "तीसरा पुत्र नियत की हुई पुत्री (पुत्रिका पुत्र) है।

(१६) "वेदों में यह कहा है कि 'वह कन्या जिसको कोई भाई न हो (अपने वंश के) पुरुष पूर्वजों में आ जाती है; और इस प्रकार वह उनके लड़के के समान हो जाती है * ।

(१७) "इसके सम्बन्ध में एक वाक्य है (जिसे पिता अपनी पुत्री को नियत करते समय कहता है) 'मैं तुझे एक बिना भाई

---

* "वसिष्ठ यहां पर नियुक्त कन्या को जो पुत्र कहता है यह अद्भुत बात कदाचित् उस रीति से विदित होगी जोकि अब तक भी काश्मीर में पाई जाती है यद्यपि उस का प्रचार अब बहुत कम है तथापि वह है। उस रीति के अनुसार बिना भाई की कन्या का पुरुष का नाम रक्खा जाता है। और इस प्रकार की एक ऐतिहासिक घटना का वर्णन राजतरंगिणी में दिया है। उसमें लिखा है कि गौड़ की राजकुमारी और जयापीड़ राजा की स्त्री कल्याणदेवी को उसके पिता कल्याणमल्ल कह कर पुकारते थे"—डाक्टर बुहलर।

की कन्या आभूषणों से सज्जित देता हूं। उससे जो पुत्र हो वह मेरा पुत्र होगा।

(१८) "चौथा विधवा के पुनर्विवाह का पुत्र (पौनर्भव) होता है।

(१९) "पुनर्विवाहिता स्त्री (पुनर्भू) वह कहलाती है जोकि अपनी बाल्यावस्था के पति को छोड़ कर और दूसरों के साथ रह कर, फिर अपने वंश में आवै।

(२०) "और वह पुनर्विवाहिता कहलाती है जो नपुंसक, जाति से निकाले हुए, वा पागल पति को छोड़ कर अथवा पति की मृत्यु के उपरान्त दूसरा पति करे *।

(२१) "पांचवां अविवाहिता कन्या का पुत्र (कानीन) होता है।

(२४) "वह पुत्र जो घर में गुप्त रीति से उत्पन्न हो छटां (गूधज) है।

(२५) "लोग कहते हैं कि ये छओ उत्तराधिकारी और वंशज हैं जो कि बड़ी आपत्तियों से रक्षा करनेवाले हैं।

(२६) "अब उन पुत्रों में जो कि उत्तराधिकारी नहीं है परन्तु वंशज हैं पहिला पुत्र वह है जो कि गर्भवती दुलहिन के साथ आया (सहोध) हो

(२८) "दूसरा गोद लिया हुआ पुत्र (दत्त) है।

---

* इस वाक्य में वे अवस्थाएं लिखी हैं जिनमें कि स्त्री का दूसरा विवाह किया जा सकता था। वे अवस्थाएं ये हैं अर्थात् पति का पागलपन, नपुंसकता, जाति से निकाला जाना, अथवा मृत्यु। इस प्रकार की पुनर्विवाहिता स्त्री के पुत्र को उत्तराधिकार मिलने के लिये वसिष्ट आज्ञा देते हैं।

(२६) " तीसरा मोल लिया हुआ पुत्र (क्रीत) है।

(३३) " चौथा पुत्र वह है जिसने अपने को स्वयं दिया हो (स्वयंदत्त)

३६ " पाचवां निकाला हुआ पुत्र (अपविद्ध) है।

(३८) " लोग कहते हैं कि शूद्र जाति की स्त्री से उत्पन्न हुआ पुत्र (निषाद) छठां है (वसिष्ठ १७)

वसिष्ठ के अनुसार उपरोक्त छओं प्रकार के पुत्र उत्तराधिकारी नहीं हो सकते परन्तु वह एक वाक्य उद्धृत करता है कि "जब प्रथम छओं प्रकार का कोई उत्तराधिकारी न हो उस अवस्था में उनको उत्तराधिकार प्राप्त करने का" अधिकार होगा। गौतम, वसिष्ठ, और बौद्धायन के नियम इस भांति दिखलाए जा सकते हैं।

	गौतम।	वसिष्ठ।	बौद्धायन।
वंशज और उत्तराधिकारी	१ औरस	१ औरस	१ औरस
	२ क्षेत्रज	२ क्षेत्रज	२ पुत्रिकापुत्र
	३ दत्त	३ पुत्रिकापुत्र	३ क्षेत्रज
	४ कृत्रिम	४ पौनर्भव	४ दत्त
	५ गूधज	५ कानीन	५ कृत्रिम
	६ अपविद्ध	६ गूधज	६ गूधज
			७ अपविद्ध
वंशज पर उत्तराधिकारी नहीं	७ कानीन	७ सहोध	८ कानीन
	८ सहोध	८ दत्त	९ सहोध
	९ पौनर्भव	९ क्रीत	१० क्रीत
	१० पुत्रिकापुत्र	१० स्वयंदत्त	११ पौनर्भव
	११ स्वयंदत्त	११ अपविद्ध	१२ स्वयंदत्त
	१२ क्रीत	१२ निषाद	१३ निषाद
न वंशज और न उत्तराधिकारी	"	"	१४ पारसव

परन्तु शीघ्र ही अपने से उत्पन्न हुए तथा दूसरे से उत्पन्न हुए पुत्रों को मानने का विचाराविचार होना मृत्यु के पीछे नर्क के कष्ट से बचने के लिये भी, आरम्भ हो गया। आपस्तम्ब जो बौद्धायन के एक शताब्दी पीछे हुआ, भिन्न भिन्न प्रकार के पुत्रों और उत्तराधिकारियों का विरोध करता है और कहता है कि प्राचीन समय में जो बातें की जाती थीं वे आज कल के पापी मनुष्यों में नहीं की जा सकतीं।

(१) " जो मनुष्य ठीक समय में अपने जाति की उस स्त्री के पास जाता है जो कि किसी दूसरे मनुष्य की न रही हो और जिस से उसने नियमानुसार विवाह किया हो तो उससे जो पुत्र उत्पन्न हों वे (अपनी जाति का) व्यवसाय करने के अधिकारी हैं।

(२) " और सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होने के भी।

(८) " प्राचीन समय के लोगों में इस नियम का उल्लंघन भी पाया जाता है।

(६) " वे लोग अपने बड़े प्रताप के कारण पाप के भागी नहीं होते थे।

(१०) "आज कल का जो मनुष्य उनकी बातों को ले कर उनका अनुकरण करेगा, वह पतित होगा।

(११) " किसी लड़के का दान (वा स्वीकार करना) और उस को बेचना (वा मोल लेना) व्यवहार के अनुसार नहीं है"। (आपस्तम्ब २, ६, १३) एक दूसरे स्थान पर आपस्तम्ब कहता है कि—

(२) "किसी सभ्य (पति) को अपनी (स्त्री) को अपने कुटुम्ब को छोड़ कर, दूसरे किसी को अपने लिये पुत्र उत्पन्न करने के प्रयोजन से नहीं देनी चाहिये।

" क्योंकि लोग कहते हैं कि दुलहिन वंश को दी जाती है।

(४) "इस बात का (आजकल) मनुष्यों की इंद्रियों की निर्बलता के कारण निषेध किया गया है।

(५) "नियम के अनुसार पति को छोड़ कर किसी सभ्य वा दूसरे मनुष्य का हाथ अज्ञात पुरुष की भांति समझना चाहिए।

(६) "यदि विवाह के समय की प्रतिज्ञा भंग की जाय तो पति और पत्नी दोनों निस्संदेह नर्क को जाते हैं"। (आपस्तम्ब २, १०, २७)

इस प्रकार आपस्तम्ब केवल नियोग अर्थात् पुत्र उत्पन्न करने के लिये स्त्री को दूसरे पुरुष के साथ नियुक्त करने ही का निषेध नहीं करता वरन् वह पुत्र के गोद लेने वा मोल लेने का भी निषेध करता है। आज कल हिन्दू लोग केवल अपने पुत्र को और अपना पुत्र न होने की अवस्था में गोद लिए हुए पुत्र को छोड़ कर और किसी प्रकार के पुत्र को नहीं मानते।

और अन्त में हम बटवारे के कानून का उल्लेख करेंगे। भाइयों में संपत्ति के बांटने के सम्बन्ध में भी मतभेद है। ज्येष्ठता का नियम भारतवर्ष में कभी नहीं रहा वरन् जब तक कुटुम्ब के एक में रहने की रीति प्रचलित थी तब तक सब से ज्येष्ठ पुत्र अपने पिता की संपत्ति का उत्तराधिकारी होता था और पिता की भांति सब का पालन करता था। परन्तु यह विदित होता है कि समस्त कुटुम्ब के मिल कर बड़े भाई के आधीन रहने की रीति भारतवर्ष में सदा से नहीं रही है और जिन सूत्रकारों के ग्रन्थ अब तक वर्तमान हैं उनमें से सब से प्राचीन सूत्रकार गौतम कहता है कि भाइयों में बटवारा हो जाना बहुत अच्छा है क्योंकि "बटवारा होने से आत्मीय योग्यता की वृद्धि होती है"। (२८,४)

गौतम के अनुसार सब से बड़े पुत्र को संपत्ति का बीसवाँ भाग, कुछ पशु और एक गाड़ी उस के हिस्से के अतिरिक्त मिलनी चाहिए। बिचले लड़के को कुछ घटिहा पशु और सब से छोटे को भेड़ी, अन्न, बर्तन, मकान, छकड़ा और कुछ पशु, मिलने चाहिएं और शेष संपत्ति

बराबर बराबर बांट ली जानी चाहिए। अथवा वह सब से बड़े पुत्र को दो हिस्से और शेष पुत्रों को एक एक हिस्सा लेने को कहता है। अथवा वह उन में से प्रत्येक को उन की बड़ाई के अनुसार अपने इच्छानुकूल एक एक प्रकार की संपत्ति लेने देता है अथवा उन की माता सब के लिये विशेष हिस्सा कर दे सकती है। (२८, ५—१७)

वसिष्ठ सब से बड़े भाई को दो हिस्सा और कुछ गाय और घोड़े दिलवाता है, सबसे छोटे को बकरे, भेड़ी और मकान दिलवाता है और विचले को बरतन और असबाव दिलवाता है। और यदि ब्राह्मण क्षत्री और वैश्य स्त्रियों से पुत्र उत्पन्न हुए हों तो वह पहिले को तीन भाग, दूसरे को दो भाग, और तीसरे अर्थात् वैश्य स्त्री के पुत्र को एक भाग दिलवाता है (१७, ४२—५०)

बौद्धायन सब पुत्रों को बराबर बराबर भाग अथवा सब से बड़े पुत्र को अपने भाग के अतिरिक्त संपत्ति का दसवाँ हिस्सा अधिक दिलवाता है। जब भिन्न भिन्न जातियों की स्त्रियों से पुत्र हुए हों तो जाति के क्रम के अनुसार वह उन्हें चार,तीन, दो, और एक भाग दिलवाता है (२, २, ३, २—१०)

आपस्तम्ब की सम्मति इस बात में भी अपने पूर्वजों से भिन्न है और वह संपत्ति के कमती बढ़ती भाग करने के विरुद्ध है। वह ज्येष्ठ पुत्र को श्रेष्ठता देने की सम्मति उद्धृत करता है, जिन बातों पर वे सम्मतियां दी गई हैं उन पर वादाविवाद करता है और कहता है कि उनमें केवल घटनाओं का उल्लेख है, नियमों का नहीं, और इस लिये वह ज्येष्ठ पुत्र को श्रेष्ठता देने में सहमत नहीं है। जो पुत्र धार्म्मिक हों वे सब संपत्ति के उत्तराधिकारी हैं परन्तु वह जो अधर्म्म में रुपया व्यय करता हो संपत्ति नहीं पासकता, चाहे वह ज्येष्ट पुत्र क्यों न हो। (२, ६, १४, १-५) स्त्री की संपत्ति अर्थात् जो आभूषण इत्यादि उसे ब्याह के समय मिलते थे उन की उत्तराधिकारिणी उस की लड़कियाँ होती थीं (गौतम, २८, २४; वसिष्ठ, १७, ४६; बौद्धायन, २, ३, ४३)

दार्शनिक काल में ऐसे कानून थे। उनसे इस समय तथा ऐति-

हासिक काव्य के समय का महान् अन्तर निस्सन्देह प्रगट होता है और दार्शनिक काल की सभ्यता शिक्षा और पेचीले विषयों में इस काल की प्रायोगिक रीति प्रगट होती है। ऐतिहासिक काव्य काल में जो बातें गड़बड़ थीं वे इस समय में ठीक और नियमबद्ध की गईं, जो बातें विस्तृत रूप में थीं वे संक्षिप्त की गईं और जो बातें स्पष्ट और अनिश्चित थीं वे प्रायोगिक रीति पर लाई गईं। दीवानी और फौज़दारी के मुकद्दमे अब विद्वानों और पुजेरियों की भिन्न भिन्न और अस्पष्ट सम्मतियों के द्वारा निर्णय नहीं किए जाते थे वरन् उन की सम्मतियां सुधारी जा कर और संक्षिप्त बनाई जाकर स्मृति की पुस्तकों के रूप में लाई गई थीं और उन के अनुसार विद्वान लोग न्याय करते थे। जाति के नियम, जो कि ऐतिहासिक काव्य काल तक भी कोमल थे, वे अधिक कठोर और दार्शनिक काल के अभंग नियमों के अनुकूल बनाए गए और समस्त हिन्दू समाज का भी वैसा ही कठोर नियम बना। हम अगले दोनों अध्यायों में इन दोनों विषयों का वर्णन करेंगे और तब यह दिखलावेंगे कि विज्ञान और दर्शनशास्त्र की भी ऐसी ही दशा हुई।

अध्याय ५

जाति।

जातिभेद के कठोर नियम बनाने में उस समय के सूत्रकारों को बड़ी कठिनाई पड़ी। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि पहिले पहिल मनुष्यों की चार जातियां थीं अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। परन्तु अब उनके बीच में बहुत सी दूसरी दूसरी जातियां हो गई थीं अर्थात् जिन अनार्य लोगों ने हिन्दू होना स्वीकार कर लिया था उनमें से प्रत्येक की जुदी जुदी हिन्दू जातियां हो गईं। अब ये नई जातियां कहां से आईं और उनकी उत्पत्ति का क्या कारण है? सूत्रकारों ने यह मान कर कि समस्त मनुष्य जाति में पहिले केवल चार ही जातियां थीं। इन नई जातियों को उन्हीं चार मुख्य जातियों में से निकालने का यत्न किया। तब इस अद्भुत कथा की कल्पना की गई कि ये नई जातियां चारो मुख्य जाति में परस्पर विवाह होने के कारण उत्पन्न हुई हैं। यह कहना वैसा ही है जैसा कि पांचवीं शताब्दी का कोई यूनानी पुरोहित यह कहै कि रोमन लोगों के पार्थियन स्त्रियों से विवाह करने के कारण हन लोगों की उत्पत्ति हुई, अथवा तेरहवीं शताब्दी का कोई पादरी यह कहै कि मोगलों की उत्पत्ति यूनानी बेरन लोगों के चीन देश की स्त्रियों से विवाह करने के कारण हुई। ऐसे कल्पित सिद्धान्त चाहे अज्ञानता के समय में भले ही स्वीकार कर लिए जाँय परन्तु ज्ञान की वृद्धि होने के साथ उनका लोप हो जायगा परन्तु भारतवर्ष में जहां कि लोगों की विद्या धीरे धीरे कम होती गई है इन सिद्धान्तों को पीछे के समय के सब लेखक बराबर मानते गए और उन पर आज तक भी भारतवर्ष में विश्वास किया जाता है।

वसिष्ट कहते हैं कि

(१) "लोग कहते हैं कि शूद्र पुरुष से ब्राह्मण जाति की स्त्री को जो पुत्र हो वह चाण्डाल होता है।

(२) " क्षत्री जाति की स्त्री से शूद्र पुरुष का जो पुत्र हो वह वैन होता है।

(३) "वैश्य जाति की स्त्री से शूद्र पुरुष का पुत्र अगत्यावसायिन होता है।

(४) " वे कहते हैं कि ब्राह्मण जाति की स्त्री से वैश्य का जो पुत्र उत्पन्न हो वह रामक होता है।

(५) " क्षत्रीय जाति की स्त्री से उसका (वैश्य का) जो पुत्र उत्पन्न हो वह पौलकश होता है।

(६) " लोग कहते हैं कि ब्राह्मण जाति की स्त्री से क्षत्रिय का जो पुत्र उत्पन्न हो वह सूत होता है।

८) " ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य पुरुषों को अपनेसे नीचे की पहिली, दूसरी और तीसरी जातियों की स्त्री से जो पुत्र उत्पन्न हों वे क्रमात् अम्बष्ठ, उग्र, और निषाद होते हैं।

(९) " ब्राह्मण पुरुष और शूद्र स्त्री से जो पुत्र हो वह पार्सव होता है "। (वसिष्ठ, १८)

बौद्धायन का इस विषय में कुछ मतभेद है।

(३) "ब्राह्मण का क्षत्रिय जाति की स्त्री के साथ जो पुत्र हो वह ब्राह्मण होता है, वैश्य जाति की स्त्री के साथ जो पुत्र हो वह अम्बष्ठ होता है और शूद्र जाति की स्त्री के साथ जो पुत्र हो वह निषाद होता है।

(४) " किसी किसी के मत के अनुसार वह पार्सव होता है।

(५) " क्षत्रिय का वैश्य जाति की स्त्री के साथ जो पुत्र हो वह क्षत्री, और शूद्र स्त्री के साथ जो पुत्र हो वह उग्र होता है।

(६) " वैश्य का शूद्र जाति की स्त्री के साथ जो पुत्र हो वह रथकार होता है।

(७) "शूद्र का वैश्य जाति की स्त्री के साथ जो पुत्र हो वह मागध, क्षत्रिय जाति की स्त्री के साथ क्षत्री, परन्तु ब्राह्मण जाति की स्त्री के साथ जो पुत्र हो वह चाण्डाल होता है।

(८) "वैश्य का क्षत्रिय जाति की स्त्री के साथ जो पुत्र हो वह आयोगव, और ब्राह्मण जाति की स्त्री के साथ सूत होता है।" और इसी प्रकार उग्र पिता और क्षत्री माता से स्वपाक, वैदेहक पिता और अम्बष्ठ माता से वैन, निषाद पिता और शूद्र माता से पौलकश, शूद्र पिता और निषाद माता से कुक्कुटक होता है। और "पण्डित लोग कहते हैं कि दो जातियों के सम्मेल से जो उत्पन्न हों वे व्रात्य कहलाते हैं"। (बौद्धायन १, ९, १७)

गौतम ने जो लिखा है वह समझ में आने के योग्य तथा संक्षिप्त है और हम उसे नीचे उद्धृत करेंगे—

(१६) "उच्च जाति की उससे नीचे की पहिली, दूसरी वा तीसरी जाति से जो सन्तति हो वह क्रमात् सवर्ण अर्थात् बराबर की जाति, अम्बष्ठ, उग्र, निषाद, दौश्यंत और पार्सव होती है।

(१७) "उलटे क्रम से (उच्च जातियों की स्त्रियों से) जो पुत्र उत्पन्न हों वे सूत, मागध, आयोगव, क्षत्री, वैदेहक और चाण्डाल होते हैं।

(१८) "कुछ लोगों का मत है कि ब्राह्मण जाति की स्त्री को चारो जाति के पुरुषों के साथ जो पुत्र हों वे क्रमात् ब्राह्मण, सूत, मागध और चाण्डाल होते हैं।

(१९) "और उसी भांति क्षत्री स्त्री को उन से जो पुत्र उत्पन्न हों वे क्रमात् मूर्द्धाभिसिक्त, क्षत्रिय, धीवर और पौलकस होते हैं।

(२०) "और वैश्य जाति की स्त्री को उनसे जो पुत्र हों वे भृज्जकंथ, माहिश्य, वैश्य, और वैदेह होते हैं।

(२१) "और शूद्र जाति की स्त्री को उन से पार्सव, यवन, करन, और शूद्र उत्पन्न होते हैं"। (गौतम, ४)

यहाँ हमने प्रामाणिक वाक्य उद्धृत किए हैं जिससे कि कट्टर से कट्टर विश्वास करनेवाला भी डगमगा जाय ! मागध और वैदेह जो कि भिन्न भिन्न जातियां थीं, चाण्डाल और पौलकस जो कि निस्सन्देह अनार्य जातियाँ थीं और यवन भी जो कि ब्याक्ट्रिया के यूनानी लोग तथा अन्य विदेशी लोग थे, सब उसी एक कठोर नियम में लाए गए थे जिसके बाहर कोई नहीं समझा जाता था और उन सबकी उत्पत्ति उन्हीं चार मुख्य जातियों से कही गई है । और इसके उपरान्त जब अन्य विदेशी जातियों से हिन्दूओं का परिचय हुआ तो उनमें भी यही सिद्धान्त घटाया गया और मनु ने उन जातियों की भी उत्पत्ति उन्हीं चार मुख्य हिन्दू जातियों से कर डाली ।

परन्तु यह बात विलक्षण है कि उपरोक्त जातियों में जिनकी इस प्रकार उत्पत्ति बतलाई गई है, प्रायः सब ही आदि निवासी वा विदेशी जाति के अथवा ऐसे आर्य्य लोग थे जो कि नास्तिकता और बौद्ध धर्म्म का अवलम्बन करने के कारण घृणा के पात्र बन गए थे । हम को उन में व्यवसाय की जातियों के यथा कायस्थ, वैद्य, सोनार, लोहार, कुम्हार, तांती और आज कल की ऐसी ही अन्य जातियों के नाम नहीं मिलते । भारतवर्ष में प्राचीन समय में यदि ये व्यवसाय करने वाले भिन्न भिन्न जातियों में नहीं बँटे थे तो वे किस प्रकार जुदे समझे जाते थे ? इस का उत्तर सहज है । दार्शनिक काल में वैश्य जाति भिन्न भिन्न जातियों में नहीं बँटी थी और ये सब भिन्न भिन्न व्यवसाय करने वाले उसी एक जाति में सम्मिलित थे जो कि आज कल फूट कर कई जातियों में बँट गई है । * प्राचीन समय में

*इसका एक उदाहरण बहुत होगा। बङ्गाल की वैद्य जाति दार्शनिक काल में नहीं थी परन्तु पीछे के समय में उन के लिये भी वही बात गढ़ी गई जैसा कि दार्शनिक काल में किया गया था । यह कल्पना की गई कि वैद्य लोग भी दो भिन्न भिन्न जातियों के स्त्री और पुरुष से

आर्य्य वैश्य लोग भिन्न भिन्न व्यापार और व्यवसाय करते थे परन्तु उनकी जुदी जुदी जाति नहीं थी। वे लोग लेखक, वैद्य, सोनार, लोहार, कुम्हार और तांती का काम करते थे परन्तु फिर भी वे सब उसी एक वैश्य जाति के थे। इस प्रकार आर्य्य लोगों का बड़ा भाग अब तक भी एक में था और वे अब तक भी धार्मिक ज्ञान और विद्या पाने के अधिकारी थे। वेद का पाठ, यज्ञों का करना, और दान देना, यह सब द्विज जाति के लिये अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य के लिये कहा गया है। ब्राह्मणों का विशेष कार्य्य यह था कि वे दूसरों के लिये यज्ञ करते थे और दान लेते थे और वे खेती और व्यापार भी कर सकते थे, यदि वे उसमें अपने हाथों से कार्य्य न करें। (गौतम १०, ५) जातियों के विशेष अधिकारों से जो बुराइयां उत्पन्न हुई हैं वे दार्शनिक काल में ही प्रारंभ हो गई थीं, और ब्राह्मण लोगों ने, जिनका कि हाथ के परिश्रम से छुटकारा हो गया था, परिश्रमी जातियों के धन से खाना प्रारम्भ कर दिया था और वे उस विद्या को भी नहीं प्राप्त करते थे जिसके कारण कि परिश्रम से उनका छुटकारा होना ठीक समझा जाय। वासिष्ट ने इस बुराई और अन्याय को असह्य समझा और आलसी मनुष्यों के

उत्पन्न हुए हैं। और फिर भी बुद्धि हमें यह कहे देती है कि वे लोग आर्य जाति के एक भाग से अर्थात् वैश्यों से उत्पन्न हुए थे जिन्होंने कि अपने को वैद्यकशास्त्र में लगाया, ज्योंही कि यह शास्त्र विशेष ध्यान देने योग्य हुआ। और इस प्रकार कुछ समय में उन की एक जुदी जाति ही हो गई। बंगाल के वैद्य लोग जिस नाम से अब तक पुकारे जाते हैं उस से भी यह बात प्रमाणित होती है। सब वैद्य गुप्त (सेन गुप्त, दास गुप्त इत्यादि) होते हैं। अब सूत्रग्रन्थों में कई स्थान पर यह स्पष्ट लिखा है कि सब ब्राह्मण शर्म्मन् होते हैं, सब क्षत्री वर्म्मन् होते हैं और सब वैश्य गुप्त होते हैं। हम ऐसे वाक्य अगले अध्याय में उद्धृत करेंगे।

पोषण किए जाने का ऐसी भाषा में विरोध किया है जो कि केवल ऐसे समय में लिखी जा सकती थी जब कि हिन्दूधर्म्म एक जीवित जाति का धर्म्म था।

(१) "जो (ब्राह्मण) लोग न तो वेद पढ़ते और न पढ़ाते हैं और न पवित्र अग्नि रखते हैं वे शूद्र के बराबर हो जाते हैं।

(४) "राजा को उस गांव को दण्ड देना चाहिये जहां ब्राह्मण लोग अपने पवित्र धर्म्म का पालन नहीं करते और वेद नहीं जानते और भिक्षा मांग कर रहते हैं, क्योंकि ऐसा गांव लुटेरों का पोषण करता है।

(६) "मूर्ख लोग अज्ञानता और पवित्र नियमों को न जानने के कारण जिस पाप को धर्म्म कहते हैं वह पाप उन लोगों के सिर पर सौ गुना हो कर गिरेगा जो लोग कि उसे धर्म्म बतलाते हैं।

(११) "लकड़ी का बना हुआ हाथी, चमड़े का बना हुआ हिरन और वेद न जाननेवाला ब्राह्मण ये तीनों केवल नाम मात्र के लिये अपनी जाति के हैं।

(१२) "जिस देश में मूर्ख लोग विद्वानों का अन्न खाते हैं उस देश में सूखा पड़ेगा अथवा कोई दूसरी बड़ी भारी आपत्ति पड़ेगी"। (वसिष्ठ, ३)

क्षत्रिय लोगों का अपने कार्य्य के अतिरिक्त यह कर्तव्य था कि लड़ें, विजय करें, और राज्य करें, रथ का प्रबन्ध करना और तीर चलाना सीखें, और युद्ध में दृढ़ होकर खड़े रहें और मुँह न मोड़ें। (गौतम १०, १५ और १६) वैश्य लोगों का मुख्य कार्य्य व्यापार करना, खेती करना, पशु रखना, द्रव्य उधार देना और लाभ के लिये परिश्रम करना था (गौतम १०, ४९)। शूद्र लोगों का काम तीनों जातियों की सेवा करने का था परन्तु वे लोग धन उपार्जन करने के लिये परिश्रम भी कर सकते थे (गौतम १०, ४२) और इसमें कोई सन्देह नहीं कि दार्शनिक काल में तथा उसके पीछे के कालों में

वे अधिकतर स्वतंत्र कार्य्य कर के द्रव्य उपार्जन और व्यापार करते थे, परन्तु शूद्रों को धर्म्म सम्बन्धी ज्ञान सीखना वर्जित था।

"अन्य लोग जैसा हमें देखते हैं उसी भांति हमें अपने को देखना चाहिए" इस से सदैव लाभ होता है और इस कारण हम अब यह देखेंगे कि विदेशी लोग जाति भेद को किस दृष्टि से देखते थे। यह बिलकुल स्पष्ट है कि मेगास्थिनीज़ ने जिन सात जातियों का वर्णन किया है वे वास्तव में उपरोक्त चार जातियां ही हैं। उसने जिन दर्शनवेत्ताओं और उपदेशकों का वर्णन किया है वे ब्राह्मण थे जोकि धार्मिक अध्ययन में लगे हुए थे और जो राज्य में नौकर थे। उसने जिन खेती करनेवालों, गड़ेरियों और शिल्पकारों का वर्णन किया है वे वैश्य और शूद्र थे जोकि खेती चराई और दस्तकारी का कार्य्य करते थे। उसने जिन सिपाहियों का उल्लेख किया है वे क्षत्रिय थे और जिन ओवरसियरों का उल्लेख किया है वे केवल राजा के विशेष नौकर अर्थात भेदिये थे।

इसके सिवाय मेगास्थिनीज़ दर्शनशास्त्रवेत्ताओं को दो भागों में अर्थात् ब्राह्मणों वा गृहस्थों और श्रामनों अथवा सन्यासियों में बांटता है। ब्राह्मणों के विषय में वह कहता है कि "बालक लोग एक मनुष्य के उपरान्त दूसरे मनुष्य की रक्षा में रक्खे जाते हैं और ज्यों ज्यों वे बड़े होते जाते हैं त्यों त्यों उत्तरोत्तर पहिले वाले गुरु से अधिक योग्य गुरु पाते हैं। दर्शनशास्त्र जाननेवालों का निवास नगर के सामने किसी कुंज में एक साधारण लम्बे चौड़े घेरे में होता है। वे बड़ी सीधी सादी चाल से रहते हैं, फूस की चटाइयों वा मृगछालाओं पर सोते हैं। वे मांस और शारीरिक सुखों से परहेज़ करते हैं और अपना समय धार्म्मिक कथा वार्ता सुनने और ऐसे मनुष्यों को जो कि उनकी बातें सुनें, ज्ञान उपदेश करने में व्यतीत करते हैं। ... सैंतीस वर्ष तक इस प्रकार रहने के उपरान्त प्रत्येक मनुष्य अपने सम्पत्तिस्थान को लौट आता है और वहां अपने शेष दिन शान्ति से व्यतीत करता है। तब वह उत्तम मलमल और अंगुलियों और कान में सोने के कुछ आभूषण पहिनता है और मांस खाता है परन्तु परिश्रम के काम में लगाए जाने वाले जानवरों का नहीं। वह

गरम और अधिक मसालेदार भोजन से परहेज़ रखता है। वह जितनी स्त्रियों से इच्छा हो विवाह करता है, इस उद्देश्य से कि बहुत सी सन्तति उत्पन्न हो क्योंकि बहुत सी स्त्रियां होने के कारण अधिक लाभ होते हैं और चूंकि उसके गुलाम नहीं होते अतएव उसे अपनी सेवा कराने के लिये बालकों की अधिक आवश्यकता होती है।

श्रामनों वा सन्यासियों के विषय में मेगास्थिनीज़ कहता है कि "वे जंगलों में रहते हैं और वहां पेड़ों की पत्तियां और जंगली फल खाते हैं और वृक्षों की छाल के कपड़े पहिनते हैं। वे उन राजाओं से बात चीत रखते हैं जो कि दूतों के द्वारा भौतिक पदार्थों के विषय में उनकी सम्मति लेते हैं और जो उनके द्वारा देवताओं की पूजा और प्रार्थना करते हैं"। उनमें से कुछ लोग वैद्य का काम करते हैं और मेगास्थिनीज़ कहता है कि "औषधि विद्या को जानने के कारण वे विवाहों को फलदायक कर सकते हैं और सन्तान के पुरुष वा स्त्री होने का निर्णय कर सकते हैं। वे अधिक करके औषधियों द्वारा नहीं वरन् भोजन के प्रबन्ध द्वारा रोग को अच्छा करते हैं। उनकी सर्वोत्तम औषधियां मलहम और लेप हैं।" अन्य मार्गों से हमें जो बातें विदित होती हैं वैसे ही इस वृत्तान्त से भी विदित होता है कि प्राचीन भारतवर्ष में गौतम बुद्ध के समय के पहिले और उसके उपरान्त सन्यासी लोग रहते थे जो कि श्रामन कहलाते थे और कन्द और जंगली फल खाते थे। और जिस समय यह बड़ा सुधारक अपने धर्म्म के सार अर्थात् संसार से अलग हो कर पवित्र जीवन व्यतीत करने, का उपदेश देता था तो उसके मतानुयायी लोग जो कि संसार से अलग हो कर रहते थे दूसरे सन्यासियों से अलग समझे जाने के लिये शाक्यपुत्रीय श्रामन अर्थात् शाक्य के मत का अनुकरण करनेवाले सन्यासी कहलाते थे।

दूसरे स्थान पर मेगास्थिनीज़ दर्शनशास्त्र जाननेवाली जाति के विषय में कहता है कि वे लोग सब "सर्वसाधारण के कामों से बचे रहने के कारण न तो किसी के मालिक और न किसी के नौकर थे। परन्तु लोग उन्हें अपने जीवन समय के यज्ञ करने के लिये

अथवा मृत मनुष्य की क्रिया करने के लिये नियुक्त करते थे। वे लोग एकत्रित भीड़ को वर्षा होने अथवा न होने के विषय में तथा लाभकारी हवाओं और रोगों के विषय में भविष्यतवाणी कहते थे।" इस प्रकार हम लोगों को दार्शनिक काल के ब्राह्मणों के जीवन का एक संक्षिप्त परन्तु उत्तम वृत्तान्त एक पक्षपात रहित विदेशी के द्वारा मिलता है। वे लोग बच्चों को धर्म्म सम्बन्धी शिक्षा देते थे, वे यज्ञों और मृतक की क्रियाओं को करवाते थे, गांव के रहनेवालों और खेती करनेवालों को ऋतु और फसल के विषय में सम्मति देते थे और वे भिन्न भिन्न रोगों की औषधि भी देते थे। विशेष अवसरों पर राजा लोग उनकी सम्मति लेते थे और वे ब्राह्मण लोग जिन्हें कि मेगास्थिनीज़ एक जुदी जाति समझता है और जिन्हें वह उपदेशक कहता है राजाओं के राजकाज के सम्बन्ध में सम्मति देते थे, खजाना रखते थे और दीवानी और फौजदारी के मुकद्दमों का न्याय करते थे। पढ़े लिखे लोग धर्म्म सम्बन्धी बातों में उन की सम्मति और बड़े बड़े यज्ञों में उनकी सहायता लेते थे और खेती करने वाले पण्डितों से वर्ष भर का वृत्तान्त पूछते थे। जाति का पतन होने के साथ ही साथ जो जाति इस प्रकार सब लोगों से सम्मानित थी वह धीरे धीरे अपने विशेष अधिकारों को पूरे प्रकार से काम में लाने लगी और वह मिथ्या बातों के द्वारा उस श्रेष्ठता को दृढ़ करने का यत्न करने लगी जिसे कि उसने पहले पवित्रता और विद्या से प्राप्त किया था।

क्षत्रिय जाति के विषय में मेगास्थिनीज़ बहुत संक्षिप्त वृत्तान्त देता है। सिपाही लोग युद्ध के लिये तय्यार और सज्जित किए जाते थे परन्तु शान्ति के समय में वे आलस्य और तमाशे इत्यादि में लगे रहते थे। "सारी सेना, शस्त्रधारी सिपाही, युद्ध के घोड़े, युद्ध के हाथी इत्यादि सब का राजा के व्यय से पालन किया जाता है।" ओवरसियरों का यह धर्म्म था कि वे राज्य में सब बातों का पता लगावें और उन्हें राजा से कहें।

खेती करनेवालों, चरवाहों और शिल्पकारों के विषय में जो कि प्रत्यक्ष वैश्य और शूद्र जाति के थे, मेगास्थिनीज़ एक अधिक मनो-

रञ्जक और सच्चा वृत्तान्त देता है। खेती करनेवाले युद्ध तथा अन्य साधारण कामों से बचे रहने के कारण "अपना पूरा समय खेती करने में लगाते हैं और कोई शत्रु यदि खेती का काम करते हुए किसी किसान के पास आजाय तो वह उसे कोई हानि न पहुंचावेगा क्योंकि इस जाति के लोग सर्वसाधारण के लाभ करनेवाले समझे जाते हैं और इस कारण वे सब हानि से रक्षित हैं। इस प्रकार भूमि में कोई हानि न पहुंचने के कारण तथा उत्तम फसल होने के कारण लोगों को वे सब आवश्यक वस्तुएँ मिलती हैं जोंकि जीवन को सुखी बनाती हैं। .... वे लोग राजा को भूमि का कर देते हैं क्योंकि सारा भारतवर्ष राजा की सम्पत्ति समझा जाता है और कोई मनुष्य भूमि का मालिक नहीं गिना जाता। भूमि के कर के सिवाय वे पैदावार का चौथाई भाग राजा के कोश में देते हैं*।" "चरवाहे लोग नगर अथवा गाँव में नहीं रहते परन्तु वे खेमों में रहते हैं†। वे लोग हानिकारक पक्षियों और जंगली जानवरों का शिकार कर के और उन को फँसा कर देश को साफ रखते हैं। शिल्पकारों में कुछ लोग शस्त्र बनानेवाले हैं और कुछ लोग उन औजारों को बनाते हैं जोकि खेती करनेवाले वा अन्य लोगों को उन के भिन्न भिन्न व्यवसाय में उपयोगी होते हैं। यह जाति केवल कर देने से ही छूटी नहीं है वरन् उसे राज्य से सहायता भी मिलती है।

———ooo———

*हिन्दुओं के समय में भारतवर्ष में भूमि का साधारण कर पैदावार का छठां भाग था।

† यह वर्णन आदि बासियों की किसी जाति का है जो कि उस समय पूरी तरह से हिन्दू नहीं हो गई थी।

अध्याय ६

सामाजिक जीवन

हम को पहिले पहिल सूत्रग्रन्थों में ही विवाह की उन भिन्न भिन्न रीतियों का वर्णन मिलता है जिनसे कि हम पीछे के समय की स्मृतियों के द्वारा परिचित हैं। वसिष्ठ केवल छः रीतियों का वर्णन करते हैं, अर्थात्—ब्राह्मविवाह जिसमें पिता जल का अर्घ दे कर अपनी कन्या को विद्याध्ययन करनेवाले बर के अर्पण करता है।

दैव विवाह जिसमें पिता अपनी कन्या को आभूषणों से सज्जित कर के यज्ञ होते समय उसे स्थानापन्न पुरोहित को दे देता है।

आर्ष विवाह जिसमें पिता गाय वा बैल के पलटे अपनी कन्या को दे देता है।

गाँधर्व विवाह जिसमें स्वयं पुरुष अपनी प्रिय कुमारी को ले जा कर विवाह कर लेता है।

क्षात्र (वा राक्षस) विवाह जिसमें पति किसी कुमारी के सम्बन्धियों को मार काट कर उसे बलात् ले जाता है।

मानुष्य (वा आसुर) विवाह जिसमें पति किसी कुमारी को उसके पिता से मोल ले लेता है।

आपस्तम्ब भी केवल इन्हीं छ विवाह को मानते हैं परन्तु वह क्षात्र विवाह को राक्षसविवाह और मानुषविवाह को आसुरविवाह कहते हैं। इसके सिवाय आपस्तम्ब केवल प्रथम तीनों विवाहों को अर्थात् ब्राह्म, दैव और आर्ष विवाहों को उत्तम समझते हैं।

परन्तु इनसे प्राचीन लेखक गौतम और बौद्धायन विवाह की आठ रीतियाँ लिखते हैं जिसमें उपरोक्त छः विवाहों के अतिरिक्त

निम्नलिखित दो प्रकार के विवाह अधिक हैं अर्थात् प्राजापत्य विवाह जो कि प्रशंसा के योग्य समझा जाता था और पैशाचविवाह जो कि पाप समझा जाता था। प्राजापत्य विवाह में पिता अपनी कन्या को केवल यह कह कर उसके प्रियतम को दे देता था कि "तुम दोनों मिल कर नियमों का पालन करो।" पैशाचविवाह केवल एक प्रकार का कन्याहरण था जिसमें पुरुष किसी अचेत स्त्री को ग्रहण करता था।

दार्शनिक समय में कुटुम्बियों के साथ विवाह करने का बड़ा निषेध था। वसिष्ठ उस स्त्री और पुरुष में विवाह होने का निषेध करते हैं जो कि एक ही गोत्र वा एक ही प्रवर के हों अथवा जिनका माता के पक्ष में चार पीढ़ी तक का वा पिता पक्ष में छः पीढ़ी तक का सम्बन्ध हो (८, १ और २)। आपस्तम्ब उन पुरुषों और स्त्रियों के विवाह का निषेध करते हैं जो कि एक ही गोत्र के हों अथवा जिन में माता (वा पिता) के पक्ष में (छःपीढ़ी तक का) सम्बन्ध हो (२, ५, ११, १५ और १६)। परन्तु बौद्धायन किसी पुरुष को अपने मामा वा चाची की कन्या से विवाह करलेने की आज्ञा देते हैं (१, १, २, ४)।

दार्शनिक समय में अल्प अवस्था की कन्याओं के विवाह का प्रचार नहीं हुआ था। वसिष्ठ कहते हैं—

६७ "जो कुमारी युवावस्था को प्राप्त हो गई हो उसे तीन वर्ष तक ठहरना चाहिए।

६८ "तीन वर्ष के उपरान्त वह अपने बराबर जाति के किसी पति से विवाह कर सकती है।" (१७)

७० "परन्तु उपरोक्त वाक्य के आगे ही एक दूसरा वाक्य मिलता है जिसमें कन्याओं के बचपन में ही विवाह करने का उल्लेख है। यह वाक्य किसी दूसरे का जोड़ा हुआ जान पड़ता है।

विधवा विवाह जो कि वैदिक काल तथा ऐतिहासिक काव्य काल में प्रचलित था, उसका प्रचार दार्शनिक काल में भी रहा

परन्तु बालविधवाओं को छोड़ कर अन्य किसी अवस्था में अब यह अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था। विधवा के दूसरे विवाह से जो पुत्र होता था वह बहुधा दत्तक पुत्र वा नियुक्त स्त्री वा कन्या के पुत्र की भाँति समझा जाता था, जैसा कि पूर्व अध्याय में उद्धृत किये हुए वाक्यों से विदित होगा।

विवाह के लिये धर्म्मसूत्रों में इस प्रकार के नियम हैं। विवाह एक नए प्रकार के जीवन अर्थात् गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने का द्वार समझा जाता था। विवाह के पहिले युवा मनुष्य केवल विद्यार्थी होता था। यहाँ पर विद्यार्थी तथा गृहस्थ के लिये सूत्रों में जो नियम दिए हैं उनका संक्षेप में वर्णन करना मनोरञ्जक होगा।

बालक के जीवन की पहिली बड़ी बात कदाचित् उसका विद्यार्थी हो कर विद्यारम्भ करना था। ब्राह्मण का बालक आठ वर्ष और सोलह वर्ष की अवस्था के भीतर, क्षत्रिय बालक ग्यारह वर्ष और बाईस वर्ष के भीतर और वैश्य बारह वर्ष वा चौबीस वर्ष के भीतर विद्यारम्भ करता था। तब वह विद्यार्थी अपने गुरू के घर १२, २४ ३६, वा ४८ वर्षों तक अपनी इच्छानुसार एक दो तीन वा चार वेदों को सीखने के लिये रहता था। अपने जीवन के इस काल में वह मसालेदार भोजन सुगन्ध और सब प्रकार के विलास के पदार्थों से अलग रहता था। वह अपने बालों का जूड़ा बाँधता था और एक छड़ी, कमर में एक वस्त्र और सन वा पटुए का कोई वस्त्र अथवा मृगचर्म ही धारण करता था। सुख भोग के सब स्थानों से बचता हुआ, अपनी इंद्रियों को दमन करता हुआ, विनयी और नम्र विद्यार्थी प्रति दिन सबेरे अपनी छड़ी ले कर आस पास के गावों के पुण्यात्मा गृहस्थों के यहां भिक्षा के लिये जाता था और जो कुछ उसे दिन भर में मिलता था वह सब अपने गुरू के सामने ला रखता था और गुरू के भोजन कर लेने के उपरान्त वह भोजन मुँह में डालता था। वह जंगलों में जा कर लकड़ी लाता था और सबेरे तथा सन्ध्या के समय घर के काम के लिये जल लाता था। प्रति दिन सबेरे वह पूजास्थान को झाड़ू दे कर साफ

करता था और आग जला कर उस पर पवित्र ईंधन रखता था, और प्रति दिन सन्ध्या के समय वह अपने गुरू के पैर धोता था, उसकी देह दाबता था, और उसके सो जाने पर स्वयं सोता था। प्राचीन समय के विद्यार्थी लोगों का जीवन ऐसा नम्र और सीधा सादा था और अपने पुरुषों की पवित्र विद्या का उपार्जन करने के लिये वे इस प्रकार अपने मन की पूरी शक्ति को काम में लाते थे।

यह कहना अनावश्यक होगा कि शिक्षा केवल मुँह से दी जाती थी। विद्यार्थी अपने गुरू का हाथ सम्मान से पकड़ कर और अपना चित्त गुरू की ओर एकाग्र कर के कहता था "पूज्यवर, पाठ दीजिये" और तब वेदों की भूमिका के लिये सावित्री (ऋग्वेद की प्रसिद्ध गायत्री) का पाठ किया जाता था (गौतम १, ५५, ५६) नित्य नए नए पाठ सीखे जाते थे और विद्यार्थी को दिन में दो कार्य्य करने पड़ते थे अर्थात् अपना पाठ स्मरण करना और गुरू के घर का काम काज करना।

जब कई वर्ष तक बहुधा कई गुरुओं के पास पढ़ कर विद्यार्थी अपने घर लौटता था तो वह अपने गुरुओं को एक अच्छी दक्षिणा देता था और अपना विवाह कर के गृहस्थ की नाईं अथवा स्नातक अर्थात् विद्योपार्जन समाप्त कर के स्नान किये हुए मनुष्य की भाँति रहता था। सूत्रकारों ने गृहस्थों के लिये अपने अतिथों का आदर सत्कार करना बारम्बार उनका सार्वोच्च धर्म्म लिखा है क्योंकि अतिथि का सत्कार करना गृहस्थ के लिये ईश्वर का एक बड़ा भारी यज्ञ है जिसे कि सदैव करना चाहिए (आपस्तम्ब २, ३, ७, १)।

छात्र तथा गृहस्थाश्रम को छोड़ कर अन्य दो प्रकार के आश्रम भी थे अर्थात् भिक्षुक और वैखानस। संस्कृत के ग्रन्थों से हमें विदित होता है कि ठीक जीवन उस मनुष्य का समझा जाता था जो कि अपनी भिन्न भिन्न अवस्थाओं में इन चारों आश्रमों में रह चुका हो। आपस्तम्ब भी, जो कि एक सब से पीछे के सूत्रकार हैं कहते हैं कि "यदि वह इन चारों (आश्रमों) में रहे ... ... तो वह मुक्त हो जायगा"

(२, ६, २१, २)। परन्तु आरम्भ में यह बात नहीं थी और प्राचीन समय में कोई मनुष्य भी इन चारों में से किसी एक आश्रम में अपना सब जीवन व्यतीत कर सकता था। वसिष्ठ ने कहा है कि कोई मनुष्य अपनी शिक्षा समाप्त करने के उपरान्त अपनी इच्छानुसार अपना शेष जीवन इन चारों मे से किसी एक आश्रम मे व्यतीत कर सकता था (७, ३)। और बौद्धायन भी यह नियम उद्धृत करते हैं कि मनुष्य अपनी शिक्षा समाप्त करने के उपरान्त एक दम भिक्षुक हो सकता है (२, १०, १७, २)। हमारे लिये यहां पर भिक्षुक और वैखानस लोगों के नियमों का उल्लेख करना निष्प्रयोजन होगा। इतना कहना बहुत होगा कि भिक्षुक अपना सिर मुड़ाए रहता था, उसके कोई सम्पत्ति वा घर नहीं होता था, वह तपस्या करता था, निराहार रहता वा भिक्षा माँग कर खाता था एक वस्त्र वा मृगचर्म पहिनता था, केवल भूमि पर सोता था, एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण किया करता था, धार्मिक क्रियाओं का साधन नहीं करता था, परन्तु वेद का पाठ और परमात्मा का ध्यान कभी नहीं छोड़ता था (वसिष्ठ, १०)। इसके विरुद्ध वैखानस यद्यपि वे बनों में रहते थे, कंद और फल भोजन करते थे, और पवित्र जीवन व्यतीत करते थे परन्तु वे पवित्र अग्नि को जलाते थे और सन्ध्या और सबेरे के समय अर्घ देते थे। (वसिष्ठ ६)।

अब हम गृहस्थों के विषय में फिर वर्णन करते हैं जो कि चारों आश्रमों में सब से श्रेष्ठ समझे गए हैं, क्योंकि जाति में गृहस्थ लोग ही सम्मिलित थे, भिक्षुक और वैखानस नहीं। और "जिस प्रकार सब छोटी और बड़ी नदियां अन्त में समुद्र ही का आश्रय लेती हैं उसी प्रकार सब आश्रम के लोग गृहस्थों के ही द्वारा रक्षित किये जाते हैं (वसिष्ठ, ८, १५)। गृहस्थों के लिये पूरे चालीस धर्म्म कहे गए हैं (गौतम, ८, १४—२०) और इन धर्म्मों के उल्लेख से हमको प्राचीन हिन्दुओं के धर्म्म और गृहस्थी के जीवन की झलक मिल जायगी।

गृहस्थी के कर्म्म (१) गर्भाधान (गर्भ धारण करने के समय की रीति) (२) पुंसवन (पुत्र के जन्म होने के समय

की रीति (३) सीमन्तोन्नयन (गर्भवती स्त्री का केश सँवारना), (४) जातकर्म्मन (पुत्र के जन्म के समय की रीति), (५) सन्तान का नाम रखना, (६) उसे प्रथम बार खिलाना, (७) सिर का मुण्डन, (८) विद्या आरम्भ करवाना (६-१२), चारो वेदों के पढ़ने का संकल्प, (१३) विद्याध्ययन समाप्त करने का स्नान, (१४) विवाह अर्थात् धार्म्मिक क्रियाओं को करने की सहायता के लिये स्त्री का ग्रहण करना, (१५-१६) देवताओं, पितरों, मनुष्यों जीवों और ब्राह्मण अर्थात् परमेश्वर के लिये पांच यज्ञ।

गृह्यधर्म्म अथवा पाक यज्ञ-(१) अष्टका अर्थात् वे क्रियाएं जो जाड़े में की जाती हैं, (२) पार्वण अर्थात् नवीन चन्द्रमा और पूर्ण चन्द्रमा के दिन की क्रियाएं, (३) श्राद्ध अर्थात् पितरों के लिये बलि-दान, (४) श्रावणी अर्थात् वह क्रिया जो कि श्रावण मास में की जाती है, (५) आग्रहायणी जो कि अग्रहायण मास में की जाती है (६) चैत्री जो कि चैत्र में की जाती है और (७) आश्वयुगी जो कि आश्विन मास में की जाती है।

श्रौत कर्म्म-ये दो प्रकार के होते हैं अर्थात् हविर्यज्ञ अथवा वे पूजाएँ जिनमें चावल, दूध, घी, मांस इत्यादि का अर्घ दिया जाता है और दूसरे सोमयज्ञ जिसमें सोमरस का अर्घ दिया जाता है।

हविर्यज्ञ ये हैं (१) अग्न्याधान, (२) अग्निहोत्र, (३) दर्सपूर्णमास (४) अग्रयण, (५) चातुर्मास्य, (६) निरुधपशुबन्ध और (७) सौत्रामणी।

सोमयज्ञ ये हैं—(१) अग्निष्टोम, (२) अत्यग्निष्टोम (३) उक्थ्य (४) षोडसिन, (५) बाजपेय, (६) अतिरात्र, (७) आप्तोर्याम। ये चालीस प्रकार के धर्म्म गृहस्थों के लिये कहे गए हैं। परन्तु इन पूजाओं को करने से कहीं बढ़ कर धर्म्म और भलाई करने का पुण्य समझा जाता था और केवल उसी से स्वर्ग की प्राप्ति समझी जाती थी। गौतम कहते हैं कि—

"वह मनुष्य जो इन चालिसों पवित्र कर्म्मों को करता हो पर उसकी आत्मा में यदि आठो भलाइयाँ न हों तो उसका ब्रह्म में लय नहीं होगा और न वह स्वर्ग में पहुंच सकेगा।

"परन्तु वह जो इन चालीस कर्म्मों में से केवल कुछ कर्म्मों को भी यथार्थ में करता हो और यदि उसकी आत्मा में ये उत्तम भलाइयाँ हों तो ब्रह्म में उसका लय हो जायगा और वह स्वर्ग में निवास करेगा।" [८, २४ और २५]

इसी प्रकार वसिष्ठ कहते हैं कि—

"जिस मनुष्य में भलाई नहीं है उसे वेद पवित्र नहीं कर सकते यद्यपि उसने उन सबको उनके छओ अंगों के सहित अध्ययन क्यों न किया हो। ऐसे मनुष्य के पास से पवित्र पाठ इसी प्रकार दूर भागते हैं जिस प्रकार पक्षियों को जब पूरी तरह से पर आजाते हैं तो वे अपने घोसलों से निकल भागते हैं।

"जिस प्रकार स्त्री की सुन्दरता से अन्धे मनुष्य को कोई सुख नहीं होता उसी प्रकार चारो वेदों और उनके छओं अंगों तथा बलिदानों से उस मनुष्य को कोई फल नहीं होता जिसमें कि भलाई नहीं है।

"जो कपटी मनुष्य छल करता है उसे वेद के पाठ पाप से नहीं बचाते। परन्तु जो वेद के दो अक्षरों को भी आचरण के उत्तम नियमों पर ध्यान दे कर पढ़ता है वह इस प्रकार स्वच्छ हो जाता है जैसे कि आश्विन के महीने में मेघ।" (६, ३—८)

अब हम इन चालिसों क्रियाओं अथवा उनमें से उन क्रियाओं के विषय में कुछ कहेंगे जिनसे कि हिन्दुओं के जीवन का वृत्तान्त विदित होता है। उनमें गृहस्थी की रीतियां, गृहस्थकर्म्म और श्रौतकर्म्म सम्मिलित हैं जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। और हम यह भी कह चुके हैं कि श्रौतकर्म्मों का विस्तारपूर्वक विवरण यजुर्वेद और ब्राह्मणों में दिया है और वे संक्षिप्त रूप से श्रौतसूत्रों में दिये गए हैं। ऐतिहासिक काव्य काल के वर्णन में हम ने इन कर्म्मों का

संक्षिप्त वर्णन लिखा है परन्तु उनसे लोगों के चाल व्यवहार और जीवन का बहुत कम वृत्तान्त विदित होता है और इस कारण वे हमारे इतिहास के लिये बहुत आवश्यक नहीं हैं। परन्तु गृहस्थी की रीतियां और गृह्यकर्म्म से हमको प्राचीन हिन्दुओं के चाल व्यवहार का अच्छा वृत्तान्त विदित होता है । वास्तव में प्राचीन हिन्दुओं का किस प्रकार का जीवन था और उनके चाल व्यवहार किस प्रकार के थे, इसका पूरा वृत्तान्त हमें उनसे विदित होता है।

पहिले हम गृहस्थी की रीतियों के विषय में लिखेंगे और उसके उपरान्त गृह्यकर्म्मों के विषय में।

गृहस्थी की रीतियों में सब से आवश्यक ये हैं अर्थात् विवाह, वे रीतियां जो कि स्त्री के गर्भवती होने की अवस्था में तथा पुत्र उत्पन्न होने के समय में होती हैं, अन्नप्राशन अर्थात् बच्चों को पहिली बार अन्न खिलाना, मुंडन, विद्यारम्भ करना, और विद्याध्ययन समाप्त कर के गुरु के यहां से लौटना। जब हम गृहस्थी की इन रीतियों का वर्णन पढ़ते हैं तो हम एक प्रकार से अपने प्राचीन पुरुषों के समस्त जीवन वृत्तान्त देखते हैं और इन रीतियों के हम लोगों के लिये और भी अधिक मनोरञ्जक होने का कारण यह है कि आज दो हजार वर्ष के उपरान्त भी हम लोग इनमें से बहुतसी रीतियों को करते हैं।

विवाह—दुलहा कन्या के पिता के यहां दूत भेजता है और ऋग्वेद की १०, ८५, २३ ऋचा को कहता है जिसका अनुवाद हम पहिले दे चुके हैं । यदि यह प्रस्ताव दोनों ओर के लोगों को स्वीकार हो तो विवाह का वचन स्वीकार किया जाता है और दोनों ओर के लोग एक भरा हुआ कलश छूते हैं जिसमें फूल भूने-हुए दाने, यव और स्वर्ण रक्खा जाता है और तब वे एक मंत्र उच्चारण करते हैं। तब दुलहा एक यज्ञ करता है। निश्चित तिथि पर दुलहिन के कुल के लोग उसे सर्वोत्तम फलों और सुगंध से बासित जल से स्नान करवाते हैं उसे नया रंगा हुआ वस्त्र पहिराते हैं, और उसे अग्नि के समीप बैठाते हैं जहां कुल का आचार्य यज्ञ करता है। दुलहा भी स्नान कर के शुभ रीतियों को करता है और उसके उप-

रान्त "कन्या के घर में ऐसी सुखी युवा स्त्रियां जो विधवा न हों उनका स्वागत करती हैं" (सांखायन)। विवाह की रीति भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न प्रकार की होती थी परन्तु ये सब रीतियां मुख्य मुख्य बातों में मिलती थीं। "वास्तव में भिन्न देशों और भिन्न ग्रामों की रीतियां भिन्न भिन्न हैं ... परन्तु जो बातें सब लोग मानते हैं उनका हम उल्लेख करेंगे" (आश्वलायन)। दुलहा दुलहिन का हाथ पकड़ कर उससे तीन बार अग्नि की परिक्रमा करवाता है और कुछ ऋचाएं कहता है यथा "आओ हम लोग विवाह करें। हम लोगों को सन्तान उत्पन्न हों। प्रीति, सुख और आनन्द के सहित हम लोग सौ वर्ष तक जीएं।" प्रत्येक परिक्रमा में वह उसका पैर यह कह कर चक्की पर रखवाता है कि "पत्थर की नाईं दृढ हो।" दुलहिन का भाई अथवा रक्षक उसके हाथ में आज्य अर्थात् भूना हुआ अन्न देता है और वह उसे अग्नि में हवन करती है। उसके उपरान्त दुलहा दुलहिन को सात कदम आगे बढ़ाता है और उपयुक्त शब्द उच्चारण करता है। अग्नि की परिक्रमा करना, पत्थर पर पैर रखना, भूने हुए अन्न का हवन करना, और आगे की ओर सात कदम रखना येही विवाह की मुख्य मुख्य बातें थीं। "और दुलहिन को उस रात्रि में किसी ऐसी ब्राह्मणी के घर पर रहना चाहिए जिसका पति और जिसके लड़के जीवित हों। जब वह ध्रुव का तारा, अरुंधति का तारा, और सप्तऋषि का तारा देखे तो उसे अपना मौन भङ्ग कर के यह कहना चाहिए कि मेरा पति जीवित रहे और मुझे संन्तान हो" (आश्वलायन)। सांखायन कहते हैं कि "सूर्य के अस्त होने के उपरान्त उन्हें तब तक मौन हो कर बैठना चाहिए जब तक कि ध्रुव का तारा न निकले। तब वह उसे यह कह कर ध्रुव का तारा दिखलाता है कि 'तू मेरे साथ सुख से रह कर दृढ रहे।" तब वह कहती है कि 'मैं भृगु का तारा देखती हूं मुझे सन्तान उत्पन्न हो।' तीन रात्रि तक उन्हें भोग नहीं करना चाहिए।"

गर्भाधान—स्त्री के गर्भवती रहने की अवस्था में कई प्रकार की रीतियां करनी पड़ती थीं। पहिले गर्भाधान की रीति होती थी जिससे कि गर्भ का रहना समझा जाता था।

फिर पुंसवन की रीति से पुत्र सन्तान का निर्णय होना समझा जाता था और गर्भरक्षण की रीति से यह समझा जाता था कि गर्भ में बच्चा सब आपत्तियों से रक्षित रहेगा। सीमन्तोन्नयन की रीति जो कि आश्वलायन के अनुसार चौथे मास में और सांखायन के अनुसार सातवें मास में की जाती थी, बड़ी मनोरञ्जक है। गोभिल कहते हैं कि वह चौथे, छठें वा आठवें मास में की जा सकती थी और उसमें कुछ रीतियों के साथ पति प्रेम से अपनी स्त्री के केश में मांग काढ़ता था।

पुत्र का जन्म—इस अवसर पर ये रीतियां होती थीं अर्थात् जातकर्म वा पुत्र उत्पन्न होने की रीति, मेधाजननम् वा ज्ञान उत्पन्न करने और आयुष्य वा आयु बढ़ाने की रीति। इस अवसर पर पिता अपने सन्तान का एक पवित्र नाम रखता है। यदि पुत्र हो तो यह नाम सम अक्षरों का होता है और यदि कन्या हो तो विषम अक्षरों का। केवल माता और पिता इस नाम को जानते हैं। दसवें दिन जब माता प्रसूतिका गृह से उठती है तो सब लोगों के लिये लड़के का एक दूसरा नाम रक्खा जाता है। "ब्राह्मण के नाम के अन्त में शर्म्मन् होना चाहिए (यथा विष्णुशर्म्मन्) क्षत्रिय के नाम के अन्त में वर्म्मन् (यथा लक्ष्मी वर्म्मन्) और वैश्य के नाम के अन्त में गुप्त (यथा चन्द्रगुप्त)" (पारस्कर, १, १७. ४)।

बच्चे को प्रथम बार अन्न खिलाना—यह प्रसिद्ध अन्नप्राशन की रीति है। ऐसा जान पड़ता है कि आज कल की अपेक्षा प्राचीन समय में लड़के को बहुत प्रकार के भोजन खिलाए जा सकते थे। "यदि उसे बलिष्ट होने की इच्छा हो तो बकरे का मांस, यदि धार्मिक होने की इच्छा हो तो तीतर का मांस और यदि प्रतापी होने की इच्छा हो तो पका हुआ चावल और घी खिलाना चाहिए।" (आश्वलायन और सांखायन)। "यदि वह अच्छा वक्ता होना चाहे तो भारद्वाजी पक्षी का मांस, यदि फुर्तीला होना चाहे तो मछली इत्यादि खिलानी चाहिए" (पारस्कर)।

बच्चे का मुंडन अर्थात् चूड़ाकरण—सांखायन और पारस्कर

के अनुसार यह बच्चे के एक वर्ष के होने पर किया जाता था और आश्वलायन और गोभिल के अनुसार तीसरे वर्ष। बच्चे का सिर मंत्रोच्चारण कर के छुरे से मूंड़ा जाता था (परन्तु लड़की के मूड़न में मंत्रोच्चारण नहीं किया जाता था) और कुछ बाल छोड़ दिये जाते थे और वे कुल की रीति के अनुसार संवारे जाते थे।

विद्याध्ययन या उपनयन—यह एक आवश्यक रीति थी और जब लड़के का पिता अथवा रक्षक उसको शिक्षा के लिये गुरू को सौंपता था उस समय की जाती थी। हम देख चुके हैं कि विद्यारम्भ का समय ब्राह्मणों क्षत्रियों और वैश्यों के लिये भिन्न भिन्न था और इस अवसर पर तीनों जातियां यज्ञोपवीत पहिनती थीं।

तब विद्यार्थी एक वस्त्र करधनी और छड़ी ले कर गुरू के निकट आता था।

"वह (गुरू) अपने और विद्यार्थी की अञ्जुली में पानी भरता था और तब उससे (विद्यार्थी से) पूछता था कि 'तेरा नाम क्या है'।

"वह उत्तर देता था 'कि महाशय मैं अमुक अमुक हूं"।

गुरू कहता था 'उन्हीं ऋषियों के वंश में'।

शिष्य कहता था कि 'हां महाशय उन्हीं ऋषियों के वंश में।

" कहो कि मैं विद्यार्थी हूं।

" शिष्य कहता था 'महाशय मैं विद्यार्थी हूं"

"गुरू 'भूर्भुवः स्वः' कह कर अपनी अंजुली से विद्यार्थी की अंजुली पर पानी छिड़कता था।

"और वह विद्यार्थी का हाथ अपने हाथों में ले कर और दाहिने हाथ को ऊपर रख कर कहता था—

"सावित्री देवता के प्रताप से, दोनों अश्विनों के बाहु से, पूषण के हाथों से, हे अमुक अमुक मैं तुझे विद्यार्थी बनाता हूं।"

प्राचीन समय में उपनयन की रीति अर्थात् विद्यार्थी का विद्या-

ध्ययन में पैर रखने और वेदों का पाठ आरम्भ करने की रीति इस प्रकार की थी। आज कल उपनयन की रीति कैसी बिगड़ गई है ? अब उसका वेद के पाठ से जोकि अब भुला दिया गया है अथवा यज्ञों के करने से जिनकी चाल कि अब बिलकुल उठ गई है, कोई सम्बन्ध नहीं है। अब वह केवल एक व्यर्थ का जनेऊ सदा के लिये पहिरने को की जाती है जोकि प्राचीन समय में न तो व्यर्थ था और न सदा के लिये पहिना जाता था। अब के ब्राह्मण लोग यह जनेऊ खास अपने ही लिये होने का दावा करते हैं जिसे कि प्राचीन समय के ब्राह्मण लोग क्षत्रियों और वैश्यों के साथ पहिन कर यज्ञ करते और वेद पढ़ते थे। इस प्रकार अवनति ने अर्थपूर्ण रीतियों को निरर्थक विधान बना दिया है जिनमें से सब का उद्देश्य लोगों की अज्ञानता को बढ़ाना और पुजेरियों के विशेष सत्वों का स्थिर करना है।

पाठशाला से लौटना—विद्या समाप्त करने के उपरान्त विद्यार्थी अपने घर लौट जाता था और यदि उसके पिता आदि का कोई घर न हो तो अपने लिये वह एक घर बनवाता था। इसमें भी एक रीति की जाती थी और ऋग्वेद के कुछ मंत्रों का जोकि घरों के देवता वास्तोष्पति तथा अन्य देवताओं के लिये हैं उच्चारण किया जाता था (७, ५४, ५५)। उसके उपरान्त विवाह किया जाता था और अग्न्याधान अर्थात् अग्नि का स्थापन किया जाता था जोकि श्रौत-विधान है और जिसका वर्णन अन्तिम पुस्तक के आठवें अध्याय में दिया है। इस प्रकार विद्यार्थी अब गृहस्थ हो जाता था और अब उसके सिर अधिक और बड़े धर्मों के पालन करने का भार होता था।

ये प्राचीन हिन्दुओं की गृहस्थी की सब से आवश्यक रीतिय, इस प्रकार थीं। अब हम गृह्यकर्म्मों का संक्षेप में वर्णन करें गे।

गृह्यविधानों में श्राद्ध सब से आवश्यक है जिसमें कि प्रति मास पितरों को पिण्डदान और ब्राह्मणभोजन कराया जाता है। "ऐसे ब्राह्मणों को जो कि विद्वान हों और जिनके आचार विचार बहुत

शुद्ध हों" निमंत्रण दिया जाता था। वे पितरों के प्रतिनिधि स्वरूप हो कर बैठते थे और उन्हीं को सब चीजें चढ़ाई जाती थीं। तब श्राद्ध करनेवाला पितरों को यह कह कर अर्घ्य देता था कि "हे पिता यह तेरा अर्घ्य है, पितामह यह तेरा अर्घ्य है, परपितामह यह तेरा अर्घ्य है।" इसके उपरान्त ब्राह्मणों को गन्ध, माला धूप दीप और कपड़े दिए जाते थे। ब्राह्मणों की आज्ञा से पिण्ड पितृयज्ञ के लिये जो स्थालीपाक तय्यार किया जाता था उसमें घी मिलाया जाता था और उसका अग्नि में हवन किया जाता था अथवा अन्य भोजन की वस्तुओं के साथ वह ब्राह्मणों के हाथ में रक्खा जाता था। और जब श्राद्ध करनेवाला देखता था कि ब्राह्मण लोग संतुष्ट हो गए तो वह यह ऋचा पढ़ता था (ऋग्वेद १, ८२, २) "वे लोग खा चुके वे लोग सुख से खा चुके" (आश्वलायन)।

पार्वण—यह अमावास्या और पूर्णिमा के दिन किया जाता था। और उसमें व्रत रक्खा जाता था और इन दिनों के देवताओं को उचित मंत्रों के द्वारा पकवान चढ़ाए जाते थे। सत्यधर्म्मावलम्बी हिन्दू लोग अब तक भी इन दिनों में व्रत रखते हैं।

श्रावणी–यह वर्षाऋतु में श्रावण के महीने की पूर्णिमा को होती थी और यह वास्तव में सर्पों को सन्तुष्ट करने के लिये की जाती थी जो कि वर्षाऋतु में भारतवर्ष में बहुतायत से उत्पन्न होते हैं। इसमें जो वाक्य उच्चारण किए जाते थे वे बड़े हास्यजनक हैं।

भारतवर्ष के उच्च श्रेणी के लोगों में सर्पों को संतुष्ट करने का विचार अब बिलकुल नहीं रहा है और उन्हें यह जानने में कठिनता होगी कि आज कल राखी पूर्णिमा की जो रीति की जाती है वह दार्शनिक काल की श्रावणी का दूसरा रूप है। जो राखी आज कल लोग अपने मित्रों में बांटते हैं और जिन्हें बहिन प्रेम से अपने भाइयों को भेजती है वह राखी सर्पों से उनकी रक्षा करने के लिये भेजी जाती थी।

आश्वयुगी— यह अश्वयुग अर्थात् आश्विन मास की पूर्णिमा के दिन की जाती थी।

१ " अश्वयुग की पूर्णिमा को इन्द्र को दूध और चावल चढ़ाना।

२ ' आज्य को इन शब्दों से बलिदान चढ़ा कर ' दोनों अश्विनों के लिये स्वाहा ! दोनों आश्वयुगों के लिये स्वाहा ! अश्वयुग की पूर्णिमा के लिये स्वाहा ! शरदऋतु के लिये स्वाहा ! प्रजापति के लिये स्वाहा ! उस सांवले के लिये स्वाहा !

३ " उसको दही और मक्खन यह ऋचा कह कर चढ़ाना चाहिए ' गाय यहां आवें ' (ऋग्वेद, ६,२८) ।

४ " उस रात्रि को बछड़ों को अपनी माता के पास छोड़ देना चाहिए।

५ "तब ब्राह्मणों का भोजन " ।

इस विधान का यही वृत्तान्त सांख्यायन देते हैं और यह असम्भव है कि उपरोक्त वृत्तान्त से हम इस रीति को कृषि सम्बन्धी न समझ सकें। यह विचार और भी दृढ़ होता है जब कि पारस्कर से हमें विदित होता है कि इस रीति के उपरान्त सीता अर्थात् हल के लकीरों की देवी का यज्ञ किया जाता था।

" मैं इन्द्र की स्त्री सीता का आवाहन करता हूं जिससे कि सब वैदिक और सांसारिक कामों की सिद्धि होती है। मैं जो कुछ कार्य्य करूं उसमें वह मुझे न छोड़े। स्वाहा !

" इस यज्ञ में मैं उस उर्वरा (उपजाऊ भूमि) का आवाहन करता हूं जो कि की माला पहिने है और जो प्राणियों को घोड़े गाय और सुख देने में परिश्रम के साथ सहायता करती है। वह मुझे न छोड़े। स्वाहा ! " (२, १७, ६)

आश्वयुगी के उपरान्त सीता अर्थात् हल के लकीरों की देवी की पूजा से, उसका जो यह वर्णन किया गया है कि वह वृष्टि के देवता इन्द्र की स्त्री है और उर्वरा अर्थात् उपजाऊ भूमि है

तथा फूलों की माला पहिने है इन सब बातों से यह विदित होता है कि आश्वयुगी की रीति केवल एक कृषि सम्बन्धी विधान था, जो कि आश्विन में फसल को काटने के उपरान्त कृतज्ञता की भाँति किया जाता था। और यदि यह कृषि सम्बन्धी रीति दार्शनिक समय में कुछ अन्धकारमय थी तो वह आज कल की कोजागर लक्ष्मीपूजा में और भी अधिक अन्धकारमय हो गई है।

लक्ष्मी एक युवती देवी है जो कि दार्शनिक समय में नहीं थी परन्तु अब वह हिन्दुओं में एक प्रधान देवी है। सीता अब केवल रामायण की नाइका और सतीधर्म और आत्मअर्पण के आदर्श की भाँति समझी जाती है परन्तु लक्ष्मी ने फसल और चावल की देवी का स्थान ग्रहण कर लिया है।

हम देख चुके हैं कि आज कल की कोजागर लक्ष्मीपूजा प्राचीन समय की आश्वयुगी का दूसरा रूप है। पर लक्ष्मीपूजा के भी उपरान्त दुर्गापूजा हुई है जिसने कि आज कल बङ्गाल में अद्भुत रूप धारण किया है जिसका मूल कारण निस्सन्देह फसल के समय की प्रसन्नता है। प्राचीन समय के फसल के समय के एक छोटे से तिहवार ने, जिसमें कि इंद्र और उसकी स्त्री सीता को दुग्ध और चावल चढ़ाया जाता था, आज कल कैसा वृहद रूप धारण कर लिया है!

आग्रहायणी—यह अग्रहायण मास की पूर्णिमा को की जाती थी। यह रात्रि, वर्ष की पत्नी वा वर्ष की मूर्त्ति समझी जाती थी और उसमें वर्ष तथा संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, इद्वत्सर, और वत्सर की पूजा की जाती थी और ये पांचो नाम युग के पांच भिन्न भिन्न वर्षों के हैं (पारस्कर ३, २, २)।

अष्टका—ये अष्टका इसलिये कहलाते हैं क्योंकि वे आग्रहायण मास की पूर्णिमा के उपरान्त तीन वा चार मास तक कृष्णपक्ष की अष्टमी को किये जाते थे। इनमें शाक, मांस और चपातियां चढ़ाई जाती थीं। गोभिल इन पूजाओं के उद्देश्य के विषय में भिन्न भिन्न

सम्मतियां उद्धृत करते हैं और कहते हैं कि ये अग्नि अथवा पितर अथवा प्रजापति अथवा ऋतु के देवताओं अथवा सब देवताओं के संतोष के लिये की जाती थीं (गोभिल, ३, २. ३)। परन्तु बुद्धिमान पाठक लोग इस बात को अवश्य समझ जांयगे कि इन पूजाओं का मूल कारण जाड़े की ऋतु था जो कि भारतवर्ष में बड़ा अच्छा ऋतु है, जब कि चावल काट कर खरिहान में रक्खा जाता है और गेहूं और जव उगते हैं, और उस समय चपातियां, मांस और शाक केवल ऋतु देवताओं को ही नहीं वरन् मनुष्यों को भी बड़े अच्छे लगते हैं ! और इसमें सन्देह नहीं कि हमारे हिन्दू पाठकगण देखेंगे कि यह प्राचीन रीति दूसरे रूप में अर्थात् पौष पार्वण के रूप में अब तक बङ्गाल में वर्त्तमान है जिसमें कि चावल को खरिहान में रखने पर हमारी स्त्रियां कई प्रकार की स्वादिष्ट चपातियां बना कर खुशी मनाती हैं जिससे कि वृद्ध और युवा दोनों को समान प्रसन्नता होती है !

चैत्री–जो कि वर्ष की अन्तिम रीति है, चैत्र की पूर्णिमा को की जाती थी। उसमें इन्द्र, अग्नि, रुद्र, और नक्षत्रों की पूजा की जाती थी।

प्राचीन समय में गृहस्थी की रीतियां और गृह्यविधान जिनमें कि हिन्दुओं की स्त्रियां खुशी मनाती थीं इस प्रकार की थे। और यद्यपि इनमें से कुछ रीतियों का मूल अभिप्राय अब जाता रहा है और उन्हों ने अब आज कल का दूसरा रूप धारण कर लिया है फिर भी हम लोग दो हज़ार वर्षों के उपरान्त आज तक भी उन प्राचीन रीतियों में से बहुतों का पता आज कल की रीतियों में लगा सकते हैं। हिन्दुओं का कट्टर स्वभाव और प्राचीन बातों में उनकी भक्ति इससे स्पष्ट विदित होती है कि वे उन प्राचीन रीतियों को अब तक किये जाते हैं जो कि पहिले शुद्ध और सच्चे मन से की गई थीं। और प्राचीन हिन्दू रीतियों में जो सच्ची प्रसन्नता होती थी वे कई शताब्दियों तक विदेशियों का राज्य, और जाति की अवनति होने पर भी अब तक ज्यों की त्यों बनी है।

——:o:——

अध्याय ७

रेखागणित और व्याकरण ।

हम पहिले देख चुके हैं कि दार्शनिक काल में पूर्व के समय के सब धर्म्मसम्बन्धी नियम और कानूनों का दार्शनिक रीति पर विचार हुआ और उनकी संक्षिप्त तथा क्रमानुसार पुस्तकें बनाई गईं । इसी काल में ब्राह्मणग्रन्थों की शब्दबाहुल्य से भरी हुई तथा कुछ गड़बड़ बातें क्रम में लाई गईं, दीवानी और फ़ौजदारी के कानून तथा उत्तराधिकारत्व के कानून की संक्षिप्त पुस्तकें बनाई गईं, जाति के नियम और सामाजिक नियम दृढ़ता से नियत किए गए और नगरवासियों और कुटुम्बियों की भांति मनुष्यों के कर्तव्य की व्याख्या की गई । अतएव यह भली भांति समझा जा सकता है कि इस काल में विद्या और दर्शनशास्त्र ने बड़ी उन्नति की और इस समय में कुछ प्रश्नों और विचारों ने भारतवर्ष में पूर्ण उन्नति प्राप्त की ।

हम यह नहीं जानते कि इस काल में ज्योतिषशास्त्र ने क्या उन्नति की थी । ज्योतिषशास्त्र पर हम लोगों को कोई सूत्रग्रन्थ नहीं मिलता और कदाचित् इसमें सन्देह नहीं कि बहुत समय हुआ कि दार्शनिक काल के ज्योतिषग्रन्थों के स्थान पर आगे चल कर पौराणिक समय के अधिक पूर्ण ग्रन्थ—जैसे कि आर्य्यभट्ट, बराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त और भास्कराचार्य्य के ग्रन्थ हो गए । परन्तु गणितशास्त्र की एक शाखा ने दार्शनिक समय में बड़ी श्रेष्ठता पाई थी । डाक्टर थीबो साहब हमारे धन्यवाद के भाजन हैं कि उन्हों ने यह प्रकाशित किया है कि अन्य शास्त्रों की भांति रेखागणित का अध्ययन पहिले पहिल भारतवर्ष ही में हुआ था । उसके पीछे के यूनानी लोगों ने इस शास्त्र को अधिक सफलता के साथ सुधारा परन्तु यह बात कदापि भूलनी नहीं चाहिए कि संसार रेखागणित के लिये भारतवर्ष ही का ऋणी है, यूनान का नहीं ।

ज्योतिष की नाईं रेखागणित की उत्पत्ति भी भारतवर्ष में धर्म्म ही के द्वारा हुई और इसी प्रकार व्याकरण और दर्शनशास्त्र भी धर्म्म ही के कारण बने । डाक्टर थीबो साहब कहते हैं कि "यज्ञ करने के ठीक समय का निश्चय करने के लिये कोई नियम न होने के कारण ज्योतिषशास्त्र की ओर लोगों का ध्यान गया । इस अभाव से पुजेरी लोग प्रति रात्रि को चन्द्रमा का नक्षत्रों के मण्डल में बढ़ना और प्रतिदिन सूर्य्य का उत्तर वा दक्षिण की ओर झुकना देखते रहे । उच्चारणों के नियम इस कारण ढूंढ़ कर बनाए गए क्योंकि यज्ञ के मंत्रों में एक अक्षर का भी अशुद्ध उच्चारण होने से यह समझा जाता था कि देवताओं का बड़ा कोप होगा । व्याकरण और शब्द-शास्त्र इस कारण बनाए गए जिसमें कि पवित्र पाठ ठीक ठीक समझ में आ सके । दर्शनशास्त्र और वेदान्त का घनिष्ट सम्बन्ध, इतना घनिष्ट सम्बन्ध कि प्रायः यह निर्णय करना असम्भव होता है कि इनमें से एक शास्त्र का कहां पर अन्त होता है और दूसरा कहां पर प्रारम्भ होता है, सुप्रसिद्ध है और इसके विषय में हमारे उल्लेख की कोई आवश्यकता नहीं है ।" और तब इन विद्वान महाशय ने यह सिद्धान्त वर्णन किया है जिसे भारतवर्ष के इतिहासकारों को कभी न भूलना चाहिए कि जिस शास्त्र का घनिष्ट सम्बन्ध प्राचीन भारत-वर्ष के धर्म्म से है उस शास्त्र की उत्पत्ति स्वयं भारतवासियों से ही समझी जानी चाहिए, उसे दूसरी जातियों से संकलित किया हुआ न समझना चाहिए ।

भारतवर्ष में रेखागणित की उत्पत्ति वेदियों के बनाने के नियमों से हुई । कृष्णयजुर्वेद (५, ४, ११) में उन भिन्न भिन्न आकारों का वर्णन है जिनकी वेदियां बनाई जाती थीं और बौधायन और आपस्तम्ब ने इन वेदियों और उनके बनाने में जो ईंटे लगाई जाती थीं उनके आकारों का पूरा वृत्तान्त दिया है । (१) चतुरश्र स्येन जो कि बाज पक्षी के आकार का होता था और चौकोर ईंटों का बनाया जाता था, सब से प्राचीन है । (२) स्येन वक्र-पक्षव्यस्तपुच्छ भी बाज पक्षी के आकार का होता है और उसमें उस के टेढ़े डैने और फैली हुई पुच्छ का आकार रहता है । (३) कंकचित बगुले और उसके दोनों पैरों के आकार का होता है और (४)

अलजचित भी लगभग इसी के समान होता है। (५) प्रौगाचित रथ के डंडों के अगले भाग के आकार का अर्थात् समबाहु त्रिभुज के आकार का होता है और (६) उभयतः प्रौगचित दो त्रिभुजों के आकार का होता है जिनके आधार मिले हों। उसके उपरान्त (७) रथचक्रचित और (८) साररथचक्रचित डंडों से रहित और डंडों के सहित पहिये के आकार के होते हैं। (९) चतुरश्रद्रोनचित और (१०) परिमण्डलद्रोनचित द्रोण अर्थात् बर्तन के आकार का चौकोर अथवा गोल होता है (११) परिचाय्यचित भी पहिये के आकार का होता है (१२) समूह्यचित का भी वैसा ही गोल आकार होता है। (१३) श्मशानचित चौकोर आकार का ढालुआं होता है जो कि एक आधार की अपेक्षा दूसरे की ओर अधिक चौड़ा होता है और साथ ही चौड़ी ओर अधिक ऊंचा भी होता है। यह अन्तिम बेदी कूर्म्म कहलाती है जो कि या तो (१४) वक्राङ्ग अर्थात् टेढ़ी अथवा (१५) नोकीली अथवा (१६) परिमण्डल अर्थात् वृत्ताकार हो सकती है।

सब से पहिले समय के चतुरश्र श्येन का क्षेत्रफल साढ़े सात वर्ग पुरुष होता था, जिसका अर्थ यह है कि वह साढ़े सात वर्गक्षेत्रों के बराबर होता था जिनमें से प्रत्येक का भुज एक पुरुष अर्थात् हाथ उठाए हुए एक मनुष्य की उँचाई के बराबर होता था। जब किसी दूसरे आकार की बेदी बनाई जाती थी तो, वर्गफल उसका यही रहता था, अर्थात् चाहे चक्र बनाया जाय चाहे समबाहु त्रिभुज चाहे कूर्म परन्तु सबों का क्षेत्रफल साढ़े सात पुरुष ही होता था। और बेदी को दूसरी बार बनाने में उसके क्षेत्रफल में एक वर्ग पुरुष और बढ़ा दिया जाता था और उसे तीसरी बार बनाने में दो वर्ग पुरुष बढ़ाया जाता था परन्तु ऐसा करने में यह ध्यान रक्खा जाता था कि बेदी के आकार अथवा सापेक्षिक निष्पत्ति में कोई अन्तर न पड़ने पावे। ये सब बातें रेखागणित के विशेष ज्ञान के बिना नहीं की जा सकती थीं और इस प्रकार रेखागणित के शास्त्र की उत्पत्ति हुई। डाक्टर थीबो साहेब कहते हैं कि "ऐसे वर्गक्षेत्र निकालने पड़ते थे जो कि दो या अधिक दिए हुए वर्गक्षेत्रों के जोड़ के बराबर हों अथवा दो दिए हुए वर्गक्षेत्रों के अन्तर

के बराबर हों। आयतक्षेत्र का वर्गक्षेत्र बनाना पड़ता था और वर्गक्षेत्र के बराबर आयतक्षेत्र बनाने पड़ते थे, किसी दिए हुए वर्गक्षेत्र वा आयतक्षेत्र के बराबर त्रिभुज बनाने पड़ते थे इत्यादि। अन्तिम कार्य्य [जो औरों की अपेक्षा सहज नहीं था] किसी ऐसे वृत्त का बनाना था जिसका क्षेत्रफल किसी दिए हुए वर्गक्षेत्र के बराबर हो।"

इन सब क्रियाओं का फल यह हुआ कि रेखागणित सम्बन्धी बहुत से नियम बन गए जो कि सल्वसूत्रों में दिए हैं। हम देख चुके हैं कि ये सल्वसूत्र कल्पसूत्रों के एक भाग हैं। इनका समय ईसा के पहिले आठवीं शताब्दी से आरम्भ होता है। यूनानी लोग रेखागणित के इस साध्य को पिथेगोरेस का बनाया हुआ कहते हैं कि हर समकोण त्रिभुज में समकोण के सामने के भुज पर जो वर्ग बनाया जाय वह उन वर्गों के जोड़ के बराबर होता है जो समकोण के बनानेवाले भुजों पर बनाए जांय। परन्तु यह साध्य भारतवासियों को पिथेगोरेस के कम से कम दो सौ वर्ष पहिले विदित था और पिथेगोरेस ने उसे निस्सन्देह भारतवर्ष से सीखा। यह साध्य निम्नलिखित दो नियमों में पाया जाता है अर्थात् (१) वर्गक्षेत्र के कर्ण पर जो वर्ग बनाया जाय वह उस वर्गक्षेत्र की भुजा का दूना होता है और (२) आयतक्षेत्र के कर्ण पर जो वर्ग बनाया जाय वह आयतक्षेत्र की दोनों भुजाओं के वर्ग के बराबर होता है।

हम यहां पर डाक्टर थीबो साहेब की उन सब बातों का वर्णन नहीं कर सकते जिन्हें उन्होंने अपने बड़े अमूल्य और शिक्षाप्रद लेख में दिया है। हम केवल इतना कर सकते हैं कि सल्वसूत्रों में जो सब से अधिक आवश्यक सिद्धान्त निकाले गए हैं उनमें से कुछ का संक्षेप में वर्णन कर दें। एक अद्भुत सिद्धान्त यह था जिसके द्वारा वर्गक्षेत्र की भुजा के सम्बन्ध से उसके कर्ण को संख्या में निकालते थे। इसके लिये यह नियम दिया है "नाप में उसका तीसरा भाग जोड़ो और उसमें इस तीसरे भाग का चौथा भाग जोड़ो और उसमें से इस चौथे भाग का चौंतीसवाँ भाग घटा दो। अर्थात् यदि किसी वर्गक्षेत्र की भुजा १ हो तो

उसका कर्ण यह होगा $१+\frac{१}{३}+\frac{१}{३\times४}-\frac{१}{३\times४\times३४}=१\cdot४१४२१५६$ हम लोग जानते हैं कि कर्ण वास्तव में $\sqrt{२}=१\cdot४१४२१३$.......... होता है और इस प्रकार यह देखने में आवेगा कि सल्वसूत्रों का नियम दशमलव के ५ अंकों तक ठीक है।

किसी दिए हुए वर्गक्षेत्र का तिगुना चौगुना पचगुना वा कई गुना वर्गक्षेत्र बनाने, भिन्न भिन्न परिमाण के दो वर्गक्षेत्रों के बराबर एक वर्गक्षेत्र बनाने, दो वर्गक्षेत्रों के अन्तर के बराबर वर्गक्षेत्र बनाने अयनक्षेत्र को वर्गक्षेत्र बनाने और वर्गक्षेत्र को अयनक्षेत्र बनाने, वर्गक्षेत्र को वृत्त बनाने और वृत्त को वर्गक्षेत्र बनाने के नियम बनाए गए हैं। उदाहरण की भांति हम किसी दिए हुए वर्गक्षेत्र के बराबर वृत्त बनाने का नियम उद्धृत करेंगे।

वह नियम यह है "यदि तुम वर्गक्षेत्र का वृत्त बनाया चाहो तो कर्ण के मध्य को केन्द्र मान कर उसके आधे के बराबर प्राची अर्थात् पूर्व की ओर एक रेखा खींचो। उस रेखा का जितना भाग वर्गक्षेत्र के बाहर पड़ता हो उसका तीसरा भाग, तथा रेखा के भीतरवाले भाग को त्रिज्या मान कर वृत्त खींचो।

इस नियम का उदाहरण इस भांति दिया जा सकता है—

अ ब स द एक वर्गक्षेत्र है जिसका कर्ण स ब है और उसका आधा ई ब है। ई बिन्दु को स्थिर रक्खो और प्राची अथवा पूर्व की ओर उसके बराबर ई ज रेखा खींचो। इस रेखा का ह ज भाग वृत्त के बाहर पड़ेगा। उसका तीसरा भाग फ ह लो और उसको भीतरी भाग ई फ के सहित लेकर समस्त ई ह को त्रिज्या मान कर वृत्त खींचो
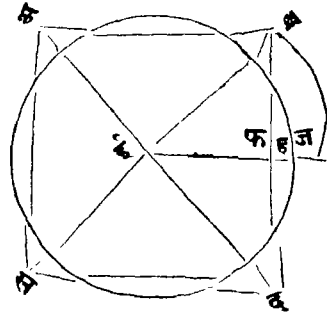
यह कहना निरर्थक है कि यह सिद्धान्त लगभग ठीक है।

इसी भांति "यदि तुम वृत्त को वर्गक्षेत्र बनाया चाहो तो उसके

व्यास को आठ भाग में बांटो और इनमें से एक को उनतीस भाग में बांटो। इन उनतीसों भागों में से अट्ठाइस भाग निकाल दो और (बचे हुए एक भाग के छठें भाग को उसका) आठवां भाग छोड़ कर निकाल दो।"

इस नियम का अर्थ यह है—

वृत्त के व्यास का $\frac{७}{८}+\frac{१}{८\times२९}-\frac{१}{८\times२९\times६}+\frac{१}{८\times२९\times६\times८}$ उस वर्ग-क्षेत्र की एक भुजा होगी जिसका कि क्षेत्रफल उस वृत्त के क्षेत्रफल के बराबर होगा।

रेखागणित भारतवर्ष में अब गई हुई विद्या है क्योंकि जब यह विदित हुआ कि रेखागणित के सिद्धान्त बीजगणित और अंक-गणित के द्वारा हल हो सकते हैं तो रेखागणित का प्रचार धीरे धीरे कम होने लगा। और पौराणिक काल में जब कि हिन्दू लोग मूर्ति-पूजा करने लगे और पूजेरियों के घर से पवित्र अग्नि के स्थापन करने और बेदियों के बनाने की रीति उठ गई तो भारतवर्ष में रेखागणित के अध्ययन की आवश्यकता न रही।

यूनानी लोग रेखागणित में हिन्दुओं से बहुत बढ़ गए परन्तु वे अंकगणित में कभी उनकी बराबरी न कर सके। दशमलव के सिद्धान्त के अनुसार अंकों के रक्खे जाने के लिये संसार हिन्दुओं का अनुगृहीत है और इस सिद्धान्त के न होने से अंकगणित के शास्त्र का होना ही असम्भव था। पहिले पहिल अरब लोगों ने अंक लिखने की यह रीति हिन्दुओं से सीखी और उन्होंने यूरप में उस-का प्रचार किया। प्राचीन यूनानी और रोमन लोग अंकों के लिखने की इस रीति को नहीं जानते थे और इसलिये वे अंकगणित में कभी उन्नति न कर सके।

इसके सिवाय एक दूसरे शास्त्र में भी हिन्दू लोग सब से बढ़े हुए थे और दार्शनिक काल में उन्होंने उसमें वह सफलता प्राप्त की कि जिससे बढ़ कर संसार में अब तक कोई नहीं कर सका है। प्रोफेसर मेक्समूलर साहेब कहते हैं कि केवल हिन्दुओं और यूनानी लोगों ने ही व्याकरणशास्त्र की उन्नति की परन्तु यूनानी लोगों ने व्याकरण में जो सफलता प्राप्त की वह पाणिनि के जो कि

संसार भर में व्याकरण का सब से बड़ा पण्डित हुआ है, ग्रन्थ के आगे कुछ भी नहीं है। हम पाणिनि के समय के वादविवाद को नहीं उठावेंगे। प्रोफेसर मेक्समूलर साहेब उनको कात्यायन का समकालीन बतलाते हैं और उनका समय सम्भवतः ईसा के पहिले चौथी शताब्दी में निश्चित करते हैं। परन्तु डाक्टर गोल्डस्टकर साहेब कहते हैं कि यह व्याकरण का पण्डित ईसा के पहिले ९ वीं वा १० वीं शताब्दी में हुआ है। हमारा मत यह है कि वह कात्यायन के बहुत पहिले हुआ है और उसका समय ईसा के पहिले आठवीं शताब्दी असम्भव नहीं जान पड़ता। वह निस्सन्देह दार्शनिक काल में हुआ जिस समय कि सब प्रकार की विद्या का दार्शनिक विचार हो रहा था। परन्तु भारतवर्ष के नितान्त पश्चिम में होने के कारण कदाचित् वह उन ब्राह्मणों और उपनिषदों को न जानता वा न मानता रहा होगा जिन्हें कि गंगा की घाटी में रहनेवाली जातियों ने बनाया था और उन लोगों का उनकी विद्या, चाल व्यवहार, और धर्म के कारण भी पंजाब के हिन्दुओं से बहुत अन्तर था।

यहां पर पाणिनि के व्याकरण के क्रम का वर्णन करना हमारे कार्य के बाहर होगा। यूरप में इस शताब्दी में एक बड़ी भारी बात यह जानी गई है कि किसी भाषा में जो लाखों शब्द होते हैं उनकी उत्पत्ति का पता बहुत थोड़े से मूल शब्दों से लगाया जा सकता है। भारतवर्ष में तीन हजार वर्ष हुए कि पाणिनि के समय के पहिले यह बात जानी जा चुकी थी और इस बड़े वैयाकरण ने अपने समय के संस्कृत शब्दों की व्युत्पत्ति भी की थी।

यह संस्कृत विद्या का ही ज्ञान था जिससे कि इस शताब्दी के यूरप के विद्वानों ने भाषातत्व को निकाला। और बौप और ग्रिम साहबों तथा बहुत से अन्य विद्वानों ने आर्य भाषाओं के शब्दों की व्युत्पत्ति उसी भांति की है जैसे कि पाणिनि ने संस्कृत भाषा की व्युत्पत्ति आर्यों के इतिहास के उस पूर्वकाल में की थी जब कि एथेंस और रोम नहीं जाने गए थे।

अध्याय ८

सांख्य और योग।

परन्तु दार्शनिक काल की कीर्त्ति कपिल के दर्शनशास्त्र और बुद्ध के धर्म्म से है। कपिल और बुद्ध दोनों ने प्रायः एक ही बात पर उद्योग किया। उन लोगों का बड़ा उद्योग यह था कि मनुष्यों को उस दुःख से छुड़ावें जिसे कि प्राणीमात्र भोग रहे हैं। ये दोनों ही उन उपायों को स्पष्ट घृणा की दृष्टि से देखते थे जिन्हें कि वैदिक रीतियां बताती थीं और उन रीतियों को अपवित्र समझते थे क्योंकि उनके द्वारा प्राणियों का बध होता था। उन दोनों ही का यह सिद्धान्त था कि विद्या और ध्यान के द्वारा मुक्ति मिल सकती है [सांख्यकारिका १ और २ देखो]। उन दोनों ने उपनिषदों के पुनर्जन्म होने के सिद्धान्त को माना है[सांख्यकारिका ४५] और वे कहते थे कि अच्छे कर्म्मों के द्वारा जीवन की उच्च अवस्थाएं मिलती हैं। और अन्त में उन दोनों का उद्देश्य निर्वाण प्राप्त करने का था [सांख्यकारिका ६७] और यह दार्शनिक और यह सुधारक दोनों ही अज्ञेयवादी हैं।

परन्तु यहां पर इन दोनों की समता समाप्त हो जाती है। कपिल ने, जो सम्भवतः बुद्ध के एक शताब्दी पहिले हुए, सांख्यदर्शन को चलाया, परन्तु उन्होंने उसे केवल दर्शनशास्त्र की भांति चलाया था। वे बड़े बड़े ऋषियों और विचारशील विद्वानों से वादविवाद करते थे। उनके दर्शनशास्त्र में साधारणतः मनुष्य जाति से सहानुभूति रखने की कोई बात नहीं है। वे सर्वसाधारण को उपदेश नहीं देते थे और न उन्होंने कोई समाज वा जाति स्थापित की थी। बुद्ध उसके पीछे हुए और वे सम्भवतः उसी नगर में हुए जिसमें कि ये महा दार्शनिक हो चुके थे। यह बात निश्चय है कि वे कपिल के दर्शनशास्त्र को बहुत अच्छी तरह जानते थे और उन्हों ने अपने मुख्य मुख्य सिद्धान्त उससे ही ग्रहण किए थे। परन्तु उनमें वे गुण थे जो कि उनके पूर्वज में

नहीं थे अर्थात् उनमें सभों के लिये सहानुभूति, दीनों के लिये दया और दुखी लोगों के लिये आंसू थे। यह बुद्ध की बड़ी सफलता का मूल कारण है। क्योंकि दर्शनशास्त्र यदि केवल नाम मात्र को हो, यदि वह इच्छा और सच्चे प्रेम से प्राणियों की भलाई के लिये खोज न करे, यदि वह धनाढ्य और दरिद्र को तथा ब्राह्मण और शूद्र को एक दृष्टि से न देखे, तो वह व्यर्थ ही है। शूद्र और दरिद्र लोग एक एक कर के बुद्ध के पास उनकी प्रीति सहानुभूति और भलाई के कारण जाने लगे। अच्छे लोगों ने उनकी उच्च ईश्वरभक्ति की प्रशंसा की, न्यायी लोगों ने उनका यह सिद्धान्त स्वीकार किया कि सब मनुष्य समान हैं, और सारे संसार ने उनके धर्म्म के स्वच्छ सद्विवेक की प्रशंसा की। उनका नया धर्म्म बढ़ता गया और वह जातियों के नीच ऊंच होने के विचार और उन जातियों के भिन्न भिन्न नियमों को तोड़ता गया। उनकी मृत्यु के तीन शताब्दी पीछे पाटलीपुत्र के सम्राट् ने जो कि समस्त उत्तरी भारतवर्ष का अधिपति था, उनके धर्म को स्वीकार किया और उसे समस्त भारतवर्ष का धर्म्म बनाया। और उस समय की जाति ने मनुष्यों की समानता के उस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जैसा कि हिन्दुओं ने उसके उपरान्त तब से फिर नहीं किया है जब से कि वे जातियां नहीं हैं।

परन्तु इन सब विषयों का वर्णन आगे के अध्यायों में किया जायगा। यहां पर हम कपिल के दर्शनशास्त्र का पुनः उल्लेख करते हैं जो कि संसार के लिखे हुए दर्शनशास्त्रों में सब से प्राचीन है और उन बातों का केवल बुद्धि से उत्तर देने का सब से पहिला उद्योग है जो कि सृष्टि की उत्पत्ति, मनुष्य के स्वभाव और सम्बन्ध और उसके भविष्यत भाग्य के विषय में सब विचारवान लोगों के हृदय में उठती हैं।

सांख्यप्रवचन वा सांख्यसूत्र कपिल का स्वंय बनाया हुआ कहा जाता है परन्तु वह सम्भवतः उसके उपरान्त बना अथवा सुधारा गया है। इसका एक बड़ा अच्छा संस्करण अनुवाद और टिप्पणियों के सहित, डाक्टर बेलेण्टाइन साहब ने प्रकाशित

किया है। सांख्यसार विज्ञानभिक्षु का बनाया हुआ है जिन्होंने कि सांख्यप्रवचन का भाष्य किया है। और सांख्यकारिका इस विषय की एक प्राचीन और संक्षिप्त पुस्तक है जिसमें केवल ७२ श्लोक हैं जिन्हें ईश्वरकृष्ण ने बनाया था और जिनका भाष्य ग्वाडपद और वाचस्पति ने किया है। इस छोटी परन्तु अत्यन्त उत्तम पुस्तक का अनुवाद लेटिन भाषा में लेसन साहब ने, जर्मन भाषा में विण्डिशमेन और लौरिन्सर साहबों ने, फ्रेंच भाषा में पेण्टिअर और सेण्टहिलेयर साहबों ने तथा अंग्रेज़ी में कोलब्रुक और विल्सन और अभी हाल में डेवीज़ साहब ने किया है। यह छोटी पुस्तक हमारे बड़े काम की होगी, विशेष कर इसलिये कि डेवीज़ साहब की अमूल्य टिप्पणी हम को बहुत सहायता पहुंचावेगी। हमें अब केवल इतना ही कहना है कि इन थोड़े से पृष्ठों में हमारे पाठकों के लिये सांख्यदर्शन का कुछ भी खाका खींचना असम्भव है और यहां इस शास्त्र के कुछ थोड़े से मुख्य मुख्य सिद्धान्तों का ही उल्लेख किया जा सकता है।

कपिल के दर्शनशास्त्र का उद्देश्य मनुष्यों को तीनों प्रकार के दुःखों से अर्थात् (१) दैहिक (२) भौतिक और (३) दैविक क्लेशों से छुड़ाने का है। उनके मत से वेद के विधान निरर्थक हैं क्यों कि वे अशुद्ध हैं और उनमें प्राणियों का बध होता है। आत्मा की पूर्ण और अन्तिम मुक्ति केवल ज्ञान ही से होती है।

प्रकृति और आत्मा अनादि हैं और वे किसी के बनाए हुए नहीं हैं। प्रकृति से ज्ञान, चेतना, पांच सूक्ष्म तत्व, पांच स्थूल तत्व, पांचों प्रकार के इन्द्रियज्ञान, पांचो इन्द्रियां और मन की उत्पत्ति हुई है। आत्मा से किसी की उत्पत्ति नहीं होती परन्तु वह प्रकृति के साथ इस शरीर से उसके मोक्ष होने के समय तक मिली रहती है। कपिल उपनिषदों के इस कट्टर मत को नहीं मानते कि आत्मा परमात्मा का एक अंश है। वे कहते हैं कि आत्मा भिन्न है और प्रकृति के बन्धनों से मुक्त के होने के उपरान्त वह अलग रहती है।

यह स्पष्ट है कि कपिल के सिद्धान्त के अनुसार आत्मा को छोड़ कर और सब की उत्पत्ति प्रकृति से हुई है और इस कारण

वे भौतिक हैं। केवल तत्व, इन्द्रियज्ञान और इन्द्रियां ही नहीं वरन् मन, चेतना और बुद्धि भी भौतिक पदार्थों के फल हैं। कपिल का आज कल के देहात्मवादियों से केवल इस बात में भेद है कि ये कहते हैं कि आत्मा भौतिक पदार्थों से भिन्न और अनादि है, यद्यपि वह कुछ समय तक भौतिक पदार्थों से मिली हुई रहती है।

कपिल के मानसिक दर्शनशास्त्र को स्पष्ट समझने के लिये इन्द्रियज्ञान, इन्द्रियों, मन, चेतना, बुद्धि, तत्वों और आत्मा के भेदों को अच्छी तरह समझना आवश्यक है।

पांचो ज्ञानेन्द्रियां केवल देखती हैं अर्थात् "ज्ञान" को ग्रहण करती हैं, पाँचो इन्द्रियां अर्थात् जिह्वा, हाथ, पैर इत्यादि अपना अपना कार्य्य करती हैं (सा० का० २८)। मन से वह अर्थ नहीं है जो कि इस शब्द से अंग्रेज़ी में समझा जाता है परन्तु वह केवल ज्ञान की इन्द्री है (सा० का० २७), वह केवल ज्ञान को क्रमानुसार चेतना के निकट लाती है। चेतना उस ज्ञान को "मेरा" बोध करती है। (सा० का० २४) और बुद्धि उनमें भेद-प्रभेद समझती है तथा विचारों को बनाती है (सा० का० २३)। इस प्रकार यह देखा जायगा कि इन्द्रियज्ञान, मन, चेतना, और बुद्धि में जो भेद किए गए हैं वे वास्तव में "मन" के कार्य्यों के भेद हैं। यूरप के दर्शनशास्त्र की भाषा में इसे यों कहेंगे कि मनस् इन्द्रिय ज्ञान को ग्रहण करता है और उसे "अनुभव" बनाता है; चेतना इन्हें "मेरा" ऐसा विचारती है और बुद्धि उनको ध्यान में लाती है।

हिन्दू भाष्यकार लोग इस मानसिक क्रिया को कविता की भाषा में वर्णन करते हैं। वाचस्पति कहते हैं कि "जैसे गांव का मुखिया उस गाँव के लोगों से कर उगाह कर उसको ज़िले के हाकिम के पास ले जाता है, जैसे ज़िले का हाकिम उस द्रव्य को राजमंत्री के पास भेजता है और राजमंत्री उसे राजा के कार्य्य के लिये लेता है उसी भांति मनस् वाह्येन्द्रियों के द्वारा विचार ग्रहण करता है, उन विचारों को चेतना के हवाले करता है और चेतना

उन्हें बुद्धि को देती है जो कि उसे राजा 'आत्मा' के काम के लिये लेती है।" इन उपमाओं में जिन भेदों का वर्णन किया गया है उनका शास्त्रीय रूप हम लोगों से छिपा नहीं रह सकता। इन भेदों को यूरप के दर्शनशास्त्रज्ञ तथा हिन्दू ऋषि लोग दोनों ही मानते हैं। माल्स साहब अपनी "एलिमेण्टस् आफ साइकालोजी" नामक पुस्तक में कहते है कि "वास्तव में इन्द्रिय-ज्ञान शुद्ध निष्क्रिय अवस्था नहीं है वरन् उसमें मन भी कुछ थोड़ा काम करता है"। जैसे यदि कोई घड़ी हमारे कान के निकट बजे और यदि हमारा ध्यान उस घड़ी की ओर न हो अर्थात् यदि हमारा मन उस समय बजने के ज्ञान को ग्रहण करने के अयोग्य हो तो हम उसका बजना बिलकुल नहीं सुन सकते और मन के इसी काम करने को, जिसके लिये कि यूरप के दर्शनशास्त्र में कोई नाम नहीं है, कपिल 'मनस्' कहते हैं।

कपिल में दर्शनशास्त्र की यह कोई सामान्य बुद्धि नहीं थी कि ऐसे समय में जब कि मस्तिष्क के कार्य्य पूरी तरह से नहीं समझे गए थे उन्होंने मनस, अहंकार और बुद्धि को भी भौतिक समझा, केवल इतनाही नहीं वरन् उन्होंने यह भी भौतिक बतलाया कि तत्वों की उत्पत्ति अहंकार से होती है। इस बात में कपिल ने बर्कले और ह्यूम साहबों के सिद्धान्त को जान लिया कि वस्तुएं इन्द्रियज्ञान की केवल स्थायी सम्भावनाएं हैं, और वे इस बात में केण्ट साहब से सहमत हैं कि हमको बाहरी संसार का इसके सिवाय कोई ज्ञान नहीं होता कि वह हमारी शक्तियों के कार्य्य द्वारा हमारी आत्मा को विदित होता है और इस प्रकार हम लोग अपने इन्द्रियज्ञानों की पदार्थनिष्ठ वास्तविक स्थिति को मान लेते हैं

कपिल केवल पांच स्थूल तत्वों अर्थात् आकाश, वायु, पृथ्वी, अग्नि और जल के अतिरिक्त पांच सूक्ष्म तत्वों अर्थात् नाद, स्पर्श गंध, दृष्टि और स्वाद का भी उल्लेख करते हैं। परन्तु उनकी इस बात का क्या अर्थ है कि ये सूक्ष्म तत्व स्वतन्त्र-हैं! "कपिल का सिद्धान्त यह जान पड़ता है कि सुनने में कान का सम्बन्ध केवल आकाश से ही नहीं परन्तु उसके सूक्ष्म सिद्धान्त

से भी है जिससे कि यह बात स्पष्ट रीति से विदित होती है कि सुनने का कार्य केवल कान तथा शब्द की उत्पत्तिस्थान के बीच परस्पर सम्भाषण का कोई द्वार होने से ही नहीं होता परन्तु उस कार्य के होने में उस तत्त्व में कुछ परिवर्तन भी होता है जिसमें हो कर नाद चलता है।"

कपिल केवल तीन प्रकार के प्रमाण मानते हैं अर्थात् अनुभव, अनुमान, और साक्षी [सा० का० ४]। न्यायशास्त्र में चार प्रकार के प्रमाण माने गए हैं अर्थात् उसमें कपिल के अनुभव को दो भागों में बांटा है अनुमान और उपमान। वेदान्त में एक पांचवें प्रकार का प्रमाण अर्थात् अर्थापत्ति भी माना गया है जो कि अनुमान का एक भेद है यथा "देवदत्त दिन को नहीं खाता और फिर भी वह मोटा है, अतः यह अनुमान किया गया कि वह रात्रि में खाता है।"

कपिल अपने तीनों प्रकार के प्रमाणों के सिवाय और किसी प्रकार के प्रमाण को स्वीकार नहीं करते। वे और सब भीतरी विचारों को नहीं मानते। और चूंकि अनुभव, अनुमान अथवा साक्षी से सब वस्तुओं के बनानेवाले का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, अतएव वे ईश्वर का ज्ञान अपने दर्शनशास्त्र के द्वारा होना स्वीकार नहीं करते।

परन्तु कपिल इस सिद्धान्त को मानते हैं कि "सत् कार्य्यम असत् अकारणात्" अर्थात् जो कुछ है उसका कारण अवश्य होगा क्यों कि कारण के बिना कोई वस्तु नहीं हो सकती (सा० का० ९)। वे मनुष्यों के पर्य्यवेक्षण से विचारने की प्रार्थना करते हैं कि कारण और प्रयोजन एक दूसरे को सूचित करते हैं और कहते हैं कि प्रयोजन और कारण एकही है।

स्वभाव के तीनों गुण अर्थात् सत्व, रजस और तमस हिन्दुओं के सब दर्शनशास्त्रों में मुख्य बातें हैं और कपिल ने भी उन्हें स्थान दिया है (सा० का० ११)। ये गुण केवल एक अनुमान हैं जिससे कि जीवन की सब वर्तमान अवस्थाओं के भेद का कारण विदित होता है।

कपिल सब प्रकार के जीवनों की उत्पत्ति प्रकृति से बतलाते हैं और वे इसके पांच प्रमाण देते हैं (सा० का० १५)। पहिले यह कि विशेष वस्तुओं का स्वभाव परिमित होता है और उनका हेतु भी अवश्य होना चाहिए। दूसरे, भिन्न भिन्न वस्तुओं के साधारण गुण होते हैं और वे एक ही मूल जाति के भिन्न भिन्न भाग हैं। तीसरे, सब वस्तुएं निरन्तर उन्नति की अवस्था में होती हैं और उनमें प्रसार की क्रियाशक्ति होती है जो कि अवश्य एक ही आदि कारण से उत्पन्न हुई होगी। चौथे, यह वर्तमान संसार फल है, और इसका कोई आदि कारण अवश्य होना चाहिए। और पांचवें, समस्त सृष्टि में एक प्रकार का एकत्व है जिससे कि उसका किसी एक ही वस्तु से उत्पन्न होना सिद्ध होता है। इन्हीं कारणों से कपिल यह सिद्धान्त निकालते हैं कि, सब प्रकार के स्थूल अस्तित्व प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं।

परन्तु आत्मा उससे उत्पन्न नहीं हुई है। और उन्होंने आत्मा के अस्तित्व के भिन्न होने के जो कारण दिए हैं वे भी उल्लेख करने योग्य हैं। उनका पहिला कारण प्रयोजनोद्देश्य का प्रसिद्ध तर्क है, परन्तु कपिल ने आजकल के वेदान्तियों से इसका भिन्न प्रयोग किया है। साकार वस्तुएं तो निस्सन्देह एकत्रित कर के एक नियमित क्रम के अनुसार बनाई गई हैं परन्तु इससे कपिल उन वस्तुओं के बनानेवाले को सिद्ध नहीं करते वरन् यह सिद्ध करते हैं कि आत्मा का अस्तित्व अवश्य है जिसके लिये कि ये वस्तुएं बनाई गई हैं (सा० का० १७)। गौड़पद कहते हैं कि जिस प्रकार कोई बिछौना जिसमें कि गद्दा, रुई, चांदनी और तकिया होता है, अपना ही न हो कर किसी दूसरे के काम के लिये होता है उसी प्रकार यह संसार भी जो कि पांचों तत्वों से बना है पुरुष के काम के लिये है। दूसरे सब वस्तुएं दुःख और सुख की सामग्री हैं अतः वह ज्ञानमय प्रकृति, जो इन दुःखों और सुखों का अनुभव करती है, उससे अवश्य भिन्न होगी। तीसरे देखभाल करनेवाली कोई शक्ति भी अवश्य होनी चाहिए। चौथे एक भोगनेवाली प्रकृति भी होनी चाहिए। और पांचवां प्रमाण प्लेटो

का यह सिद्धान्त है कि उच्च जीवनों को प्राप्त करने की अभिलाषा से यह विदित होता है कि उसको प्राप्त करने की सम्भावना भी है। आत्मा के प्रकृति से भिन्न होने के लिये कपिल ये प्रमाण देते हैं परन्तु वे एक आत्मा को नहीं मानते। वे कहते हैं कि भिन्न भिन्न प्राणियों की भिन्न भिन्न आत्माएं हैं और वे इसके प्रमाण देते हैं (सा० का० १८) । इस बात में उनका उपनिषदों और वेदों से मतभेद है।

सजीव पदार्थों के अत्यावश्यक कर्म्मों की उत्पत्ति कुछ सूक्ष्म शक्तियों से बतलाई गई है और हिन्दुओं के दर्शनशास्त्र में उनका प्रायः " पांच वायु " की भांति उल्लेख किया गया है। इन्हीं पांचों सूक्ष्म शक्तियों के द्वारा श्वास, थकावट, पाचन, खून का प्रचलन और स्पर्शज्ञान होता है।

हम कह चुके हैं कि कपिल ने पुनर्जन्म का सिद्धान्त उपनिषदों से ग्रहण किया है परन्तु इस सिद्धान्त को अपने दर्शनशास्त्र के उपयुक्त बनाने के लिये उन्हें उसमें परिवर्तन करना पड़ा। कपिल के अनुसार आत्मा ऐसी निष्कर्म्म है कि उस पर किसी के व्यक्तित्व का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। बुद्धि, चेतना और मनस् ये सब मनुष्य के भौतिक अंश हैं। इस विचार के अनुसार कपिल ने यह सिद्धान्त निकाला कि आत्मा के साथ साथ एक सूक्ष्म शरीर का भी पुनर्जन्म होता है जो कि बुद्धि, चेतना, मनस् और सूक्ष्म तत्त्वों का बना होता है (सा० का० ३९ और ४०) और यह सूक्ष्म शरीर अर्थात् लिंगशरीर का सिद्धान्त समस्त हिन्दू दर्शनशास्त्रों में पाया जाता है। मनु कहते हैं कि (१२, १६) पापियों की आत्माओं के चारों ओर एक सूक्ष्म शरीर होता है जिसमें कि वे नर्क के कष्ट भोग सकें। सब जातियों के धर्म्मों में इस सिद्धान्त के सदृश बातें पाई जाती हैं और ईसाइयों के धर्म्म में जो शरीर का फिर से उठने का विश्वास है वह इस लिंगशरीर के सिद्धान्त से मिलता है। यह लिंगशरीर प्राणियों के व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखता है और आत्मा के साथ, उसके जीवन के पुण्य अथवा पाप के अनुसार, वह उच्च अथवा नीच लोक को जाता है (सा० का० ४४)। भिन्न भिन्न

लोक ये हैं (१) पिशाचों का लोक (२) राक्षसों का (३) यक्षों का (४) गन्धर्वों का (५) इन्द्र (सूर्य्य) का (६) सोम (चन्द्रमा) का (७) प्रजापति का जहां कि पितरों और ऋषियों का निवासस्थान है (८) ब्रह्मा का जो कि सब से उच्च स्वर्ग है। इन आठों श्रेष्ठ योनियों के अतिरिक्त पांच नीच योनियां भी हैं अर्थात (१) पालतू पशु (२) जंगली पशु (३) पक्षी (४) कीड़े मकोड़े और मछलियां (५) बनस्पति और निर्जीव पदार्थ। मनुष्य इन आठों श्रेष्ठ योनियों और पांचों नीच योनियों के बीच में है (सा०का०५३) सत्वगुण श्रेष्ठ योनियों में होता है। रजोगुण मनुष्यों में और तमोगुण नीच योनियों में (सा० का० ५४)। मनुष्य अपने कर्म्मों के अनुसार नीच अथवा ऊँच योनी पा सकता है अथवा मनुष्य ही हो कर किसी दूसरी जाति में जन्म ले सकता है। जब आत्मा लिंगशरीर से मुक्त हो जाती है तो वह सदा के लिये मुक्त हो जाती है। आत्मा प्रकृति से मिल कर जो ज्ञान प्राप्त करती है उसीके द्वारा उसकी मुक्ति होती है। "जिस तरह कोई नाचनेवाली अपने को रंगशाला मे दिखलाने के उपरान्त नाचना बंद कर देती है उसी प्रकार प्रकृति भी जब वह अपने को आत्मा पर प्रगट कर देती है तो अपना कार्य्य बंद कर देती है।" [सा० का० ५६]

आत्मा पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त भी कुछ काल तक शरीर में रहती है "जैसे कुम्हार की चाक पहिले घुमाए जाने के बेग से घूमता रहता है।" यही बुद्ध का निर्वाण अर्थात् शान्ति की वह अवस्था है जब कि पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है, सब कामनाओं का अवरोध हो जाता है, कोई इच्छा नहीं रहती और ज्ञानमय आत्मा मुक्ति के लिये तय्यार रहती है। अन्त में आत्मा भौतिक पदार्थों से जुदा हो जाती है। उस समय प्रकृति का कार्य्य समाप्त हो जाता है और वह अपना कार्य्य बन्द कर देती है। आत्मा भौतिक पदार्थों से जुदा हो जाती है और दोनों सदा के लिये एक दूसरे से जुदा हो कर रहते हैं (सा० का० ६८)।

यह सांख्ययोग का सारांश है। जर्मनी का सब से नवीन दर्शनशास्त्र अर्थात् शौपेनहर (१८१६) और वान हार्टमैन के

१८६६ के सिद्धान्त "कपिल के दर्शनशास्त्र के देहात्मवाद के रूपान्तर हैं, जो कि अधिक उत्तम रूप में दिए गए हैं परन्तु उसके मूल सिद्धान्त एक ही हैं। इस बात में मनुष्य की बुद्धि उसी ओर गई है जिस ओर कि वह दो हजार वर्ष पहिले गई थी, परन्तु एक अधिक आवश्यक विषय में वह एक कदम आगे बढ़ गई है। कपिल का यह सिद्धान्त था कि मनुष्य में आत्मा का अस्तित्व पूरी तरह है और वास्तव में वही उसकी यथार्थ प्रकृति है जो कि अमर और भौतिक पदार्थों से भिन्न है। परन्तु हमारे नवीन दर्शनशास्त्र के अनुसार यहां और जर्मनी में भी मनुष्य में केवल वह उच्च प्रकार से उन्नति की हुई रचना समझी गई है कपिल कहते हैं कि सब बाहरी पदार्थ इसलिये बनाए गए हैं जिसमें कि आत्मा अपने को जान सके, और स्वतंत्र हो सके। शोपेनहॉवर कहता है कि मनोविज्ञान का पढ़ना व्यर्थ है, क्योंकि आत्मा है ही नहीं। कपिल के दर्शनशास्त्र में लोगों के विश्वास के लिये बड़ा अभाव उसका अज्ञेयवाद था और योग-सिद्धान्त ने इस आभाव की पूर्ति करने का यत्न किया है। वह पातञ्जलि का बनाया हुआ कहा जाता है, जो कि डाक्टर गोल्ड स्टूकर साहब के अनुसार ईसा के पहिले दूसरी शताब्दी में हुआ। पातञ्जलि के जीवन और इतिहास के विषय में हमें केवल इतनाही विदित है कि उनकी माता का नाम गोनिका था जैसा कि वे स्वयं कहते हैं और वे कुछ समय तक काश्मीर में रहे थे और कदाचित् उस देश के राजाओं ने इसी कारण से व्याकरण पर उनके महाभाष्य को रक्षित रक्खा है। पातञ्जलि अपने को गोनर्दीय अर्थात् गोनर्द का रहनेवाला लिखते हैं और यह देश भारतवर्ष के पूर्वी भाग में है।

हम पहिले देख चुके हैं कि ईसा के पहिले चौथी शताब्दी में कात्यायन ने पाणिनि के व्याकरण पर आक्रमण किया था। पातञ्जलि का बड़ा ग्रन्थ उनका महाभाष्य है जिसमें कि उन्होंने पाणिनि का पक्ष लिया है और उसमें वे अपनी पूर्ण विद्या का स्मारक छोड़ गए हैं। योगशास्त्र भी इन्हीं का बनाया हुआ कहा जाता है और यह विचार बहुत सम्भव जान पड़ता है कि पाणिनि के इस पक्षपाती ने अपने देशवासियों में कपिल के प्रसिद्ध करने का भी यत्न किया हो और उनके उदासीन और अज्ञेयवादी दर्शनशास्त्र में एक परमात्मा

में विश्वास करने का तथा कुछ तपस्या और ध्यान के द्वारा मुक्ति पाने का सिद्धान्त जोड़ा हो।

योगसूत्र का जो कि पतञ्जलि का बनाया हुआ कहा जाता है अंग्रेजी में अनुवाद डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र ने किया है और उसकी भूमिका में उन्होंने इस पुस्तक का विषय संक्षेप में वर्णन किया है। दर्शनशास्त्र में सांख्य के सामने योग कुछ भी नहीं है और इसलिये हम उसका बहुत थोड़े में वर्णन करेंगे। और हमारा यह संक्षिप्त वर्णन योगसूत्र के उसी विद्वान अनुवादक के सहारे पर होगा।

योगसूत्र में १६४ सूत्र हैं और वह चार अध्यायों में बँटा है पहिला अध्याय समाधिपाद कहलाता है और उसमें ध्यान के स्वरूप के विषय में ५१ सूत्र हैं। दूसरे अध्याय में ५५ सूत्र है तथा वह साधनपाद कहलाता है और उसमें ध्यान के लिये आवश्यक साधनाओं का वर्णन है। तीसरा अध्याय विभूतिपाद है और उसमें जो सिद्धियां प्राप्त हो सकती हैं उनका वर्णन ५५ सूत्रों में है। चौथा अध्याय कैवल्यपाद है और उसमें ३३ सूत्रों में आत्मा के सब सांसारिक बंधनों से मुक्ति पाने का वर्णन है, और यही ध्यान का अन्तिम उद्देश्य है।

पहिले अध्याय में योग की व्युत्पत्ति 'युज' से कही गई है जिसका अर्थ जोड़ना अथवा ध्यान करना है और यह ध्यान केवल चित्त की वृत्तियों को दमन करने ही से सम्भव है। निरन्तर अभ्यास और शान्ति के द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध हो सकता है और ज्ञात अथवा अज्ञात योग की प्राप्ति हो सकती है। यह दूसरे प्रकार का योग पहिले प्रकार के योग से बढ़ कर है और उसमें विचार अथवा प्रसन्नता, अहंकार अथवा चेतना भी नहीं रहते।

ईश्वर की भक्ति से मन की यह इच्छित अवस्था बहुत शीघ्र प्राप्त होती है। ईश्वर का ध्यान यह है अर्थात् ऐसी आत्मा जो क्लेश, कार्यों, भावनाओं और कामनाओं से रहित हो, उसमें सर्वज्ञता का गुण अनन्त रूप से है और "वह सब आदिम लोगों का ज्ञान देनेवाला है क्यों कि समय उसको नहीं व्यापता।" (योगसूत्र १, २५, और २६)। "ओ३म्" शब्द से वह सूचित किया जाता है।

योग की प्राप्ति के लिये रोग, सन्देह, सांसारिक कार्य्यों में चित्त रहना, ये सब बाधाएं हैं। परन्तु मन की एकाग्रता से, उपकार से, दुःख और सुख से विरक्त रहने से और श्वास को नियमानुसार ठहराने से, ये बाधाएं दूर की जा सकती हैं। इसके उपरान्त भिन्न भिन्न प्रकार के योगों का वर्णन कर के यह अध्याय समाप्त होता है।

दूसरे अध्याय में योग के आवश्यक अभ्यासों का वर्णन है। तपस्या, मंत्र का जपना और ईश्वरभक्ति ये सब से प्रथम साधनाएं हैं। इन से सब प्रकार के दुःख यथा अज्ञान, अहंकार, कामना और द्वेश अथवा जीवन की लालसा, दूर होते हैं। इन्हीं के कारण कर्म्म किए जाते हैं और कर्म्मों का फल दूसरे जन्म में अवश्य मिलता है। हम आगे के अध्याय में देखेंगे कि यही बुद्ध का कर्म्म के विषय में सिद्धान्त है जिसके विषय में इतना लिखा गया है। योग का उद्देश्य इन कर्म्मों से निवृत्ति पाने का है जिसमें कि पुनर्जन्म न हो। सांख्य के अनुसार आत्मा और बुद्धि के ये वर्णन हुए। ज्ञान इन दोनों के सम्बन्ध को जुदा करता है और उस ज्ञान को प्राप्त करने से आत्मा स्वतंत्र हो जाती और उसका पुनः जन्म और उसका दुःख नहीं होता। ज्ञान के पूर्ण होने के पहिले उसकी सात अवस्थाएं कही गई हैं और इस पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करने के लिये आठ रीतियां लिखी गई हैं (जिससे कि बौद्धों के आठो पथ का स्मरण होता है) पहिली रीति–बुरा कर्म्म न करना; अहिंसा, सत्य बोलना, चोरी व्यभिचार और लालच न करना है। दूसरी रीति कुछ कर्म्मों को करना, पवित्रता, संतोष, तपस्या, अध्ययन और ईश्वर की भक्ति है। ये दोनों रीतियां गृहस्थों वा सन्यासियों दोनों ही के लिये हैं। इनके उपरान्त योगियों के विशेष धर्म्म लिखे गए हैं। तीसरी रीति ध्यान के लिये आसन का बांधना है। चौथी रीति श्वास का नियमानुसार ठहराना है, पाँचवीं रीति इन्द्रियों को उनके स्वाभाविक कर्म्मों से रोकना है और छठीं, सातवीं और आठवीं रीतियां धारणा, ध्यान और समाधि हैं जो कि योग के मुख्य अङ्ग हैं। जब इन तीनों रीतियों का योग होता है तो उस से संयम होता है और सिद्धियों की प्राप्ति होती है।

तीसरे अध्याय में सिद्धियों का वर्णन है और ये निस्सन्देह बड़ी अद्भुत हैं। उनके द्वारा भूत और भविष्य की बातें जानी जा सकती हैं, मनुष्य अपने को लोगों से अदृश्य बना सकता है, दूर देशों अथवा नक्षत्रों में जो बातें हो रही हों उन्हें जान सकता है, आत्मा से बात कर सकता है, वायु में अथवा जल पर चल सकता है और कई दैविक शक्तियां प्राप्त कर सकता है। कपिल के उत्तम वेदान्त में इस प्रकार जोड़ तोड़ करके उसकी दुर्गति की गई।

परन्तु इन सिद्धियों को प्राप्त करनाही योगियों का अन्तिम उद्देश्य नहीं है। योगी का अन्तिम उद्देश्य आत्मा को मुक्त करने का है और इसका वर्णन चौथे अर्थात् अन्तिम अध्याय में किया गया है। अब हम इस सिद्धान्त के विषय में पुनः वर्णन करते हैं कि सब कर्म्मों और सब विचारों का फल दूसरे जन्मों में मिलता है। इसके उपरान्त चेतना और इन्द्रियज्ञान, बुद्धि और आत्मा के भेद लिखे गए हैं और वे भेद प्रायः वैसे ही हैं जैसे कि सांख्य में किए गए हैं। इन भेदों का वर्णन कर के पातञ्जलि कहते हैं कि पूर्ण ज्ञान के द्वारा पूर्व के सब कार्य्य मिट जाते हैं। [४, २८—३०] और अन्त में वह समय आ जाता है जब कि तीनों गुण मृत हो जाते हैं और आत्मा केवल अपने तत्त्व में निवास करती है। आत्मा को इस प्रकार मुक्त करना ही योग का उद्देश्य है [४, ३३] यह मुक्ति अनन्त और नित्य है और जो आत्मा उसे प्राप्त कर लेती है वह सदा के लिये स्वतंत्र हो जाती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दर्शनशास्त्र की दृष्टि से योग किसी काम का नहीं है। उसके सब मूल सिद्धान्त अर्थात् आत्मा, बुद्धि, चेतना, पुनर्जन्म, आत्मा की नित्यता और ज्ञान द्वारा उसकी मुक्ति, ये सब सांख्य के ही सिद्धान्त हैं। वास्तव में पातञ्जलि ने कपिल के दर्शनशास्त्र में एक परमात्मा के होने के सिद्धान्त को जोड़ने का यत्न किया, परन्तु दुर्भाग्यवश उसने उसमें उस समय के बहुत से मिथ्या धर्म्म और मिथ्या कर्म्मों को भी मिला दिया है! अथवा यों समझना चाहिए कि इस बड़े वैयाकरण ने एक शुद्ध ईश्वरवाद के वेदान्त को बनाया जिसमें कि आगे चल कर बहुत से मिथ्या धर्म्म और कर्म्म मिल गए, जिनका फल हम लोग आज कल के योग

सूत्रों में देख रहे हैं। उसके उपरान्त के समय में योगशास्त्र बिलकुल उठ गया और उसमें कठोर और अनुचित तान्त्रिक क्रियाएं मिल गई, जोकि आज कल के योगी कहलानेवालों का छल और मिथ्या धर्म्म है।

———:o:———

अध्याय १।

न्याय और वैशेषिक।

गौतम का जिन्हें कि भारतवर्ष का अरस्तू कहना चाहिए न्यायशास्त्र हिन्दुओं का तर्कशास्त्र है। उनका समय विदित नहीं है पर ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने अहिल्या से विवाह किया था। इसमें सन्देह नहीं कि वे दार्शनिक काल में हुए परन्तु वे सम्भवतः कपिल के एक शताब्दी उपरान्त हुए। न्यायसूत्र जो कि उनका बनाया हुआ कहा जाता है पांच अध्यायों में बँटा है जिन-में से प्रत्येक अध्याय में दो "दिन" अर्थात् दैनिक पाठ हैं। ये पाठ कुछ भागों में बँटे हैं और प्रत्येक भाग में कई सूत्र हैं। न्याय अब तक भारतवर्ष में बड़े प्रेम से पढ़ा जाता है और हम न काश्मीर, राजपुताना और उत्तरी भारतवर्ष से विद्यार्थियों को बङ्गाल के नवद्वीप में न्याय की प्रसिद्ध पाठशालाओं में आते देखा है। वे वहां अपने गुरु के घर में रहते हैं और कई वर्षों तक उसी प्रकार अध्ययन करते हैं जैसे कि गौतम के समय में मागध, अंग, कोशल और विदेह लोगों के विद्यार्थी अध्ययन करते थे। अब भारतवर्ष में और सब बातें बदल गई हैं परन्तु प्राचीन विद्या अब तक भी उसी प्राचीन रीति के अनुसार "टोलों" में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को ज़बानी सिखाई जाती है। परन्तु समय का प्रभाव इन टोलों पर भी पड़ा है। अधिकांश विद्यार्थी लोग अब इन टोलों में न पढ़ कर स्कूलों और विश्वविद्या-लयों में पढ़ते हैं। इन टोलों के संस्थापकों को अब कठिनता से जीविका निर्वाह करने के लिये कुछ मिलता है और उन्हें अच्छे लोगों की उदारता का आश्रय लेने के लिये एक स्थान से दूसरे स्थान को भ्रमण करना पड़ता है और प्रति वर्ष विद्यार्थियों की संख्या घटती ही जाती है। परन्तु फिर भी प्राचीन रीतियों से अद्भुत प्रीति

रखनेवाले हिन्दू पण्डित और हिन्दू विद्यार्थी लोग अब तक भी उसी प्राचीन प्रणाली के अनुसार पढ़ने के लिये आते हैं जिसका संक्षिप्त वर्णन हम धर्म्मसूत्रों के अनुसार ऊपर दे चुके हैं। और यह आशा की जाती है कि यह प्राचीन प्रथा आज कल बहुत से परिवर्तन होने पर भी अभी भविष्यत में ज्यों की त्यों रहेगी।

न्यायशास्त्र उन विषयों से प्रारम्भ होता है जिनके बारे में वादविवाद किया जाय। इसमें दो बातें हैं [१] प्रमाण और [२] प्रमेय। ये दोनों मुख्य विषय हैं और इनके अन्तर्गत चौदह विषय और हैं अर्थात् [३] शंका [४] हेतु [५] उदाहरण [६] निरूपण [७] तर्क अथवा अवयवघटित वाक्य [८] खण्डन [६] निर्णय [१०] वाद [११] जल्पना [१२] आपत्ति [१३] मिथ्या हेतु [१४] छल [१५] जाति और [१६] विवाद।

हम ऊपर कह चुके हैं कि प्रमाण इसमें चार प्रकार के माने जाते हैं अर्थात् अनुभव, अनुमान, सादृश्य और साक्षी। "कारण वह है जो कि किसी कार्य्य के पहिले अवश्य होता है और वह कार्य्य उस कारण के बिना नहीं हो सकता" और "कार्य्य वह है जो अवश्य ही कारण से होता है और उस कारण के बिना नहीं हो सकता।" कारण और कार्य्य का सम्बन्ध दो प्रकार का हो सकता है अर्थात् संयोग और समवाय। इसलिये कार्य्य तीन प्रकार के हो सकते हैं [१] तात्कालिक और स्पष्ट, यथा सूत कपड़े का है [२] माध्यमिक और अव्यक्त, यथा बिनावट कपड़े की है और [३] कार्णिक यथा करघा कपड़े का है।

जिन वस्तुओं को प्रमाणित करना है अर्थात् जो ज्ञान प्राप्त करने योग्य हैं वे ये हैं [१] आत्मा [२] देह [३] इन्द्रियज्ञान [४] इन्द्रिय का उद्देश्य [५] बुद्धि [६] मनस् [७] उत्पत्ति [८] अपराध [६] पुनर्जन्म [१०] प्रतिफल [११] दुःख और [१२] मुक्ति।

आत्मा प्रत्येक मनुष्य में भिन्न भिन्न है, वह देह और इन्द्रियों से जुदी है और ज्ञान का स्थान है। प्रत्येक आत्मा नित्य और अनन्त है और अपने जीवों के कर्म्मों के अनुसार दूसरा जन्म लेती है। यहां तक तो हम देखते हैं कि यह सिद्धान्त कपिल के दर्शनशास्त्र

के अनुकूल है। परन्तु न्यायशास्त्र में इतनी बात विशेष है कि उसके अनुसार परमात्मा एक है, वह नित्यज्ञान रखनेवाला और सब वस्तुओं का बनानेवाला है। यह देह भौतिक है पाँचों बाह्येन्द्रियां भी भौतिक हैं और मनस् ज्ञान की इन्द्रिय है। पाठक लोग यहां देखेंगे कि न्यायशास्त्र, और सच पूछिए तो हिन्दुओं के सभी दर्शनशास्त्र, सांख्यदर्शन के कितने अनुगृहीत हैं और इसलिये उसे हिन्दू दर्शनशास्त्रों की जड़ कहना उचित होगा।

बुद्धि के दो कार्य्य हैं अर्थात् स्मरण रखना और विचारना। विचार यदि स्पष्ट प्रमाणों के द्वारा हो तो सत्य होता है, और यदि प्रमाणों के द्वारा न हो तो मिथ्या होता है। इसी प्रकार स्मरण भी सत्य वा मिथ्या हो सकता है। इन्द्रिय ज्ञानों के कारण गंध,स्वाद, रंग, स्पर्श, और नाद हैं। उत्पत्ति वा कार्य्य, पाप पुण्य का और यश अपयश का कारण है, और कार्य्य करने का उद्देश्य केवल सुख प्राप्त करने वा दुःख से बचने की कामना है जैसा कि यूरप के दर्शन-शास्त्रज्ञ भी कहते हैं।

आत्मा के दूसरे शरीरों में जाने को पुनर्जन्म कहते हैं। दुःख की उत्पत्ति पाप से होती है। पाप २१ प्रकार के कहे गए हैं जिनसे कि दुःख होता है। आत्मा की मुक्ति ज्ञान से होती है कार्य्य से नहीं।

न्याय की विशेषता यह है कि इसमें अनुमान की उन्नति एक सच्चे अवयवघटित वाक्य को निर्माण कर के की गई है और जैसा कि डेवीज़ साहेब कहते हैं कि " तर्कना की शुद्ध रीतियों पर इतनी चतुराई से विवाद किया गया है मानो कि किसी पाश्चात्य नैयायिक ने उसे किया हो। हम नीचे एक अवयवघटित वाक्य का उदाहरण देते हैं —

(१) पर्वत पर अग्नि है।
(२) क्योंकि उसमें से धुआं निकलता है।
(३) जहां कहीं धूँआ निकलता है वहां अग्नि होती है।
(४) पर्वत में से धूँआ निकल रहा है।
(५) इसलिये उसमें अग्नि है।

अतः हिन्दुओं के अवयवघटित वाक्यों में पाँच भाग होते हैं जो कि [१] प्रतिज्ञा [२] हेतु वा उपदेश [३] उदाहरण वा निदर्शन [४] उपनयन और [५] निगमन कहलाते हैं। यदि पाहिले दोनों भाग अथवा अन्तिम दोनों भाग छोड़ दिए जांय तो अरस्तू का पूरा अवयवघटित वाक्य हो जायगा। अब यह प्रश्न उठता है कि इन दोनों जातियों में अवयवघटित वाक्यों की यह समानता केवल अकस्मात् हुई है अथवा एक जाति ने दूसरी से कुछ बात ग्रहण की है ? समय को मिलाने से हम दूसरे शास्त्रों की भांति इस शास्त्र के विषय में भी कह सकते हैं कि हिन्दुओं ने न्यायशास्त्र को निकाला और यूनानियों ने उसे पूर्णता को पहुंचाया।

हिन्दुओं के न्यायशास्त्र में जो पारिभाषिक शब्द हैं उनमें व्याप्ति और उपाधि ये दो शब्द बड़े आवश्यक हैं। व्याप्ति का अर्थ नित्यसंयोग से है अर्थात् वही बात जो कि अरस्तू के उदाहरण से है। 'जहां कहीं धुआ निकलता है वहां अग्नि होती है"—यह नित्य-संयोग व्याप्ति हुई। जैसा कि शङ्कर मिश्र कहते हैं " उसमें केवल समगुण का सम्बन्ध ही नहीं है और न उसमें पूर्णता का सम्बन्ध है। क्योंकि यदि तुम कहो कि नित्य संयोग के सम्बन्ध को मध्यवर्त्ती संज्ञा के समस्त साध्य से सम्बन्ध को कहते हैं तो यह सम्बन्ध धुएं की अवस्था में नहीं है (क्योंकि धुआँ सदा उस स्थान पर नहीं रहता जहां कि अग्नि हो) अब हम यह कहेंगे कि नित्यसंयोग एक ऐसा सम्बन्ध है जिसमें किसी वैशेषिक संज्ञा वा सीमा की आवश्यकता नहीं होती। अथवा यों समझिए कि संयोग व्याप्ति वाच्य का नित्य समवाय है। "

इसके अतिरिक्त वैशेषिक संज्ञा वा सीमा को उपाधि कहते हैं। अग्नि सदा धुएं के नीचे रहती है परन्तु धुआं सदा अग्नि के साथ नहीं होता। अतएव धुआं अग्नि से होता है इस प्रमेय में किसी वैशेषिक नियम अर्थात् उपाधि की आवश्यकता है यथा इसके लिये जलानेवाली लकड़ी गीली होनी चाहिए।

न्यायशास्त्र विद्वान हिन्दुओं के अध्यान का बड़ा प्रिय विषय है और इस विषय में हिन्दुओं के बहुत से ग्रन्थों में जो तर्कना की

तीव्रता और सूक्ष्मता अथवा उनके वादविवाद में जो कठोर और वैज्ञानिक सत्यता देखी जाती है वह न तो प्राचीन यूनानियों में, न मध्य काल के अरबवासियों और न मध्य काल के यूरप विद्वानों में है।

कणाद का तात्विकसिद्धान्तवाद गौतम के न्यायशास्त्र की पूर्ति है, जिस भांति योग, सांख्य की पूर्ति है और इस कारण उनके वर्णन में हमारा अधिक समय न लगेगा। कणाद का मुख्य सिद्धान्त यह है कि सब भौतिक पदार्थ परमाणु के समूह से बने हैं। परमाणु अनन्त हैं और उनके समूहों का नाश उनके जुदा जुदा हो जाने से होता है।

जो कण सूर्य्य की किरणों में दिखाई पड़ते हैं वे छोटे से छोटे हैं जो कि देखे जा सकते हैं। परन्तु वे पदार्थ और प्रतिफल होने के कारण अपने से अधिक छोटे छोटे कणों से बने हुए हैं। मूल कण वह है जो किसी से बना न हो और साथही सामान्य हो।

पहिले पहिल दो परमाणु का संयोग होता है इसके उपरान्त तीन दूने परमाणुओं का संयोग होता है और इसी प्रकार से समझ लीजिए। जो कण सूर्य्य की किरण में देखा जाता है वह छ परमाणुओं से बना होता है। इस प्रकार दो भौतिक परमाणु जो कि एक अदृष्ट नियम के अनुसार कार्य्य करते हैं (और ईश्वर की इच्छा के अनुसार नहीं क्योंकि कणाद ईश्वर की इच्छा को नहीं मानता) मिल कर एक दूना परमाणु हो जाते हैं। तीन दूने परमाणु मिल कर त्रेणुक होते हैं; चार त्रेणुक मिल कर एक चतुरणुक होता है और इसी प्रकार बड़े और उस से बड़े और सब से बड़े पृथ्वी के टुकड़े हो जाते हैं। इसी प्रकार इतनी बड़ी पृथ्वी बनी है, जलीय परमाणुओं से इतना जल बना है, प्रकाशमय परमाणुओं से इतना प्रकाश और वायवीय परमाणुओं से इतनी वायु बनी है।

कणाद पदार्थों के सात वर्ग मानता है अर्थात् (१) द्रव्य (२) गुण (३) क्रिया (४) समाज (५) विशेषता (६) संयोग (७) अनस्तित्व।

इनमें से प्रथम वर्ग में कणाद के अनुसार नौ वस्तुएँ हैं अर्थात् [१] पृथ्वी [२] जल [३] प्रकाश [४] वायु। इन सब के

परमाणु अनन्त है परन्तु उनका समूह अनस्थायी और नाशवान है। इसके उपरान्त [५] आकाश है जिसके द्वारा नाद चलता है और वह परमाणुओं से नहीं बना है वरन् अनन्त, एक और नित्य है। इसी प्रकार [६] समय और [७] आवकाश भी भौतिक नहीं हैं और इस कारण वे परमाणुओं से नहीं बने हैं वरन् अनन्त एक और नित्य हैं। और अन्त में इस वर्ग में [८] आत्मा और [९] मनस् हैं। प्रकाश और ऊष्णता एक ही वस्तु के दो भिन्न रूप समझे गए हैं। आकाश के द्वारा नाद सुनाई देता है और मनस् परमाणु की भांति बहुत ही छोटा समझा गया है। दूसरे वर्ग अर्थात् गुण के सत्रह भेद हैं जो कि उपरोक्त ९ पदार्थों के गुण हैं। ये गुण, रंग, स्वाद, गन्ध, स्पर्श, संख्या, विस्तार, व्यक्तित्व, संयोग, वियोग, पूर्वता, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेश और कामना हैं। तीसरे वर्ग अर्थात् क्रिया के पांच विभाग हैं अर्थात् ऊपर जाना, नीचे आना, सिकुड़ना, फैलना और साधारण रीति से चलना।

चौथा वर्ग अर्थात् समाज हम लोगों के गण जाति के विचार का आदि कारण है। वह ऐसे गुणों को विदित करता है जो कि बहुत पदार्थों में पाये जाते हैं और कणाद के अनुसार स्वजातीय वस्तुओं के इन वर्गों और अपवर्गों का वास्तव विषयाश्रित अस्तित्व है परन्तु बुद्ध के अनुसार ऐसा नहीं है। बुद्ध कहते हैं कि केवल व्यक्तियों का अस्तित्व होता है और उनका प्रात्याहार ठीक विचार नहीं है।

पांचवाँ वर्ग अर्थात् व्यक्तित्व सामान्य वस्तुओं को समाज से रहित विदित करता है। वे ये हैं आत्मा, मन, समय, स्थान, आकाश और प्रमाण। छठां वर्ग अर्थात् समवाय ऐसी वस्तुओं का अस्तित्व है जो कि जब तक रहती हैं तब तक सम्बन्ध सदा लगा रहता है, यथा सूत और कपड़े का सम्बन्ध।

सातवां वर्ग अर्थात् अनास्तित्व या तो सर्वगत अथवा इतरेतर होता है।

उपरोक्त संक्षिप्त वृत्तान्त से देखा जायगा कि कणाद के वैशेषिक सिद्धान्त का सम्बन्ध जहां तक कि वह उन्हीं का बनाया हुआ

है दर्शनशास्त्र से नहीं वरन् विज्ञान से है। यह भारतवर्ष में सब से पहिला प्रयत्न था जो कि द्रव्य और बलं, संयोग और वियोग के विषय की जांच करने के लिये किया गया है।

हिन्दुओं के सब दर्शनशास्त्रों में [वेदान्त को छोड़ कर] द्रव्य नित्य और आत्मा से भिन्न समझा गया है। केवल वेदान्ती लोग द्रव्य को उस परमात्मा का अंश समझते हैं जिस से कि सब वस्तुएं बनी हैं और जो स्वयं सब कुछ है। इस वेदान्त के विषय में हम अगले अध्याय में लिखेंगे।

——:o:——

अध्याय १०

पूर्वमीमांसा और वेदान्त ।

अब हम हिन्दुओं के दोनों अन्तिम वेदान्तों का अर्थात् जैमिनि की पूर्वमीमांसा और बादरायण व्यास की उत्तरमीमांसा का वर्णन करेंगे । भारतवर्ष के इतिहास जाननेवाले के लिये वे अत्यन्त आवश्यक और अमूल्य हैं क्योंकि मीमांसाओं से हिन्दुओं के मन की उस समय की कट्टर अवस्था विदित होती है जब कि दर्शनशास्त्रज्ञ तथा साधारण लोग दोनों ही अज्ञेयवाद तथा पूर्व शास्त्रों के विरुद्ध धर्म्म की ओर झुक रहे थे । सांख्यदर्शन ने हजारों विचारवान मनुष्यों को उपनिषदों के एक सर्वात्मा होने के सिद्धान्त के विरुद्ध बना दिया था और बौद्धधर्म्म का प्रचार नीच जातियों में बहुत हो गया था क्योंकि वे लोग जाति के ऊंच नीच होने और वेद के बड़े बड़े विधानों से छुटकारा पाया चाहते थे। उस समय के इन विचारों के विरुद्ध मीमांसावाले हुए । पूर्वमीमांसा ने उन वैदिक विधानों और साधनों पर बड़ा जोर दिया जिन्हें कि उस समय के दर्शनशास्त्रज्ञ निरर्थक और अपवित्र समझने लगे थे और उत्तर मीमांसा ने एक सर्वात्मा होने का सिद्धान्त प्रगट किया जो कि उपनिषदों में पहिले से वर्तमान था और जो आज कल के हिन्दू धर्म्म का मुख्य सिद्धान्त है ।

यह मतभेद कई शताब्दियों तक चलता रहा पर अन्त में भारतवर्ष में प्राचीन मत की ही जय हुई । कुमारिल भट्ट ने जो ईसा के पीछे सातवीं शताब्दी में हुए हैं पूर्वमीमांसा के सूत्रों पर अपना प्रसिद्ध वार्तिक लिखा है । वे हिन्दू धर्म्म के एक बड़े रक्षक और बौद्ध धर्म्म के बड़े कट्टर विरोधी हुए हैं । उन्होंने केवल वेदों के प्राचीन विधानों को ही स्थापन नहीं किया, केवल बौद्धों के नवीन

मत का ही खण्डन नहीं किया वरन् उन्होंने बौद्धों के मत की उन बातों को भी नहीं माना है जिनमें कि वे वेदों से सहमत हैं।

उत्तरमीमांसा के भी एक बड़े रक्षक हुए और वे कुमारिल से भी बढ़ कर प्रसिद्ध शङ्कराचार्य हैं जो कि उनके दो शताब्दी पीछे हुए। शङ्कराचार्य का बनाया हुआ महाभाष्य शारीरक मीमांसा भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। उनका जन्म सन् ७८८ ईस्वी में हुआ और इस कारण उन्होंने नवीं शताब्दी के आरम्भ में अपनी पुस्तक लिखी और व्याख्यान दिए होंगे।

इस प्रकार कुमारिल और शङ्कराचार्य्य दोनों पौराणिक काल से सम्बन्ध रखते हैं पर उन्होंने उस प्राचीन दर्शनशास्त्र को अन्तिम बार स्थपित किया जोकि ब्राह्मणों और उपनिषदों के आधार पर बना है। भारतवर्ष के दर्शनशास्त्र के इतिहास से हिन्दुओं के मन का इतिहास विदित होता है और दार्शनिक काल में जिन दर्शनशास्त्रों की उन्नति हुई उनका वर्णन तब तक समझ में न आवेगा जब तक कि उत्तर काल में इन शास्त्रों का जाति के इतिहास पर जो प्रभाव पड़ा उसका वर्णन (चाहे संक्षेप ही में) न किया जाय।

पूर्वमीमांसा के सूत्र जैमिनि के बनाए हुए कहे जाते हैं और वे बारह पाठों अर्थात् साठ अध्यायों में विभाजित हैं। इन सूत्रों पर सबरस्वामी भट्ट की एक प्राचीन वार्त्तिक है। कुमारिल भट्ट उनके पीछे हुए और उनके भाष्य से, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, इस मत के माननेवालों के इतिहास में एक नई बात हुई और यह वार्त्तिक बहुत से आगामी भाष्यकारों में सम्मान की दृष्टि से देखा गया है।

ऊपर कहा गया है कि जैमिनि के सूत्र बारह पाठों में विभाजित हैं। पहिले पाठ में व्यक्त धर्म्म के प्रमाण का वर्णन है। दूसरे तीसरे और चौथे पाठों में धर्म्म के भेद, उपधर्म्म और धर्म्मों के पालन करने के उद्देश्यों का वर्णन है। धर्म्मों के करने के क्रम का पांचवें पाठ में और उनके लिये आवश्यक गुणों का छठें पाठ में वर्णन है। यह इस सूत्र का आधा भाग समाप्त हुआ।

सातवें और आठवें पाठों में अव्यक्त आज्ञाओं का वर्णन है, नवें पाठ में अनुमानसाध्य परिवर्त्तनों पर वादविवाद किया गया है और दसवें अध्याय में अपासन ग्यारहवें में गुण और बारहवें अध्याय में समपदस्थ फल का विचार कर के ग्रन्थ समाप्त किया गया है।

ये पूर्व्व मीमांसासूत्रों के मुख्य विषय हैं परन्तु इनके सिवाय बहुत से अन्य विषय भी हैं जो बड़े मनोरञ्जक हैं।

पहिले अध्याय में यह लिखा गया है कि वेद नित्य और पवित्र है। उनकी उत्पत्ति मनुष्यों से नहीं हुई क्योंकि इसके बनानेवाले किसी मनुष्य ग्रन्थकार का किसी को स्मरण नहीं है। इस नित्य और दैवी वेद के दो भाग हैं अर्थात् मंत्र और ब्राह्मण। मंत्र के तीन भेद किए गए हैं अर्थात (१) जो छन्द में हैं वे ऋक कहलाते हैं (२) जो गाए जाते हैं वे सामन और (३) शेष यजुस् कहलाते हैं। बहुधा मंत्र में कोई न कोई प्रार्थना वा जप होता है, ब्राह्मण में धार्म्मिक आचारों के विषय में कोई आज्ञा होती है और इन ब्राह्मणों में उपनिषद् भी सम्मिलित हैं।

वेदश्रुति कहलाते हैं और इनके उपरान्त स्मृति हैं जो कि ऋषियों की बनाई हुई हैं और उनमें वेद का प्रमाण दिया गया है। स्मृति में धर्म्मशास्त्र [अर्थात् दार्शनिक समय के धर्म्मसूत्र] भी सम्मिलित हैं जिनमें सामाजिक और धर्म्म सम्बन्धी नियम हैं।

धर्म्मसूत्र के अतिरिक्त कल्पसूत्रों का भी उल्लेख है और उन्हें भी ऐसे ग्रन्थकारों ने बनाया है जो वेद के ज्ञाता थे। कल्पसूत्र वेदों के अंश नहीं हैं और उन में जो प्रमाण वेदों से लिए गए हैं उन्हें छोड़ कर और कोई प्रमाण नहीं माने जाते। पाठक लोग इस बड़े भेद को देखेंगे जो कि प्राचीन हिन्दुओं ने ब्राह्मणग्रन्थों और सूत्रग्रन्थों में किया है। ब्राह्मणग्रन्थ नित्य और पवित्र समझे जाते थे और सूत्र-ग्रन्थ जो कि मनुष्यों के बनाए हुए कहे जाते हैं वे कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माने जाते थे। इस बात से ब्राह्मणग्रन्थों की पूर्व्वता भली भांति समझी जा सकती है।

वेदों में योग पर बहुत जोर दिया गया है और इस कारण मीमांसा में भी उन पर बहुत वादविवाद किया गया है। उनमें

तीन रीतियों का उल्लेख है अर्थात् पवित्र अग्नि को स्थापित करना, हवन करना और सोम तय्यार करना। उनमें यज्ञों के विषय में अनेक प्रकार के अद्भुत प्रश्न उठाए गए हैं, उन पर वादविवाद किया गया है और उनका उत्तर दिया गया है। यहां पर केवल एक अद्भुत उदाहरण बहुत होगा।

कुछ यज्ञों में ऐसा विधान है कि यजमान अपनी सब सम्पत्ति यज्ञ करनेवाले ब्राह्मण को दे दे। यहां यह प्रश्न उठाया गया है कि क्या राजा को भी अपनी सब भूमि, चरागाह, सड़क, झील और तालाब ब्राह्मणों को दे देनी चाहिए! इसका यह उत्तर दिया गया है कि भूमि राजा की सम्पत्ति नहीं होती और इसलिये वह उसे नहीं दे सकता। राजा केवल देश पर राज्य कर सकता है परन्तु देश उसकी सम्पत्ति नहीं है क्योंकि यदि ऐसा होता तो उसके प्रजा के घर भूमि आदि उसी की सम्पत्ति हो जाते। किसी राज्य की भूमि को राजा नहीं दे सकता परन्तु यदि राजा ने कोई घर वा खेत मोल लिया हो तो वह उन्हें दे सकता है।

इसी प्रकार अग्नि में अपना बलिदान करने का प्रश्न, दूसरों को हानि पहुंचाने के लिये यज्ञ करने का प्रश्न और ऐसे ही ऐसे अनेक प्रश्नों पर बड़ी बुद्धिमानी के साथ विचार किया गया है। कोलब्रुक साहब ठीक कहते हैं कि मीमांसा का न्याय कानून का शास्त्र है।

प्रत्येक बात पर साधारण सिद्धान्तों के अनुसार विचार और निश्चय किया गया है और जिन बातों का निश्चय किया गया है उन्हीं से सिद्धान्त एकत्रित किए जा सकते हैं। उन्हीं को क्रमानुसार संग्रह करने से कानून का दर्शनशास्त्र हो जायगा और वास्तव में इसी विषय का मीमांसा में उद्योग किया गया है"

अब यज्ञ के सम्बन्ध में जो कि पूर्व मीमांसा का मुख्य विषय है यह लिखा गया है कि बड़े यज्ञों में कार्यकर्ता लोगों की पूरी संख्या १७ होती है अर्थात् एक यज्ञ करनेवाला और १६ ब्राह्मण। परन्तु छोटे अवसरों पर केवल चार ही ब्राह्मण होते हैं।

बलिदान की संख्या यज्ञ के अनुसार होती है । अश्वमेध यज्ञ में सब प्रकार के बलि अर्थात् पालतू और जंगली जानवर थलचर और जलचर, चलनेवाले उड़नेवाले तैरनेवाले और रेंगनेवाले जानवरों को मिला कर ६०६ से कम न होने चाहिएँ ।

मीमांसा का मुख्य उद्देश्य मनुष्यों को अपना कर्तव्य सिखलाने का है । जैमिनि अपनी मीमांसा को कर्तव्य की व्याख्या दे कर प्रारम्भ करते हैं और उन्होंने केवल इसी विषय का वर्णन किया है । वे कहते हैं "अब कर्तव्यों का अध्ययन आरम्भ करना चाहिए । कर्तव्य एक ऐसा कार्य्य है जिस पर आज्ञा द्वारा जोर दिया जाता है । इसका कारण खोजना चाहिए ।" परन्तु कर्तव्यों के विषय में उनका विचार बहुत ही संकीर्ण है, वे केवल वैदिक विधानों और साधनों को उचित रीति से करने ही को कर्तव्य कहते हैं । अतएव पूर्वमीमांसाशास्त्र केवल वैदिक विधानों का शास्त्र है ।

जैमिनि प्राचीन वैदिक विधानों और साधनों पर जोर देने की अभिलाषा में वैदिक धर्म्म का वर्णन करना भूल गए हैं । डाक्टर बेनर्जी अपने "डायालोगज़ ऑन हिन्दू फिलासॉफी" में बहुत ठीक कहते हैं कि जैमिनि ने "कर्तव्यों पर ध्यान देने के विषय में बड़ा जोर दिया है परन्तु उन्होंने इस बात के उल्लेख करने की परवाह नहीं की वे कर्तव्य किनको करने चाहिएँ ।" उन्होंने शब्द की भाँति वेद की नित्यता पर जहां जोर दिया है वहां उन्होंने उनको उच्चारण करनेवाली किसी नित्य बुद्धि का उल्लेख नहीं किया । जहां उन्होंने ब्राह्मणों के यज्ञों के करने का उल्लेख किया है वहां उपनिषदों के सर्वात्मा होने के सिद्धान्त के विषय में कुछ नहीं लिखा । इस कारण जैमिनि का दर्शनशास्त्र यद्यपि सनातनधर्म्म के अनुसार है तथापि वह दूषित है और शंकराचार्य्य भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि इस दर्शनशास्त्र से ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

इस कारण इसकी पूर्ति के लिये एक दूसरे दर्शनशास्त्र की आवश्यकता हुई और उत्तर मीमांसा या वेदान्त ने इस अभाव की पूर्ति की । इसी वेदान्त में परमात्मा सर्वात्मा सर्वव्यापक

ईश्वर का उल्लेख है जैसा कि पूर्व मीमांसा में विधानों और यज्ञों का है। वेदान्त उपनिषदों का प्रत्यक्ष सार है जैसा कि पूर्व्व मीमांसा ब्राह्मणों का है। वेदान्त के पहिले ही सूत्र में धर्म्म अथवा कर्तव्य के स्थान पर ब्रह्मन् अर्थात् ईश्वर का उल्लेख है। दोनों मीमांसाओं को मिलाकर सच्चा वैदिक हिन्दूधर्म्म अर्थात् उसके विधान आदि और उसके सिद्धान्त हैं। इन्हीं दोनों मीमांसाओं को मिला कर उन बौद्ध नास्तिकों का उत्तर हो जाता है जोकि वैदिक धर्म्म और परमेश्वर को नहीं मानते। दोनों मीमांसाओं को मिला कर सांख्यदर्शन के उस अज्ञेयवाद तथा अन्य दर्शनशास्त्रों का उत्तर होना है जोकि भौतिक वस्तुओं को नित्य मानते हैं। ये ही दोनों मीमांसा सच्चे हिन्दूधर्म्म की जड़ हैं।

शारीरक मीमांसासूत्र अर्थात् ब्रह्मसूत्र बादरायण व्यास का बनाया हुआ कहा जाता है। उसमें कपिल के सिद्धान्तों और पातञ्जलि के योग का उल्लेख है और कणाद के परमाणुवाद का भी जोकि गौतम के न्याय का फल है। उसमें जैमिनि तथा जैन, बौद्ध और पाशुपतों के धर्म्मों का भी उल्लेख है और इसमें सन्देह नहीं कि समस्त ब्रह्मसूत्र छओ दर्शनशास्त्र के पीछे के समय का है और वह ईसा के बहुत पहिले का बना हुआ नहीं है।

वेदान्त ने न्याय के अवयवघटित वाक्यों को लिया है परन्तु अरस्तू की नाईं उसमें उसके पाँच भागों को घटा कर केवल तीन भाग रहने दिए गए हैं। कोलब्रुक साहेब का यह मत है कि यह सुधार यूनानियों से उद्धृत की गई थी और यह बात बहुत सम्भव जान पड़ती है।

बादरायण के ब्रह्मसूत्र में चार पाठ हैं और प्रत्येक पाठ में चार अध्याय हैं। इस पुस्तक का पूरा खुलासा देना हमारे उद्देश्य से बाहर है और इसलिये हम कोलब्रुक साहेब के ग्रन्थ के अनुसार केवल इसके कुछ सिद्धान्तों को झलका देंगे। जो पाठक इस विषय का पूरा ज्ञान प्राप्त करना चाहें वे कोलब्रुक साहब की पुस्तक देखें।

उत्तरमीमांसा ठीक पूर्वमीमांसा की भांति आरम्भ होती है और उसमें ग्रन्थ का उद्देश्य ठीक उन्हीं शब्दों में वर्णन किया गया

है। केवल धर्म्म वा कर्तव्य के स्थान पर इसमें ब्रह्मन् वा ईश्वर लिखा गया है। इसके उपरान्त ग्रन्थकार ने सांख्य के इस सिद्धान्त का खण्डन किया है कि सृष्टि का मुख्य कारण प्रकृति है और इसके उपरान्त उसने सचेतन ज्ञानमय जीव को आदि कारण कहा है। यहां परमात्मा सृष्टि का भौतिक तथा उत्पन्न करनेवाला कारण कहा गया है। मुक्ति प्राप्त करने के लिये उसी का ध्यान करना चाहिए और उसी पर विचारों को स्थिर करना चाहिये।

दूसरे पाठ में भी कपिल के सांख्यदर्शन तथा पातञ्जलि के योग-दर्शन और कणाद के परमाणुवाद का खण्डन किया गया है। सब सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्मन् से कही गई है और वही सृष्टि का कारण तथा फल बतलाया गया है। कारण और फल का भेद और भिन्न भिन्न फलों के होने से इन सब के ऐक्य का खण्डन नहीं होता। " समुद्र एक है और वह अपने पानी से जुदा नहीं है, फिर भी लहरें, फेन, छींटे, बूंद तथा इसके अन्य भेद एक दूसरे से भिन्न हैं।" (२, १, ५,) " जिस प्रकार दुग्ध का दधि और पानी का बरफ रूपान्तर मात्र है वैसे ही ब्रह्मन् के भी भिन्न भिन्न रूप हैं। " (२,१, ८,)।

इसके उपरान्त सांख्य, वैशेषिक, बौद्ध, जैन, पाशुपति, और पांचरात्र धर्म्मों के सिद्धान्त का खण्डन किया गया है।

आत्मा कार्य्यकरने वाली है। वह निष्कर्म नहीं है, जैसा कि सांख्य का मत है। परन्तु उसकी कर्म्मशीतला बाह्य है। जैसे बढ़ई अपने हाथ में औजार ले कर परिश्रम करता है और कष्ट सहता है और उन औजारों को रख कर सुख से चैन करता है उसी प्रकार आत्मा भी इन्द्रियों और इन्द्रियज्ञानों के साथ कार्य्य करती है और उन्हें छोड़ कर सुखी होती है (२, ३, १५)। आत्मा उस परमात्मा का अंश है जिस प्रकार चिनगारी अग्नि का अंश है (२, ३, १७)। जिस प्रकार सूर्य्य का प्रतिबिम्ब पानी पर पड़ता है और उस पानी के साथ हिलता है परन्तु उससे दूसरे पानियों के प्रतिबिम्ब से अथवा स्वयं सूर्य्य से कोई सम्बन्ध नहीं रहता उसी प्रकार एक प्राणी के सुख दुःख से दूसरे प्राणी का अथवा

परमात्मा का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। शारीरिक इन्द्रियाँ और जीव सम्बन्धी कार्य्य सब उसी ब्रह्मन् के रूप हैं।

तीसरे पाठ में आत्मा के पुनर्जन्म होने तथा ज्ञान और मुक्ति प्राप्त करने का और साथही परमात्मा के गुणों का वर्णन है। आत्मा एक सूक्ष्म शरीर से घिरी रह कर एक रूप से दूसरे रूप में पुनर्जन्म लेती है एक शरीर से अलग हो कर वह अपने कार्य्यों का फल भोगती है और एक नए शरीर में प्रवेश कर के अपने पूर्व कर्म्मों के अनुसार फल पाती है। पाप करनेवाले ७ नर्कों में दुःख भोगते हैं।

परमात्मा अगम्य है और उसे संसार के रूपान्तर नहीं व्यापते, जिस प्रकार साफ बिल्लौर किसी रंगीन फूल से रँगदार दिखाई देता है परन्तु यथार्थ में निर्मल होता है। वह परमात्मा पवित्र इन्द्रिय, बुद्धि और विचार है।

" परमात्मा धूप और अन्य प्रकाशमय वस्तुओं की नाईं प्रतिबिम्बों से अनेक देख पड़ता है परन्तु वास्तव में एक ही है। वह आकाश की नाईं जो कि भिन्न भिन्न जान पड़ता है, वास्तव में बिना भेद के एक ही है।" " उसके अतिरिक्त और कोई नहीं है।" (३, २) पाठक लोग देखेंगे कि वेदान्त स्वयं उपनिषदों का प्रत्यक्ष फल है और उपनिषदों की भांति एकत्व का सिद्धान्त प्रत्यक्ष और वास्तविक वेदान्त में अन्तिम सीमा को पहुँचाया गया है।

इस पाठ के अन्तिम भाग में तपस्या की साधनाओं और ध्यान को उचित रीति से करने और दैविक ज्ञान प्राप्त करने का उल्लेख है। उस ज्ञान के प्राप्त करते ही पिछले सब पाप नष्ट हो जाते हैं और भविष्यत में पाप नहीं होता। इसी प्रकार योग्यता और पुण्य के भी फल नष्ट हो जाते हैं। और दूसरे कार्य्य जिनका कि फल शेष रहगया हो उन्हें भी भोग के द्वारा नष्ट कर के, पुण्य और पाप का सुख और दुःख भोग कर दैविक ज्ञान को प्राप्त करनेवाला प्राणी शरीर का नाश करके ब्रह्म मेंसमा जाता है।" (४, १, १४)। हम देख चुके हैं कि उपनिषद् का अन्तिम मुक्ति पाने का भी यही सिद्धान्त है।

इस से उतर कर दो दूसरे प्रकार की मुक्ति भी होती हैं उनमें से एक प्रकार की मुक्ति द्वारा आत्मा ब्रह्मन् के निकट निवास पा

सकता है परन्तु उसका उसके साथ सम्मेल नहीं हो सकता। दूसरे प्रकार की मुक्ति इस से भी उतर कर है और वह जीवनमुक्ति कहलाती है जिसे कि योगी लोग अपने जीवन में ही प्राप्त कर सकते हैं और इसके द्वारा वे अलौलिक कार्य्य कर सकते हैं यथा पितरों की आत्माओं को बुलाना अथवा भिन्न शरीर धारण करना, अपनी इच्छानुसार किसी स्थान में तुरन्त पहुंच जाना इत्यादि। यह योग-शास्त्र के मिथ्या विचार का पुनरुउल्लेख है जिसके विषय में हम पहिले अध्याय में लिख चुके हैं।

वेदान्त के अनुसार ईश्वर के गुणों को कोलब्रुक साहब यों लिखते हैं "ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है और वह सृष्टि के अस्तित्व, नित्यता और प्रलय का कारण है। सृष्टि की रचना उसकी इच्छा मात्र, से होती है। वह इस संसार का फलोत्पादक और भौतिक कारण सृष्टि करनेवाला और प्रकृति, बनानेवाला और बनाने की वस्तु, कर-नेवाला और कर्म्म सब कुछ है। सब वस्तुएं अपनी सम्पूर्णता पर उसी में मिल जाती है। सम्पूर्ण परमात्मा एक ही, एकमात्र अस्तित्व-वाला अद्वितीय, संपूर्ण, अखण्ड, संपूर्ण अनन्त, अपरिमित, अचल, सब का मालिक, सत्य, बुद्धि, ज्ञान और सुख है।

भारतवर्ष में दार्शनिक काल में इन्हीं छः दर्शनशास्त्रों का उदय हुआ। उपनिषदों में जो प्रश्न उठाए गए हैं, जो प्रश्न सब विचारशील मनुष्यों के मन में उठते हैं परन्तु जिनका उत्तर वह पूर्णतया नहीं दे सकता अर्थात् "ईश्वर क्या है और मनुष्य क्या है" उनका उत्तर हिन्दू दर्शनशास्त्रों ने इस प्रकार दिया है।

शेष बातों के लिये दार्शनिक काल में ऐसे फल प्राप्त हुए हैं जिनके लिये हिन्दू लोग घमण्ड कर सकते हैं। सम्भवतः इसी समय में भारतवर्ष के महाकाव्यों ने अपना महाकाव्य का रूप पाया इसी समय में रेखागणित और व्याकरण ने पूर्णता प्राप्त की। इसी समय में मेण्टल फिलासोफी और न्यायशास्त्र की सब से पहिले लिखी हुई प्रणालियों की उत्पत्ति हुई और उन्होंने पूर्णता प्राप्त की। इसी स-मय में दीवानी और फौजदारी के कानून शास्त्र की भांति पुस्तकाकार बने। इसी समय के अन्त में सारा उत्तरी भारतवर्ष एक बड़े और

योग्य शासन करनेवाले के आधीन लाया गया और एक उत्तम और सभ्य शासनप्रणाली की अन्तिम बार उन्नति की गई। और अन्त में इसी समय में उस बड़े सुधारक गौतमबुद्ध ने मनुष्यों की समानता और भाईपन के उस धर्म्म का प्रचार किया जो कि आज तक समस्त मनुष्य जाति के तिहाई लोगों का धर्म्म है। अब हम इस बड़े सुधार की कथा का वर्णन करेंगे।

——:०:——

अध्याय ११

बौद्धों के पवित्र ग्रन्थ।

ईसा के पहिले छठीं शताब्दी में एक बड़े सुधार का आरम्भ हुआ। यहां का प्राचीन धर्म्म जिसे कि हिन्दू-आर्य्य लोग चौदह शताब्दियों तक मानते आए थे, बिगड़ गया था और अब वह विधानों में आ लगा था। ऋग्वेद के देवता जिनका कि प्राचीन ऋषी लोग प्रेम और उत्साह के साथ आवाहन और पूजन करते थे, अब केवल नाम मात्र को रह गए थे, और अब इन्द्र और ऊषस् के नाम से कोई स्पष्ट विचार अथवा कोई कृतज्ञता नहीं प्रगट होती थी। प्राचीन समय के ऋषी लोग अपने देवताओं को उत्साह के साथ जो सोमरस, दुग्ध, अन्न वा मांस चढ़ाते थे उनके अब बड़े कठिन विधान और निरर्थक रूप हो गए थे। उन ऋषियों की सन्तानों और उत्तराधिकारियों की एक प्रबल जाति बन गई थी और वे लोगों के लिये बड़े आडम्बर के धार्मिक विधानों को करने और पूजा पाठ करने का स्वत्व रखते थे। लोगों के जी में यह विश्वास जमाया जाता था कि इन विधानों और पूजा पाठ को ब्राह्मणों द्वारा कुछ दे कर करवाने से बड़ा पुण्य होता है। वह धार्मिक स्वभाव और कृतज्ञता के वे विचार जिन्होंने कि वेद के बनानेवालों को उत्तेजित किया था अब नहीं रह गए थे, अब केवल बड़े बड़े और निरर्थक विधान रह गए थे।

इसका एक विरोध आरम्भ खड़ा हुआ। ईसा के पहिले ग्यारहवीं शताब्दी में अर्थात् जिस समय का हम वर्णन कर रहे हैं उसके पांच शताब्दी पहिले उत्साही और विचारशील हिन्दुओं ने ब्राह्मणग्रन्थों के इन दुखदाई विधानों को छोड़ कर आत्मा और उसके बनानेवाले के विषय में खोज करने का साहस किया था। उपनिषदों के बनानेवालों ने यह विचारने का साहस किया कि सब जीवित तथा

अजीवित वस्तुएं एक ही सर्वव्यापी ईश्वर से उत्पन्न हुई हैं और वे उसी सर्वव्यापक आत्मा का अंश हैं। मृत्यु और भविष्यत जीवन की गुप्त बातों के विषय में खोज की गई, आत्माओं के पुनर्जन्म का अनुमान किया गया और उत्तर काल के हिन्दू दर्शन-शास्त्र के मुख्य सिद्धान्तों की उत्पत्ति कच्चे रूप में हुई।

परन्तु इन गुप्त विचारों तथा उस से जिस दर्शनशास्त्र की उत्पत्ति हुई उसमें बहुत थोड़े लोग अपना जीवन व्यतीत कर सकते थे। आर्य्य गृहस्थों का समाज अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य सब उन्हीं विधानों से संतुष्ट थे जिन्हें कि वे समझते नहीं थे, जोकि ब्राह्मणों में लिखे थे और जिनका संक्षेप सूत्रों में किया गया था। इसी प्रकार सामाजिक और गृहस्थी के नियमों का संक्षेप भी लोगों के लिये सूत्रों में किया गया था और उस समय के सब ही शास्त्र और विद्या सूत्रों के रूप में संक्षिप्त किए गए थे।

ईसा के पहिले छठीं शताब्दी में भारतवर्ष की ऐसी अवस्था थी धर्म्म के स्थान में केवल विधान हो गए थे, उत्तम सामाजिक और सदाचार के नियम अब बिगड़ गए थे और उनमें जाति-भेद, ब्राह्मणों के स्वत्व और शूद्रों के लिये कठोर नियम बन गए थे। जाति के इन अनन्यभुक्त स्वत्वों से स्वयं ब्राह्मणों की भी उन्नति नहीं हुई। वे लोग लालची, मूर्ख और धूर्त्त हो गए यहां तक कि स्वयं ब्राह्मण सूत्रकारों ने भी बड़े कठोर शब्दों में उनकी निन्दा की है। उन शूद्रों के लिये जोकि आर्य्यधर्म्म की शरण में आए थे, कोई धार्मिक शिक्षा वा आचार अथवा सामाजिक सत्कार नहीं था। वे लोग समाज में नीच होने और घृणा किए जाने के कारण हाय मारते थे और परिवर्तन चाहते थे। और ज्यों ज्यों यह भेद बढ़ता गया ज्यों ज्यों लोग भिन्न भिन्न लाभदायक व्यवसाय करने लगे, भूमि और व्यवसाय के स्वामी होने लगे और बल और अधिकार प्राप्त करते गए त्यों त्यों यह भेद असह्य होता गया। इस प्रकार समाज के जो बंधन हो गए थे वे और भी कठोर होते गए और उस समय के सामाजिक, धार्मिक और कानून के ग्रन्थों में अब तक भी शूद्रों के लिये कठोर अन्याय

था जोकि शूद्रों के सभ्य, व्यवसायी और समाज के योग्य हो जाने के बहुत काल पीछे तक था।

उत्साही और खोज करनेवाले मनुष्य के लिये, सहानुभूति रखनेवाले और दयालु मनुष्यों के लिये इन सब बातों में कुछ असंगत पाया जाता था। शाक्यवंशी गौतम उस समय की हिन्दू विद्या और धर्म्म को अच्छी तरह जानता था परन्तु वह इस बातपर विचार करता और इसकी खोज करता था कि जो कुछ उसने सीखा है वह फलदायक और सत्य है अथवा नहीं। उसकी धार्मिक आत्मा मनुष्यों के बीच इस अधार्म्मिक भेद को स्वीकार नहीं करती थी और उसका दयालु हृदय नम्र,दुखिया और नीच लोगों की सहायता करने के लिये उत्सुक था। लुप्तप्राय विधान तो गृहस्थ लोग करते थे तथा सन्यासी लोग जंगलों में अपनी इच्छा से जो तपस्या करते और दुःख सहते थे वे सब उसकी दृष्टि में निरर्थक थे। उसकी दृष्टि में पवित्र जीवन का सौन्दर्य्य, पापरहित, दयालु आचार ही था जो मनुष्य के भाग्य की सिद्धि,और इस पृथ्वी पर का स्वर्ग था,और भविष्यवक्ता और सुधारक के उत्सुक विश्वास के साथ उसने इसी सिद्धान्त को धर्म्म का सार कहा है। सारे जगत के साथ उसकी जो सहानुभूति थी उसी के कारण उसने दुखी मनुष्यों के लिये आत्मोन्नति और पवित्र जीवन का यह सिद्धान्त निकाला है। वह दीन और नीच लोगों की भलाई करने की, क्षोभ और बुराई को दूर करने और सब से भ्रातृवत स्नेह करने और शान्ति के द्वारा अपने दुःखों को दूर करने की शिक्षा देता था। उसकी दृष्टि में ब्राह्मण और शूद्र ऊंच और नीच सब एकसे थे—सब पवित्र जीवन के द्वारा निर्वाण प्राप्त कर सकते थे और वह सब को अपने इस धर्म्म को ग्रहण करने के लिये उपदेश देता था। मनुष्य जाति ने इस हृदयवेधक प्रार्थना को स्वीकार किया और कुछ शताब्दी में बौद्धधर्म्म केवल एक ही जाति वा देश का नहीं वरन् समस्त एशिया का मुख्य धर्म्म हो गया *

* नीचे लिखे हुए अंकों से संसार के निवासियों और बौद्धों की संख्या विदित होगी—

परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह विचार असत्य होगा कि गौतम बुद्ध ने जान बुझ कर अपने को एक नए धर्म्म का संस्थापक बनाया था। इसके विरुद्ध उसके अन्तिम समय तक उसका यह विश्वास था कि वह उसी प्राचीन और पवित्र धर्म्म को सिखला रहा है जो कि प्राचीन समय में हिन्दुओं अर्थात् ब्राह्मणों तथा अन्य लोगों में प्रचलित था परन्तु समय के फेर से बिगड़ गया था। वास्तव में हिन्दूधर्म्म में कुछ घूमनेवाले सन्यासी कहे गए हैं जो कि संसार को छोड़ देते थे, वैदिक विधानों को नहीं करते थे और अपना समय ध्यान में व्यतीत करते थे (छठां अध्याय देखो)। इन लोगों का नाम हिन्दू स्मृति में भिक्षुक लिखा गया है और वे साधारणतः श्रामन कहलाते थे। उस समय जितने श्रामन थे उनमें गौतम ने भी एक श्रेणी के श्रामन स्थापित किए। और वे लोग अन्य श्रामनों से भिन्न समझे जाने के लिये शाक्यपुत्रीय श्रामन कहलाते थे। वह उन्हें संसार को छोड़ देने और पवित्र जीवन तथा ध्यान में अपना समय व्यतीत करने की शिक्षा देता था, जैसा कि अन्य श्रामन लोग भी सिखलाते और करते थे।

तब क्या बात है कि बुद्ध ने अपने जीवन में जो कार्य्य किए हैं उनसे उसकी सम्मतियों का एक नया धर्म्म बन गया है जोकि मनुष्य जाति के तिहाई लोगों का धर्म्म है।

यहूदी	....	....	....	७,०००,०००
ईसाई	....	..	....	३२८,०००,०००
हिन्दू	....	....	....	१६०,०००,०००
मुसल्मान	....	....	....	१५५,०००,०००
बौद्ध	....	....	....	५००,०००,०००
अन्य लोग	....	....	....	१००,०००,०००
समस्त संसार के लोग	....		....	१,२५०,०००,०००

ईसा की पांचवीं और दसवीं शताब्दी के बीच समस्त मनुष्य जाति के आधे से अधिक लोग बौद्ध थे।

गौतम के पवित्र और धार्म्मिक जीवन, सारे संसार के लिये उसकी सहानुभूति, उसके अद्वितीय धार्म्मिक आवेश, उसके नम्र और सुन्दर आचरण का उसकी शिक्षाओं पर, जो कि बिलकुल नई नहीं थीं, बड़ा प्रभाव पड़ा। इससे निर्बल और नीच लोगों ने, सब से सुशील और सब से उत्तम आर्य्य लोगों ने उसका धर्म्म स्वीकार किया, उस धर्म्म ने राजा लोगों को उनके सिंहासन पर और किसान लोगों को उनके झोपड़ों में आश्चर्य्यित किया और सब जाति के लोगों को प्रीति के साथ एक समाज में मिला दिया!

और उसके जीवन और कार्य्यों का पवित्र स्मरण उसकी मृत्यु के पीछे भी स्थिर रहा और जो लोग उसकी शिक्षा को मानते थे उन्हें उसने एक समाज में स्थिर रक्खा और कुछ काल में उन शिक्षाओं का एक भिन्न और उत्तम धर्म्म का रूप हो गया।

गौतम ने पवित्रता और पवित्र तथा सुशील जीवन से प्रीति रखने के कारण वेदों के विधानों और वैरागियों की तपस्याओं को नहीं माना है। वह केवल आत्मोन्नति दया और पवित्र वैराग्य पर जोर देता था। वह अपने भिक्षुकों में कोई जाति भेद नहीं मानता था, वह भलाई करने के अतिरिक्त और किसी उत्कृष्ट विधान वा किसी उत्कृष्ट तपस्या को नहीं मानता था। यही कारण है जिसने कि बौद्ध धर्म्म को एक जीवित तथा जीवन देनेवाला धर्म्म बनाया है जब कि इतने अन्य प्रकार के सन्यासियों का धर्म्म मृत हो गया है।

हम बौद्ध धर्म्म की मुख्य बातों और भारतवर्ष के इतिहास पर उसके विस्तृत फलों को प्रगट करने का यत्न करेंगे। भाग्य वश इस विषय में हमको उपादानों के अभाव की शिकायत नहीं है।

वास्तव में बौद्ध धर्म्म के विषय में आज कल इतने ग्रन्थ लिखे गए हैं कि यह विचारना प्रायः कठिन है कि पचास वर्ष पहिले बौद्ध ग्रन्थों वा धर्म्मों के विषय में कुछ मालूम न रहा हो। प्रसिद्ध पादरी, डाक्टर मार्शमेन साहब ने भारतवर्ष में बहुत वर्षों तक रह कर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। उन्होंने १८२४ ई० में बुद्ध का इससे अच्छा वर्णन नहीं दिया है कि उसकी पूजा सम्भवतः ईजिप्ट के एपिस से सम्बन्ध रखती है। और दूसरे विद्वानों ने इस से भी अधिक असम्भव और कल्पित बातें लिखी हैं।

यह हर्ष का विषय है कि अब वह समय जाता रहा है । खोज करनेवालों और विद्वानों ने भिन्न भिन्न बौद्ध देशों के हस्तलिखित ग्रन्थ एकत्रित किए, उन्हें पढ़ा, छपवाया और उनमें से बहुतों का अनुवाद किया है और इस प्रकार उस धर्म्म का यथार्थ बोध कराया है जिसका प्रचार कि गौतम ने पहिले पहिल किया था और जो उसके पीछे भिन्न भिन्न समय में भिन्न भिन्न जातियों में बदलता गया। यहां पर हमारा काम गत पचास वर्षों में बौद्ध धर्म्म के विषय में जो खोज हुई है उसका इतिहास देने का नहीं है परन्तु उसमें से कुछ बातें ऐसी मनोरञ्जक हैं कि उनका वर्णन किए बिना नहीं रहा जा सकता ।

हाडसन साहब सन् १८३३ से सन् १८४३ तक नैपाल के अंग्रेजी रेज़िडेण्ट रहे और उन्हों ने ही पहिले पहिल उन मुख्य हस्तलिखित ग्रन्थों को एकत्रित किया जिनसे कि उस धर्म्म का एक गंभीर वर्णन दिया जा सकता है । उन्होंने बङ्गाल की एशियाटिक् सोसायटी को ८५ बस्ते, लंडन की रायल एशियाटिक् सोसाइटी को ८५, इण्डिया आफिस लाइब्रेरी को ३०, आक्सफोर्ड की बोडलियन लाइब्रेरी को ७ और पेरिस की सोसायटी एशियाटिक् वा स्वयं बर्नफ़ साहेब को १७४ बस्ते भेजे। हाडसन साहेब ने अपने वर्णन में इन बस्तों तथा बौद्ध धर्म्म का कुछ वृत्तान्त लिखा है ।

इन मृत ग्रन्थों में युजीन बर्नाफ़ साहब की बुद्धि ने जीवन डाला और उन्होंने अपनी " इन्ट्रोडक्शन टू दी हिस्ट्री आफ इंडियन् बुधिज़म " नामक पुस्तक में जिसे कि उन्होंने १८४४ में छपवाया था पहिले पहिल बौद्ध धर्म्म का बुद्धिमानी के साथ और समझ में आने योग्य वैज्ञानिक रीति पर वर्णन दिया है । इस प्रसिद्ध विद्वान् के यश से और जिस योग्यता और दार्शनिक सूझ के साथ उन्होंने इस विषय को लिखा है उसमें विद्वान् यूरोपियन् लोगों का ध्यान इस अद्भुत धर्म्म की ओर गया है और बर्नफ साहब ने जिस खोज को प्रारम्भ किया था वह आज तक जारी रक्खी गई है और उसका बहुत अच्छा फल हुआ है ।

हाडसन साहेब ने नैपाल में जो कुछ किया है उतनाही काम

तिब्बत में हंगेरिया के विद्वान् अलेक्ज़ान्डर सोमा कारोसी साहब ने किया है ।

विद्या की खोज के इतिहास में इस सीधे सादे हंगेरिया के विद्वान् की अनन्य प्रीति से अधिक अद्भुत बातें बहुत ही कम होंगी । उसने आरम्भ ही से पूर्वी भाषाओं के य य करने का निश्चय कर लिया था और वह सन १८२० में बोखारेस्ट से बिना किसी मित्र या द्रव्य के निकला और पैदल तथा जल में नौका पर यात्रा करता हुआ बगदाद आया । वहां से वह तेहरान गया और फिर वहां से एक बटोहियों के झुण्ड के साथ खुरासान होते हुए बुखारा पहुंचा । सन् १८२२ में वह काबुल आया और वहां से लाहौर और लाहौर से काश्मीर होता हुआ लदाख जा कर बसा । उसने इन देशों में बहुत काल तक भ्रमण और निवास किया और सन् १८३१ में वह शिमला में था " जहां वह एक मोटे नीले कपड़े का ढीला ढाला अंगा जोकि उसकी एड़ियों तक लम्बा था और उसी कपड़े की एक छोटी टोपि भी पहिनता था । उसकी कुछ सफेद डाढ़ी थी, वह युरोपियन लोगों से दूर रहता था और अपना समय अध्ययन में व्यतीत करता था ।" सन् १८३२ में वह कलकत्ते आया और वहां डाक्टर विल्सन और जेमस प्रिन्सैप साहबों ने उससे बड़ी मिहर्बानी के साथ बर्ताव किया । वहां वह बहुत दिनों तक रहा । सन् १८४२ में उसने फिर कलकत्ते से तिब्बत के लिये प्रस्थान किया परन्तु मार्ग में दार्जिलिंग में ज्वर के कारण उस का देहान्त हो गया । बङ्गाल की एशियाटिक सोसाइटी ने दार्जिलिंग में उसकी कब्र पर एक स्मारक बनवाया है। इस पुस्तक के लेखक ने अभी कुछ ही मास हुए कि दुख और सन्तोष के साथ इस कब्र को जाकर देखा था ।

उसने तिब्बत की बौद्ध पुस्तकों के विषय में जो कार्य्य किया था उसका सब आवश्यक वृत्तान्त एशियाटिक् रिसर्चेस के बीसवें भाग में दिया है । सोमा साहब के पीछे अन्य विद्वान लोगों ने तिब्बत के उन्हीं बौद्ध ग्रन्थों में परिश्रम किया है और इस विषय में और बहुत सी बातें जानी हैं ।

चीन के बौद्ध ग्रन्थों का पूरा संग्रह करने का यश रेवरेण्ड सेम्युएल बील साहब को प्राप्त है। इस कार्य्य के लिये जापान के राजदूत से प्रार्थना की गई थी जोकि इंग्लैण्ड आया था और इस प्रार्थना को उन्होंने तुरन्त स्वीकार कर लिया और टोकियो लौट जाने पर उस संपूर्ण संग्रह को इंग्लैण्ड भेजवाया जोकि "दी सेक्रेट टीचिंग आफ दी थ्री ट्रेज़र्स (तीनों भण्डार के पवित्र उपदेश) के नाम से प्रसिद्ध है। इस संग्रह में दो हजार से अधिक ग्रन्थ हैं और उसमें वे सब पवित्र पुस्तकें हैं जो कि भिन्न भिन्न शताब्दियों में भारतवर्ष से चीन को गई थीं और इन पुस्तकों पर चीन के पुजेरियों की टिप्पणियां भी हैं।

ईसा के लगभग २४२ वर्ष पहिले, अशोक के समय में बौद्ध धर्म्म और इस धर्म्म की पुस्तकों का प्रचार लङ्का में किया गया और इस धर्म्म की सब पुस्तकें आज तक भी लङ्का में पाली भाषा में और प्रायः उसी रूप में जिसमें कि दो हजार वर्ष पहिले वे वहां से गई थीं विद्यमान है, जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे। इन पुस्तकों का मनन बहुत से प्रसिद्ध विद्वानों अर्थात् बर्नर फासबाल, ओल्डेनबर्ग, चिल्डर्स, स्पेन्स हार्डी, राइज़ डेविड्स, मेक्समूलर, वेबर और अन्य लोगों ने किया है और बहुत से पाली ग्रन्थ प्रकाशित हो गए हैं तथा उनमें से मुख्य मुख्य अंशों का अनुवाद भी हो गया है।

बर्मा से भी हम लोगों को बौद्ध धर्म्म की बहुत सी बातें विदित हुई हैं और बर्मा के बौद्ध धर्म्म की बहुत सी बातें बिगेण्डेट साहब के लिखे हुए गौतम के जीवनचरित्र में हैं जो कि पहिले पहिले १८६८ में प्रकाशित हुआ था। भारतवर्ष के आस पास के सब देशों में इस बड़े धर्म्म के अमूल्य और विद्वतापूर्ण ग्रन्थ हमें मिलते हैं। केवल भारतवर्ष में ही जो कि इस धर्म्म का जन्मस्थान है और जहां कि यह धर्म्म लगभग १५ शताब्दियों तक रहा है इस उत्तम धर्म्म का कोई नाम लेने योग्य स्मारक नहीं है! भारतवर्ष में बौद्ध धर्म्म, बौद्ध मठों और बौद्ध ग्रन्थों का ऐसा पूर्ण नाश हो गया है!

हमें उपरोक्त विद्वानों की खोज के लिये उन्हें धन्यवाद देना चाहिए कि इस समय अंग्रेज़ी पढ़े लोगों के सामने संसार के भिन्न भिन्न देशों अर्थात् चीन, जापान, तिब्बत, बर्मा और लङ्का में बौद्ध धर्म्म की उन्नति का अध्ययन करने के लिये काफी उपादान है। इस प्रकार अंग्रेज़ी जाननेवाले लोग इस बात का अध्ययन कर सकते हैं कि इस धर्म्म ने भिन्न भिन्न रूपों भिन्न भिन्न कालों और जीवन और सभ्यता की भिन्न भिन्न अवस्थाओं में क्या उन्नति की।

परन्तु भारतवर्ष के इतिहासवेत्ता को इस परम मनोरञ्जक कार्य्य से वंचित रहना पड़ेगा। बौद्ध धर्म्म की चीन, तिब्बत, और बर्मा में जो उन्नति हुई उससे भारतवर्ष के इतिहास का कोई साक्षात सम्बन्ध नहीं है। अतएव उसको चाहिए कि वह इन उपदानों में से केवल उन ग्रन्थों को चुने जिससे कि भारत वर्ष के प्रारम्भ के बौद्ध धर्म्म का इतिहास विदित होता है। उसके लिये इतिहास उसके उत्पत्ति स्थान का जोकि प्राप्त हो सकता है आश्रय लेना और विशेष कर उन ग्रन्थों पर विश्वास करना आवश्यक है जिन से कि दार्शनिक समय में भारतवर्ष के बौद्ध धर्म्म की उन्नति का वृत्तान्त विदित होता है।

बौद्ध धर्म्म जिन रूपों में नेपाल, तिब्बत, चीन और जापान में वर्त्तमान है वह उत्तरी बौद्ध धर्म्म, और जिन रूपों में वह लङ्का और बर्म्मा में है वह दक्षिणी बौद्ध धर्म्म कहलाता है। उत्तरी बौद्ध मतावलम्बी लोगों से हमें बहुत थोड़े सामान मिलते हैं जिस से कि भारतवर्ष में इस धर्म्म के सब से प्रथम रूप का पता लगता है। क्यों कि उत्तर की जातियों ने ईसा के कुछ शताब्दियों के उपरान्त बौद्ध मत को ग्रहण किया और उस समय उन्होंने भारतवर्ष से जो ग्रन्थ पाए उनसे भारतवर्ष के बौद्ध धर्म्म के सब से प्रथम रूप का पता नहीं लगता। ललितविस्तर जोकि उत्तर के बौद्ध लोगों का सब से मुख्य ग्रन्थ है वह केवल एक भड़कीला काव्य है। वह गौतम का जीवनचरित्र इससे बढ़ कर नहीं है जैसा कि "पैरेडाइज़ लास्ट्" ईसू का जीवन चरित्र है। सम्भवतः वह नेपाल

में ईसा के उपरान्त दूसरी तीसरी वा चौथी शताब्दी में बनाया गया था यद्यपि उसके कुछ भाग अर्थात् 'गाथा' बहुत पीछे के समय के हैं। चीन में बौद्ध धर्म्म का प्रचार ईसा की पहिली शताब्दी में हुआ परन्तु वह चौथी शताब्दी तक राज्यधर्म्म नहीं हुआ था और जो पुस्तकें उस समय चीन के यात्री लोग भिन्न भिन्न शताब्दियों में भारतवर्ष से ले गए थे उनमें भारतवर्ष के बौद्ध धर्म्म के सब से प्राचीन रूप का वृत्तान्त नहीं है। बौद्ध धर्म्म का प्रचार जापान में ईसा की पांचवीं शताब्दी में और तिब्बत में सातवीं शताब्दी में हुआ। तिब्बत भारतवर्ष के प्राथमिक बौद्ध धर्म्म से बहुत दूर है और उसने ऐसी बातों और ऐसे विधानों को ग्रहण किया है जो कि गौतम तथा उसके अनुयायियों को विदित नहीं थे।

इसके विरुद्ध दक्षिणी बौद्ध मत से हमारे लिये बहुत सा अमूल्य सामान मिलता है। दक्षिणी बौद्धों की पवित्र पुस्तकें तीन पितक के नाम से प्रसिद्ध हैं और इस बात को मानने के प्रमाण हैं कि ये पितक, जो कि अब तक लङ्का में वर्त्तमान हैं, वास्तव में वे ही नियम हैं जो कि पटने की सभा में ईसा के लगभग २४२ वर्ष पहिले निश्चित हुए थे।

बहुत काल तक बुद्ध की मृत्यु का समय ईसा के ५४३ वर्ष पहिले माना जाता था परन्तु बहुत सी बातों से जो कि गत३०वर्षों में निश्चित हुई हैं विदित होता है कि यह इस सुधारक ने ईसा के ५५७ वर्ष पहिले जन्म लिया था और उसके ४७७ वर्ष पहिले उसकी मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के पीछे मगध की राजधानी राजगृह में ५०० भिक्षुकों की एक सभा हुई और इन्होंने मिल कर पवित्र नियमों को स्मरण रखने के लिये गाया। इसके १०० वर्ष पीछे अर्थात् ईसा के ३७७ वर्ष पहिले एक दूसरी सभा वैशाली में हुई जिसका मुख्य उद्देश्य उन दस प्रश्नों पर वादविवाद और निर्णय करने का था जिन पर कि मतभेद हो गया था। इसके १३५ वर्ष पीछे मगध के सम्राट अशोक ने धर्म्मपुस्तकों अर्थात् पितकों को अन्तिम बार निश्चित करने के लिये ईसा के लगभग २४२ वर्ष पहिले पटने में एक तीसरी सभा की।

यह बात प्रसिद्ध है कि अशोक एक बड़ा उत्साही बौद्ध था और उसने विदेशों में सीरिया, मेसीडन और ईजिप्ट तक भी इस धर्म्म का प्रचार करने के लिये उपदेशक भेजे थे। उसने ईसा के लगभग २४२ वर्ष पहिले अपने पुत्र महेन्द्र को लङ्का के राजा तिसा के पास भेजा और महेन्द्र अपने साथ बहुत से बौद्ध भिक्षुकों को लेगया और इस प्रकार लङ्का में वे पितक गए जो कि पटने की सभा में अभी निश्चित हुए थे। यह कहना अनावश्यक होगा कि लङ्का के राजा तिसा ने हर्ष के साथ उस धर्म्म को ग्रहण किया जिसकी कि अशोक ने प्रसंशा की थी और जिसका उसके पुत्र ने उपदेश किया था और इस प्रकार ईसा के पहिले तीसरी शताब्दी में लङ्का ने बौद्ध धर्म्म को ग्रहण किया। इसके १५० वर्ष पीछे ये पितक नियमानुसार लिपिबद्ध किए गए और इस प्रकार लङ्का के पाली पितकों में मगध के सब से प्राथमिक बौद्ध धर्म्म का प्रामाणिक वृत्तान्त है।

इन बातों से विदित होगा कि दक्षिणी बौद्धों के तीनों पितक ईसा के २४२ वर्ष से अधिक पहिले के हैं। क्यों कि जो ग्रन्थ सत्कार के योग्य प्राचीन नहीं थे वे पटने की सभा के नियमों में सम्मिलित नहीं किए गए थे। वास्तव में विनयपितक में इस बात के भीतरी प्रमाण मिलते हैं कि इस पितक के मुख्य मुख्य भाग विशाली की सभा के पहिले अर्थात् ईसा के ३७७ वर्ष से अधिक पहिले के हैं क्योंकि विनयपितक के मुख्य मुख्य भागों में उपर्युक्त दसो प्रश्नों के वादविवाद का कोई उल्लेख नहीं है। ये प्रश्न बौद्ध धर्म्म के इतिहास में वैसे ही आवश्यक हैं जैसा कि ईसाई धर्म्म में एरियन का विवाद हुआ है और उन्होंने समस्त बौद्ध सृष्टि में उसके केन्द्र तक खलबली डाल दी थी। इससे यह अनुमान स्पष्ट होता है कि विनयपितक के मुख्य भाग दूसरी सभा के पहिले के अर्थात् ईसा के ३७७ वर्ष से अधिक पहिले के हैं।

इस प्रकार हमें दक्षिणी बौद्धों के धर्म्मग्रन्थों से गौतम बुद्ध के समय के ठीक पीछे की शताब्दियों में भारतवर्ष के इतिहास के प्रमाणिक उपादान मिलते हैं। क्यों कि तीनों पितकों के विषय, गौतम की मृत्यु के पीछे सौ या दो सौ वर्ष के भीतर

ही निश्चित किए गए और क्रम में लाए गए थे जिस प्रकार कि चारों ईसाई ग्रन्थ ईसा की मृत्यु के पीछे सौ या दो सौ वर्ष के भीतर ही भीतर बनाए और निश्चित किए गए थे। अतएव इन तीनों पितकों से गङ्गा की घाटी के हिन्दुओं के जीवन और हिन्दू राज्यों के इतिहास का वृत्तान्त विदित होता है। और अन्त में उनसे बुद्ध के जीवनकार्य्य और उसकी शिक्षाओं का अधिक प्रामाणिक और कम बनावटी वृत्तान्त मिलता है जो कि उत्तर के बौद्धों से कदापि नहीं मिल सकता। उस समय की हिन्दू सभ्यता को सूचित करने और गौतम के जीवनचरित और कार्य्यों के वर्णन के लिये हम इन्हीं तीनों पितकों से सहायता लेंगे। यदि हम बुद्ध और उसके जीवन के विषय की कुछ बातें जानना चाहें तो अन्य सब मार्गों को छोड़ कर हमें इन्हीं पाली ग्रन्थों का आश्रय लेना चाहिए।

ये तीनों पितक सुत्तपितक, विनयपितक और अभिधम्म-पितक के नाम से प्रसिद्ध हैं। सुत्तपितक में जो बातें हैं वे स्वयं गौतम बुद्ध की कही हुई कही जाती हैं। इस पितक के सब से प्राचीन भागों में स्वयं गौतम ही कार्य्य करनेवाले और वक्ता हैं और उनके सिद्धान्त उन्हींके शब्दों में कहे गए हैं। कभी कभी उनके किसी चेले ने भी शिक्षा दी है और उसमें यह प्रगट करने के लिये कुछ वाक्य भी दिए गए हैं कि कहां और कब गौतम अथवा उनके शिष्य के वाक्य हैं। परन्तु समस्त सुत्तपितक में गौतम के सिद्धान्त और उनकी आज्ञा स्वयं उन्हीं के शब्दों में रक्षित कही जाती है।

विनयपितक में भिक्षुओं और भिक्षुनियों के आचरण के लिये बहुत सूक्ष्म नियम दिए गए हैं जोकि प्रायः बहुत तुच्छ विषयों पर हैं। गौतम गृहस्थ चेलों अर्थात् उपासकों को भी सत्कार की दृष्टि से देखते थे परन्तु उनका यह मत था कि भिक्षु हो जाना शीघ्र निर्वाण प्राप्त करने का मार्ग है। भिक्षुओं और भिक्षुनियों की संख्याएँ जब बढ़ती गईं तो विहार अर्थात् मठ में उनके उचित आचरण के लिये प्रायः बहुत सूक्ष्म विषयों पर बड़े बड़े नियम बनाने की आवश्यकता हुई। अपना मत प्रगट करने के उप-रान्त गौतम ५० वर्ष तक जीवित रहे अतः इसमें सन्देह नहीं हो

सकता कि इनमें से बहुत से नियमों को स्वयं उन्होंने निश्चित किया है। इसके साथ ही यह भी निश्चय है कि इनमें से बहुत सूक्ष्म नियम उनकी मृत्यु के पीछे बनाए गए, परन्तु विनयपितक में वे सब स्वयं उन्हीं की आज्ञा से बनाए हुए कहे गए हैं।

और अन्त में अभिधम्मपितक में भिन्न भिन्न विषयों पर शास्त्रार्थ हैं अर्थात् भिन्न भिन्न लोकों में जीवन की अवस्थाओं पर, शारीरिक गुणों पर, तत्वों पर, अस्तित्व के कारणों इत्यादि पर विचार किया गया है।

अब हम इन तीनों पितकों के विषयों की एक सूची देते हैं—

सुत्तपितक।

१ दीर्घ नियाक अर्थात् बड़े ग्रन्थ जिनमें ३४ सूत्रों का संग्रह है।
२ मज्झिम निकाय अर्थात् मध्यम ग्रन्थ जिनमें मध्यम विस्तार के १५२ सूत्त हैं।
३ सम्युत्त निकाय अर्थात् सम्बद्ध ग्रन्थ।
४ अंगुत्तर निकाय अर्थात् ऐसे ग्रन्थ जिनमें कई भाग हैं और प्रत्येक भाग का विस्तार एक एक कर के बढ़ता गया है।
५ खुद्दक निकाय अर्थात् छोटे ग्रन्थ। इनमें पन्द्रह ग्रन्थ हैं जिनका वर्णन हम विस्तारपूर्वक करेंगे—
   (१) खुद्दकपाथ अर्थात् छोटे छोटे वचन।
   (२) धम्मपद जिसमें धार्मिक आज्ञाओं का एक अच्छा संग्रह है।
   (३) उदान जिसमें ८२ छोटे छोटे छन्द हैं और ऐसा कहा जाता है कि इन्हें गौतम ने भिन्न भिन्न समयों में बड़े जोश में कहा था।
   (४) इतिवुत्तक अर्थात् बुद्ध की कही हुई ११० बातें।
   (५) सुत्तनिपात जिसमें ७० शिक्षाप्रद छन्द हैं।
   (६) विमानवत्थु जिसमें स्वर्गीय महलों की कथाएँ हैं।
   (७) पेतवत्थु जिसमें प्रेतों का विषय है।
   (८) थेरगाथा जिसमें भिक्षुओं के लिये छन्द हैं।
   (९) थेरीगाथा जिसमें भिक्षुनियों के लिये छन्द हैं।

(१०) जातक जिसमें पूर्व जन्मों की ५५० कथाएँ हैं।
(११) निद्देश जिसमें सुत्तनिपात पर सारिपुत्त का भाष्य है।
(१२) पतिसम्भिदा जिसमें अन्तरज्ञान का विषय है।
(१३) अपदान जिसमें अरहतों की कथाएँ हैं।
(१४) बुद्धवंश जिसमें गौतम बुद्ध तथा उनके पहिले के २४ बुद्धों के जीवनचरित्र हैं।
(१५) चरियापितक जिसमें गौतम के पूर्व जन्मों के सुकर्म्मों का वर्णन है।

२ विनयपितक

१ विभंग। डाक्टर ओडेनवर्ग और डाक्टर रहेज़ डेविड्स साहबों का मत है कि यह पातिमोक्ख का केवल विस्तृत पाठ है अर्थात् भाष्यसहित पातिमोक्ख है। पातिमोक्ख पापों और उनके दंड का सूत्र रूप में संग्रह है जिसका पाठ प्रत्येक अमावास्या और पूर्णिमा को किया जाता है और ऐसा समझा जाता है कि इस धर्म्म के अनुयायी जो कुछ पाप करते हैं उसे वे स्वीकार कर लेते हैं और उस पाप से मुक्त हो जाते हैं।

२ खण्डक अर्थात् महावग्ग और चुल्लावग्ग।

३ परिवारपाथ जोकि विनयपितक के पूर्व भागों का एक पीछे के समय का संस्करण और परिशिष्ट भाग है।*

३ अभिधम्मपितक

१ धम्मसँगनी जिसमें भिन्न भिन्न लोकों में जीवन की अवस्थाओं का वर्णन है।

---

* परन्तु यह अशोक के समय में बनाया गया था और दीपवंश (७, ४२) में लिखा है कि उसका पुत्र महिन्द इसे लङ्का लेगया था। जिन ग्रन्थों को महिन्द लङ्का लेगया था उनके नाम इस प्रकार दिए हैं— पांचो निकाय (सुत्तपितक); सातो (अभिधम्म), दोनों विभङ्ग; परिवार और खण्डक (विनय)

२ विभंग जिसमें शास्त्रार्थ की १८ पुस्तकें हैं।
३ कथावत्थु जिसमें विवाद के १००० विषय हैं।
४ पुग्गलपञ्ञत्ति जिसमें शारीरिक गुणों का विषय है।
५ धातुकथा जिसमें तत्त्वों का वर्णन है।
६ यमक अर्थात् जिसमें एक दूसरे से भिन्न या मिलती हुई बातों बातों का वर्णन है।
७ पत्थान जो अस्तित्व के कारणों के विषय में है।

ये इन तीनों पितकों के विषय हैं जोकि हम लोगों के लिये रक्षित हैं और जो बुद्ध के जीवनचरित्र और कार्य्यों तथा बौद्ध भारतवर्ष के इतिहास के लिये बड़े प्रामाणिक उपादान हैं। यद्यपि जिस समय ये तीनों पितक निश्चित और संगृहीत किए गए उस समय लोग लिखना जानते थे परन्तु फिर भी सैकड़ों वर्ष तक वे केवल कंठाग्र ही रख कर रक्षित रक्खे गए, जैसे कि भारतवर्ष में वेद केवल कंठाग्र रख कर रक्षित रक्खे गए थे।

" तीनों पितक और उनके भाष्यों को भी।
" प्राचीन समय के बुद्धिमान भिक्षुकों ने केवल मुख द्वारा सिखलाया।"

और ये पवित्र ग्रन्थ ईसा के एक शताब्दी अर्थात् लग भग ८८ वर्ष पहिले लिपिबद्ध किए गए जैसा कि हम पहिले देख चुके हैं।

यह बात प्रसिद्ध है कि गौतम ने भारतवर्ष के लेखकों और सोचनेवालों के पूर्व उदाहरणों पर न चल कर भारतवर्ष के लोगों में अपने धर्म्म का प्रचार केवल सर्वसाधारण की भाषा में किया था, संस्कृत में नहीं। चुल्लवग्ग में (५,३३,१,) यह कहा गया है कि "दो भिक्षु भाई थे जिनका नाम यमेलु और ठेकुल था। वे ब्राह्मण थे और बोलने तथा उच्चारण करने में निपुण थे।" वे लोग गौतम के पास गए और बोले "हे महाराज इस समय भिन्न भिन्न नाम, कुल, जाति और गोत्र के भिक्षु लोग हो गए हैं। ये लोग अपनी अपनी भाषा से बुद्धों के वाक्यों को नष्ट करते हैं। इस कारण हे महाराज हम लोगों को आज्ञा दीजिए कि हम लोग बुद्धों के वाक्यों की रचना संस्कृत छन्दों (छन्दसो आरोपेम)

में करें।" परन्तु गौतम इसे नहीं चाहते थे। वे नम्र तथा नीच लोगों के लिये कार्य्य करते थे, उनका आदेश सर्वसाधारण के लिये था, और इस कारण उनकी यह इच्छा थी कि वे उन्हीं की भाषा में उन्हें सिखलाए जांय। "हे भिक्षुओं, तुम्हें बुद्धों के वाक्य (संस्कृत)छंद में नहीं रचने चाहिए........हे भिक्षुओं मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ कि तुम बुद्धों के वाक्य अपनी ही अपनी भाषा में सीखो।"

साधारणतः हम इन तीनों पितकों के लिये उन्हीं वाक्यों का व्यवहार कर सकते हैं जिन्हें डाक्टर रहेज़ डेविड्स और डाक्टर ओडनबर्ग ने विनयपितक के लिये व्यवहार किया है "इसका पाठ, जैसा कि वह हम लोगों के सामने है चाहे वह अपने भिन्न भिन्न भागों के साथ मिलान किया जाय अथवा अपने उत्तरी उसके बचे-बचाए भाग के साथ परन्तु वह सब प्रमाणों से ऐसा रक्षित है कि हम लोग इन पाली पुस्तकों को उस प्राचीन मागधी पाठ का प्रमाणिक दर्पण मानते में हैं जोकि अधिकांश प्राचीन बौद्ध मठों में स्थिर किया गया था। मगध की भाषा का वह पाठ हम लोगों को कदाचित् अब कभी प्राप्त न होगा और अब हम यह भी आशा नहीं कर सकते कि उस पाठ का कुछ भाग ही हम को मिल जाय। अधिक से अधिक हम लोगों को कुछ शिलालेखों में दो चार वाक्यों के मिलने की सम्भावना है परन्तु हम लोगों को इन प्राचीन भिक्षुओं का अनुगृहीत होना चाहिए कि उन्होंने हमारे लिये उसका एक अनुवाद रक्षित रक्खा है जोकि मागधी भाषा से बहुत कुछ मिलती हुई एक भाषा में है और वह ऐसी पूर्ण और प्रमाणिक अवस्था में है जैसा कि पाळी भाषा का विनयपितक है।"

अध्याय १२

गौतम बुद्ध का जीवनचरित्र।

ईसा के पहिले छठी शताब्दी में मगध का राज्य बड़ा प्रबल हो रहा था। यह राज्य आज कल के दक्षिणी बिहार में था और गंगा के दक्षिण सोन नदी के दोनों ओर फैला हुआ था। गंगा के उत्तर में लिच्छवि लोगों का एक दूसरा प्रबल राज्य था। मगध के राजा बिम्बिसार की राजधानी गंगा के दक्षिण राजगृह में थी और लिच्छवियों की राजधानी गंगा के उत्तर वैशाली में थी। पूरब की ओर अंग का राज्य अर्थात् पूर्वी बिहार था जिसका उल्लेख मगध के सम्बन्ध में आता है और अंग की राजधानी चंपा में थी। उत्तर पश्चिम की ओर दूर जा कर कोशलों का प्राचीन राज्य था और उसकी राजधानी अयोध्या अथवा साकेत से हटाई जा कर उत्तर की ओर श्रावस्ति में थी जहां कि जिस समय का हम वर्णन कर रहे हैं उस समय प्रसेनजित राज्य करता था। दक्षिण की ओर काशी का प्राचीन देश भी उस समय श्रावस्ति के राजा के आधीन जान पड़ता है और प्रसेनजित का एक प्रतिनिधि बनारस में राज्य करता था।

कोशल के राज्य के कुछ पूरब रोहिणी नदी के आमने सामने के दोनों किनारों पर दो जातियाँ अर्थात् शाक्य और कोलियन जातियां जोकि एक प्रकार से स्वतन्त्र थीं और जिनकी स्वतन्त्रता का कारण उनका बल नहीं था वरन् उसका कारण मगध और कोशल के राजाओं का परस्पर अविश्वास था। शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु थी और उन लोगों का उस समय कोलियन लोगों के साथ मेल था। शाक्यों के सर्दार शुद्धोदन ने कोलियन लोगों के सर्दार की दो कन्याओं से विवाह किया था।

शुद्धोदन को इनमें से किसी रानी से भी बहुत वर्षों तक कोई पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ और शाक्यों के उत्तराधिकारी होने की आशा जाती रही। परन्तु अन्त में बड़ी रानी को गर्भ रहा और प्राचीन रीति के अनुसार उन्होंने पुत्र जन्माने के लिये अपने पिता के घर को प्रस्थान किया। परन्तु वहाँ पहुंचने के पहिले ही उसे लुम्बिनी के सोहावने कुंज में पुत्र उत्पन्न हुआ। अतएव लोग रानी और उसके पुत्र को कपिलवस्तु में ले आए और वहाँ रानी सात दिन के उपरान्त मर गई और लड़के को छोटी रानी से पाले जाने के लिये छोड़ गई।

गौतम के जन्म के सम्बन्ध में स्वभावतः बहुत सी कथाएँ कही जाती हैं परन्तु यह बात बड़े आश्चर्य की है कि वे कथाएँ ईसा मसीह के जन्म की कथाओं से समानता रखती हैं उनमें से एक को हम यहाँ उद्धृत करेंगे। असित ऋषि ने देवताओं को प्रसन्न देखा और देवताओं को प्रसन्न हृदय से सत्कार करके उसने उस समय पूछा "देवताओं का समूह इतना अधिक प्रसन्न क्यों है और वे अपने कपड़े पकड़ कर क्यों हिला रहे है?'

"बोधिसत्त जो कि अत्योतम मोती के सदृश और अद्वितीय हैं संसार के लोगों के लाभ और सुख के लिये लुम्बिनी के देश में शाक्यों के यहाँ उत्पन्न हुआ है। इस कारण हमलोग हर्षित और बहुत ही प्रसन्न हैं।" यह उत्तर पाकर यह ऋषि सुद्धोदन के यहाँ गया और उसने पूछा "वह राजकुमार कहाँ है? मैं उसे देखा चाहता हूँ।"

"तब शाक्यों ने असित को वह पुत्र दिखलाया जो कि बड़े चतुर कारीगर से भट्टी के मुँह पर बनाए हुए चमकते हुए सोने की नाईं प्रताप और सुन्दरता से चमक रहा था।" और ऋषि ने कहा कि यह लड़का पूर्ण ज्ञान को प्राप्त होगा, और धर्म्म को स्थापित करेगा और उसके धर्म्म का बड़ा प्रचार होगा (नालक सुत्त)

इस पुत्र का नाम सिद्धार्थ रक्खा गया परन्तु उसके घर का नाम गौतम था। वह शाक्य वंश का था और इसी लिये बहुधा वह शाक्य सिंह भी कहा जाता है और जब उसने अपने सुधार किए हुए मत

का प्रचार किया तो वह बुद्ध अर्थात् जागृत या बुद्धिसम्पन्न कहलाया।

गौतम की बाल्यावस्था की बहुत कम बातें विदित हैं। उन्होंने अपनी चचेरी बहिन अर्थात् कोली के सरदार की पुत्री सुभद्रा या यशोधरा से १८ वर्ष की अवस्था में विवाह किया। ऐसा कहा जाता है कि गौतम उन वीरोचित कसरतों को नहीं करता था जिन्हें कि उस समय के सब क्षत्री लोग प्रसन्नता पूर्वक करते थे और उसके सम्बन्धी लोग इस बात की शिकायत करते थे। इस कारण उसके गुणों की परीक्षा करने के लिये एक दिन नियत किया गया और ऐसा कहा जाता है कि उसमें शाक्यों के इस राजकुमार ने अपने सब कुटुम्बियों से श्रेष्ठता दिखलाई।

अपने विवाह के दस वर्ष पीछे गौतम ने दर्शनशास्त्र और धर्म्म के अध्ययन के लिये अपना घर और स्त्री छोड़ने का संकल्प किया। इस राजकुमार का अपना घर और अधिकार छोड़ने की कथा सुप्रसिद्ध है। इसके पूर्व उसने बहुत समय तक मनुष्य जाति के पाप और दुःखों के विषय में बड़ी गम्भीरता और दुःख के साथ विचार किया था और उसने धन और अधिकार की व्यर्थता को समझा होगा। अपने सुख अधिकार और धन के बीच रह कर वह गुप्त रीति से इस से भी अधिक कोई वस्तु प्राप्त करना चाहता था जो कि न तो धन और न अधिकार से मिल सकती थी और राजमहल के सुख और विलास के बीच भी उसके हृदय में मनुष्यों के दुःख को दूर करने का उपाय सोचने की एक प्रबल और अनिवार्य कामना उठी। ऐसा कहा जाता है कि एक निर्बल वृद्ध मनुष्य को, एक रोगी मनुष्य को, एक सड़ी हुई लोथ को, और एक योग्य सन्यासी को देख कर उसकी इच्छा अपना घर द्वार छोड़ने की हुई। इस कहानी में बहुत कम सत्यता, है और इस से केवल वे विचार प्रगट होते हैं जो कि उसके हृदय में गृहस्थी के जीवन के दुःखों और संसार से वैराग्य की शान्ति के विषय में उठते थे।

इस समय उसको एक पुत्र उत्पन्न हुआ। ऐसा कहा जाता है कि इसका समाचार उसको एक वाटिका में नदी के तट पर

दिया गया और विचार में मग्न इस युवा ने केवल इतना ही कहा "यह एक नया और मजबूत बन्धन है जिसे मुझे तोड़ना पड़ेगा।" इस समाचार से शाक्यों के हृदय में बड़ी प्रसन्नता हुई और राज्य के उत्तराधिकारी के जन्म के उत्सव के गीतों से कपिलवस्तु गूँज उठा। जिस समय गौतम नगर को लौटा तो वह चारों ओर से बधाइयाँ सुनने लगा और उनमें उसने एक युवती को यह कहते हुए सुना कि "ऐसे पुत्र और पति के माता, पिता और स्त्री सुखी हों।" गौतम ने सुखी शब्द से "पापों और पुनर्जन्म से" मुक्ति पाने का अर्थ समझा और उसने अपना मोतियों का हार उतार कर उस युवती को भेज दिया। युवती ने समझा कि राजकुमार मुझ पर मोहित हो गया है। वह बेचारी क्या जानती थी कि राजकुमार के हृदय में कैसे कैसे विचार उत्पन्न हो रहे थे।

उस रात्रि को गौतम अपनी स्त्री के कमरे के द्वार पर गया और वहां उसने जगमगाते हुए दीपक के प्रकाश से बड़े सुख का दृश्य देखा। उसकी युवा पत्नी चारों ओर फूलों से घिरी हुई पड़ी थी और उसका एक हाथ बच्चे के सिर पर था। उसके हृदय में बड़ी अभिलाषा उठी कि सब सांसारिक सुखों को छोड़ने के पहिले वह अन्तिम बेर अपने बच्चे को अपनी गोद में ले परन्तु वह ऐसा करने से रुक गया। बच्चे की माता कदाचित जाग जाय और उस प्रियतमा की प्रार्थनाएं कदाचित् उसके हृदय को हिला दें और उसके संकल्प में बाधा डाल दें। अतएव वह इस सुखी दृश्य अर्थात् अपने सब सुख, प्रशाय और स्नेह के घर से चुप चाप निकल गया। उसी एक क्षण में, उसी रात्रि के अंधकार में उसने सदा के लिये अपने धन सम्मान और अधिकार को, अपनी ऊंची मर्यादा और अपने राजकुमार के नाम को और सब से बढ़ कर अपने सुखी घर के स्नेह को अर्थात् अपनी युवा पत्नी की प्रीति और उसकी गोद में सोए हुए सुकुमार बच्चे के स्नेह को तिलांजलि दे दी। वह यह सब छोड़ कर एक निर्धन विद्यार्थी और घरहीन पथिक होने के लिये निकल पड़ा। उसके सच्चे नौकर चन्न ने उनके साथ रहने और सन्यासी हो जाने की आज्ञा मांगी

परन्तु गौतम ने उसे वापस भेज दिया और वह अकेला राजगृह को चला गया।

हम ऊपर कह चुके हैं कि राजगृह मगधों के राजा बिम्बिसार की राजधानी थी और वह एक घाटी में पांच पहाड़ियों से घिरी हुई थी। कुछ ब्राह्मण सन्यासी लोग इन पहाड़ियों की गुफाओं में रहते थे जो कि नगर से अध्ययन तथा ध्यान करने के लिये काफी दूर थीं परन्तु इतनी दूर नहीं थी कि नगर से सामिग्री लाने में कठिनता हो। गौतम पहिले एक अलार नामी सन्यासी के पास रहा और तब उद्रक नामी सन्यासी के पास, और उसने उससे वे सब बातें सीख लीं जो कि हिन्दू दर्शनशास्त्र सिखला सकते थे।

परन्तु इससे संतोष न पा कर गौतम ने यह देखना चाहा कि तपस्या करने से क्या दैवी ज्ञान और शक्ति प्राप्त हो सकती है। अतएव वह उरबला के जंगल में जो कि आज कल के बुद्धगया के मन्दिर के निकट था गया और पाँच चेलों के सहित उसने छ बरसों तक मब मे कठोर तपस्याएं कीं और दुःख सहे। चारों ओर उसकी बड़ी प्रसिद्धि हुई क्योंकि अज्ञानी और मिथ्याविश्वासी लोग सदा ऐसी तपस्याओं की प्रशंसा करते हैं। परन्तु गौतम को जिस वस्तु की खोज थी वह उसे न मिली। अन्त में एक दिन वह केवल दुर्बलता के कारण गिर पड़ा और उसके शिष्यों ने समझा कि वह मर गया। परन्तु वह होश में आया और तपस्याओं से कुछ लाभ होने की आशा न पाकर उसने उन्हें छोड़ दिया। जब उसने तपस्या छोड़ दी तो उसके शिष्य लोगों के हृदय से जो कि उसके उद्देश्य नहीं समझते थे उसका सत्कार जाता रहा। वे उसे अकेला छोड़ कर बनारस चले गए।

संसार में अकेला हो कर गौतम निरंजरा नदी के तट पर भ्रमण करने लगा और सबेरे उसे एक दिहाती की कन्या सुजाता से भोजन मिलता रहा और वह प्रसिद्ध बोधी वृक्ष अर्थात् बुद्धि के वृक्ष के नीचे बैठा रहा। इस समय उसे जो मार अर्थात् दुष्ट भूत ललचाता था उसके विषय में बहुत सी कथाएं कही गई हैं और आश्चर्य है कि ये कथाएं ईसामसीह की कथाओं के सदृश हैं। वह

बहुत समय तक विचार करता रहा और अपने गत जीवन के दृश्य उसके हृदय के सामने आते रहे। जो विद्या उसने प्राप्त की थी उसका कोई फल नहीं हुआ, जो तपस्यायें उसने कीं वे भी निरर्थक हुईं, उसके शिष्यों ने उसको संसार में अकेला छोड़ दिया, क्या वह अब अपने सुखी घर को, अपनी प्रिय स्त्री के पास, अपने छोटे बच्चे के पास जो कि अब छ वर्ष का हो गया होगा, अपने प्रिय पिता और प्रिय प्रजा के पास लौट जाय ? यह सम्भव था, परन्तु इससे संतोष कैसे प्राप्त होता ? जिस कार्य्य में उसने अपने को लगाया था उसका क्या होता ? इन्हीं विचारों तथा सन्देह में वह बहुत समय तक बैठा रहता, यहां तक कि सब सन्देह सबेरे के कुहिरे की नाईं दूर हो गए और सत्य का प्रकाश उसकी आंखों के सामने चमकने लगा। यह सत्य क्या था जिसे कि न तो विद्या और न तपस्या सिखला सकी ? उसने कोई नई वस्तु नहीं जानी थी, कोई नया ज्ञान नहीं प्राप्त किया था, परन्तु उसके धार्मिक स्वभाव और उसके दयालु हृदय ने उन्हें बता दिया कि पवित्र जीवन और सबको प्यार करना ही सब पापों की सच्ची तपस्या है। आत्मोन्नति और सब का प्रेम यही नई बात उसने मालूम की थी, यही बौद्ध धर्म्म का सार है।

गौतम के हृदय में जो उद्वेग उठते थे और जिनकी शान्ति इस प्रकार हुई उसका वर्णन बौद्ध ग्रंथों में अद्भुत घटनाओं के साथ किया गया है। उनमें लिखा है कि सब मेघाच्छन्न और अंधकारमय था, पृथ्वी और समुद्र हिल रहे थे, नदियां उलटी बह कर अपने उद्गम में जा रही थीं और ऊंचे ऊंचे पहाड़ों की चोटियां नीचे आ गिरी थीं। डाक्टर रहेज डेविड्स साहब ठीक कहते हैं कि इन कथाओं का गूढ़ अर्थ है और ये "पहिले अर्द्ध अवाक्य प्रयत्न हैं जिन्हें कि हिन्दू हृदय ने एक प्रबल मनुष्य के उद्वेगों को वर्णन करने के लिये किया था।"

गौतम के पुराने गुरू मर गए थे और इसलिये वह अपने पांचों चेलों को यह सत्य प्रगट करने के लिये बनारस गया। मार्ग में उसे उपक नामी एक मनुष्य मिला जो कि आजीवन

योगियों के सम्प्रदाय का था। उसने गौतम के गम्भीर और सुखी मुख को देख के पूछा "मित्र तुम्हारा मुख शान्त है और तुम्हारा रंग स्वच्छ और प्रकाशमय है। मित्र तुम ने किस नाम से इस संसार को छोड़ दिया है? तुम्हारा गुरु कौन है? तुम्हारे सिद्धान्त क्या हैं?" इसका उत्तर गौतम ने यह दिया कि मेरा कोई गुरू नहीं है और मैंने सब कामनाओं को दमन कर के निर्वाण प्राप्त किया है। उसने कहा कि "मैं संसार के अंधकार में अमरत्व का ढिंढोरा पीटने काशी जा रहा हूं।" उपक ने उसकी बातें नहीं समझीं और दो चार बात कह कर उसने कहा "मित्र, कदाचित् ऐसा ही हो।" यह कह और मूड़ी हिला कर उसने दूसरा रास्ता पकड़ा और चलता बना (महावग्ग १, ६)।

बनारस में सन्ध्या के ठंढे समय गौतम ने मृगदाय में प्रवेश किया और वहां उसे उसके चारों चेले मिले और उसने उन्हें अपने नए सिद्धान्त समझाए।

"हे भिक्षुओ, दो ऐसी बातें हैं जिन्हें उन मनुष्यों को नहीं करना चाहिए जिन्होंने संसार त्याग दिया हो, अर्थात् एक तो उन वस्तुओं की आदत डालनी नहीं चाहिए जो कि मनोविकार से और विशेषतः कामाशक्ति से उत्पन्न होती हैं क्योंकि यह नीच मिथ्या अयोग्य और अलाभदायक मार्ग है जो कि केवल सांसारी मनुष्यों के योग्य है। और दूसरे तपस्याओं को नहीं करना चाहिए जो कि दुखदाई अयोग्य और अलाभदायक हैं।

"हे भिक्षुओ इन दोनों बातों को छोड़ कर एक बीच का मार्ग है जिसे कि तथागत (बुद्ध) ने प्रगट किया है। यह मार्ग नेत्रों को खोलता है और ज्ञान देता है, उससे मन की शान्ति, उच्चतम ज्ञान और पूर्ण प्रकाश अर्थात् निर्वाण प्राप्त होता है!"

और तब उसने उन्हें दुःख, दुःख के कारण, दुःख के नाश और दुःख के नाश करने के मार्ग के सम्बन्ध की बातें बतलाईं। जिस मार्ग का उसने वर्णन किया है उसमें आठ बातें हैं अर्थात् यथार्थ विश्वास, यथार्थ उद्देश्य, यथार्थ भाषण, यथार्थ कार्य्य, यथार्थ जीवन, यथार्थ उद्योग, यथार्थ मनःस्थिति और यथार्थ ध्यान।

और गौतम ने ठीक कहा है कि यह सिद्धान्त "हे भिक्षुओ प्राचीन सिद्धान्तों में नहीं है।" "बनारस में मिगदाय के मठ में बुद्ध ने सत्य के राज्य के प्रधान पहिए को चला दिया है और वह पहिया किसी स्रामन वा ब्राह्मण द्वारा, किसी देवता द्वारा, किसी ब्रह्मा वा मार द्वारा और सृष्टि में किसी के द्वारा भी कभी नहीं उलटाया जा सकता।" (धम्म चक्क प्पवत्तन सुत्त, अंगुत्तर निकाय)।

यह कहना अनावश्यक है कि पहिले के पांचो चेलों ने उसका धर्म्म स्वीकार किया और वे ही इस धर्म्म के पहिले सभ्य हुए।

बनारस के धनाढ्य सेठी (महाजन) का पुत्र यश उसका पहिला गृहस्थ चेला हुआ और सुख और धन की गोद में पले हुए इस युवा के धर्म्म परिवर्तन का वृत्तान्त यहां उल्लेख करने योग्य है। "उसके तीन महल थे-एक जाड़े के लिये, दूसरा गर्मी के लिये और तीसरा बर्सात के लिये।" एक दिन रात्रि को वह नींद से जगा और उसने कमरे में गायिकाओं को अब तक सोते पाया और उनके वस्त्र बालों तथा गाने के साजों को छिन्न भिन्न देखा। इस युवा ने जो कि प्रत्यक्ष सुख के जीवन से तृप्त हो चुका था अपने सामने जो कुछ देखा उससे उसे बहुत घृणा हुई और गहिरे विचार में हो कर उसने कहा "अफसोस कैसा दुःख है, अफसोस कैसी विपत्ति है ?" और वह घर से निकल कर बाहर चला गया।

यह प्रभात का समय था और गौतम ने जो कि हवा में इधर उधर टहल रहा था इस व्याकुल और दुखी युवा को यह कहते हुए सुना "अफसोस कैसा दुःख है। अफसोस कैसी विपत्ति है।" उसने उससे कहा "हे यश यहां कोई दुःख और कोई विपत्ति नहीं है। हे यश यहां आकर बैठो और मैं तुम्हें सत्य का मार्ग सिखलाऊंगा।" और यश ने इस ऋषि आचार्य्य के मुख से सत्य को सुना।

यश के माता पिता और स्त्री उसे न पाकर सब गौतम के पास आए और उन लोगों ने भी पवित्र सत्य को सुना और वे भी शीघ्र ही गृहस्थ चेले हो गए। (महावग्ग १, ७ और ८)

बनारस में आने के पांच मास के उपरान्त गौतम के ६० चेले हो गए । और उसने उन चेलों को बुलाया और मनुष्य जाति की मुक्ति के लिये उन्हें भिन्न भिन्न दिशाओं में सत्य का प्रचार करने के अभिप्राय से यह कह कर भेजा कि "हे भिक्षुओ अब तुम लोग जाओ और बहुतों के लाभ के लिये, बहुतों की कुशल के लिये, संसार की दया के निमित्त, देवताओं और मनुष्य की भलाई लाभ और कुशल के लिये भ्रमण करो। तुम में से कोई दो भी एक ही मार्ग से न जाओ। हे भिक्षुओ तुम लोग उस सिद्धान्त का प्रचार करो जो कि आदि में उत्तम है, मध्य में उत्तम है, और अन्त में उत्तम है । सम्पन्न, पूर्ण और पवित्र जीवन का प्रचार करो।" (महावग्ग १, २, १,) इसके उपरान्त किसी धर्म्म प्रचारक ने अपने धर्म्म का प्रचार पृथ्वी के छोर तक करने में अधिक पवित्र उत्साह नहीं दिखलाया जैसा कि गौतम के अनुयायियों ने उपरोक्त पवित्र आज्ञा का पालन कर के दिखलाया है । गौतम स्वयं उरबला को गया और यश बनारस में रहा।

उरबला में गौतम ने तीन भाइयों को अपने धर्म्म का बनाया जिनका नाम काश्यप था और जो वैदिक धर्म्म के अनुसार अग्नि की पूजा करते थे और बड़े प्रसिद्ध सन्यासी और दर्शनशास्त्रज्ञ थे। इससे गौतम की बड़ी प्रसिद्धि हुई। सब से बड़ा भाई उरबला काश्यप और उसके शिष्यगण ने "अपने बाल खोल दिए और अपनी सामग्री तथा अग्निहोत्र की वस्तुएं नदी में फेंक दीं और बुद्ध से पब्बाज्ज और उपसंपदा बिधान को ग्रहण किया । उसके भाइयों ने भी जोकि नाड़ी (निरंजरा नदी) पर गया में रहते थे उसका अनुकरण किया। (महावग्ग १, १५-२०)

काश्यपों के धर्म्मपरिवर्तन से एक बड़ी हलचल मच गई और गौतम अपने नए चेलें और एक हजार अनुयायियों को लेकर मगध की राजधानी राजगृह की ओर चला । इस नए धर्म प्रचारक का समाचार शीघ्र राजा को पहुँचा और सेनिय बिम्बिसार बहुत से ब्राह्मण और वैश्यों को साथ लेकर गौतम से मिलने के लिये गया। वहां वह प्रसिद्ध उरबला काश्यप को देख कर यह न जान सका

कि इस प्रसिद्ध ब्राह्मण ने गौतम को अपने धर्म्म में कर लिया वा गौतम ने उसको अपने धर्म्म में कर लिया है। गौतम राजा के सन्देह को समझ गया और उस पर यह बात विदित करने के लिये उसने काश्यप से पूछा " हे उरवला के निवासी, तुम ने क्या ज्ञान प्राप्त किया कि जिससे तुम ने अपनी तपस्या के लिये प्रसिद्ध हो कर पवित्र अग्नि की पूजा छोड़ दी । " काश्यप ने उत्तर दिया कि हम ने शान्ति की अवस्था देखी है और हवन तथा बलिदानों में अब हमें प्रसन्नता नहीं मिलती । राजा यह सुनकर आश्चर्यित और हर्षित हुआ और अपने असंख्य अनुचरों के साथ गौतम का अनुयायी हो गया और उसने दूसरे दिन गौतम को अपने साथ भोजन करने को निमंत्रण दिया ।

तदनुसार यह अकेला भ्रमण करनेवाला राजा का अतिथि हो कर सत्कार के साथ राजभवन को गया और मगध के समस्त निवासी इस प्रीति के धर्म्म के बड़े उपदेशक को जोकि अचानक पृथ्वी पर आविर्भूत हुआ था, देखने के लिये एकत्रित हुए। तब राजा ने गौतम के रहने के लिये निकट में वेलुवन का कुँज नियत किया और वहां गौतम अपने अनुयायियों के साथ कुछ समय तक रहा । थोड़े ही समय में उसने दो प्रसिद्ध व्यक्तियों को अर्थात् सारिपुत्र और मोग्गल्लान को अपने धर्म्म का अनुयायी बनाया । (महावग्ग १, २२ – २४)

गौतम के नित्य के जीवन का वर्णन डाक्टर ओल्डेनबर्ग साहब ने भली भांति किया है। " वह और उसके चेले सबेरे तड़के उठते हैं जिस समय कि आकाश में दिन का प्रकाश दिखलाई देता है और वह तड़के का समय आत्मिक कार्यों तथा अपने चेलों के साथ बात चीत करने में व्यतीत करता है और इसके उपरान्त वह अपने साथियों के संग नगर की ओर जाता है ! उन दिनों में जब कि उसकी प्रसिद्धि सब से अधिक हो गई थी और जब उसका नाम समस्त भारतवर्ष में सब से प्रसिद्ध नामों में लिया जाता था यह मनुष्य जिसके सामने राजा लोग भी सिर झुकाते थे, अपने हाथ में खप्पड़ लेकर नित्य गलियों और रास्तों में द्वार द्वार बिना कुछ प्राथना किए हुए नीची दृष्टि किए चुपचाप खड़े

देखे आते थे और लोग उसी खप्पड़ में भोजन का एक ग्रास डाल देते थे।

इस प्रकार अपने समय का सबसे बड़ा मनुष्य नित्य द्वार द्वार भिक्षा मांगता था और मनुष्यों और स्त्रियों को अपने धर्म्म का उपदेश करता था क्योंकि मनुष्यों की नाईं स्त्रियां भी गौतम के वाक्य सुनती थीं। "स्त्रियों के बाहरी संसार से जुदा रहने की रीति जो उत्तर काल से चली है, प्राचीन भारतवर्ष में बिल्कुल नहीं थी। स्त्रियां मनुष्य के बुद्धि विषयक जीवन में सम्मिलित थीं और भारत-वासियों के सबसे अधिक उत्तम और मृदु महाकाव्यों से हम को विदित होता है कि वे सच्चे स्त्रीधर्म्म को कैसी अच्छी तरह समझती और मानती थीं।"

गौतम का यश अब उसकी जन्मभूमि तक पहुंच गया था और उसके वृद्ध पिता ने उसे एक बार देखने की अभिलाषा प्रगट की। अतएव गौतम कपिलवस्तु को गया परन्तु अपने नियमानुसार वह नगर के बाहर कुंज में ठहरा। उसके पिता और सम्बन्धी लोग वहां उसे देखने गए और दूसरे दिन गौतम स्वयं नगर में गया और उन्हीं लोगों से भिक्षा मांगने लगा जो कि उसे एक समय अपना प्रिय राजकुमार और मालिक समझते थे। फिर ऐसा कहा जाता है कि राजा ने गौतम को इस कार्य्य के लिये धिक्कारा परन्तु गौतम ने उत्तर दिया कि यह उसकी जाति की रीति है। राजा ने कहा "परन्तु हम लोग एक प्रतापी योद्धाओं के वंश से उत्पन्न हुए हैं और उन-में से कभी किसी ने भी अपने भोजन के लिये भिक्षा नहीं मांगी।" गौतम ने उत्तर दिया "तुम और तुम्हारे वंश की उत्पत्ति राजा से हुई हो परन्तु मेरी उत्पति प्राचीन बुद्धों से है।" राजा अपने पुत्र को राजभवन में ले गया और वहां उसकी स्त्री को छोड़ कर उसके कुटुम्ब के और सब लोग उससे मिलने के लिये आए। बिचारी त्याग की हुई यशोधरा ने पत्नी के दुःख और पत्नी के घमण्ड के साथ कहा "यदि उसकी दृष्टि में मैं कुछ हूं तो वे स्वयं मेरे पास आवेंगे। मैं यहां उनका स्वागत अधिक उत्तमता से कर सकती हूं।" गौतम इसे समझ गया और अपने साथ केवल दो

शिष्यों को लेकर उसके पास गया। और जब यशोधरा ने अपने स्वामी और राजकुमार को सिर मुड़ाए हुए और पीला वस्त्र पहिने हुए एक सन्यासी के वेष में देखा तो वह अपने को न सँभाल सकी। उसने पृथ्वी पर पछाड़ खाई और उसका पैर पकड़ कर आंसू बहाने लगी। तब अपने और उसके बीच में एक भारी अन्तर का ध्यान कर के वह उठी और अलग खड़ी हो गई। उसने उसके नए सिद्धान्तों को सुना और इसके उपरान्त जब गौतम भिक्षुनियों का भी एक सम्प्रदाय स्थापित करने के लिये उत्तेजित किया गया तो यशोधरा सबसे पहिले भिक्षुनी हुई। जिस समय का हम वर्णन कर रहे हैं उस समय यशोधरा अपने गृह में रही परन्तु गौतम का पुत्र राहुल गौतम का अनुयायी कर लिया गया।

गौतम के पिता को इस पर बड़ा दुःख हुआ और उसने गौतम को यह नियम स्थापित करने के लिये कहा कि कोई बालक अपने मा बाप की सम्मति के बिना भिक्षुक न बनाया जाय। गौतम ने इसे स्वीकार किया और इसी के अनुसार नियम बनाया। (जातक ८७-९०, महावग्ग १, ५४)।

राजगृह लौटते समय गौतम मार्ग में कुछ समय तक मल्लों के नगर अनुपिया में ठहरा और यहां ठहर कर उसने कोलियन और शाक्य वंशों के बहुत से लोगों को अपना शिष्य बनाया जिनमें से कुछ लोगों का विशेष वर्णन करने योग्य है। शाक्यवंशी अनुरुद्ध अपनी माता के पास गया और उसने भिक्षुक हो जाने की आज्ञा मांगी उसकी माता को उसे रोकने का कोई उपाय न सूझ पड़ा और इस कारण उसने कहा कि " हे प्रिय अनुरुद्ध, यदि शाक्य राजा भद्दिय संसार को त्याग दे तो तू भी भिक्षुक हो जा। "

अतएव अनुरुद्ध भद्दिय के पास गया और यह निश्चय हुआ कि वे दोनों सात दिन में इस आश्रम को ग्रहण करें। " इस प्रकार शाक्य राजा भद्दिय और अनुरुद्ध और आनन्द और भगु और किंबिल और देवदत्त जिस प्रकार पहिले अनेक बार बड़ी तय्यारी से आनन्द विलास के लिये जाते थे उसी प्रकार वे सब अब भी निकले और उनके साथ उपाली हज्जाम भी हुआ।

"और जब वे कुछ दूर गए तो उन्होंने अपने नौकरों को पीछे भेज दिया और उस पार के नगर में जा कर अपनी सब उत्तम वस्तुओं को उतार दिया और उन्हें अपने कपड़ों में लपेट कर उपाली हज्जाम से कहा " उपाली, अब तुम जाओ, ये वस्तुएं तुम्हारे जीवन निर्वाह के लिये बहुत होंगी " परन्तु उपाली दूसरे प्रकार का मनुष्य था और इसलिये ये सातों गौतम के पास गए और उन्होंने उसका आश्रम ग्रहण किया। और जब भद्दिय ने इस एकान्त धर्म्म को ग्रहण किया तो वह बारबार कहने लगा "वाह सुख! वाह सुख!" और जब उससे इसका कारण पूछा गया तो उसने कहा—

" हे स्वामी पहिले जब मैं राजा था तो मेरे भवन के भीतर और बाहर और मेरे देश की सीमा के भीतर मेरे लिये बहुत से रक्षक थे। फिर भी हे प्रभु जब कि मेरी इस प्रकार रक्षा की जाती थी तो भी मुझे भय, चिन्ता और सन्देह बना रहता था परन्तु हे प्रभु इस समय जब कि मैं एकान्त में इस जंगल में एक वृक्ष के नीचे बैठा हुआ हूं मुझे कोई भय, चिन्ता अथवा सन्देह नहीं है। मैं बड़े सुख से और रक्षित हो कर बैठा हूं और मेरा हृदय वैसा शान्त है जैसा कि किसी हरिन का हो ,, (चुल्लवग्ग ७,१)।

हमने उपरोक्त कथा का इसलिये वर्णन किया है क्योंकि जिन लोगों का उसमें नाम आया है उनमें से कुछ लोग आगे चल कर बड़े प्रसिद्ध हुए। आनन्द गौतम का एक बड़ा प्रिय मित्र हुआ और उसकी मृत्यु के उपरान्त उसने धर्म्म के भजन गाने के लिये राजगृह की सभा में पांच सौ भिक्षुकों को एकत्रित किया, उपाली यद्यपि जाति का हज्जाम था परन्तु वह भिक्षुओं में बड़ा प्रसिद्ध हुआ और विनयपिटक के सम्बन्ध में उसके वाक्य प्रमाण माने जाते थे। इससे यह प्रगट होता है कि गौतम ने जो भिक्षुओं का सम्प्रदाय स्थापित किया था उसमें जातिभेद बिल्कुल नहीं माना जाता था। अनिरुद्ध अभिधम्मपिटक का सब से बड़ा शिक्षक हुआ। देवदत्त आगे चल कर गौतम का विरोधी और मुकाबिला करनेवाला हो गया और यह भी कहा जाता है कि उसने मगध के राजकुमार अजातशत्रु को सम्मति दी कि वह

अपने पिता बिम्बसार को मार डाले और तब उसने स्वयं गौतम को मार डालने का भी उद्योग किया। (चुल्लवग्ग ७, २-४) परन्तु ये सब दोष जो कि देवदत्त को लगाए जाते हैं ठीक नहीं समझे जाने चाहिए क्योंकि वह गौतम का मुकाबला करनेवाला था।

गौतम अपना दूसरा बरस अर्थात् बर्सात का समय राजगृह में बिता कर कोशलों की राजधानी श्रावस्ती को गया जहां कि हम देख चुके हैं कि प्रसेनजित राज्य करता था। वहां बौद्धों को जेतवन का कुंज दिया गया और वहां गौतम बहुधा जाकर उपदेश करता था। भारतवर्ष की सब प्राचीन पुस्तकों की नाईं गौतम की शिक्षा सदा जबानी होती थी और लोग स्मरण द्वारा उसे रक्षित रखते थे, यद्यपि उसके समय में लोग लिखना जानते थे।

तीसरा बरस भी राजगृह में व्यतीत हुआ और गौतम ने जिस समय अपना धर्म्म प्रगट किया था उसके चौथे वर्ष उसने गंगा को पार किया और वह वैशाली में गया और वहां महावन के कुंज में ठहरा। वहां से ऐसा कहा जाता है कि रोहिणी नदी के पानी के सम्बन्ध में शाक्यों और कोलियनों में जो झगड़ा था उसे निपटाने के लिये उसने एक अद्भुत यात्रा की। आगामी वर्ष में वह फिर कपिलवस्तु को गया और वहां अपने पिता की मृत्यु के समय जो कि ९७ वर्ष की अवस्था में हुई, उपस्थित था।

उसकी विधवा विमाता प्रजापति गौतमी और विधवावत् उसकी स्त्री यशोधरा को अब संसार में कोई बन्धन नहीं थे और उन लोगों ने गौतम के स्थापित किए हुए आश्रम को ग्रहण करने का अनुरोध किया। गौतम ने अब तक स्त्रियों को इस आश्रम में नहीं लिया था और ऐसा करने में उसकी अनिच्छा थी। परन्तु उसकी माता बड़ी हठी थी और वह वैशाली तक उसके साथ गई और उससे अपने आश्रम में ग्रहण किए जाने की प्रार्थना की।

आनन्द उसकी माता के पक्ष में था परन्तु गौतम ने फिर भी उत्तर दिया "नहीं आनन्द, तुम्हें इससे हर्षित न होना चाहिए कि स्त्रियां भी इस आश्रम में ली जांय।" परन्तु आनन्द ने हठपूर्वक पूछा—

" हे प्रभु, क्या स्त्रियां जब गृहस्थधर्म्म को छोड़ दें और बुद्ध के कहे हुए सिद्धान्त और उसकी शिक्षा के अनुसार इस आश्रम को स्वीकार करें तो वे इस योग्य हैं कि धर्म्म के परिवर्तन अथवा दूसरे मार्ग अथवा अरहथ होने का फल प्राप्त कर सकें ? "

इसका केवल एक ही उत्तर हो सकता था । भारतवर्ष में स्त्रियों का सत्कार करना सदा से धर्म्म का एक अंश समझा जाता है और हिन्दू धर्म में स्त्रियाँ मुक्ति अथवा स्वर्ग को पाने से वंचित नहीं रक्खी गई हैं । अतएव गौतम ने उत्तर दिया कि " हे आनन्द, वे इस योग्य हैं । " और प्रजापति तथा अन्य स्त्रियां भिक्षुनियों की सम्प्रदाय में ले ली गई और उनके लिये कुछ नियम बनाए गए जिससे कि वे भिक्षुओं के आधीन थी । (चुल्लवग्ग, १०, १) इसके उपरान्त गौतम प्रयाग के निकट कोशाम्बी में वर्षा ऋतु व्यतीत करने के उपरान्त छठें वर्ष राजगृह को लौटा और वहां उसने बिम्बसार की रानी क्षेमा को अपने आश्रम में ग्रहण किया। कहा जाता है कि उसी वर्ष श्रावस्ती में गौतम नें कई कौतुक दिखलाए और अपनी माता को जो कि उसके जन्म के सात दिन उपरान्त मर गई थी, अपना धर्म्म सिखलाने के लिये वह स्वर्ग को पधारा ।

ग्यारहवें वर्ष में गौतम ने बोनेवाले की कहानी कह कर ब्राह्मण भराद्वाज को अपने धर्म्म का बनाया जिसका कि वर्णन करने योग्य है ।

काशी भारद्वाज के पांच सौ हल, बोने के समय में बंधे हुए थे। वह उस स्थान पर गया जहां कि उसके नौकर गरीबों को भोजन बांट रहे थे और वहां उसने गौतम को भिक्षा के लिये खड़े देखा । इस पर उसने कहा ।

"हे सामन, मैं जोतता हूँ और बोता हूँ और जोत बो कर मैं खाता हूँ । हे सामन, तुझे भी जोतना बोना चाहिए और जोत बो कर तुझे खाना चाहिए । "

भगवत ने कहा "हे ब्राह्मण, मैं भी जोतता और बोता हूँ और जोत बो कर मैं खाता हूँ ।

" फिर भी हम लोगों को पूज्य गौतम का जुआ वा हल, वा फाल वा पैना वा बैल नहीं दिखाई देता।" भगवत ने उत्तर दिया "धर्म्म मेरा बीज है, तपस्या वर्षा है, ज्ञान मेरा जूआ और हल है, विनय मेरे हल का हरिस् वा डंडा है मन मेरा बन्धन है, विचार मेरा फाल और पैना—

"उद्योग मेरा बोझा लादने का पशु है जोकि मुझे निर्वाण को लेजाता है। वह बिना इधर उधर फिरे हुए उस स्थान को ले जाता है जहां जाने से किसी को दुःख नहीं रह जाता।"

इस पर ब्राह्मण लज्जित हुआ और कुछ अधिक शिक्षा पाने के उपरान्त गौतम के आश्रम में सम्मिलित हो गया। (सुत्तनिपात काशी भारद्वाजसुत्त)।

दूसरे वर्ष उसने अपने जीवन में सबेस बड़ी यात्रा की और वह मंतल को गया और बनारस हो कर लौटा और तब उसने अपने पुत्र राहुल को जो कि उस समय १८ वर्ष का था, प्रसिद्ध महा-राहुलसुत्त का उपदेश दिया। इसके दो वर्ष उपरान्त राहुल ने २० वर्ष का हो कर भिक्षु का आश्रम ग्रहण किया और उसे राहुलसुत्त का उपदेश दिया गया।

दूसरे वर्ष में अर्थात् गौतम के अपने धर्म्म प्रगट करने के उपरान्त १५ वें वर्ष में वह पुनः कपिलवस्तु में गया और वहां उसने अपने चचेरे भाई महानाम से वार्तालाप किया जो कि शुद्धोदन के उत्तराधिकारी भद्रक के स्थान पर शाक्यों का राजा हुआ था। गौतम के ससुर अर्थात् कोली के राजा सुप्रबुद्ध ने यशोधरा को त्याग करने के लिये गौतम की खुल्लमखुला निन्दा की परन्तु कहा जाता है कि इसके थोड़े ही समय के उपरान्त पृथ्वी उसे निगल गई।

सत्रहवें वर्ष में उसने एक श्रीमती नाम की वेश्या की मृत्यु पर एक व्याख्यान दिया। इसके दूसरे वर्ष उसने एक जुलाहे को संतोष दिलाया जिसकी पुत्री किसी दुर्घटना से मर गई थी। इसके दूसरे वर्ष उसने एक फंदे में फसी हुई हरिन को छुड़वाया और जो अहेरी उस हरिन को मारना चाहता था उसे अपना अनु-

यायी बनाया। और इसी प्रकार २० वें वर्ष में उसने चलियवन के प्रसिद्ध डाकू अंगुलीमाल को भी अपना अनुयायी बनाया।

इसके उपरान्त २५ वर्षों तक गौतम गंगा की घाटी में घूमता रहा। दुखी और नीच लोगों में उपकार और पवित्र जीवन का उपदेश करता रहा, ऊंच और नीच, धनवान और निर्धन लोगों को वह अपना मतावलम्बी बनाता रहा और सब भूमि में अपने नियमों को प्रकाशित करता रहा। उसके परोपकारी पवित्र जीवन और उसके सहानुभूति के पवित्र धर्म्म की बड़ी विख्याति हुई। उसे उसके अनुयायी लोग तथा कट्टर हिन्दू लोग दोनों ही सम्मान सत्कार की दृष्टि से देखते थे, जातियां और उनके राजा लोग इस देवतुल्य सुधारक के सिद्धान्तों का सत्कार करते रहे जिसके कार्य दया और परोपकार से भरे हुए थे, और जब गौतम ८० वर्ष की अवस्था में मरा उस समय बौद्ध धर्म्म ने इस भूमि में वह प्रबलता ग्रहण कर ली थी जो कि "किसी सामन वा ब्राह्मण द्वारा किसी देवता द्वारा, किसी ब्रह्मा वा मार द्वारा तथा संसार में किसी और द्वारा भी नहीं हटाई जा सकती थी।"

गौतम अपने नए धर्म्म को प्रकाशित करने के उपरान्त ४५ वर्ष तक जीवित रहा और उसकी मृत्यु ईसा के ४७७ वर्ष पहिले मानलेने से उसके जीवन की मुख्य मुख्य घटनाओं का क्रम इस प्रकार होगा—

कपिलवस्तु के निकट जन्म ...	ईसा के	५५७	वर्ष पहिले
यशोधरा से उसका विवाह ...	,, ,,	५३८ ,,	,,
उसका घर, स्त्री और पुत्र को छोड़ना	,, ,,	५२८ ,,	,,
उसने बुद्ध गया में सर्वज्ञता प्राप्त की और बनारस में अपना धर्म्म प्रगट किया	,,	५२२ ,,	,,
वह अपने नगर में गया ..	,, ,,	५२१ ,,	,,
उसके पिता शुद्धोदन की मृत्यु और उसकी सौतेली माता और पत्नी का भिक्षुनी होना	,,	५१७ ,,	,,
उसका पुत्र राहुल भिक्षु हुआ ...	,, ,,	५०८ ,,	,,

यशोधरा के पिता की मृत्यु　... " " ५०७ " "
गौतम की मृत्यु　...　... " " ४७७ " "

सौभाग्यवश हमें उसकी मृत्यु के पहिले की घटनाओं का प्रायः पूर्ण वृत्तान्त दीघनिकाय के महापरिनिब्बाणसुत्त में मिलता है और अब हम इन्हीं बातों का उल्लेख करेंगे।

गौतम की अवस्था अब ८० वर्ष की थी और जिन लोगों में उसने अपनी युवा अवस्था में कार्य्य किया था वे अब नहीं थे। उसकी युवा अवस्था के परिचित लोगों में से बहुत से मर गए थे और यह वृद्ध महात्मा अब उनके पुत्र और पौत्रों को उन्हीं पवित्र नियमों का उपदेश करता था जिनका उपदेश कि उसने पहिले उनके पिता और दादाओं को किया था। उसके बहुत से प्रिय मित्र मर गए थे परन्तु उसका सच्चा मित्र आनन्द अब तक भी छाया की नाई उसका साथ दे रहा था और उसकी आवश्यकताओं का प्रबन्ध करता था। राज्यगृह का वृद्ध राजा भी अब नहीं था, अब उसका लड़का और लालची पुत्र अजातशत्रु मगध की गद्दी पर (कहा जाता है कि अपने पिता को मार कर) बैठा था और अब विजय करने के मनसूबे बांध रहा था। अजातशत्रु का यह सिद्धान्त नहीं था कि वह गौतम के समान इतने प्रसिद्ध और सर्वपूज्य मनुष्य की हानि करे और इस कारण अजातशत्रु उसका कम से कम ऊपर से सत्कार करता था।

प्रबल विज्जैन जाति पर जो कि मगध के सामने गंगा के उत्तरी किनारे पर मैदान में रहती थी अजातशत्रु का ध्यान पहिले पहिल गया। ये तूरानी जाति के लोग थे जो कि भारतवर्ष में उत्तरी पर्वतों के मार्ग से आए थे और उन्होंने हिन्दू सभ्यता के स्वयं केन्द्र में एक प्रकार का प्रजातंत्र राज्य स्थापित कर लिया था और अब सब मगध को विजय करने को डरा रहे थे। कदाचित् वे लोग उसी यूची* जाति के थे जिन्होंने कि ४ वा ५ शताब्दियों के उपरान्त काश्मीर और पश्चिमी भारतवर्ष को जीत लिया था और जो

* बील साहब की " बुधिज़्म इन चाइना " नामक पुस्तक का ४३ वां पृष्ठ देखो।

कनिष्क के आधीन बौद्ध धर्म्म के बड़े प्रबल सहायक हो गए थे ।

अजातशत्रु विदेहिपुत्र † ने अपने मन में कहा " मैं इन विज्जैनों को जड़ से निकाल दूंगा यद्यपि वे बड़े प्रबल हैं। मैं इन विज्जैनों को नष्ट कर दूंगा, मैं इन विज्जैनों का पूरा नाश कर डालूंगा । "

गौतम उस समय उन पांचों पहाड़ियों में से सब से ऊंची पहाड़ी की एक गुफा अर्थात् गृद्धकूट में रहता था जो कि राजगृह की सुन्दर घाटी के निकट है । अजातशत्रु ने जो कि भविष्यत वाणी में कुछ विश्वास रखता था अपने प्रधान मंत्री वस्सकार को गौतम के पास यह पूछने के लिये भेजा कि विज्जैनों के विरुद्ध इस आक्रमण का किस प्रकार अन्त होगा । गौतम राजाओं का सत्कार करनेवाला नहीं था और उसने उत्तर दिया कि जब तक विज्जैन लोग अपनी प्राचीन रीतियों को रखते हुए एका रखेंगे तब तक " हम आशा करते हैं कि उनका पतन नहीं होगा वरन् उनका कल्याण होगा । "

गृद्धकूट से गौतम ने उसके निकट के स्थानों में अर्थात् अम्बलाथिका, नालन्द और पाटलीग्राम अर्थात् मगध की भविष्यत राजधानी पाटलीपुत्र में भ्रमण किया । गौतम के समय में यह एक तुच्छ गाँव था परन्तु मगध के प्रधान मंत्री सुनीध और विस्सकार इस पाटलीग्राम में विज्जैनों को निकालने के लिये एक किला बनवा रहे थे । यह उस नगर की उत्पत्ति का कारण है जोकि चन्द्रगुप्त और अशोक की राजधानी हुआ। यह लगभग१०००वर्ष तक भारतवर्ष की राजधानी रहा और अब तक भी भारतवर्ष के सब से बड़े नगरों में गिना जाता है । ऐसा कहा जाता है कि गौतम ने इस स्थान के प्रसिद्ध होने की भविष्यत वाणी की थी । उसने आनन्द

† इस नाम से यह प्रगट होता है कि इस राजा की माता प्राचीन विदेह वंश की कन्या थी । उस समय में लोग बहुधा अपनी माता के नाम से भी पुकारे जाते थे और तदनुसार गौतम का प्रसिद्ध चेला उपतिस्स सदा सारिपुत्र के नाम से सुप्रसिद्ध था ।

से कहा था कि "काम काजी मनुष्यों के प्रसिद्ध निवासों और अड्डों में यह स्थान प्रधान होगा, यह पाटलीपुत्र का नगर होगा जोकि सब प्रकार के असबाबों के लेन देन का केन्द्र होगा।"

अजातशत्रु के मंत्री वस्सकार और सुनीध ने यहां गौतम को निमंत्रण दिया और उसे भात और मीठी चपातियां परोसीं और इसके उपरान्त गौतम यहां से चला गया और कहा जाता है कि उसने गंगा को जो कि उस समय भरपूर बढ़ी हुई थी एक कौतुक से अर्थात् किसी नाव बेड़े को न लेकर योंही पानी पर चलकर पार किया।

तब वह कोटिग्राम में गया और वहां से नादिक में जहां कि वह उस ईटा के बने घर में ठहरा जो कि यात्रियों के ठहरने की जगह थी। वहां पर उसने आनन्द को वह सारगर्भित उपदेश दिया जिसके द्वारा प्रत्येक चेला यह स्वयं जान सकता था कि उसने निर्वाण प्राप्त किया अथवा नहीं। यदि उसे यह ज्ञान हो और यदि वह अपने मन में इसे मालूम कर सके कि बुद्ध में उसका विश्वास है, धर्म्म में उसका विश्वास है और उसके संघ में उसका विश्वास है तो उसकी मुक्ति हो गई। बुद्ध, धर्म्म, और संघ येही बुद्ध धर्म्म के तीन मुख्य सिद्धान्त हो गए।

नादिक से गौतम वैशाली में आया जो कि गंगा के उत्तर प्रबल लिच्छवि लोगों की राजधानी है। अम्बपालि नामक एक वेश्या ने सुना कि यह महात्मा यहां आया है और उसकी आम की वाड़ी में ठहरा है। वह उसके पास गई और उसने उसे भोजन के लिये निमंत्रित किया और गौतम ने उसका निमंत्रण स्वीकार किया।

"अब वैशाली के लिच्छवि लोगों ने सुना कि बुद्ध वैशाली में आया है और अम्बपाली की वाड़ी में ठहरा है। उन लोगों ने बहुत सी सुन्दर गाड़ियां तय्यार करवाईं और उनमें से एक पर चढ़ कर वे अपने मनुष्यों के सहित वैशाली को गए। उनमें से कुछ काले, रंग के और काला कपड़ा और आभूषण पहिने हुए थे, कुछ लोग गोरे, सफेद रंग के उज्वल वस्त्र और आभूषण पहिने हुए

थे, कुछ लोग लाल थे और लाल रंग के वस्त्र तथा लाल आभूषण पहिने हुए थे, तथा कुछ लोग सुन्दर रंग के थे और सुन्दर वस्त्र और आभूषण पहिने हुए थे।

"और अम्बपाली युवा लिच्छवियों के बराबर, उनके पहिये के बराबर अपना पहिया और उनके धुरे के बराबर अपना धुरा और उनके जोते के बराबर अपना जोता किए हुए हाँक रही थी और लिच्छवि लोगों ने अम्बपालि वेश्या से पूछा कि अम्बपाली यह क्या बात है कि तू हम लोगों के बराबर अपना रथ हाँक रही है ?

उसने उत्तर दिया "मेरे प्रभु, मैं ने बुद्ध और उसके साथियों को कल भोजन के लिये निमंत्रण दिया है।"

उन लोगों ने कहा "हे अम्बपालि, हम लोगों से एक लाख रुपया लेकर यह भोजन हमें कराने दे।"

"मेरे प्रभु यदि मुझे आप सब वैशाली तथा उसके आधीन का राज्य दे दें तब भी मैं ऐसा कीर्ति का जेवनार नहीं दूँगी।"

"तब लिच्छवि लोगों ने यह कह कर अपना हाथ पटका कि हम लोग इस अम्बपाली लड़की से हरा दिए गए, यह अम्बपाली लड़की हम लोगों से बढ़ गई और यह कहके वे अम्बपाली की बाड़ी तक गए।"

वहां उन लोगों ने गौतम को देखा और कल के दिन उस भोजन के लिये निमंत्रित किया परन्तु गौतम ने उत्तर दिया कि "हे लिच्छवियो मैं ने कल के लिये अम्बपाली वेश्या का निमंत्रण स्वीकार कर लिया है।" और अम्बपाली ने गौतम और उसके साथियों को मीठा चावल और चपातियाँ खिलाईं और उनकी सेवा में उपस्थित रही यहां तक कि उन लोगों ने कहा कि वे लोग अधिक नहीं खा सकते और तब उनको शिक्षा और उपदेश दिया गया, "हे प्रभु मैं यह महल भिक्षुओं की सम्प्रदाय के लिये देती हूं जिसका कि नायक बुद्ध है" और यह दान स्वीकार किया गया।

अम्बपाली की बाड़ी से गौतम बेलुव को गया। उसने अपनी मृत्यु निकट आते देखी और अपने सच्चे मित्र आनन्द से कहा "अब मैं

वृद्ध और बहुत वर्षों का हो गया हूं, मेरी यात्रा समाप्त होने आई है मेरे दिन अब पूरे हो गए हैं, मेरी अवस्था ८० वर्ष की हो गई है... अतएव हे आनन्द ! तुम लोग स्वयं अपने लिये प्रकाश हो। तुम लोग स्वयं अपने रक्षक हो। किसी बाहरी रक्षक की शरण मत लेना, प्रकाश की भांति सत्य में दृढ़ रहना, रक्षक की भांति सत्य में दृढ़ रहना।"

चापाल चेतिय में गौतम ने एक व्याख्यान दिया है जिसमें उसने चार प्रकार के मनुष्यों का वर्णन किया है अर्थात् अमीर लोग, ब्राह्मण लोग, गृहस्थ और श्रामन और चार ही प्रकार के फिरिश्तों को लिखा है अर्थात् फिरिश्ते, बड़े तैंतीस, मार और ब्रह्मा।

कूटगार में गौतम ने एक बार फिर अपने चेलों को अपने धर्म्म का मूल तत्व और सार बतलाया और उनसे उनका अभ्यास और उन पर विचार करने के लिये और उनको फैलाने के लिये कहा "जिसमें कि पवित्र धर्म्म बहुत काल तक ठहरे और सदा के लिये दृढ़ हो जाय और जिसमें वह बहुत से लोगों के लिये भलाई और सुख का कारण हो।"

बैशाली में अन्तिम बार आकर वह पुनः भण्डग्राम, हस्तिग्राम, अम्बग्राम, जम्बुग्राम, और भोगनगर में घूमा और तब पावा को गया। वहां चुन्द ने जो कि सोनार और लोहार था उसे भोजन के लिये निमंत्रित किया और उसे मीठा चावल और चपातियाँ और कुछ सुखाया हुआ सूअर का मांस दिया। गौतम दरिद्रों की दी हुई वस्तुओं को कभी अस्वीकार नहीं करता था परन्तु सूअर का मांस उसकी इच्छा के विरुद्ध था। "अब जब कि बुद्ध ने धातु के काम बनानेवाले चुंद का बनाया हुआ भोजन खाया तो उसे एक भयानक रोग अर्थात् अतिसार का रोग हुआ और मृत्यु के समय तक भी उसे बड़ी पीड़ा होती रही परन्तु बुद्ध ने जोकि सचेत और आत्मसंयमी था उसे बिना किसी खेद के सहन किया।" पावा से उसी नगर को जाते समय मार्ग में गौतम ने एक नीच जाति के मनुष्य पुक्कुस को बौद्ध बनाया। कुसिनगर में जोकि कपिलवस्तु से ८० मील पूरब है, गौतम को विदित हुआ कि उसकी मृत्यु

निकट है। जिस रात को मृत्यु होने वाली थी उसकी संध्या को उसने सहानुभूति के साथ अपने चेलों के हृदय पर यह बात जमाने का यत्न किया कि चन्द ने जो भोजन दिया था उसके लिये वह दोषी नहीं है, परन्तु उसने वह अनुग्रह के साथ दिया था अतएव वह जीवन की वृद्धि, अच्छे जन्म और अच्छे भाग्य को पावे गा।

कहा जाता है कि उसकी मृत्यु के पहिले वृक्षों में बिना ऋतु के फूल लगे और उस पर फूलों की वृष्टि हुई, उसके ऊपर स्वर्ग के फूल और चन्दन का चूरा बरसा और आकाश से गाने और स्वर्ग के गीतों का शब्द सुनाई दिया। परन्तु पवित्र जीवन के इस बड़े धर्मप्रचारक ने कहा " हे आनन्द इस प्रकार से तथा गत (बुद्ध) का ठीक तरह से आदर सत्कार वा उसकी पूजा नहीं होती। परन्तु वह भाई वा बहिन, वह तपस्वी पुरुष वा स्त्री जोकि बराबर अपने सब छोटे और बड़े धर्मों का पालन करता है। जिसका जीवन ठीक है, जो आज्ञाओं के अनुसार चलता है वही तथागत को सब से योग्य सत्कार के साथ मानता, सत्कार करता और उसकी पूजा करता है।" इन उत्तम वाक्यों से किसको बाइबिल के पवित्र वाक्यों का स्मरण नहीं आता जिसे कि एक इसाई कवि ने यों छन्दोबद्ध किया है।

> But thou hast said, the flesh of goat,
> The blood of ram, I would not prize,
> A contrite, heart, an humble thought.
> Are my accepted sacrifice.'

जिस रात्रि को गौतम मरा उस रात्रि को कुसिनगर का एक दर्शनशास्त्रज्ञ ब्राह्मण सुभद्र कुछ प्रश्न पूछने आया परन्तु आनन्द इस डर के मारे उसे नहीं आने देता था कि यह मृत्युशय्या पर पड़े हुए बुद्ध को बड़ा दुःखदाई होगा। परन्तु गौतम ने उन लोगों की बातें सुन ली थीं और वह ऐसे मनुष्य को वापस नहीं भेज सकता था जोकि शिक्षा के लिये आया था। उसने आज्ञा दी कि ब्राह्मण यहां आने पावे और अपने मरते दम से उसने उसे अपने धर्म के सिद्धान्त सिखलाए। सुभद्र गौतम का अन्तिम चेला था और कुछ ही समय उपरान्त रात्रि के अन्तिम पहर में इस बड़े महात्मा ने अपने भाइयों को यह सत्योपदेश करते हुए इस जीवन को त्याग

दिया कि "सब एकत्रीतभूत वस्तुओं का नाश स्वाभाविक है, परिश्रम के साथ अपनी मुक्ति पाने का यत्न करो।"

कुसीनगर के मल्लों ने गौतम के शरीर का दाह किया और उसकी हड्डियों को अपने भवन में भालों और धनुषों से घेर कर रक्षित रक्खा और वहां सात दिन तक नांच और गाने तथा मालाओं और सुगन्धि से उनका सत्कार तथा पूजन किया।

कहा जाता है कि गौतम की हड्डियों के आठ भाग किए गए। मगध के अजातशत्रु ने एक भाग पाया और उस पर राजगृह में एक इमारत बनवाई। बैशाली के लिच्छवियों ने दूसरा भाग पाया और उस पर उस नगर में एक इमारत बनवाई गई। इसी प्रकार कपिल-वस्तु के शाक्यों ने, अलुकप्प के बुलियों ने, रामग्राम के कोलियों ने, पावा के मल्लों ने, कुसिनगर के मल्लों ने और एक ब्राह्मण वेथदीपक ने उसके एक एक भाग पाए और उन पर इन सभों ने इमारतें बनवाईं। पिप्फलिवन के मोरियन लोगों ने जिन लकड़ियों से वह जलाया गया था उसके शेष भाग पर और ब्राह्मण द्रोन ने उस बर्तन पर जिस पर कि उसकी देह जलाई गई थी, इमारतें बनवाईं।

———:o:———

अध्याय १३

गौतम बुद्ध के सिद्धान्त।

यह सम्भव नहीं है कि हम केवल एक अध्याय में अपने पाठकों को उस धर्म्म के सिद्धान्तों का पूरा सारांश दे सकें जोकि इतने अधिक प्रसिद्ध और योग्य विद्वानों के लिये इतने कठिन और विद्वत्ता पूर्ण खोज का विषय हो रहा है। यहां पर हमारा उद्देश्य केवल उन शिक्षाओं और विचारों के सारांश के देने का होगा जिनकी शिक्षा गौतम अपने देशवासियों को देता था।

बौद्ध धर्म्म का सारांश एक प्रकार की आत्मोन्नति और आत्म-निरोध है। इस मत में सिद्धान्त और विश्वास अप्रधान अंग हैं। गौतम ने जिस दिन बुद्धगया में बो वृक्ष के नीचे सर्वज्ञता प्राप्त की थी उस दिन उसके हृदय में जो मुख्य विचार उठा था वह क्षोभ और कामनाओं से रहित पवित्र जीवन निर्वाह करने में मनुष्यों के दुःखों को दूर करने का था और इसी मुख्य विचार की शिक्षा उसने अपने जीवन के अन्तिम दिन तक दी।

जब वह बुद्धगया से बनारस गया और वहां अपने पाँचों पुराने चेलों को उसने अपने धर्म्म की शिक्षा दी तो उसने उन्हें चारों सत्य और आठो मार्ग बतलाए जो कि बौद्ध धर्म्म के सार हैं।

"हे भिक्षुओ यह दुःख का उत्तम सत्य है। जन्म दुःख है, नाश दुःख है, रोग दुःख है, मृत्यु दुःख है। जिन वस्तुओं से हम घृणा करते हैं उनका उपस्थित होना दुःख है, जिन वस्तुओं की हम अभिलाषा करते हैं उनका न मिलना दुःख है। सारांश यह कि जीवन की पांचों कामनाओं में लगे रहना (अर्थात् पाँचो तत्वों में लिप्त रहना) दुःख है।

"हे भिक्षुओ दुःख के कारण का उत्तम सत्य यह है। लालसा पुनर्जन्म का कारण होती है जिसमें कि सुख और लालच होते हैं और जो इधर उधर शान्ति पाता है—(यह लालसा तीन प्रकार का होती है) अर्थात् सुख की लालसा जीवन की लालसा,

और फलने फूलने की लालसा । हे भिक्षुओ दुःख के दूर होने का उत्तम सत्य यह है । वह लालसा के पूर्ण निरोध से समाप्त होता है । यह निरोध किसी कामना की अनुपस्थिति से, लालसा को छोड़ देने से, लालसा के बिना कार्य्य चलाने से, उससे मुक्ति पाने से और कामना का नाश करने से होता है ।

" यह उस मार्ग का उत्तम सत्य है जिससे कि दुःख दूर होता है । वह पवित्र आठ प्रकार का मार्ग यह है अर्थात्—

सत्य विश्वास
सत्य कामना
सत्य वाक्य
सत्य व्यवहार
जीवन निर्वाह करने के सत्य उपाय
सत्य उद्योग
सत्य विचार
सत्य ध्यान " (महावग्ग १, ६)

इस शिक्षा का सारांश यह है कि जीवन दुःख है, जीवन और उसके सुखों की लालसा दुःख का कारण है, उस लालसा के मर जाने से दुःख का अन्त हो जाता है और पवित्र जीवन से यह लालसा मर सकती है । इन आठ विधियों में जिनमें कि पवित्र जीवन विभाजित किया गया है, जो जो बातें भरी हुई हैं उनका वर्णन कुछ शब्दों में करना असम्भव है परन्तु उन बौद्धों के लिये जो कि अपने धर्म्म की कथाओं में शिक्षित हैं ये आठों विधियां कई ग्रन्थों के बराबर हैं । शुद्ध विचार और विश्वास को सीखना और उनका सत्कार करना चाहिए, उच्च उद्देश्य और कामनाएँ हृदय के नेत्र के सामने सदा उपस्थित रहनी चाहिएं, जो वाक्य बोले जांय उनमें से प्रत्येक शब्द में सत्यता और सुशीलता होनी चाहिए और व्यवहार में सत्यता और पूर्ण शुद्धता होनी चाहिए । जीवन का उपाय इस प्रकार का ढूंढ़ कर ग्रहण करना चाहिए जिससे कि किसी जीवित वा सचेतन प्राणी को कोई कष्ट न हो, भलाई करने में,

तथा दया सुशीलता और परोपकार के कार्यों में जीवन के अन्त तक निरन्तर उद्योग करना चाहिए। मन और बुद्धि सचेतन और कार्यतत्पर होनी चाहिए, और शान्त और धीर विचार से जीवन को सुख प्राप्त होता है। यह कामना, मनःक्षोभ और जीवन की लालसा को जीतने का मार्ग है। इससे अधिक उत्तम जीवन का चित्र किसी कवि वा मनमौजी ने कभी नहीं सोचा और आत्मोन्नति का इससे अधिक पूर्ण मार्ग किसी दर्शनशास्त्रज्ञ वा महात्मा ने कभी नहीं प्रकाशित किया।

आत्मोन्नति का विचार, उस ध्यान के बड़े और प्रयोगिक समय में जिसमें कि गौतम ने अपना जीवन व्यतीत किया, निस्सन्देह सुधारा गया। अपनी मृत्यु के दिन उसने अपने भाइयों को बुलाया और आत्मोन्नति के पूरे मार्ग को सात भागों में करके संक्षेप में फिर व्याख्यान दिया और ये सातों बौद्ध धर्म्म के सात रत्न कहे जाते हैं।

हे भाइयो, तब वे सत्य कौन हैं जिनको कि मैं ने मालूम कर के तुम से प्रगट किया, जिनको कि जब तुम लोगों ने उन्हें अच्छी तरह जान लिया, अभ्यास करना, उन पर विचार करना, और उनका प्रचार करना तुम्हारे लिये आवश्यक है जिसमें कि वह पवित्र धर्म्म अधिक समय तक ठहरे और चिरस्थायी हो जाय, जिसमें कि वह बहुत से लोगों के सुख और भलाई के लिये, संसार की दया के लिये, मनुष्यों और देवताओं की भलाई और लाभ सुख के लिये, स्थिर रहे?

" वे ये हैं—
चारो सच्चे ध्यान,
पाप के विरुद्ध चारो प्रकार के बड़े प्रयत्न,
महात्मा होने के चारो मार्ग,
पांचो धार्म्मिक शक्तियां,
आत्मीय ज्ञान की पांचो इन्द्रियां,
सातों प्रकार की बुद्धि और,
उत्तम आठ प्रकार का मार्ग " (महापरिनिब्बानसुत्त ३, ६५)

यहां भी इन सब शिक्षा के नियमों में जो विचार भरे हुए हैं उन का यथार्थ ज्ञान कुछ शब्दों में देना असम्भव है, इस शिक्षा के विषय पर एक ग्रन्थ लिखा जा सकता है। जिन चारों सच्चे ध्यानों का उल्लेख है वे देह, ज्ञान, विचार और कारण के विषय में है। चारों पापों के विरुद्ध जिस प्रयत्न का उल्लेख है वह पाप को रोकने का प्रयत्न, पाप की जो अवस्थाएँ उठती हैं उनको रोकने का प्रयत्न, भलाई करने का प्रयत्न, और भलाई को बढ़ाने का प्रयत्न है। वास्तव में इन चारों प्रयत्नों से पापी के सारे जीवन तक अधिक भलाई करने के लिये सच्चा और निरन्तर उद्योग करने का तात्पर्य्य है। महात्मा होने के चारों मार्ग वे हैं जिनसे कि इद्धि अर्थात् इच्छा, प्रयत्न, तयारी और खोज प्राप्त होती है। उत्तर काल के बौद्ध धर्म्म में इद्धि का तात्पर्य्य अमानुषिक शक्तियों से है परन्तु गौतम का तात्पर्य्य सम्भवतः उस प्रभाव और शक्ति से था जिसे कि बहुत समय तक शिक्षा और अभ्यास के द्वारा मन इस देह के ऊपर प्राप्त कर सकता है। पांचों धार्मिक शक्तियां और आत्मीय ज्ञान की शक्तियां ये हैं — विश्वास, पराक्रम, विचार, ध्यान और बुद्धि, और सात प्रकार की बुद्धियां ये हैं-शक्ति, विचार, ध्यान, खोज, आनन्द, आराम और शान्ति। आठ प्रकार के मार्ग का वर्णन पहिले ही किया जा चुका है।

इस प्रकार की विस्तृत आत्मोन्नति के द्वारा दसों बन्धनों अर्थात् सन्देह कामाशक्ति इत्यादि को तोड़ने से अन्त में निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है।

"जिसने अपनी यात्रा समाप्त कर ली है और शोक को छोड़ दिया है, जिसने अपने को सब ओर से स्वतंत्र कर लिया है जिसने सब बंधनों को तोड़ डाला है उसके लिये कोई दुःख नहीं है।

"वे लोग अपने विचारों को भली प्रकार संग्रह कर के बिदा होते हैं, वे अपने घर में सुखी नहीं रहते, उन राजहंसों की नाईं जिन्होंने कि अपनी झील को छोड़ दिया है वे लोग अपना घर द्वार छोड़ देते हैं।

"उसका विचार शान्त है, उसका वचन और कर्म्म शान्त

है जो कि सच्चे ज्ञान के द्वारा स्वतंत्र हो गया है और जो कि शान्त मनुष्य हो गया है।" (धम्मपद ६०, ६१, ६६)

यह बहुधा विश्वास किया जाता था कि निर्वाण का अर्थ अन्तिम नाश अथवा मृत्यु से है और प्रोफेसर मेक्समूलर साहब ने इस बात को पहिले पहिल दिखलाया था और उसे अब बहुत से विद्वानों ने स्वीकार किया है कि निर्वाण का अर्थ मृत्यु से नहीं है परन्तु उसका तात्पर्य्य मन की उस पापी अवस्था, जीवन और उसके सुखों की लालसा के नाश होने से है जिससे कि नया जन्म हो जाता है। गौतम का निर्वाण से जो तात्पर्य्य था वह जीवन में ही प्राप्त हो सकता है। उसे उसने अपने जीवन में प्राप्त किया था, वह वही मन की पापरहित शान्त अवस्था, अभिलाषाओं और क्षोभ से मुक्ति, पूर्ण शान्ति भलाई और ज्ञान की अवस्था है जो कि निरन्तर आत्मोन्नति करने से मनुष्य को प्राप्त होती है। रहेज़डेविज़ साहेब कहते हैं कि "बौद्धों का स्वर्ग मृत्यु नहीं है और पितकों में परमानन्द की जिन अवस्थाओं का वर्णन है (जो अरहतों को प्राप्त हैं) वे मृत्यु के उपरान्त नहीं प्राप्त होतीं परन्तु यहीं और इसी समय धार्मिक जीवन व्यतीत करने से मिलती हैं।

परन्तु जिन लोगों ने निर्वाण प्राप्त कर लिया है उनके लिये यहां और इस समय धार्मिक जीवन व्यतीत करने के अतिरिक्त, क्या भविष्यत में कोई सुख और कोई स्वर्ग नहीं है ? यह एक ऐसा प्रश्न था जो कि बौद्धों को बहुधा चक्कर में डालता था और वे अपने स्वामी से इस के स्पष्ट उत्तर के लिये बहुधा अनुरोध करते थे। इस विषय में गौतम के उत्तर सन्दिग्ध हैं और उसने अपने अनुयायियों को निर्वाण के अतिरिक्त, जो कि बौद्धों के लिये स्वर्ग और मुक्ति है, किसी अन्य स्वर्ग की आशा देकर कभी उत्तेजित नहीं किया।

मलूक्यपुत्त ने गौतम से इस विषय पर अनुरोध किया और उसने यह बात निश्चय रूप से जाननी चाही कि पूर्ण बौद्ध मृत्यु के उपरान्त रहता है अथवा नहीं। गौतम ने पूछा "क्या मैं ने यह कहा था कि हे मलूक्यपुत्त आओ और हमारे चेले हो और हम तुम को यह बतलावेंगे कि संसार नित्य है अथवा अनित्य है ?" "मलूक्यपुत्त

ने उत्तर दिया " महाशय यह आपने नहीं कहा था ।" गौतम ने कहा " तब इस प्रश्न के उत्तर पर अनुरोध मत करो । यदि कोई मनुष्य जिसको कि जहरीली वाण लग गई हो अपने वैद्य से कहे 'मैं अपने घाव की औषधि नहीं होने दूंगा जब तक कि मुझे यह विदित न हो कि मुझे किस मनुष्य ने मारा है और वह क्षत्रिय ब्राह्मण, वैश्य वा शूद्र है ?' तो उसका कैसा अन्त होगा ? वह घाव से मर जायगा और इसी प्रकार वह मनुष्य भी मरेगा जिसने कि सर्वज्ञता और पवित्र जीवन के लिये इस कारण उद्योग नहीं किया क्यों कि वह यह नहीं जानता कि मृत्यु के उपरान्त क्या होगा । इस कारण हे मलूकयपुत्त जो कुछ मैं ने प्रगट नहीं किया उसे अप्रगट रहने दो और जो कुछ मैं ने प्रगट किया है उसे प्रगट रहने दो ।" (चूल-मलूक्य-ऊवाद, मझ्झिम निकाय)

इसी प्रकार यह कहा जाता है कि कोशल के राजा प्रसेनजीत अपने दो प्रधान नगरों के बीच अर्थात् साकेत से श्रावस्ती की यात्रा में क्षेमा भिक्षुनी से मिला जो कि अपनी बुद्धि के लिये प्रसिद्ध थी । राजा ने उसका सत्कार किया और पूछा " हे पूज्य महाशया क्या पूर्ण बौद्ध मृत्यु के उपरान्त रहता है ?" उसने उत्तर दिया है महाराजा बुद्ध ने यह प्रगट नहीं किया कि पूर्ण बौद्ध मृत्यु के उपरान्त रहता है ।" राजा ने पूछा " हे पूज्य महाशया तब क्या पूर्ण बौद्ध मृत्यु के उपरान्त नहीं रहता ?" परन्तु खेमा ने इसका भी उत्तर यही दिया कि " हे महाराजा बुद्ध ने यह भी प्रगट नहीं किया कि पूर्ण बौद्ध मृत्यु के उपरान्त नहीं रहता ।" (सम्युत्तनकाय)

इन वाक्यों से विदित होगा कि गौतम के धर्म्म में निर्वाण के उपरान्त की बातों पर विचार नहीं किया गया है * । गौतम का

---

* डाक्टर ओडेनवर्ग साहब ने इस प्रश्न पर पूरी तरह से वादविवाद किया है । उसे देखिए उस विद्वान ने बौद्ध नियमों की सब पुस्तकों को ध्यानपूर्वक परीक्षा कर के अपनी सम्मति लिखी है ।

उद्देश्य स्पष्ट है। वह सब मनुष्यों को आत्मोन्नति द्वारा अपने दुःखों का नाश करने के लिये, भविष्यत में दुःख की अवस्थाओं से बचने के लिये, और संसार में पवित्र सुख और पूर्ण पापरहित अवस्था जो कि निर्वाण कहलाती है, प्राप्त करने के लिये बुलाता था।

यदि कोई मनुष्य निर्वाण की इस अवस्था को जीवन में प्राप्त न करे तो उसका पुनर्जन्म होने योग्य है। गौतम आत्मा के अस्तित्व को नहीं मानता था परन्तु फिर भी आत्मा के पुनर्जन्म का सिद्धान्त हिन्दुओं के मन में इतना अधिक धँस गया था कि वह निकाला नहीं जा सकता था और इस कारण गौतम पुनर्जन्म के सिद्धान्त को ग्रहण करता हुआ भी आत्मा के सिद्धान्त को नहीं मानता था। परन्तु यदि आत्मा ही नहीं है तो वह क्या वस्तु है जिसका पुनर्जन्म होता है? इसका उत्तर कर्म्म सम्बन्धी बौद्धसिद्धान्त में दिया है।

यह सिद्धान्त यह है कि मनुष्य के कर्म्म का नाश नहीं हो सकता और उसका यथोचित फल अवश्य होता है। और जब कोई जीवित मनुष्य मर जाता है तो उस मृत मनुष्य के कर्म्मों के अनुसार एक नए मनुष्य की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार यह धार्मिक बुद्ध यद्यपि आत्मा को नहीं मानता है परन्तु वह इस बात को मानता है कि उसके जीवन की अवस्था उसके पूर्व जन्म के कर्म्मों के द्वारा निश्चित होती है। सब बौद्ध ग्रन्थकारों ने एक जन्म से दूसरे जन्म के सम्बन्ध का उदाहरण एक दीए की टेम से दिया है जिससे कि दूसरे दीए की टेम जला ली जाती है। और यदि कोई निर्दोषी मनुष्य इस संसार में दुःख पाता है तो वह कहता है "यह मेरेही कर्म्मों का फल है इसके लिये मुझे शिकायत क्यों करनी चाहिए?" परन्तु यदि आत्मा ही नहीं है तो दुःख पानेवाले मनुष्य और मरे हुए मनुष्य में समानता कहां है? बौद्ध लोग इसका यों उत्तर देते हैं "समानता केवल उसमें रहती है जोकि मनुष्य के मर जाने और अणु में गल जाने के उपरान्त भी शेष रहता है अर्थात् उसके कार्य्यों, विचारों और वाणी में, उसके कर्म्म में जोकि मर नहीं सकते।"

यह बहस हम लोगों को व्यात्रृत्तिक तर्क के समान जान पड़ती है परन्तु फिर भी इस सिद्धान्त में एक बात है जिसे कि आज कल के सामाजिक दर्शनशास्त्रज्ञ ठीक कहेंगे। बौद्धों की भाँति आज कल के दर्शनशास्त्रज्ञों का भी यह विचार है कि प्रत्येक पीढ़ी अपनी पूर्व पीढ़ी के पुण्य और पापों के फलों को भोगती है और इस अर्थ में कोई जाति जैसा बोती है वैसा काटती है। "बौद्ध महात्मा अपने आत्मनिग्रह की पवित्रता को उस निश्चय सुख की लालसा के द्वारा नष्ट नहीं करता जो कि उसको मृत्यु के उपरान्त मिलेगा। उसका ज्ञान नहीं रह जायगा परन्तु उसके पुण्य रहेंगे और वे प्राणियों के दुःख को घटाने में अपने पूरे प्रभाव से कार्य्य करेंगे।"

परन्तु गौतम ने केवल पुनर्जन्म के सिद्धान्त को ही प्राचीन हिन्दू धर्म्म से लेकर अपने धर्म्म में एक सुधार किए हुए रूप में नहीं रक्खा है। उसने उस समय के समस्त हिन्दू देवताओं को भी उसी तरह स्वीकार किया है और अपने मुख्य विचार अर्थात् पवित्र जीवन की सर्वोच्च शक्ति के अनुकूल होने के लिये उन्हें इसी भाँति परिवर्तित किया है। उसने ऋग्वेद के तीनों देवताओं को माना है परन्तु उन्हें सर्वप्रधान नहीं माना। वह उपनिषदों के सर्व-प्रधान देवता ब्रह्मा को मानता है परन्तु सर्वप्रधान की भाँति नहीं। क्योंकि वे भी बार बार जन्म लेते हुए उस पवित्र जीवन अर्थात् निर्वाण को प्राप्त करने का यत्न कर रहे हैं जोकि सर्व श्रेष्ठ अवस्था है। किसी मनुष्य ने कभी शुद्धता और पवित्रता को देवताओं से भी अधिक श्रेष्ठता देने का कभी यत्न नहीं किया अर्थात् जो भलाई मनुष्य कर सकता है उसे उसने देवताओं और सृष्टि की अज्ञात शक्तियों से भी अधिक बढ़ा दिया है।

परन्तु यह कहना आवश्यक है कि इस बात में सन्देह है कि गौतम स्वयं हिन्दू देवताओं को मानता था अथवा नहीं। यह बात असम्भव नहीं है कि जिन लोगों ने बौद्ध धर्म्म ग्रहण किया था उनकी भाषा से देव, गन्धर्व और ब्रह्मा अब तक जुदा न हुए हों।

जाति के सम्बन्ध में गौतम ब्राह्मण का उसी भांति सत्कार करता था जैसा कि बौद्ध श्रामन का । परन्तु वह ब्राह्मण का सत्कार उसके गुण और विद्या के लिये करता था, उसकी जाति के लिये नहीं, क्योंकि जाति को वह नहीं मानता था । दो ब्राह्मण युवा वशिष्ठ और भरद्वाज इस बात पर लड़ने लगे कि "कोई ब्राह्मण कैसे होता है" और गौतम के पास उसकी सम्मति के लिये आए तो गौतम ने एक व्याख्यान दिया जिसमें उसने ज़ोर दे कर जातिभेद को नहीं माना और कहा कि मनुष्यों का गुण उनके कार्य्य से है उनके जन्म से नहीं । उसने कहा घास, वृक्ष, कीड़े मकोड़े, चींटियां, चौपाए, साँप, मछलियां और चिड़ियां सब के भेद हैं और वे अपने गुणों द्वारा जाने जाते हैं। मनुष्य का भी गुण है और वह उसका कार्य्य है ।

"क्योंकि हे वशिष्ठ जो मनुष्य गाय रख कर जीवन निर्वाह करता है वह किसान कहलाता है, ब्राह्मण नहीं ।

"और जो मनुष्य भिन्न भिन्न शिल्प के कार्य्य कर के जीवन निर्वाह करता है वह शिल्पकार कहलाता है, ब्राह्मण नहीं ।

"और जो मनुष्य वाणिज्य के द्वारा जीवन निर्वाह करता है वह वणिक् कहलाता है, ब्राह्मण नहीं ।

"और जो मनुष्य दूसरे की सेवा कर के जीवन निर्वाह करता है......वह सेवक है, ब्राह्मण नहीं ।

"और जो मनुष्य चोरी कर के जीवन निर्वाह करता है...... वह चोर है, ब्राह्मण नहीं ।

"और जो मनुष्य धनुर्विद्या से जीवन निर्वाह करता है...... वह सिपाही है, ब्राह्मण नहीं ।

"और जो मनुष्य गृहस्थी के विधानों को कर के जीवन निर्वाह करता है......वह यज्ञ करनेवाला है, ब्राह्मण नहीं ।

"और जो मनुष्य गांवों का स्वामी है......वह राजा है, ब्राह्मण नहीं ।

" और मैं किसी को उसके जन्म अथवा किसी विशेष माता से उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण नहीं कहता, वह भूपति कहा जा सकता है और वह धनाढ्य हो सकता है परन्तु मैं ब्राह्मण उसे कहता हूं जिसके पास कुछ न हो और जो किसी वस्तु की लालसा न करे...

" जो मनुष्य क्रोध से रहित है, पवित्र कार्य्य और पुण्य करता है, कामना से रहित है, जिसने इन्द्रियों को दमन किया है और अपना अन्तिम शरीर धारण किया है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

"जो मनुष्य जल में कमल की नाईं, वा सूई के नोके पर सरसों की नाईं इन्द्रियों के सुख में नहीं लिपटता उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।" (वासेत्थसुत्त)

इसी भांति मझ्झिमनिकाय के अस्सलायनसुत्त में लिखा है कि एक प्रसिद्ध ब्राह्मण विद्वान अस्सलायन गौतम के इस मत पर विवाद करने के लिये आया कि सब जातियां समान रीति से पवित्र हैं। गौतम ने जो कि तार्किकों के साथ उन्हींके शस्त्रों से लड़ सकता था, पूछा कि क्या ब्राह्मण की स्त्रियों को अन्य स्त्रियों की नाईं प्रसव की सब कमजोरियां नहीं होतीं। अस्सलायन ने उत्तर दिया "हां होती हैं।" गौतम ने पूछा " क्या बेक्ट्रिया की नाईं आस पास के देशों के लोगों में रंग का भेद नहीं होता और फिर भी उन देशों में क्या गुलाम मालिक नहीं हो सकते और मालिक गुलाम नहीं हो सकते ?" अस्सलायन ने उत्तर दिया "हां; हो सकते हैं।" गौतम ने पूछा "तब यदि ब्राह्मण घातक, चोर, लम्पट, झूठा, कलङ्क लगानेवाला, बोलने में कड़ुआ और तुच्छ, लालची, द्रोही और मिथ्या सिद्धान्त का हो तो क्या वह मृत्यु के उपरान्त दूसरी जाति की नाईं दुःख और कष्ट में जन्म नहीं लेगा ? " अस्सलायन ने कहा "हाँ" और उसने यह भी स्वीकार किया कि बिना जाति का विचार किए हुए अच्छे कर्मों से स्वर्ग अवश्य मिलेगा। गौतम ने फिर भी यह बहस की कि यदि किसी घोड़ी का किसी गदहे के साथ संयोग हो जाय तो उसकी सन्तान खच्चर होगी। परन्तु क्षत्रिय और ब्राह्मण के संयोग से जो सन्तान होती है वह अपने मां, बाप की नाईं होती है और इस लिये यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण और

क्षत्रिय में कोई भेद नहीं है ! इस प्रकार के तर्क से गौतम ने युवा तार्किक के हृदय में उस सत्य को जमा दिया और वह " वहां चुप चाप फूहर की नाईं दुखी, नीची दृष्टि किए हुए सोचता हुआ बैठा रहा और उत्तर न दे सका " और तब वह गौतम का चेला हो गया।

दूसरे समय में गौतम ने अपने साथियों को समझाया है "हे शिष्यो, जिस प्रकार बड़ी बड़ी नदियाँ, वे चाहे कितनी बड़ी क्यों न हों, यथा गंगा, यमुना, असिरावति, सरयू और मही, जब समुद्र में पहुँचती हैं तो वे अपना पुराना नाम और पुरानी उत्पत्ति को छोड़ कर केवल एक नाम अर्थात् समुद्र के नाम से कहलाती हैं, उसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और वैश्य भी जब वे भिक्षु हो जाते हैं तो उनमें भेद नहीं रह जाता। और हम जानते हैं कि इस सिद्धान्त के अनुसार वास्तव में कार्य भी किया जाता था क्यों कि जैसा हम ऊपर देख चुके हैं कि उपाली हज्जाम ने भिक्षु धर्म्म को स्वीकार किया और वह बौद्ध भिक्षुओं में एक बड़ा पूज्य और विद्वान हो गया। एक हृदयभेदक कथा थेर गाथा में भी लिखी है जिससे हम लोग यह समझ सकते हैं कि बौद्ध धर्म्म भारतवर्ष में नीच लोगों के लिये कैसा उत्तम था और वे उसे जातिभेद के अन्याय से रक्षा पाने के लिये कैसी उत्सुकता से स्वीकार करते थे। थेर सुनीत्त कहता है "मैं एक नीच वंश में उत्पन्न हुआ हूँ, मैं गरीब और कंगाल था। मैं नीच कर्म्म करता अर्थात् सूखे हुए फूलों को झाड़ने का कार्य्य करता था। मुझ से लोग घृणा करते थे और तुच्छता तथा असत्कार की दृष्टि से देखते थे। मैं बहुतों का फर्माबरदारी की दृष्टि से सत्कार करता था। तब मैं ने बुद्ध को भिक्षुओं के सहित उस समय देखा जब कि वह मगध के सब से प्रधान नगर में जा रहा था। तब मैं ने अपना बोझा फेंक दिया और दौड़ कर उसके पास जा कर सत्कार के साथ दण्डवत की। मेरे पर दया कर के वह सर्वोच्च मनुष्य ठहरा। तब मैं ने अपने को उसके चरणों पर गिरा दिया और तब प्राणियों में उस सर्वोच्च मनुष्य की प्रार्थना की कि वह मुझे भिक्षु बना ले। तब उस दयालु स्वामी ने मुझ से कहा कि 'हे भिक्षु इधर आओ, और इसी प्रकार मैं भिक्षु बनाया गया। और यह कथा

वही शिक्षा देकर समाप्त होती है जिसका उपदेश गौतम ने इतने अधिक बार दिया है "पवित्र उत्साह से, पवित्र जीवन और आत्म-निरोध से मनुष्य ब्राह्मण हो जाता है. यह सब से ऊँचा ब्राह्मण का पद है।

नम्रसुनीत की इस कथा को बिना समानता के प्रिय उत्साह को समझे हुए जो कि आदि बौद्ध धर्म्म का प्राण है और उसकी सफलता का कारण है, कौन पढ़ सकता है ? यह बड़ा गुरू जो कि न तो धन न मर्य्यादा और न जाति को मानता था गरीबों और तुच्छ लोगों के पास उसी भाँति जाता था जैसे कि अमीरों के पास और उन्हें पवित्र जीवन और पवित्र आचार के द्वारा अपनी मुक्ति पाने के लिये उपदेश देता था। धार्मिक जीवन से नीच और ऊँच दोनों समान रीति से सर्वोच्च प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकते थे, और भिक्षुओं के सम्प्रदाय में कोई भेद नहीं माना जाता था। हजारों मनुष्यों और स्त्रियों ने उस प्रिय और सज्ञान विचार को स्वीकार किया और अपने गुरु की प्रीति तथा उसके गुणों के अनुकरण करने में जातिभेद को छोड़ दिया। और गौतम ने जिस तिथि से बनारस में अपना समानता और प्रीति का धर्म्म प्रगट किया उसके तीन शताब्दियों के भीतर ही यह धर्म्म भारतवर्ष का प्रधान धर्म्म हो गया। जातिभेद भिक्षुओं के सम्प्रदाय में तो था ही नहीं और गृहस्थों में भी उसका प्रभाव जाता रहा क्योंकि उनमें से सब से नीच वंश का कोई भी, भिक्षुओं का सम्प्रदाय ग्रहण कर के, सर्वोच्च प्रतिष्ठा पा सकता था।

"(३९३) मनुष्य अपने गुथे हुए बालों से अपने वंश अथवा जन्म से ब्राह्मण नहीं हो जाता, परन्तु जिसमें सत्यता और पुण्य है वही धन्य है और वही ब्राह्मण है।

"(३९४) हे मूढ़, गुथे हुए बालों की क्या आवश्यकता है ? मृगछाला धारण करने की क्या आवश्यकता है ? तेरे भीतर तो लालच भरा हुआ है परन्तु ऊपर से तूं स्वच्छ बनता है।

" (४२२) मैं उसे ब्राह्मण अवश्य कहता हूं जो कि वीर. महात्मा, विजयी, अगम्य, पूर्ण और जाग्रित है।

"(१४१) न तो नंगा रहने से, न गुथे हुए बालों से, न धूल से, न व्रत रहने अथवा जमीन पर पड़े रहने से, न विभूति लगाने से और न चुप चाप बैठे रहने से, वह मनुष्य अपने को पवित्र कर सकता है जिसने कि अपनी कामनाओं को नहीं जीता।"*(धम्मपद)।

यह समझना भूल है कि गौतम सब को संसार त्याग कर के भिक्षु सम्प्रदाय ग्रहण करने के लिये स्पष्ट आज्ञा देता था। इस बड़े उपदेशक का मुख्य उद्देश्य जीवन तथा उसके सुख की कामनाओं को जीतने का था और वह दिखलाने के लिये संसार त्याग देने में कोई विशेष भलाई नहीं समझता था। परन्तु

---

* प्रोफेसर मेक्समूलर साहेब ने ऊपर के वाक्यों पर निम्नलिखित मनोरञ्जक टिप्पणी दी है—

"नंगे फिरना तथा और दूसरे कार्य्य जिनका कि इस पद में उल्लेख है महात्माओं के जीवन के बाहरी चिन्ह हैं और इन्हें बुद्ध स्वीकार नहीं करता क्योंकि वे कामनाओं को शान्त नहीं करते। यदि हम सुमागधा अवदान को देखें तो यह विदित होता है कि नंगे रहने को उसने अन्य कारणों से स्वीकार नहीं किया। अनाथ पिण्डिक की कन्या के घर में कुछ नंगे साधू एकत्रित हुए। उसने अपनी पतोहू सुमागधा को बुला कर कहा 'जाओ और उन पूज्य महात्माओं का दर्शन करो।' सुमागधा, सारिपुत्र, मौदगलायन आदि लोगों की नाईं महात्माओं का दर्शन पाने की आशा में प्रसन्नता से दौड़ी परन्तु जब उसने इन सन्यासियों को कबूतर के डैनों की नाईं बाल रक्खे हुए केवल विभूति लगाए हुए ऊपकारक और दैत्यों के सदृश देखा तो वह बड़ी उदास हुई। उसकी सास ने पूछा 'तुम उदास क्यों हो?' सुमागधा ने उत्तर दिया 'हे माता यदि महात्मा लोग ऐसे हैं तो पापी लोगों का रूप कैसा होता होगा।"

फिर भी उन कामनाओं को जीतना तब तक कठिन होता है जब तक कोई मनुष्य वास्तव में अपने कुटुम्ब के साथ रहे और जीवन के सुखों को भोगता रहे। अतएव गौतम भिक्षु के जीवन की अपने बड़े उद्देश्य के लिये अधिक गुणकारी मार्ग होने से प्रसंशा करता था। और इस कारण बहुत से लोगों ने संसार को त्याग कर भिक्षु सम्प्रदाय को ग्रहण किया और इस प्रकार बौद्ध सन्यासियों का सम्प्रदाय बना जो कि सम्भवतः संसार में सन्यासियों के सम्प्रदाय में सब से पहिला है।

यहां पर बौद्ध भिक्षुओं के सम्प्रदाय के नियमों का लिखना आवश्यक नहीं है क्योंकि वे इस धर्म के मुख्य सिद्धान्तों में नहीं हैं। हम यहां केवल एक सुन्दर सूत्र उद्धृत करेंगे जिसमें गौतम और एक किसान की कल्पित बात चीत दी है जिससे सांसारिक जीवन और धर्मजीवन के गुण विदित होते हैं—

"(१) धनिय किसान ने कहा "मैं अपना चावल पका चुका हूं, मैं अपनी गायों को दुह चुका हूं, मैं अपने लोगों के संग मही नदी के तट के निकट रहता हूं। मेरा घर छाया हुआ है, आग सुलगी हुई है अतएव हे आकाश यदि तेरा जी चाहे तो वृष्टि कर!"

(२) भगवत् ने कहा "मैं क्रोध से रहित हूं, हठ से रहित हूं, मैं एक रात्रि के लिये मही नदी के तट के निकट टिका हुआ हूं। मेरा घर छाया नहीं है, (कामना की) आग बुझ गई है, अतएव हे आकाश यदि तेरा जी चाहे तो वृष्टि कर!"

(३) धनिय किसान ने कहा "मेरे यहां डांस नहीं है, घास से भरे हुए खेतों में गायें घूम रही हैं और यदि वर्षा हो तो वे उसे सह सकती हैं। अतएव हे आकाश, यदि तेरा जी चाहे तो वृष्टि कर।

(४) भगवत् ने कहा "मेरे पास एक अच्छी बनी हुई नौका है, मैं (निर्वाण तक) चला आया हूं। मैं कामनाओं की लहरों को जीत कर आगे के किनारे पर पहुंच गया हूं। अब मुझे नौका का कोई काम नहीं है। अतएव हे आकाश यदि तेरा जी चाहे तो वर्षा कर।

(५) धनिय किसान ने कहा "मेरी स्त्री आज्ञाकारिणी है आवारा नहीं है, और वह बहुत समय तक मेरे साथ रही है, वह मोहने-

वाली है और मैं उसके विषय में कोई बुरी बात नहीं सुनता। अतएव हे आकाश यदि तेरा जी चाहे तो वर्षा कर।

(६) भगवत् ने कहा ' मेरा मन आज्ञाकारी और स्वतंत्र है और मैंने उसे बहुत समय तक उच्च शिक्षा दी है और भली भांति दमन किया है। अब मेरे में कोई बुरी बात नहीं है । अतएव हे आकाश यदि तेरा जी चाहे तो वर्षा कर ।

(७) धनिय किसान ने कहा " मैं स्वयं कमा कर अपना पालन करता हूं और मेरे बच्चे मेरे पास सब निरोगी हैं । मैं उनकी कोई बुराई नहीं सुनता । अतएव हे आकाश यदि तेरा जी चाहे तो वर्षा कर।

(८) भगवत् ने कहा "मैं किसी का नौकर नहीं हूं। जो कुछ मैंने प्राप्त किया है उससे मैं सारे संसार में भ्रमण करता हूं। मुझे नौकरी करने की आवश्यकता नहीं है । अतएव हे आकाश यदि तेरा जी चाहे तो वर्षा कर।

(९) धनिय ने कहा "मेरे पास गाय हैं, बछड़े हैं, गाभिन गाय और बछिया हैं। और इन गायों के ऊपर स्वामी की नाईं मेरे एक साँड़ भी है। अतएव हे आकाश यदि तेरा जी चाहे तो वृष्टि कर।

(१०) भगवत् ने कहा "मेरे गाय नहीं हैं, मेरे बछवा नहीं हैं, मेरे गाभिन गाय और बछिया नहीं है। और गायों के स्वामी की भांति मेरे साँड़ भी नहीं हैं अतएव हे आकाश यदि तेरा जी चाहे तो वृष्टि कर।

(११) धनिय किसान ने कहा " खूँटे गड़े हुए हैं और हिल नहीं सकते, पगहे मूंज के नए और अच्छे बने हुए हैं, गाएँ उन्हें नहीं तोड़ सकेंगी। अतएव हे आकाश यदि तेरा जी चाहे तो वर्षा कर।

(१२) भगवत् ने कहा "साँड़ की नाईं बंधनों को तोड़ कर, हाथी की नाईं गलुच्छि लता को तोड़ कर फिर मैं गर्भ में नहीं आऊँगा। अतएव हे आकाश यदि तेरा जी चाहे तो वर्षा कर।"

तब तुरन्त वृष्टि हुई जिसने कि समुद्र और पृथ्वी को भर दिया। और आकाश से वृष्टि होते सुन कर धनिय इस प्रकार बोला—

(१३) "यह हमारे लिये थोड़े लाभ की बात नहीं है कि हम लोगों

ने भगवत् का दर्शन पाया। हे बुद्धि की चक्षुवाले, हम लोग तेरी शरण लेते हैं! हे बड़े मुनी, तू हम लोगों का स्वामी हो!" (धनिय-सुत्त)

ये गौतम के धर्म्म के प्रधान सिद्धान्त हैं और संक्षेप में उनका पुनः उल्लेख कदाचित् हमारे पाठकों को लाभदायक होगा। हम कह चुके हैं कि बौद्ध धर्म्म वास्तव में आत्मोन्नति की एक प्रणाली अर्थात् इस संसार में पवित्र जीवन व्यतीत करने का एक यत्न है और इससे अधिक उसमें कुछ नहीं है। हम देख चुके हैं कि गौतम इन चारों सत्यों का उपदेश करता था कि जीवन दुःख है, जीवन की लालसा दुःख का कारण है, इस लालसा को जीतना दुःख का नाश करना है और आत्मोन्नति का मार्ग जीवन की इस लालसा को जीतने का उपाय है। गौतम ने पवित्र जीवन और निष्पाप शान्ति को अपने धर्म्म का सिद्धान्त और मनुष्य का सर्वोच्च उद्देश्य मान कर आत्मोन्नति की एक प्रणाली और मन वाणी और कर्म द्वारा आत्मनिरोध की रीति को ध्यान पूर्वक स्थापित किया है जिसे कि वह उत्तम मार्ग कहता है और जो धर्म्म के सात रत्नों के नाम से प्रसिद्ध है।

और यह पवित्र शान्ति, यह निष्पाप शान्त जीवन जो कि इतने आत्मनिरोध और इतनी आत्मोन्नति का उद्देश्य है इसी संसार में प्राप्त हो सकता है। वही बौद्धों का स्वर्ग है, वही निर्वाण है। गौतम का धर्म्म परलोक के लिये कोई उज्वल पुरस्कार नहीं देता, भलाई स्वयं उसका पुरस्कार है, पुण्यमय जीवन बौद्धों का अन्तिम उद्देश्य है, इस पृथ्वी पर पुण्यमय शान्ति बौद्धों का निर्वाण है।

फिर भी हम देख चुके हैं कि गौतम ने अपने धर्म्म में हिन्दुओं के पुनर्जन्म के सिद्धान्त को एक परिवर्तित रूप में ग्रहण किया था। यदि इस जीवन में निर्वाण की प्राप्ति न हो तो जीवन के कर्म्मों का उचित फल दूसरे जन्मों में मिलेगा जब तक कि शिक्षा पूर्ण न हो जाय और निर्वाण प्राप्त न हो जाय।

इसी भाँति गौतम ने हिन्दू देवताओं को अर्थात् ऋग्वेद के तेतीसों देवताओं और ब्रह्मा और गंधर्व के विश्वास को ग्रहण किया अथवा ग्रहण करने दिया। 'ये सब देवता और सृष्टि के समस्त प्राणी भिन्न भिन्न मंडलों में बार बार जन्म लेकर उस निर्वाण को प्राप्त करने का यत्न कर रहे हैं जो कि सब लोगों के लिये मुख्य उद्देश्य, अन्त और मुक्ति है।

परन्तु हिन्दू धर्म्म में ऐसे सिद्धान्त और रीतियां भी थीं जिन्हें कि वह ग्रहण नहीं कर सकता था। उसने जातिभेद को निकाल दिया, तपस्याओं से वह कोई लाभ नहीं समझता था और वैदिक विधानों को उसने निरर्थक प्रगट किया है। ऐसे विधानों के स्थान में उसने दयालु जीवन व्यतीत करने और मनः क्षोभ और कामनाओं को जीतने की आज्ञा दी है और इस उद्देश्य को प्राप्त करने की अधिक सुगम रीति के लिये उसने संसार का त्याग बतलाया है। उसका यह उपदेश माना गया और उससे बौद्ध भिक्षुओं का सम्प्रदाय स्थापित हुआ।

तब बौद्ध धर्म्म की सब से प्रधान बात यह है कि वह इस लोक में पवित्र और पुण्यात्मा जीवन की शिक्षा देता है और पुरस्कार या दण्ड का कोई विचार नहीं करता। वह मनुष्य के स्वभाव की सब से अधिक निष्काम भावनाओं को उत्तेजित करता है। वह अपने सामने स्वयं पुण्य को अपने पुरस्कार की भाँति रखता है और उसको प्राप्त करने के लिये निरन्तर उद्योग की आज्ञा देता है। वह शान्त निष्पाप जीवन की प्राप्ति के अतिरिक्त मनुष्य वा देवताओं में किसी उच्च उद्देश्य को नहीं जानता, वह पुण्यमय शान्ति के अतिरिक्त किसी दूसरे प्रकार की मुक्ति को नहीं बतलाता, वह पवित्रता के अतिरिक्त किसी दूसरे स्वर्ग को नहीं जानता। "उसने अपनी दृष्टि से आत्मा के उस सिद्धान्त को बिलकुल निकाल दिया जो कि अब तक मिथ्याधर्म्मी और विचारवान दोनों ही के मत में समान रीति से भरा हुआ था।

उसने संसार के इतिहास में पहिले पहिल यह प्रगट किया कि प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपने लिये इस संसार और इसी जीवन

में बिना ईश्वर वा छोटे बड़े देवताओं की कुछ भी सहायता के, मुक्ति प्राप्त कर सकता है।"

इसके विरुद्ध बौद्ध धर्म्म की इसी बात पर बहुधा कलंक लगाया गया है। यह कहा गया है कि यह अज्ञेयवादी धर्म्म है जोकि ईश्वर, आत्मा और मुक्ति पानेवालों के लिये किसी परलोक को नहीं मानता। परन्तु डाक्टर रहेज़ डेविस साहेब इस बात को दिखलाते हैं कि जहां ब्रह्मविद्या अज्ञात वस्तुओं के सम्बन्ध में सन्तोषदायक उत्तर नहीं देती और जहां मनुष्यों ने पुराने प्रश्नों के नए उत्तर ढूंढ़े हैं वहां अज्ञेयवाद एक वा दो बार नहीं परन्तु बारम्बार प्रधान दिखलाई देता है। "भारतवर्ष के अज्ञेयवादियों, यूनान और रोम के औदासिन्यों, फ्रान्स, जर्मनी और हम लोगों के कुछ नए दर्शनशास्त्रों में जो बहुत सी समान बातें मिलती हैं उनका कारण समझने के लिये विचारों की उन्नति में बौद्ध के सिद्धान्तों से हमें सहायता मिलती है।"

———:o:———

अध्याय १४।

गौतम बुद्ध की धार्म्मिक आज्ञाएँ।

ऐसे धर्म्म में जिसका कि मुख्य उद्देश्य इस संसार में पवित्र जीवन की शिक्षा देने का है अवश्य ही बहुत सी धार्म्मिक आज्ञाएँ होंगी और आज्ञाएँ बौद्ध धर्म्म की विशेष शोभा हैं तथा इन से यह धर्म्म समस्त सभ्य संसार में सत्कार की दृष्टि से देखा जाता है। इस अध्याय में हम इनमें से कुछ उत्तम आज्ञाओं पर विचार करेंगे जिससे हमारे पाठकों को गौतम की धार्म्मिक शिक्षाओं का कुछ सारांश विदित होगा।

गृहस्थ चेलों के लिये गौतम ने पांच मनाही की आज्ञाएँ दी हैं जो कि निस्सन्देह हिन्दुओं के शास्त्र के उन पांचो महापातकों से ली गई हैं जिनका कि ऊपर उल्लेख किया गया है।

(१८) "गृहस्थों का भी कार्य्य, मैं तुम से कहूंगा कि सावक किस प्रकार अच्छा होने के लिये कार्य्य करे क्योंकि भिक्षुओं का पूरा धर्म्म इन लोगों से पालन नहीं किया जा सकता जो कि सांसारिक कार्य्यों में लगे हुए हैं।

(१९) "उसे किसी जीव को नहीं मारना वा मरवाना चाहिए और यदि दूसरे लोग उसे मारें तो उसे नहीं सराहना चाहिए और सब जन्तुओं को, चाहे वे बलवान जन्तु हों वा वे ऐसे हों जो कि संसार में बड़े बलहीन हैं उन सब के मारने का उसे विरोध करना चाहिए।

(२०) "और सावकों को किसी स्थान पर कोई वस्तु न लेनी चाहिए जिसको कि वह जानता है कि दूसरे की है और जो उसको न दी गई हो। ऐसी वस्तु उसे दूसरों को भी न लेने देनी चाहिए और जो लोग लें उन्हें न सराहना चाहिए। उसे सब प्रकार की चोरी का त्याग करना चाहिए।

(२१) "बुद्धिमान मनुष्यों को व्यभिचार का त्याग जलते हुए कोयले की नाईं करना चाहिए। यदि वह इन्द्रियों का निग्रह न कर सके तो उसे दूसरे की स्त्री के साथ व्यभिचार नहीं करना चाहिए।

(२२) "किसी मनुष्य को न्यायसभा वा किसी सभा में दूसरे से झूठ न बोलना चाहिए। उसे दूसरों से झूठ न बोलवाना चाहिए और जो लोग झूठ बोलें उन्हें न सराहना चाहिए। उसे सब असत्य का त्याग करना चाहिए।

(२३) "जो गृहस्थ इस धर्म्म को मानता हो उसे नशे की वस्तुएँ नहीं पीनी चाहिएँ। उसे दूसरों को भी नहीं पिलाना चाहिए और जो लोग पीएँ उनको यह जान कर नहीं सराहना चाहिए कि उसका फल पागलपन है।" (धाम्मिकसुत्त, सुत्तनिपात)।

ये पांचो आज्ञाएँ जो कि पंच सील के नाम से प्रसिद्ध हैं सब बौद्धों अर्थात् गृहस्थों और भिक्षुओं के लिये हैं। वे संक्षेप में इस भांति कही गई हैं—

(२४) "कोई किसी जीव को न मारे।
जो वस्तु न दी गई हो उसे नहीं लेना चाहिए।
झूठ न बोलना चाहिए।
नशे की वस्तुएँ नहीं पीना चाहिए।
व्यभिचार नहीं करना चाहिए।"

तीन नियम और दिए गए हैं जो कि अत्यावश्यक नहीं समझे जाते परन्तु वे कट्टर और धार्मिक गृहस्थ चेलों के लिये कहे गए हैं। वे ये हैं—

(२५), (२६) "रात्रि को असमय भोजन नहीं करना चाहिए।
माला नहीं पहिरनी चाहिए और सुगन्ध नहीं लगाना चाहिए।
भूमि पर बिछौना बिछा कर सोना चाहिए"।

कट्टर और धार्मिक गृहस्थ के लिये इन आठों आज्ञाओं के जो कि अष्टांगसील के नाम से प्रसिद्ध है, पालन करने की प्रतिज्ञा करने के लिये कहा गया है।

इन आठों नियमों के अतिरिक्त दो नियम और भी हैं और वे ये हैं। अर्थात् नाच, गाने बजाने आदि से निषेध और सोने और

चाँदी को काम में लाने से निषेध। ये दसो आज्ञायें (दस सील) भिक्षुओं के लिये आवश्यक हैं जैसे कि पंचसील गृहस्थों के लिये हैं।

अपने माता पिता का सत्कार करना और इज्जतदार व्यापार करना यद्यपि ये दो बातें आज्ञाओं में सम्मिलित नहीं हैं तथापि उसी सुत्त में सब गृहस्थों को उनका पालन करने के लिये कहा गया है।

"उसे भक्ति के साथ अपने माता पिता का पालन करना चाहिए और कोई इज्जत का व्यापार करना चाहिए। जो गृहस्थ इस का धीरता से पालन् करता है वह सयंपभस (संस्कृत स्वयंभु देवता) के पास जाता है।"

गृहस्थों के धर्म्म का एक अधिक विस्तृत वर्णन प्रसिद्ध सिगालोवादसुत्त में दिया है जिसे कि उत्तरी तथा दक्षिणी दोनों बौद्ध मानते हैं और जिसका अनुवाद यूरप की भाषाओं में कई बार हुआ है। इन धर्म्मों के वर्णन से हिन्दू समाज की अवस्था तथा हिन्दू सामाजिक जीवन के आदर्श का इतना स्पष्ट यथार्थ ज्ञान होता है कि हमें उसके उद्धृत करने में कोई रोकावट नहीं होती—

१ माता पिता और लड़के।

माता पिता को चाहिए कि—

(१) लड़कों को पाप से बचावें।
(२) पुण्य करने की उनको शिक्षा दें।
(३) उन्हें शिल्प और शास्त्रों में शिक्षा दिलावें।
(४) उनके लिये योग्य पति वा पत्नी दें।
(५) उन्हें पैत्रिकाधिकार दें।

लड़कों को कहना चाहिए कि—

(१) जिन्होंने मेरा पालन किया है उनका मैं पालन करूंगा।
(२) मैं गृहस्थी के उन धर्म्मों को करूंगा जो कि मेरे लिये आवश्यक हैं॥
(३) मैं उनकी सम्पत्ति की रक्षा करूंगा।
(४) मैं अपने को उनका वारिस होने के योग्य बनाऊंगा।

(५) उनकी मृत्यु के उपरान्त मैं सत्कार से उनका ध्यान करूंगा।

२ शिष्य और गुरु।

शिष्य को अपने गुरुओं का सत्कार करना चाहिए—

(१) उनके सामने उठ कर।
(२) उनकी सेवा कर के।
(३) उनकी आज्ञाओं का पालन कर के।
(४) उन्हें आवश्यक वस्तुएँ दे कर।
(५) उनकी शिक्षा पर ध्यान दे कर।

गुरु को अपने शिष्यों पर इस प्रकार स्नेह दिखलाना चाहिए—

(१) सब अच्छी बातों की उन्हें शिक्षा दे कर।
(२) उन्हें विद्या को ग्रहण करने की शिक्षा दे कर।
(३) उन्हें शास्त्र और विद्या सिखला कर।
(४) उनके मित्रों और संगियों में उनकी प्रसंशा कर के।
(५) आपत्ति से उनकी रक्षा कर के।

३ पति और पत्नी।

पति को अपनी पत्नी का इस भाँति पालन करना चाहिए—

(१) सत्कार से उसके साथ व्यवहार कर के।
(२) उस पर कृपा कर के।
(३) उसके साथ सच्चा रह कर।
(४) लोगों में उसका सत्कार करा कर।
(५) उसे योग्य आभूषण और कपड़े दे कर।

पत्नी को अपने पति पर इस भाँति स्नेह दिखलाना चाहिए—

(१) अपने घर के लोगों से ठीक तरह से बर्ताव कर के।
(२) मित्रों और सम्बन्धियों का उचित आदर सत्कार कर के
(३) पतिव्रता रह कर।
(४) किफ़ायत के साथ घर का प्रबन्ध कर के।
(५) जो कार्य्य उसे करने पड़ते हों उनमें चतुराई और परिश्रम दिखला कर।

४ मित्र और संगी।

इज़्ज़तदार मनुष्य को अपने मित्रों से इस प्रकार व्यवहार करना चाहिए।

(१) उपहार दे कर।
(२) मृदु सम्भाषण से।
(३) उनके लाभ की उन्नति कर के।
(४) उनके साथ अपनी बराबरी का व्यवहार कर के।
(५) अपना धन उनके साथ भोग कर।

उन लोगों को उसके साथ इस प्रकार प्रीति दिखलानी चाहिए।

(१) जब वह बेखबर हो तो उसकी निगरानी कर के।
(२) यदि वह अल्हड़ हो तो उसकी सम्पत्ति की रक्षा कर के।
(३) आपत्ति के समय उसे शरण दे कर।
(४) दुःख में उसका साथ दे कर।
(५) उसके कुटुम्ब के साथ दया दिखला कर।

५ स्वामी और नौकर।

स्वामी को अपने सेवकों को इस प्रकार सुख देना चाहिए—

(१) उनकी शक्ति के अनुसार उन्हें काम दे कर।
(२) उचित भोजन और वेतन दे कर।
(३) रोग की अवस्था में उनके लिये यत्न कर के।
(४) असाधारण उत्तम वस्तुओं को उन्हें भी दे कर।
(५) उन्हें कभी कभी छुट्टी दे कर।

नौकरों को अपने स्वामी पर भक्ति इस प्रकार प्रगट करनी चाहिए।

(१) वे उसके पहिले उठें।
(२) वे उसके पीछे सोवें।
(३) उन्हें जो कुछ दिया जाय उससे सन्तुष्ट रहें।
(४) वे पूरी तरह से और प्रसन्न हो कर कार्य्य करें।
(५) वे उसकी प्रसंशा करें।

६ गृहस्थ और धार्म्मिक लोग।

इज़्ज़तदार मनुष्य भिक्षुओं और ब्राह्मणों की इस प्रकार सेवा करता है।

(१) कार्य्य में प्रीति दिखला कर।

(२) वाणी में प्रीति दिखला कर।

(३) विचार में प्रीति दिखला कर।

(४) उनका मन से स्वागत कर के।

(५) उनकी सांसारिक आवश्यकताओं को दूर कर के।

इन लोगों को उसके साथ इस प्रकार प्रीति दिखलानी चाहिए।

(१) उसे पाप करने से रोक कर।

(२) उसे पुण्य करने की शिक्षा दे कर।

(३) उसके ऊपर दया भाव रख कर।

(४) धर्म्म की उसको शिक्षा दे कर।

(५) उसके सन्देहों को दूर कर के स्वर्ग का मार्ग बतला कर।

उपरोक्त बातों से हमें पवित्र हिन्दू जीवन का, आनन्दमय गृहस्थी सम्बन्धी तथा सामाजिक विचारों और कर्तव्यों का कैसा चित्र मिलता है! अपने बच्चों को शिक्षा, धार्म्मिक शिक्षा और सांसारिक सुख देने के लिये माता पिता की उत्सुक भावना; अपने माता पिता को पालन करने, उनका सत्कार करने और मृत्यु के उपरान्त सत्कार से उनका स्मरण करने के लिये पुत्र की भक्तिपूर्ण अभिलाषा; शिष्य का अपने गुरु की ओर सत्कार के साथ व्यवहार और गुरु की शिष्य के लिये उत्सुक चिन्ता और प्रीति; पति का अपनी पत्नी के साथ सत्कार, दया, मान और प्रीति के साथ व्यवहार जो कि हिन्दू धर्म्म में सदा से चला आया है और हिन्दू पत्नियों की अपनी गृहस्थी के कार्य्यों में सचाई और चौकसी जिसके लिये कि वे सदा से प्रसिद्ध हैं; मित्रों के बीच; स्वामी और नौकरों के बीच, गृहस्थों और धर्म्म शिक्षकों के बीच दया का भाव-ये सब सर्वोत्तम शिक्षाएँ हैं जिन्हें हिन्दू धर्म्म ने दिया है और ये सर्वोत्तम कथाएँ हैं जिन्हें हिन्दू साहित्य ने हजारों वर्ष तक निरन्तर बताया है। बौद्ध धर्म्म ने इन उत्तम बातों को प्राचीन हिन्दू धर्म्म से ग्रहण किया और इन्हें अपने धर्म्म ग्रन्थों में रक्षित रक्खा।

अब हम गौतम की कर्तव्य विषयक आज्ञाओं को छोड़कर उन आज्ञाओं और परोपकारी कहावतों का वर्णन करेंगे जिनके कारण बौद्ध धर्म्म ने आजकल संसार में उचित प्रसिद्धता पाई है। गौतम का धर्म्म परोपकार और प्रीति का धर्म्म है और ईसा मसीह के जन्म के पांच शताब्दी पहिले इस हिन्दू आचार्य्य ने यह प्रगट किया था—

(५) " घृणा कभी घृणा करने से नहीं बन्द होती, घृणा प्रीति से बन्द होती है, यही इसका स्वभाव है । "

(१९७) " हम लोगों को प्रसन्नतापूर्वक रहना चाहिए और उन लोगों से घृणा नहीं करनी चाहिए जोकि हम से घृणा करते हों। जो लोग हम से घृणा करते हों उनके बीच हमें घृणा से रहित हो कर रहना चाहिए । "

(२२३) "क्रोध को प्रीति से जीतना चाहिए, बुराई को भलाई से विजय करना चाहिए । लालच को उदारता से और झूठ को सत्य से जीतना चाहिए । " (धम्मपद) ।

ये बड़ी शिक्षाएं सुशील और पवित्र आत्मा, गौतम के अनुयायियों के हृदय पर जमाने के लिये कही गई हैं और हम यहां उनमें से एक कथा को बड़े संक्षेप में लिखेंगे । अपने अनुयायियों में झगड़ों और भेद को रोकने के लिये गौतम कहता है—

" हे भिक्षुओ प्राचीन समय में बनारस में काशियों का एक राजा ब्रह्मदत्त रहता था जो कि बड़ा धनाढ्य था, उसके कोश में बहुत सा धन था, उसकी मालगुजारी बहुत अधिक थी और उसके पास बहुत बड़ी सेना और अनेक रथ थे, वह बहुत बड़े देश का स्वामी था और उसके कोश और भण्डार पूर्ण थे। और उस समय कोशल का राजा दीर्घीति भी था जो कि धनाढ्य नहीं था, उसका कोश और मालगुजारी थोड़ी थी, उसके पास थोड़ी सेना और रथ थे। वह एक छोटे से देश का राजा था और उसके कोश और भण्डार खाली थे। "

जैसा कि बहुधा हुआ करता है, धनाढ्य राजा ने इस निर्बल राजा का देश और उसका धन छीन लिया और दीर्घीति अपनी रानी के साथ बनारस भाग गया और वहां सन्यासी के वेष में एक कुम्हार के घर में रहने लगा। वहां उसकी रानी को एक पुत्र हुआ जिसका नाम दीघावु रक्खा गया और कुछ काल में वह लड़का बड़ा हुआ।

इस बीच में राजा ब्रह्मदत्त ने सुना कि उसका प्राचीन शत्रु उसके नगर में अपनी स्त्री के साथ वेष बदल कर रहता है और उसने आज्ञा दी कि वह उसके सामने लाया जाय और निर्दयता से मारडाला जाय।

उनका पुत्र दीघावु उस समय बनारस के बाहर रहता था परन्तु अपने पिता के मारे जाने के समय वह अचाँचक नगर में आ गया था। मरते हुए राजा ने अपने पुत्र की ओर देखा और अमानुषिक क्षमा के साथ अपने पुत्र को अन्तिम उपदेश दिया "मेरे प्यारे दीघावु, घृणा, घृणा करने से शान्त नहीं होती। मेरे प्यारे दीघावु, घृणा प्रीति से शान्त होती है।"

हे भिक्षुओ! तब युवा दीघावु वन में चला गया और वहां वह जी भर कर रोया। तब वह अपने विचार दृढ़ कर के नगर को लौटा और राजा के तबेले में एक हाथी के सिखलानेवाले के नीचे उसने नौकरी की।

वह तड़के उठा और सुन्दर स्वर से गाने और बीन बजाने लगा और उसका स्वर इतना मधुर था कि राजा ने इस बात की खोज की कि हाथी के तबेलों में इतनी जल्दी कौन उठकर ऐसे सुन्दर स्वर से गा रहा है। तब इस युवा को लोग राजा के पास ले गए। उसने उसे प्रसन्न किया और वह उसके पास नौकर रक्खा गया।

और एक समय ऐसा हुआ कि राजा दीघावु को अपने साथ लेकर अहेर को गया। दीघावु की भीतरी अग्नि जल रही थी और उसने राजा के रथ को इस प्रकार हांका कि सेना एक ओर रह गई और राजा का रथ दूसरी ओर गया। और अन्त को राजा

को बड़ी थकावट जान पड़ी और वह युवा दीघावु की गोदी में अपना सिर रख कर लेट गया और थकावट के कारण तुरन्त सो गया।

"हे भिक्षुओ उस समय युवा दीघावु विचारने लगा 'कि काशी के इस ब्रह्मदत्त राजा ने हमारी बड़ी हानि की है। उसने हमारी सेना और रथ, हमारा राज्य, कोश, और भण्डार सब छीन लिया है। और उसने मेरे माता पिता को मार डाला है। पर अब मेरे क्लेश का पलटा लेने का समय आगया है' और यह कर उसने अपनी तलवार खींची।"

परन्तु अपने पिता का स्मरण करते हुए इस पलटा लेनेवाले राजकुमार को अपने मृत पिता के अन्तिम वाक्य स्मरण आ गए कि "मेरे प्यारे दीघावु घृणा, घृणा करने से शान्त नहीं होती, मेरे प्यारे दीघावु घृणा प्रीति से शान्त होती है।" अतएव राजकुमार ने सोचा कि पिता के वाक्यों का उल्लंघन करना मेरे योग्य नहीं है और उसने अपनी तलवार रखदी।

राजा ने एक बड़ा भयानक स्वप्न देखा था और वह बड़ा भय-भीत होकर जाग उठा। दीघावु ने उससे सब बात सत्य सत्य कह दी। राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने कहा "मेरे प्यारे दीघावु, मुझे जीवन दान दो! मेरे प्यारे दीघावु मुझे जीवन दान दो!" उस सुशील युवा ने अपने पिता की आज्ञा का पालन कर के अपने पिता के बध को क्षमा कर दिया और ब्रह्मदत्त को जीवन दान दिया। और ब्रह्मदत्त ने उसके पिता की सेना और रथ उसका राज्य उसका कोश और भण्डार सब उसे लौटा दिया और अपनी पुत्री से उसका विवाह कर दिया।

हे भिक्षुओ, अब यदि उन राजाओं में इतना धैर्य और दया है जोकि राजछत्र और तलवार धारण करते हैं, तो हे भिक्षुओ कितनी अधिक धीरता और दया तुम में होनी चाहिए कि तुम ने इतने उत्तम सिद्धान्तों और शिक्षा के अनुसार पवित्र जीवन ग्रहण किया है और धीर और दयालु देखे जाते हो, जिसमें कि तुम्हारा यश संसार में प्रसिद्ध रहे।" (महावग्ग १०, २)

परन्तु केवल धैर्य्य और दया ही नहीं वरन् पुण्य और भलाई के कार्य्यों की शिक्षा गौतम ने अपने अनुयायियों को बारंबार ज़ोर के साथ दी है।

(५१) "उस मनुष्य के उत्तम और फलहीन शब्द जोकि उनके अनुसार कार्य्य नहीं करता, उस सुन्दर फूल की नाईं हैं जोकि रंग में बड़ा उत्तम परन्तु सुगन्धरहित है।"

(१८३) "पाप न करना, भलाई करना, अपने हृदय को शुद्ध करना, यही बुद्धों की शिक्षा है।"

(२००) "इसी प्रकार भलाई करनेवाला जब कि संसार को छोड़ कर दूसरे संसार में जाता है तो वहां उसके भले कर्म्म उसके सम्बन्धी और मित्रों की नाईं उसका स्वागत करते हैं।"

(२०७) "वह मनुष्य बड़ा नहीं है जिसके सिर के बाल पक गए हों जिसकी अवस्था बड़ी हो गई हो परन्तु वह वृथा ही वृद्ध कहलाता है।"

(२६१) "वह जिसमें सत्य, पुण्य, प्रीति, आत्मनिरोध और संयम है, वह जोकि अपवित्रता से रहित और बुद्धिमान है वही बड़ा कहलाता है।" (धम्मपद)।

और गौतम ने मातंग चाण्डाल की कथा कही है जिसने कि अपने अच्छे कर्म्मों के द्वारा सब से अधिक प्रसिद्धि पाई, जो देवताओं के विमान पर चढ़ा और ब्रह्मा के लोक में चला गया। अतएव "कोई मनुष्य जन्म से जाति बाहर नहीं हो सकता और न जन्म से ब्राह्मण हो सकता है। केवल कर्म्मों से मनुष्य जाति बाहर होता है और कर्म्म ही से वह ब्राह्मण होता है।" (वसलसुत्त, सुत्तनिपात, २७)

और फिर सुत्तनिपात के आमगन्धसुत्त में गौतम काश्यप ब्राह्मण से कहता है कि जीव को नष्ट करना, हिंसा करना, काटना, बाँधना, चोरी करना, झूठ बोलना और छल करना, व्यभिचार करना, निन्दा करना, कपट, निर्दयता, नशा खाना, धोखा देना, घमण्ड, बुरा मन, और बुरा कार्य्य—ये सब मनुष्य को अपवित्र करते हैं। मछली वा मांस न खाने से, नंगा रहने से, माथा मुड़ाने

से, गुथे हुए बाल रखने से, भभूत लगाने से, रूखा वस्त्र धारण करने से, हवन करने से, तपस्या करने से, भजन करने से, और बलिदान अथवा यज्ञ करने से, वह पवित्र नहीं हो सकता।

समस्त धम्मपद में ४२३ सद्व्यवहार की आज्ञाएं हैं जो कि उत्तमता और सद्व्यवहार की दृष्टि से इस भांति की अन्य आज्ञाओं के संग्रहों से बढ़ कर है जोकि किसी समय वा किसी देश में किए गए हैं। और बौद्धों की धर्म्म पुस्तकों में जो कथाएँ और कहावतें, उपमाएँ और आज्ञाएँ हैं उनका संग्रह करने से एक बड़ी अच्छी पुस्तक बन जायगी। हम केवल कुछ उद्धृत वाक्यों को दे कर इस अध्याय को समाप्त करेंगे—

(१२६) "सब मनुष्य दण्ड से डरते हैं, सब मनुष्य मृत्यु से भयभीत होते हैं। स्मरण रक्खो कि तुम उनके समान हो। अतएव हिंसा मत करो और न दूसरे से हिंसा कराओ।

(१३०)" सब मनुष्य दंड से डरते हैं, सब मनुष्यों को जीवन प्रिय है। स्मरण रक्खो कि तुम उन के समान हो अतएव हिंसा मत करो और न दूसरे से हिंसा कराओ।

"दूसरों का दोष सहज में दिखलाई देता है परन्तु अपना दोष दिखाई देना कठिन है। मनुष्य अपने पड़ोसी के दोषों को भूसी की भाँति पछोड़ता है परन्तु अपने दोष को वह इस भाँति छिपाता है जैसे कि कोई छल करनेवाला, जुआरी से बुरे पासे को छिपाता है।" (धम्मपद)

"यह उत्तम नीव की शिक्षा की उन्नति कहलाती है, यदि कोई अपने पापों को पाप की भांति देखे और उनका सुधार करे और भविष्यत में उनको न करे। (महावग्ग, ९, १, ६)

"इस प्रकार जो मनुष्य जुदे जुदे हैं उन्हें वह एक करता है जो मित्र हैं उनको उत्साहित करता है, वह मेल करनेवाला है, मेल का चाहनेवाला है मेल के लिये उत्सुक है, एसे कार्य्यों को करता है जिससे मेल हो।" (तेविज्जसुत्त २, ५)

इन उत्तम आज्ञाओं से उन आज्ञाओं की अद्भुत समानता को कौन नहीं देखेगा जिन्हें कि इसके पाँच सौ वर्ष उपरान्त पैलेस-

टाइन में दयालु और पवित्र आत्मा ईसामसीह ने दिया था ? परन्तु बौद्ध और ईसाई नीतिशास्त्र और सद्व्यवहार की आज्ञाओं से जो सम्बन्ध है उसको हम आगे के अध्यायों में लिखेंगे।

———:०:———

अध्याय १५

बौद्ध धर्म का इतिहास।

चुल्लवग्ग के ग्यारहवें अध्याय में लिखा है कि गौतम की मृत्यु पर पूज्य महाकाश्यप ने प्रस्ताव किया कि" धम्म और विनय साथ मिल कर गाया जाय।" यह प्रस्ताव स्वीकार किया गया और ४६६ अरहत इस कार्य्य के लिये चुने गए और गौतम के सच्चे मित्र और अनुयायी आनन्द ने ५०० की संख्या पूरी कर दी।

"और इस प्रकार थेर भिक्षु लोग धम्म और विनय का साथ मिल कर पाठ करने के लिये गए।" उपालि जो कि पहिले हज्जाम था वह विनय में प्रमाण माना गया और गौतम का मित्र आनन्द धम्म (सुत्त) में प्रमाण माना गया।

"यही राजगृह की सभा थी जो कि ईसा के ४७७ वर्ष पहिले गौतम की मृत्यु पर पवित्र पाठ को निश्चित करने और एक साथ पाठ कर के उसके स्मरण रखने के लिये की गई थी।

गौतम की मृत्यु के एक शताब्दी पीछे वैशाली के भिक्षुओं (विज्जिनों) ने वैशाली में दस विषयों को प्रकाशित किया जिनमें कि अन्य बातों के अतिरिक्त भिक्षुओं के लिये बिना उबली हुई ताड़ी और सोने या चाँदी ग्रहण करने की आज्ञा दी गई थी।

एक पूज्य भिक्षु ककण्डक के पुत्र यश ने इन आज्ञाओं का विरोध किया और पूज्य शिक्षकों को वैशाली में एक बड़ी बौद्ध सभा कर के निमंत्रण दिया। उसने पश्चिमी देश के, अवन्ति के और दक्षिणी देश के भिक्षुओं के पास यह कह कर दूत भेजा कि आप लोग पधारें, हम लोगों को इस विषय का खण्डन उसके पहिले करना चाहिए कि जब तक जो धम्म नहीं है उसका प्रचार न हो जाय

और जो धम्म है वह जुदा न कर दिया जाय, जो विनय में नहीं है उसका प्रचार न हो जाय और जो विनय में है वह जुदा न कर दिया जाय।"

इस बीच में वैशाली के भिक्षुओं को विदित हुआ कि यश को पश्चिमी प्रान्तों के भिक्षुओं से सहायता मिल रही है और उन लोगों ने भी पूरब के प्रान्तों से सहायता का यत्न किया। वास्तव में भेद वैशाली के पूर्वी बौद्धों में और गंगा के ऊपरी मार्ग के आस पास के प्रान्तों के पश्चिमी बौद्ध तथा मालवा और दक्षिण के बौद्धों में था।

पूर्वी मत को वैशाली के विज्जैनों ने उठाया था और यदि ये विज्जैन लोग वे ही हों जोकि तुरान की पूर्वी जाति के लोग हैं, जैसा कि वील साहब का मत है' तो झगड़ा तुरानी बौद्धों और हिन्दू बौद्धों में था। हम लोग आगे चल कर देखेंगे कि पूर्वी लोगों की सम्मतियों को आगे चल कर उत्तरी बौद्ध लोगों ने सँभाला और इस उत्तरी सम्प्रदाय में संसार की तुरानी जातियाँ, चीन के लोग, जापान के लोग और तिब्बत के लोग सम्मिलित हैं।

सभा का कार्य्य मनोरञ्जक है। यह संघ वैशाली में हुआ और बहुत बात चीत के उपरान्त—

"पूज्य रेवत ने सङ्घ के सन्मुख यह बात उपस्थित की "पूज्य-संङ्घ मेरी बात सुने। इस विषय पर हम लोगों के वादविवाद करने में बहुत सी निरर्थक बातें होती हैं और किसी एक वाक्य का भी अर्थ स्पष्ट नहीं होता। यदि सङ्घ को यह उचित जान पड़े तो वह पञ्च द्वारा इस प्रश्न का निर्णय करवावे।"

और उसने प्रस्ताव किया कि पूरब के चार भिक्षु और पश्चिम के चार भिक्षु इस पञ्चायत में हों। इस प्रस्ताव पर सम्मति ली गई और सब सम्मति से ये आठो पञ्च नियत किए गए।

दस प्रश्न एक एक कर के पञ्चों के सम्मुख उपस्थित किए गए और पञ्चों ने उन दसों आज्ञाओं को स्वीकार नहीं किया जिनके लिये कि वैशाली के भिक्षुओं ने विरोध किया था। उन्होंने केवल छटीं आज्ञा को स्वीकार किया और यह प्रगट किया कि यह

आज्ञा कुछ अवस्थाओं में मानी जा सकती है और कुछ अवस्थाओं में नहीं।

इस सभा में ७०० भिक्षु सम्मिलित किए गए थे और यह वैशाली की सभा कहलाती है। यह ईसा के ३७ वर्ष पहिले हुई थी।

परन्तु यह समझना नहीं चाहिए कि इन दसों प्रश्नों के विषय में जो निर्णय हुआ उसे सब लोगों ने स्वीकार कर लिया। इन प्रश्नों का निर्णय वृद्ध और अधिक प्रबल भिक्षुओं ने किया था परन्तु अधिक लोग उनके विरुद्ध थे और वे बड़ी संख्याओं में मुख्य धर्म्मावलम्बियों से अलग हो गए और उत्तरी बौद्ध लोग इन जुदे होनेवालों के उत्तराधिकारी हैं। और यही कारण है कि बौद्ध धर्म्म की दो भिन्न भिन्न शाखाएं हैं, एक तो नैपाल तिब्बत और चीन के उत्तरी बौद्ध लोग और दूसरे लङ्का, बर्म्मा और स्याम के दक्षिणी बौद्ध।

यह बात अच्छी तरह देखी गई है कि नई धर्म्मप्रणालियों का, चाहे वे स्वभावतः कितनी ही उत्तम क्यों न हों, मनुष्यों के द्वारा स्वीकार किया जाना बाहरी घटनाओं पर बहुत कुछ निर्भर है। ईसाई धर्म्म को जिसने कि पहिली कुछ शताब्दियों में बहुत थोड़ी उन्नति की थी, उस समय महाराज कॉंसटैनटाइन ने ग्रहण किया, जब कि रोम का अधिकार और रोम की शिक्षा यूरप में सर्वप्रधान थी और इस भांति इस धर्म्म ने पश्चिमी संसार में सुगमता से बड़ी शीघ्र उन्नति की। मुहम्मद के धर्म्म का प्रचार ऐसे समय में हुआ था जब कि संसार में उसका विरोध करने-वाला कोई नहीं था, जब कि रोम का पतन हो चुका था और जब यूरप में सैनिक राजप्रथा स्थापित नहीं हुई थी। भारतवर्ष में प्राचीन हिन्दू धर्म्म का प्रचार आर्य्यों के पंजाब से निकलने और समस्त भारतवर्ष को विजय करने के साथही साथ हुआ था। इसी भांति बुद्ध के धर्म्म का जिसमें कि ब्राह्मण अथवा नीच जाति में कोई भेद नहीं था, प्रचार प्राचीन आर्य्य प्रान्तों की अपेक्षा मगध के अनार्य राज्य में बहुत अधिक हुआ। और ईसा के पहिले तीसरी शताब्दी में जब मगध के राज्य ने भारतवर्ष में सर्वप्रधानता

पाई, उस समय बौद्ध धर्म्म भारतवर्ष का मुख्य धर्म्म हो गया। शिशुनाग वंश का जिसमें कि बिम्बिसार और आजतशत्रु हुए थे, ईसा के ३७० वर्ष पहिले अन्त हो गया और नन्द ने जो कि एक शूद्र स्त्री से उत्पन्न हुआ था, राजगद्दी पाई। उसने और उसके आठों पुत्रों ने लगभग ५० वर्ष तक राज्य किया। अन्तिम नन्द के आधीन एक पराजित विरोधी ईसा के ३२५ वर्ष पहिले मगध से भाग गया और सतलज के तट पर सिकन्दर से जा मिला। सिकन्दर के चले जाने पर चन्द्रगुप्त ने पश्चिम के वीर योधाओं को एकत्रित किया और ईसा के लगभग ३२० वर्ष पहिले अन्तिम नन्द को मार कर वह मगध की राजगद्दी पर बैठा।

न तो चन्द्रगुप्त और न उसका पुत्र विन्दुसार बौद्ध था परन्तु विन्दुसार के उत्तराधिकारी ने, जो कि ईसा के लगभग २६० वर्ष पहिले राजगद्दी पर बैठा, बौद्ध धर्म्म को ग्रहण किया और समस्त भारतवर्ष में तथा भारतवर्ष के बाहर भी वह इस धर्म्म का बड़ा भारी प्रचारक हुआ। अशोक का नाम वोलगा नदी से लेकर जापान तक और साइबेरिया से लेकर लङ्का तक सत्कार की दृष्टि से देखा जाता है। और "यदि किसी मनुष्य का यश उसके स्मरण करनेवालों की संख्या से, उन लोगों की संख्या से जिन्होंने कि सम्मान से उसका नाम लिया हो या अब तक लेते हों, समझा जा सकता है तो अशोक शारमेगन वा सीजर से अधिक प्रसिद्ध है।" अशोक ने अपना राज्य सारे उत्तरी भारतवर्ष में फैलाया और उसके शिलालेख दिल्ली और इलाहाबाद में, पेशावर के निकट और गुजरात में, उड़ीसा और मैसूर में भी पाए गए हैं।

उसने अपनी तीसरी सभा अपने राज्य के अट्ठारहवें वर्ष में अर्थात् ईसा के २४२ वर्ष पहिले पटने में की। यह सभा ६ मास तक हुई और इसमें मोग्गलि के पुत्र तिस्सा के सभापतित्व में एक हजार प्रधान लोग सम्मिलित थे। और इस में एक बार फिर भी पवित्र पाठों का उच्चारण किया गया और वे निश्चित किए गए।

दीपवंश और महावंश में लिखा है कि इस सभा के होने के उपरान्त अशोक ने काश्मीर और गांधार में, महीश (मैसूर के निकट) में, बनवासी (सम्भवतः राजपुताने) में, अपरन्तक

(पश्चिमी पंजाब) में, महारत्थ, योनलोक (बेक्ट्रिया और यूनान राज्यों में) हिमवंत (मध्य हिमालय), सुवन्न भूमि (सम्भवतः बर्मा) और लंका में उपदेशकों को भेजा। अशोक के सूचनापत्रों से यह भी विदित होता है कि उसकी आज्ञाओं का पालन चोल (मद्रास प्रदेश) पाँड्य (मदुरा), सत्यपुर (सतपुरा पर्वतश्रेणी) केरल (ट्रावंकोर), लंका और सीरिया के यूनानी राजा एण्टीओकस के राज्य में किया गया। और एक दूसरे सूचनापत्र में वह लिखता है कि उसने पांचों यूनानी राज्यों में अर्थात् सीरिया, इजिप्ट, मेसेडन, एपिरोस और सिरिन में भी दूत भेजे।

हम पहिले ही देख चुके हैं कि अशोक ने अपने पुत्र महिन्द को लङ्का में भेजा और उसने शीघ्र ही वहां के राजा को बौद्ध बना लिया और लङ्का में बौद्ध धर्म्म का प्रचार किया। महिन्द ने जहां जहां कार्य्य किया वे स्थान अब तक भी लङ्का में हैं। अनुरुद्धपुर के उजड़े हुए नगर से आठ मील की दूरी पर महिन्तले की पहाड़ी है जहां कि लङ्का के राजा ने भारतवर्ष के भिक्षुओं के लिये एक मठ बनवाया था। "यहां इस पहाड़ी के पश्चिम ओर जो कि बड़ी ढालुआं थी एक बड़ी भारी चट्टान के नीचे एक ऐसे स्थान पर जो कि बस्ती से बिलकुल जुदा है, और जहां से नीचे के मैदानों का बड़ा उत्तम दृश्य दिखलाई देता है उसने (महिन्द ने) अध्ययन के लिये एक गुफा खुदवाई थी और उस चट्टान में सीढ़ियां कटवाई थीं और केवल उन्हीं के द्वारा लोग उस स्थान में पहुंच सकते थे। वहां वह स्थान भी जो कि ठोस चट्टान को काट कर बनाया गया था अब तक है और उसमें छेद हैं जो कि या तो पर्दे के डण्डों के लिये अथवा रक्षा के लिये कटघड़े लगाने के लिये बनवाए गए थे। यह बड़ी चट्टान गुफा को उस धूप की गर्मी से बहुत अच्छी तरह बचाती है जो कि नीचे की चौड़ी घाटी को तपा देती है। उसमें नीचे के मैदान का जो कि अब एक बहुत दूर तक फैला हुआ जंगल है परंतु उस समय कामकाजी मनुष्यों का निवासस्थान था, कोई शब्द नहीं पहुंचता...मैं सहज में उस दिन को नहीं भूल जाऊंगा जब कि मैं ने पहिले पहिल इस एकान्त, ठंढी और शान्त गुफा में प्रवेश किया था जो कि बड़ी सादी और फिर भी बड़ी सुन्दर है जहां कि दो

हजार वर्षों से अधिक हुआ कि लङ्का के इस बड़े शिक्षक ने अपने शान्तमय तथा उपकारी दीर्घ जीवन में बैठ कर ध्यान किया और कार्य्य किया था।"

तिसा और महिन्द्र की मृत्यु के उपरान्त द्रैवीडियन लोगों ने लङ्का पर दो बार आक्रमण कर के उसे विजय किया था परन्तु अन्त में ईसा के लगभग ८८ वर्ष पहिले उन्हें वट्ट गामिनि ने निकाल दिया। कहा जाता है कि उसी समय तीनों पितक जो कि इतने वर्षों तक केवल कण्ठाग्र रख कर रक्षित रक्खे गए थे "मनुष्यों का नाश देख कर" लिपिबद्ध किए गए जैसा कि दीपवंश में लिखा है।

बुद्धगोश बौद्धों की धर्म्म पुस्तकों का बड़ा भारी भाष्यकार हुआ है। उसे बौद्धों का सायनाचार्य्य कहना चाहिए। वह मगध का रहनेवाला एक ब्राह्मण था और उसने लङ्का में जा कर उन महाभाष्यों को लिखा जिनके लिये कि वह प्रसिद्ध है। तब वह लगभग ४५० ईस्वी में बर्म्मा गया और उस देश में बौद्ध धर्म्म का उसने प्रचार किया।

स्याम में ६३८ ईस्वी में बौद्ध धर्म्म का प्रचार हुआ। जान पड़ता है कि उसी समय के लगभग जावा में भी बौद्ध उपदेशक गए और ऐसा विदित होता है कि यह धर्म्म जावा से ही सुमात्रा में फैला। ये सब देश दक्षिणी बौद्ध धर्म्म को माननेवाले हैं।

उत्तरी बौद्ध धर्म्म के विषय में हम जानते हैं कि ईस्वी सन् के प्रारम्भ होने के पहिले वह उत्तर पश्चिमी भारतवर्ष का मुख्य धर्म्म था। काश्मीर का राजा पुष्पमित्र ईसा के पहिले दूसरी शताब्दी में बौद्धों के पीछे पड़ गया और पुष्पमित्र के पुत्र अग्निमित्र ने गंगा के तट पर यूनानियों से मोकाबिला किया। यूनानी लोग जो कि मैनेण्डर के आधीन थे विजयी हुए और ईसा के लगभग १५० वर्ष पहिले उन्होंने अपना राज्य गंगा नदी तक फैला दिया। परन्तु यूनानियों के विजय से बौद्ध धर्म्म को कोई हानि नहीं पहुंची और उस समय के एक प्रसिद्ध बौद्ध शिक्षक नागसेन ने यूनानी राजा के साथ अपने धर्म्म के विषय में वादविवाद किया जो कि एक मनोरञ्जक पाली ग्रन्थ में हम लोगों के लिये अब तक रक्षित है।

ईसा के उपरान्त पहिली शताब्दी में कनिष्क के आधीन यूची लोगों ने काश्मीर को विजय किया। कनिष्क का बड़ा राज्य काबुल, यारकण्ड और खोकान में, काश्मीर और राजपूताना में और समस्त पंजाब में, दक्षिण में गुजरात और सिन्ध और पूरब में आगरे तक फैला हुआ था। वह उत्तरी सम्प्रदाय का एक बड़ा उत्साही बौद्ध था और उसने ५०० अरहतों की एक सभा की। यदि इस सभा ने अशोक की पटने की सभा की नाईं पाठों को निश्चित किया होता तो इस समय हम लोगों के पास दक्षिण के तीनों पिटकों की नाईं उत्तरी बौद्ध धर्म्म की निश्चित पुस्तकें भी होतीं परन्तु कनिष्क की सभा ने केवल तीन भाष्य लिख कर अपने को संतुष्ट किया और इस कारण उत्तरी बौद्ध धर्म्म, मूल धर्म्म से हटता गया है और उसने भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न रूप धारण कर लिए हैं। यहां पर यह कहना अनावश्यक होगा कि कनिष्क की सभा दक्षिणी बौद्धों को उसी प्रकार विदित नहीं है जिस प्रकार की अशोक की सभा उत्तरी बौद्धों को। अश्वघोष जिसने कि उत्तरी बौद्धों के लिये बुद्ध का एक जीवनचरित्र लिखा है कनिष्क के यहां था। ऐसा विश्वास किया जाता है कि ईसाई चेला सेण्ट टौमस इसी समय पश्चिमी भारतवर्ष में आया और यहां मारा जाकर शहीद हुआ। ईसाई कथा का राजा गोंडोफरिस, कंदहार का कनिष्क समझा जाता है। ईसा के पहिले दूसरी शताब्दी में बौद्ध पुस्तकें सम्भवतः काश्मीर से चीन के सम्राट् के पास भेजी गईं। एक दूसरे सम्राट् ने सन् ६२ ईस्वी में अधिक बौद्ध ग्रन्थ मंगवाए और उसी समय से बौद्ध धर्म्म का चीन में शीघ्र प्रचार होने लगा यहां तक कि चौथी शताब्दी में वह वहां का प्रधान धर्म्म हो गया।

चीन से सन् ३७२ ईस्वी में कोरिया में बौद्ध धर्म्म का प्रचार हुआ और वहां से ५५२ ईस्वी में जापान में। कोचीन, चीन, फारमूसा, मंगोलिया तथा अन्य स्थानों में चौथी और पांचवीं शताब्दियों में चीन से बौद्ध धर्म्म का प्रचार हुआ, और काबुल से यह धर्म्म याराकन्द, बलख, बुखारा, तथा अन्य स्थानों में फैलता गया।

नैपाल में बौद्ध धर्म्म का कुछ प्रचार बहुत पहिले ही हो गया होगा। परन्तु यह राज्य छठीं शताब्दी में बौद्ध हो गया और

तिब्बत के प्रथम बौद्ध राजा ने भारतवर्ष से सन् ६३२ ईस्वी में धर्मग्रन्थ मंगवाए।

अब हम दक्षिणी देशों तथा उत्तर और पूरब की जातियों में बौद्ध धर्म के प्रचार का इतिहास लिख चुके। और अब हमारे लिये अशोक के उन उपदेशों का फल निश्चित करना रह गया है जिन्हें कि उसने पश्चिम में अर्थात् ईजिप्ट और पैलेस्टाइन में भेजा था। और यह हमें आधुनिक सभ्यता और धर्म के इतिहास के एक बड़े मनोरञ्जक प्रश्न के सम्मुख लाता है।

बौद्ध और ईसाई धर्मों की कथा, कहानियों, रूप, व्यवस्था और आज्ञाओं की अद्भुत समानता ने प्रत्येक जिज्ञासु के हृदय पर प्रभाव डाला है। उदाहरण की भांति इनमें से हम कुछ बातों का उल्लेख नीचे करेंगे।

बुद्ध के जन्म के सम्बन्ध की कथाएं ईसा मसीह के जन्म की कथाओं के समान हैं। दोनों अवस्थाओं में उनके पिता और माता को दैवी सूचना हुई और इन दोनों ही बच्चों का जन्म अलौकिक रीति से अर्थात् कुमारी माताओं से हुआ। ललितविस्तर में लिखा है कि "राजा की सम्मति से रानी को कुमारी की भांति बत्तीस महीनों तक जीवन व्यतीत करने की आज्ञा मिली। परन्तु हमें यह कथा दक्षिणी बौद्धों के प्राचीन पाली ग्रन्थों में नहीं मिलती।

ईसा मसीह की भांति गौतम के जन्म पर भी एक तारा दिखाई पड़ा था और यह पुष्य का तारा था जिसे कि कोलब्रुक साहब ने निश्चित किया है। असित, जो कि बौद्ध कथा का सीमियन है, गौतम के पिता के पास आया और उसने इस दैवी पुत्र को देखने की अभिलाषा प्रगट की। उसे यह बच्चा दिखलाया गया और उसने यह भविष्यत वाणी कही कि यह पुत्र सत्य को स्थापित करेगा और उसके धर्म का बड़ा प्रचार होगा (नलकसुत्त)

हम उन बड़े शगुनों को बड़ा आवश्यक नहीं समझते जो कि दोनों शुभ अवस्थाओं को सूचित करते थे। बुद्ध के जन्म पर "अन्धों ने इस प्रकार दृष्टि पाई मानों उन्हें उसके प्रताप को देखने ही

की कामना रही हो, बहिरे लोग सुनने लगे, गूँगे एक दूसरे से बात करने लगे, कूबड़े सीधे हो गए, लँगड़े लोग चलने लगे, कैदियों के बन्धन मुक्त हो गए।" ऐसी शुभ बातें सब ही धर्म्म के लोग अपने धर्म्म को स्थापित करनेवालों के जन्म होने के समय बतलाते हैं।

हम पहिले ही गौतम और ईसा मसीह के प्रलोभन की घनिष्ट और अद्भुत समानता के विषय में कह चुके हैं। ललित-विस्तार में यह कथा काव्य की भाषा में कही गई है परन्तु जैसी कि वह दक्षिणी पुस्तकों में कही गई है उससे भी बाइबिल की कथा से उसकी अद्भुत समानता मिलती है।

ईसा मसीह की नाईं गौतम के भी बारह चेले थे। उसने अपनी मृत्यु के थोड़े ही समय पहिले कहा है "केवल मेरे ही धर्म्म में बारह बड़े चेले पाए जा सकते हैं जो कि सर्वोच्च पुण्यों को करते हैं और संसार का उनके दुःखों से छुटकारा दिलाने के लिये उत्साहित हैं।" और इसी प्रकार के भाव ने कपिलवस्तु के उपदेशक तथा बैथिलहेम के उपदेशक दोनों ही को उत्तेजित किया। गौतम ने कहा था "तुम में से कोई दो, एक ही मार्ग से न जाय। हे भिक्षुओ इस सिद्धान्त का उपदेश करो जो कि उत्तम है।" (महावग्ग १, ११, १)

धर्म्म ग्रहण करने के पहिले जलसंस्कार की रीति बौद्ध और ईसाई दोनों ही धर्म्मों में है और वास्तव में जान बेपटिष्ट ने जल-संस्कार की रीति एसेनीज़ से ग्रहण की थी जो कि ईसा मसीह के जन्म के पहिले पैलेस्टाइन में बौद्ध धर्म्म का प्रतिनिधि था जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे। जब ईसा मसीह गैलेली में केवल युवा उपदेशक था उस समय उसने जान बैपटिष्ट का यश सुना और वह जान के यहां गया और उसके साथ रहा और इसमें सन्देह नहीं कि उसने जान से एसेनीज़ की बहुत सी आज्ञाओं और शिक्षाओं को सीखा और जलसंस्कार की रीति को ग्रहण किया जिसे कि जान इतने काल तक करता आया था। उस समय से जलसंस्कार ईसाई धर्म्म की एक मुख्य रीति हो गई है। ईसाई जलसंस्कार के

समय पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा को स्वीकार किया जाता है जैसे कि बौद्ध अभिषेक के उपरान्त बुद्ध, धर्म्म, और संघ को स्वीकार करना होता है।

हम उन अलौकिक बातों का वर्णन नहीं करेंगे जो कि गौतम और ईसा मसीह दोनों ही के द्वारा की हुई कही जाती हैं। और हम गौतम की कथा का भी वर्णन नहीं करेंगे जिनके विषय में कि हमने पिछले अध्याय में कुछ लिखा है और जिनकी कि ईसाई कथाओं से इतनी अद्भुत समानता है। रेनान साहब, जो कि ईसाई धर्म्म की उन्नति में बौद्ध धर्म्म का प्रभाव पड़ने को स्वीकार करने के बहुत विरुद्ध हैं कहते हैं कि जुदा के धर्म्म में कोई ऐसी बात नहीं थी जिसने कि ईसा मसीह को उपमा की प्रणाली में लिखने के लिये उत्तेजित किया हो। इसके सिवाय "हमे बौद्ध पुस्तकों में ठीक बाइबिल की कथाओं की भाषा और उसी ढंग की कहानियां मिलती हैं।"

जब हम सन्यासियों की रीतियों, विधानों और क्रियाओं को देखते हैं तो हमें दोनों धर्म्मों की सब से अद्भुत समानता से बड़ा आश्चर्य होता है। इसके विषय में डाक्टर रहेज़ डेविस साहब लिखते हैं "यदि यह सब दैवसंयोग से हुआ हो तो यह समानता की बड़ी भारी अलौकिक घटना है, वास्तव में वह दस हजार अलौकिक घटनाओं के समान है।"

अब्बे हक नामक एक रोमन केथोलिक उपदेशक ने तिब्बत में जो कुछ देखा उससे उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। "पादरियों की छड़ी, टोपी, चोगा आदि जिन्हें कि बड़े लामा लोग यात्रा के समय अथवा मन्दिर के बाहर किसी उत्सव के समय पहिनते हैं, पूजा के समय जो दोहरे गानेवाले, भजन, झाड़ फूंक, धूपदान का पांच सिकड़ियों में लटकना और इस प्रकार बना रहना कि वह इच्छानुसार खोला वा बन्द किया जा सके, भक्तों के सिर के ऊपर लामा लोगों का दहिना हाथ उठा कर आशीर्वाद देना, माला, पुजारियों का क्वारा रहना, संसार से वैराग, सहीदों की पूजा, निराहार रहना, यात्राप्रसंग, प्रार्थनाएं, पवित्र जल, ये सब बौद्ध लोगों तथा हम लोगों में समान बातें हैं।" मिस्टर आर्थर लिली साहब जिनकी

पुस्तक से कि ऊपर के वाक्य उद्धृत किए गए हैं कहते हैं कि, अब्बे ने समान बातों की पूरी सूची नहीं दी है और वह उनमें इन बातों का भी उल्लेख कर सकता था जैसे पाप का स्वीकार करना, पुजेरियों का माथे के बीच का भाग मुड़ाए रहना, महात्माओं की हड्डी का पूजन, मन्दिरों और वस्तुओं के सामने फूलों, रोशनी और मूर्त्तियों को काम में लाना, वेदियों पर क्रास का चिन्ह, त्रिमूर्त्ति का ऐक्य, स्वर्ग की रानी की पूजा, धर्म्म पुस्तकों का ऐसी भाषा में होना जो कि सर्वसाधारण पूजा करनेवालों को विदित नहीं है, महात्माओं और बुद्धों का ताज, फरिश्तों के पर, प्रायश्चित, कोड़ा लगाना, पंखा, पोप, कार्डिनल, विशप, एबट, प्रेसबिटर, डीकन, और ईसाई मन्दिर में भिन्न भिन्न प्रकार की बनावटें।" हमारे लिये इन सब रीतियों और विधानों का ब्योरेवार वर्णन करना अथवा यह दिखलाना कि रोमन केथेलिक प्रणाली की सब बातें किस प्रकार बौद्ध धर्म्म की बिलकुल नकल जान पड़ती हैं, सम्भव नहीं है। यह समानता इतनी अधिक है कि तिब्बत में पहिले पहिल जो ईसाई उपदेशक लोग गए उन लोगों का यह विश्वास हुआ कि बौद्ध लोगों ने रोमन केथेलिक सम्प्रदाय से बहुत से विधानों और रूपों को ग्रहण किया है और ऐसा ही उन्होंने लिखा है परन्तु यह बात सुप्रसिद्ध कि बौद्धों ने ईसा मसीह के जन्म के पहिले भारतवर्ष में बहुत से बड़े बड़े मन्दिर बनवाए थे और पटने के निकट नालंद में बौद्धों का एक बड़ा भारी मठ एक धनसम्पन्न मन्दिर और एक विद्वत्तापूर्ण विश्वविद्यालय था जो कि यूरप में ऐसे मन्दिर वा मठ होने के बहुत पहिले था और भारतवर्ष में जब बौद्ध धर्म का पतन हुआ तो नालंद तथा दूसरे स्थानों की बड़ी बड़ी बौद्ध रीतियों विधानों और व्यवस्थाओं की नैपाल और तिब्बत के बौद्धों ने नकल की और यह यूरप के जंगली जातियों के आक्रमण से मुक्ति पाने अथवा सैनिक सभ्यता वा धर्म प्रबन्ध के स्थापित होने के पहिले हुआ। अत एव यह स्पष्ट है कि मन्दिरों और मठों के प्रबन्ध और बनावट इत्यादि की सब बातों को जो कि दोनों धर्म्मों में समान हैं यूरप के लोगों ने पूर्वी देशों से ग्रहण किया था, पूर्वी देशों ने यूरप से नहीं।

हम को यहां पर बौद्ध धर्म्म के उत्तर काल के रूपों से कोई मतलब नहीं है। बौद्ध धर्म्म का यश नालन्द और तिब्बत की आडम्बरयुक्त रीतियों और विधानों में नहीं है जिनकी कि कई शताब्दियों के उपरान्त रोम में पुनः उत्पत्ति हुई थी परन्तु उसका यश सदाचार की उन अपूर्व शिक्षाओं में है जिनका उपदेश कि स्वयं गौतम ने बनारस और राजगृह में दिया था और जिसकी पुनरुत्पत्ति जरुसलेम में पांच शताब्दियों के उपरान्त हुई थी। एम रेनेन साहब कहते हैं कि "उसके (ईसा मसीह के) समान किसी ने कभी अपने जीवन में मनुष्य जाति के लाभों की मुख्यता और स्वार्थ की तुच्छता को नहीं माना है...कदाचित् शाक्य मुनी को छोड़ कर उसके समान और कोई मनुष्य नहीं हुआ है जिसने अपने कुटुम्ब, इस जीवन के सुखों और सांसारिक भावनाओं को इतना अधिक कुचल डाला हो।" जो मनुष्य कि तुम्हें दुःख दे उसके साथ भलाई करना, जो तुम से घृणा करे और कष्ट दे उस पर स्नेह करना और भलाई के लिये संसार को त्याग देना, ये गौतम और ईसा मसीह दोनों की मुख्य शिक्षाएँ थीं। क्या ये सब समानताएं केवल आकस्मिक हुई हैं ?

इस बड़े प्रश्न के विषय में सम्मति स्थिर करने के लिये हम अपने पाठकों के लिये कुछ ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख करेंगे हम लोग अशोक के विज्ञापनों से जानते हैं कि उसने ईजिप्ट और सीरिया में बौद्ध उपदेशकों को भेजा और ये उपदेशक उन देशों में बसे और वहां उन्हों ने बड़े और प्रबल बौद्ध समाज स्थापित किए। अलग्ज़ेण्ड्रिया के थेरापूट्स और पेलेस्टाइन के एसिनीज़ जो कि यूनानिया में इतने सुप्रसिद्ध हैं, वास्तव में बौद्ध भिक्षुओं की सम्प्रदाय के थे जो कि बौद्ध रीतियों को करते थे, बौद्ध सिद्धान्तों और आज्ञाओं का उपदेश देते थे और पश्चिम के देशों में गौतम बुद्ध की शिक्षाओं का प्रचार करते थे। डीन मेन्सल और डीन मिल्मेन की नाईं ईसाई विद्वान और शैलिंग और शोपनहौअर की नाईं दार्शनिक लोग समान रीति से इस बात को स्वीकार करते हैं कि थेरापुटस और एसेनीज़ उन्हीं बौद्ध उपदेशकों के सम्प्रदाय के थे जो कि भारतवर्ष से आए थे।

यह सम्प्रदाय जीवित रही और अपना कार्य्य करती रही। अशोक के समय से तीन शताब्दियों के उपरान्त उस समय जब कि ईसा मसीह उपदेश देता था, एसेनीज़ इतने प्रसिद्ध और प्रबल हो गए थे कि प्रसिद्ध प्लिनी ने उनके विषय में लिखा है।

प्लिनी सन्२३ और ७६ईस्वी के बीच में हुआ है और वह एसेनीज़ लोगों का वर्णन इस भांति करता है:-"(डेड सी के) पश्चिमी किनारे पर परन्तु समुद्र से इतनी दूर कि वे अपकारक हवाओं से बचे रहें, एसेनीज़ लोग रहते थे। वे एक बैरागी सम्प्रदाय के हैं जो कि संसार के अन्य सन्यासियों से विलक्षण हैं। उनके स्त्री नहीं होती, वे स्त्री-प्रसंग को बिलकुल त्याग देते हैं और अपने पास द्रव्य नहीं रखते और खजूर के वृक्षों के निकट रहते हैं। उनके निकट नित्य नई नई भीड़ एकत्रित होती है, बहुत से मनुष्य, जीवन की थकावट और अपने जीवन में दुर्भाग्यों के कारण उनका आश्रय लेते हैं। इस प्रकार हज़ारों वर्ष तक जिसका कि उल्लेख करना अविश्वास्य है, उनका समाज जिसमें कि कोई जन्म नहीं लेता, स्थिर रहा है। " यह एक बड़ा अच्छा प्रमाण है। यह प्रमाण एक पक्षपातरहित शिक्षित रोमनिवासी का है जिसने कि ईसा मसीह के समय में पेलेस्टाइन में पूर्वी विचारों और रीतियों की जो उन्नति हुई थी उसका वर्णन किया है। हमें उपरोक्त वाक्यों से यह विदित होता है कि अशोक के समय के उपरान्त तीन शताब्दियों में बौद्ध उपदेशकों ने पेलेस्टाइन में क्या फल प्राप्त किया। उन्होंने वहां भारतवर्ष के बौद्धों की भांति एक सम्प्रदाय स्थापित कर ली थी और वह सम्प्रदाय उन्हीं अभ्यासों को करती थी उन्हीं ध्यानों में अपने को लगाती थी और उसी संयम के साथ अविवाहित रह कर जीवन व्यतीत करती थी जैसा कि भारतवर्ष के बौद्ध लोग करते थे। गौतम की आज्ञाओं का प्रभाव उन पर जाता नहीं रहा था। वे उनका सत्कार करते थे और उनके अनुसार चलते थे और धार्मिक तथा विचारवान यहूदियों में उनका प्रचार करते थे।

अब हम इस विषय को यहां समाप्त करेंगे। हम दिखला चुके हैं कि सीरिया में ईसा के पहिले तीसरी शताब्दी में बौद्ध धर्म्म का

उपदेश किया गया था। हम दिखला चुके हैं कि ईसा मसीह के जन्म के समय बौद्ध धर्म्म पेलेस्टाइन में ग्रहण किया जा चुका था और बौद्ध लोग वहां भिन्न भिन्न नामों से रहते थे और गौतम के सिद्धान्तों और उसकी आज्ञाओं का उपदेश करते थे। हम दिखला चुके हैं कि ईसा मसीह ने इन बौद्धों की रीतियों और शिक्षाओं को जान के द्वारा और सम्भवत: अन्य मार्गों से भी सीखा। और अन्त में हम ईसा मसीह की आज्ञाओं और बौद्ध आज्ञाओं की विचार और भाषा की अद्भुत समानता, ईसाई और बौद्धों के संसार त्याग करने, उनके रीतियों कथाओं और रूपों की अद्भुत समानता भी दिखा चुके हैं। क्या यह समानता आकस्मिक है? इस विषय में पाठकों को स्वयं अपनी सम्मति स्थिर करनी चाहिए।

कुछ ग्रन्थकार लोग तो यहां तक कहते हैं कि प्राचीन ईसाई धर्म्म एसिनीज लोगों का धर्म्म अर्थात् पेलेस्टाइन का बौद्ध धर्म्म था। हम इस बात से सहमत नहीं हैं। सिद्धान्तों के विषय में ईसाई धर्म्म बौद्ध धर्म्म का अनुगृहीत नहीं है। ईसा मसीह ने यहूदियों के जातीय अद्वैतवाद धर्म्म को उसी भांति ग्रहण किया था जैसा कि गौतम ने हिन्दुओं के पुनर्जन्म और मुक्ति के सिद्धान्तों को। परन्तु ईसाई धर्म्म नीति और सदाचार के विचार से बौद्ध धर्म्म का उस रूप में अनुगृहीत है जिस रूप में कि वह ईसा मसीह के जन्म के समय में पेलेस्टाइन में एसेनीज़ लोगों के द्वारा उपदेश किया जाता था।

———:O:———

अध्याय १६

जैन धर्म का इतिहास ।

बहुत समय तक लोगों का यह विश्वास था कि जैन धर्म्म गौतम बुद्ध के धर्म्म की एक शाखा है । ह्वेनत्सांग ने जो कि ईसा की सातवीं शताब्दी में भारतवर्ष में आया था इस धर्म्म को इसी दृष्टि से देखा है और हम लोगों को जैन धर्म्म के सिद्धान्तों की जो बातें अब तक विदित हुई हैं उनसे यह विचार ठीक जान पड़ता है ।

लेसन और वेबर साहब बड़े अच्छे प्रमाणों के साथ जैन धर्म्म की स्वतंत्र उत्पत्ति का विरोध करते थे और इन दोनों विद्वानों का मत था कि जैन लोग बौद्ध ही थे जिन्होंने अपना धर्म्म छोड़ कर उस धर्म्म की एक जुदी शाखा बना ली थी । जैनियों के धर्म्मग्रन्थ पांचवीं शताब्दी तक लिपिबद्ध नहीं किए गए थे और बार्थ साहब का यह सिद्धान्त बहुत सम्भव जान पड़ता था कि जैनियों की कथाओं और उनके धर्म्म की उत्पत्ति बौद्धों की कथाओं से हुई है । भारतवर्ष में जैनियों की शिल्पविद्या भी उत्तर काल के समय की है और जैसा कि हम किसी आगे के अध्याय में देखेंगे वह बौद्धों की इमारतों के पतन होने के कई शताब्दियों के उपरान्त प्रारम्भ की गई थी ।

परन्तु डाक्टर बुहलर और जेकोबी साहबों ने अभी कुछ बातों का पता लगाया है जिनसे कि वे इस बात को प्रमाणित करते हैं कि जैन धर्म्म की उत्पत्ति गौतम के धर्म्म की उत्पत्ति के साथ ही हुई और ये दोनों धर्म्म कई शताब्दियों तक बराबर प्रचलित रहे यह तक कि बौद्धों के धर्म्म का पतन हुआ परन्तु जैन धर्म्म अब तक भी भारतवर्ष के कुछ भागों में एक प्रचलित धर्म्म है । हम अपने पाठकों के सामने उन घटनाओं और कथाओं को उपस्थित करेंगे जिनके आधार पर यह सम्मति स्थिर की गई है ।

दोनों सम्प्रदाय के जैन अर्थात् श्वेताम्बर (सफेद कपड़ेवाले) और दिगम्बर (जो नंगे रहते हैं) कहते हैं कि इस धर्म्म का संस्थापक महावीर कुण्डग्राम के राजा सिद्धार्थ का पुत्र था और वह ज्ञात्रिक क्षत्रियों के वंश का था। हम जानते हैं कि गौतम बुद्ध जब भ्रमण करता हुआ कोटिग्राम में आया तो वहाँ अम्बपाली वेश्या और लिच्छवि लोगों ने उससे भेंट की। यह कोटिग्राम वही है जो कि जैनियों का कुण्डग्राम है और बौद्ध ग्रन्थों में जिन नातिकों का वर्णन है वे ही ज्ञात्रिक क्षत्रिय थे। इसके अतिरिक्त महावीर की माता तृस्ला वैशाली के राजा कटक की बहिन कही जाती है जिसकी पुत्री का विवाह मगध के प्रसिद्ध राजा बिम्बिसार से हुआ था।

महावीर, जोकि पहिले वर्द्धमान वा ज्ञात्रिपुत्र कहलाता था, अपने पिता की नाईं काश्यप था। २८ वर्ष की अवस्था में उसने पवित्र सम्प्रदाय को ग्रहण किया और बारह वर्ष तक आत्मकष्ट सह कर केवलिन् अथवा जिन, तीर्थंकर वा महावीर अर्थात् महात्मा और भविष्यतवक्ता हो गया। अपने जीवन के अन्तिम तीस वर्षों में उसने अपने सन्यासियों का सम्प्रदाय स्थापित किया। इस प्रकार वह गौतम बुद्ध का प्रतिस्पर्धी था और बौद्ध ग्रन्थों में उसका नाति पुत्र के नाम से वर्णन किया गया है और वह निगन्थों (निर्ग्रन्थों अर्थात् वस्त्ररहित लोगों) का मुखिया कहा गया है जो लोग कि वैशाली में अधिकता से थे। महावीर पापा में मरा।

जैन कथाओं में यह वर्णन है कि महावीर की मृत्यु के दो शताब्दी पीछे मगध में अकाल पड़ा। उस समय मगध में प्रसिद्ध चन्द्रगुप्त का राज्य था। भद्रवाहु अपने कुछ जैन साथियों को लेकर अकाल के कारण मगध छोड़ कर कर्नाटक को गया। उसकी अनुपस्थिति में मगध के जैनियों ने अपने धर्म्म ग्रन्थों का निर्णय किया जिसमें कि ग्यारह अंग और चौदह पब्ब हैं और इन चौदह पब्बों को कभी कभी बारहवां अंग भी कहते हैं। अकाल दूर होने पर जो जैनी लोग चले गए थे वे मगध में फिर आए परन्तु इतने समय में जो लोग मगध में रहे थे और जो कर्नाटक को चले गए थे उनके चाल व्यवहार में भेद हो गया था। मगध के लोग श्वेत वस्त्र

पहिनने लगे थे परन्तु कर्नाटकवाले अब तक भी नंगे रहने की प्राचीन रीति को पकड़े हुए थे। इस प्रकार से दोनों श्वेताम्बर और दिगम्बर कहलाने लगे। श्वेताम्बरों ने जो धर्मग्रन्थ निश्चित किए थे उन्हें दिगम्बरों ने स्वीकार नहीं किया और इस कारण दिगम्बरों में कोई अंग नहीं माने जाते। कहा जाता है कि ये दोनों सम्प्रदाय अन्तिम बार सन् ७६ वा ८२ ईस्वी में जुदे हुए।

कुछ समय में श्वेताम्बरों के धर्मग्रन्थ गड़बड़ हो गए और उनके नाश हो जाने का भय हुआ। अतएव उनको लिपिबद्ध करना आवश्यक हुआ और यह बल्लभी (गुजरात में) की सभा में सन् ४५४ वा ४६७ में किया गया। इस सभा ने जैन नियमों का उस रूप में संग्रह किया जिसमें कि हम आज तक उन्हें पाते हैं।

इन घटनाओं और कथाओं के अतिरिक्त मथुरा में जैन मूर्त्तियों के पद पर खुदे हुए लेख पाए गए हैं जिनसे डाक्टर बुहलर (जिसने कि पहिले पहिल इस प्रमाण को मालूम किया है) के मत के अनुसार यह प्रगट होता है कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय ईसा की पहिली शताब्दी में वर्तमान थी । इन शिलालेखों में काश्मीर के राजा कनिष्क का संवत् अर्थात् शक संवत् दिया है जो कि सन् ७८ ईस्वी में प्रारम्भ हुआ था । इनमें से एक शिलालेख में जो कि नौ शक संवत् (अर्थात् ८७ ईस्वी) का है लिखा है कि उस मूर्त्ति को एक जैन उपासक विकटा ने बनवाया था।

यही उन प्रमाणों का सारांश है कि जिनसे यह फल निकाला जाता है कि जैन धर्म बौद्ध धर्म का समकालीन है और वह उसकी शाखा नहीं है। बौद्ध ग्रन्थों में " नातपुत्र " और " निग्रन्थों " का उल्लेख होने से यह विचारना यथोचित है कि नंगे जैनियों के सम्प्रदाय की उत्पत्ति भी उसी समय के लगभग हुई थी । वास्तव में हम कई बार लिख चुके हैं कि गौतम बुद्ध जिस समय शिक्षा देता था और अपने भिक्षुकों के सम्प्रदाय को पथ दिखलाता था उस समय भारतवर्ष में सन्यासियों के कई सम्प्रदाय थे । जिस बात का मानना बहुत कठिन है वह यह है कि जैन धर्म, के जैसा कि हम उसे इस समय पाते हैं, ईसा के पहिले छठीं शताब्दी में निग्रन्थ लोग

माननेवाले थे। यह कथा कि जैनियों का नियम चन्द्रगुप्त के समय में मगध की सभा में निश्चित किया गया, सम्भवतः कल्पित है और यदि यह कथा सत्य भी होती तो ईसा के पहिले तीसरी शताब्दी में जो नियम निश्चित किए गए थे उनमें ईसा के उपरान्त पाँचवीं शताब्दी के लिखे हुए नियमों में बड़ा भेद होता। क्योंकि इसमें बहुत कम संदेह हो सकता है कि प्राचीन निर्ग्रन्थ लोगों के धर्म में बहुत पहिले से परिवर्तन हुआ है और वह पूर्णतया बदल गया है, और इस सम्प्रदाय के अधिक शिक्षित लोगों ने जिन्होंने कि श्वेत वस्त्र ग्रहण किया, बराबर अपनी कहावतों और आज्ञाओं को, अपने नियमों और रीतियों को, अपनी कथा और वार्ताओं को बौद्ध धर्म से ग्रहण किया जो कि ईसा के पहिले तीसरी शताब्दी में भारतवर्ष का प्रचलित धर्म था। इस प्रकार जैन लोग कई शताब्दिओं तक बौद्ध धर्म को अधिकतर ग्रहण करते गए यहां तक कि उन्होंने बौद्ध धर्म के सारांश को अपने ही धर्म की भांति ग्रहण कर लिया और नंगे निर्ग्रन्थों के प्राचीन धर्म का बहुत कम अंश बाकी रह गया था। उसी समय अर्थात् ईसा की पाँचवीं शताब्दी में उनके धर्म ग्रन्थ लिपिबद्ध किए गए हैं और इस कारण यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि वे उन बौद्ध ग्रन्थों की नकल जान पड़ते हैं जो कि ६ शताब्दी पहिले लिखे जा चुके थे। तब यह मान कर कि निर्ग्रन्थों की स्वतंत्र उत्पत्ति ईसा से छठीं शताब्दी में हुई हम ह्वेनत्सांग को बहुत गलत नहीं समझ सकते कि उसने जैन धर्म्म को सातवीं शताब्दी में जैसा उसने देखा (और जिस दृष्टि से कि आज हम उसे देखते हैं) बौद्ध धर्म्म की शाखा समझा हो।

बौद्धों और निर्ग्रन्थों के साथ साथ सन्यासियों के जो अन्य सम्प्रदाय ईसा के पहिले छठीं शताब्दी में थे उनमें अपने समय में सब से प्रसिद्ध गोशाल के स्थापित किए हुए आजीवक लोग थे। अशोक ने ब्राह्मणों और निर्ग्रन्थों के साथ साथ उनका भी उल्लेख अपने शिलालेखों में किया है। अतएव गोशाल बुद्ध और महावीर का प्रतिस्पर्धी था परंतु उसके सम्प्रदाय का अब लोप हो गया है।

ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है उससे यह विदित होता है कि जैनियों के धर्म्म में बौद्धों से बहुत कम अन्तर है। बौद्धों की भाँति जैनियों का भी सन्यासियों का सम्प्रदाय है और वे जीवहिंसा नहीं करते और संसार को त्यागने की प्रसंशा करते हैं। कुछ बातों में वे बौद्धों से भी बढ़ गए हैं और उनका मत है कि केवल पशु और वृक्षों में ही नहीं वरन् तत्वों अर्थात् अग्नि, वायु, पृथ्वी और जल के छोटे छोटे परमाणुओं में भी जीव हैं। अन्य बातों में जैन लोग बौद्धों की नाईं वेद को नहीं मानते, वे कर्म्म और निर्वाण के सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं और आत्मा के पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं। वे पच्चीस तीर्थंकरों में भी विश्वास करते हैं जैसे कि प्राचीन बौद्ध लोग यह विश्वास करते थे कि गौतम बुद्ध के पहिले २४ अन्य बुद्ध हो गए हैं।

जैनियों के पवित्र ग्रन्थों अर्थात् आगमों के सात भाग हैं जिनमें अंग सब से प्रधान भाग है। अंग सात हैं जिनमें आचारांगसूत्र का जिसमें जैन सन्यासियों के आचरण के नियम दिए हैं, अनुवाद डाक्टर जेकोबी साहब ने किया है और उपासक दशा का, जिसमें जैन उपासकों के आचरण के नियम हैं, अनुवाद डाक्टर हार्नेली साहब ने किया है।

अब हम अपने पाठकों के सम्मुख आचारांगसूत्र से महावीर के जीवनचरित्र के कुछ अंश उद्धृत करेंगे। इस ग्रन्थ के विद्वान अनुवादक हर्मन जेकोबी साहब ने इस ग्रन्थ का समय ईसा के पहिले तीसरी वा चौथी शताब्दी में निश्चय किया है परन्तु ग्रन्थ की आडम्बरयुक्त तथा बनावटी भाषा से बहुत से पाठक लोग उसे ईसा के कई शताब्दियों के उपरान्त का विचार करेंगे। समस्त ग्रन्थ गौतम के जीवनचरित्र के सीधे शुद्ध वर्णन के बहुत दूरस्थ और बहुत बिगड़े हुए अनरूप की नाईं है।

"अब क्षत्रियानी त्रिसला ने इन चौदहों श्रेष्ठ स्वप्नों को देखा तो वह जाग कर प्रसन्न, हर्षित और आनन्दित...हुई, अपने पलङ्ग से उठी और चौकी से उतरी। न तो शीघ्रता में और न कांपती हुई, राजहंसिनी की नाईं शीघ्र और समान चाल से वह क्षत्रिय सिद्धार्थ के

पलङ्ग के पास गई। वहां उसने क्षत्रिय सिद्धार्थ को जगाया और उससे नम्र, मनोहर, प्रीतियुक्त, मृदु, प्रतापशाली, सुन्दर, शुभ, कल्याणमय, मङ्गलदायक, सुखी, हृदयग्राही, हृदय को सुख देनेवाले, सुने हुए, मीठे और कोमल शब्दों में कहा......हे स्वप्नों के देवताओं के प्रियपात्र, मैं अभी अपने पलङ्ग पर थी...और चौदह स्वप्नों को, अर्थात् एक हाथी इत्यादि को देख कर जाग उठी। हे स्वामी इन चौदहों श्रेष्ठ स्वप्नों का क्या आनन्दमय फल निश्चय कर के होगा? ...उसने अपनी स्वाभाविक बुद्धि और अन्तर्ज्ञान से विचार के साथ इन स्वप्नों का अर्थ समझ लिया और क्षत्रियानी त्रिसला से नम्र, मनोहर, इत्यादि शब्दों में यों कहा 'हे देवताओं की प्रियपात्र तुमने कीर्तिमान स्वप्न देखे हैं...तुम्हें एक मनोहर सुन्दर बालक उत्पन्न होगा जो कि हमारे वंश की पताका, हमारे वंश का दीपक, हमारे वंश का सिरमौर, हमारे वंश का आभूषण, हमारे वंश को प्रतापी बनानेवाला, हमारे वंश का सूर्य्य, हमारे वंश का सहारा, हमारे वंश को आनन्द और यश देनेवाला, हमारे वंश का वृक्ष, हमारे वंश को उच्च बनानेवाला होगा...... '।

"बहुत से सर्दारों, राज्याधिकारियों, राजाओं, राजकुमारों, वीरों, घर के मुखियों, मंत्रियों, प्रधान मंत्रियों, ज्योतिषियों, नौकरों, नृत्यकों, नगरवासियों, व्यापारियों, सौदागरों के नायकों, सेनापतियों, यात्रियों के नायकों, और सीमा रक्षकों के बीच में वह मनुष्यों के सर्दार और स्वामी की नाईं, मनुष्यों के बीच सांड़ और सिंह की नाईं श्रेष्ठ प्रताप और यश से चमकता हुआ देखने में प्रिय, उस चन्द्रमा की नाईं जो कि नक्षत्रों और चमकते हुए तारों के बीच श्वेत बादलों में से निकलता है, उसने स्नान के गृह में से सभा-भवन में प्रवेश किया और पूरब की ओर मुंह कर के अपने सिंहासन पर बैठा...' हे देवताओं के प्रिय उन स्वप्नों का फल बतलानेवालों को शीघ्र बतलाओ जो कि लक्षणों के फल की विद्या में उसकी आठों शाखाओं के सहित भली भांति निपुण हैं और उसके अतिरिक्त बहुत से अन्य शास्त्रों में निपुण हैं। जब कि स्वप्नों का फल बतलानेवालों ने क्षत्रिय सिद्धार्थ का यह समाचार सुना तो उन्होंने प्रसन्न हर्षित और आनन्दित इत्यादि हो कर स्वप्नों को अपने मन

में स्थिर किया। वे उन पर विचार करने और परस्पर बात करने लगे......

" जिस रात्रि को पूज्य महावीर ने जन्म लिया उसमें देवताओं और देवियों के नीचे उतरने और ऊपर चढ़ने के कारण बड़ा दैवी प्रकाश हुआ और सृष्टि में प्रकाश से चमकते हुए देवताओं के समूह से बड़ा हलचल और शब्द हुआ......पूज्य महावीर ने गृहस्थ आश्रम ग्रहण करने के पहिले (अर्थात् अपने विवाह के पहिले प्रधान अपरिमित और अकुंठित ज्ञान और अन्तर्ज्ञान प्राप्त कर लिया था। पूज्य महावीर ने अपने इस प्रधान अपरिमित ज्ञान और अन्तर्ज्ञान के द्वारा देखा कि उसके त्याग का समय निकट आ गया था। उसने अपनी चाँदी, अपना स्वर्ण, अपना धन, धान्य, पदवी, राज्य, सेना, अन्न, कोश, भण्डार, नगर, स्त्रीगृह, को त्याग दिया, उसने अपनी यथार्थ अमूल्य संपत्ति का यथा धन, स्वर्ण, रत्न, मणि, मोती, सङ्ख, पत्थर, मूंगे, लाल, इत्यादि का त्याग कर दिया, उसने योग्य मनुष्यों के द्वारा धन बँटवाया। उसने दरिद्र मनुष्यों में धन बँटवाया।......पूज्य महावीर ने एक वर्ष और एक महीने तक वस्त्र पहिने उसके उपरान्त वह नंगा फिरने लगा और अपनी अंजुली में भिक्षा लेने लगा। बारह वर्ष से अधिक समय तक पूज्य महावीर ने अपने शरीर की कोई सुध नहीं ली। वह धीरता के साथ सब दैविक, मानुषिक वा पशुओं के द्वारा की हुई सुघटनाओं और दुर्घटनाओं को सहन करता रहा......तेरहवें वर्ष, ग्रीष्म ऋतु के दूसरे मास में, चौथे पक्ष में, वैशाख के शुक्ल पक्ष में दसवें दिन जब कि छाया पूरब की ओर फिर गई थी और पहिला जागरण समाप्त हो गया था अर्थात् सुव्रत के दिन विजय मुहूर्त में ऋजु पालिका नदी के तट पर जिम्भिकग्राम के बाहर, एक पुराने मन्दिर के निकट, सामाग गृहस्थ के खेत में, एक साल वृक्ष के नीचे, जिस समय कि चन्द्रमा का उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र से संयोग था दोनों एड़ियों को मिला कर कुकुडू बैठे हुए धूप में ढाई दिन तक निर्जल व्रत रह कर बड़े ध्यान में मग्न रह कर उस सर्वोच्च ज्ञान और अंतर्ज्ञान अर्थात् कैवल्य को उसने प्राप्त किया जोकि अपरिमित, प्रधान, अकुंठित, पूरा और सम्पूर्ण है.........

"उस काल में, उस समय में पहिली वर्षा ऋतु में अष्टिक ग्राम में वह ठहरा, तीन बरसातों तक चम्पा और पृष्टिचम्पा में ठहरा, बारह बरसातों तक वैशाली और वनिज ग्राम में, चौदह बरसातों तक राजगृह में और नालंद के आस पास, ६ बरसातों तक मिथिला में दो बरसातों तक भद्रिका में ; एक अलभिका में, एक पणित भूमि में, एक श्रावस्ती में, एक पापा नगर में हस्तिपाल राजा के लेखकों के कार्य्यालय में और यही उसकी अन्तिम बरसात थी। उस वर्षाऋतु के चौथे मास में, सातवें पक्ष में, कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष की अमावास्या को इस पक्ष की अन्तिम रात्रि में, पापा नगर में हस्तिपाल राजा के लेखकों के कार्य्यालय में पूज्य महावीर की मृत्यु हुई, वह चला गया, उसने संसार को छोड़ दिया, जन्म वृद्धावस्था और मृत्यु के बंधनों को काट डाला, वह सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, (सब दुःखों का) नाश करनेवाला, सदा के लिये स्वतन्त्र, सब दुःखों से रहित हो गया।"

उपासकदशा में जैसा कि उसके नाम से विदित होता है जैन उपासकों के धर्म्मों का दस उपदेशों में उल्लेख है। पहिले उपदेश में उनके प्रतिज्ञाओं और आचारों का वर्णन है जिनके अनुसार उपासक को चलना चाहिए, इसके उपरान्त के चार उपदेशों में बाहरी क्लेशों से जो भिन्न भिन्न प्रकार की भावनाओं की उत्पत्ति होती है उनका वर्णन है, छठें उपदेश में भीतरी संदेह से और विशेष कर दूसरे गोशाल के आजीवकों की नाईं दूसरे धर्म्मों के विरोध से जिन भावनाओं की उत्पत्ति होती है उनका वर्णन है, सातवें उपदेश में जैन धर्म्म की श्रेष्ठता दिखलाई गई है, आठवें में इन्द्रियों के सुख की भावनाओं का वर्णन है, और नवें और दसें उपदेशों में सच्चे जैन उपासक के शान्तिमय जीवन के उदाहरण दिए हैं।

डाक्टर हार्नेली साहब ने जो इस ग्रन्थ का अनुवाद किया है उसमें से कुछ वाक्य उद्धृत करने में स्थानाभाव से हम असमर्थ हैं परन्तु हम उस अंश की कुछ बातों की आलोचना करेंगे जिसमें कि आनन्द की बात चीत का वर्णन है क्योंकि उसमें बहुत सी ऐसे सुख की वस्तुओं का उल्लेख है जिनमें कि प्राचीन समय के

हिन्दू गृहस्थ लोग संतोष के साथ लिप्त रहते थे और जो हम लोगों के लिये मनोरञ्जक होगी। आनन्द संन्यासी नहीं हुआ था परन्तु वह केवल जैन उपासक था अतएव उसने संन्यासियों के महाव्रतों की अपेक्षा केवल पाँच छोटे व्रतों को ग्रहण किया था।

आनन्द ने सब प्राणियों से कुव्यवहार असत्यभाषण और चोरी का त्याग किया था। उसने केवल एक पत्नी से यह कह कर संतोष किया था कि " केवल एक स्त्री अर्थात् अपनी पत्नी शिवनन्दा को छोड़ कर मैं सब प्रकार के स्त्री के संसर्ग का त्याग करता हूं।" उसने अपने धन की सीमा चार करोड़ स्वर्ण मुद्रा को एक रक्षित स्थान में रख कर, चार करोड़ सोने की मुद्रा को व्याज पर लगा कर और चार करोड़ स्वर्ण की मुद्रा की सम्पत्ति रख कर बांधी थी। इसी प्रकार उसने पशुओं के चार झुण्ड, जिसमें प्रत्येक झुण्ड में दस हजार पशु हैं, पांच सौ हल और प्रत्येक हल के लिये १०० निवर्तन भूमि, विदेशी व्यापार के लिये ५०० छकड़े और अपने देश के व्यापार के लिये ५०० छकड़े और अन्त में विदेशी व्यापार के लिये ४ नौकाएं और देश के व्यापार के लिये चार नौकाएं रखने की सीमा बाँधी है। उपरोक्त वृत्तान्त से हमें प्राचीन समय के हिन्दू धनाढ्य, जिमींदार, महाजन और व्यापारी अर्थात् सेठ का, जो कि भारतवर्ष में सदा से रहे हैं ठीक ज्ञान होता है। अब हम गृहस्थी की और विलास की वस्तुओं का वर्णन करेंगे, आनन्द ने अपने स्नान के लिये एक लाल रङ्ग का अँगौछा, दांत साफ करने के लिये एक प्रकार की हरी दतुवन, एक प्रकार का फल, आमलक का दूध के सदृश गूदा, लगाने के लिये दो प्रकार के तेल, एक प्रकार का सुगन्धित चूर्ण, धोने के लिये आठ घड़ा जल, एक प्रकार का वस्त्र अर्थात् रूई के कपड़ों का एक जोड़ा, मुसक्बर, केशर, चन्दन और इसी प्रकार की वस्तुओं की बनी हुई सुगन्धि, एक प्रकार का फूल अर्थात् सफेद कमल, दो प्रकार के आभूषण अर्थात् कान का आभूषण और उसके नाम की खुदी हुई अंगूठी और कुछ प्रकार के धूप से अपने को परिमित किया है।

भोजन के विषय में उसने चावल और दाल के रसेदार पदार्थ, घी में भूनें हुए और चीनी मिलाए हुए खाजे से अपने को परिमित किया

है। उसने भिन्न प्रकार के बोए हुए चावलों के भात, कलई, मूंग वा मांस की दाल, शरदऋतु में गाय के दूध की घी के कई प्रकार के रसदार पदार्थ, पालङ्क की बनी हुई एक प्रकार की मदिरा, सादी चटनियां, पीने के लिये वर्षा का जल और अन्त में पांच प्रकार के पान से अपने को परिमित किया है। हमारे बहुत से पाठक लोग यह विचार करेंगे कि हमारा मित्र आनन्द अपनी इतनी सम्पत्ति और इतने भारी व्यापार और काम की तथा भोग विलास की इतनी सामग्रियों के साथ कुछ बुरी दशा में नहीं था।

HINDI HISTORICAL SERIES NO. III.

मिस्टर रमेशचन्द्र दत्त का

प्राचीन भारतवर्ष की

सभ्यता का इतिहास

तीसरा भाग

जिसे

गोपाल दास ने

सरल हिन्दी में अनुवाद किया

और

इतिहास-प्रकाशक-समिति काशी ने
प्रकाशित किया ।

1908.
TARA PRINTING WORKS,
BENARES.

अध्यायों की सूची।

बौद्ध काल।

प्राचीन भारतवर्ष की

सभ्यता का इतिहास।

तीसरा भाग।

काण्ड ४

बौद्ध काल, ईसा से ३२० वर्ष पहिले से सन् ५०० ईस्वी तक।

अध्याय १

चंद्रगुप्त और अशोक।

यूनानी सिकन्दर की मृत्यु से प्राचीन संसार के इतिहास में एक नया काल आरम्भ होता है। भारतवर्ष में भी इस समय से एक नये काल का आरम्भ होता है। इस नये काल में एक बड़ी राजकीय घटना यह हुई कि चन्द्रगुप्त की बुद्धि से समस्त उत्तरी भारतवर्ष पहिले पहिल एक छत्र के नीचे लाया गया। इस काल की धर्म्मसम्बन्धी एक बड़ी घटना यह हुई कि गौतम बुद्ध के जिस धर्म्म का, अब तक केवल नम्र और नीचे की श्रेणी के लोगों में प्रचार हो रहा था, उसे चन्द्रगुप्त के पोते प्रसिद्ध अशोक ने ग्रहण किया और उसका भारतवर्ष में तथा भारतवर्ष के बाहर भी उपदेश और प्रचार किया।

स्वयं चन्द्रगुप्त के विषय में हम अन्यत्र लिख चुके हैं। उसका राज्य सारे उत्तरी भारतवर्ष में बिहार से लेकर पंजाब तक फैला हुआ था। उसने यूनानियों को पंजाब से निकाल दिया, सिन्ध नदी के उस पार का देश उन लोगों से छीन लिया और अन्त में पश्चिमी

एशिया में सिकन्दर के उत्तराधिकारी सिल्यूकस के साथ मिलाप कर लिया। चन्द्रगुप्त ने जिन देशों को जीता था उन्हें सिल्यूकस ने उसके पास रहने दिया और इस बड़े हिन्दू सम्राट के साथ अपनी पुत्री का विवाह भी कर दिया।

हम यह भी देख चुके हैं कि चन्द्रगुप्त के पास छः लाख पैदल और तीस हजार घुड़सवारों की सेना थी और उसके कर्म्मचारी लोग नगर और गाँव के प्रन्बध को भली भांति करते थे। वाणिज्य, व्यापार, और खेती की रक्षा की जाती थी, सिंचाई का उत्तम प्रबन्ध किया जाता था और जंगल रक्षित रक्खे जाते थे। एक यूनानी राजदूत ने जो कि चन्द्रगुप्त के दर्बार में रहा था, आश्चर्य और प्रशंसा के साथ लिखा है कि देश के अधिक भाग में सिंचाई का प्रबन्ध होने के कारण इस देश में अकाल पड़ता ही नहीं था और बोई हुई भूमि के पास ही युद्ध और लड़ाइयां होती थीं परन्तु युद्ध करने वालों में से कोई भी किसान वा उसकी खेती को कोई हानि नहीं पहुंचाता था। चन्द्रगुप्त के हिन्दू राज्य का बल और विस्तार, उसके राज्य में जान और माल की रक्षा, और उस प्राचीन समय में खेती और सिंचाई के प्रबन्ध की उत्तम दशाओं का वर्णन ऐसा है जिसे आज कल का प्रत्येक हिन्दू उचित अभिमान के साथ स्मरण करेगा।

ईसा के लगभग २९० वर्ष पहिले चन्द्रगुप्त का पुत्र बिंदुसार उसका उत्तराधिकारी हुआ और ईसा के २६० वर्ष पहिले बिन्दुसार का उतराधिकारी प्रसिद्ध अशोक हुआ।

आर्यों के भारतवर्ष में आकर बसने के समय से अब तक ऐसा प्रतापी कोई राजा नहीं हुआ था और इसके उपरान्त भी उससे बढ़कर प्रतापी कोई नहीं हुआ। परन्तु अशोक अपने राज्य और अपने अधिकार के विस्तार के कारण इतना विख्यात नहीं है जितना कि अपने उदार और सहज स्वभाव के कारण, जो कि उसके राज्य प्रबन्ध तथा विदेशियों के साथ उसके व्यवहार में पाया जाता है, और सत्य में बड़ा प्रेम होने तथा सत्य के प्रचार की अभिलाषा के कारण, जिसने कि साइबेरिया से लेकर लङ्का तक इस का नाम घर घर में प्रसिद्ध कर दिया है। भारतवर्ष के किसी

सम्राट का, यहाँ तक कि विक्रमादित्य का भी, नाम ऐसा विख्यात नहीं है और किसी सम्राट ने सचाई और पुण्य में उत्साह के कारण संसार के इतिहास पर ऐसा प्रभाव नहीं डाला है।

कहा जाता है कि अपने पिता के राज्य काल में अशोक उज्जैनी के राजप्रतिनिधि के पास भेजा गया था। यदि हम "अशोक अवदान" के ग्रन्थकार को ठीक समझें तो अशोक एक ब्राह्मणी रानी सुभद्राङ्गी से उत्पन्न हुआ था। यही ग्रन्थकार लिखता है कि अशोक अपनी युवावस्था में बड़ा उपद्रवी था और इस कारण वह पश्चिमी सीमा प्रदेश में एक बलवे को शान्त करने के लिये भेजा गया था जो कि तक्षशीला में हुआ था और जिसको कि उसने बड़ी सफलता के साथ शान्त किया। बिन्दुसार की मृत्यु पर अशोक राज गद्दी पर बैठा और उसके गद्दी पर बैठने का समय ईसा के लगभग २६० वर्ष पहिले माना जाता है।

उत्तरी और दक्षिणी बौद्धों के ग्रन्थों में अशोक के राज्य के विषय में बहुत कम प्रामाणिक बातें हैं। लंका की पुस्तकों में लिखा है कि अशोक ने राजगद्दी पाने के पहिले अपने ९९ भाइयों को (तारानाथ के अनुसार उसके केवल छः भाई थे) मार डाला और अशोक अवदान में लिखा है कि बौद्ध होने के पहिले वह अपने कर्म्मचारियों और उनकी स्त्रियों को मार डालता था और बहुतेरे निरपराधियों के साथ बड़ी निर्दयता करता था। ये कथाएं बिलकुल निर्म्मूल हैं और वे केवल बौद्ध धर्म्म के महत्व को बढ़ाने के लिये गढ़ी गई हैं कि बौद्ध होने के पहिले अशोक का आचरण ऐसा कलंकित था।

हम लोगों के लिये हर्ष का विषय है कि इस बड़े सम्राट की सूचनाएं हमें अब तक प्राप्त हैं और वे उत्तर काल के कवियों और इतिहास लेखकों की नाईं कपोलकल्पित कथाएं नहीं हैं, वरन् वे चट्टानों गुफाओं और स्तूपों पर उसीकी आज्ञा से उसी के समय में उस समय की भाषा और अक्षरों में खुदी हुई हैं। इन शिलालेखों से जो ऐतिहासिक बातें विदित होती हैं उन्हें फ्रान्स के प्रसिद्ध विद्वान सेनार्ट ने बड़ी विद्वत्ता और बुद्धिमानी से संग्रहीत किया

है और हम उनके "ले इन्सकृप्शन डी पियदसी" नामक ग्रन्थ से कुछ बातों की आलोचना करेंगे।

चट्टानों पर की १४ सूचनाएं अशोक के राज्याभिषेक के १३ वें और १४ वें वर्ष की खुदी हुई जान पड़ती हैं और स्तूपों पर की आठ सूचनाएं २७ वें और २८ वें वर्षों की खुदी हुई हैं। स्तूपों की अन्तिम सूचना इस बड़े सम्राट के विचारों और इच्छाओं का अन्तिम लेख है जो कि अब हमलोगों को प्राप्त है। गुफाओं की सूचना समय के क्रम से चट्टानों और स्तूपों के बीच की हैं।

दीपवंश और महावंश में लिखा है कि अशोक ने अपने राज्याभिषेक के चौथे वर्ष में बौद्धधर्म्म ग्रहण किया। परन्तु सेनार्ट साहब स्वयं इन शिलालेखों से सिद्ध करते हैं कि उसने इस धर्म्म को अपने राज्याभिषेक के नौवें वर्ष में और कलिङ्ग विजय करने के उपरान्त ही ग्रहण किया था। यह कलिङ्ग के युद्ध की निर्दयता और मार काट ही थी जिसने इस दयालु और परोपकारी सम्राट के हृदय पर एक बड़ा प्रभाव डाला और उसे गौतम का दयालु और कोमल धर्म्म ग्रहण करने के लिये उत्साहित किया। इसके दो वर्षों के उपरान्त अर्थात् अपने राज्याभिषेक के ग्यारहवें वर्ष में अशोक पुनः दूसरी बार बौद्ध बनाया गया अर्थात् उसने पहिले की अपेक्षा अधिक उत्साह के साथ इस धर्म्म के प्रचार की प्रतिज्ञा की। और तेरहवें वर्ष से उसने अपने विस्तृत राज्य के सब भागों में अपनी सूचनाएं खुदवाई।

इन शिलालेखों से हमें विदित होता है कि उनके खोदने के समय अशोक के भाई और बहिन जीवित थे और इस कारण यह कथा झूठ समझी जानी चाहिए कि अशोक ने राजगद्दी पाने के लिये अपने भाइयों को मार डाला। इस सम्राट की कई रानियाँ थीं और एक शिलालेख में उसकी दूसरी रानी (द्वितीया देवी) की उदारता का उल्लेख है। इस राज्य की राजधानी पाटलीपुत्र थी परन्तु उज्जयिनी, तक्षशिला, तोसली और समापा का भी अधीनस्थ नगरों की नाईं उल्लेख पाया जाता है। सारा उत्तरी भारतवर्ष इस सम्राट के राज्य में था।

उत्तरी भारतवर्ष की सीमा के बाहर की चौदह जातियाँ (आपरान्त) भी उसके अधीन थीं। इनमें (बेक्ट्रिया के) यवन लोग, (काबुल के) कम्बोज लोग, (कन्धार के) गांधार लोग, राष्ट्रिक लोग (सौराष्ट्र और महाराष्ट्र लोग) और पेटेनिक लोग (अर्थात् दक्षिण के पैथन या प्रतिष्ठान लोग), (दक्षिण के) अन्ध्र लोग, (दक्षिण के) पुलिन्द लोग, (मालव के) भोज लोग, और नामक और नाभपन्ति लोगों का उल्लेख है। इस प्रकार दक्षिण भारतवर्ष में कृष्णा नदी तक और पश्चिम में काबुल, कन्धार और बेक्ट्रिया तक का देश इस बड़े सम्राट के अधीन था।

आस पास की अन्य स्वतंत्र जातियों का भी "प्रात्यन्त" के नाम से उल्लेख किया गया है। इनमें चोल, पांड्य और केरालपुत जाति (जो सब कृष्णा नदी के दक्षिण में थी) तथा पांचो यूनानी राज्य भी सम्मिलित हैं।

अशोक के राज्यप्रबन्ध का वृत्तान्त शिलालेखों से बहुत कम विदित होता है। हमको पुरुषों अर्थात् राजा के कर्म्मचारियों महामात्रों अर्थात् आज्ञापालन करनेवाले कर्मचारियों, धर्म्ममहामात्रों अर्थात् उन कर्मचारियों का जो विशेषत: धर्म का प्रचार और धर्माचरण का पालन किए जाने के लिये नियत थे, प्रादेशिकों अर्थात् प्रदेशों के पैत्रिक सर्दारों और आधुनिक राव, रावलों और ठाकुरों के पुरखाओं का जो कि भारतवर्ष में सैनिक राज्यप्रणाली के कारण सदा बहुतायत से रहे हैं, उल्लेख मिलता है। इनके अतिरिक्त अन्तमहामात्रों अर्थात् सीमा प्रदेश के कर्मचारियों, प्रातिवेदकों अर्थात् भेदियों, और रज्जुकों अर्थात् उन लोगों का जो धर्मयुतों को धर्म की शिक्षा देने के लिये नियत थे, उल्लेख भी मिलता है।

अनुसम्यान एक धार्मिक सभा थी जिसमें कि सब धर्मयुत लोग बुलाए जाते थे और उनमें रज्जुक लोग शिक्षा देने का अपना विशेष कार्य करते थे। हमलोग जानते हैं कि इस प्रकार का बौद्धों का समागम सर्वत्र के लिये प्रत्येक पांचवें वर्ष होता था परन्तु यह सर्वमान्य नियम नहीं था। यह अनुसम्यान स्वयं सम्राट के राज्य में पांचवें

वर्ष होता था। परन्तु उज्जयिनी और तक्षशीला में वह तीसरे वर्ष होता था।

सहसराम के शिलालेख में यह लिखा है कि बौद्ध होने पर अशोक ने (निस्सन्देह ब्राह्मणों का बौद्ध सन्यासियों के समान सम्मान करने के कारण) ब्राह्मणों के देव तुल्य सम्मान को छीन लिया। उसके इस उचित कार्य की झूठ मूठ कथाएं गढ़ डाली गई हैं कि वह ब्राह्मणों का बध करता था, परन्तु यह धार्मिक सम्राट इस पाप से पूर्णतया रहित है। इसी शिलालेख तथा रूपनाथ के शिलालेख में भी यह उल्लेख है कि अशोक ने उस समय के जाने हुए सब देशों में धर्मोपदेशकों (विबुधों) को भेजा। भब्र के शिलालेख में अशोक ने बौद्धों की तीनों बातों अर्थात् बुद्ध, धर्म्म और सङ्घ में अपना विश्वास प्रगट किया है।

अब हम स्वयं शिलालेखों का वर्णन करते हैं और हम पहिले चट्टानों पर की सूचनाओं से प्रारम्भ करेंगे।

भारतवर्ष के पांच भिन्न भिन्न भागों में पांच चट्टानों पर अशोक की एक ही आज्ञावली के पांच पाठ खुदे हुए हैं। उनमें से एक कपुरद गिरि के निकट है जो कि सिन्ध के तट पर अटक से लगभग २५ मील उत्तर-पश्चिम है, दूसरा खालसी के निकट जमुना के तट पर ठीक उस स्थान पर है जहां कि यह नदी हिमालय पर्वत की ऊँची श्रेणी को छोड़ती है, तीसरा गुजरात में गिरनार पर है जो कि प्रसिद्ध सोमनाथ से लगभग ४० मील उत्तर है, चौथा उड़ीसा में धौली पर है जो कटक से २० मील दक्षिण है और पाँचवाँ चिल्क झील के निकट जौगढ़ पर है जो आधुनिक गंजम नगर से १८ मील उत्तर-पश्चिम की ओर है।

ये चौदहों सूचनाएं भारतवर्ष के इतिहास के प्रत्येक जानने वाले के लिये इतनी उपयोगी हैं कि हम यहां पर उनका पूरा अनुवाद देना आवश्यक समझते हैं। पहिले पहिल उनका अनुवाद जेम्स प्रिन्सेप साहब ने किया था और इनके उपरान्त विलसन, बर्नफ, लेसन, कर्न और सेनार्ट साहबों ने इस अनुवाद को संशोधित किया है। सेनार्ट साहब का अनुवाद सबसे नवीन है

और उन्हीं के आधार पर हम निम्न लिखित अनुवाद देते हैं। यह लिखना कदाचित आवश्यक नहीं है कि इन सूचनाओं में अशोक अपने को पियदसी कहता है—

सूचना १।

यह सूचना देवताओं के प्यारे राजा पियदसी की आज्ञा से खुदवाई गई है। यहां इस पृथ्वी पर कोई किसी जीवधारी जन्तु का बलिदान अथवा भोजन के लिये न मारे। राजा पियदसी ऐसे भोजन में बहुत से पाप देखता है। पहिले ऐसे भोजन की आज्ञा थी और देवताओं के प्रिय राजा पियदसी के रसोई घर में तथा देवताओं के प्रिय राजा पियदसी के भोजन के लिये प्रतिदिन हजारों जीव मारे जाते थे। जिस समय यह सूचना खोदी जा रही है उस समय उसके भोजन के लिये केवल तीन जीव अर्थात् दो पक्षी और एक हरिन मारे जाते हैं और उन में से हरिन नित्य नहीं मारा जाता। भविष्यत में ये तीनों जीव भी नहीं मारे जांयगे।

सूचना २।

देवताओं के प्रिय राजा पियदसी के राज्य में सर्वत्र और सीमा प्रदेश में रहने वाली जातियों यथा चोल, पंड्य, सत्यपुत्र और केरलपुत्र के राज्यों में तम्बपर्णी तक, यूनानियों के राजा एण्टिओकस और उसके आसपास के राजाओं के राज्य में सर्वत्र देवताओं के प्रिय राजा पियदसी ने दो प्रकार की औषधियों के दिये जाने का प्रबन्ध किया है अर्थात् मनुष्यों के लिये औषधि और पशुओं के लिये औषधि। जहां कहीं मनुष्यों और पशुओं के लिये लाभदायक पौधे नहीं होते वहां वे ले जाकर लगाए गए हैं और सर्वसाधारण के मार्गों में मनुष्यों और पशुओं के लिये कुएं खोदवाए गए हैं।

सूचना ३।

देवताओं के प्रिय राजा पियदसी ने इस भांति कहा। अपने राज्याभिषेक के बारहवें वर्ष में मैंने इस प्रकार आज्ञाएं दीं। मेरे राज्य में सर्वत्र धर्मयुत, राजुक और नगरों के राज्याधिकारि

पाँच वर्ष में एक बार एक सभा (अनुसम्यान) में एकत्रित हों और अपने कर्तव्य के अनुसार इस प्रकार धर्म्म की शिक्षाएं दें "अपने पिता, माता, मित्रों, संगियों और सम्बन्धियों की धर्मयुत सेवा करना अच्छा और उचित है, ब्राह्मणों और श्रामनों को भिक्षा देना, प्राणियों के जीवन का सत्कार करना और अपव्यय तथा कटु बचन से बचना अच्छा और उचित है।' तब राजुक धर्म्मयुतों को मन और वाक्य से विस्तार पूर्वक शिक्षा देगा।

सूचना ४ ।

प्राचीन समय में कई सौ वर्षों तक जीवों का बध, पशुओं पर निर्दयता, सम्बन्धियों के सत्कार का अभाव और ब्राह्मणों और श्रामनों के सत्कार का अभाव चला आया है परन्तु आज राजा पियदसी ने जो कि देवताओं का प्रिय और धर्म काज में बड़ा भक्त है ढिंढोरा पिटवा कर और नाव लगाकर हाथी मशाल और स्वर्गीय वस्तुओं को अपनी प्रजा को देखला कर धर्म को प्रगट किया।

देवताओं के प्रिय राजा पियदसी को इन धर्म्म शिक्षाओं के प्रचार के लिये धन्यवाद है कि आज जीवधारी पशुओं का सत्कार, उनके लिये दया, सम्बन्धियों ब्राह्मणों और श्रामनों के लिये सत्कार, माता पिता की आज्ञा का भक्ति के साथ पालन और वृद्धों का आदर होता है जैसा कि कई शताब्दियों तक नहीं रहा। अन्य विषयों की नाईं इस विषय में भी धर्म्म का विचार किया गया है और देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इसको बराबर प्रचलित रक्खेगा। देवताओं के प्रिय राजा पियदसी के पुत्र, पौत्र और परपौत्र इस धर्म्म के प्रचार को सृष्टि के अन्त तक रक्षित रक्खेंगे। धर्म्म और भलाई में दृढ़ रह कर वे लोग धर्म्म की शिक्षा देंगे। क्योंकि धर्म्म की शिक्षा देना सब कार्य्यों से उत्कृष्ट है और भलाई के बिना कोई धर्म्म का कार्य्य नहीं होता। धार्मिक प्रेम का दृढ़ होना और उसकी वृद्धि होना वांछनीय है। इस उद्देश्य से यह शिलालेख खुदवाया गया है कि वे लोग अपने को इस सर्वोच्च भलाई के कार्य में लगावें और उसकी अवनति

न होने दें। देवताओं के प्रिय राजा पियदसी ने इसको अपने राजगद्दी पर बैठने के बारह वर्ष पीछे खुदवाया है।

सूचना ५

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस भांति बोला। पुण्य करना कठिन है और जो लोग पुण्य करते हैं वे कठिन कार्य्य करते हैं। मैंने स्वयं बहुत से पुण्य के कार्य्य किये हैं। और इसी भाँति मेरे पुत्र, पौत्र और मेरी सब से अन्तिम सन्तति कल्पान्त तक पुण्य के कार्य्य करेगी। और जो इस कार्य्य करने में चूकेगा वह पाप का भागी होगा। पाप करना सहज है। देखो प्राचीन समय में धर्म्म का प्रबन्ध करने वाले कर्म्मचारी (धर्म्म महामात्र) नहीं थे। परन्तु मैंने अपने राज्याभिषेक के १३ वें वर्ष में धर्म के प्रबन्ध करने वाले नियत किए हैं। ये लोग सब सम्प्रदाय के लोगों मे धर्म्म के स्थापित करने और उन्नति करने के लिये और धर्म्म-युतों की भलाई करने के लिये मिलते हैं। वे यवन, कम्बोज, गान्धार, सौराष्ट्र, पेतेनिक, और सीमा प्रदेश की अन्य (अपारान्त) जातियों के साथ मिलते हैं। वे योधाओं और ब्राह्मणों के साथ, गरीब अमीर और वृद्धों के साथ, उन की भलाई और सुख के लिये और सत्य धर्म्म के अनुयायियों के मार्ग को सब विघ्नों से रहित करने के लिये मिलते हैं। जो लोग बन्धनों में हैं उन्हें वे सुख देते हैं, और उनकी बाधाओं को दूर करके उन्हें मुक्त करते हैं, क्योंकि उन्हें अपने कुटुम्ब का पालन करना पड़ता है, वे धोखे का शिकार हुए हैं और वृद्धा अवस्था ने उन्हें आ घेरा है। पाटलि-पुत्र तथा अन्य नगरों में वे मेरे भाई बहिनों और अन्य सम्बन्धियों के घर में यत्न करते हैं। सर्वत्र धर्म्ममहामात्र लोग सच्चे धर्म्म के अनुयायियों, धर्म्म में लगे हुए और धर्म्म में दृढ़ लोगों और दान करने वालों के साथ, मिलते हैं। इसी उद्देश्य से यह सूचना खोदवाई गई है।

सूचना ६

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला। प्राचीन

समय में हर समय कार्य करने और विवरण सुनने की ऐसी प्रणाली कभी नहीं थी । इसे मैंने ही किया है। हर समय, खाने के समय, विश्राम के समय, शयनागार में, एकान्त में, अथवा वाटिका में, सर्वत्र वे कर्म्मचारी लोग मेरे पास आते जाते हैं जिन्हें कि मेरी प्रजा के काम काज के विषय की सूचना का भार दिया गया है और मैं अपनी प्रजा के सम्बन्ध की बातें उन के द्वारा कहला देता हूं । स्वयं मेरे मुख से कही हुई शिक्षाओं को मेरे धर्म्ममहामात्र लोग प्रजा से कहते हैं । इस प्रकार मैं ने यह आज्ञा दी है कि जहाँ कहीं धर्म्मोपदेशकों की सभाओं में मतभेद वा झगड़ा हो उसकी सूचना मुझे सदा मिलनी चाहिये क्योंकि न्याय के प्रबन्ध में जितना उद्योग किया जाय थोड़ा है । मेरा यह धर्म्म है कि मैं शिक्षा द्वारा लोगों की भलाई करूं । निरन्तर उद्योग और न्याय का उचित प्रबन्ध सर्व साधरण के हित की जड़ है और इससे अधिक फलदायक कुछ नहीं है । अतएव मेरे सब यत्नों का एक यही उद्देश्य अर्थात् सर्व साधारण से इस प्रकार उऋण होना है। मै यहाँ इस के नीचे उन्हें इतना सुखी रखता हूं जितना कि मेरे किये हो सकता है । वे भविष्यत में स्वर्ग में सुख पावें। इसी उद्देश्य से मैं ने यह सूचना यहां खुदवाई है कि वह बहुत समय तक बनी रहे और मेरे पुत्र पौत्र और परपौत्र मेरी नाईं सर्व साधरण का हित करें । इस बड़े उद्देश्य के लिये बहुत ही अधिक उद्योग की अवश्यकता है ।

सूचना ७

देवताओं के प्रिय राजा पियदर्सी की यह बड़ी अभिलाषा है कि सब स्थानों में सब जातियां अपीड़ित रहें, वे सब समान रीति से इन्द्रियों का दमन करें और आत्मा को पवित्र बनावें परन्तु मनुष्य अपनी संसारी बातों में अधीर हैं । इस कारण लोग जिन बातों को मानते हैं उन के अनुसार कार्य्य पूर्ण रीति से नहीं करते और जो लोग बहुत सा दान नहीं देते वे भी अपनी

इन्द्रियों को दमन और आत्मा को पवित्र कर सकते हैं और अपनी भक्ति में कृतज्ञता और सच्चाई रख सकते हैं; और यही प्रशंसनीय है।

सूचना ८

प्राचीन समय में राजा लोग अहेर खेलने जाया करते थे, यहां इस भूमि के नीचे वे अपने जी बहलाने के लिये शिकार तथा अन्य प्रकार के खेल करते थे। मैं, देवताओं के प्रिय राजा पियदसी, ने अपने राज्याभिषेक के १० वर्षों के उपरान्त सत्य ज्ञान को प्राप्त किया। अतएव मेरे जी बहलाने के कार्य ये हैं अर्थात् ब्राह्मणों और श्रामनों से भेंट करना और उनको दान देना, वृद्धों से भेंट करना, द्रव्य बांटना, राज्य में प्रजा से भेंट करना, उन्हें धार्मिक शिक्षा देनी और धार्मिक विषयों पर सम्मति देनी। इस प्रकार देवताओं का प्रिय राजा पियदसी अपने भले कर्मों से उत्पन्न हुए सुख को भोगता है।

सूचना ९

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला। लोग बीमारी में, पुत्र वा कन्या के विवाह में, पुत्र के जन्म पर, और यात्रा में जाने के समय भिन्न २ प्रकार के विधान करते हैं। इन अवसरों तथा ऐसेही अन्य अवसरों पर लोग भिन्न २ विधान करते हैं। परन्तु ये असंख्य और भिन्न प्रकार के विधान जिन्हें कि अधिकांश लोग करते हैं, व्यर्थ और निरर्थक हैं। परन्तु इन सब रीतियों को करने की चाल बहुत दिनों से चली आती है, यद्यपि उनका कोई फल नहीं होता। परन्तु इस के विरुद्ध धर्म कार्य्य करना बहुत ही अधिक यश की बात है। गुलामों और नौकरों पर यथोचित ध्यान रखना, और सम्बन्धियों तथा शिक्षकों का सत्कार करना प्रशंसनीय है। जीवों पर दया और ब्राह्मणों तथा श्रामनों को दान देना प्रशंसनीय है। मैं इन तथा ऐसे ही अन्य भलाई के कार्य्यों को धर्म्म कार्य्य का करना कहता हूं। पिता वा पुत्र, भाई वा गुरू को कहना चाहिये कि यही प्रशंसनीय है और इसी का साधन तब तक करना चाहिये जब तक कि उद्देश्य

प्राप्त न हो। यह कहा जाता है कि दान देना प्रशंसनीय है, परन्तु कोई दान इतना प्रशंसनीय नहीं है जितना कि धर्म्म का दान अर्थात् धर्म्म की शिक्षा देनी। इसलिये मित्र, सम्बन्धी वा संगी को यह सम्मति देनी चाहिये कि अमुक २ अवस्थाओं में यह करना चाहिये-यह प्रशंसनीय है। इस में विश्वास रखना चाहिए कि ऐसे आचरण से स्वर्ग मिलता है और मनुष्य को उत्साह के साथ इसे स्वर्ग का मार्ग समझ कर करना चाहिये।

सूचना १० ।

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस के अतिरिक्त किसी प्रकार के यश वा कीर्ति को पूर्ण नहीं समझता कि उसकी प्रजा वर्त-मान में और भविष्यत में उस के धर्म्म को माने और उसके धर्म्म के कार्य्य करे। इसी यश और कीर्ति को देवताओं का प्रिय राजा पियदसी चाहता है। देवताओं के प्रिय राजा पियदसी के सब उद्योग आगामी जीवन में मिलनेवाले फलों के लिये तथा जीवन मरण से बचने के लिये हैं, क्योंकि जीवन मरण दुःख है। परन्तु इस फल को प्राप्त करना छोटों और बड़ों दोनों ही के लिये कठिन है, जब तक कि वे अपने को सब वस्तुओं से अलग करने का दृढ़ उद्योग न करें। विशेषतः बड़े लोगों के लिये इसका उद्योग करना बड़ा कठिन है।

सूचना ११ ।

देवताओं के प्रिय राजा पियदसी ने इस प्रकार कहा। धर्म्म के दान, धर्म्म की मित्रता, धर्म्म की भिक्षा, और धर्म्म के सम्बन्ध के समान कोई दान नहीं है। निम्नलिखित बातें करनी चाहिएं अर्थात् गुलामों और नोकरों पर यथोचित ध्यान रखना, माता और पिता की आज्ञा पालन करना, मित्रों, संगियों, सम्बन्धियों, श्रामनों और ब्राह्मणों की ओर उदार भाव रखना और प्राणियों के जीवन का सत्कार। पिता को पुत्र वा भाई, मित्र, संगी वा पड़ोसी को भी यही शिक्षा देनी चाहिये कि यह प्रसंशनीय है और इसे करना चाहिये। इस

प्रकार यत्न करने में उसे इस संसार में तथा आने वाले जीवन में फल प्राप्त होता है, धर्म्म के दान से अनन्त यश मिलता है।

सूचना १२।

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी सब पन्थ के लोगों का, सन्यासियों और गृहस्थों दोनों ही का सत्कार करता है। वह उन्हें भिक्षा तथा अन्य प्रकार के दान देकर सन्तुष्ट करता है। परन्तु देवताओं का प्रिय ऐसे दान वा सत्कार को उन के वास्तविक धर्म्म आचरणों की उन्नति के उद्योग के सामने कुछ नहीं समझता। यह सत्य है कि भिन्न २ पन्थों में भिन्न २ प्रकार के पुण्य समझे जाते हैं। परन्तु उन सब का एकही आधार है और वह आधार सुशीलता और सम्भाषण में शान्ति का होना है। इस कारण किसी को अपने पन्थ की बड़ी प्रसंशा और दूसरों के पन्थ की निन्दा नहीं करनी चाहिये, किसी को यह नहीं चाहिये कि दूसरों को बिना कारण हलका समझें परन्तु यह चाहिये कि उन का सब अवसरों पर उचित सत्कार करें। इस प्रकार यत्न करने से मनुष्य दूसरों की सेवा करते हुए भी अपने पन्थ की उन्नति कर सकते हैं। इसके विरुद्ध यत्न करने से मनुष्य अपने पन्थ की सेवा नहीं करता और दूसरों के साथ भी बुरा व्यवहार करता है। और जो कोई अपने पन्थ में भक्ति रखने के कारण उस की उन्नति के लिये उस की प्रशंसा और दूसरे पन्थों की निन्दा करता है वह अपने पन्थ में केवल कुठार मारता है। इस लिये केवल मेल ही प्रशंसनीय है, जिस से कि सब लोग एक दूसरे के मतों को सहन करने और सहन करने में प्रेम रखते हैं। देवताओं के प्रिय की यह इच्छा है कि सब पन्थ के लोगों को शिक्षा दी जाय और उनके सिद्धान्त शुद्ध हों। सब लोगों को, चाहे उन का मत कुछ भी क्यों न हो, यह कहना चाहिये कि देवताओं का प्रिय वास्तविक धर्म्माचरण की उन्नति और सब पन्थों में परस्पर सत्कार की अपेक्षा दान और बाहरी विधानों को कम समझता है। इसी उद्देश्य से धर्म्म का प्रबन्ध करने वाले कर्म्मचारी, स्त्रियों के

लिये कर्म्मचारी, निरीक्षक और अन्यान्य कर्म्मचारी लोग कार्य करते हैं। इसी का फल मेरे धर्म्म की उन्नति और धर्म्म वृद्धि से उस का प्रचार है।

सूचना १३।

कलिङ्ग का देश, जिसे देवताओं के प्रिय राजा पियदसी ने जीता है बहुत बड़ा है। इसमें लाखों जीव वा लाखों प्राणी गुलाम बनाये गये हैं और लाखों का बध किया गया है। कलिङ्ग विजय करने के समय से देवताओं का प्रिय राजा धर्म्म की ओर फिरा है, धर्म्म में रत है, धर्म्म के लिये उत्सुक है और उस ने अपने को धर्म्म के प्रचार में लगाया है,—कलिङ्ग विजय करने पर देवताओं के प्रिय को इतना अधिक पश्चात्ताप हुआ। इस देश को जो कि मेरे आधीन नहीं था, विजय करने में मैं देवताओं के प्रिय ने देशबासियों के बध और गुलाम बनाए जाने के लिये बहुत अधिक पश्चात्ताप किया है और उसका प्रभाव मेरे ऊपर बहुत पड़ा है। परन्तु यही बात है जिस के लिये देवताओं के प्रिय ने बहुत अधिक पश्चात्ताप किया है। सर्वत्र ब्राह्मण वा श्रामन, सन्यासी वा गृहस्थ लोग रहते हैं और ऐसे लोगों में अधिकारियों के लिये सत्कार, माता पिता की आज्ञा मानना, मित्रों और सम्बन्धियों से प्रीति नोकरों पर ध्यान रखना और भक्ति में सचाई पाई जाती है। ऐसे मनुष्यों पर कठोरता होती है उनकी मृत्यु होती है तथा प्रिय लोगों से उनका वियोग होता है। और यदि विशेष रक्षा में रह कर वे स्वयं हानि से बच भी जांय तो भी उनके मित्र, जानपहिचान के लोग, संगी और सम्बन्धी लोग उजड़ जाते हैं, और इस प्रकार उन्हें भी क्लेश उठाना पड़ता है। मैं, जो कि देवताओं का प्रिय हूं इस प्रकार की कठोरताओं का बड़ा अधिक अनुभव करता और उनपर पश्चात्ताप करता हूं। कोई ऐसा देश नहीं है जहां कि ब्राह्मण और श्रामन लोग नहीं है और किसी देश में कोई ऐसा स्थान नहीं है जहां कि लोग किसी न किसी धर्म्म को न मानते हों। कालिङ्ग देश में इतने अधिक लोगों के डूब जाने, उजड़ जाने, मारे

जाने, और गुलाम बनाए जाने के कारण देवताओं का प्रिय इस का आज हजार गुना अधिक अनुभव कर रहा है।

देवताओं का प्रिय सब प्राणियों की रक्षा, जीवन के सत्कार, शान्ति, और दया के आचरण का उत्सुक हृदय से अभिलाषी है। इसी को देवताओं का प्रिय धर्म्म का विजय करना समझता है। अपने राज्य तथा उसके सब सीमा प्रदेशों में, जिसका विस्तार कई सौ योजन है, इन्हीं धर्म के विजयों में देवताओं का प्रिय बड़ा प्रसन्न होता है। उसके पड़ोसियों में यवनों का राजा एण्टिओकस, और एण्टिओकस के उपरान्त चार राजा लोग अर्थात् टोलमी, एण्टिगोनस, मेगेस, और सिकन्दर, दक्षिण में तम्बपन्नी नदी तक चोल और पंड्य लोग और हेनराज विस्मवसी भी, यूनानियों और कम्बोजों में नाभक और नाभपन्ति लोग, भोज और पेतेनिक लोग, अन्ध्र और पुलिन्द लोग—सर्वत्र लोग देवताओं के प्रिय की धार्मिक शिक्षाओं के अनुकूल हैं। जहां कहीं देवताओं के प्रिय के दूत भेजे गए वहां लोगों ने देवताओं के प्रिय की ओर से जिस धर्म्म के कर्त्तव्यों की शिक्षा दी गई उसे सुना और उस धर्म तथा धार्मिक शिक्षाओं से सहमत हुए और सहमत होंगे ·········· इस प्रकार विजय चारों ओर फैलाई गई है। मुझे अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ है। धर्म्म के विजयों से ऐसा सुख ही होता है। पर सच तो यह है कि यह आनन्द एक दूसरी बात है। देवताओं का प्रिय केवल उन फलों को बहुत अधिक समझता है जो कि दूसरे जन्म में अवश्य मिलेंगे। इसी उद्देश्य से यह धार्मिक शिलालेख खुदवाया गया है कि हमारे पुत्र और पौत्र यह न सोचें कि किसी नवीन विजय की आवश्यकता है, वे यह न विचारें कि तलवार से विजय करना 'विजय' कहलाने योग्य है, वे उन में नाश और कठोरता के अतिरिक्त कुछ न देखें, वे धर्म के विजय को छोड़ कर और किसी प्रकार की विजय को सच्ची विजय न समझें। ऐसी विजय का फल इस लोक में तथा परलोक में होता है। वे लोग केवल धर्म में प्रसन्न रहें, क्योंकि उसीका फल इस लोक और परलोक में होता है।

सूचना १४

यह सूचना देवताओं के प्रिय राजा पियदसी की खोदवाई हुई है। वह कुछ तो संक्षेप में, कुछ साधारण विस्तार की और कुछ बहुत विस्तृत है। अभी सबका एक दूसरे से सम्बन्ध नहीं है क्योंकि मेरा राज्य बड़ा है और मैंने बहुत सी बातें खोदवाई हैं और बहुत सी बातें अभी और खोदवाऊंगा। कुछ बातें दोहरा कर लिखी गई हैं क्योंकि मैं उन बातों पर विशेष जोर दिया चाहता हूं। प्रति लिपि में दोष हो सकते हैं,—यह हो सकता है कि कोई वाक्य कट गया हो वा अर्थ और का और समझा जाय। यह सब खोदनेवाले कारीगर का काम है।

ये अशोक की चौदहों प्रसिद्ध सूचनाएं हैं जिनके द्वारा उसने (१) पशुओं के बध का निषेध किया (२) मनुष्यों और पशुओं के लिये चिकित्सा का प्रबन्ध किया (३) पांचवें वर्ष एक धार्मिक उत्सव किए जाने की आज्ञा दी, (४) धर्म की शोभा प्रगट की (५) धर्ममहामात्रों और उपदेशकों को नियत किया, (६) सर्वसाधारण के सामाजिक और गृह सम्बन्धी जीवन के आचरणों की सुधार के लिये आचार शिक्षक नियत किए, (७) सब के लिये धार्म्मिक अप्रतिरोध प्रगट किया (८) प्राचीन समय के हिंसक कार्यों के स्थान पर धार्म्मिक सुखों की प्रशंसा की, (९) धार्मिक शिक्षा और सदुपदेश देने की महिमा लिखी (१०) सत्य धर्म के प्रचार करने की कीर्ति और सत्य वीरता की प्रशंसा की (११) सब प्रकार के दानों में धार्मिक शिक्षा के दान को सर्वोत्तम कहा, (१२) सार्वजनिक सम्मति के सम्मान और आचार के प्रभाव सम्बन्धी सिद्धान्तों पर अन्य धर्म के लोगो को अपने मत में लेने की इच्छा प्रगट की (१३) कलिंग के विजय का उल्लेख किया और उन पांच यूनानी राजाओं तथा भारतवर्ष के राज्यों के नाम लिखे जहां कि धर्मोपदेशक भेजे गए थे, और अन्त में (१४) उपरोक्त शिलालेखों का सारांश दिया और सूचनाओं के खोदवाने के विषय में कुछ वाक्य लिखे।

ऐतिहासिक दृष्टि से दूसरी सूचना बड़े काम की है, क्योंकि उसमें सिरिया के एण्टिओकस तथा हिन्दूराज्यों के नाम दिए हैं। पांचवीं सूचना में भी ऐसे नाम हैं और तेरहवीं सूचना में कलिङ्ग के विजय का उल्लेख है जिससे कि बंगाल और उड़ीसा का मगध और उत्तरी भारतवर्ष से घनिष्ठ राज्यसम्बन्ध हुआ। इसी सूचना में पांच यूनानी राजाओं के नाम दिए हैं और वह मूल पाठ, जिनमें कि ये नाम आए हैं, उद्धृत किए जाने योग्य है।

"अन्तियोक नाम योन राज, परम च तेन अन्तियोकेन चतुर राजनि, तुरमये नाम, अन्तिकिन नाम, मक नाम, अलिकसन्दरे नाम।"

ये पांचों नाम सीरिया के एण्टिओकस, ईजिप्ट के टोलेमी, मेसेडन के एण्टिगोनस, साइरीन के मगस, और एपिरस के एलेकज़ाण्डर के हैं। ये सब अशोक के समकालीन थे और अशोक ने उनके साथ सन्धि की थी और उनकी सम्मति से उनके देशों में बौद्ध धर्म्म के प्रचार के लिये उपदेशक भेजे थे। इसी सूचना में भारतवर्ष तथा उसके आसपास के उन राज्यों के नाम भी दिए हैं जहां इसी प्रकार धर्मोपदेशक लोग भेजे गए थे।

उपरोक्त चौदहों सूचनाओं के सिवाय, जोकि कानून या आचार नियमों की भांति प्रकाशित की गई थीं, अशोक ने समय समय पर अन्य सूचनाएं भी खुदवाई थीं और उनमें से कुछ खुदे हुए लेख हम लोगों को मिले भी हैं।

धौली और जौगड़ (जो कटक के दक्षिण-पश्चिम में है) की एक सूचना में तोसली नगर के शासन के लिये दया से भरे हुए नियम लिखे हैं, सब प्रजाओं के लिये धर्माचरण की शिक्षा दी है और पांचवें वर्ष उस धार्मिक उत्सव को करने के लिये कहा है जिसका उल्लेख ऊपर आया है। उसी सूचना में यह भी लिखा है कि उज्जयिनी और तक्षशीला में यह उत्सव प्रति तीसरे वर्ष होना चाहिए।

धौली और जौगड़ में एक दूसरी सूचना भी प्रकाशित की गई थी जिसमें तोसली और समापा के शासन के नियम और सीमा-

प्रदेश के कर्मचारियों के लिये शिक्षा है । दो सूचनाओं का अर्थात् एक तो महसराम (बनारस के दक्षिण-पूरब) की, और दूसरे रूपनाथ (जबलपुर के उत्तर-पूरब) की सूचनाओं का अनुवाद डाक्टर बुहलर साहब ने किया है। उनमें धार्मिक सत्योपदेश हैं और उनसे विदित होता है कि यह धार्मिक सम्राट २५६धर्मोपदेशकों (विबुधों) को नियत करके उन्हें चारों ओर भेज चुका था। बैराट (दिल्ली के दक्षिण-पश्चिम) का शिलालेख मगध के धर्मोपदेशकों के लिये है और उसमें अशोक ने बौद्ध त्रैकत्व अर्थात् बुद्ध, धर्म्म और संघ में अपना विश्वास प्रगट किया है। अशोक की दूसरी रानी की एक धार्मिक सूचना इलाहाबाद में मिली है और अशोक के तीन नये शिलालेख मैसूर में मिले हैं।

अब हम गुफाओं के शिलालेखों का वर्णन करेंगे।

निम्न लिखित गुफाओं के शिलालेख मिले हैं अर्थात् गया के १६ मील उत्तर बरबर और नागार्जुनी गुफाओं के, कटक के उत्तर खण्डगिरि की गुफाओं के, और मध्यप्रदेश में रामगढ़ की गुफाओं के शिलालेख। बरबर की गुफाओं के शिलालेख में लिखा है कि इन गुफाओं को अशोक (पियदसी) ने धार्मिक भिक्षुओं को दिया था, और नागार्जुनी की गुफाओं में लिखा है कि इन्हें अशोक के उत्तराधिकारी दशरथ ने दान किया था। खण्डगिरि और उदयगिरि की गुफाओं में से अधिकांश कलिंग (उड़ीसा) के राजाओं की दान की हुई हैं।

और अन्त में हम लाटों पर खुदे हुए लेखों के विषय में लिखेंगे। दिल्ली और इलाहाबाद की प्रसिद्ध लाटों ने सर विलियम जोन्स के समय से पुरातत्व वेत्ताओं का ध्यान आकर्षित किया है और वे उनकी चतुराई में बट्टा लगाती रही हैं। अन्त में उन्हें पहिले पहिल प्रिन्सप साहब ने पढ़ा। दिल्ली की दोनों लाट और इलाहाबाद की लाट के सिवाय, तिरहुत में लौरिया में दो लाट और भूपाल में सांची में एक लाट है।

प्रायः सब लाटों में वेही छ सूचनाएं खुदी हुई हैं, पर दिल्ली में फीरोज़शाह की लाट में दो सूचनाएं अधिक पाई गई हैं।

स्मरण रहे कि ये सूचनाएं अशोक के राज्याभिषेक के २७ वें और २८ वें वर्ष में प्रकाशित की गई थीं। उनमें इस सम्राट के राजकीय विषयों का बहुत ही कम उल्लेख है, पर उसने सदाचरण और धर्म की शिक्षाओं तथा सर्वसाधारण के हित के लिये जो कार्य किए थे उनके वृत्तान्त से वे भरी हुई हैं। संक्षेप में, इस धार्मिक सम्राट ने (१) अपने धर्म सम्बन्धी कर्मचारियों को उत्साह और धार्मिक चिन्ता के साथ कार्य करने का उपदेश किया है, (२) दया, दान, सत्य, और पवित्रता को धर्म कहा है, (३) आत्म परीक्षा करने और पाप से बचने के लिये जोर देकर उपदेश दिया है. (४) लोगों को धार्मिक शिक्षा देने का कार्य रज्जुकों को सौंपा है और जिन लोगों को फांसी की आज्ञा हो उनके लिये तीन दिन की अवधि दी है (५) भिन्न भिन्न प्रकार के पशुओं के बध का निषेध किया है (६) अपनी प्रजा पर अपना हित प्रगट किया है और सब पंथ के लोगों के बौद्ध होजाने की आशा प्रगट की है (७) यह आशा प्रगट की है कि उसकी सूचनाएं तथा धर्मोपदेश लोगों को सत्य पथ पर चलने के लिये उद्यत करेंगे और (८) अन्त में, अपने सर्व साधारण के हित के कार्यों और लोगों की धर्म्मोन्नति के उपायों का पुनरुल्लेख किया है और सदाचार की शिक्षा द्वारा लोगों को अपने मत में लाने की आज्ञा दी है। इन आठों सूचनाओं का निम्नलिखित अनुवाद सिनार्ट साहब के अनुसार दिया जाता है —

सूचना १।

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला। अपने राज्याभिषेक के २६ वें वर्ष में मैंने यह सूचना खुदवाई है। धर्म्म में अत्यन्त उत्साह, कठोर निरीक्षण, पूरी तरह आज्ञा पालन करने और निरन्तर उद्योग के बिना मेरे कर्मचारियों को इस लोक तथा परलोक में सुख पाना कठिन है। पर मेरी शिक्षा को धन्यवाद है कि धर्म के लिये यह चिन्ता और उत्साह बढ़ रहा है और दिन दिन बढ़ेगा। और मेरे उच्च श्रेणी के, मध्यम श्रेणी के तथा नीचे की श्रेणी के कर्म्मचारी लोग उसके अनुसार चलते हैं और लोगों को सत्य मार्ग बतलाते हैं तथा उन्हें हर्षित रखते हैं। और इसी

प्रकार मेरे सीमाप्रदेश के कर्म्मचारी (अन्त महामात्र) भी कार्य करते हैं। क्योंकि नियम यह है —

धर्म से शासन, धर्म से क़ानून, धर्म से उन्नति और धर्म से रक्षा।

सूचना २।

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला। धर्म उत्तम है। पर यह पूछा जा सकता है कि यह धर्म क्या है? धर्म थोड़ी से थोड़ी बुराई और अधिक से अधिक भलाई करने में है। यह दया, दान, सत्य और पवित्र जीवन में है। इस लिये मैंने मनुष्यों, चौपायों, पक्षियों और जलजन्तुओं के लिये सब प्रकार के दान दिए हैं, मैंने उनके हित के लिये बहुत से कार्य किए हैं, यहां तक कि उनके पीने के लिये जल का भी प्रबन्ध किया है और बहुत से अन्य प्रशंसनीय कार्य किए हैं। इस हेतु मैं ने यह सूचना खुदवाई है जिसमें लोग उसके अनुसार चलें और सत्य पथ को ग्रहण करें और यह बहुत काल तक स्थिर रहे। जो इसके अनुसार कार्य करेगा वह भला और प्रशंसनीय कार्य करेगा।

सूचना ३।

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला। मनुष्य केवल अपने अच्छे कर्मों को देखता है और कहता है कि मैं ने यह अच्छा कार्य किया। पर वह अपने बुरे कर्मों को नहीं देखता और यह नहीं कहता कि मैंने यह बुरा कार्य किया, यह पाप है। यह सच है कि ऐसी जांच करना दुखदाई है परन्तु यह आवश्यक है कि अपने मन में यह प्रश्न किया जाय और यह कहा जाय कि ऐसी बातें यथा दुष्टता, निर्दयता, क्रोध और अभिमान पाप हैं। सावधानी से अपनी परीक्षा करते और कहते रहना अवश्यक है कि मैं ईर्षा को स्थान नहीं दूंगा और न दूसरों की निन्दा करूंगा। यह मेरे लिये यहां फलदायक होगा, यथार्थ में यह दूसरे जन्म में और भी लाभदायक होगा।

सूचना ४।

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला। अपने

राज्याभिषेक के २६ वें वर्ष में मैं ने यह सूचना खुदवाई है । मैं ने लाखों निवासियों के लिये रज्जुकों को नियत किया है । मैंने रज्जुकों को दण्ड देने का अधिकार अपने हाथ में रक्खा है जिस में वे पूरी दृढ़ता और रक्षा के साथ अपना कार्य्य करें और मेरे राज्य के लोगों की भलाई और उन्नति करें । वे उन्नति और दुःख दोनों की बराबर जांच करते रहते हैं और धर्म्मयुतों के साथ वे मेरे राज्य के लोगों को शिक्षा देते हैं कि जिन से लोग सुख और भविष्यत में मुक्ति प्राप्त कर सकें । रज्जुक लोग मेरी आज्ञा पालन करते हैं पुरुष लोग भी मेरी इच्छा और आज्ञाओं का पालन करते हैं और मेरे उपदेशों का प्रचार करते हैं जिसमें रज्जुक लोग संतोषजनक कार्य्य करें। जिस भांति कोई मनुष्य अपने बच्चे को किसी सचेत दाई को देकर निश्चिन्त रहता है और सोचता है कि मेरा बच्चा सचेत दाई के पास है उसी भांति मैं ने भी अपनी प्रजा के हित के लिये रज्जुक लोगों को नियत किया है । और जिसमें वे दृढ़ता और रक्षा के साथ बिना किसी चिन्ता के अपना कार्य्य करें, मैं ने उन को अभियुक्त करने और दण्ड देने का अधिकार स्वयं अपने हाथ में रक्खा है । अभियुक्त करने और दण्ड देने में समान दृष्टि से देखना चाहिए । इसलिये आज की तिथि से यह नियम किया जाता है, कि जिन कैदियों का न्याय हो गया है और जिन्हें फाँसी देने की आज्ञा हुई है उन के लिये तीन दिन की अवधि दी जाय । उन को सूचना दी जायगी कि वे तीन दिन तक जीवित रहेंगे न इस से अधिक और न इस से कम । इस प्रकार अपने जीवन की सूचना पाकर वे अपने दूसरे जन्म के हित के लिये दान देंगे अथवा व्रत रक्खेंगे । मेरी इच्छा है कि बन्दीगृह में भी उन्हें भविष्यत का निश्चय दिलाना चाहिए और मेरी यह दृढ़ अभिलाषा है कि मैं धर्म्म के कार्यों की उन्नति, इन्द्रियों के दमन और दान का प्रचार देखूं ।

सूचना ५ ।

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला । अपने राज्याभिषेक के २६ वर्ष के उपरान्त मैंने निम्न लिखित जीवों के

मारे जाने का निषेध किया है अर्थात शुक, सारिका, अरुन, चक्रवाक हंस, नन्दिमुख, गैरत, गलात, (चमगीदड़) अम्बक पिलिक, दाढ़ि, अनस्थिक मछली, वेदवेयक, गंगा नदी के पुपुत, संकुज, कफत-सयक, पमनसस, सिमल, संदक, ओकपिण्ड, पलसत, स्वेत कपोत, ग्राम कपोत और सब चौपाये जो कि किसी काम में नहीं आते और खाए नहीं जाते। बकरी, भेड़ी और शूकरी जब गाभिन हों वा दूध देती हों वा जब तक उन के बच्चे छः महीने के न हों, न मारी जांय लोगों के खाने के लिये मुर्गी को खिलाकर मोटी नहीं बनाना चाहिए। जीते हुए जानवरों को नहीं जलाना चाहिए। जंगल चाहे असावधानी से अथवा उस में रहनेवाले जानवरों को मारने के लिए जलाए नहीं जायंगे जानवरों को दूसरे जीते हुए जानवर नहीं खिलाए जांयगे। तीनों चतुर्मास्यों की पूर्णिमा को, पूर्णिमा के चन्द्रमा का तिष्य नक्षत्र से और पुनर्वसु नक्षत्र से योग होने पर, चन्द्रमा के चौदहवें और पन्द्रहवें दिन और पूर्णिमा के उपरांत वाले दिन और साधारणतःप्रत्येक उपोसथ दिन में किसी को मछली मारनी वा बेचनी नहीं चाहिए। प्रत्येक पक्ष की अष्टमी चतुर्दशी अमावास्या और पूर्णिमा को और तिष्य पुनर्वसु और तीनो चतुर्मास्यों की पूर्णिमा के दूसरे दिन किसी को सांड़ बकरा, भेड़, सुअर वा किसी दूसरे वधिये किये जाने वाले जानवरों को बधिया नहीं करना चाहिए। तिष्य पुनर्वसु और चतुर्मास्यों की पूर्णिमाओं को और चातुर्मास्यों की पूर्णिमाओं के दूसरे दिन घोड़े वा बैल को नहीं दागना चाहिए। अपने राज्याभिषेक के २६ वें वर्ष में ने २६ बन्दियों को छोड़ दिया है।

सूचना ६।

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला। अपने राज्याभिषेक के १२ वर्ष पर मैंने अपनी प्रजा के लाभ और सुख के लिये (पहिले पहिल) सूचनाएं खुदवाई। मैं यह समझकर प्रसन्न हूं कि वे लोग इस से लाभ उठावेंगे और धर्म्म में अनेक प्रकार से उन्नति करेंगे और इस भांति ये सूचनाएं लोगों के लाभ और सुख का कारण होंगी। मैंने वे उपाय किए हैं जिनसे कि

मेरी प्रजा के,—जो मुझसे दूर रहती है और जो मेरे निकट रहती है,—और मेरे सम्बन्धियों के भी सुख की उन्नति अवश्य होगी। इसी कारण मैं अपने सब कर्मचारियों पर देखभाल रखता हूं सब पन्थ के लोग मुझसे अनेक प्रकार के दान पाते हैं। परन्तु मैं उन के धर्म्म परिवर्तन को सबसे अधिक आवश्यक समझता हूं। मैंने यह सूचना अपने राज्याभिषेक के २६ वर्ष उपरान्त खोदवाई है।

सूचना ७।

देवताओं का प्रिय राजा पियदर्शी इस प्रकार बोला। प्राचीन समय में जो राजा लोग राज्य करते थे वे चाहते थे कि मनुष्य धर्म्म में उन्नति करें। परन्तु उन की इच्छानुसार मनुष्यों ने धर्म्म में उन्नति नहीं की। तब देवताओं का प्रिय राजा पियदर्शी इस प्रकार बोला। मैंने सोचा कि प्राचीन समय के राजा लोग यह चाहते थे कि मनुष्य धर्म्म में उन्नति करें परन्तु उनकी इच्छानुसार मनुष्यों ने उन्नति नहीं की अतः मैं किस प्रकार उन्हें सत्य पथ पर ला सकता हूं। मैं अपनी इच्छानुसार किस प्रकार धर्म्म में उन की उन्नति कर सकता हूं। तब देवताओं का प्रिय राजा पियदर्सी इस प्रकार बोला। मैंने धर्म्मसम्बन्धी उपदेशों को प्रकाशित करने और धार्म्मिक शिक्षा देने का निश्चय किया जिसमें मनुष्य इनको सुन कर सत्य पथ को ग्रहण करें और उन्नति करें।

सूचना ८।

मैंने धार्म्मिक शिक्षाओं को प्रकाशित किया है और धर्म्म के विषय में अनेक उपदेश दिए हैं जिसमें धर्म्म की शीघ्र उन्नति हो। मैंने लोगों के लिये बहुत से कर्मचारी नियत किए हैं उन में से प्रत्येक प्रजा की ओर अपना धर्म्म करने में लगा हुआ है जिसमें कि वे शिक्षा का प्रचार करें और भलाई की उन्नति करें। इस लिये मैं ने हजारों मनुष्य पर रज्जुक लोगों को नियत किया है और यह आज्ञा दी है कि वे धर्म्मयुतों को शिक्षा दें। देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला। केवल इसी

बात के लिये मैं ने लाटों पर धर्म सम्बन्धी लेख खोदवाए हैं, मैंने धर्ममहामात्रों को नियत किया है और दूर दूर तक धर्मोपदेशों का प्रचार किया है। देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला। बड़ी सड़कों पर मैंने न्यग्रोध के वृक्ष लगवाए हैं जिस में कि वे मनुष्यों और पशुओं को छाया दें, मैंने आम के बगीचे लगवाए हैं, मैंने आधे आधे कोस पर कुएँ खुदवाए हैं और अनेक स्थानों पर मनुष्यों और पशुओं के सुख के लिये धर्मशाला बनवाई हैं। परन्तु मेरे लिये यथार्थ प्रसन्नता की बात यह है कि पहिले के राजा लोगों ने तथा मैंने अनेक अच्छे कार्यों से लोगों के सुख का प्रबन्ध किया है परन्तु लोगों को धर्म्म के पथ पर चलाने के एकमात्र उद्देश्य से मैं अपने सब कार्य्य करता हूं। देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला, मैंने धर्म्म महामात्रों को नियत किया है जिसमें कि वे सब प्रकार से धर्म्म के कार्य्य में यत्न करें और सब पन्थ के लोगों में, सन्यासियों और गृहस्थों में यत्न करें। पुजेरियों, ब्राह्मणों, सन्यासियों, निर्ग्रन्थों और भिन्न भिन्न पन्थ के लोगों के हित का ध्यान भी मेरे हृदय में रहा है और उन सब लोगों में मेरे कर्म्मचारी कार्य्य कर रहे हैं। महामात्र लोग अपने अपने समाज में कार्य्य करते हैं और धर्म्म के प्रबन्धकर्ता लोग प्रायः सब पन्थ के लोगों में कार्य्य करते हैं। देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला, ये तथा अन्य कर्म्मचारी मेरे हथियार हैं और वे मेरे तथा रानियों के दान को बाँटते हैं, मेरे महल में वे अपने अपने कमरों में अनेक प्रकार से कार्य्य करते हैं। मैं यह भी जानता हूं कि वे यहां तथा प्रान्तों में मेरे लड़कों के और विशेषतः राजकुमारों के दान को धर्म्म कार्य्यों के साधन और धर्म्म को बढ़ाने के लिये बाँटते हैं। इस प्रकार संसार में धर्म्म कार्य्य अधिक होते हैं और धर्म्म के साधन अर्थात् दया और दान, सत्य और पवित्रता उपकार और भलाई की उन्नति होती है। देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला, भलाई के अनेक कार्य्य जिन्हें कि मैं करता हूं उदाहरण की भांति हैं। उनको देखकर सम्बन्धियों और गुरुओं

की आज्ञा पालन में, वृद्धों के लिये दया भाव रखने में, ब्राह्मणों और श्रामनों का सत्कार करने में, गरीब और दुखियों तथा नौकरों और गुलामों का आदर करने में, लोगों ने उन्नति की है और उन्नति करेंगे। देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला। मनुष्यों में धर्म्म की उन्नति दो प्रकार से हो सकती है स्थिर नियमों के द्वारा अथवा उन लोगों में धर्म्म के विचारों को उत्तेजित करने के द्वारा। इन दोनों मार्गों में कठोर नियमों का रखना ठीक नहीं है, केवल हृदय के उत्तेजित करनेही का सब से अच्छा प्रभाव होता है। दृढ़ नियम मेरी आज्ञाएँ हैं यथा मैं विशेष पशुओं के बध का निषेध करूं अथवा और कोई धार्म्मिक नियम बनाऊँ जैसा कि मैंने किया भी है। परन्तु केवल हृदय के विचारों के परिवर्तन से ही जीवों के ऊपर दया और प्राणियों को बध न करने से बिचार में धर्म्म की सच्ची उन्नति होती है इसी उद्देश्य से मैंने यह लेख प्रकाशित किया है कि वह मेरे पुत्रों और पौत्रों के समय तक स्थिर रहे और जब तक सूर्य्य और चन्द्रमा हैं स्थिर रहे और जिसमें वे मेरी शिक्षाओं के अनुसार चलें। क्योंकि इस पथ पर चलने से मनुष्य यहां तथा परलोक दोनों ही में सुखप्राप्त करता है। मैंने यह सूचना अपने राज्याभिषेक के २७ वें वर्ष खोदवाई है। देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला। जहां कहीं यह सूचना पत्थर की लाटों पर है वहां वह बहुत समय तक स्थिर रहे।

यह सूचना बहुत समय तक स्थिर रही है और उस के उपरान्त के दो हजार वर्षों में मनुष्य जाति ने "दया और दान, सत्य और पवित्रता, उपकार और भलाई" की उन्नति करने से बढ़ कर इस संसार ने कोई धर्म्म नहीं पाया है।

——:o:——

अध्याय २

भाषा और अक्षर ।

अशोक के शिलालेख हमलोगों के लिये ईसा के पहिले तीसरी शताब्दी में उत्तरी भारतवर्ष की भाषा और अक्षरों के जानने के लिये अमूल्य हैं। ये सूचनाएँ निस्सन्देह उसी भाषा में हैं जिसको कि अशोक के समय में लोग बोलते और समझते थे और इन सूचनाओं के ऐसी बोलियों में होने से जिनमें कि भारतवर्ष के भिन्न भिन्न भागों में एक दूसरे से बहुत कम अन्तर है विदित होता है कि इस बड़े सम्राट ने अपने विस्तृत राज्य के जुदे जुदे भागों में अपने नियमों को उसी बोली में प्रकाशित किया है जो देश के उस भाग में बोली जाती थी।

इन शिलालेखों से विदित होता है कि उत्तरी भारतवर्ष की भाषा हिमालय से लेकर विंध्य पर्वत तक और सिन्धु से लेकर गंगा तक मुख्यतः एक ही थी। परन्तु इनमें बहुत थोड़े भेद हैं जिन से कि पुरातत्ववेत्ताओं ने यह जाना है कि उस समय में तीन प्रकार की भाषाएं बोली जाती थीं। जेनरल कार्निंगहाम साहब इन्हें पंजाबी वा पश्चिमी भाषा, उज्जैनी वा बीच के देश की भाषा और मागधी वा पूर्वी भाषा के नाम से पुकारते हैं।

पंजाबी भाषा अन्य भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत से बहुत मिलती है। उसमें प्रियदर्शी श्रामन इत्यादि शब्दों में "र" रहता है, उस में संस्कृत स श ष भी रहते हैं और उस के रूप संस्कृत के रूपों से अधिक मिलते हैं। उज्जैनी भाषा में र और ल दोनों होते हैं, परन्तु मागधी भाषा में र का लोप हो कर उस के स्थान पर सदा ल बोला जाता है यथा राजा के स्थान पर लाजा, दशरथ के स्थान पर दशलथ इत्यादि।

इन तीनों भाषाओं को एक मान कर पुरातत्ववेत्ता लोगों ने इस भाषा को पाली समझा है। प्रिन्सेप साहब कहते हैं कि यह भाषा संस्कृत और पाली के बीच की है। विलसन साहब ने चट्टान को

शिलालेखों के चार भिन्न पाठों की ध्यान पूर्वक परीक्षा की है और उन्हों ने अपनी सम्मति इस प्रकार लिखी है "यह भाषा स्वयं एक प्रकार की पाली है और उस में अधिकांश शब्दों के रूप आज कल की पाली व्याकरण के रूपों के सदृश हैं। परन्तु उन में बहुत से भेद भी हैं जिनमें से कुछ तो उस भाषा के संस्कृत के साथ अधिक सम्बन्ध होने के कारण हैं और कुछ स्थानिक विशेषताओं के कारण जिससे कि इस भाषा की और भी अनिश्चित दशा विदित होती है।"

लेसन साहब विलसन साहब से इस बात में सहमत हैं कि अशोक के शिलालेखों की भाषा पाली है और वे यह भी कहते हैं कि पाली संस्कृत की सब से बड़ी बेटी है अर्थात् उत्तरी भारतवर्ष में संस्कृत भाषा की बोल चाल का व्यवहार उठ जाने के उपरान्त यह सब से प्राचीन भाषा है। म्योर साहब इन शिलालेखों की भाषा को उन बौद्धग्रन्थों से मिलान करके जो कि लङ्का में ईसा के पहिले तीसरी शताब्दी में भेजे गए थे, इस मत की पुष्टि करते हैं और यह प्रमाणित करते हैं कि वे प्रायः एक ही भाषा अर्थात् पालीभाषा में हैं। बर्नफ़ और लेसन साहब अपने "एसोसर ल पाली" लेख में लिखते हैं कि पाली भाषा "संस्कृत की बिदाई की सीढ़ी के पहिले कदम पर है और वह उन भाषाओं में सबसे पहिली है जिन्हों ने कि इस पूर्ण और उपजाऊ भाषा को नष्ट कर दिया"।

अतः यह काफी स्पष्ट और ठीक प्रमाण है जो कि भारतवर्ष के इतिहास जानने वाले के लिये अमूल्य है। हमलोग वैदिक काल की भाषा को जानते हैं जो कि ऋग्वेद के सब से सादे और सुन्दर सूत्रों में रक्षित है। हम लोग ऐतिहासिक काव्यकाल की भाषा भी जानते हैं जो कि गद्य ब्राह्मणों और आरण्यकों में रक्षित हैं। १००० ई० पू० के उपरान्त बोलने और लिखने की भाषा में भेद बढ़ने लगा। विद्वत्तापूर्ण सूत्र प्राचीन व्याकरण की संस्कृत में बनाए जाते थे पर लोगों के बोलने की भाषा और जिस भाषा में गौतम ईसा के पहिले छठीं शताब्दी में शिक्षा देता था वह अधिक सीधी और चंचल थी। वह भाषा क्या थी यह हमें अशोक की सूचनाओं से विदित

होता है क्योंकि ईसा के ४७७ वर्ष पहिले से जब कि गौतम की मृत्यु हुई उसके २६० वर्ष पहिले तक जब कि अशोक राज्य करता था, बोलने की भाषा में बहुत अधिक अन्तर नहीं हो सकता। अतएव तीसरे अर्थात दार्शनिक काल की भाषा पाली का एक पूर्व रूप थी, हम उसे चाहे जिस नाम से (मागधी, इत्यादि) पुकारें। और उत्तरी भारतवर्ष में चौथे अर्थात बौद्ध काल में इसी भाषा के भिन्न भिन्न रूप बोले जाते थे।

पाँचवें अर्थात् पौराणिक काल में पाली भाषा में बहुत अधिक अन्तर हो गया और उसमें एक दूसरी ही भाषा अर्थात् प्राकृत भाषा बन गई जो कि इस काल के नाटकों में पाई जाती है। पाली की अपेक्षा प्राकृत के शब्दों के रूप में संस्कृत से बहुत अधिक भेद होता है और इतिहास से भी यह बात विदित है कि कालिदास की नायिकाओं के बोलने की भाषा अशोक के बोलने की भाषा से बहुत पीछे के समय की है। पौराणिक काल के समाप्त होने पर एक दूसरा परिवर्तन हुआ और प्राकृत भाषा और बिगड़ कर उत्तरी भारतवर्ष में लगभग एक हजार ईस्वी तक हिन्दी हो गई।

इस प्रकार यह देखा जायगा कि ४००० वर्षों में उत्तरी भारत वर्ष की बोलने की भाषा में बड़े बड़े परिवर्तन हुए हैं। वैदिक काल में वह ऋग्वेद की संस्कृत थी, और ऐतिहासिक काव्यकाल में वह ब्राह्मणों की संस्कृत थी, दार्शनिक और बौद्ध कालों में वह पाली थी। पौराणिक काल में वह प्राकृत थी, और दसवीं शताब्दी में राजपूतों के उदय के समय से वह हिन्दी रही है।

अब हम भारतवर्ष की बोलने की भाषा के विषय को छोड़ कर उस के अक्षरों के विषय में लिखेंगे। इस के विषय में बहुत कुछ लिखा जा चुका है और बहुत से कल्पित अनुमान किए जा चुके हैं।

देवनागरी अक्षर, जिसमें कि अब संस्कृत लिखी जाती है, बहुत ही थोड़े समय के हैं। भारतवर्ष के सब से प्राचीन अक्षर जो कि अब तक मिले हैं, अशोक के शिलालेखों के अक्षर हैं जो

कि ईसा के पहिले तीसरी शताब्दी में लिखे गए थे । यहां पर यह कह देना आवश्यक है कि ये शिलालेख दो जुदे जुदे अक्षरो में खुदे हैं, एक तो आज कल की अरबी और फारसी की नाईं दहिनी ओर से बाईं ओर पढ़े जाते हैं और दूसरे आधुनिक देवनागरी और यूरप के अक्षरों की नाईं बाईं ओर से दहिनी ओर को। पहिले प्रकार के अक्षर केवल कपुर्दगिरि के शिलालेख में तथा एरियेना के यूनानी और मीरियन राजाओं के सिक्कों में पाए जाते हैं, और वे एरियेनो-पाली अथवा अशोक के उत्तरी अक्षर कहे जाते हैं। दूसरे प्रकार के अक्षर अशोक के और सब शिलालेखों में हैं और वे इण्डो-पाली वा अशोक के दक्षिणी अक्षर कहलाते है ।

एरियेनो-पाली अक्षरों की उत्पति भारतवर्ष से नहीं हुई और वे पश्चिमी सीमा प्रदेश को छोड़कर भारतवर्ष में और कहीं प्रचलित नहीं थे। टामस साहब का यह सिद्धान्त ठीक है कि उनकी उत्पत्ति किसी प्रकार भारतवर्ष में नहीं हुई और यह स्पष्ट है कि यह फिनीशियन के समान किसी अक्षर के आधार पर बने हैं। ईसा की पहिली शताब्दी के उपरान्त उनका प्रचार उठ गया ।

इस के विरुद्ध इण्डो-पाली अक्षरों का प्रचार भारतवर्ष में सर्वत्र ही नहीं था वरन् उन की उत्पत्ति भी भारतवर्ष ही से हुई है। हम पहिले कह चुके हैं कि वह दहिनी ओर से बाईं ओर को लिखे जाते हैं और देवनागरी तथा आज कल के भारतवर्ष में के अन्य अक्षरों की उत्पत्ति उन्हीं अक्षरों से हुई है । टामस साहब को यह कहने में कुछ भी सन्देह नहीं है कि ये अक्षर यहीं पर बनाए गए थे और यहीं उन की उत्पत्ति की गई थी और वे इस वर्णमाला की उत्पत्ति भारतवर्ष में बतलाने में बड़ा जोर देते हैं, क्योंकि बहुत से पुरातत्त्ववेता लोग इस अनुमान में मग्न हैं कि हिन्दुओं ने यूनानियों और फिनीशियन लोगों से अपनी वर्णमाला ली है ।

जेनरल कनिंगहाम साहब टामस साहब के इस विचार को पुष्ट करते हैं कि इण्डो-पाली अक्षरों की उत्पत्ति भारतवर्ष से हुई है । उन्होंने साधारणतः अक्षरों की उत्पाति, और विशेषतः इण्डो-

पाली अक्षरों की उत्पति के विषय में जो कुछ लिखा है वह ऐसा सारगर्भित हैं कि हम उसे यहां उद्धृत करते में संकोच नहीं करते।

"मनुष्यों ने लिखने का जो पहिला उद्योग किया होगा उस में जिन वस्तुओं को वे लिखना चाहते थे ठीक उन्हीं का केवल आकार उन्होंने बनाया होगा। इस अवस्था को हम मेक्सिको के चित्रों में पाते हैं जिन में कि केवल ऐसी वस्तुएँ लिखी हैं जो कि आँख से देखी जा सकती हैं। इन चित्रों की लिखावट में प्राचीन ईजिप्ट के लोगों ने यह उन्नति की कि वे पूरे चित्र के स्थान पर केवल उस का अंश लिखने लगे यथा मनुष्य के स्थान पर केवल मनुष्य का सिर और पक्षी के स्थान पर केवल पक्षी का सिर इत्यादि। इस लेख प्रणाली में कुछ चित्रों को उन वस्तुओं के भिन्न रूप देकर उन्नति की गई। अर्थात् सियार धूर्तता का चिन्ह बनाया गया और बन्दर क्रोध का चिन्ह। इन चिन्हों की और भी उन्नति करके दो हाथों में भाला और ढाल लिख करके युद्ध को प्रगट करने लगे, मनुष्य की दो टांगों को लिख कर चलने को प्रगट करने लगे और इसी प्रकार फरसे से खोदने को, आँख से देखने को इत्यादि। परन्तु इन सब बातों से भी चित्रों के द्वारा इस प्रकार विचारों को प्रगट करने की रीति बहुत ही परिमित थी...अतएव यह निश्चय जान पड़ता है कि बहुत ही प्राचीन समय में चित्रों के लिखने की रीति में इतनी उलझन और असुविधा हुई होगी कि ईजिप्ट के पुजेरियों को अपने विचारों को प्रगट करने के लिये कोई अधिक उत्तम रीति की आवश्यकता हुई। जो रीति उन्होंने निकाली वह बड़ी ही अच्छी थी।

"अपने बहुत से चित्रों के चिन्हों में ईजिप्ट के लोगों ने प्रत्येक के लिये एक विशेष उच्चारण नियत किया जिसके लिये पहिले एक चित्र था यथा मुख (रु) के लिये उन्होंने र का उच्चारण दिया और हाथ (तू) के लिये उन्हों ने त नियत किया......

"ऐसा ही व्यवहार भारतवर्ष में भी जान पड़ता है और इसे हम अभी अशोक के समय के अक्षरों में दिखलाने का यत्न करेंगे जिस की मैं समझता हूं कि भिन्न भिन्न वस्तुओं के चित्रों से उत्पत्ति

हुई है......मेरी यह सम्मति है कि भारतवर्ष के अक्षरों की उत्पत्ति भारतवर्ष से ही हुई है जैसा कि इजिप्ट के चित्राक्षरों का आविष्कार स्वयं ईजिप्ट के लोगों ने किया है....मैं इसे स्वीकार करता हूं कि बहुत से अक्षरों के लगभग वैसे ही रूप हैं जैसे कि ईजिप्ट के चित्राक्षरों में उन्हीं वस्तुओं के लिये मिलते हैं, परन्तु उनके उच्चारण बिल्कुल भिन्न हैं क्योंकि इन दोनों भाषाओं में उन वस्तुओं के नाम जुदे जुदे अक्षरों से आरम्भ होते हैं।

"यथा दो पैर जो कि चलने में जुदे हो जाते हैं ईजिप्ट में चलने के चिन्ह थे और वेही रूप कम्पास की दोनों भुजाओं की नाईं भारतवर्ष का ग अक्षर है जो कि सब संस्कृत शब्दों में किसी प्रकार की गति वा चलने को प्रगट करता है। परन्तु इसी आकार के ईजिप्ट के अक्षर का उच्चारण स है। इसलिये मैं समझता हूं कि यदि भारतवासियों ने इस अक्षर को कहीं से लिया होता तो भारतवर्ष में भी इस अक्षर का उच्चारण ग के स्थान पर स होना चाहिए था। और वास्तव में यही बात अकेडियन अक्षरों में हुई जब कि उन्होंने एसीरियन लोगों के अक्षरों को लिया।"

जनरल कनिंगहाम साहब का अनुमान है कि इण्डो-पाली के ख अक्षर की उत्पत्ति भारतवर्ष की कुदारी से (खन् = खोदना). य की उत्पत्ति यव से, द की उत्पत्ति दाँत (दन्त) से, ध की धनुष से, प की हाथ (पाँणी) से, म की मुख से, व की वीणा से, न की नाक (नाँस) से, र की रस्सी (रज्जु) से, ह की हाथ (हस्त) से, ल की हल (लङ्ग) वा मनुष्य के किसी अङ्ग से, श की कान (श्रवण) से हुई है।

"प्राचीन भारतवर्ष के अक्षरों की इस प्रकार परीक्षा करने में मैंने अशोक के समय अर्थात् २५० ई० पू० के समय के रूपों को भिन्न भिन्न वस्तुओं वा मनुष्य के अङ्गों वा चित्रों से मिलान किया है और मेरी इस परीक्षा का फल यह हुआ कि यह निश्चय हो गया कि बहुत से अक्षर अपने सरल रूपों में भी अपनी उत्पत्ति चित्रों से होने के बड़े प्रमाण रखते हैं। इन अक्षरों को ईजिप्ट के अक्षरों से मिलान करने से विदित होता है कि उनमें से बहुत से

एक ही वस्तु के प्रायः एक से रूप हैं। परन्तु भारतवर्ष के रूपों का उच्चारण ईजिप्ट के रूपों के उच्चारण से पूर्णतया भिन्न है जिससे यह निश्चय जान पड़ता है कि भारतवासियों ने यद्यपि ईजिप्ट के लोगों की भांति इस विषय में कार्य्य किया तथापि उन्होंने इस कार्य्य को पूर्णतया स्वतन्त्र रीति से किया है और उन्होंने अपने अक्षरों को ईजिप्ट के लोगों से नहीं लिया...

"अब यदि भारतवासियों ने अपने अक्षर ईजिप्ट के लोगों से नहीं लिए हैं तो वे अक्षर स्वयं भारतवासियों के ही बनाए हुए हैं, क्योंकि अन्य कोई ऐसे लोग नहीं थे जिन से कि उन्होंने इन्हें ग्रहण किया हो। उनके सब से निकट के लोग एरियना और फारस के लोग थे जिनमें से एरियना के लोग तो शेमिटिक अक्षर व्यवहार करते थे जिनकी उत्पत्ति फिनीशियन अक्षरों से हुई है। और जो दहिनी ओर से बाँईं ओर को लिखे जाते हैं, और फारस के लोग एक त्रिकोणरूपी अक्षरों का व्यवहार करते हैं जो कि जुदी जुदी पाइयों से बने हैं और इनमें भारतवर्ष के अक्षरों के घने रूपों से कुछ भी समानता नहीं है।"

हमने टामस साहब और जनरल कनिंगहाम साहब की सम्मतियाँ उद्धृत की हैं क्योंकि भारतवर्ष के अक्षरों के विषय में इन लोगों से बढ़ कर और किसी ने प्रामाणिक सम्मति नहीं दी है। परन्तु हमारे पाठकों को इस गहन विषय पर अन्य विद्वानों की सम्मति भी सुनने की इच्छा होगी।

वेबर साहब का मत है कि हिन्दुओं ने अपनी वर्णमाला फिनीशियन लोगों से ली परन्तु उन्होंने अपने अक्षरों को इतना अधिक सुधारा और बढ़ाया कि उनके अक्षरों को हम स्वयं उन्हींका बनाया हुआ कह सकते हैं। मेक्समूलर साहब का मत है कि पांचवीं शताब्दी से अधिक पहिले भारतवासियों में लिखने के अक्षर नहीं थे और उन लोगों ने अपनी वर्णमाला पश्चिम के लोगों से ग्रहण की है। परन्तु राथ साहब जिन्होंने बहुत समय तक वेदों का अध्ययन किया है अपना दृढ़ विश्वास प्रगट करते हैं कि वेदों की रिचाओं का इतना बड़ा संग्रह केवल कण्ठाग्र रख कर आज तक

रक्षित नहीं रह सकता था। और इसलिये उनका विचार है कि वैदिक काल में लोग लिखना जानते थे। बुहलर साहब का यह मत है कि भारतवर्ष की वर्णमाला जिसमें कि पांच सानुनासिक वर्ण और तीन ऊष्म वर्ण हैं ब्राह्मणों के काल के व्याकरणों में ही बनी होगी। गोल्डस्टूकर साहब का मत है कि जिस समय वेद की रिचाएँ बनीं उस समय लोग लिखना जानते थे और लेसन साहब की सम्मति है कि इण्डो-पाली या अशोक के दक्षिणी अक्षरों की उत्पत्ति पूर्णतया भारतवर्ष से हुई।

——:O:——

अध्याय ३

मगध के राजा।

छान्दोग्य उपनिषद् (७, १, २) में नारद कहते हैं "महाशय मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, चौथे अथर्वन वेद, पांचवें इतिहास पुराण इत्यादि को जानता हूं"। ऐतिहासिक काव्यकाल के ग्रन्थों में ऐसे ही ऐसे वाक्यों से विदित होता है कि उस प्राचीन समय में भी राजाओं और उनके वंशों का किसी प्रकार का इतिहास था जो कि इतिहास-पुराण कहलाता था। यदि ये इतिहास हमें ब्राह्मण ग्रन्थों में जो कुछ विदित होता है उसके सिवाय थे तो अब बहुत काल हुआ कि उनका लोप हो गया है। सम्भवतः ये इतिहास केवल जबानी कथाओं के द्वारा रक्षित रक्खे जाते थे और उन में प्रत्येक शताब्दी में परिवर्तन होता जाता था और दन्तकथाएं मिलती जाती थीं, यहां तक कि लगभग दो हजार वर्ष के उपरान्त उन्होंने इस रूप को ग्रहण किया जिसमें कि हम उन्हें आज काल के पुराणों में पाते हैं। क्योंकि पुराण जो आज कल वर्तमान हैं वे पौराणिक काल में बनाए गए थे और तब से उन में भारतवर्ष में मुसलमानों की विजय के पीछे कई शताब्दियों तक बहुत से परिवर्तन हुए हैं और उनमें बहुत सी बातें बढ़ाई गई हैं।

जब इन पुराणों का सर विलियम जोन्स साहब तथा यूरप के अन्य विद्वानों ने पहिले पहिल पता लगाया तो इससे बड़ी आशा हुई कि उनसे भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की बहुत सी बातें विदित होंगी। अतः बहुत से प्रसिद्ध विद्वान इस नई खोज में दत्त-चित्त हुए और डाक्टर एच. एच. विलसन साहब ने अङ्गरेजी जानने वालों के लिये विष्णुपुराण का अनुवाद किया "इस आशा से कि उससे मनुष्य जाति के इतिहास के एक प्रधान अध्याय की सन्तोषदायक पूर्ति हो सकेगी।"

पुराणों में कोशलों के राज्यवंश को सूर्य्यवंश और कुरु लोगों के वंश को चन्द्रवंश कहा है। पुराणों के अनुसार कुरुपञ्चाल युद्ध

होने के पहिले सूर्य्यवंश के ६३ राजा और चन्द्रवंश के ४५ राजा हो चुके थे। सन् १३५० ई० पू० को इस युद्ध का समय मानकर जैसा कि हमने किया है, और प्रत्येक राजा के शासन का औसत समय १५ वर्ष मान लेने से यह जान पड़ेगा कि आर्य्य लोगों के गंगा की घाटी में बसने और राज्य स्थापित करने का समय १४०० ई०पू० नहीं है जैसा कि हमने माना है वरन् उसका समय कम से कम इस के १००० वर्ष पहिले है। यह जान पड़ेगा कि भारतवर्ष के पुरातत्त्व वेत्ताओं को ऐतिहासिक काव्य काल १४०० ई० पू० से लेकर १००० ई० पू० तक स्थिर करने के स्थान पर उन्हें इसका समय १५ शताब्दी और पहिले स्थिर करना चाहिए अर्थात २५००० ई० पू० से १००० ई० पू० तक। और चूंकि वैदिक काल ऐतिहासिक काव्यकाल के पहिले है अतएव उसका समत यदि हम उसके और पहिले न स्थिर करें तो कम से कम ३००० ई०पू० में स्थिर करना चाहिए।

हमने इन बातों को यह दिखलाने के लिये लिखा है कि भारत-वर्षीय इतिहास के प्रथम दो काल का जो समय निश्चित किया जाता है वह केवल विचाराधीन है और आगे चल कर अधिक खोज से उनके और भी बढ़ाने की आवश्यकता हो सकती है जैसा कि ईजिप्ट और चेलिडया के विषय में हुआ है। पुराणों में सूर्य्यवंशी और चन्द्रवंशी राजाओं की जो सूची दी है केवल उन्हीं के आधार पर अभी हम समय बढ़ाना उचित नहीं समझते परन्तु फिर भी ये सूचियाँ बड़े काम की और बहुत कुछ निर्देश करने वाली हैं। इनसे इस बात का स्मरण होता है कि भारतवर्ष में जातियों और राज्य वंशों का उदय और अस्त केवल थोड़ी सी शताब्दियों में ही नहीं हो सकता, परन्तु उनमें १००० वर्ष वा इस से अधिक समय लगा होगा और वे हमें, यह भी स्मरण दिलाती है कि यदि हम ने वैदिक काल का प्रारम्भ होना २००० ई० पू० से मान लिया है तो यह अन्तिम सिद्धान्त नहीं है और आगे चल कर अधिक खोज से कदाचित हमें उसका समय ३००० ई० पू० वा इससे भी पहिले स्थिर करना पड़े।

अब पुराणों की सूची के विषय में यह कहना कदाचित ही आवश्यक है कि उसमें सूर्य्यवंशी राजाओं में हम को रामायण के

नायक राम का नाम और चन्द्रवंशी राजाओं में महाभारत के नायक पांचों पाण्डवों के नाम मिलते हैं। चन्द्रवंशी राजाओं में हमें अङ्ग, बङ्ग, कलिङ्ग, सुम्भ, और पुन्द्र के नाम मिलते हैं जो कि वास्तव में देशों के नाम अर्थात् क्रमात पूर्वी बिहार, पूर्वी बङ्गाल उड़ीसा, तिपरा और उत्तरी बंगाल के नाम हैं। कुरु लोगों के राज्यवंश के वृत्तान्त में पूर्वी भारतवर्ष के उपनिवेशित होने के समय की दन्त कथाएं भी मिल गई होंगी।

इस प्रकार यह देखा जायगा कि सूर्य्य और चन्द्रवंशी राजाओं के जो इतिहास पुराणों में दिए हैं वे कुछ अंश में तो सत्य और कुछ अंश में दन्तकथा मात्र हैं। इस सम्बन्ध में उनकी समानता संसार के उन इतिहासों से की जा सकती है जिन्हें कि यूरप के पुजेरियों ने मिडिल एजेज़ में कई शताब्दियों में लिखा है। प्रत्येक पुजेरी सृष्टि के आरम्भ से अपना इतिहास प्रारम्भ करता था जैसा कि प्रत्येक पुराण सूर्य्य और चन्द्र वंशों के स्थापित करने वालों के समय से प्रारम्भ होता है, और पुराणों के बनाने वालों की नाईं ईसाई पुजेरी भी यहूदियों की ऐतिहासिक कथाओं में कल्पित कथाएं और कौतुक की बातें मिला देते थे और ट्रोज़न लोगों के ब्रिटेन देश को पाने का वृत्तान्त और आर्थर और रोलेण्ड के विषय की दन्तकथाओं को सच्ची ऐतिहासिक घटनाओं के साथ मिला देते थे। फिर भी प्रत्येक प्रसिद्ध पुजेरी के इतिहासों में एक अंश ऐसा है जोकि ऐतिहासिक दृष्टि से अमूल्य है। जब ग्रन्थकार अपने समय के निकट आता था तो वह अपना अपने देश अपने राजा और अपने यहां के मठों का प्रामाणिक वृत्तान्त लिखता था। और इसी प्रकार मानों इस समानता को समाप्त करने के लिये, हम लोग पुराण की कथाओं के अन्त में भी कुछ न कुछ बात ऐसी पाते हैं जो कि इतिहास की दृष्टि से हमारे लिये अमूल्य हैं।

हम कह चुके हैं कि जो पुराण अब वर्तमान हैं वे पौराणिक काल में अर्थात् बौद्ध काल के समाप्त होने के उपरान्त ही संग्रहीत किए गए या नए रूप में बनाए गए थे। और दार्शनिक तथा बौद्ध कालों में मगध का राज्य भारतवर्ष की सभ्यता का केन्द्र था। इसी कारण पुराणों में हमें इस एक राज्य अर्थात् मगध के विषय में कुछ

बहुमूल्य बातें मिलती हैं। हम इस राज्य के विषय में विष्णुपुराण की सूची उद्धृत करेंगे।

"अब मैं तुमसे बृहद्रथ की संतति का वर्णन करूँगा जोकि मगध के (राजा) होंगे। इस वंश में बहुत से प्रबल राजा हुए हैं जिनमें सब से प्रसिद्ध जरासन्ध था। उसका पुत्र सहदेव हुआ, उसका पुत्र सोमापि है, उसका पुत्र श्रुतवत होगा, उसका पुत्र अयुतयुस् होगा, उसका पुत्र निरमित्र होगा, उसका पुत्र सुक्षत्र होगा, उसका पुत्र बृहत्कर्म्मन् होगा, उसका पुत्र सेनजित् होगा, उसका पुत्र शत्रुञ्जय होगा, उसका पुत्र विप्र होगा, उसका पुत्र शुचि होगा, उसका पुत्र क्षेम्य होगा, उसका पुत्र सुव्रत होगा, उसका पुत्र धर्म्म होगा, उसका पुत्र सुश्रम होगा, उसका पुत्र दृढ़सेन होगा, उसका पुत्र सुमति होगा, उसका पुत्र सुबल होगा, उसका पुत्र सुनीत होगा, उसका पुत्र सत्यजित होगा, उसका पुत्र विश्वजित होगा, उसका पुत्र रिपुञ्जय होगा। ये बारहद्रथ राजा हैं जोकि एक हजार वर्ष तक राज्य करेंगे।"

यद्यपि वायु पुराण, भागवत पुराण, और मत्स्य पुराण ने भी विष्णु पुराण की नाईं बारहद्रथों के लिये एक हजार वर्ष का समय दिया है फिर भी हम इन पुराणों के संशोधन करने का साहस करेंगे और इन बाईसों राजाओं के लिये कठिनता से ५०० वर्ष का समय देंगे। वास्तव में विष्णु पुराण ने अपनी भूल का संशोधन स्वयं किया है जैसा कि हम आगे चलकर दिखलावेंगे।

"बृहद्रथ वंश के अन्तिम राजा रिपुञ्जय का एक सुनीक नामक मंत्री होगा जोकि अपने सम्राट को मार कर अपने पुत्र प्रद्योतन को राजगद्दी पर बैठावेगा। उसका पुत्र पालक, उसका पुत्र विशाखयूप, उसका पुत्र जनक, और उसका पुत्र नन्दिवर्धन होगा। प्रद्योत के वंश के ये पांचों राजा पृथ्वी पर १३८ वर्ष तक राज्य करेंगे।"

"उसके उपरान्त शिशुनाग राजा होगा, उसका पुत्र काकवर्ण होगा। उसका पुत्र क्षेमधर्म्मन् होगा, उसका पुत्र क्षत्रौजस होगा, उसका पुत्र विम्बिसार होगा, उसका पुत्र अजातशत्रु होगा, उसका पुत्र दर्भक होगा, उसका पुत्र उदयाश्व होगा, उसका पुत्र भी नन्दि

बर्धन होगा, और उसका पुत्र महानन्दिन् होगा। ये दसो शिशुनाग राजा पृथ्वी पर ३६२ वर्ष तक राज्य करेंगे।"

यहाँ हम रुक जायंगे क्योंकि इस सूची में हमको एक या दो नाम ऐसे मिले हैं जिनसे कि हम परिचित हैं। वायु पुराण में विम्बिसार को बिंबिसार लिखा है और यह राजगृह का वही राजा है जिसके समय में गौतम बुद्ध ने कपिलवस्तु में जन्म लिया था और उसका पुत्र अजातशत्रु वही प्रतापी राजा है जिसके राज्य के आठवें वर्ष में गौतम की मृत्यु हुई। हमने बुद्ध की मृत्यु का समय ४७७ ई० पू० माना है और यदि अजातशत्रु के शेष समय तथा उसके चारों उत्तराधिकारियों के शासन के लिये एक सौ वर्ष का समय दें तो महानन्द की मृत्यु और शिशुनाग वंश के समाप्त होने का समय लग भग ३७० ई० पू० होता है।

अब यदि हम विष्णुपुराण में दिए हुए राज्य वंश के समय को मान लें तो बृहद्रथ वंश के लिये १००० वर्ष, प्रद्योत वंश के लिये १३८ वर्ष और शिशुनाग वंश के लिए ३६२ वर्ष हैं अर्थात् कुरु पाञ्चाल युद्ध से लेकर शिशुनाग वंश के अन्त तक ठीक १५०० वर्ष होते हैं। अथवा यों समझिए कि यदि शिशुनाग वंश की समाप्ति ३७०ई० पू० में समझी जाय तो कुरुपाञ्चाल युद्ध का समय लगभग १८७० ई० पू० होता है।

परन्तु विष्णु पुराण का यह समय निरूपण ठीक नहीं है और विष्णु पुराण के ज्योतिष ने इस भूल को संशोधित किया है। क्यों कि जिस अध्याय से हमने ऊपर के वाक्यों को उद्धृत किया है उसी अध्याय के अन्त में (खंड ४, अध्याय २४) यों लिखा है "परीक्षित के जन्म से नन्द के राज्याभिषेक तक १०१५ वर्ष हुए। जब सप्तर्षि के प्रथम दोनों तारे आकाश में ऊगते हैं और उनके ठीक बीचोबीच रात्रि के समय चन्द्रमा सम्बन्धी नक्षत्र पुञ्ज दिखलाई देता है तब सप्तर्षि इस नक्षत्रयुति में मनुष्यों के एक सौ वर्ष तक स्थिर रहता है। परीक्षित के जन्म के समय वे मघा नक्षत्र पर थे, जब सप्तर्षि पूर्वाषाढ़ में होंगे तब नन्द का राज्य आरम्भ होगा।" मघा से पूर्वाषाढ़ तक दस नक्षत्र होते हैं और इसी कारण यह जोड़ा

गया कि परीक्षित और नन्द के बीच एक हजार वर्ष हुए। और यदि नन्द के राज्य के आरम्भ होने का समय (अर्थात् शिशुनाग वंश के समाप्त होने का समय) ३७० ई० पू० माना जाय तो परीक्षित ने चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में जन्म लिया और कुरु पाञ्चाल युद्ध लगभग १४०० ई० पू० में हुआ।

हमारे पाठक लोग देखेंगे कि हमने इस ग्रन्थ के पहिले भाग में इस युद्ध का जो समय निश्चित किया है उसमें और इस समय में केवल डेढ़ शताब्दि से भी कम अन्तर है।

इसके विरुद्ध यदि हम इन ज्योतिष सम्बन्धी बातों को छोड़ दें और बृहद्रथ, प्रद्योत और शिशुनाग वंशों के ३७ राजाओं में से प्रत्येक के राज्य काल का औसत २० वर्ष रक्खें तो कुरु पाञ्चाल युद्ध का समय नन्द के ४७० वर्ष पहिले अर्थात् ११० ई०पू०में होता है और इस तिथि में भी हमारी निश्चित की हुई तिथि से डेढ़ शताब्दी से कम का अन्तर होता है। इसलिये हमने इस युद्ध का जो समय निश्चित किया है वह प्रायः ठीक है।

उपरोक्त बातों से हम मगध के राजाओं के समय की एक सूची बनाने का उद्योग करेंगे। हम जानते हैं कि अजातशत्रु का राज्य ४८५ ई० पू० में प्रारम्भ हुआ और उसके पिता बिंबिसार का राज्य ५३७ ई० पू० में प्रारम्भ हुआ, यदि हम बिंबिसार के चार पूर्वजों के लिये १०० वर्ष का समय मान लें तो शिशुनाग वंश ६३७ ई० पू० में प्रारम्भ हुआ।

शिशुनाग वंश के पहिले प्रद्योत वंश के पांच राजाओं ने राज्य किया और इन पांचों राजाओं का समय ठीक १३८ वर्ष कहा गया है। इससे प्रत्येक राजा का औसत समय २७ वर्ष से कुछ ऊपर होता है जो कि बहुत अधिक है। परन्तु यह मान कर कि एक वा दो राजा ने बहुत अधिक समय तक राज्य किया होगा, हम प्रद्योत वंश का समय १३८ वर्ष मान सकते हैं।

बृहद्रथ वंश के २२ राजाओं का राज्य समय १००० वर्ष कहा गया है। यह एक हज़ार वर्ष केवल एक गोल संख्या है और उसपर

विश्वास नहीं करना चाहिए। इसके लिये ५०० वर्ष का समय अधिक असम्भव है अथवा इसे ४८४ वर्ष रखिए जिसमें २२ राजाओं की संख्या से उसमें पूरा भाग लग सके। परन्तु इससे भी प्रत्येक राज्य का औसत समय २२ वर्ष होता है जो कि अधिक है। परन्तु यह समझ कर कि कदाचित् कुछ अनावश्यक राजाओं का शासन काल छोड़ दिया गया हो हम इस औसत को मान सकते हैं।

इस हिसाब से हम निम्न लिखित सूची बनाते हैं। परन्तु बिंबिसार और अजातशत्रु के ऐतिहासिक राज्य वंश अर्थात् शिशुनाग वंश के जोकि ईसा की पहिले सातवीं शताब्दी में प्रारम्भ होता है, पहिले के राजाओं का समय कहां तक ठीक है, यह हमारे प्रत्येक पाठक को स्वयं निश्चित करना चाहिए।

बृहद्रथ वंश

	ई० पू०		ई० पू०
जरा संध	१२८०	शुचि	१०३६
सहदेव (जो कि कुरु पाञ्चाल युद्ध के समय था)	१२५६	क्षेम्य	१०१७
		सुव्रत	९९५
सोमापि	१२३७	धर्म्म	९७३
श्रुतश्रवस	१२१५	सुश्रम	९५१
अयुतयुस्	११९३	दृढ़सेन	९२९
निरमित्र	११७१	सुमति	९०७
सुक्षत्र	११४९	सुबल	८८५
बृहत् कर्म्मन्	११२७	सुनीत	८६२
सेनजित	११०५	सत्यजित्	८४१
शत्रुञ्जय	१०८३	विश्वजित्	८१९
विप्र	१०६१	रिपुञ्जय	७९७ से ७७५ तक

प्रद्योत वंश

प्रद्योतन	७७५	जनक	६९१
पालक	७४७	नन्दिवर्धन	६६४ से ६३७ तक
विशाखयूप	७१९		

शिशुनाग वंश

	ई० पू०		ई० पू०
शिशुनाग	६३७	अजातशत्रु	४८५
काकवर्ण	६१२	दर्भक	४५३
क्षेमधर्म्मन्	५८७	उदयाश्व	४३२
क्षत्रौजस्	५६२	नन्दिवर्धन	४११
बिंबिसार	५३७	महानन्दिन	३६० से ३७० तक

अब हम पुनः वाक्यों को उद्धृत करेंगे।

"महानन्दिन् का पुत्र शूद्र जाति की स्त्री से होगा, उसका नाम नन्द महापद्म होगा क्योंकि वह अत्यंत लोभी होगा। दूसरे परशुराम की नाईं वह क्षत्रिय जाति का नाश करने वाला होगा, क्योंकि उसके पीछे पृथ्वी के राजा लोग (शूद्र) होंगे। वह समस्त पृथ्वी को एक छत्र के नीचे लावेगा; उसके सुमूल्य इत्यादि आठ लड़के होंगे जो कि महापद्म के पीछे राज्य करेंगे और वह तथा उसके पुत्र एक सौ वर्ष तक राज्य करेंगे। ब्राह्मण कौटिल्य नौ नन्दों का नाश करेगा।"

उपरोक्त वाक्यों में हम नीच जाति के राजाओं को क्षत्रियों की राजगद्दी पर बैठते हुए और मगध के इन राजाओं का बल और महत्व उत्तरी भारतवर्ष में बढ़ते हुए देखते हैं। हमें कौटिल्य अर्थात् प्रसिद्ध चाणक्य का भी उल्लेख मिलता है जिसने नन्द वंश से बदला लेने की प्रतिज्ञा की थी (मुद्राराक्षस नाटक देखो) और चन्द्रगुप्त को मगध की राजगद्दी पर बैठाने में सहायता दी थी। नन्द और उसके आठों पुत्रों के लिये जो १०० वर्ष का समय दिया है वह केवल एक गोल संख्या है और उसे ठीक नहीं समझना चाहिए। यदि हम नन्द और उसके आठों पुत्रों के लिये ५० वर्ष का समय नियत करें तो यह बहुत है और इससे चन्द्रगुप्त के मगध के राज पाने का समय ३२० ई० पू० होता है।

"नन्द वंश के समाप्त होने पर मौर्य्य वंश का राज्य होगा क्योंकि कौटिल्य चन्द्रगुप्त को राजगद्दी पर बैठावेगा, उसका पुत्र बिन्दुसार होगा, उसका पुत्र अशोकवर्धन होगा, उसका पुत्र सुय-

शाख होगा, उसका पुत्र दशरथ होगा, उसका पुत्र संगत होगा, उसका पुत्र सालिसुक होगा, उसका पुत्र सोमश्रक्षन होगा, और उसका उत्तराधिकारी वृहद्रथ होगा। ये मौर्य वंश के दस राजा हैं जो कि १३७ वर्ष तक इस पृथ्वी पर राज्य करेंगे।"

विष्णु पुराण का ग्रन्थकर्ता यहां पर अशोक वर्धन का उल्लेख करता है परन्तु उसके राज्य में धर्म्म के उस वृहद परिवर्तन का कुछ भी वृत्तान्त नहीं लिखता, जो कि इस संसार भर में एक अद्वितीय बात है। इस ब्राह्मण ग्रन्थकार के लिये गुणी चाणक्य के कार्य्य जिसने चन्द्रगुप्त को राज्य पाने में सहायता दी थी उल्लेख करने योग्य हैं, परन्तु उस प्रतापी अशोक के कार्य्य वर्णन करने योग्य नहीं हैं जिसने कि भारतवर्ष का नाम यश और धर्म्म एण्टीओक और मेसेडन से लेकर कन्या कुमारी और लङ्का तक फैला दिया था? अस्तु, जाने दीजिए। मौर्य वंश के लिये जो १३७ वर्षों का समय दिया है वह यदि मान लिया जाय तो मौर्य वंश की समाप्ति १८३ ई० पू० में हुई।

"इसके उपरान्त सङ्ग वंश राज्य करेगा क्योंकि (अन्तिम मौर्य्य राजा का) सेनापति पुष्पमित्र अपने स्वामी को मार कर राज्य ले लेगा। उसका पुत्र अग्निमित्र होगा, उसका पुत्र सुज्येष्ठ होगा, उसका पुत्र आर्द्रक होगा, उसका पुत्र, पुलिन्दक होगा, उसका पुत्र घोषवसु होगा, उसका पुत्र वज्रमित्र होगा, उसका पुत्र भागवत होगा, उसका पुत्र देवभूति होगा। ये सङ्ग वंश के दस राजा हैं जो कि ११२ वर्ष तक राज्य करेंगे।"

प्रसिद्ध कालिदास ने इस वंश के दूसरे राजा का नाम अपने प्रसिद्ध नाटक मालविकाग्निमित्र में अमर कर दिया है। परन्तु वहां अग्निमित्र विदिशा का राजा कहा गया है, मगध का नहीं। और उसके पिता पुष्पमित्र का सिंध नदी पर यवनों (बेक्ट्रिया के यूनानी लोगों) से युद्ध करने का वर्णन किया गया है। इस बात में सम्भवतः कुछ सत्यता भी है, क्योंकि सिकन्दर के समय के पीछे भारतवर्ष के पश्चिमी सीमा प्रदेश में बेक्ट्रियन और हिन्दू लोगों से

निरन्तर युद्ध होता रहा और मगध को, जो कि भारतवर्ष का मुख्य राज्य था, इन युद्धों में सम्मिलित होना पड़ता था। सङ्ग वंश के लिये जो ११२ वर्ष का समय दिया है उसे मान लेने से इस वंश की समाप्ति ७१ ई० पू० में निश्चित होती है।

"सङ्ग वंश के अन्तिम राजा देवभूति के कुकर्म्मों में लिप्त होने के कारण उसका वासुदेव नामक कान्व मंत्री उसे मार कर राज्य छीन लेगा। उसका पुत्र भूमिमित्र होगा। उसका पुत्र नारायण होगा, उसका सुशर्म्मन् होगा। ये चारों कान्वायन ४५ वर्ष तक इस पृथ्वी पर राज्य करेंगे।"

अब हम इन वंशों के राजाओं की तिथि विष्णु पुराण के अनुसार निश्चित करेंगे।

नन्द वंश

नन्द और उसके आठों पुत्र—३७० से ३२० तक।

मौर्य्य वंश

	ई० पू०		ई० पू०
चन्द्रगुप्त	३२०	सङ्गत	२०८
बिन्दुसार	२९१	सालिशुक	२०१
अशोक	२६०	सोमशमन	१९४
सुयशास्	२२२	बृहद्रथ	१८७ से १८३ तक
दशरथ	२१५		

सङ्ग वंश

पुष्प मित्र	१८३	प्रलिन्द्रक	१२९
अग्नि मित्र	१७०	घोषवसु	११५
सुज्येष्ठ	१५६	वज्रामित्र	१०४
वसुमित्र	१४८	भागवत	६३
आर्द्रक	१३७	देवभूति	८२ से ७१ तक

कन्व वंश

वासुदेव काण्व	७१	नारायण	५८
भूमि मित्र	५६	सुशर्म्मन्	३७ से २६ तक

इनमें से अनेक राजाओं का राज्य काल बहुत ही थोड़ा होने, राज्य वंश बहुधा बदलने और सेनापति और मंत्रियों का राजाओं को मार कर स्वयं राजा हो जाने से विदित होता है कि मगध का प्रताप अब नहीं रहा था और अब निर्बलता और क्षीणता आरम्भ हो गई थी। जिस राज्य ने चन्द्रगुप्त और अशोक के समय में सारे भारतवर्ष के लिये नियम निश्चित किए थे वह अब निर्बलता की अन्तिम अवस्था में था और वह किसी ऐसे प्रबल आक्रमण करने वाले को स्वीकार करने के लिये तयार था जोकि उसका राज्य चाहता हो। ऐसे आक्रमण करने वाले दक्षिण से आए दक्षिण में दार्शनिक काल में ही अन्ध्र का राज्य प्रबल और विख्यात हो गया था और अन्ध्र के एक सर्दार ने (जोकि एक "प्रबल भृत्य" कहा गया है) अब मगध को विजय किया और वहां ४५० वर्ष तक राज्य किया। विष्णु पुराण से अब हम एक सूची और उद्धृत करते हैं जिसमें कि इन अन्ध्र राजाओं के नाम दिए हैं।

"कान्व सुशर्म्मन् को अन्ध्र जाति का एक सिप्रक नामी प्रबल भृत्य मार डालेगा और स्वयं राजा बन बैठेगा (और वह अन्ध्र भृत्य वंश का स्थापित करने वाला होगा)। उसका उत्तराधिकारी उसका भाई कृष्ण होगा, उसका पुत्र श्रीसातकर्णि होगा, उसका पुत्र पूर्णोत्सङ्ग होगा, उसका पुत्र सातकर्णि होगा, उसका पुत्र लम्बोदर होगा, उसका पुत्र इवीलक होगा, उसका पुत्र मेघस्वति होगा, उसका पुत्र पटुमत होगा, उसका पुत्र अरिष्टकर्म्मन् होगा, उसका पुत्र हाल होगा, उसका पुत्र उत्तलक होगा, उसका पुत्र प्रविलसेन होगा, उसका पुत्र सुन्दरसातकार्णि होगा, उसका पुत्र चकोरसातकर्णि होगा, उसका पुत्र शिवस्वति होगा, उसका पुत्र गोतमीपुत्र होगा, उसका पुत्र पुलिमत होगा, उसका पुत्र शिव सातकर्णि होगा, उसका पुत्र शिवस्कन्ध होगा, उसका पुत्र यज्ञ

श्री होगा, उसका पुत्र विजय होगा, उसका पुत्र चन्द्रश्री होगा उसका पुत्र पुलोमार्चिस होगा। ये अन्ध्र भृत्य वंश के तीस राजा ४५६ वर्ष तक राज्य करेंगे।"

परन्तु उपरोक्त सूची में केवल १४ राजाओं के नाम हैं पर विष्णु पुराण में और वायु पुराण तथा भागवत पुराणों में भी इस वंश के तीस राजा कहे गए हैं। और यदि इस वंश का राज्य २६ ई० पू० में आरम्भ हुआ तो उपरोक्त समय के अनुसार उसकी समाप्ति सन् ४३० ई में हुई।

यदि हम इन ४५६ वर्षों को उपरोक्त २४ राजाओं में बांट दें तो प्रत्येक राज्य के लिये १६ वर्षों का औसत समय होता है जैसा कि हम नीचे दिखलाते हैं

अन्ध्र वंश

	ई० प्र०		ईस्वी
सिप्रक	२६	पुत्तलक	१८३
कृष्ण	७	प्रबिलसेन	२०२
	ईस्वी	सातकर्णि ३	२२१
सातकर्णि १	१२	सातकर्णि ४	२४०
पूर्णोत्सङ्ग	३१	शिवश्वति	२५९
सातकर्णि २	५०	गौतमीपुत्र	१२७८
लम्बोदर	६९	पुलिमत	२६७
इवीलक	८८	सातकर्णि ५	३१६
मघाश्वति	१०७	शिवस्कन्ध	३३५
पटुमत	१२६	यज्ञश्रीगौतमीपुत्र २	३५४
अरिष्ठकर्म्मन्	१४५	विजय	३७३
हाल	१६४	चन्द्रश्री	३६२
		पुलोमार्चिस ४११ से ४३० तक	

परन्तु विद्वानों ने गौतमीपुत्र प्रथम से लेकर गौतमीपुत्र द्वितीय तक ५ राजाओं की जो तिथियां शिलालेखों से निश्चित की हैं वे उपरोक्त तिथियों से नहीं मिलतीं। यह कुछ निश्चय

के साथ जाना गया है कि इन पांचों राजाओं ने लगभग १०० वर्ष तक राज्य किया अर्थात् ११३ ईस्वी से २११ ईस्वी तक।

यहां पर यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि अन्ध्र राजाओं का बल समय समय पर बदलता रहा और हम आगे के अध्याय में दिखलावेंगे कि सौराष्ट्र का देश ईसा की पहिली शताब्दी में इन के हाथ से चला गया था परन्तु उसे गौतमीपुत्र ने पुनः जीता। पांचवीं शताब्दी में इस वंश का पतन हुआ और तब मगध के राज का अन्त हो गया क्योंकि अन्ध्र राजाओं के पीछे अनेक विदेशी जातियों ने इस देश पर आक्रमण किया और उसे नष्ट और छिन्नभिन्न कर दिया। विष्णु पुराण में लिखा है कि अन्ध्रों के उपरान्त "भिन्न भिन्न जातियां राज्य करेंगी अर्थात सात आभीर जाति के राजा, १० गर्धभिल राजा, १६ शक राजा, ८ यमन राजा, १४ तुषार राजा, १३ मुण्ड राजा और ११ मौन राजा इस पृथ्वी का राज्य करेंगे।"

———:o:———

अध्याय ४

काश्मीर और गुजरात।

पिछले अध्याय में हमने भारतवर्ष के केवल मध्यदेश के राज्य का वर्णन किया है। हम देख चुके हैं कि ईसा के पहिले सातवीं शताब्दी में शिशुनाग के समय से लेकर भारतवर्ष में प्रधान अधिकार मगध के राजा का था। हम यह भी देख चुके हैं कि कई राज्य-वंशों के नाश होने के उपरान्त यह प्रधान अधिकार अन्ध्र वंश के हाथ लगा जिन्होंने कि ईसा के पहिले पहिली शताब्दी से लेकर ईसा के उपरान्त पांचवीं शताब्दी तक उसे रक्षित रक्खा।

जब अन्ध्र लोगों का भारतवर्ष के मध्य में सबसे प्रधान अधिकार था उस समय पश्चिम के प्रान्तों में विदेशी लोगों के बहुत आक्रमण हुए और हम उनमें से कुछ का यहां वर्णन करेंगे।

सिकन्दर के लौट जाने के उपरान्त चन्द्रगुप्त ने सिन्ध नदी के प्रान्तों में यूनानी हाकिम सिल्यूकस को हरा कर यूनानियों को भारतवर्ष से निकाल दिया। परन्तु बेक्ट्रिया में यूनानियों का एक स्वतन्त्र राज्य था और हिन्दुओं तथा बेक्ट्रिया के यूनानियों में कभी मित्रता और कभी शत्रुता का व्यवहार होता रहा। बेक्ट्रिया के यूनानी लोग सिक्के बनाने में बड़े तेज थे और उनके सिक्कों से एक से तीन ई० पू० तक उन के सब राजाओं की एक पूरी सूची बनाई गई है। बहुधा इन राजाओं का अधिकार सिन्ध के आगे तक बढ़ जाता था और यह निश्चय है कि बौद्ध हिन्दुओं की सभ्यता और शिल्प पर उन की सभ्यता का बड़ा प्रभाव पड़ा। बौद्धों के खँड़हरों में यूनानी संगतराशी के काम और हिन्दुओं के सिक्कों पर यूनानी लेख खुदे हुए मिलते हैं।

लगभग १२६ ई० पू० में यूची तथा अन्य जातियों ने मध्य-एशिया से हो कर काबुल को जीता और सिन्ध नदी तक अपना अधिकार जमाया और इन लोगों ने बेक्ट्रिया के राज्य का अन्त कर

दिया। इसी जाति का एक राजा हविश्क काबुल में राज्य करता था। ऐसा जान पड़ता है कि वह वहां से निकाला गया और तब उसने काश्मीर को विजय किया जहां कि उस के उत्तराधिकारी जुश्क और कनिश्क ने ईसा के उपरान्त पहिली शताब्दी में राज्य किया है।

कनिष्क बड़ा विजय करने वाला था और उसने अपना राज्य काबुल और यारकन्द से लेकर आगरे और गुजरात तक फैलाया। अशोक के समय से लेकर अब तक भारतवर्ष में ऐसा कोई राजा नहीं हुआ था। हुेनत्सांग लिखता है कि चीन के अधीनस्थ राजा लोग उसके पास मनुष्य वन्धक स्वरूप भेजते थे और जिस नगर में ये मनुष्य रहते थे वह चीनपटि कहलाता था। कनिष्क भी एक कट्टर बौद्ध था, उसने उत्तरी बौद्धों की एक बड़ी सभा की और आस पास के राज्य में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिये गुप्तदूत भेजे। हम पहिले लिख चुके हैं कि शकाब्द संवत् कनिष्क के राज्यकाल से चला है। डाक्टर ओडेनवर्ग कहते हैं कि यह संवत् कनिष्क के राज्याभिषेक के समय से गिना जाता है और यह बात ठीक जान पड़ती है।

कनिष्क की मृत्यु के उपरान्त इसके बड़े राज्य के टुकड़े टुकड़े हो गए और काश्मीर पहिले जैसा हलका राज्य था वैसा ही फिर हो गया। इस राज्य का इतिहास राजतरंगिणी नामक पुस्तक में दिया है जिसे कि कल्हण पण्डित ने बनाया था जो ईसा की बारहवीं शताब्दी में हुआ है। हम यहां पर इस इतिहास की कुछ अलोचना करेंगे।

इसमें कनिष्क के पहिले के समय की कोई मुख्य घटना नहीं लिखी है। उसमें लिखा है कि कुरुपाञ्चाल युद्ध के समय से लेकर कनिष्क के उत्तराधिकारी अभिमन्यु के समय तक १२६६ वर्षों में ५२ राजाओं ने राज्य किया। इससे कुरुपाञ्चाल युद्ध का समय ईसा के पहिले १२ वीं शताब्दी में निश्चित होता है। उसमें यह भी लिखा है कि कनिष्क के पहिले तीसरा राजा अशोक एक बौद्ध था और वह "एक सत्य और निष्कलङ्क राजा

था और उसने वितस्था के तटों पर बहुत से स्तूप बनवाए" उसका उत्तराधिकारी जलोक एक कट्टर हिन्दू था और उसने उन म्लेच्छों को भगाया जोकि पश्चिम से बड़ी संख्या में आ रहे थे। ये म्लेक्ष वेही तूरानी लोग रहे होंगे जिन्होंने कि इसके उपरान्त शीघ्र ही काश्मीर को विजय किया। जलोक का उत्तराधिकारी द्वितीय दामोदर हुआ और उसके उपरान्त विदेशी लोग आए और "उनके दीर्घराज्य में बौद्ध सन्यासी लोग देश में सब से प्रबल रहे और बौद्ध धर्म्म का प्रचार बिना किसी बाधा के हुआ।"

हम यहां कनिष्क से लेकर उज्जयिनी के विक्रमादित्य के समकालीन मातृगुप्त के समय तक ३१ राजाओं की नामावली देंगे। यदि हम कनिष्क के राज्याभिषेक का समय ७८ ईस्वी मानें और मातृगुप्त का समय ५५० ईस्वी तो इन ३१ राजाओं का समय ४७२ वर्ष होता है जिसमें प्रत्येक राज्य का औसत समय १५ वर्ष होता है और यह असम्भव नहीं है।

	ईस्वी		ईस्वी
कनिष्क	७८	क्षितिनन्द	२९५
अभिमन्यु	१००	वसुनन्द	३१०
गोनन्द	११५	नर २.	३२५
विभीषण प्रथम	१३०	अक्ष	३४०
इन्द्रजीत	१४५	गोपादित्य	३५५
रावण	१६०	गोकर्ण	३७०
विभीषण द्वितीय	१७५	नरेन्द्रादित्य	३८५
नर १	१९०	युधिष्ठिर	४००
सिद्ध	२०५	प्रतापादित्य	४१५
उत्पलाक्ष	२२०	जलोक	४३०
हिरण्याक्ष	२३५	तुञ्जिन	४४५
मुकुल	२५०	विजय	४६०
मिहिरकुल	२६५	जयेन्द्र	४७५
बक	२८०	सन्धिमति	४९०

मेघवाहन ५०५ और हिरण्य का उत्तराधिकारी
श्रेष्ठसेन ५२० मातृगुप्त हुआ
हिरण्य ५३० से ५५० तक

इनमें से कुछ राजाओं का संक्षिप्त वर्णन करने योग्य है। कहा जाता है कि नर प्रथम बौद्धों का बड़ा द्वेषी था और उसने बहुत से बौद्धमठ जला डाले और उन मठों के लिये जो गांव थे उन्हें ब्राह्मणों को दे डाला। मुकुल के राज्य में म्लेच्छों ने एक बार पुनः काश्मीर पर अपना अधिकार कर लिया पर उसका उत्तराधिकारी मिहिरकुल बड़ा विजयी था और कहा जाता है कि उसने अपना राज्य करनाट और लंका तक बढ़ाया। वह भी बौद्धों का बड़ा विरोधी था। प्रतापादित्य के राज्य से एक नया वंश आरम्भ होता है। उसके पोते तुञ्जिन के समय में साली अन्न पर अचानचक कड़ा पाला मार जाने के कारण काश्मीर में बडा अकाल पड़ा। मेघवाहन बौद्ध धर्मावलम्बी जान पड़ता है। कहा जाता है कि उसने लंका तक विजय किया और उसने अपने राज्य में तथा जिन जिन देशों को उसने जीता उन सब देशों में पशुओं के वध का निषेध किया। उसकी रानियों ने बहुत से बौद्ध मठ बनवाए। उसके उपरान्त उसका पुत्र श्रेष्ठसेन और उसके उपरान्त उसका पौत्र हिरण्य गद्दी पर बैठा और तब उज्जयिनी के विक्रमादित्य ने जोकि उस समय भारतवर्ष में सर्व प्रबल था मातृगुप्त को काश्मीर की गद्दी पर बैठाया।

काश्मीर के इस संक्षिप्त वृत्तान्त से अब हम गुजरात की ओर झुकेंगे। हम पहिले कह चुके हैं कि कनिष्क ने अपना राज्य दक्षिण में गुजरात तक फैलाया और गुजरात में उसके अधीनस्थ क्षहरात जाति के राजा राज्य करते रहे। परन्तु नहपान के उपरान्त ये राजा स्वतंत्र हो गए और मगध के अन्ध्र लोगों से जिनके आधीन सौराष्ट्र देश था, अपनी स्वतन्त्रता स्थिर रक्खी। ये लोग "शाह राजा" वा क्षत्रप राजा कहलाते हैं और उनका वृत्तान्त केवल उनके सिक्कों और शिलालेखों से विदित होता है और बहुत विचार के उपरान्त यह निश्चित हुआ है कि वे लोग शक

को व्यवहार करते थे और उनके सब सिक्कों और शिलालेखों पर शक संवत् दिया है । परिश्रमी और योग्य विद्वान भगवन लाल इन्द्रजीत ने इन शाह राजाओं को जिस क्रम में रक्खा है उसके अनुसार नीचे एक सूची दी जाती है । उसमें हम प्रत्येक राजा के लिये केवल एक एक सिक्के की तिथि देंगे ।

सौराष्ट्र के शाह राजा ।

	सिक्के की तिथि	सन ईस्वी		सिक्के की तिथि	सन ईस्वी
नहपान	४१	११६	विजयसेन	१६०	२३८
चष्टन	—	—	ईश्वरदत्त	—	—
जैदायन	—	—	दमजदश्री	१७६	२५४
रुद्र दामन	७२	१५०	रुद्र सेन	१८०	२५८
दामजद	—	—	भर्तृदामन	२००	२७८
जीवदावन	१००	१७८	विश्वासिंह	१६८	२७६
रुद्रसिंह	१०३	१८१	सिंहसेन	—	—
रुद्र सेन	१२५	२०३	विश्वसेन	२१६	२६४
संघदमन	१४४	२२२	रुद्रसिंह	२३१	३०९
पृथ्वीसेन	१४४	२२२	यशोदावन	२४०	३१८
दामसेन	१४८	२२६	सिंहसेन	—	—
दमजदश्री	१५४	२३२	रुद्रसेन	२७०	३४८
वीरदामन	१५८	२३६	रुद्रसिंह	३१०	३८८
यशोदामन	१६०	२३८			

इस राज्य वंश के जो बहुत से शिलालेख पश्चिमी भारतवर्ष के भिन्न भिन्न स्थानों में पाए गए हैं उनमें से हम यहां पर केवल एक

को लिखेंगे जो कि कदाचित् सब से पुराना है और जिससे हमारे पाठकों को इन शिलालेखों का ठीक ठीक ज्ञान हो जायगा। निम्न लिखित शिलालेख जो कि नासिक की गुफाओं में पाया गया है नहपान का है जो कि उपरोक्त सूची में पहिला राजा है।

"सर्व सम्पन्न को! यह गुफा और ये छोटे तालाब गोवर्धन में त्रिरश्मि पर्वतों पर दिनक के पुत्र राजा क्षहरत सत्रप नहपान के दामाद प्रिय उसवदात ने बनवाए थे जिसने कि तीन लाख गऊ और सोना दान दिया और बारनासाय नदी पर सीढ़ियां बनवाई, ब्राह्मणों और देवताओं को सोलह ग्राम दिए, प्रतिवर्ष एक लाख ब्राह्मणों को भोजन कराया, पवित्र स्थान प्रभसु पर ब्राह्मणों के लिये आठ स्त्रियाँ रख दीं, भरुकच्छ दशपुर गोवर्धन और सोरपराग में चतुष्कोण, गृह और टिकने के स्थान बनवाए, वाटिका, तालाब और कूएँ बनवाए, इबा, परादा, दमन, तापी, करबिना और दहनुका नदियों को पार करने के लिये उनमें डोंगियां छोड़वाई, धर्मशाला बनवाई, और पौसरा चलाने के लिये स्थान दिए और पिण्डित कावड़, गोवर्धन, सुवर्णमुख, सोरपराग, रामतीर्थ, और नाम मोल ग्राम के चरणों और परिषदों के बत्तीस नारियेरों के लिये एक हजार की जमा दी। ईश्वर की आज्ञा से मैं वर्षा काल में हिरुध उत्तमभद्र को छुड़ाने के लिये मालय को गया। मालय लोग (हम लोगों के युद्ध के बाजों का) नाद सुनकर भाग गए और वे सब उत्तम भद्र क्षत्रियों के अधीन बनाए गए। वहां से मैं पोक्षरणी को गया और वहां पर पूजा कर के तीन हजार गाय और एक गाँव दान दिया।"

नहपान का उपरोक्त शिलालेख जो कि नासक की गुफाओं में पाया गया है बड़े काम का है क्यों कि उससे विदित होता है कि काश्मीर के बौद्ध राजाओं का अधीनस्थ एक साधारण राजा भी ब्राह्मणों का सत्कार करने और उन्हें दान देने में कैसा प्रसन्न होता था और सन् ईस्वी के उपरान्त की शताब्दियों में हिन्दू धर्म्म और बौद्ध धर्म्म दोनों ही साथ साथ किस भाँति प्रचलित थे। इनके साथ साथ प्रचलित होने में बाधा केवल तब ही पड़ती थी जब कि कभी कभी

कोई बड़ा कट्टर राजा गद्दी पर बैठता था । ब्राह्मणों को स्वर्ण, गौ और गाँव दान देना, स्नान करने के लिये घाट, टिकने के लिये मकान, धर्म्मशाला, वाटिका, तालाब और कूएँ बनवाना बिना कुछ लिये लोगों को नदी के पार उतरने का प्रबन्ध करना और चरणों और परिषदों को दान देना, ये राजाओं के लिये उचित उदारता के कार्य्य समझे जाते थे । और अन्त में इस शिलालेख से हमको यह भी विदित होता है कि सौराष्ट्र लोगों ने उत्तमभद्र क्षत्रिय लोगों की सहायता करने के लिये मालव लोगों पर आक्रमण किया।

शाह लोगों का सब से अद्भुत शिलालेख गिर्नार के निकट एक पुल पर खुदा है जो कि रुद्रदामन का पुल कहलाता है। इसे पहिले पहिल जेम्स प्रिन्सेप साहब ने पढ़ा था और उनके उपरान्त इसके अधिक शुद्ध पाठ प्रकाशित हुए हैं । ऊपर दी हुई राजाओं की सूची से पाठक लोग देखेंगे कि रुद्रदामन नहपान के उपरान्त तीसरा राजा था और उसने ईसा की दूसरी शताब्दी के बीच में राज्य किया । इस शिलालेख में अनूठी बात यह है कि इसमें अशोक और उसके दादा चन्द्रगुप्त का उल्लेख है। इसमें लिखा है कि यह पुराना पुल नदी की बाढ से बह गया था, मौर्य वंशी राजा चन्द्रगुप्त के प्रधान शिल्पकार पुष्पगुप्त ने उसकी मरम्मत की और उसके उपरान्त अशोक के यवन राजा तुशष्प ने । इसके उपरान्त उसे महाक्षेत्र रुद्रदामन ने संवत ७२ में (अर्थात् सन १५० ईस्वी में) बनवाया । इस शिलालेख में रुद्रदामन ने यह भी शेखी हांकी है कि दक्षिण पथ के राजा सातकर्णि को उसने कई बार हराकर उससे सन्धि कर ली । और उसने सौराष्ट्र, कच्छ, तथा अन्य देशों को विजय करने का भी उल्लेख किया है। रुद्रदामन के उपरोक्त शिलालेख से विदित होगा कि सौराष्ट्र के शाह राजा बहुधा प्रसिद्ध अन्ध्र राजाओं की बराबरी करने वाले होते थे।

इसके विरुद्ध नासिक की एक गुफा के शिलालेख में अन्ध्र वंश का राजा गौतमीपुत्र लिखता है कि उसने सौराष्ट्र कच्छ तथा अन्य देशों को विजय किया और सहरत के वंश का नाश कर

दिया। यह द्वितीय गौतमीपुत्र था जिसने कि ईसा की दूसरी शताब्दी के अन्त में राज्य किया है।

हम इन तीनों जातियों के आक्रमण और विजय का वर्णन कर चुके हैं अर्थात् ईसा के पहिले दूसरी शताब्दी में बेक्ट्रिया के युनानियों का, ईसा के उपरान्त पहिली शताब्दी में यूची तथा अन्य तूरानी जातियों का, और अन्त में उनके अधीनस्थ उन शाह राजाओं का, जिन्हों ने तीन शताब्दियों तक सौराष्ट्र में राज्य किया। इसके उपरान्त और जातियों के भी आक्रमण हुए परन्तु उनका इतिहास में कुछ भी पता नहीं लगता।

अन्त में ईसा की चौथी और पाँचवी शताब्दियों में प्रसिद्ध हुन लोग आए। टीड्डियों के समान उनका बड़ा दल फारस में फैल गया और वहां के राजा बहराम गौर को उसने भारतवर्ष में आश्रय लेने के लिये विवश किया। उसने कन्नौज के राजा से सम्बन्ध कर लिया और उसकी कन्या से विवाह किया। सम्भवतः यह राजकुमारी, जिसने फारस के पति का स्वीकार किया, गुप्त वंश की कन्या थी, क्यों कि इस समय कन्नौज में गुप्त वंश के राजा राज्य करते थे और वे भारतवर्ष में सब से प्रबल थे। हम उनके विषय में अगले अध्याय में लिखेंगे।

——:o:——

अध्याय ५

गुप्त वंशी राजा।

५० वर्ष हुए कि जेम्स प्रिन्सेप साहब ने भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास के अध्ययन के लिये भारतवर्ष में जो शिलालेख मिले हैं उन सब को क्रमानुसार प्रकाशित करने की आवश्यकता दिखाई और उन्होंने यह भी सम्मति दी कि इस संग्रह का नाम कार्पस इन्सक्रुपशनम इण्डिकेरम् रक्खा जाय।

इस प्रस्ताव के अनुसार जेनरल सर एलेक्ज़ाण्डर कनिंगहाम साहब ने सन् १८७७ ईस्वी में इस ग्रन्थ का पहिला भाग प्रकाशित किया। उसमें अशोक के वे शिलालेख हैं जिनके विषय में हम इस पुस्तक के पहिले अध्याय में लिख चुके हैं।

बम्बई के सिविल सर्विस के फ्लीट साहब ने इस पुस्तक का तीसरा भाग सन् १८८६ में प्रकाशित किया। उसमें गुप्त राजाओं के शिलालेख हैं और उनकी तिथियों के विषय में भारतवर्ष तथा यूरप में गत ४० वर्षों से जो वादविवाद हो रहा है उसका भी एक इतिहास दिया है।

इस ग्रन्थ का दूसरा भाग जिसमें कि सौराष्ट्र के शाह राजाओं का शिला लेख होगा अभी तक नहीं आरम्भ किया गया। मैं आशा करता हूं कि कोई योग्य विद्वान और अनुभवी पुरातत्ववेत्ता इस कार्य्य के लिये अब भी नियत किया जायगा और भारतवर्ष के शिलालेखों के इस संग्रह को पूरा कर देगा जो कि भारतवर्ष के बौद्ध समय के इतिहास के लिये इतने उपयोगी हैं।

हम देख चुके हैं कि इन गुप्त राजाओं के समय के विषय में प्रायः ४० वर्षों तक वादविवाद होता रहा और बहुत से योग्य विद्वानों ने इस वादविवाद में अपना समय लगाया है। इस वाद विवाद के इतिहास लिखने में फ्लीट साहब ने अपने अमूल्य ग्रन्थ के ३० पन्ने लगाए हैं। पर हर्ष का विषय है कि यह वादविवाद

अब समाप्त हो गया और अब जो निश्चय किया गया है उसमें कोई सन्देह नहीं रह गया है। ११ वीं शताब्दी में अलबेरुनी ने लिखा है कि गुप्त संवत् शाक संवत् से २४१ वर्ष पीछे का है अर्थात् वह सन् ३०० ईस्वी से प्रारम्भ होता है। आधुनिक समय के सब एकत्रित प्रमाणों से यह बात ठीक जान पड़ती है और अब हम गुप्त लोगों के सिक्कों और शिलालेखों की तिथियों को पढ़ सकते हैं। केवल यह स्मरण रखना चाहिए कि उनसे सन् ईस्वी जानने के लिये हमें उनमें ३१६ वर्ष जोड़ने पड़ेंगे। फ्लीट साहब, जो अपने परिश्रमों की ओर कुछ पक्षपात करने में क्षमा के योग्य हैं, कहते हैं कि मन्दसोर के शिलालेख से, जिसे कि उन्हों ने प्राप्त किया है, यह वादविवाद निश्चित हो जाता है। विद्वान लोग प्रायः इस बात में सहमत हैं कि मन्दसोर का शिलालेख इस सिद्धान्त को सम्भवतः निश्चित कर देता है।

हम नीचे गुप्त राजाओं की नामावली तथा उनके सिक्कों और शिलालेखों की तिथियाँ और उनके ईस्वी सन् देते हैं—

सिक्कों और शिलालेखों
की तिथियाँ

(महाराज) गुप्त घटोत्कच	... ...	लगभग ३०० ई०
चन्द्रगुप्त १ (वा विक्रमादित्य)	... ...	„ ३१० ई०
समुद्रगुप्त	... ...	„ ३५० ई०
चन्द्रगुप्त २ (वा विक्रमादित्य)	८२,८८,९३,९५,	४०१,४०७,४१२,४१४ ई०
कुमारगुप्त (वा महेन्द्रादित्य)	९६,९८,१२९,१३०	४१५,४१७,४४८,४४९ ई०
स्कन्दगुप्त	१३६,१३७,१३८,१४१.१४४, १४५,१४६,१४८,१४९,	४५५,४५६,४५७,४६० ई० ४६३,४६४,४६५,४६७, ४६८

डाक्टर बुहलर साहब का यह मत है कि गुप्त संवत् चन्द्रगुप्त प्रथम का स्थापित किया हुआ है। उसके उत्तराधिकारी समुद्र गुप्त ने चौथी शताब्दी के दूसरे अर्ध भाग में राज्य किया। इलाहाबाद में अशोक की लाट पर खुदा हुआ लेख इस बड़े राजा के अधिकार और राज्य को बहुत कुछ विदित करता है।

"जिसका प्रताप और बड़ा सौभाग्य इस से विदित होता है कि उसने कोशल के महेन्द्र को, व्याघ्र राज महाकान्तार को, केरल के मन्त राज को, पिष्टपुर के महेन्द्र को, कोट्टुर के स्वामिदत्त को, एरण्डपल्ल के दमन को, काञ्ची के विष्णुगोप को, अवमुक्त के नील राज को, वेंगी के हस्तिवर्म्मन को, पलक्क के उग्रसेन को, देवराष्ट्र के कुबेर को, कुष्टलपुर के धनंजय को और दक्षिण के और सब राजाओं को कैद करके फिर छोड़ दिया।

"जिसका प्रताप बहुत बड़ा था और उसकी वृद्धि रुद्रदेव, मेतल, नागदत्त, चन्द्रवर्म्मन, गणपतिनाग, नागसेन, अच्युत, नन्दिन, बलवर्म्मन, तथा आर्य्यावर्त के अन्य बहुत से राजाओं के जड़ से विनाश करने से हुई थी, जिसने जंगली देशों के सब राजाओं को अपना नौकर बना लिया था।

"जिस राजा को सीमा प्रदेश के राजा लोग अर्थात् समतत, देवाक, कामरूप, नेपाल, कर्तृपुर तथा अन्यदेशों के राजा, और मालव लोग, अर्जुनायन, यौधेय, माद्रक, अभीर, फ्राजुन, सनकानिक, काक, करपरिक, तथा अन्य जातियाँ कर देकर और उसकी आज्ञाओं का पालन करके पूरी तरह से मानती थीं।

"जिसका सारे संसार में फैला हुआ शान्त सुयश बहुत से गिरे हुए राज्यवंशों को पुनः स्थापित करने से हुआ था जो अपने बाहु की बड़ी प्रबलता से सारे संसार को बाँधे हुए था और जिसे देवपुत्र, शाहि, शाहनुसाहि, शक, मुरुन्, सिंघल के लोग तथा अन्य सब द्वीपों के निवासी अपने को बलिदान की भाँति देकर, कुमारी स्त्रियों को उस की भेंट करके, गरुड़ चिन्ह देकर; अपने राज्य का भोग उसे दे कर, और उसकी आज्ञाओं का पालन करके सत्कार के साथ उसकी सेवा करते थे।"

यह एक गुप्त राजा का भड़कीला और कदाचित कुछ बढ़ाया हुआ वर्णन् है। उस से हमें विदित होता है कि उसने काञ्ची केराल, तथा दाक्षिणी भारतवर्ष के अन्य देशों को जीता उसने आर्य्यावर्त अर्थात उत्तरी भारतवर्ष के राजाओं का नाश किया, समतत

(पूर्वीबंगाल) कामरूप (आसाम) नेपाल तथा अन्य सीमा प्रदेशों के राजा और मालव, माद्रक, और अभीर इत्यादि जातियां उसके आज्ञाओं का पालन करती थीं और उसे कर देती थीं, और पश्चिमी देश शाह और शाहंशाह और लंका के लोग भी उसके लिये भेंट तोहफ़ तथा अपने देश की सुन्दर कुमारी स्त्रियाँ भेजते थे। इस शिलालेख के अन्त में लिखा है कि यह बड़ा राजा प्रतापी महा राजा गुप्त का परपौत्र"—"प्रतापी महाराज घटोत्कच का पौत्र"—"प्रतापी महाराजाधिराज चन्द्र गुप्त का पुत्र "—"महादेवी कुमार देवी से उत्पन्न हुआ था" जो कि लिच्छवि वंश की कन्या थीं। समुद्र गुप्त के उपरान्त उसका पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय गद्दी पर बैठा और उसके शिलालेखों में सांची में एक छोटा शिलालेख है जिस में बौद्ध सन्यासियों अर्थात् काकनाद बोट के पवित्र महाविहार के आर्य संघ को एक गांव दान देने का उल्लेख है। एक दूसरे स्थान पर अर्थात् मथुरा में एक शिलालेख पाया गया है जिसमें चन्द्रगुप्त ने अपनी माता का नाम दिया है और अपने को "महादेवी दत्तदेवी से उत्पन्न हुआ" महाराजाधिराज समुद्रगुप्त का पुत्र कहा है। चन्द्रगुप्त द्वितीय का उत्तराधिकारी उसका पुत्र कुमारपुत्र हुआ जिसका एक शिलालेख संयुक्त प्रदेश में बिलसड स्थान में पाया गया है जिसमें कि प्रथम गुप्त राजा से लेकर इस वंश की पूरी वंशावली दी है। और उसने अपने को "प्रतापी महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त का महादेवी ध्रुव देवी से उत्पन्न" पुत्र कहा है।

जिला इलाहाबाद में मनकुवर स्थान में ठाकुर भगवन लाल इन्द्रजी ने सन् १८७० ईस्वी में कुमार गुप्त का एक दूसरा शिलालेख पाया। यह शिलालेख बुद्ध की एक बैठी हुई मुर्ति के नीचे खुदा है और उस में लिखा है कि इस मूर्ति को कुमारगुप्त ने संवत् १२९ (सन् ४४८ ईस्वी में) स्थापित किया था।

प्रसिद्ध मन्दसोर का शिलालेख जिसे कि फ़्लीट साहब ने पाया था गुप्त राजाओं का खुदवाया हुआ नहीं है परन्तु उस में कुमार गुप्त का उल्लेख है और इसलिये उस का वर्णन यहां किया जा सकता है। यह सेंधिया के राज्य के दशपुर ग्राम में महादेव के एक मन्दिर के आगे की ओर एक पत्थर पर खुदा हुआ है। इस में लिखा

है कि इस स्थान पर कुछ रेशम बीनने वाले लोग गुजरात से आकर बसे और उन में से कुछ लोगों ने एक अच्छा व्यापार स्थापित किया । "जब कुमारगुप्त सारी पृथ्वी का राज्य करता था" उस समय विश्ववर्म्मन् नामक एक राजा था और उस का पुत्र बन्धुवर्म्मन् दशपुर में उस समय राज्य करता था जब कि बीनने वालों के समुदाय ने वहां एक मन्दिर बनवाया जोकि उस समय समाप्त हुआ "जिस ऋतु में कि बिजली की गरज सोहावनी जान पड़ती है, और जब मालव जाति को स्थापित हुए ४६३ वर्ष हो चुके थे"

"मालवानां गणस्थित्या याते शत चतुष्टते
तृणवत्य-धिकाब्दानां ऋतौ सेव्य घनस्वने'

और इस शिलालेख में यह भी लिखा है कि इस मन्दिर की मरम्मत उस वर्ष में हुई जब कि उसी संवत को व्यतीत हुए ५२६ वर्ष हो चुके थे ।

फ्लीट साहब का मत है कि दशपुर के बीननेवालों के शिला लेख में जिस कुमार गुप्त का उल्लेख है वह गुप्त वंश का वही कुमार गुप्त है और इस शिलालेख में जो संवत् लिखा है वह मालव जाति का संवत् है जो कि अब विक्रमादित्य का संवत् कहा जाता है और ईसा के ५६ वर्ष पहिले से आरम्भ होता है । अतएव यह मन्दिर (४६३-५६) =४३७ ईस्वी में बना था और उस की मरम्मत (५२६-५६) =४७३ ईस्वी में हुई ।

इससे एक आश्चर्यजनक बात विदित होती है, क्योंकि यदि फ्लीट साहब का विचार ठीक है तो विक्रमादित्य के संवत् के स्थापित होने का सच्चा कारण विदित हो गया । इस संवत् को विक्रमादित्य ने ईसा के ५६ वर्ष पहले स्थापित नहीं किया था जैसा कि पूर्व समय के विद्वानों का अनुमान था । परन्तु यह संवत् वास्तव में मालव लोगों का जातीय संवत् है और आगे चल कर इस में विक्रमादित्य का भी नाम मिल गया जिसने कि ईसा की छठीं शताब्दी में मालव लोगों को सब से श्रेष्ठ जाति बना दी थी ।

कुमार गुप्त का पुत्र स्कन्दगुप्त उसका उत्तराधिकारी हुआ। उस का एक शिलालेख गाज़ीपुर के जिले में मिला है और वह भितरी की लाट के नाम से प्रसिद्ध है। उस में गुप्त राजाओं की वंशावली आरम्भ से लेकर स्कन्द गुप्त तक दी है। परन्तु इससे अधिक काम का एक शिलालेख बम्बई प्रान्त के जूनागढ़ में मिला है। उस में विष्णु की आराधना के उपरान्त लिखा है कि स्कन्द गुप्त ने "जिसने कि समुद्रों तक सब पृथ्वी जीत ली थी और जिस के यश को म्लेच्छों के देश में" उस के शत्रु लोग भी मानते थे पर्णदत्त को सौराष्ट्र लोगों के देश का राजा नियत किया। पर्णदत्त ने अपने पुत्र चक्रपालित को नियत किया। संवत् १३६ (अर्थात् सन् ४५५ ईस्वी) में गिर्नार के नीचे की झील की बांध अतिवृष्टि के कारण टूट गई और यह बांध दो महीने में संवत १३७ में फिर बनवाई गई और यही शिलालेख का कारण है।

स्कन्दगुप्त गुप्त वंश का अन्तिम बड़ा राजा जान पड़ता है और इस के उपरान्त इस वंश में छोटे छोटे राजा हुए। बुद्ध गुप्त का एक शिलालेख मध्य प्रदेश में इरन में मिला है और वह संवत् १६४ अर्थात ४८४ ई० का है। उस में लिखा है कि बुद्ध गुप्त का अधीनस्थ राजा सुरश्मि चन्द्र कालिन्दी और नर्मदा के बीच के देश में राज्य करता था। उस शिलालेख में जनार्दन के नाम से विष्णु देवता की पूजा के निमित एक स्तम्भ स्थापित करने का वृत्तान्त है।

इरन के एक दूसरे शिलालेख में भानु गुप्त का उल्लेख है और उस में लिखा है कि गोपराज नामक एक सर्दार उस के साथ युद्ध में जा कर मारा गया। गोप राज की आज्ञाकारिणी प्रिय और सुन्दर स्त्री ने चिता में उस का साथ दिया"।

प्रबल गुप्त वंश के कि जिसने भारतवर्ष में १०० वर्ष के ऊपर तक सर्वोच्च अधिकार अपने हाथ में रक्खा था उस के नाश होने के विषय में बड़ा मत भेद है। डाक्टर फर्ग्युसन साहब कहते हैं कि हून लोगों के उस टीड़ी दल ने जिस ने कि एशिया में दूर दूर तक आक्रमण किया था, फारस को निर्बल कर दिया था, उसी ने

भारतवर्ष में गुप्त वंश का भी नाश किया । फ़्लीट साहब इस बात को विश्वास करने के प्रमाण दिखलाते हैं कि पञ्जाब का प्रतापी और कट्टर मिहिरकुल और उस का पिता तोरमान हन जाति का था । स्कन्दगुप्त की मृत्यु के उपरान्त तोरमान ने (जिसने कि हन लोगों को एक बार भगा दिया था) गुप्त राजाओं से लगभग ४६६ ईस्वी में पूर्वी मालवा देश छीन लिया । मिहिर कुल ने अपनी विजय और लोगों का नाश करना लगभग ५१५ ईस्वी में आरम्भ किया और अन्त में उसे उत्तरी भारतवर्ष के प्रतापी राजा यश धर्म्मन ने दमन किया । इस प्रकार मध्य भारतवर्ष में हन लोगों का अधिकार केवल थोड़े समय तक रहा परन्तु कोस्मा इण्डिको प्लयूस्टीज ने छठीं शताब्दी में लिखा है कि उस के समय तक भी हन लोग बड़े प्रबल थे और वे पंजाब में आकर बसे थे और यहां का राज्य करते थे ।

ये तथा अन्य विदेशी आक्रमण करने वाले, जिनके विषय में हम पहिले लिख चुके हैं, भारतवर्ष के लोगों में आकर बसे, उनकी भाषा धर्म्म और सभ्यता को ग्रहण किया और इस प्रकार उन्हों ने एक नई हिन्दू जाति स्थापित की जिस ने कि पौराणिक समय के अन्त में अर्थात् ९ वीं और १० वीं शताब्दियों में राजकीय उलट फेर में एक विशेष भाग लिया ।

——:o:——

अध्याय ६

फाहियान का भारतवर्ष का वृत्तान्त ।

पिछले तीन अध्यायों में हमने अपने पाठकों को भारतवर्ष में बौद्ध काल के मुख्य मुख्य राजवंशों का कुछ वृत्तान्त दिया है जोकि दुर्भाग्य वश बहुत सूक्ष्म और थोड़ा है । परन्तु केवल राज्य वंशों का वृत्तान्त ही भारतवर्ष का पूरा इतिहास नहीं है और इसलिये यह आवश्यक है कि हम भारतवर्ष में रहने वाली उन असंख्य जातियों के प्रधान नगरों का, उनके शिल्प और सभ्यता का अधिक स्पष्ट परिचय दें । सौभाग्य वश इस कार्य्य के लिये हमें कुछ सामग्रियाँ मिलती हैं और वे उस चीन के यात्री के ग्रन्थों में हैं जो कि बौद्ध काल के अन्त में भारतवर्ष में आया था ।

फाहियान भारतवर्ष में लगभग ४०० ईस्वी में आया और वह अपना वृत्तान्त उद्यान अर्थात् काबुल के आस पास के देश से आरम्भ करता है और लिखता है कि वहीं से उत्तरी भारतवर्ष आरम्भ होता है । उस समय उद्यान में मध्य भारतवर्ष की भाषा बोली जाती थी और यहां के लोगों का पहिरावा भोजन आदि भी मध्य भारतवर्ष के लोगों की ही नाईं था । उस समय यहां बौद्ध धर्म्म का बड़ा प्रचार था और ५०० संघ आराम अर्थात् बौद्ध सन्यासियों के मठ थे । उसने स्वतः गान्धार, तक्ष शिला, और पेशावर में होकर यात्रा की और पेशावर में उसने एक अद्भुत सुन्दरता का सुदृढ़ और ऊँचा बौद्ध मीनार देखा ।

नगरहार और अन्य देशों में यात्रा करता हुआ, सिन्ध नदी को पार कर फाहियान अन्त में यमुना नदी के तट पर मथुरा में पहुंचा। इस नदी के दोनों पार २० संघ आराम बने थे जिनमें कदाचित तीन हजार बौद्ध सन्यासी रहते थे । यहां बौद्ध धर्म्म का बड़ा प्रचार हो रहा था । "बियाबान के आगे पश्चिमी भारतवर्ष के देश हैं । इन देशों (राजपूताने) के राजा लोग सब बौद्ध धर्म में दृढ़ विश्वास रखने वाले हैं...इसके दक्षिण में वह बीच का देश है जो मध्यदेश

कहलाता है। इस देश का जल वायु गरम और एकसा रहता है, न तो वहां पाला पड़ता है और न बर्फ। वहाँ के लोग बहुत अच्छी अवस्था में हैं, उन्हें राज्य कर नहीं देना पड़ता और न राज्य की ओर से उन्हें कोई रोक टोक है। केवल जो लोग राजा की भूमि को जोतते हैं उन्हें भूमि की उपज का कुछ अंश देना पड़ता है। वे जहां जाना चाहें जा सकते और जहां रहना चाहें रह सकते हैं। राजा शारीरिक दण्ड नहीं देता। अपराधियों को उनकी दशा के अनुसार हलका वा भारी जुर्माना लगाया जाता है। यदि वे कई बार राज द्रोह करें तो भी केवल उनका दहिना हाथ काट लिया जाता है। राजा के शरीर रक्षक जो कि दहिनी और बांई ओर उसकी रक्षा करते हैं नियत वेतन पाते हैं। सारे देश में केवल चाण्डालों को छोड़कर कोई लहसुन वा प्याज नहीं खाता कोई किसी जीव को नहीं मारता, और मदिरा नहीं पीता...इस देश में लोग सूअर वा चिड़िया नहीं रखते और पशु का व्यापार नहीं करते। बाजार में मदिरा की दुकाने नहीं होती। बेचने में लोग कौड़ियों को काम में लाते हैं। केवल चाण्डाल लोग हत्या करके माँस बेचते हैं। बुद्ध के निर्वाण के समय से आज तक इन देशों के अनेक राजाओं, रईसों और गृहस्थों ने यहां विहार बनवाए हैं, और उनके व्यय के लिये खेत, मकान बगीचे, मनुष्य और बैल दिए हैं। खुदे हुए अधिकार पत्र तय्यार करवाए जाते थे और वे एक राजा के उपरान्त दूसरे राजा के राज्य में स्थिर रहते थे। उन्हें किसी ने छीनने का उद्योग नहीं किया अतएव आज तक उनमें कोई बाधा नहीं पड़ी। इनमें रहने वाले सब सन्यासियों के लिये बिछौने, चटाइयाँ, भोजन, पानी, और कपड़े अपरिमित रूप से दिए जाते हैं और यह बात सब जगह है।"

हमारा यात्री संकाश्य से होता हुआ कन्नौज में आया। हमारे पाठकों को स्मरण होगा कि इस समय कन्नौज गुप्त राजाओं की बड़ी चढ़ी राजधानी थी परन्तु दुर्भाग्य वश फाहियान ने इस नगर के दो संघआरामों को छोड़ कर और किसी के विषय में कुछ नहीं लिखा है।

साँची में होकर फाहियान, कोशल और उसकी प्राचीन राज-

धानी श्रावस्ती में आया। परन्तु इस बड़े नगर का बुद्ध के समय से अब नाश हो गया था और चीनी यात्री ने इस नगर में केवल बहुत थोड़े से निवासी देखे अर्थात् सब मिला कर कोई २०० घर थे। परन्तु जेतवन की, जहाँ बौद्ध ने बहुधा उपदेश दिया था, स्वाभाविक सुन्दरता अभी चली नहीं गई थी और वहां का विहार अब स्वच्छ तालाब सोहावने कुँज और रंग विरंग के असंख्य फूलों से सुशोभित था। इस विहार के सन्यासियों ने यह सुनकर कि फाहियान और उसका साथी चीन देश से आया है कहा "बड़ा आश्चर्य्य है कि पृथ्वी की सीमा प्रदेश के लोग धर्म्म की खोज की अभिलाषा से इतनी दूर तक आते हैं।"

गौतम का जन्मस्थान कपिलवस्तु अब उस सुशोभित दशा में नहीं था। "इस नगर में न तो कोई राजा है न प्रजा, वह एक बड़े भारी बियाबान की नाई होगया है। उसमें केवल कुछ सन्यासी लोग और गृहस्थों के लगभग १० घर हैं।" कुशिनगर भी, जहाँ कि गौतम की मृत्यु हुई थी, अब नगर नहीं रह गया था। वहां केवल बहुत थोड़े से लोग रहते थे और ये लोग केवल वेही थे जिनका कि वहां के रहने वाले सन्यासियों से कोई न कोई सम्बन्ध था।

तब फाहियान वैशाली में आया जोकि एक समय घमण्डी लिच्छवियों की राजधानी थी और जहाँ गौतम ने अम्बपालि वेश्या का आतिथ्य स्वीकार किया था। यहाँ बौद्धों की दूसरी सभा भी हुई थी और फाहियान ने उसका वर्णन लिखा है "बुद्ध के निर्वाण के १०० वर्ष पीछे वैशाली के कुछ भिक्षुकों ने दस बातों में विनय के नियमों को यह कह कर तोड़ डाला कि बुद्ध ने ऐसा करने की आज्ञा दी है। उस समय अरहतों और सत्यमतावलम्बी भिक्षुकों ने, जोकि सब मिला कर १०० थे, विनयपितक को फिर से मिलान कर के संग्रहीत किया।

गंगा को पार कर हमारा यात्री पाटलीपुत्र अर्थात् पटने में पहुँचा, जिसे कि पहिले पहिल अजातशत्रु ने अपने उत्तरी शत्रुओं को रोकने के लिये बनाया था और जो इसके उपरान्त प्रतापी अशोक की राजधानी था। "इस नगर में वह राजमहल

है जिसके भिन्न भिन्न भागों को उसने (अशोक ने) देवों से पत्थर का ढेर इकट्ठा करवा कर बनवाया था। इसकी दीवार, द्वार और पत्थर की नकाशी मनुष्य की बनाई हुई नहीं हैं, उनके खँडहर अब तक हैं।" अशोक के गुंबज के निकट एक विशाल और सुन्दर संघाराम और मन्दिर था जिसमें कोई छ वा सात सौ सन्यासी रहते थे। प्रसिद्ध ब्राह्मण, गुरु मंजुश्री स्वयं इस बौद्ध संघाराम में रहता था और बौद्ध श्रामन लोग उसका सत्कार करते थे। यहाँ पर बौद्धों के विधान उस समय जिस धूम धड़ाके से किए जाते थे उसका भी वर्णन है। "प्रतिवर्ष दूसरे मास के आठवें दिन मूर्तियों की एक यात्रा निकलती है। इस अवसर पर लोग एक चार पहिये का रथ बनवाते हैं और उस पर बाँसों को बाँध कर उसे पाँच खण्ड का बनाते हैं और उसके बीच में एक एक खम्भा रखते हैं जो कि तीनफले भाले की नाई होता है और ऊँचाई में २२ फीट या इससे भी अधिक होता है। इस प्रकार यह एक मन्दिर की नाँई देख पड़ता है। तब वे उसे उत्तम श्वेत मलमल से ढाँकते हैं और फिर उस मलमल को भड़कीले रंगों से रँगते हैं। फिर देवों की मूर्तियां बना कर और उन्हें सोने चांदी और काँच से आभूषित कर, कामदार रेशमी चन्दुए के नीचे बैठाते हैं। तब रथ के चारों कोने पर वे ताखा बनाते हैं और उनमें बुद्ध की बैठी हुई मूर्तियां जिनकी सेवा में एक बोधिसत्व खड़ा रहता है बनाते हैं। ऐसे ऐसे कदाचित बीस रथ बनाए जाते हैं और वे भिन्न भिन्न प्रकार से सज्जित किए जाते हैं। इस यात्रा के दिन बहुत से सन्यासी और गृहस्थ लोग एकत्रित होते हैं। जब वे फूल और धूप चढ़ाते हैं तो बाजा बजता है और खेल होता है। ब्रह्मचारी लोग पूजा करने के लिये आते हैं। तब बौद्ध लोग एक एक करके नगर में प्रवेश करते हैं। नगर में आने पर वे फिर ठहरते हैं। तब रात भर वे रोशनी करते हैं, गाना और खेल होता है और पूजा होती है। इस अवसर पर भिन्न भिन्न देशों से जो लोग एकत्रित होते हैं वे इस प्रकार कार्य्य करते हैं।" ईसा की पाँचवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म्म ने बिगड़ कर जो मूर्तिपूजा का रूप धारण किया था उसका यह आँखों देखा अमूल्य वृत्तान्त है।

इससे अधिक मनोरञ्जक पाटलीपुत्र के धर्म्मार्थ चिकित्सालयों का वृत्तान्त है। "इस देश के अमीरों और गृहस्थों ने नगर में चिकित्सालय बनवाए हैं जहाँ कि सब देश के गरीब लोग, जिन्हें आवश्यकता हो जो लंगडे हों वा रोगग्रस्त हों, रह सकते हैं। वहां वे उदारता से सब प्रकार की सहायता पाते हैं। चिकित्सक उनके रोगों की देखभाल करता है और रोग के अनुसार उनके खाने पीने और दवा काढे और वास्तव में उनके सुख की सब वस्तुओं के लिये आज्ञा देता है। आरोग्य होने पर वे अपनी इच्छानुसार चले जाते हैं।

फाहियान तब अजातशत्रु के नए बनवाए हुए नगर राजगृह में तथा बिम्बिसार के प्राचीन नगर में गया। यहाँ पर इस यात्री ने उस प्रथम बौद्ध संघ का उल्लेख किया है जो कि बुद्ध की मृत्यु के उपरान्त ही पवित्र पाठों को संग्रहीत करने के लिये हुआ था। "पर्वत के उत्तरी ओर एक पत्थर की गुफा है जो कि चेति कहलाती है। यहीं बुद्ध के निर्वाण के पीछे पवित्र पुस्तकों को संग्रहीत करने के लिये ५०० अरहत एकत्रित हुए थे।"

गया में फाहियान ने सब उजाड़ और बियावान की नाई पाया। उसने प्रसिद्ध बो वृक्ष तथा बुद्ध की तपस्याओं और सर्वज्ञता प्राप्त करने से सम्बन्ध रखने वाले सब स्थानों को देखा और उसने उन दन्तकथाओं को लिखा है जो कि गौतम की मृत्यु के उपरान्त गढ़ी गई थीं। तब वह काशी के देश और बनारस के नगर में आया और वहां उसने उस मृगदाय को देखा जहां गौतम ने पहिले पहल सत्यधर्म्म को प्रगट किया था। यहां उस समय दो संघाराम बन गए थे। वहां से वह कौशाम्बी के प्राचीन नगर में गया, जहां गौतम ने बहुत समय तक उपदेश किया था।

बनारस से फाहियान पाटलीपुत्र को लौटा। वह विनयपितक की हस्तलिखित प्रति की खोज में था। पर "सारे उत्तरी भारतवर्ष में भिन्न भिन्न अधिकारियों ने आज्ञाओं के जानने के लिये केवल मुख की कथा पर भरोसा किया है और उन्होंने कोई मूल ग्रन्थ नहीं रक्खा जिससे नकल की जा सके। इसीलिये फाहियान इतनी दूर मध्य

भारतवर्ष तक आया। परन्तु वहां बड़े संघाराम में उसे आज्ञाओं का एक संग्रह मिला।

गङ्गा नदी के मार्ग से आगे बढ़ता हुआ यह यात्री इस नदी के दक्षिण किनारे पर चम्पा नगर में पहुंचा। हम पहिले ही देख चुके हैं कि चम्पा अङ्ग अर्थात् पूर्वी बिहार की राजधानी थी और वह भागलपुर के निकट स्थित थी। पूर्व और दक्षिण की ओर आगे बढ़ते हुए फ़ाहियान ताम्रपर्लि में पहुंचा जो कि उस समय गंगा के मुहाने पर एक बड़ा बन्दरगाह था। उस देश में चौबीस संघाराम थे उन सब में सन्यासी लोग रहते थे, उनमें साधारणतः बुद्ध की आज्ञा का पालन किया जाता था। फ़ाहियान यहां दो वर्ष तक रह कर पवित्र पुस्तकों की नकल करता और मूर्ति के चित्र खींचता रहा। तब वह एक सौदागरी जहाज पर सवार हुआ और जाड़े की ऋतु की पहिली उत्तम हवा में जहाज ने दक्षिण-पश्चिम दिशा को प्रस्थान किया। वे लोग चौदह दिन और चौदह रात की यात्रा के उपरान्त "सिंहों के देश" (अर्थात् सिंहल वा लङ्का) में पहुंचे।

हमारा यात्री कहता है कि लंका में पहिले कोई निवासी नहीं थे, परन्तु यहां बहुत से व्यापारी लोग आकर धीरे धीरे बस गए और इस प्रकार यह एक बड़ा राज्य होगया। तब बौद्ध लोगों ने आकर (फ़ाहियान कहता है कि बुद्ध ने आकर) लोगों में अपने धर्म्म का प्रचार किया। लङ्का की जलवायु अच्छी थी और वहां वनस्पति हरी भरी रहती थी और नगर के उत्तर ओर ४७०, फीट ऊंचा एक बड़ा गुंबज़ और एक संघाराम था जिसमें ५००० सन्यासी रहते थे। परन्तु इन सुहावने दृश्यों के बीच हमारे यात्री का हृदय अपने घर के वास्ते घबराने लगा जिससे कि जुदा हुए उसे बहुत वर्ष हो गए थे। एक अवसर पर एक व्यापारी ने बुद्ध की एक २२ फीट ऊंची रत्नजटित मूर्ति को चीन का बना हुआ एक पंखा भेट किया जिससे फ़ाहियान को उसकी जन्मभूमि का स्मरण हो आया। वह बड़ा उदास हुआ और उसकी आंखों में आंसू भर आए।

लङ्का में दो वर्ष तक रह कर और विनयपितक तथा अन्य ग्रन्थों को जो चीन में "अब तक विदित नहीं थे" नकल करके फाहियान

एक बड़े सौदागरी जहाज पर सवार हुआ जिसमें लगभग २०० मनुष्य थे। एक बड़ा तूफान आया और बहुत सा असबाब समुद्र में फेंक देना पड़ा। फ़ाहियान ने अपना घड़ा और कटोरा समुद्र में फेंक दिया और उसे "केवल यह भय था कि व्यापारी लोग कहीं उसके पवित्र ग्रन्थ और चित्र समुद्र में न फेंक दें। यह तूफ़ान तेरह दिन पर कम हुआ और यात्री लोग एक छोटे टापू पर पहुंचे और वहां जहाज के छेद को बन्द करने के उपरान्त पुनः समुद्र में प्रस्थान किया गया।" इस समुद्र में बहुत से समुद्री डाकू हैं जो अचानक तुम पर छापा मार कर सब वस्तुओं को नष्ट कर देते हैं। स्वयं समुद्र का कहीं पारावार नहीं और दिशा जानने के लिये सूर्य चन्द्रमा वा तारों को देखने के सिवाय और कोई उपाय नहीं है और उन्हीं के अनुसार यात्रा करनी पड़ती है ...... अन्त को तूफान इत्यादि साफ हो गया उन्होंने अपना स्थान निर्दिष्ट किया और एक बार पुनः ठीक मार्ग को पाकर उन्होंने यात्रा आरम्भ की। और ६० दिन के उपरान्त यो-टी (जावा वा सुमात्रा) में पहुंचे। "इस देश में नास्तिक और ब्राह्मण लोग अधिकता से हैं।

यहां लगभग पांच मास ठहर कर फ़ाहियान एक दूसरे सौदागरी जहाज़ पर सवार हुआ जिसमें लगभग २०० मनुष्य थे और जिसमें ५० दिन के लिये भोजन की सामग्री थी। एक मास यात्रा करने पर समुद्र में एक तूफ़ान आया और इस पर मूढ ब्राह्मण लोग परस्पर बात करने लगे कि "हम लोगों ने इस श्रमन (फ़ाहियान) को जहाज पर चढ़ा लिया है इसी कारण हम लोगों का शगुन अच्छा नहीं हुआ और हम लोग इस दुर्घटना में पड़ गए हैं। आओ अब जो टापू मिले उस पर इस भिक्षु को उतार दें जिसमें एक मनुष्य के लिये हम सबका नाश न हो।" परन्तु फ़ाहियान के संरक्षक ने वीरता से उसका साथ दिया और किसी निर्जन टापू में उसकी मृत्यु होने से उसे बचा लिया। ८२ दिन की यात्रा के उपरान्त वे लोग चीन के दाक्षिणी किनारे पर पहुंच गए।

अध्याय ७

बौद्धों की इमारत और पत्थर के काम।

हिन्दू लोगों का ईसा के पहिले चौथी और तीसरी शताब्दियों में पहिले पहल अपने समान की सभ्य जाति से संसर्ग हुआ और वे लोग अपने शिल्प और विद्या की उन्नति के लिये यूनानियों के कितने अनुगृहीत हैं इसके विषय में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। स्वभावतः बहुत से ग्रन्थकारों ने इस विषय में शीघ्रता से यह निश्चय किया है कि घर बनाना और पत्थर का काम और लिखना तथा अपने अक्षर भी, हिन्दुओं ने पहिले पहल यूनानियों से सीखे।

किसी सभ्य जाति का संसर्ग किसी बड़ी और सभ्य जाति से होने से उनके शिल्प और सभ्यता में बहुत कुछ उन्नति अवश्य प्राप्त होती है। ईसा के पहिले चौथी और तीसरी शताब्दियों में यूनानी लोग निस्सन्देह संसार की सब जातियों में बड़े सभ्य थे, और उनमें विशेषता यह थी कि सिकन्दर ने जिन जिन देशों को जीता था उन सब में उन्होंने अपनी अद्भुत सभ्यता का प्रचार किया यहां तक कि एण्टिओक से लेकर बैक्ट्रिया तक समस्त पश्चिमी एशिया में यूनान की सभ्यता शिल्प और चाल व्यवहार प्रचलित हो गई। हिन्दू लोग बहुत से शिल्पों की उन्नति में ही नहीं वरन् कई कठिन शास्त्रों यथा ज्योतिष शास्त्र इत्यादि के लिये भी यूनानियों के बहुत अनुगृहीत हैं। यह बात भारतवर्ष के सब इतिहासज्ञ स्वीकार करते हैं और ऐसी मित्रता की सेवाओं को जिसे कि एक शिक्षित जाति ने दूसरी जाति के लिये किया है स्वीकार करना हमारा आनन्ददायक कर्तव्य होगा, जहां कहीं कि हम को ऐसी सेवाओं को स्वीकार करने के प्रमाण मिलें अथवा उसका अनुमान ही हो। परन्तु जहां कहीं प्रमाणों का अभाव हो वा जहां इस अनुमान के विरुद्ध प्रमाण मिलते हों उन अवस्थाओं में हमें अपने पाठकों को शीघ्रता से कोई अनुमान कर लेने से सचेत करना आवश्यक है।

घर बनाने की विद्या के लिये हिन्दूलोग यूनानियों के अनुगृहीत नहीं हैं। बौद्ध हिन्दुओं ने आरम्भ ही से घर बनाने की विद्या की स्वयं उन्नति की थी, वे अपने घर निराले ही आकार के बनाते थे और यह आकार शुद्ध भारतवर्ष का है, उन्होंने किसी विदेशी इमारत से इसे नहीं उद्धृत किया है। गान्धार और पञ्जाब में ऐसे खम्भे पाए गए हैं जोकि स्पष्ट आयोनिक ढङ्ग के हैं और साधारणतः इमारत भी यूनानी ढङ्ग की है। परन्तु स्वयं भारतवर्ष में बम्बई से लेकर कटक तक ईसा के तत्काल पीछे और पहिले की इमारतें शुद्ध भारतवर्ष के ढङ्ग की हैं। यदि हिन्दुओं ने घर बनाने की विद्या पहिले पहल यूनानियों से सीखी होती तो ऐसा न होता।

पत्थर की मूर्तियों के काम के लिये भी हिन्दू लोग (पञ्जाब को छोड़ कर) यूनानियों के अनुगृहीत नहीं हैं। डाक्टर फरग्यूसन साहब भरुत के जँगले (२०० ई० पू०) का वर्णन करते हुए लिखते हैं " इस बात पर जितना जोर दिया जाय थोड़ा है कि इसमें जो शिल्पकारी देखी जाती है वह शुद्ध देशी है। उसमें ईजिप्ट के होने का कुछ भी चिन्ह नहीं है वरन् वह सब प्रकार से उसके विरुद्ध है, और न उसमें यूनानी शिल्प का कोई चिन्ह है, और न यही कहा जा सकता है कि इसमें की कोई बात बेबिलोनिया वा एसीरिया से उद्धृत की गई है। खम्भों के सिरे कुछ कुछ पर्सी पोलिस की बनावट से मिलते हैं और उनमें फूल पत्ती का काम भी वहीं के जैसा है, परन्तु इसके विरुद्ध शिल्पकारी और विशेषतः जँगलों में मूर्ति की खोदाई का काम स्वयं भारतवासियों का और केवल भारत वासियों का ही जान पड़ता है। "

अब हम हिन्दुओं की इमारत और पत्थर की मूर्ति के काम के कुछ उन अद्भुत नमूनों का संक्षेप में वर्णन करेंगे जो कि ईसी के तत्काल पहिले और पीछे की शताब्दियों के बने हुए अब तक वर्तमान हैं और इस विषय में डाक्टर फरग्यूसन साहब हमारे पथदर्शक होंगे। ऐसे नमूने प्रायः सभी बौद्धों के बनाए हुए हैं। बौद्धों के पहिले पत्थर का काम अधिकतर इंजीनियरी के कामों

यथा नगर की दीवालों फाटकों पुलों और नदी की बांधों में होता था और यदि कभी कभी महल और मन्दिर इत्यादि भी पत्थर के बनाए जाते रहे हों तो इस समय उसका कोई नमूना प्राप्त नहीं है। इसके सिवाय हिन्दुओं और जैनों की पत्थर की इमारतें जो कि भारतवर्ष में सर्वत्र अधिकता से पाई जाती है ईसा की पांचवीं शताब्दी के उपरान्त की बनी हुई हैं और इसलिये हम पौराणिक काल में उनके विषय में लिखें गे। इस अध्याय में हम केवल बौद्ध काल के शिल्प का वर्णन करेंगे और ऐसी इमारतें सब बौद्धों की बनाई हुई हैं।

डाक्टर फरग्यूसन साहब इनके पांच विभाग करते हैं अर्थात्—

(१) लाट वा पत्थर के खम्भे जिनमें प्रायः शिलालेख खुदे रहते हैं।

(२) स्तूप जो कि किसी पवित्र घटना वा स्थान को प्रगट करने के लिये बनवाए जाते थे वा जिनमें बुद्ध के मृत शरीर का कुछ कल्पित शेष भाग समझा जाता था।

(३) जँगले जिनमें बहुधा बहुत अच्छी नकाशी के काम होते थे और जो बहुधा स्तूपों को घेरने के लिये बनाए जाते थे।

(४) चैत्य अर्थात् मन्दिर।

(५) विहार अर्थात् मठ।

सब से प्राचीन लाट वे हैं जिन्हें भारतवर्ष के अनेक भागों में अशोक ने बनवाया था और जिनमें उसकी प्रजा के लिये बौद्ध धर्म्म के नियम और सिद्धान्त खुदे हुए हैं। सब से प्रसिद्ध लाट दिल्ली और इलाहाबाद की है जिन पर खुदे हुए लेखों को पहिले पहल जेम्स प्रिन्सेप साहब ने पढ़ा था। इनमें से दोनों पर अशोक के लेख खुदे हुए हैं. और इलाहाबाद की लाट पर अशोक के उपरान्त गुप्त वंश के समुद्रगुप्त का लेख भी खुदा हुआ है जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं और इसमें इस राजा के प्रताप का वर्णन और उसके पूर्वजों के नाम दिए हैं। ऐसा जान पड़ता है कि यह लाट गिरा दी गई थी और इसे शाहंशाह जहांगीर ने सन् १६०५ ईस्वी

में पुनः बनवाया और उस पर अपना राज्य आरम्भ होने के स्मारक की भांति फारसी अक्षरों में एक लेख खुदवाया । बहुत सी अन्य लाटों की नाईं इस लाट का भी सिरा नहीं है, परन्तु तिरहुतकी लाट के सिरे पर एक शेर की मूर्ति और मथुरा और कन्नौज के बीच में संकाश्य की लाट के सिरे पर एक खण्डित हाथी है परन्तु वह इतना खण्डित है कि हैनत्सङ्ग ने उसे शेर समझा था । बम्बई और पूना के बीच कर्ली की गुफा के सामने जो लाट है उसके सिरे पर चार शेर हैं । ३२ न० की दोनो लाटों का सम्बन्ध गुप्त राजाओं के संवत् से कहा जाता है ।

कुतुब मीनार के निकट जो लोहे का अद्भुत खम्भा है उसे दिल्ली जाने वाले प्रत्येक यात्री ने देखा होगा । वह पृथ्वी के ऊपर २२ फीट है और २० इंच पृथ्वी के भीतर है, और उस का व्यास नीचे १६ इञ्च और सिरे पर १२ इञ्च है । उस पर भी अन्य-लाटों की नाईं लेख खुदा हुआ है परन्तु दुर्भाग्य वश इस लेख में कोई तिथी नहीं दी है । जेम्स प्रिन्सेप साहब कहते हैं कि यह चौथी वा पांचवीं शताब्दी का है और डाक्टर भाऊदाजी इसे पांचवीं वा छठीं शताब्दी का बतलाते हैं । इसका समय पांचवीं शताब्दी मान कर डाक्टर फरग्यूसन साहब के अनुसार "यह हमारी आंख खोल कर बिना सन्देह के बतलाता है कि हिन्दू लोग उस समय मे लोहे के इतने बड़े खम्भे को बनाते थे, जो कि यूरप में बहुत इधर के समय में भी नहीं बने हैं और जैसे कि अब भी बहुत कम बनते हैं । और इसके कुछ ही शताब्दी के उपरान्त इस लाट के बराबर के खम्भों को कनारक के मन्दिर में धरन की भांति लगे हुए मिलने से हम को विश्वास करना चाहिए कि वे लोग इस धातु का काम बनाने में इसके उपरान्त की अपेक्षा बड़े दक्ष थे ।

और यह बात भी कम आश्चर्यजनक नहीं है कि १४०० वर्ष तक हवा और पानी में रह कर उसमें अब तक भी मुर्चा नहीं लगा है और उसका सिरा तथा खुदा हुआ लेख अब तक भी वैसा ही स्पष्ट और वैसा ही गहिरा है जैसा कि वह १४०० वर्ष पहले बनाया गया था ।"

स्तूपों में भिलसा के स्तूप प्रसिद्ध हैं। पूरब से पश्चिम तक १० मील और उत्तर से दक्षिण तक ६ मील के भीतर भूपाल राज्य में भिलसा गांव के निकट इन स्तूपों के पांच वा छः समूह हैं जिन में लगभग २५ वा ३० स्तूप समूह होंगे। जेनरल कार्निंगहाम साहब ने पहिले पहल इनका एक वृत्तान्त सन् १८५४ इस्वी में प्रकाशित किया था और तब से उनका कई बेर वर्णन किया गया है। इन स्तूपों में सब से प्रधान सांची का बड़ा स्तूप है जिस की बैठक १४ फीट ऊँची और गुम्बज ४२ फीट ऊँचा है और आधार के ठीक ऊपर उसका व्यास १०६ फीट है। जँगले ११ फीट ऊँचे हैं और फाटक जिसमें कि बहुत ही अच्छा पत्थर का काम है और जिसका वर्णन हम आगे चल कर करेंगे ३३ फीट ऊँचा है।

इस बड़े ढूहे के बीच का भाग बिल्कुल ठोस है और वह मिट्टी में जमाई हुई ईंटों से बना है परन्तु उसका बाहरी भाग चिकने किए हुए पत्थरों का बना हुआ है। इसके ऊपर मसाले की एक तह थी जिस पर निस्सन्देह चित्रकारी की हुई थी।

सांची के आस पास दूसरे बहुत से स्तूपों के समूह हैं अर्थात् एक तो ६ मील दूर सोनारी पर, दूसरा उसके तीन मील आगे सतधर पर और सांची से ७ मील दूर भोजपुर में अनेक समूह हैं। एक दूसरा समूह भोजपुर से पांच मील दूर अवधर में है। सब मिला कर एक छोटे से जिले में ६० स्तूपों से कम नहीं हैं।

हमारे बहुत से पाठक जो बनारस गए होंगे उन्होंने सारनाथ का स्तूप अवश्य देखा होगा जो उसी प्राचीन मृगदाय में बना हुआ है जहां कि गौतम ने पहिले पहल अपने नवीन धर्म्म का उपदेश किया था। उसका आधार पत्थर का ९३ फीट के व्यास का है जो कि ४३ फीट ऊँचा ठोस बना हुआ है। उसके ऊपर ईंट का काम है जो कि आस पास की भूमि से १२८ फीट ऊँचा है। उस के नीचे का भाग अठपहल बना हुआ है जिसके प्रत्येक ओर एक आला खुदा है। जेनरल कार्निंगहाम साहब का विश्वास है कि इसके बनने का समय ईसा की छठीं वा ७ वीं शताब्दी है।

बङ्गाल में एक दूसरा स्तूप है जो कि जरासिन्ध की बैठक

के नामसे प्रसिद्ध है। उसका व्यास २८ फीट और ऊँचाई २१ फीट है और वह ४ फीट के आधार पर बनाया गया है। उसका उल्लेख ह्वेनत्साङ्ग ने किया है और उसके बनने का समय सम्भवतः ५०० ईस्वी है।

अमरावती का स्तूप वा दगोब जिसे कि ह्वेनत्साङ्ग ने देखा था, अब नहीं है। गान्धार देश में कई प्रकार के स्तूप हैं। परन्तु कनिष्क का वह बड़ा दगोब जो कि ४७० फीट से अधिक ऊँचा था और जिसे फाहियान और ह्वेनत्साङ्ग ने देखा था अब नहीं है। गान्धार के स्तूपों में सब से आवश्यक पञ्जाब में सिन्ध और झेलम के बीच मानिकयल के स्तूप हैं। इस स्थान पर १५ वा २० स्तूप पाए गए थे और उनमें से कुछ स्तूपों को रणजीतसिंह के फरासीसी सेनापति वेन्टूर और कोर्ट साहबों ने सन् १८३० ई० में पहिले पहल खोला था। इनमें से प्रधान स्तूप का गुम्बज ठीक गोलार्ध है जिस का व्यास १२७ फीट है और इस कारण उसका घेरा लगभग ४०० फीट हुआ।

बौद्ध काल की सब उत्तम इमारतों के काम स्तूपों के चारों ओर के जँगले और फाटक हैं। सब से पुराने जंगले बुद्धगया और भरहुत के हैं। डाक्टर फर्ग्यूसन साहब बुद्ध गया के जँगलों का समय २५० ई० पू० और भरहुत के जंगलों का समय २०० ई० पू० कहते हैं। बुद्धगया के जँगले १३१ फीट लम्बे और ९८ फीट चौड़े समकोण चतुर्भुज आकार के हैं और उसके खम्भे ५ फीट ११ इंच ऊंचे हैं।

भरहुत इलाहाबाद और जबलपुर के बीच में है। यहां का स्तूप अब बिलकुल नहीं रहा है, वह गांव के बनाने के काम में लाया गया परन्तु उसके जँगलों का लगभग आधा भाग अब तक है। वह पहिले ८८ फीट के व्यास का अर्थात् लगभग २७५ फीट लम्बा था। उसके चार द्वार थे जिन पर साढ़े चार फीट ऊँची मूर्तियां थीं। जेनरल कनिँगहाम साहब के मरम्मत के काम से जान पड़ता है कि पूरब के फाटक के खम्भे २२ फीट ६ इञ्च ऊँचे थे। धरनों पर मनुष्यों की कोई मूर्ति नहीं थी। नीचे की धरन पर हाथियों की

एक पंक्ति थी, बीच की धरन पर शेरों की, और सब से ऊपर की धरन पर सम्भवतः घड़ियालों की। जँगला ९ फीट ऊंचा था और उसके भीतर की ओर लगातार पत्थर की मूर्तियां खुदी थीं जो एक दूसरे से एक सुन्दर बेल के द्वारा जुदी की गई थीं। इनमें से लगभग १०० मूर्तियां पाई गई हैं और उन सब में कथाओं के दृश्य हैं और प्रायः सबमें जो जातक दिखलाए गए हैं उनका नाम भी खुदा हुआ है। भारतवर्ष में केवल एक यही स्मारक है जिसमें कि इस प्रकार लेख खुदे हुए हैं और इसीलिये भरहुत के जँगले ऐसे बहुमूल्य समझे जाते हैं।

इन जँगलों से भारतवर्ष के पत्थर के काम की जो अवस्था प्रगट होती है उसके विषय में हम डाक्टर फरग्यूसन साहब की सम्मति उद्धृत करने के लिये क्षमा नहीं मांगेंगे—

"जब हम लोग हिन्दुओं के पत्थर के काम को पहिले पहल बुद्ध गया और भारहुत के जँगलों में २०० से ले कर २५० ई० पू० तक देखते हैं तो हम उसे पूर्णतया भारतवर्ष का पाते हैं जिसमें कि विदेशियों के प्रभाव का कोई चिन्ह नहीं है। परन्तु उनसे वे भाव प्रगट होते हैं और उनकी कथा इस स्पष्ट रूप से विदित होती है जिसकी समानता कम से कम भारतवर्ष में कभी नहीं हुई। उसमें कुछ जन्तु यथा हाथी, हिरन, और बन्दर ऐसे बनाए हुए हैं जैसे कि संसार के किसी देश में बने हुए नहीं मिलते, और ऐसे ही कुछ वृक्ष भी बनाए गए हैं और उनमें नकासी का काम इतनी उत्तमता और शुद्धता के साथ बना हुआ है कि वह बहुत प्रशंसनीय है। मनुष्यों की मूर्तियां भी यद्यपि वे हम लोगों की आज कल की सुन्दरता से बहुत भिन्न हैं परन्तु बड़ी स्वाभाविक हैं और जहां पर कई मूर्तियों का समूह है वहां पर उनका भाव अद्भुत सरलता के साथ प्रगट किया गया है। रैलफ की नाई एक सच्चे और कार्योपयोगी शिल्प की भांति कदाचित इससे बढ़ कर और कोई काम नहीं पाया गया।"

भूपाल के राज्य में सांची के बड़े स्तूप के चारों ओर का जँगला गोलाकार है। उसका व्यास १४० फीट है और उसके अठ पहल

खम्भे ८ फीट ऊँचे एक दूसरे से दो दो फीट की दूरी पर हैं। वे सिरे पर तथा बीच से भी दो फीट ३ इञ्च मोटी धरनों से जुटे हुए हैं। परन्तु यह तो साधारण सजावट हुई और दूसरे स्थानों में जँगलों के फूल पत्ती का काम बढ़ता गया है यहां तक कि फूल पत्ती और बेलबूटे और मूर्तियां इतनी आम और इतनी अधिक हो गई है कि उनसे खम्भे और धरन बिलकुल ढँक गए हैं और उनका मूल ढाँचा बिलकुल बदल गया है।

सांची का बड़ा स्तूप जिसके विषय में हम पहिले लिख चुके हैं सम्भवतः अशोक के समय में बना था। उसके प्रत्येक जँगले पर जो लेख खुदा है उससे विदित होता है कि वह भिन्न भिन्न मनुष्यों का दिया हुआ है। इसके उपरान्त चारों फाटक सम्भवतः इसके पीछे बनवाए गए थे। डाक्टर फरग्यूसन साहेब उनका इस भांति वर्णन करते हैं—

"ये चारों फाटक वा तोरन भीतर और बाहर दोनों ओर अर्थात् जहां धरनों में जोड़े जाने के कारण उनका जितना भाग ढँक गया है उतने भाग को छोड़ कर और सर्वत्र सब से उत्तम पत्थर के काम से ढँके हुए थे। बहुधा इनमें बुद्ध के जीवन के दृश्य खुदे हुए हैं। इन दृश्यों के सिवाय उनमें उन जातकों के दृश्य हैं जिनमें कहा गया है कि शाक्य मुनि ने ५०० जन्मों में अवतार लिया और उसके उपरान्त वे इतने पवित्र हुए कि पूर्ण बुद्ध हो गए। इनमें से एक अर्थात् वेसन्तर वा "दान देने का" जातक उत्तरी फाटक के सब से नीचे की पूरी धरन पर है और उसमें उस अद्भुत कथा की सब बातें ठीक उसी प्रकार से दिखलाई गई है जैसी कि वे लंका की पुस्तकों में आज तक मिलती हैं .... अन्य मूर्तियों में युद्ध, घेरा डालने, तथा अन्त में विजय पाने के दृश्य दिखलाए गए हैं। परन्तु जहां तक विदित होता है ये युद्ध स्मारक स्थित रखने के लिये वा किसी धर्म्म सम्बन्धी कार्य्य के लिये किए गए थे। अन्य मूर्तियों में मनुष्य और स्त्रियां खाते पीते तथा प्यार करते हुए दिखलाए गए हैं। फाटकों की संगतराशी में भारतवर्ष में ईसा की पहिली शताब्दी के बौद्धों के धर्म्म ग्रन्थ के पूर्ण चित्र हैं।"

सांची के जँगलों का समय बुद्धगया और भरहुत के जँगलों के तीन शताब्दी पीछे का कहा जाता है और अमरावती के जँगले सांची के जँगलों से भी तीन शताब्दी पीछे के हैं। अमरावती के जँगले का समय ईसा की चौथी वा पांचवीं शताब्दी कहा जाता है।

अमरावती कृष्णानदी के मुहाने के निकट उसके दक्षिणी किनारे पर है और वह बहुत समय तक दक्षिणी भारतवर्ष के अन्ध्र राजाओं की राजधानी थी। अमरावती का जँगला फूलपत्ती और मूर्तियों से भरा हुआ है। बड़े जंगले का व्यास १९५ फीट और भीतरवाले जंगले का व्यास १६५ फीट है और इन दोनों के बीच यात्रा का मार्ग था। बड़ा जँगला बाहर से १४ फीट और भीतर से १२ फीट और छोटा जँगला ठोस और ६ फीट ऊंचा था। बड़े जँगले की दीवार में जानवरों और लड़कों की मूर्तियां खुदी थीं और खम्भे अन्य खम्भों की नाईं अठपहल थे और उन पर फूल खुदे थे। बड़े जँगले में बाहर की अपेक्षा भीतर की ओर बहुत उत्तम काम था और जंगले के ऊपरी भाग में लगातार ६०० फीट की लम्बाई में मूर्तियां खुदी हुई थीं। बड़े जँगले की अपेक्षा भीतरी जँगले में और भी उत्तम काम था और उसमें बुद्ध के जीवन चरित्र के अथवा कहानियों के दृश्य भी उत्तमता के साथ खुदे हुए थे।"

डाक्टर फरग्यूसन साहब ने अपनी पुस्तक में दो चित्र दिए हैं एक बड़े जँगले का और दूसरा भीतरी जँगले का। ये दोनों बड़े मनोरञ्जक हैं। पहिले में एक राजा अपने सिंहासन पर बैठा हुआ किसी राजदूत से मिल रहा है और सामने उसकी सेना दीवालों की रक्षा कर रही है। उसके नीचे पैदल सिपाही घुड़सवार और हाथी युद्ध की सजावट के साथ निकल रहे हैं और उनमें से एक शत्रु मेल के लिये बात चीत कर रहा है। दूसरे अर्थात् भीतरी जँगले के चित्र में पूजा की तीन वस्तुएँ हैं अर्थात् एक तो स्तूप तथा उसके जँगले, दूसरे चक्र अर्थात् धर्म का पहिया और तीसरे एक जनसमुदाय जो बो पवित्र वृक्ष की पूजा कर रहा है।

अब हम चैत्यों अर्थात् सभा भवन वा मन्दिरों के विषय में लिखेंगे। इन बौद्ध मन्दिरों में विशेषता यह है कि वे उठाए नहीं जाते वरन् ऊँची ऊँची चट्टानों में काट कर बनाए जाते हैं। इस समय बीस

वा तीस ऐसे मन्दिर हम लोगों को विदित हैं और एक के सिवाय और सब चट्टानों के भीतर उनको काट कर बनाए गए हैं। यूरोप के गिर्जों और हिन्दुओं के मन्दिरों के बाहरी रूप बहुत ही उत्तम और मनोहर होते हैं परन्तु चट्टानों में खोद कर बनाए हुए बौद्ध मन्दिरों के बाहर की ओर केवल मुंह को छोड़ कर जिस पर कि बहुधा काम किया हुआ रहता है और कोई बात देखने योग्य नहीं होती।

दस में से नौ चैत्य जो कि अब तक पाए जाते हैं बम्बई प्रान्त में हैं और इसका कारण यह है कि भारतवर्ष के इसी प्रान्त में बहुत सी गुफाएँ हैं और उनकी चट्टानें काटी जाने के लिये बहुत ही उत्तम हैं।

बिहार में एक गुफा है और यह विश्वास किया जाता है कि यही राजगृह की वह सतपर्नि गुफा है जिसमें वा जिसके सामने गौतम की मृत्यु के उपरान्त ही उसके नियमों को निश्चित करने के लिये बौद्धों की पहिली सभा हुई थी। यह एक स्वाभाविक गुफा है जिसमें कि कारीगरी के द्वारा कुछ थोड़ी सी उन्नति कर दी गई है और हेनत्साङ्ग ने मगध में रहने के समय उसे देखा था।

गया के १६ मील उत्तर अनेक गुफाओं का एक मनोरञ्जक समूह है और उनमें से सबसे मनोरञ्जक गुफा लोमश ऋषि की गुफा के नाम से प्रसिद्ध है। उसकी छत्त नोकीली वृत्ताकार है और उसके मुँह पर सादे पत्थर का काम है। भीतर ३३ फीट लम्बा और १६ फीट चौड़ा एक दालान है जिसके आगे एक वृत्ताकार कोठरी है। ये सब गुफाएँ ईसा के पहिले तीसरी शताब्दी की खुदी हुई कही जाती हैं।

पश्चिमी घाट में पांच या छ: चैत्य की गुफाएँ हैं और वे सब ईसा के पहिले की खुदी हुई कही जा सकती हैं और उनमें से भज की गुफा सब से प्राचीन कही जाती है। बौद्ध जंगलों की नाईं उनके चैत्यों में भी पत्थर के काम को हम धीरे धीरे काठ के कामों से निकलते हुए पाते हैं। भज की गुफा के खम्भे भीतर की ओर बहुत ही झुके हुए हैं ठीक उसी भांति जैसे कि काठ के

खम्भे किसी इमारत में चांड़ देने के लिये तीखे खड़े रहते हैं। गुफाओं की छतें लकड़ी की हैं जिनमें से बहुत सी आज तक वर्तमान हैं। इस गुफा का समय ईसा के पहिले तीसरी शताब्दी कहा जाता है।

गुफाओं का एक दूसरा समूह बेदसोर में है जिसमें कि बहुत अधिक उन्नति दिखलाई पड़ती है। उनके खम्भे अधिक सीधे हैं, यद्यपि वे भी भीतर की ओर कुछ झुके हुए हैं। उसके द्वार पर बौद्ध जंगलों का सा काम है। उसका ढांचा स्वयं जँगलों ही से लिया गया है परन्तु यहां वह केवल शोभा की भांति बनाया गया है। इन गुफाओं का समय दूसरी शताब्दी का प्रथमार्ध भाग कहा जाता है।

इसके उपरान्त नासिक में एक गुफा है। उसके खम्भे इतने सीधे हैं कि उनका झुकाव बहुत कठिनता से जान पड़ता है और उसके द्वार पर यद्यपि उन्हीं जँगलों का सा काम है परन्तु उनमें बहुत ही उत्तमता देख पड़ती है। इस गुफा का समय दूसरी शताब्दी का द्वितियार्ध कहा जाता है।

और जब हम अन्त में कार्ली की गुफा को देखते हैं जो कि पूना और बम्बई के बीच की सड़क पर है तो हम इस प्रकार की इमारतों को अपनी पूर्ण अवस्था में पहुंचा हुआ पाते हैं। इसके खम्भे बिलकुल सीधे हैं, इसके पर्दे पर पत्थर का काम खुदा हुआ है और इसके भीतर और बाहर की बनावट का ढङ्ग निर्मल और शुद्ध है। यह गुफा ईसा के उपरान्त पहिली शताब्दी की खुदी हुई कही जाती है और भारतवर्ष में अब तक जितने चैत्य मिले हैं उनमें यह सब से बड़ी और सबसे पूर्ण है और इसके उपरान्त की शताब्दियों में इसकी समता की इस ढङ्ग की इमारत नहीं बनी।

निम्न लिखित वृत्तान्त हमारे पाठकों को मनोरञ्जक होगा—

"यह इमारत ईसाइयों के प्राचीन गिरजों से बहुत कुछ मिलती है। उसमें गिर्जों की नाईं एक मध्य भाग है और इसके दोनों ओर दालानें हैं

और यह अर्ध गुम्बजाकार होकर समाप्त होती है जिसके चारो ओर दालान हैं। इसके भीतर की लम्बाई द्वार से ले कर पीछे की दीवार तक १२६ फीट है और चौड़ाई ४५ फीट ७ इञ्च है। परन्तु इसके बगल की दालानें इसाई गिर्जों से बहुत सकरी हैं। इनमें से बीच की दालान २५ फीट ७ इञ्च चौड़ी है और अन्य सब, खम्भों की मोटाई लेकर केवल १० फीट चौड़ी हैं। प्रत्येक ओर १५ खम्भे दालानों को मध्यभाग से जुदा करते हैं, प्रत्येक खम्भे के नीचे की कुर्सी ऊँची है, खम्भा अठपहलू है और उसके ऊपर के दासे में बहुत अच्छी नकाशी है, दासे के ऊपर दो हाथी घुटनों के बल बैठे हुए हैं और उनके ऊपर दो मूर्तियां हैं जो कि प्रायः एक मनुष्य और एक स्त्री की है और कहीं कहीं पर दोनो स्त्रियां हीं है। और यह सब ऐसे उत्तम खुदे हुए हैं कि वैसे साधारणतः देखने में नहीं आते। पीछे के ७ खम्भे केवल सादे अठपहल हैं जिसके नीचे न तो कुर्सी है और न ऊपर दासा............इसके ऊपर छत है जो कि अर्धवृत्ताकार है परन्तु दोनों ओर वह कुछ लम्बी है जिसमें कि अर्ध वृत्त की ऊंचाई उसके व्यासार्ध से अधिक हो गई है........

अर्ध गुम्बज के ठीक नीचे और लग भग उसी स्थान पर जहां कि ईसाई गिर्जों में बेदी रहती है, डगोबा स्थित है।

"भीतर के भाग का हम पूरी तरह से विचार कर सकते हैं और वह निस्सन्देह ऐसा गम्भीर और उत्तम है जैसा कि कहीं भी होना सम्भव है। और उसके प्रकाश का ढंग बहुतही पूर्ण है—एक पूरा प्रकाश ऊपर के एक छेद से आकर ठीक वेदी अर्थात् इस इमारत की मुख्य वस्तु पर पड़ता है और शेष भाग सब अंधकार में रहता है। यह अंधकार तीनों मार्गों को और तीनों दालानों को जुदा करने वाले मोटे मोटे घने ८ खम्भों से और भी अधिक हो जाता है।"—फर्ग्यूसन

अजण्टा में चार चैत्य हैं जिनका समय सम्भवतः ईसा की पहिली शताब्दी से लेकर छठीं शताब्दी तक है। पीछे के समय के चैत्यों में बुद्ध की मूर्तियां हैं और इनमें से सब से अन्तिम समय के बने हुए चैत्य से बौद्ध धर्म का जो रूप प्रगट होता है वह छठी शताब्दी-

तथा इसके पीछे के हिन्दू धर्म्म से बहुत कुछ मिलता है।

एलोरा की विश्वकर्म्मा गुफा का चैत्य बौद्ध काल के अन्तिम भाग का बना हुआ है। उसके कमरे की लम्बाई ८५ फीट और चौड़ाई ४३ फीट है और छत में सब वेल और नक्काशियां पत्थर में खुदी हुई हैं यद्यपि उनमें भी लकड़ी की नक्काशियों की नकल की गई है। यहां पर हमें नाव के आकार का द्वार नहीं मिलता जो कि इसके पहिले के सब चैत्यों में एक प्रधान बात है। इसका आगे का भाग किसी साधारण से दो खण्ड के गृह की नाई जान पड़ता है और उसके बरामदे में बहुत उत्तम पत्थर की नकाशी है।

बम्बई के बन्दरगाह में सालसेट टापू की कन्हेरी की गुफा प्रसिद्ध है। वह पांचवीं शताब्दी के आरम्भ में खुदवाई गई थी। वह कार्ली की गुफा की नकल है परन्तु वह उससे कहीं घट कर नीचे की श्रेणी की है।

अन्त में अब हम विहारों अर्थात् मठों का वर्णन करेंगे। बौद्ध विहारों में सब से प्रथम (पटना के दक्षिण) नालन्द का प्रसिद्ध विहार है जिसे हुनत्साङ्ग ने सातवीं शताब्दी में देखा था। कई उत्तरोत्तर राजाओं ने काम बनवाया था और एक राजा ने सब विहारों को घेर कर एक ऊंची दीवार उठवाई थी जो कि १६०० फीट लम्बी और ४०० फीट चौड़ी थी और जिसके चिन्ह अब तक मिलते हैं। इस घेरे के बाहर स्तूप और गुम्बज बनवाए गए थे जिनमें से दस बारह की जेनेरेल कनिंगहाम साहब ने पहिचान की है।

परन्तु इस बड़े विहार की इमारत का ठीक तरह पर जीर्णोद्धार नहीं किया गया और न उनकी बनावट का ढङ्ग स्पष्ट किया गया है। यह सन्देह करने के कई कारण हैं कि इस इमारत की भूमि के ऊपर की बनावट काठ की थी और यदि यह ठीक है तो उसका कोई चिन्ह अब नहीं रहा है।

हमारे बहुत से पाठक जो कटक और भुवनेश्वर गए होंगे उन्होंने इन स्थानों में, उदयगिरि, और खण्डगिरि की पहाड़ी की दोनों गुफाएं, जो कटक से लगभग बीस मील दूर हैं, अवश्य

देखी होगी। हाथी गुम्फ के एक शिलालेख में लिखा है कि इस लेख को कलिङ्ग के राजा वेर ने खुदवाया था जिसने आस पास के राजाओं को दमन किया।

गणेश गुम्फ और राजरानी गुम्फ दोनों ही सन् इसवी के पहिले के खुदी हुई हैं और उन दोनों में एक अद्भुत कथा खुदी हुई है। एक मनुष्य एक वृक्ष के नीचे सोया है और एक स्त्री, जो कि प्रत्यक्ष में उसकी पत्नी है, अपने प्रेमी का स्वागत करती है। इस पर युद्ध होता है और जीतने वाला स्त्री को अपनी गोद में ले भागता है।

इन सब से अधिक प्राचीन छोटी छोटी और सादी गुफाएं हैं जिनमें उदयगिरि की व्याघ्र गुफा सब से प्रसिद्ध है।

अब पश्चिमी भारतवर्ष में नासिक में तीन मुख्य मुख्य विहार हैं जो नहपान, गौतमी पुत्र और यदुयश्री के नाम से विख्यात हैं। इनमें से पहिली दोनों गुफाएं एकही ढंग की हैं, उनके दालान ४० फीट लम्बे और उतनेही चौड़े हैं और उनके तीन ओर सन्यासियों के रहने के लिये १६ छोटी छोटी कोटरियां तथा चौथी ओर १६ खम्भों वाला एक बरामदा है। नहपान विहार में एक शिलालेख खुदा हुआ है जिससे विदित होता है कि इसको शाहवंश के सबसे प्रथम राजा नहपाल के दामाद ने बनवाया था और इसलिये इस विहार के बनने का समय लगभग १०० ईस्वी है। गौतमी पुत्र विहार इसके दो वा तीन शताब्दी उपरान्त की समझा जाता है। यदुयश्री विहार का दालान ६० फीट लम्बा और ४० से ४५ फीट तक चौड़ा है और उसमें सन्यासियों के लिये २१ कोठरियां हैं। उसमें एक देव-स्थान भी है जिसमें खुदाई के बहुत उत्तम काम किए हुए दो खम्भे तथा बुद्ध की एक बहुत बड़ी मूर्ति है जिसकी सेवा में बहुत से लोगों की मूर्ति बनी है। एक शिलालेख से इस विहार का समय पांचवीं शताब्दी विदित होता है।

कदाचित भारतवर्ष में सब से अधिक मनोरंजक विहार अजंटा के १६ वें और १७ वें विहार हैं। वे बौद्ध विहारों के बड़े सुन्दर नमूने हैं और वे बड़े ही काम के हैं क्योंकि उनमें अब तक भी

चित्र ऐसी स्पष्टता के साथ वर्तमान हैं कि जैसे और किसी विहार में नहीं पाए जाते। उनका समय निश्चित हो गया है। वे पांचवीं शताब्दी के आरम्भ में बनवाए गए थे, जब कि भारतवर्ष में गुप्त-वंशी सम्राटों का राज्य था।

नं० १६ का विहार ६५ फीट लम्बा और उतना ही चौड़ा है और उसमें २० खम्भे हैं। उसके दोनों ओर सन्यासियों के रहने के लिये १६ कोठरियां, बीच में एक बड़ा दालान, आगे की ओर एक बरामदा और पीछे की ओर देवस्थान है। इसकी दीवारें चित्रों से भरी हुई हैं जिनमें बुद्ध के जीवन वा मुनियों की कथाओं के दृश्य हैं और छत तथा खम्भे में बेल बूटों आदि के काम हैं और इन सब बातों से उसकी एक अद्भुत शोभा हो जाती है। इन चित्रों के जो नमूने प्रकाशित हुए हैं उनको देखने से चित्रकारी किसी प्रकार हलकी नहीं जान पड़ती है। मूर्तियां स्वाभाविक और सुन्दर हैं, मनुष्यों के मुख मनोहर और भाव प्रकट करने वाले हैं और वे उन विचारों को प्रगट करते हैं जिनके लिये कि वे बनाए गए हैं, और स्त्रियों की मूर्तियां लचीली, हलकी और उत्तम हैं और उनमें वह मधुरता और शोभा है जिससे कि वे विशेषता भारतवर्ष की जान पड़ती हैं। सजावटें शुद्ध और ठीक तथा अद्भुत शोभा देने वाली हैं। यह आशा की जाती है कि इस अद्भुत चित्रकारी का एक पूर्ण संग्रह अब भी प्रकाशित किया जायगा जिससे कि प्राचीन भारतवर्ष की चित्रकारी की विद्या का वृत्तान्त प्रगट हो और यह ग्रन्थ भारत वर्ष के शिल्प का इतिहास जानने वालों के लिये उतना ही अमूल्य होगा जितना कि यूरोप के प्राचीन शिल्प का इतिहास जानने वालों के लिये पोम्पिआई के वे चित्र हैं जो कि नेपिल्स के अजायब घर में रक्षित हैं। डाक्टर फर्ग्यूसन साहब को यह भय है कि अजण्टा की चित्रकारी की नकल लेने के लिये उन के रङ्ग को चटकीला करने के जो उपाय किए गए हैं उन से तथा बृटिश यात्रियों की नाश-कारी प्रकृति के कारण ये अमूल्य भण्डार नष्ट हो गए हैं।

१७ वें नम्बर का अजण्टा विहार भी सोलहवें नम्बर के विहार के सदृश है और वह राशि चक्र की गुफा के नाम से प्रसिद्ध है।

क्योंकि उसमें एक बौद्ध चक्र है जो कि भूल से राशिचक्र समझा गया था।

मण्डु से ३० मील पश्चिम बोघ नामी स्थान में ८ वा ९ विहार हैं। यहां के बड़े विहार में ९६ फीट लम्बा चौड़ा एक दालान है और उससे सटी हुई एक शाला है जो कि ९४ फीट लम्बी और ४४ फीट चौड़ी है और दालान तथा शाला के आगे २२० फीट लम्बा बरामदा है। दालान में २८ खम्भे, शाला में १६ खम्भे और बरामदे में एक पंक्ति में २० खम्भे सुशोभित हैं। किसी समय में बरामदे की पीछे की दीवार चित्रकारी से सुशोभित थी जो कि सुन्दरता में अजंटा की चित्रकारी के बराबर थी। इस में मुख्य विषय घोड़ों और हाथियों पर की यात्रा है। स्त्रियां मनुष्यों से अधिक हैं और उनमें नाच और प्रेम भाव विशेष करके दिखलाया गया है।

एलोरा में विश्वकर्मा चैत्य के विषय में हम पहिले लिख चुके हैं। इस चैत्य में लगे हुए बहुत से विहार हैं। सब से बड़ा विहार ११० फीट लम्बा और ७० फीट चौड़ा है और यह तथा अन्य छोटे विहार सम्भवतः उसी शताब्दी के हैं जब का कि यह चैत्य है।

यहां पर तीन मन्दिर हैं जिससे यह बात अद्भुत रीति से प्रगट होती है कि बौद्ध गुफाएँ धीरे धीरे हिन्दुओं के चाल जैसी हो गईं। पहिला मन्दिर दोतल नामी दो खण्ड का एक बौद्ध विहार है जिस की बनावट सब प्रकार से बौद्ध ढङ्ग की है। दूसरा मन्दिर तीन तल है जो कि दोतल के सदृश हैं उसके पत्थर के काम भी बौद्ध ढङ्ग के हैं परन्तु वे सरलता से इतनी दूर हैं कि ब्राह्मणों का उसे अधिकार में करलेना न्याय्य है। तीसरा मन्दिर दश अवतार का है जो कि बनावट में पहिले दोनों मन्दिरों के सदृश है परन्तु उसके पत्थर के काम बिलकुल हिन्दुओं के ढङ्ग के हैं। इसके उपरान्त जब हिन्दु धर्म्म ने बौद्ध धर्म्म को पूरी तरह से दबा लिया तो दक्षिणी भारतवर्ष के हिन्दुओं ने इस स्थान पर ईसा की आठवीं वा नौवीं शताब्दी में कैलाश का प्रसिद्ध मन्दिर खुदवाया जिसने कि एलोरा को भारतवर्ष का एक अद्भुत स्थान

बना दिया है। परन्तु इस मन्दिर तथा हिन्दुओं की अन्य इमारतों के विषय में हम आगे चल कर पौराणिक काल में वर्णन करेंगे। यहां पर केवल इतना ही लिखना आवश्यक होगा कि बौद्धों और हिन्दुओं की इमारतों में मुख्य भेद यह है कि बौद्धों के चैत्य और विहार पर्वतों में गुफा खोदकर बनाए गए हैं परन्तु हिन्दू लोग जब वे चट्टानों या पहाड़ियों पर भी इमारत बनाते थे तो वे जिस स्थान पर इमारत बनवाया चाहते थे उसके चारो ओर की चट्टानो को काट डालते थे और बीच की बची हुई जगह के भीतर से काट कर उसे मकान की नाई बनाते थे जिसमें यह मकान उठाई हुई इमारत की नाई अपने चारों ओर की चट्टानों से ऊपर उठा हुआ रहता था। एलोरा का कैलाश ऐसा ही है।

हमें गान्धार के विहारों का वृत्तान्त देकर इस अध्याय को बढ़ाना नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वहां पर यूनानियों के प्रभाव से इमारत बनाने के ढङ्ग में बहुत कुछ परिवर्तन हुआ और पंजाब में बहुत से खम्भों के सिरे और मूर्तियां मिली हैं जो कि स्पष्ट यूनानियों के ढङ्ग की है। और न यहां लङ्का की इमारतों का ही वृत्तान्त देना सम्भव है। इस टापू में और विशेषतः अनुराधपुर के निकट, जो कि १० शताब्दी तक लंका की राजधानी रही है, प्राचीन स्तूपों और इमारतों के असंख्य खंड़हर पाए जाते हैं। लंका में दो सब से बड़े स्तूपही हैं एक अभय गिरि पर जिसका घेरा ११०० फीट और ऊंचाई २४४ फीट है और दूसरा चेतवन में जो कि उससे कुछ फीट ऊंचा है। इनमें से पहिला ईसा के ८८ वर्ष पहिले बना था और दूसरा सन् २७५ ईस्वी में।

ऊपर के संक्षिप्त वर्णन से हमारे पाठकों को विदित होगा कि इमारत बनवाने तथा पत्थर के काम में भारतवर्ष ने ईसा के पहिले और उसके तत्काल उपरान्त पूर्ण उत्तमता प्राप्त की थी। इस विषय में पहिले उद्योगों के लिये उड़ीसा और विहार की बेडौल गुफाओं को देखना चाहिए जिनके आगे के भाग में कहीं कहीं पर जानवरों की बेडौल मूरतों का सङ्गतराशी का काम है। उदाहरण के लिये उड़ीसा की व्याघ्र गुफा है और हमें इस श्रेणी की गुफाओं का

समय बौद्ध धर्म्म के पहिले पहल प्रचार होने का समय अर्थात् ईसा के पहिले चौथी शताब्दी समझना चाहिए। ईसा के पहिले तीसरी शताब्दी में इस विद्या की बड़ी उन्नति की गई और कदाचित् ईसा के पहिले तीसरी शताब्दी से लेकर उसके उपरान्त पहिली शताब्दी के भीतर इमारत और सङ्गतराशी के सब से उत्तम काम बने हैं। भरहुत और साँची के सर्वोत्तम नक्काशी के पत्थर के जँगलों का समय २०० ई० पू० और १०० ईस्वी है और चैत्यों में जो सब से उत्तम कार्ली का चैत्य है वह भी ईसा के उपरान्त पहिली शताब्दी का है। इसके उपरान्त की तीन वा चार शताब्दियों में भी यह विद्या ऐसी ही चढ़ी बढ़ी रही परन्तु उसमें कोई उन्नति का होना नहीं कहा जा सकता। क्योंकि बेल बूटों के बनाने की ओर प्रवृति का होना सच्ची उन्नति कही जा सकती है वा नहीं इस में सन्देह है। अजण्टा के विहार और अमरावती के जँगलों में जो कि इसीके चौथी वा पांचवीं शताब्दी में बनाए गए थे, कारीगरी की वही उच्च अवस्था पाई जाती है जिसे कि भारतवर्ष ने तीन वा चार शताब्दि पहिले प्राप्त किया था। चित्रकारी भी जिसके आरम्भ के नमूने हमे नहीं मिलते, पांचवीं शताब्दी में पूर्ण उत्तमता को प्राप्त हो गई थी।

अतः हिन्दुओं ने बौद्धों के इमारत बनाने और संगतराशी के काम को ग्रहण किया। छठीं और सातवीं शताब्दी के प्राचीन हिन्दू मन्दिर जो उड़ीसा में अथवा अन्यत्र हैं उनमें पत्थर का काम वैसा ही उत्तम और प्रशंसनीय है जैसा कि बौद्धों के जँगलों का, परन्तु इसके उपरान्त के समय में इस विद्या की अवनति हुई।

हिन्दुओं के उत्तर काल के मन्दिरों में शिल्प के वे उच्च गुण नहीं हैं और उनमें बहुधा ऐसे उपायों का आश्रय लिया गया है-यथा मुख्य मुख्य मूर्त्तियों को अन्य मूर्त्तियों के दूने आकार का बनाना, और देवताओं में मनुष्यों से अधिक सिर और हाथ को दिखला कर भेद प्रगट करना"।

——:0:——

अध्याय ८

जाति ।

हिन्दुओं के इमारत बनाने की विद्या और पत्थर के काम के उपरान्त अब हम बौद्ध समय में उनके सामाजिक आचरण तथा अवस्था का वर्णन करेंगे।

हम पहिले कह चुके हैं कि भारतवर्ष में कई शताब्दियों तक बौद्ध और हिन्दू धर्म दोनों ही साथ साथ प्रचलित रहे। कट्टर हिन्दू लोग विशेष कर उच्च जाति के लोग वेद के धर्म और वेद के यज्ञों का अवलम्बन करते रहे। दूसरी ओर बौद्ध सन्यासियों और मठों की संख्या बढ़ती जाती थी और साधारण लोगों में से झुंड के झुंड मनुष्य बौद्ध धर्म को ग्रहण करते और मूर्तियों की पूजा करते थे। इन दोनों धर्मों में प्रत्यक्ष में परस्पर कोई द्वेष नहीं था और उस अवस्था को छोड़ कर जब कि कोई अज्ञानी और अत्याचारी राजा अपने राज्य काल में दुःख देता था, और किसी अवस्था में हिन्दुओं और बौद्धों में द्वेष का कोई भाव नहीं था और वे भारतवर्ष में बहुत शताब्दी तक मित्रता के साथ रहते थे और अपने अपने धर्म्म के अनुसार चलते थे।

बौद्धों की धर्म्म पुस्तकों से हमने इस पुस्तक के दूसरे भाग में जो अनेक वाक्य उद्धृत किए हैं उनसे बौद्धों के जीवन और चाल व्यवहार का बहुत कुछ वृत्तान्त विदित होता है। इस काल में हिन्दुओं के जीवन और चाल व्यवहार को जानने के लिये हमें मनुस्मृति का आश्रय लेना चाहिए जो कि कई बातों में इस काल का एक बड़ा अद्भुत ग्रन्थ है।

हम पहिले लिख चुके हैं कि भारतवर्ष में मनु की स्मृति पहिले सूत्र के रूप में प्रचलित थी और दार्शनिक काल में दूसरे सूत्रकार लोग इसे बड़े सत्कार की दृष्टि से देखते थे। परन्तु वह प्राचीन स्मृति हम लोगों को अब प्राप्त नहीं है और अब जो मनुस्मृति वर्तमान है वह बौद्ध काल में पूर्णतया दोहरा करके पद्य में

बनाई गई थी। अतएव उससे बौद्ध काल के हिन्दुओं की रीति और चाल व्यवहार विदित होती है और इस प्रकार वह इस के पहिले के दार्शनिक काल के सूत्र ग्रन्थों और इसके उपरान्त के पौराणिक काल के धर्म्म शास्त्रों की मध्यवर्ती कड़ी है।

पहिले के समय के सूत्र किसी न किसी वैदिक शाखा से सम्बन्ध रखते हैं। परन्तु मनु अपना सम्बन्ध किसी विशेष शाखा वा सम्प्रदाय से नहीं रखता वरन् उसने आर्य्य हिन्दू मात्र के लिये नियम बनाए हैं। इस बात में दार्शनिक काल के सूत्र ग्रन्थों से मनु का भेद है।

इसके सिवाय पौराणिक काल के धर्म्म शास्त्रों से मनु का और भी अधिक भेद है। इन धर्म्म सूत्रों में पौराणिक वा आधुनिक हिन्दू धर्म्म को माना है और उनमें हिन्दुओं के तीन देवताओं तथा मूर्त्ति पूजा में विश्वास प्रगट किया है। परन्तु मनु इन आधुनिक बातों को नहीं मानते। वे वैदिक धर्म्म और वैदिक यज्ञों को मानते हैं और उत्तर काल के हिन्दूओं की त्रिमूर्त्ति को नहीं मानते और मूर्त्तिपूजा को पाप समझते हैं। इस प्रकार मनु की अवस्था अनोखी और अद्वितीय है, और उससे हिन्दुओं की वह परिवर्तित अवस्था प्रगट होती है जिसमें कि वे लोग बौद्ध काल में आधुनिक वा पौराणिक धर्म्म को पूरी तरह से ग्रहण करने के पहिले थे। इसी बात में मनु की स्मृति अमूल्य है और इस स्मृति के आधुनिक रूप में बनने का समय डाक्टर बुहलर तथा अन्य विद्वान लोग ईसा के पहिले वा उपरान्त पहिली वा दूसरी शताब्दी में स्थिर करते हैं।

हम पहिले लिख चुके हैं कि प्राचीन सूत्रकार भिन्न जातियों की उत्पत्ति का कारण चारों मूल जाति में भिन्न भिन्न जाति के स्त्री और पुरुष के संयोग बतलाते हैं और दुर्भाग्यवश मनु ने भी इसी लड़कपन की कथा को माना है। हम नीचे मनु की मिश्रित जातियों की सूची वा यों कहिए कि मनुष्यों की जाति की उत्पत्ति के विषय में मनु का सिद्धान्त देते हैं। प्रथम श्रेणी की तीन जातियों से नीचे की तीन जाति की स्त्री से जो पुत्र उत्पन्न होता था वह अपने पिता की जाति का होता था, नई जाति का नहीं।

पिता	माता	जाति
ब्राह्मण	वैश्य	अम्बष्ठ
,,	शूद्र	निषाद
क्षत्रिय	,,	उग्र
,,	ब्राह्मण	सूत
वैश्य	,,	वैदेह
,,	क्षत्रिय	मागध
शूद्र	वैश्य	आयोगव
,,	क्षत्रिय	क्षत्री
,,	ब्राह्मण	चाण्डाल
ब्राह्मण	उग्र	अवृत्त
,,	अम्बष्ठ	अभीर
,,	अयोगव	धिग्वन
निषाद	शूद्र	पुक्कस
शूद्र	निषाद	कुक्कुटक
क्षत्री	उग्र	स्वपाक
वैदेहक	अम्बष्ठ	वेण

प्रथम तीनो जातियाँ { अपनी ही जाति की स्त्रियों से जो अपने पवित्र कर्मों को न करती हों। } व्रात्य

ब्राह्मण व्रात्यों से............................ { भ्रिज्जकन्तक, अवन्त्य, वातधान, पुष्पध, सखे }

क्षत्री व्रात्यों से............................ { झल्ल, मल्ल, लिच्छिवि, नट, करन, खस, द्रविड़ }

पिता	माता	जाति
वैश्य व्रात्यों से ...	....	सुधन्वन अचार्य्य कारुश विजन्मन मैत्र सात्वत
दस्यु	अयोगव	सैरिन्ध्र
वैदेह	,,	मैत्रेयक
निषाद	,,	मार्गव वा दास वा कैवर्त्त
,,	वैदेह	कारावर
वैदेहिक	कारावर	अन्ध्र
,,	निषाद	मेद
चण्डाल	वैदेह	पाण्डुसोपाक
निषाद	,,	अहिन्दिक
चण्डाल	पुक्कस	सोपाक
,,	निषाद	अन्त्यावसायिन

और अनार्य्य जातियों की इस सूची को काफी न समझ कर इस बड़े स्मृतिकार ने इस नियम में पृथ्वी की सब जातियों को सम्मिलित करने का उद्योग किया है ! पौन्द्रक (उत्तरी बङ्गाल के लोग), उद्र(उड़िया लोग), द्रविड़ (दक्षिणी भारतवर्ष के लोग), कम्बोज (काबुल के लोग), यवन (बेक्ट्रिया के यूनानी लोग), शक (तुरानीजाति के आक्रमण करनेवाले), पारद, पहलव (फारस के लोग), चीन(चीन के लोग), किरात (पहाड़ी लोग), और दरद और खस लोग पहिले के क्षत्रिय कहे गए हैं परन्तु वे पवित्र कर्म्मों को न करने और ब्राह्मणों की सम्मति धीरे धीरे इस संसार में न लेने के कारण तथा धार्मिक कर्म्मों को न करने के कारण शूद्रों की अवस्था को प्राप्त हुए हैं। (१०, ४३, और ४४)।

मिश्रित जातियों की उपरोक्त सूची को ध्यान पूर्वक देखने से हमलोगों को बिदित होगा कि उनमें वे सब अनादि आर्य्यवासी तथा विदेशी सम्मिलित हैं जो कि मनु के समय में हिन्दुओं को बिदित थे, परन्तु व्यवसाय करने से जो जातियाँ बनी हैं वे उनमें

सम्मिलित नहीं हैं और वे जातियाँ आज कल की बनी हैं। उनमें हमको कायस्थों, वैद्यों, सोनारों, लोहारों, बणिकों, कुम्हारों, जुलाहों तथा अन्य कारीगरों की जातियों के नाम नहीं मिलते जोकि आजकल पाए जाते हैं। इन जातियों की उत्पत्ति कैसे हुई और उनकी उत्पत्ति कब हुई और आजकल जो सैकड़ों नई जातियाँ पाई जाती हैं उनकी उत्पत्ति का कारण क्या हम मनु की लिखी हुई भिन्न भिन्न मिश्रित जातियों के मनुष्यों और स्त्रियों के सम्मेल से समझें।

फिर, जब हम आज कल की हिन्दू जातियों को देखते हैं तो हमें बहुत से प्रान्तों में उस प्राचीन वैश्य जाति का नाम भी नहीं मिलता जिस जाति में कि मनु के समय के अधिकांश लोग सम्मिलित थे। वे वैश्य क्या हुए? भारतवर्ष के बहुत से प्रान्तों से उनका कब और कैसे लोप होगया? और क्या हम उपरोक्त कथा के अनुकूल यह विश्वास करें कि वैश्य लोग दूसरी जाति की स्त्रियों से ही विवाह करने और अपनी जाति की स्त्रियों से ही विवाह न करने के इतने आदी थे कि वे निरन्तर अन्य जातियों से विवाह करते रहे, यहां तक कि उनकी जातिही न रह गई?

भारतवर्ष के इतिहास जानने वालों को ऐसी बच्चों की सी कहानियों को मान लेने की आवश्यकता न पड़ेगी। बुद्धि उन्हें बतलाएगी कि मनु के समय के वैश्य लोग अपने अपने व्यवसाय के अनुसार नई नई जातियों में बटते गए। मनु भी सोनार, लोहार, और वैद्यों का उल्लेख करता है। परन्तु वह उनकी गिनती जुदी जातियों में नहीं करता। मनु के समय में वे जातियां नहीं थीं वरन् व्यवसाय थे और वे सब व्यवसाय करनेवाले उस समय तक एकही अविभाजित वैश्य जाति में सम्मिलित थे। मनु के समय तक लेखक, वैद्य और शिल्पकारों को प्राचीन आर्यों के अधिकार प्राप्त थे अर्थात् उन्हें धार्मिक ज्ञान प्राप्त करने, धार्मिक विधानों को करने और यज्ञोपवीत पहिनने का अधिकार था। परन्तु हमलोग जाति भेद के फलों के लिये चाहे जितना खेद करें, पर यह स्मरण रखना आवश्यक है कि सन् ईस्वी के तत्काल पहिले और तत्काल पीछे

की शताब्दियों में भी जाति भेद अपनी सब से बुरी अवस्था को नहीं प्राप्त हुआ था। पवित्र विद्या तब तक भी ब्राह्मणों की बपौती नहीं होगई थी, और वे ईमानदार लोग जोकि लेखक, वैद्य, सोनार, लोहार, कोरी, कुम्हार इत्यादि का व्यवसाय करके अपना जीवन निर्वाह करते थे उस समय तक भी एक ही जाति में थे अर्थात् वे सब वैश्य थे और उस समय तक भी आर्य्यों की विद्या और धन प्राप्त करने के अधिकारी थे।

अब हम इन बातों का उदाहरण देने के लिये बङ्गाल की आज कल की कुछ बातों का वर्णन करेंगे। खास बंगाल अर्थात् उस देश के जहाँ की भाषा बंगला है (जिसमें कि प्रेसीडेन्सी, बर्दवान, राजशाही, ढाका, और चिटगाँव की कमिश्नरियां सम्मिलित हैं) निवासियों की संख्या सन् १८८१ की मनुष्य गणना के अनुसार, ३५५०००००० है। इनमें से मोटे हिसाब से १८०००००० मुसलमान, १७०००००० हिन्दू (जिनमें कि आदि बासियों की जातियाँ भी सम्मिलित हैं) और शेष ५००००० बौद्ध, इसाई इत्यादि हैं।

ये १७०००००० हिन्दू बहुत सी जातियों के हैं और वे जातिया जिनमें २००००० या इससे अधिक मनुष्य हैं नीचे दिखलाई जाती हैं।

१	कैवर्त	२००६०००	१७	बनियाँ	३१८०००
२	चण्डाल	१५६४०००	१८	जुगी	३०६०००
३	कोच	१२१५०००	१९	कमार	२८६०००
४	ब्राह्मण	१०७७०००	२०	कुम्हार	२५२०००
५	कायस्थ	१०५६०००	२१	बौरी	२५२०००
६	बाग्दी	७२००००	२२	नेओर	२२९०००
७	गोवाला	६१३०००	२३	धोबी	२२७०००
८	सदगोप	५४७०००			
					१३७६००००
९	नापित	४४७०००		दूसरी जातियाँ जिनमें २००००० मनुष्यों से कम हैं	३४६४०००
१०	वैष्णव	४३६०००			
११	चमार	४१००००			
१२	सूंरी	३८३०००			
१३	तेली	३८३०००		सब हिन्दू निवासियों का जोड़	१७२५४०००
१४	जलिआ	३६५०००			
१५	तांती	३३००००			
१६	पोद	३२५०००			

दो सब से बड़ी जातियाँ अर्थात् कैवर्त और चाण्डाल का उल्लेख मनु ने अपनी मिश्रित जातियों की सूची में किया है। बङ्गाल के कैवर्त लोगों की संख्या २०००००० है जो कि बङ्गाल के समस्त हिन्दू निवासियों का लगभग आठवाँ भाग हुआ। उन सभों के शारीरिक आकार एकही से हैं, वे एकही व्यवसाय अर्थात् मछली मारने और खेती का कार्य्य करते हैं और उनमें धैर्य परिश्रम शिक्षा शीलता और मन्द बुद्धि के गुण एकही प्रकार से पाए जाते हैं। इनमें से तीन भाग मनुष्य बङ्गाल के उत्तर पश्चिमी कोने में अर्थात् मिदनापुर, हुगली, हवड़ा, चौबीस परगना, नदिया और मुर्शिदाबाद के जिलों में रहते हैं। क्या हमारे पाठकों मे कोई ऐसा भी सीधा सादा होगा जो मनु की इस बात पर विश्वास करे कि यह इतनी बड़ी जाति जिनके कि चेहरे और विशेष लक्षण एक ही से हैं और जो अधिक तर बङ्गाल के एक विशेष भाग में रहते हैं वे अयोगव जाति की स्त्रियों से उत्पन्न हुए हैं जिनमें से लाखों स्त्रियों ने अपने पति को छोड़ छोड़ कर निषादों को स्वीकार किया? इस अद्भुत और प्रचलित पतित्याग अर्थात् अयोगव स्त्रियों के निषादों के द्वारा हरण किए जाने की दन्त कथाएँ कहाँ हैं कि जिनके आगे सबाइन स्त्रियों का हरण किया जाना केवल एक खिलवाड़ सा है? बुद्धि ऐसे बेसिर पैर की कथाओं को नहीं स्वीकार करती और वह इन परिश्रमी और सीधे सादे लाखों कैवर्तों को उन आदि जातियों में पहिचान लेगी जो कि आर्य्यों के आने के पहिले बङ्गाल में बसती थीं और जिन्होंने कि विजयी हिन्दुओं की सभ्यता भाषा और धर्म्म को स्वीकार किया और उनसे उस भूमि को जोतना बोना सीखा जहां कि वे पहिले मछली मार कर और शिकार करके जीवन निर्वाह करते थे।

अब बङ्गाल के चण्डालों को देखिए। वे भी एक बहुत बड़ी जाति के हैं जिनमें कि १५०००० लोग हैं और जो अधिकतर बङ्गाल के दक्षिण पूर्वी स्थानों में अर्थात् बाकरगंज, फरीदपुर, ढाका, जैसोर और खुलना में रहते हैं। वे धैर्य्यवान और परिश्रमी हैं और नाव खेने और लछली पकड़ने में अद्वितीय हैं और ज़मींदार लोग ऊसर और दलदल भूमि को जोतने बोने योग्य करने के लिये

उन्हे काश्तकार रखने से प्रसन्न होते हैं * परन्तु फिर भी चण्डाल लोग कोमल, डरपोक और दुर्बल जाति के हैं और वे पूर्वी बङ्गाल के कठोर मुसल्मानों के अनेक अत्याचारों को बिना किसी शिकायत के सहते हैं। चण्डालों में भी एक विशेष शारीरिक और मानसिक समानता है जिससे विदित होता है वे एक जुदाही जाति के हैं।

और यह जाति कैसे उत्पन्न हुई? मनु कहता है कि वे उन ब्राह्मण स्त्रियों के सन्तान हैं जिन्होंने शूद्र मनुष्यों को ग्रहण किया। दक्षिण-पूर्व बङ्गाल में प्राचीन समय में ब्राह्मणों की अधिक संख्या नहीं थी और अब भी उपरोक्त पांचो जिलों में उनकी संख्या ढाई लाख से भी कम है। अतएव मनु के सिद्धान्त के अनुसार इन जिलों में दस लाख चण्डालों के होने का कारण बतलाना कठिन है। क्या हम यह विश्वास करें कि शूद्र ब्राह्मणों की स्त्रियां बराबर काले शूद्र पुरुषों का ही ग्रहण करती रहीं? क्या हम यह विश्वास करें कि लाखों रूपवती और दुर्बल ब्राह्मण कन्याओं को शूद्र लोग, जो कि एक नई जाति को उत्पन्न करने के लिये कमर बांधे हुए थे उनके पिता और माता के यहां से बहका ले जाते रहे? अथवा क्या हम यह विश्वास करें कि इस सम्मेल से जो पुत्र उत्पन्न हुए उनकी वृद्धि दलदलों और मछली मारने वाले गावों में परिश्रम और दुःख के साथ रह कर भी अधिक हुई अर्थात् उनकी वृद्धि

* ग्रन्थकार ने बाकरगंज के कुछ भाग के चण्डालों के उस अद्भुत ढंग को बहुधा देखा है जिससे कि वे लोग दलदल को ठोस जोतने बोने योग्य बना लेते हैं। वे या तो नहर खोद कर झीलों को समुद्री नदियों से मिला देते हैं जिसमें दलदल के ऊपर वर्षों तक नित्त चिकनी मिट्टी की तहें जमती रहें। अथवा वे दलदलों में उत्पन्न होने वाली एक प्रकार की घास एकत्रित करते हैं और दलदलों में उनकी तह के ऊपर तह निरन्तर रखते जाते हैं यहां तक कि सब से नीचे वाली तह भूमि के पेंदे में पहुंच जाती है। इस ग्रन्थकार ने इस प्रकार तय्यार की हुई भूमि पर वृक्ष और घर बने हुए देखे हैं।

उन सबे ब्राह्मणों से भी अधिक हुई जिन्हें कि राज्यसम्मान और पुजेरियों के विशेष अधिकार प्राप्त थे ? हमें इन कल्पनाओं का उल्लेख केवल उनके बेतुकेपन को दिखलाने के लिये करना है और इन कल्पनाओं के साथ मनु का मिश्रित जातियों के सिद्धान्त, कल्पित कथाएं और बालकों के किस्से कहानियों से प्रमाणित होते हैं ! हमारे जो पाठक बंगाल के चण्डालो के विषय में कुछ भी जानकारी रखते हैं उन्हें उनकी बुद्धि कह देगी कि ये लोग दक्षिण-पूर्वी बंगाल के आदिम निवासी थे और वहां जो बहुतायत से खाड़ी और नहर हैं उनमें मछली मार कर अपनी जीविका निर्वाह करते थे और जब आर्य लोग बंगाल में आकर बसे तो उन्होंने स्वभावतः हिन्दुओं का धर्म, उनकी भाषा और सभ्यता ग्रहण करली।

हम यह दिखला चुके कि कैवर्त और चण्डाल लोग जुदी जुदी आदिवासी जाति के थे और जब उन्हें विजयी आर्यों ने हिन्दू बनाया तब उनकी हिन्दू जातियों में गणना हुई। बंगाल में ऐसे ही और भी हैं। पाठकगण उपरोक्त सूची में कोच, बाग्दी, पोद, बौरी, और तेआर लोगों का नाम देखेंगे, और ये सब भिन्न भिन्न हैं। बंगाल में हिन्दुओं के आने के पहिले ये भिन्न भिन्न जातियां आदिवासी जाति की थीं और अत्यन्त प्राचीन काल की प्रत्येक शताब्दी में वे विजयी हिन्दुओं की शरण आती गईं और उनकी भाषा, धर्म और जोतने बोने की रीति को ग्रहण करके हिन्दुओं की जाति में नीच जातियां बन गईं। बंगाल की इन जातियों में से बहुत से नाम मनु को विदित नहीं थे। जो जातियां उसको विदित थीं उनकी उत्पत्ति के विषय में कोई ऐतिहासिक वा मनुष्य गणना के प्रमाण न होने के कारण उसने अपनेही सिद्धान्तों के अनुसार उनकी उत्पत्ति वर्णन करने का यत्न किया है।

अब हम इन उपजातियों को छोड़ कर व्यवसाय करने वाली जातियों का उल्लेख करेंगे। उपरोक्त सूची में पाठकों को कायस्थ वा लेखक, गोआला अर्थात् गैया रखने वाले, नापित अर्थात् हजाम, तेली अर्थात् तेल बनानेवाले, जेलियां अर्थात् मछुआहे, तांती अर्थात् कपड़ा बीननेवाले, बनियां अर्थात् व्यापारी, कुमर अर्थात् लोहार, कुम्हार अर्थात् मट्टी के बर्तन बनाने वाले, धोबी अर्थात् कपड़ा

धोने वाले इत्यादि जातियों के नाम मिलेंगे । यह बात अद्भुत है कि मनु की मिश्रित जातियों की सूची में कुछ उपजातियों के नाम मिलते हैं परन्तु उस सूची में व्यवसाय करने वाली एक भी जाति का नाम नहीं मिलता । तो क्या ये व्यवसाय मनु के समय में थे ही नहीं ? क्या मनु के समय में लेखक और व्यापारी लोग, लोहार, और कुम्हार लोग, हज्जाम और धोबी लोग थे ही नहीं ? यह कल्पना बिना सिर पैर की है, क्यों कि मनु के समय में भारतवर्ष सभ्यता में चढ़ा बढ़ा था और मनु ने अपनी स्मृति में इनके व्यवसाय का उल्लेख भी किया है । परन्तु उसने अपनी मिश्रित जातियों की सूची में उनका उल्लेख नहीं किया और न उन्हें जाति की भांति कहीं लिखा है । और इससे यह बात दृढ़ निश्चय के साथ प्रमाणित होती है कि मनु के समय में ये भिन्न भिन्न व्यवसाय केवल व्यवसाय ही थे । उनकी भिन्न भिन्न और जातियां नहीं बनी थीं । वैश्य लोगों की और ऐसे ही शूद्र लोगों की भी अब तक एक ही जाति थी यद्यपि वे लोग भिन्न भिन्न व्यवसाय और व्यापार करते थे ।

अब हमको उन व्यवसाय की जातियों की सच्ची उत्पत्ति का पता लग गया जो कि मनु के समय में नहीं थीं और जो उसके उपरान्त बनी हैं । और हमको उन उपजातियों की उत्पत्ति भी विदित होगई जो कि मनु के समय के पहिले बन गई थीं और जो मनु को विदित थीं । और अन्त में हमें यह भी विदित होगया कि मनु ने इन उपजातियों की उत्पत्ति लिखने में कैसी भूल की है । मनु की भूल ऐसी थी जिससे वह बच नहीं सकता था । उसने कैवर्तों और चण्डालों की नाईं भिन्न भिन्न जातियां देखा और उसे उन जातियों की उत्पत्ति का इतिहास विदित नहीं था । उसके समय में यह धार्मिक कथा प्रचलित थी कि सब मनुष्य जाति की चार मुख्य जातियों से ही उत्पत्ति हुई है और इसलिये उसे अपने समय की नई जातियों की उत्पत्ति के लिये भी इसी प्राचीन सिद्धान्त का आश्रय लेना पड़ा । यह सब बात समझ में आने योग्य है । जो बात समझ में नहीं आती वह यह है कि इस प्राचीन सिद्धान्त पर आज कल के ऐतिहासिक खोज और गणना के समय में भी कुछ हिन्दू लोग कैसे विश्वास

करते हैं। परन्तु इस स्मृति की पवित्रता ही ऐतिहासिक खोज को दूर भगाती है, ठीक जाँच को रोकती है और गुण और दोष की परीक्षा करनेवालों का मुंह बन्द करती है। यही कारण है कि मिश्रित जातियों का प्राचीन सिद्धान्त बहुत से प्रमाणों और सम्भावनाओं के रहते हुए भी इतनी शताब्दियों तक मान और सत्कार की दृष्टि से देखा गया है। इसकी जाँच तथा झूठ और सच की परीक्षा न किए जाने से यह सिद्धांत सत्यधर्म्मावलम्बी हिन्दुओं के विचार और विश्वास में स्थान पाता रहा है। और फिर भी यह सिद्धान्त जो कि ऐसा सम्यक और समझ में आने योग्य तथा ऐसा पूर्ण है परीक्षा की अंगुली से छुए जाने के साथही साबुन के एक सुन्दर बुलबुले के सदृश लुप्त होजाता है।

——:o:——

अध्याय ९

सामाजिक जीवन ।

मनु ने गृह्य विधानो का जो वृत्तान्त लिखा है वह प्रचीन सूत्रकारों के आधार पर ही है । जातकर्म्म बच्चे के जनमते ही नार काटे जाने के पहिले होना चाहिए। जन्म के दसवें वा बारहवें दिन वा किसी शुभ दिन , शुभ मुहूर्त और शुभ नक्षत्र में नामधेय की रीति की जानी चाहिए और बच्चों का नाम रक्खा जाना चाहिए। चौथे मास में निष्क्रमण की रीति करके बच्चे को घर के बाहर निकालना चाहिए और छठें मास में बच्चे के अन्नप्रासन अर्थात् उसे पहिली बार चावल खिलाने की रीति की जानी चाहिए। उपनयन अर्थात् विद्यारम्भ कराने की रीति ब्राह्मण के लिये आठवें वर्ष, क्षत्रिय के लिये ग्यारहवें वर्ष और वैश्य के लिये बारहवें वर्ष में की जानी चाहिए और तब लड़के को यज्ञोपवीत पहिना कर गुरु को सौंपना चाहिए।

विद्यार्थी के जीवन के नियम वे ही हैं जो कि धर्म्मसूत्रों में कहे हैं। विद्यार्थी को एक धोती, एक छड़ी, और एक या दो कपड़े होने चाहिए। उसे अपने गुरु की आज्ञा माननी और उसका सत्कार करना चाहिए। उसे नित्य द्वार द्वार भीख माँग कर जो कुछ मिले उसे गुरु के सामने ला रखना चाहिए और प्रति दिन जब कि वह विद्या सीखता जाय तो उसे अपने गुरु के यहां रह कर उसकी सब प्रकार की नीच सेवा करनी चाहिए। केशान्त अर्थात् सिर मुड़ाने की रीति ब्राह्मण के लिये १६ वें वर्ष, क्षत्रिय के लिये २२ वें वर्ष और वैश्य के लिये २४ वें वर्ष की जानी चाहिए।

तीनों वेदों के पढ़ने का समय ३६ वर्ष वा १८ वर्ष वा ९ वर्ष भी अथवा जब तक विद्यार्थी पूरी तरह से न पढ़ ले, कहा गया है। यहाँ पर (३, १) हमें चौथे वेद का नाम नहीं मिलता और न

अथर्वन् के सीखने के लिये कोई समय नियत किया गया है। विद्यार्थी अपना अध्ययन समाप्त करने पर स्नान करके स्नातक हो जाता था और घर लौट कर विवाह करता था और फिर गृहस्थ हो कर रहता था। विवाह के समय पवित्र अग्नि जलाई जाती थी और गृहस्थ को अपने गृहविधानों और पंच महायज्ञों को बराबर अपने जन्म भर करने की आज्ञा दी जाती थी। ये महा-यज्ञ ये हैं (१) पढ़ाना और पढ़ना जो कि उपमा की भांति परमा-त्मा (ब्रह्मन्) का यज्ञ कहा गया है, (२) पितरों को जल देना, (३) छोटे देवताओं को जली हुई वस्तुएँ चढ़ाना (४) पितरों को बलि चढ़ाना और (५) अतिथियों का सदैव सत्कार करना जो कि मनुष्यों का यज्ञ कहा गया है(३, ६७,और७०) यह अन्तिम धर्म बहुत आवश्यक था और हिन्दू ऋषि लोग धार्मिक हिन्दुओं के हृदय पर अपने भाइयों के लिये इस महान कर्तव्य के अंकुरित करने में कभी नहीं चूके हैं।

पितरों को नित्य बलिदान देने के सिवाय प्रति मास पिण्ड-पितृ यज्ञ (३, १२२) किया जाता था और उसमें पिण्ड बनाकर पितरों को चढ़ाया जाता था। नित्य के बलिदान तथा मासिक बलिदान में ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था और सूत्रकारों की नाईं मनु भी मूर्ख ब्राह्मणों को भोजन कराने का बड़ा विरोधी है।

"जैसे किसान ऊसर भूमि में बीज बोकर फसिल नहीं काट सकता वैसे ही याज्ञिक भोजन देने वाला यदि उस भोजन को किसी ऐसे मनुष्य को खिलावे जो कि ऋचाओं को नहीं जानता तो उसे कोई फल नहीं होता।" (३, १४२)

"कोई मूर्ख मनुष्य देवताओं वा पितरों के यज्ञ में जितने ग्रास खाता है उतने ही लाल तप हुए भाले कील और लोहे के गोले भोजन खिलाने वाले को मृत्यु के उपरान्त निगलने पड़ते हैं।" (३, १३३)

दूसरे स्थान पर बिल्ली बगुले की नाईं कार्य्य करने वाले किसी ब्राह्मण को जल भी न देने के लिये कहा गया है। और मनु ने अपने समय के बिल्ली और बगुलों के ऐसे ब्राह्मणों की निन्दा

जिन शब्दों में की है उनको उद्धृत करना हमारे हिन्दू भाइयों का अपमान करना होगा (४, १६२, १९५, १६६)

यज्ञों के विषय में लिखा है कि ब्राह्मणों को नित्य संध्या और सबेरे अग्निहोत्र करना चाहिए, चन्द्रदर्शन और पूर्णिमा को उसे दर्श और पौर्णमास इष्टि करनी चाहिए तीन ऋतुओं के अन्त में उसे चातुर्मास यज्ञ करना चाहिए, अयन के समय उसे पशुओं का बलिदान करना चाहिए और वर्ष की समाप्ति के समय सोम यज्ञ करना चाहिए। जब नया अन्न काटा जाय तो उसे आग्रयन इष्टि तथा एक पशु का बलिदान करना चाहिए। (४,२५-२७) इन विधानों तथा अन्य विधानों के जो वर्णन प्राचीन सूत्र ग्रन्थों में दिए हैं उनके लिये पाठकों को इस पुस्तक का चौथा भाग देखना चाहिए।

प्राचीन सूत्रों में कहे हुए इन दैनिक, मासिक और सामयिक विधानों को करने के लिये मनु ने जो आज्ञाएँ दी हैं उनसे विदित होता है कि प्राचीन वैदिक रीतियों का व्यवहार अब बहुत कम होता जाता था। ऐसे वाक्यों में जैसे "जो ब्राह्मण पवित्र अग्नि रखता है" (४, २७) से विदित होता है कि ऐसी पवित्र अग्नि का रखना अब बिरले कहीं होता था। नास्तिकों के विषय में जो कटुवाक्य लिखे हैं उनसे विदित होता है कि बौद्ध लोगों का प्रभाव प्राचीन धर्म और रीतियों पर बहुत अधिक पड़ रहा था। गृहस्थों के लिये वेद का खण्डन करने वाले किसी नास्तिक वा तार्किक का सत्कार करना वा उनसे भेंट करना भी निषेध किया गया है। (४, ३०) उसे वेद की व्यर्थ निन्दा वा खण्डन से बचने के लिये कहा गया है (४, १६३) और जो स्त्री किसी नास्तिक के सम्प्रदाय को ग्रहण करे उसकी समानता व्यभिचारी स्त्रियों, शराबी स्त्रियों, अपने पति को मारने वाली स्त्रियों तथा भ्रूण हत्या करने वाली स्त्रियों से दी गई है। (५, ६०)

सम्भवतः यह हमको ठीक ठीक कभी विदित नहीं होगा कि वैदिक रीतियों और ऐतिहासिक काव्य काल तथा दार्शनिक काल के धर्म्म का किस किस अंश में और किस किस प्रकार से

आधुनिक हिन्दू धर्म्म के रूप में परिवर्तन होगया। परन्तु यह बात निश्चय है कि जिस समय मनुस्मृति बनाई गई उस समय प्राचीन गृह्ययज्ञ जो कि गृहस्थों के घर में किए जाते थे, और अधिक आडम्बर के श्रौत यज्ञ जिन्हें पुजेरी लोग करते थे उनका प्रचार बहुत कम हुआ जाता था और उनका स्थान मन्दिर के वे पुजेरी ले रहे थे जिनकी समानता कि मनु ने मांस और मदिरा बेचने वालों तथा दुकानदारों और अधिक व्याज खाने वालों से की है (३, १५२, १८०) इस स्मृति में प्राचीन धर्म्म को नए धर्म्मों के विरुद्ध स्थिर रखने के लिये व्यर्थ उद्योग किया गया है और इतिहास जानने वालों को इस बात के जानने में बहुत कम कठिनाई पड़ेगी कि उस समय की क्या अवस्था हो रही थी।

मनु ने जिन जिन प्रकार के विवाहों को लिखा है वे धर्म्म सूत्रों में कहे हुए ही हैं। वह ब्राह्म. दैव, आर्श, प्रजापत्य, आसुर, गन्धर्व, राक्षस, और पैशाच विवाहों का उल्लेख करता है। परन्तु वह इनमें से कुछ विवाहों के विरुद्ध है, "पैशाच (लुभाना) और आसुर (बेचना) विवाह कभी नहीं करना चाहिए" (३,२५)। और फिर यह बहुत ज़ोर देकर कहा गया है कि " जो पिता इस नियम को जानता हो उसे अपनी कन्या के लिये कुछ भी भेंट नहीं लेनी चाहिए क्योंकि जो मनुष्य लालच वश भेंट लेता है वह अपनी सन्तान का बेचने वाला होता है" (३, ५४)। और इस विषय में कोई सन्देह न रखने के लिये यह भी कहा है कि शूद्र को भी विवाह की भेंट नहीं लेनी चाहिए और ऐसा व्यवहार कभी नहीं सुना गया है (६, ६८, और १००) परन्तु प्राचीन समय में सम्भवतः यह भेंट नीच जातियों में ली जाती थी जैसा कि भारतवर्ष में आज कल भी किया जाता है। और मनु ने एक स्थान पर असावधानी से यह नियम लिखा है कि यदि दुलहे को एक कन्या दिखलाई जाय और दूसरी कन्या दी जाय तो वह एक-ही मूल्य में दोनों से विवाह कर सकता है। (८, २०४)

इसी प्रकार मनु विधवा विवाह का भी बड़ा विरोधी है और यह प्राचीन रीति उत्तर काल के हिन्दूओं को अप्रिय हो रही थी

परन्तु वह हमें असावधानी से यथार्थ बात को बतला देता है—और वह इतिहास जानने वाले के लिये मनु की सम्मति की अपेक्षा बहुत अमूल्य है कि विधवा विवाह उसके समय में भी प्रचलित था, यद्यपि कट्टर लोग उसे नहीं पसन्द करते थे। लिखा है कि विधवा को अपने पति की मृत्यु के उपरान्त किसी दूसरे पुरुष का नाम भी न लेना चाहिए (५, १५७) और धार्मिक स्त्रियों के लिये दूसरे पति का ग्रहण करना कहीं नहीं लिखा गया है (५, १६२)। परन्तु फिर भी हमें पुनर्विवाहिता स्त्रियाँ, (३, १६६) और पुनर्विवाहिता विधवाओं के पुत्रों (३, १५५ और १८१; ६, १६६, १७५, और १७६) का उल्लेख मिलता है। अक्षत विधवाओं के पुनः विवाह करने की स्पष्ट आज्ञा दी गई है। ऐसी विधवा "अपने दूसरे पति के साथ विवाह करने के योग्य है।" (६, १७६)

हम ऊपर देख चुके हैं कि एक जाति से दूसरी जाति में स्वतन्त्रता से विवाह होता था परन्तु किसी नीच जाति का मनुष्य उच्च जाति की स्त्री से विवाह नहीं कर सकता था।

मनु के समय में सम्बन्धियों के साथ विवाह करने का बड़ा निषेध था। "ऐसी कन्या जो न तो माता के कुल में सपिण्ड हो और न पिता के कुल में सम्बन्धी हो वह द्विज मनुष्यों के विवाह और पति सम्मेल के योग्य कही गई है"। (३,५)

जिस अवस्था में कन्या का विवाह होना चाहिए उस विषय के नियमों से विदित होता है कि यद्यपि कभी कभी कन्याओं का विवाह उनके युवा होने के पहिले ही हो जाता था परन्तु यह किसी प्रकार आवश्यक नहीं था और बहुधा उनका विवाह इस के उपरान्त होता था। उसने लिखा है कि ३० वर्ष के मनुष्य को १२ वर्ष की कन्या से विवाह करना चाहिए और इस से छोटे मनुष्य को इससे भी छोटी कन्या के साथ। (१०,९४) उसने फिर कहा है कि पिता को चाहिए कि वह अपनी कन्या को किसी प्रसिद्ध सुन्दर पुरुष को दे दे "यद्यपि वह अपनी उचित अवस्था को न भी प्राप्त हुई हो।"

यह एक विशेष अवस्था के लिये लिखा गया है और इस लिये हमें यह समझना चाहिए कि साधारण नियम कन्याओं का विवाह उचित अवस्था में करने का था। और यह भी स्पष्ट रीति से कहा गया है कि कन्या जब विवाह के योग्य हो तो उसे तीन वर्ष तक ठहरना चाहिए और तब उसे अपना विवाह करना चाहिए (९,९०) और उसके पिता को चाहिए कि वह योग्य वर के साथ उसका विवाह करे और यदि ऐसा न हो तो उसे जन्म भर कुँआरी ही रक्खे (९,८९)

जान पड़ता है कि भाई की विधवा स्त्री से पुत्र उत्पन्न करने की प्राचीन रीति उठ गई। मनु प्राचीन नियम का पालन करने के लिये और साथ ही अधिक शुद्ध रीति प्रगट करने के लिये अपनी ही बातों का खण्डन कर गया है (१०,५९, और ६६ में) वह कहता है कि जिस स्त्री वा विधवा को अपने पति से संतान न होने पर अधिकार प्राप्त हो, वह अपने पति के भाई(देवर)से वा पति के किसी दूसरे सपिण्ड से सन्तान उत्पन्न कर सकती है। परन्तु इसके उपरान्त ही वह ज़ोर देकर कहता है कि विधवा को इस प्रकार सन्तान उत्पन्न करने के लिये कभी नियुक्त न करना चाहिए, धर्म्म पुस्तकों में विधवाओं के इस प्रकार नियुक्त करने के लिये कहीं अधिकार नहीं दिया गया है और इस रीति को पण्डित लोग पशुओं के योग्य समझते हैं (६४ से ६८ तक) यह कुछ कटु भाषा है और इससे विदित होता है कि यह प्राचीन रीति मनु के समय में कैसी घृणा की दृष्टि से देखी जाती थी।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे देखा जायगा कि मनु की स्मृति कुछ मिश्रित गुणमय है। ग्रन्थकार ने प्राचीन नियम को मानने का यत्न किया है उसने बहुधा अपने समय की प्रचलित कहावतों और छन्दों को उद्धृत किया है जिनमें से बहुत महाभारत में पाए गए हैं—और साथही वह आर्य्यों के लिये एक शुद्ध-नियम प्रगट करने का भी उत्सुक है। ऐसे भिन्न भिन्न विचारों को रखने के कारण मनु बहुधा नियमों को देने में अनिश्चित है परन्तु उसके नियम का साधारण अभिप्राय और उद्देश्य किसी सच्चे पाठक की समझ में यथार्थ रूप से आए बिना नहीं रह सकता।

और यदि कोई पाठक इस स्मृति के उन सब अध्यायों और छन्दों को ध्यान पूर्वक पढ़े जो कि स्त्रियों की अवस्था के विषय में हैं तो कुछ बाधा डालनेवाले वाक्यों के रहते हुए भी उस मनु के समय में हिन्दू सभ्यता और चाल व्यवहार की तथा स्त्रियों की उच्च अवस्था निस्सन्देह विदित होगी।

स्त्रियाँ अपने वंश के पुरुषों की आश्रित समझी जाती थीं,— इस बात को मनु ज़ोर देकर कहता है। परन्तु फिर भी स्त्रियों का उनके कुल में सत्कार होता था, उनके सम्बन्धी लोग तथा जिस समाज में वे रहती थीं वे सब उनको सत्कार की दृष्टि से देखते थे अब यह बात केवल मनु के नियमों से ही नहीं वरन् सब संस्कृत-ग्रन्थों के प्रतिबिम्ब सी विदित होती है।

"उपाध्याय की अपेक्षा आचार्य्य दस गुना पूज्य है, आचार्य की अपेक्षा पिता सौ गुना, परन्तु पिता की अपेक्षा माता हजार गुनी पूज्य है (२, १४५)।

"स्त्रियों के पिता, भाई, पति और देवर का, जो कि उनके हित चाहनेवाले हैं, सत्कार करना चाहिए।

"जहां स्त्रियों का सत्कार होता है वहीं देवता प्रसन्न रहते हैं परन्तु जहां उनका सत्कार नहीं होता वहां पुण्य के कर्मों का कोई फल नहीं मिलता।

" जिस वंश में स्त्रियां शोक में रहती हैं उस वंश का शीघ्रही सत्यानाश होजाता है परन्तु जहां स्त्रियां सुखी रहती हैं उस वंश की सदा वृद्धि होती है।" (३, ५५—५७।

इसके सिवाय स्त्रियों के कर्तव्यों का भी ऐसाही स्पष्ट वर्णन है।

"स्त्री को बाल्यावस्था में अपने पिता के अधीन रहना चाहिए और युवा अवस्था में अपने पति के अधीन, अपने पति की मृत्यु पर अपने पुत्रों के अधीन। स्त्रियों को कभी स्वतन्त्र नहीं रहना चाहिए।

"उसे अपने पिता, पति वा पुत्रों से जुदे होने का विचार नहीं करना चाहिए। उनको छोड़ने से वह अपने और अपने पति के वंशों को कलङ्कित करती है।

"उसे सदैव प्रसन्न रहना चाहिए, अपने घर के कार्य्यों में चतुर, अपने बर्तन साफ करने में सावधान और अल्पव्ययी होना चाहिए।

"उसका पिता वा उसके पिता की आज्ञा से उसका भाई जिस मनुष्य के साथ उसका विवाह करदे उसकी आज्ञाओं का पालन उसे यावज्जीवन करना चाहिए और उसकी मृत्यु के पीछे उसकी स्मृति का अपमान नहीं करना चाहिए।

"पति यद्यपि गुणों से रहित हो वा विलास में लिप्त हो अथवा पुण्यात्मा न हो तथापि धार्म्मिक स्त्री को सदा देवता की नाई उसकी पूजा करनी चाहिए।

"स्त्रियों को अपने पति से अलग कोई यज्ञ संकल्प वा व्रत नहीं करना चाहिए। यदि स्त्री अपने पति की आज्ञाओं का पालन करे तो केवल उसमें ही वह स्वर्ग में जायगी।" (५, १४८—१५१, और—१५४, १५५)।

अध्याय १०

राज्यप्रबन्ध।

मनु राजाओं के नित्यकृत्य और घरेऊ जीवन का बड़ा मनोहर वर्णन देता है।

अपनी प्रजा की रक्षा करना, पक्षपात रहित होकर न्याय करना, अनुचित करनेवाले को दण्ड देना, ये राजाओं के मुख्य कर्तव्य थे और स्वयं समाज का अस्तित्व इन्हीं कर्तव्यों के पालन पर निर्भर था (७, २, १६—३५) मद्य, जुआ, स्त्री, और अहेर, ये राजाओं के सब से बड़े अवगुण थे (७, ५०)।

राजा रात्रि के अन्तिम प्रहर में उठता था और अपने शरीर की शुद्धि तथा अग्नि में हवन करने के उपरान्त वह प्रातःकाल सभाभवन में जाता था। वहां जो प्रजा उससे भेंट करने जाती थी उसे वह प्रसन्न करता था और उसे विदा करके एकान्त में अपने मन्त्रियों से सलाह करता था जहां कि सर्वसाधारण नहीं जाने पाते थे, (७, १४५—१४७) सलाह होजाने के उपरान्त राजा अपना नियमित व्यायाम करता था और स्नान करके भोजन के लिये महल में जाता था। नमकहलाल नौकर लोग भोजन तय्यार करते थे जो कि पवित्र मन्त्रों के द्वारा शुद्ध और विष से रहित किया जाता था और भली भांति जची हुई स्त्रियां पंखे, जल और सुगन्ध से उसकी सेवा करती थीं। भोजन के विषय में जो सावधानी लिखी गई है वही राजा की गाड़ी, बिछौने, आसन, स्नान, शृंगार और आभूषणों के सम्बन्ध में भी कही गई है और उससे विदित होता है कि राजाओं के गृह्य कार्य्यों में विष वा छल के द्वारा मृत्यु की दुर्घटना न होने का पूरा प्रबन्ध रहता था। (७, २१६—२२०)

भोजन के उपरान्त राजा महल में अपनी स्त्रियों के साथ कुछ समय व्यतीत करता था परन्तु तीसरे पहर वह फिर राजसी वस्त्र पहन कर निकलता था और अपने योधाओं, रथों, पशुओं, शस्त्रों

और युद्ध की सामग्रियों की देख भाल करता था और तब अपनी संध्या समय की पूजा करने के उपरान्त वह अपने जासूसों से बातें करता था और वे जिन गुप्त बातों का पता लगाते थे उन्हें सुनता था। इसके उपरान्त वह अपने महल में आकर भोजन करता था और फिर गान से अपना जी बहला कर शयनागार में जाता था। (७, २२१—१२५)

राज्यप्रबन्ध में राजा की सहायता के लिये मंत्री होते थे— मनु कहता है कि सात वा आठ मंत्री होते थे-जोकि शास्त्रों के ज्ञाता, शस्त्र विद्या में निपुण, उत्तम और ऊँचे हुए वंश के होते थे। ये मंत्री राजा को शान्ति और युद्ध में, कर और दान के विषयों में सम्मति देते थे। राजा कर उगाहने के लिये तथा खानों, शिल्पशालाओं और भण्डारों के लिये योग्य पुरुषों को नियत करता था और अपने कार्यों के सम्पादन के लिये ऐसे राजदूत को रखता था "जो इशारे और मुँह की आकृति और चेष्टाओं को समझता हो" (७, ५४-६३)

गाँव और नगर की रक्षा करने के लिये जुदे जुदे कर्मचारी नियत किए जाते थे। राजा प्रत्येक गाँव का एक स्वामी, दस गाँव के ऊपर एक स्वामी, २० गाँव पर एक स्वामी, १०० गाँव के ऊपर एक स्वामी, और १००० गाँव के ऊपर एक स्वामी, नियत करता था और उन लोगों का यह कर्तव्य था कि गाँव के निवासियों की रक्षा करें और जुर्म को रोकें। इसी प्रकार प्रत्येक नगर में भी सब कार्यों की देख भाल के लिये एक सरदार होता था जो स्वयं सब कर्मचारियों के कार्य्य की देख भाल करता था और उनकी चाल व्यवहार के विषय में गुप्त रीति से पता रखता था। "क्योंकि राजा के वे नौकर जो प्रजा की रक्षा के लिये नियत किए जाते हैं बहुधा दुष्ट हो जाते हैं और दूसरों की सम्पत्ति छीनते हैं। उसे चाहिए कि ऐसे मनुष्यों से अपनी प्रजा की रक्षा करे" (७, ११५—१२३) राज्य कर्म्मचारियों के लुटेरेपन के विषय में ये बड़े कटुवाक्य हैं परन्तु आज कल के प्रबन्ध करने वाले कर्म्मचारियों में से बहुत कम ऐसे होंगे जो कि इस निन्दा को आजकल की प्रजा रक्षकों

अर्थात् उन पुलीस अफसरों के लिये कट्ठ समझेंगे जिनके अधीन एक बड़ा थाना होता है जिसमें पचास हजार वा एक लाख मनुष्य बसते हैं ।

राजा की अपनी सम्पति से जो आय होती थी उसकी न्यूनता राज्य कर से पूरी की जाती थी । मनु "पशु और स्वर्ण की वृद्धि पर पचासवां भाग" राज्यकर नियत करता है जो कि प्रायः सैकड़े में दो के हिसाब से हुआ और "अन्न के लिये आठवां, छठाँ, वा बारहवाँ भाग नियत करता है जो कि आज कल की लगान से बहुत कम हुआ । राजा वृक्ष, मांस, मक्खन, मिट्टी और पत्थर के बर्तन इत्यादि पर छठां भाग ले सकता था और मास में एक दिन शिल्पकारों और मजदूरी करने वाले शूद्रों से कार्य्य करवा सकता था । परन्तु उसे किसी अवस्था में भी श्रोत्रियों पर कर नहीं लगाना चाहिए । और अन्त में राजा बहुत अधिक कर न लगाने के लिये सचेत किया गया है । "उसे बहुत अधिक लालच से अपनी जड़ तथा दूसरों की जड़ भी न काटनी चाहिए, क्योंकि अपनी वा दूसरों की जड़ काटने से वह अपने को वा दूसरों को अति दुखी बनाता है ।" (७, १३०—१३६)

राज्य प्रबन्ध और कर लगाने के इन तथा अन्य नियमों से विदित होता है कि अब से दो हजार वर्ष पूर्व से लेकर १५०० वर्ष के भीतर भारतवर्ष में शासन की एक प्रणाली प्रचलित थी । और इस देश में चीन और यूनान के जो ग्रन्थकार रहे थे उनकी शाक्षी से विदित होता है कि ये सब विचार केवल सिद्धान्तकारों और ग्रन्थकारों के ही नहीं थे वरन उन्हें राजा और उनके कर्म्मचारी लोग व्यवहार में लाते थे । मेगास्थिनीज़ चन्द्रगुप्त के राज्य की बड़ी प्रशंसा करता है और फाहियान तथा हुन्त्सांग जिन्होंने भारतवर्ष में कई वर्षों तक रह कर यहां के कई राज्यों को देखा था वे भी हिन्दुओं की राज्यप्रणाली की प्रशंसा करते हैं और उन्होंने कहीं भी प्रजा पर अधिक कर लगाए जाने वा राजाओं के मन माने अत्याचारों से उनके क्लेश पाने वा भयानक युद्धों द्वारा उनके सत्यानाश का कहीं उल्लेख नहीं किया है । इसके विरुद्ध उन्होंने जो वर्णन दिया है उससे हम उन्हें एक सुखी और भाग्यवान

जाति पाते हैं जो कि अपने राजा की बड़ी भक्त थी, और दयालु, उपकारी तथा सभ्य राज्य प्रणाली के सुखों को भोग रही थी। खेती सब जगह भरी पूरी थी, शिल्प की उन्नति हो रही थी, विद्या को हिन्दू और बौद्ध दोनों ही समान रीति से बड़े परिश्रम के साथ पढ़ते और उसका सत्कार करते थे। धर्म्म की शिक्षा मन्दिरों और मठों में विना किसी रोक टोक के होती थी और लोग बिना किसी अत्याचार वा हस्तक्षेप के अपना अपना कार्य्य करते थे। परोपकारी राज्य प्रणाली के ये चिन्ह स्मृति के कैसे ही उचित और दयालु नियमों की अपेक्षा अधिक विश्वास दिलाने वाले हैं।

रक्षा के लिये किलों की बड़ी कदर की जाती थी और मनु कहता है कि "किले में एक धनुष चलानेवाला युद्ध में १०० शत्रुओं का सामना कर सकता है" (७–७४)। वह कहता है कि राजा को अपनी रक्षा के लिये एक किला अवश्य बनाना चाहिए और उसे वियावान वा जल वा वृक्षों, खाई वा शस्त्रधारी योद्धाओं के द्वारा रक्षित रखना चाहिए, परन्तु वह पहाड़ी के किलों को सब से उत्तम समझता है जो कि सब किलों से अधिक दृढ़ होते हैं। और इन किलों को शस्त्र द्रव्य अन्न तथा बोझ ढोनेवाले पशुओं और ब्राह्मणों, शिल्पकारों, यन्त्रों और सूखा घास और जल से भली भांति भरा रखना चाहिए (७,७०,७१,७५) ऐसे पहाड़ी किलों की कदर भारतवर्ष के आधुनिक युद्धों में बारम्बार प्रमाणित हुई है और खाने पीने की सामग्री तथा स्वाभाविक रक्षाओं और वीर योधाओं से सज्जित एक एक किले से आक्रमण करनेवाले शत्रु की समस्त सेना का बहुधा नाश होगया है।

हिन्दुओं में युद्ध के नियम सदा से सत्कार योग्य तथा दयालु होते आए हैं। रथ, घोड़े, हाथी, अन्न, पशु और स्त्रियां जो युद्ध में जीते जांय वे जीतनेवाले के होते हैं, परन्तु उसके लिये भागते हुए शत्रु वा ऐसे शत्रु को मारने का कड़ी निषेध है जो कि हाथ जोड़कर बैठ जाय और कहे कि "मैं तुम्हारे अधीन हूं।" इसी प्रकार शस्त्रहीन मनुष्य, घायल मनुष्य वा केवल तमाशा देखनेवाले मनुष्यों को जो युद्ध में सम्मिलित न हों, कोई दुःख नहीं देना चाहिए (७–९१, ९२, ९३, ९६,) इन नियमों का प्राचीन समय से लेकर

आधुनिक राजपूतों के युद्धों तक सावधानी से पालन किया गया है और विदेशियों ने गाँव के निवासियों को अपने नित्य का काम शान्ति से करते हुए और किसानों को अपना खेत बिना किसी आशंका के जोतते हुए ऐसे समय में देखा है जब कि उनके सामनेही दो फौजें राज्य के लिये लड़ रही हों।

राजाओं की नीति और युद्ध का प्रबन्ध करने के लिये अनेक नियम दिए गए हैं जिनमें से कुछ मनोरञ्जक हैं। अपने सबसे निकट के राजा को अपना शत्रु समझना चाहिए और उसके उपरान्त के देश के राजा को मित्र समझना चाहिए, और इस नियम का उदाहरण आज कल यूरप—फ्रान्स, जर्मनी—और एशिया की राज नीति में भी पाया जाता है (७,१५८) आज कल की नाईं उस समय भी डाव के लम्बे मनुष्य भारतवर्ष में सबसे उत्तम सैनिक समझे जाते थे और राजाओं के लिये मत्स्य, पाञ्चाल, कुरुक्षेत्र और सूरसेन देश के लोगों को अपनी सेना में रखने की और युद्ध में उन्हें आगे की ओर रखने की सम्मति दी गई है (७,१९३)। सेना को प्रस्थान करने के लिये जाड़े के आरम्भ अथवा समाप्ति का समय उपयुक्त कहा गया है परन्तु युद्ध की आवश्यकता के अनुसार किसी समय भी सेना प्रस्थान कर सकती थी (७,१८२, १८३)। कहीं कहीं पर हमलोगों को उन नियमों की अद्भुत झलक मिलती है जिनके अनुसार प्रस्थान वा युद्ध में सेना सुसज्जित की जाती थी। प्रस्थान में सेना छड़ी की नाईं (आयत के आकार में) वा गाड़ी (वेज=त्रिकोणाकार) की नाईं वा सूअर (विषम समचतुर्भुज) की नाईं वा मकर (दो त्रिभुज जिनकी शिखा मिली हो) की नाईं वा सूई (लम्बी पंक्ति) की नाईं, वा गरुड़ (विषम समचतुर्भुज जिसकी शाखाएं फैली हुई हों) की नाईं रखी जाती थी। युद्ध में कुछ सैनिक निकट निकट रक्खे जा सकते थे, वा सैनिकों के बीच अधिक स्थान छोड़कर सेना फैलाई जा सकती थी वा कुछ लोग सूई की नाईं एक पंक्ति में होकर लड़ सकते थे अथवा बहुत से लोग वज्र के आकार में सज्जित किए जा सकते थे (७, १८७ और १९१)। जब कोई शत्रु किसी नगर वा किले में हो तो आक्रमण करने वालों को उस के बाहर घेरा डाल कर शत्रु की घास अन्न लकड़ी और जल नाश

कर देना चाहिए, उसके तालाब, किले की दीवाल और खाई को नष्ट करना चाहिए, रात्रि के समय उसको बिना जनाए हुए आक्रमण करना चाहिए वा उसकी प्रजा और उसके लोगों को बहका कर बलवा कराना चाहिए (७, १९५—१९७)।

और जब कोई राजा अपने शत्रु को जीते तो उसे पराजित राजा के किसी सम्बन्धी को पराजित प्रजा की सम्मति के अनुसार गद्दी पर बैठाना चाहिए और उनके देश की रीतियों और नियमों को मानना चाहिए (७, २०२, २०३)। ये न्याययुक्त और दयालु नियम हैं जो कि हिन्दू विजयी राजाओं के योग्य हैं।

——:०——

अध्याय ११ ।

कानून ।

मनुस्मृति में बारह अध्याय हैं जिनमें २६८५ श्लोक हैं। इसके दो सबसे बड़े भागों में (८ वें और ९ वें भाग में) ७५६ श्लोक हैं और वे दीवानी और फ़ौजदारी के कानून से सम्बन्ध रखते हैं। इनमें से बहुत से कानून प्राचीन सूत्रकारों के ही कानूनों के पुनरुल्लेख वा परिवर्तित रूप हैं।

प्राचीन भारतवर्ष में राजा न्याय का मूल था और मनु कहता है कि राजा को विद्वान ब्राह्मणों और अनुभवी मंत्रियों को साथ लेकर न्यायालय में जाना चाहिए और वहां न्याय का कार्य्य करना चाहिए। यदि राजा स्वयं इस कार्य्य को न करे तो उसे तीन एसेसर की सहायता से इस कार्य्य को करने के लिये विद्वान ब्राह्मणों को नियत करना चाहिए। "जहां राजा के नियत किए हुए वेदों के जानने वाले तीन ब्राह्मण और एक विद्वान न्याय कर्ता बैठते हैं वह ब्रह्मा की सभा कही जाती है।" (८-१, २, ९, १०, ११,) सत्य बोलने के लिये जो आज्ञा दी गई है वह ऐसी गम्भीर और कड़ी है जैसी कि किसी विरले ही समय वा देश में रही होगी।

"या तो न्यायालय में जाना ही नहीं चाहिए अथवा जाय तो सत्य बोलना चाहिए। जो मनुष्य या तो कुछ नहीं कहता (अर्थात् सत्य को छिपाता है) अथवा झूठ बोलता है वह पापी होता है।" (८-१३)

"न्यायालय में वादी और प्रतिवादी के सामने गवाहों के एकत्रित होने पर न्यायकर्ता को उन्हें मेहरबानी के साथ इस प्रकार समझाकर उनकी परीक्षा करनी चाहिए—

हमारे सामने खड़े हुए दोनों मनुष्यों में इस विषय में परस्पर जो बातें हुई हों उनका जो वृत्तान्त तुम्हें विदित हो वह सब सत्य सत्य कहो क्योंकि इस अभियोग में तुम साक्षी हो।

"जो गवाह अपनी गवाही में सत्य बोलता है वह मृत्यु के पीछे सब से उत्तम स्वर्ग और इस लोक में अद्वितीय यश पाता है। ऐसी साक्षी का स्वयं ब्रह्म सत्कार करता है।

"जो मनुष्य झूठी साक्षी देता है वह वरुण के बन्धन में बंधता है और १०० जन्मों तक दुःख पाता है। अतएव मनुष्यों को सत्य साक्षी देनी चाहिए।

"सत्यता से, साक्षी देनेवाला पवित्र होता है, सत्यता से उसके यश की वृद्धि होती है अतः सब जाति के साक्षी देनेवालों को सत्य बोलना चाहिए।

"जीव की साक्षी स्वयं जीव है, जीव की शरण स्वयं जीव है। अपने जीव का, जो मनुष्यों का परम साक्षी है निरादर मत करो।

"पापी अपने मन में समझता है कि हमें कोई नहीं देखता। परन्तु देवता लोग उसको और उसके हृदय के भीतर के भाव को स्पष्ट देखते हैं।

"आकाश, पृथ्वी, जल, हृदय, चन्द्रमा, सूर्य्य, अग्नि, यम, वायु, रात्रि, और दोनों गोधूली और न्याय सब देहधारी प्राणियों के कर्मों को जानते हैं।" (८, ७९-८६)

इसके आगे जो आदेश किए गए हैं वे और भी गंभीर हैं—

"जो मनुष्य झूठी गवाही देगा वह नंगा होकर भूख और प्यास से व्यथित और अन्धा होकर अपने शत्रु के द्वार द्वार ठिकरा लेकर भीख मांगेगा।

"जो पापी मनुष्य न्यायकर्ता के एक प्रश्न का भी झूठ उत्तर देता है वह सीधे नर्क के पूर्ण अन्धकार में ठोकर खाता है।" (८, ९३, ९४)।

और आठवें भाग के १२३ वें श्लोक में यह कहा है कि जो मनुष्य झूठी साक्षी दे उसे राजा को अपने देश से निकाल देना चाहिए।

जो लोग साक्षी देने के योग्य नहीं थे और जो साक्षी देने से बरी किए गए थे उनकी एक बड़ी सूची दी गई है। ऐसे मनुष्य जो अभियोग से सम्बन्ध रखते हों, जो वादी वा प्रतिवादी के मित्र वा शत्रु हों, जो पहिले झूठी साक्षी देने के दोषी हो चुके हों और जो किसी पाप में कलङ्कित हों, वे लोग साक्षी देने के

अयोग्य समझे जाते थे। और राजा, श्रोत्रिय, वेद पढ़ने वाले विद्यार्थी तथा शिल्पकार और भांड़लोग साक्षी देने से बरी थे। परन्तु यह स्पष्ट है कि ये नियम कठोरता से पालन किए जाने के लिये नहीं थे और आगे चल कर लिखा है कि उपद्रव, चोरी, व्यभिचार, बदनामी करने, और मारपीट की अवस्थाओं में अर्थात् फौजदारी के अभियोगों में साक्षी की अयोग्यता के नियम का कठोरता से पालन नहीं करना चाहिए। (६,६४, ६५, ७२)

मनु समस्त मुख्य कानूनों को १८ भाग में बांटता है अर्थात् (१) ऋण (२) धरोहर (३) किसी सम्पत्ति के स्वामी हुए बिना उसे बेचना (४) सांझा (५) दान का फेर लेना (६) वेतन न देना (७) प्रतिज्ञा का पालन न करना (८) बिक्री और खरीद की हुई वस्तु का लौटाना (९) स्वामी और सेवकों के झगड़े (१०) सीमा के सम्बन्ध के झगड़े (११) मार पीट (१२) बदनामी करना (१३) चोरी (१४) डांका और उपद्रव (१५) व्यभिचार (१६) पति और पत्नी के कर्तव्य (१७) उत्तराधिकार पाना (१८) जुआ खेलना और बाजी लगाना। यह विदित होगा कि ११ से लेकर १५ संख्या तक तथा १८ संख्या के कानून फौजदारी से सम्बन्ध रखते हैं और शेष सब दीवानी से। मनु ने इन विषयों को जिस क्रम में रक्खा है उसी क्रम से हम भी उनका वर्णन करेंगे और प्रत्येक विषय में हमारा कथन अवश्य ही बहुत संक्षिप्त होगा।

(१) ऋण-इस विषय में मनु अपने समय के प्रचलित तौलों की एक सूची देता है। यह सूची सब से छोटे तौल अर्थात् त्रसरेणु से आरम्भ होती है। त्रसरेणु उस ज़र्रे को कहते हैं जो कि किसी खिड़की के द्वारा आनेवाली धूप में दिखलाई देता है।

८	त्रसरेणु	=	१	लिक्षा (ढील के अंडे)
३	लिक्षा	=	१	राई
३	राई	=	१	सरसों
६	सरसों	=	१	यव
३	यव	=	१	कृश्मल वा रक्तिका
५	रक्तिका	=	१	माश

१८ माश	=	१ सुवर्ण
४ सुवर्ण	=	१ पल
१० पल	=	१ धरन
२ क्रिश्मल (चांदी-का)	=	१ माशक (चांदी का)
१६ माशक	=	१ धरन (चांदी की)
१ कर्ष तांबे का	=	१ कार्षापण वा पण

१० धरन (चांदी)	=	१ शतमान

४ सुवर्ण	=	१ निष्क

(८, १३१-१३७)

ऋण पर व्याज के विषय में मनु ने वसिष्ठ के धर्मसूत्र को उद्धृत किया है। वह कहता है कि "ऋण देने वाला अपनी पूंजी की वृद्धि के लिये वसिष्ठ के कहे अनुसार व्याज ले कर सकता है और प्रति मास एक सौ का ८० वां भाग ले सकता है। यह पन्द्रह रुपए सैकड़ा वार्षिक व्याज हुआ और यह व्याज जमानत पर लिया जाता था, परन्तु बिना जमानत के ऋण पर व्याज ऋण लेने वाला यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वा शूद्र हो तो उसी के अनुसार २४) रु०, ३६) रु०, ४८) रु०, वा ६०) रु०. सैकड़ा होता था (८, १४०-१४२)। परन्तु यह कहना अनावश्यक है कि व्याज का यह क्रम केवल नाम मात्र को था और ऋण देने वाला ऋण लेने वाले की जाति की अपेक्षा उसकी रुपया चुकाने की योग्यता पर अधिक ध्यान देता था

ऐसा जान पड़ता है कि ऋण लेने वाला अन्य सम्पति की नाईं दासियों को भी गिरों रख सकता था (८, १४६) यदि गिरों रखने की वस्तु ऐसी हो जिससे कुछ आय होती हो (यथा भूमि) तो व्याज नहीं लिया जाता था (८, १४३)। साठ रुपए सैंकड़ा वार्षिक व्याज अधिक से अधिक था (८, १५२), परन्तु जिस अवस्था में व्यापारी लोग समुद्र यात्रा करते थे उनमें, सम्भवत: जोखिम के बीमे के लिये, विशेष व्याज लिया जा सकता था (८, १५७)। और अन्त में यह भी कहा है कि जो प्रतिज्ञाएं नशे की अवस्था में अथवा नियम और रीति के विरुद्ध, वा छल अथवा

जबरदस्ती की जाती थीं वे नाजायज़ समझी जाती थीं (८, १६३-१६८)

(२) धरोहर-जिस मनुष्य के यहां खुली हुई अथवा बन्द मोहर की हुई धरोहर रक्खी जाती थी वह कानूनन उसे लौटा देने के लिये बाध्य था यदि वह धरोहर चोरी न गई हो, पानी में बह न गई हो वा आग में जल न गई हो । यह जान पड़ेगा कि बेइमानी करके बिना धरोहर रक्खी हुई वस्तु को मांगना और धरोहर को लौटाने के समय नकार जाना किसी भांति अविदित नहीं था, और इन दोनों अवस्थाओं में दोषी को चोर की भांति दण्ड दिया जाता था। (८, १६१)

(३) बिना अधिकार के सम्पत्ति को बेचना-ऐसी बिक्री नाजायज समझी जाती थी और बेचने वाला यदि सम्पत्ति के स्वामी का कोई सम्बन्धी हो तो उसे ६०० पण का दण्ड लगाया जाता था और यदि सम्बन्धी न हो तो उसे चोर की भांति दण्ड दिया जाता था (१८६, १६६)

(४) सांझा-जान पड़ता है कि जो पुरोहित मिलकर किसी धार्मिक कृत्य को करवाते थे उनमें दान का बटवारा करने में बहुधा झगड़े उठते थे। मनु कहता है कि अध्वर्यु को रथ, ब्राह्मण को घोड़ा, होत्रि को भी घोड़ा और उद्गातृ को गाड़ी लेनी चाहिए। और यह स्मृतिकार कहता है कि इस सिद्धान्त के अनुसार साथ मिलकर कार्य करने वालों में बटवारा होना चाहिए। इस सिद्धान्त का अभिप्राय, जो कि कुछ अस्पष्ट है, यह है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने कार्य के अनुसार हिस्सा पाना चाहिए।

(५) दान को फेर लेना-यदि किसी पुण्य के कार्य के लिये कुछ दान किया जाय और यदि जिस कार्य के लिये द्रव्य दिया गया हो उस कार्य में वह न लगाया जाय तो दान फेर लिया जा सकता था। (८, २१२)

(६) वेतन न देना-इसके लिये कानून बहुत साधारण था अर्थात् मज़दूर जब तक प्रतिज्ञा के अनुसार अपना कार्य पूर्ण न करे तब तक उसे वेतन नहीं दिया जाता था।(८, २१७)

(७) प्रतिज्ञा का पालन न करना-प्रतिज्ञा करने के उपरान्त

उसे भङ्ग करने के लिये बड़ा कड़ा दण्ड दिया जाता था, ऐसा अप-राधी देश से निकाल दिया जाता था, कैद कर लिया जाता था, और उसपर चार चार सुवर्ण के छ निष्क और चांदी का एक शत-मान दण्ड लगाया जाता था। (८, २१६, २२०)

(८) बिक्री और खरीद की हुई वस्तु को लौटाना— यह एक बड़ा अद्भुत नियम है कि खरीदने वाला वा बेचने वाला दस दिन के भीतर यदि चाहे तो बेची हुई वस्तु को लौटा सकता था। भाष्यकारों ने कहा है कि नियम केवल उन वस्तुओं के लिये था जो कि सहज में नष्ट नहीं हो सकतीं, यथा भूमि, तांबा इत्यादि (८, २२२)

(९) पशुओं के स्वामियों और उनके दासों में झगड़े- पशुओं के स्वामी और उनके दासों में सम्भवतः बहुधा झगड़े उठते थे और इस विषय के नियम कुछ सूक्ष्मता के साथ वर्णन किए गए हैं। दिन के समय पशु की रक्षा का उत्तर दाता चरवाहा होता था और रात्रि के समय उसका स्वामी अर्थात् यदि रात्रि के समय वह स्वामी के घर में रहे। और यदि चरवाहे को किसी प्रकार की मजदूरी न मिले तो वह दस में से एक गाय का दूध ले सकता था। जो पशु उसकी असावधानी से खोजांय उनके लिये वह उत्तरदाता होता था। यथा यदि कोई भेड़िया बकरी और बकरों पर आक्रमण करे और चरवाहा उनकी रक्षा का यत्न न करे तो इस हानि के लिये वह उत्तरदाता होता था। प्रत्येक गाँव और प्रत्येक नगर के चारों ओर चरागाह रखने का नियम था जिसका कि दुर्भाग्य वश आजकल लोप होगया है। गांव के चारों ओर १०० धनु चौड़ी भूमि चरागाह के लिये छोड़ी जाती थी और नगर के चारों ओर इस कार्य्य के लिये इसकी तिगुनी भूमि होती थी। यदि कोई पशु इस चरागाह में किसी बिना घिरे हुए खेतो के अन्न की हानि करे तो चरवाहा उसके लिये उत्तरदाता नहीं होता था। परन्तु इस चरागाह के बाहर के खेत घिरे हुए नहीं रहते थे और यदि पशु वहां तक चलाजाय और खेती को हानि पहुंचावे तो प्रत्येक पशु पीछे सवा पण का दण्ड लगाया जाता था और उसके सिवाय जितनी हानि हो उसे भी देना पड़ता था। (८, २३०-२४१)

(१०) सीमा सम्बन्धी झगड़े-इस विषय के कानून से हमें उस समय के ग्रामों और खेती की अवस्था का एक अद्भुत वृत्तान्त प्रगट होता है। भारतवर्ष में वर्ष भर में ज्येष्ठ (मई जून) का महीना सबसे सूखा है और यह कहा गया है कि दो गावों के बीच की सीमाओं के सब झगड़ों का निर्णय इसी मास में होना चाहिए। ये सीमाएं प्रायः अश्वथ्व, किंसुक वा कोई दूसरे वृक्षों के द्वारा अथवा तालाब, कूएं, कुञ्ज और सोतों द्वारा प्रगट की जाती थीं। सीमा का निर्णय करने के लिये छिपे हुए चिन्ह छोड़ दिए जाते थे और जहां दो सीमाएं मिलती थीं वहां पत्थर, हड्डियां कंकड़ इत्यादि गाड़ दिए जाते थे।

जहां इन चिन्हों के द्वारा सीमा का निर्णय नहीं किया जासकता था वहां गांव के निवासियों की साक्षी ली जाती थी, और उन लोगों से भी निर्णय न होने पर शिकारियों,बहेलियों,चरवाहों, मछुवाहों, संपरों, बनरखों, और बीनने वालों की साक्षी ली जाती थी। यदि इनमें से किसी प्रकार से सीमा का निर्णय न होसके तो उस अवस्था में राजा के लिये कहा गया है कि अपने में से उदारता के साथ झगड़ा करने वाले गावों में से किसी की भी जो हानि सम्भव जान पड़ती हो उसे पूरा करदे। (८, २४५-२६५)

(११) और (१२) मार पीट और बदनामी करना-अब हम फ़ौजदारी के कानून के विषय पर आए और इसमें हमें फिर उस हानि कारक प्रणाली का प्रभाव मिलता है जिसने कि हिन्दू सभ्यता और जीवन की प्रत्येक बातों में अपना प्रभाव डाला है। ब्राह्मण यदि किसी क्षत्रिय की बदनामी करे तो उसे ५० पण का दण्ड लगता था, वैश्य की बदनामी करने के लिये २५ पण और शूद्र की बदनामी करने के लिये केवल १२ पण परन्तु यदि शूद्र किसी ब्राह्मण की बदनामी करे तो उसकी जीभ काट लेनी चाहिए। और यदि वह किसी द्विजाति के नाम और जाति की निन्दा करे तो उसके मुँह में दस अंगुल लम्बा लोहे का कील गरम करके डालना चाहिए। (८, २६८-२७१)। यह नहीं समझना चाहिए कि वास्तव में दण्ड इस तरह पर दिया जाता था वा कोई ब्राह्मण न्यायकर्ता भी किसी शूद्र को, क्रोध में किसी ब्राह्मण को कटु वाक्य कहदेने के

कारण इतना भारी दण्ड देकर अपने को कलंकित करता था। ब्राह्मण लोग वास्तव में जैसे थे उसकी अपेक्षा उन्होंने अपने को बुरा दिखलाया है और कानून जो कि विचारे शूद्र के लिये निस्सन्देह कठोर था वह एक दम ऐसा जंगली नहीं था जैसा कि वह कहा गया है। "जिस इन्द्री से नीच जाति का कोई मनुष्य उच्च जाति के किसी मनुष्य की हानि करे उस इन्द्री को काट डालना चाहिए"-यह मनु की शिक्षा है (८, २७९)। परन्तु मनु का सत्कार करते हुए भी हम लोग इस बात में सन्देह कर सकते हैं कि उस के देश वासियों ने इस शिक्षा के अनुसार कार्य्य करके अपने को कभी कलंकित किया हो ?

बदनामी करने के लिये साधारण दण्ड १२ पण था (८, २६९) और इस प्रकार चोट पहुँचाने के लिये कि जिससे देह का चमड़ा कट जाय १०० पण। यदि माँस कट जाय तो उसके लिये ६ निष्क का दण्ड लगाया जाता था और यदि हड्डी टूट जाय तो अपराधी देश के बाहर निकाल दिया जाता था। (८, २८४)

हानि करने के लिये जितने की हानि हो उसी के बराबर दण्ड लगाया जाता था परन्तु यदि हानि थोड़े की हुई हो तो उसका पचगुना दण्ड लगाया जाता था। (८, २८८-२८९)

(१३ और १४) चोरी और डांका-चोरों को दण्ड देने के लिये बहुत ही अधिक उपाय किए जाते थे क्यों कि यदि राजा "चोरों को दण्ड दे तो उसके यश और राज्य की वृद्धि होती थी" (८, ३०२) और जो राजा संपत्ति की रक्षा नहीं करता और फिर भी अपना कर लगान और दण्ड लेता है वह शीघ्र नर्क में जायगा। (८, ३०७)

चोरों को भिन्न भिन्न दण्ड लगाए जाते थे अथवा उनको शारीरिक दण्ड दिया जाता था वा उनका हाथ काट लिया जाता था. जब चोरी स्वामी के सामने (अर्थात् बलात) की जाती थी तो वह डांका कहलाताथा। (८. ३१९-३३२) बलात् चोरी करना एक बड़ा भारी अपराध समझा जाता था परन्तु जब कोई मनुष्य डकैतों से आक्रमण किया जाय तो उस अथवा ऐसी अन्य अवस्थाओं में उसे अपनी

रक्षा करने का अधिकार था। (८, ३४५—३५०)

(१५) व्यभिचार—यह अपराध भारतवर्ष में सदा से बड़ी घृणा की दृष्टि से देखा गया है और व्यभिचार करने वाले को यदि वह ब्राह्मण न हो तो प्राण दण्ड दिया जाता था "क्योंकि चारों जातियों की स्त्रियों की सदा बड़ी सावधानी से रक्षा करनी चाहिए। (८, ३५९) किसी अववाहिता स्त्री का बिना इच्छा के सतीत्व नष्ट करने के लिये शारीरिक दण्ड दिया जाता था अथवा दो अंगुलियाँ काट ली जाती थीं और ६०० पण का आर्थिक दण्ड लगाया जाता था (८, ३६४, ३६७) परन्तु इससे भी अधिक भयानक दण्ड लिखे हैं। जो स्त्री किसी दूसरे को बिगाड़े उसे कोड़े लगाए जाते थे और आर्थिक दण्ड लगाए जाते थे। व्यभिचारिणी स्त्री कुत्तों से चुथवाई जाती थी और व्यभिचारी मनुष्य अग्नि में जला दिया जाता था (८, ३६९ ३७१, ३७२) परन्तु इसमें सन्देह है कि ये कानून कभी काम में लाए जाते हों।

आगे चल कर इससे कम कठोर दण्ड रखे गए हैं। जो शूद्र किसी द्विज जाति की स्त्री से व्यभिचार करे उसकी इन्द्री काट ली जाती थी। जो वैश्य अथवा क्षत्री किसी ब्राह्मणी से यह अपराध करे तो वह कारागार में भेजा जाता था अथवा उसे भारी आर्थिक दण्ड दिया जाता था। कोई ब्राह्मण यदि अपनी जाति की स्त्री से ऐसा व्यवहार करे तो उसे भारी आर्थिक दण्ड लगाया जाता था (८, ३७४–३७८) ब्राह्मण को "चाहे वह कैसाही अपराध क्यों न करे" कभी प्राण दण्ड नहीं दिया जाता था। "ब्राह्मण के वध करने से बढ़ कर इस पृथ्वी पर दूसरा पाप नहीं है" (८, ३८०, ३८१)

फौजदारी के कानूनों के अध्याय के अन्त में मनु ने कुछ फुटकर नियम दिए हैं। जो यज्ञ करने वाला अपने पुरोहित को छोड़ दे, वा जो पुरोहित अपने यज्ञ करने वालों को छोड़ दे, जो पुत्र अपने माता पिता को छोड़ दे, जो ब्राह्मण अपने पड़ोसियों को निमंत्रण न दे और जो श्रोत्रिय दूसरे श्रोत्रियों को निमंत्रण न दे वे सब आर्थिक दण्ड देने योग्य होते थे। बेइमान धोबियों और कपड़ा बुनने वालों के भी नियत दण्ड हैं। राजा वाणिज्य की सब

वस्तुओं पर उनके मूल्य के अनुसार पाँच रुपए सैंकड़े का कर लगा सकता था । वह कुछ वस्तुओं की विक्री का अधिकार केवल अपने ही हाथों में रख सकता था और जो लोग उन वस्तुओं को बेंचे उनको दण्ड दे सकता था । वह नगर में आने वाली वस्तुओं और नगर से बाहर जाने वाली वस्तुओं पर कर और चुंगी लगा सकता था और यह भी कहा जा सकता है कि वह सब विक्री की वस्तुओं का मूल्य स्थिर कर सकता था परन्तु इसे कभी किसी राजा ने नहीं किया है । राजा सब बटखरों और नापों को निश्चित करता था, घाट का कर निश्चित करता था, वैश्यों को व्यापार करने, रुपया उधार देने और भूमि जोतने बोने की आज्ञा देता था और शूद्रों को द्विजों की सेवा करने की आज्ञा देता था ।

गुलाम सात प्रकार के कहे गए हैं अर्थात् युद्ध के कैदी, नित्य भोजन पर कार्य्य करने वाले, गुलाम की सन्तान, खरीदे हुए वा दूसरों के दिए हुए गुलाम और वे मनुष्य जो दण्ड पाने के बदले गुलाम बनाए गए हों । (८, ३८८-४१५)

(१६) पति और पत्नी—मनु इस विषय को स्त्रियों के मनुष्यों के अधीन होने के वर्णन से आरम्भ करता है और उसने स्त्रियों के विषय में कुछ कहावतें भी दी हैं जो कि कदाचित् उसके समय में समझी जाती हों परन्तु वे मनु के लिये अयोग्य हैं क्योंकि हम पहिले देख चुके हैं कि सब बातों पर विचार कर मनु ने स्त्रियों को एक उच्च और सत्कार योग्य स्थान दिया है ।

हम देख चुके हैं कि मनु ने विधवा से सन्तान उत्पन्न करने की प्राचीन रीति के सम्बन्ध में किस भांति अपने ही वाक्यों का खण्डन किया है और इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि सन् ईस्वी के उपरान्त सर्व साधारण लोग इसी रीति के कैसे विरुद्ध थे । हम यह भी देख चुके हैं कि विधवा विवाह किस प्रकार घृणित होता जाता था, यद्यपि वह निस्सन्देह मनु के समय में भी प्रचलित था और बालविधवा के विवाह के लिये स्पष्ट आज्ञा दी गई है । (६, ६६) फिर मनु इस प्राचीन नियम को लिखता है कि स्त्री को अपने पति के लिये, यदि वह धर्म कार्य्य के लिये गया हो तो आठ वर्ष तक ठहरना चाहिए और यदि वह विद्या वा यश के उपार्जन के

लिये गया हो तो उसे छः वर्ष तक और यदि सुख के लिये गया हो तो तीन वर्ष तक ठहरना चाहिए। एक भाष्यकार लिखता है कि इस समय के उपरान्त उसे दूसरा विवाह कर लेना चाहिए और यही इस प्राचीन नियम का अभिप्राय भी जान पड़ता है।

स्त्री को मदिरा पीने वाले पति के साथ घृणा नहीं करनी चाहिए परन्तु पागल वा जाति से निकाले हुए पति अथवा किसी ऐसे पति से जो रोग से पीड़ित हो, जो पापों के दण्ड के कारण होते हैं वह घृणा प्रगट कर सकती है। मदिरा पीने वाली स्त्री, राजद्रोही वा रोगी स्त्री, ऐसी स्त्री जिसे कि सन्तान न होती हो अथवा केवल कन्या हो, उसका पति दूसरा विवाह कर सकता था (९, ७८,-८१)। परन्तु इससे यह तात्पर्य नहीं है कि वह उस स्त्री को बिलकुल त्याग दे वरन् उसे स्त्री को उसे ही घर में रखना चाहिए और उसका पालन करना चाहिए (६, ८३)

"परस्पर प्रीति तथा विश्वास मृत्यु तक होना चाहिए" यह पति और स्त्री के लिये सबसे बढ़ कर नियम है।

(१७) पैत्राधिकार–इस आवश्यक विषय का वर्णन१००से अधिक सूत्रों में दिया है (९, १०४-२२०) परन्तु हमारे लिये यह आवश्यक नहीं है कि हम इस विषय के कानून का व्योरेवार वर्णन करें। पिता और माता की मृत्यु के उपरान्त भाई लोग संपत्ति को अपने में बराबर बराबर बाँट सकते थे (६, १०४) अथवा सबसे बड़े भाई के अधीन रह कर वे सब मिल कर रह सकते थे और इस अवस्था में बड़ा भाई ही सारी सम्पत्ति का प्रबन्ध करता था (६, १०५)। परन्तु भाइयों का जुदा होना निन्दनीय नहीं समझा जाता था वरन् इसके विरुद्ध वह प्रशंसनीय कहा गया है (६, १११)। सबसे बड़े और सबसे छोटे पुत्रों को संपत्ति के बँटवारे में कुछ अधिक भाग मिलता था (६, ११२-११७)। कुमारी बहिनों के लिये प्रत्येक भाई को अपने हिस्से का चौथाई देना चाहिए (६, ११८) परन्तु भाष्यकारों ने इसका अर्थ यह कहा है कि भाइयों को अपनी कुआरी बहिनों के दहेज का प्रबन्ध करना चाहिए। अध्याय ६, सूत्र१२०, १४६ इत्यादि स्थानों में उसे पुत्र के लिये

हिस्सा लिखा है जो कि बड़े भाई की स्त्री वा विधवा से छोटे भाई के द्वारा उत्पन्न हो परन्तु अन्यत्र मनु ने इस व्यवहार की निन्दा की है। फिर जिस मनुष्य को पुत्र न हो वह अपनी कन्या का उसके पति से यह कह कर नियुक्त कर सकता है, कि उसकी जो पुरुष सन्तान उत्पन्न होगी वह मेरी अन्त्येष्टि क्रिया करेगी। और जब ऐसा किया जाता था तो पौत्र और नियुक्त कन्या के पुत्र में कोई भेद नहीं समझा जाता था (६, १२७, १३३)। ६, १४१ और २४२ में पुत्र गोद लेने का अधिकार दिया है।

सदा की नाईं मनु १२ प्रकार के पुत्रों के विषय में भी प्राचीन सूत्रकारों के नियमों को लिखता है, यद्यपि अपने समय में अपनी सम्मति के अनुसार मनु इनमें से अन्तिम ११ पुत्रों को "सच्चे पुत्र" के पलटे में बुरा प्रतिनिधि कहता है (६, १६१)। १२ प्रकार के पुत्र ये हैं—औरस अर्थात् विवाहिता स्त्री का पुत्र, क्षेत्रज अर्थात् किसी रोगी मनुष्य की स्त्री अथवा किसी विधवा से उत्पन्न किया हुआ पुत्र, दात्रिम अर्थात् गोद लिया हुआ पुत्र, कृत्रिम अर्थात् बनाया हुआ पुत्र, गूढ़ोत्पन्न अर्थात् गुप्त रीति से उत्पन्न हुआ पुत्र जिस के पिता का पता न होने के कारण उसे उसकी माता के पति का पुत्र समझना चाहिए, अपविद्ध अर्थात् जिस पुत्र को उस के माता पिता ने त्याग दिया हो और दूसरा मनुष्य उसे पुत्र की भांति रक्खे, कानीन अर्थात् अविवाहिता स्त्री का पुत्र जो कि उस पुरुष का पुत्र समझा जाना चाहिए जो उस स्त्री के साथ पीछे विवाह करे, सहोढ़ अर्थात् उस स्त्री का पुत्र जिस का विवाह गर्भवती होने की अवस्था में किया जाय, क्रीतक अर्थात् मोल लिया हुआ पुत्र, पौनर्भव अर्थात् विधवा के दूसरे विवाह का पुत्र, स्वयं दत्त अर्थात् वह बालक जिसके माता पिता न हों और वह अपने को किसी दूसरे के पुत्र की भांति दे दे, और पारसव अर्थात् ब्राह्मण का किसी शूद्र स्त्री के साथ उत्पन्न हुआ पुत्र (६, १६७-१७८)।

इन बारहों प्रकार के पुत्रों में से प्रथम छः प्रकार के पुत्र सम्बन्धी और उत्तराधिकारी समझे जाते हैं, और अन्तिम छओं पुत्र केवल सम्बन्धी समझे जाते हैं (९, १५८) और इन सब पुत्रों में से एक के न होने पर उस के उपरान्त की श्रेणी का पुत्र पैत्राधिकार

पाता था। (६, १८४) सन्तान, पिता और भाई के न होने पर मनुष्य की सम्पत्ति उसके सब से निकटवर्ती सम्बन्धी को मिलती थी जो कि तीन पीढ़ी के भीतर हो, और ऐसे सम्बन्धी के न होने पर किसी सकुल्य को, वा उसके उपरान्त धर्म के गुरु वा शिष्य को और उसके भी न होने पर ब्राह्मणों को मिलती थी। (६, १८७, १८८)

स्त्रीधन वा स्त्रियों की विशेष सम्पत्ति वह कही गई है जो कि विवाह की अग्नि के सामने अथवा विवाह में दी जाय अथवा जिसे पति प्रीति के चिन्ह की भांति अथवा भाई माता वा पिता उसे दे। (६, १९४)

माता की मृत्यु के उपरान्त उस माता के सब पुत्र और कन्या माता की सम्पत्ति को बराबर बराबर बांट लें। (६, १९२)

(१८) जुआ खेलना और बाजी लगाना इत्यादि—ये दोनों पाप राजाओं के राज्य को नाश करने वाले होते हैं; और इस लिये राजाओं को सम्मति दी गई है कि वे इन्हें अपने राज्य से दूर रक्खें। इस पाप के लिये शारीरिक दण्ड लिखा गया है (९, २२४) और इस पाप के करने वालों तथा नाचने वालों, गाने वालों, और नास्तिक लोगों अर्थात् बौद्धों को देश से निकाल देने के लिये भी लिखा है। (६, २२५)

जाल से राज्य आज्ञाओं को बनाने के लिये, मन्त्रियों को घूस देने के लिये, स्त्रियां बच्चों और ब्राह्मणों का बध करने के लिये और राज द्रोह के लिये प्राण दण्ड कहा गया है। (६, २३२) गुरु की पत्नी के साथ व्यभिचार करने, मदिरा पीने, ब्राह्मण का धन चुराने वा ब्राह्मण का बध करने के लिये सिर को दागने का दण्ड लिखा है। जो चोर चोरी की वस्तुओं और सेंध लगाने के औजारों के सहित पकड़ा जाय वह तथा जो लोग चोर को आश्रय देवें वे जान से मारे जा सकते थे (६, २७०, २७१) डांकुओं, घर लूटने वालों, गिरहकटों तथा अन्य ऐसे ही लोगों के हाथ अथवा दो उङ्गलियां काट ली जानी चाहिए। [९, २७६, २७७]

तालाबों की बांध को नष्ट करने के लिये प्राण दण्ड अथवा कोई दूसरा कठोर दण्ड कहा गया है [६, २७६] और जो वैद्य अपने रोगियों की उलटी चिकित्सा करें उसके लिये अर्थ दण्ड लिखा है।

(९, २८४) वाणिज्य की वस्तुओं में खोटी वस्तु मिलाने के लिये, और सब प्रकार की दुष्टता के लिये, अन्न की बिक्री में ठगने के लिये, सुनारों की बेइमानी के लिये और खेती के औजारों की चोरी के लिये भिन्न भिन्न दण्ड कहे गए हैं (६, २५८-२६३)

कानून के विषय में दो अध्यायों के सिवाय मनु ने पाप के प्रायश्चित इत्यादि के लिये एक जुदा अध्याय दिया है और उसके विषय में बहुत थोड़ी बातों से विदित हो जायगा कि उस समय में भारी पाप कौन कौन समझे जाते थे।

प्रायश्चित—यहां फिर हमें यह उल्लेख मिलता है कि "ब्राह्मण का वध करना, सुरा पीना, ब्राह्मण का द्रव्य चुराना, गुरू की स्त्री से व्यभिचार करना और इन पापों के करने वाले मनुष्यों का संग करना ये सब से भारी पाप अर्थात् महापातक हैं।" (११,५५) पाठक देखेंगे कि ये वही महापातक हैं जिनका कि वशिष्ठ ने वर्णन किया है। इसके सिवाय और भी पातक लिखे हैं जो कि इनके बराबर कहे गए हैं। ऐसे पातकों में ये हैं अर्थात् झूठी साक्षी देना, अपने गोत्र में व्यभिचार करना, कुमारी स्त्रियों को नष्ट करना, अपने माता पिता का त्याग और वेदों पर ध्यान न देना।

महापातकों से घट कर उपपातक हैं जिनमें हम इन पातकों को पाते हैं अर्थात् गृह्य अग्नि की असावधानी, गौ का वध, चोरी, ऋण न चुकाना, व्रात्य होकर रहना और अन्त में और बड़ी आश्चर्य जनक बात है कि—"खानों और कारखानों का निरीक्षण करना तथा बड़े बड़े यन्त्रों द्वारा कार्य्यों का करना जिसका कि भाष्यकारों ने यह अर्थ बतलाया है कि बांध बांधना वा चीनी की कल तथा इसी प्रकार की अन्य बड़ी बड़ी कल बनाना (९, ६०, ६७) है। भारतवर्ष में जाति भेद के हानिकारक फल ने शिल्प और शिल्पकारों को नीच बना दिया परन्तु यह बड़े ही पश्चाताप और दुःख की बात है कि हिन्दू ग्रन्थकार को यह लिखना पड़ता है कि कल पुर्जों के काम ही वास्तव में पाप समझे जाते थे। मनुस्मृति के बनने के समय के सम्बन्ध में सर विलियम जोन्स साहब के समय से बहुत कुछ वादविवाद हुआ है परन्तु अब यह साधारणतः स्वीकार किया जाता है कि उसका जो संग्रह अब मिलता है वह ईसा के एक वा दो शताब्दी

के पहिले वा पीछे का बना हुआ है । उसमें (१०, ४४) यवनों को चीन देश के लोगों तथा शक और कमभोज लोगों का उल्लेख है और इससे उसके बनने का समय काफी तरह से निश्चित होता है। यह ग्रन्थ, जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं, भारतवर्ष के प्राचीन सूत्रों जिनके आधार पर यह बना हुआ है और पौराणिक समय के धर्म्म शास्त्र जिनका की हम आगे के अध्याय में वर्णन करेंगे, इनके बीच के समय का है। सूत्रों की नांई वह किसी विशेष वैदिक समय से सम्बन्ध नहीं रखता परन्तु वह समस्त आर्य्यों का कानून है और धर्म्म शास्त्र के भी विरुद्ध मनु अपने समय तक हिन्दू त्रिमूर्ति वा पौराणिक कथाओं को नहीं जानता, मूर्ति पूजा को नहीं मानता और मन्दिरों तथा पुजेरियों को घृणा की दृष्टि से देखता है और वैदिक विधानों और यज्ञों का मण्डन करता है।

अध्याय १२

ज्योतिष और विद्या।

पूर्व अध्यायों में हम बौद्ध काल में हिन्दुओं के इतिहास और उनकी राजनीति की अवस्था; उनके शिल्प और गृहनिर्माण विद्या और उनके सामाजिक जीवन तथा नियमों का वर्णन कर चुके हैं। अब उस समय में उनकी विद्या की उन्नति के विषय में हमें कुछ वाक्य कहने हैं। दुर्भाग्य वश इस विषय में हमें जो सामिग्रियां मिलती हैं वे बहुतही थोड़ी हैं—कदाचित् प्राचीन हिन्दू इतिहास के अन्य किसी समय में भी थोड़ी हैं।

इसके कारण भी स्पष्ट है। पांच वा छ शताब्दियों तक भारतवर्ष विदेशियों के आक्रमण और युद्ध का स्थान बना रहा और इस समय में साहित्य और शास्त्रों की जैसी उन्नति स्वाभाविक रीति पर होनी चाहिए न हो सकी। उस समय जो बातें विदित भी हुईं उनमें से अधिकांश बौद्ध प्रभाव के द्वारा हुईं और इसके पीछे के हिन्दू लेखकों ने उन बातों को रक्षित रखने में सावधानी नहीं की है। और अन्त में, इस समय में जिन शास्त्रों के जो ग्रन्थ बनाए गए थे उनका स्थान अधिकतर इसके उपरान्त के पौराणिक काल में बने हुए उत्तम ग्रन्थों ने ले लिया है। इन सब कारणों से बौद्धकाल के साहित्य और शास्त्रों का बहुत ही थोड़ा अंश अब प्राप्त है।

परन्तु फिर भी भारतवर्ष में बुद्धि विषय के उद्योग किसी समय में भी नहीं छोड़े गए थे और हिन्दू इतिहास के किसी समय में भी "विद्या सम्बन्धी अवकाश" कभी नहीं माना गया। और बौद्ध समय में इस सम्बन्ध में जो उन्नति हुई थी उसके चिन्ह हम लोगों को अब तक मिलते हैं।

हम दार्शनिक काल के वृतान्त में हिन्दुओं के छ दर्शन शास्त्रों का वर्णन कर चुके हैं परंतु यह स्मरण रखना चाहिए कि उनमें से कुछ दर्शनों यथा पातञ्जलि के योग और बादरायण व्यास के वेदान्त का प्रारम्भ बौद्ध काल ही में हुआ था और इसी काल में इन छओं दर्शनों में बहुत कुछ उन्नति की गई थी। इसके अतिरिक्त इस काल में पातञ्जलि ने पाणिनी के व्याकरण पर अपना प्रसिद्ध महाभाष्य लिखा है जो कि बौद्धकाल की उन्नति का एक स्मारक है।

धर्म सम्बन्धी ग्रन्थों में मनुस्मृति बौद्ध काल में बनाई गई थी और नालन्द तथा अन्य विद्यापीठों की बहुत सी बौद्धधर्म की पुस्तकें इस काल में बनीं। पद्य का हम लोगों को बहुत ही थोड़ा अंश प्राप्त है जो कि निश्चय रूप में इसी काल का बना हुआ है परन्तु फिर भी अर्वाचीन संस्कृत पद्य का आरम्भ इसी काल में हुआ है। गुप्त वंशी राजाओं के शिलालेखों से हमें विदित है कि इस समय में उस सुन्दर तथा गम्भीर पद्य की कदर की जाती थी, कविता का सत्कार राज सभाओं में किया जाता था और गुप्त वंश का सब से बड़ा राजा समुद्रगुप्त जिसने कि चौथी शताब्दी की समाप्ति के लगभग राज्य किया स्वयम् कवि था और उसकी सभा के कवियों ने उसे कविराज की पदवी दी थी।

परन्तु बौद्धकाल में सब से अधिक उन्नति ज्योतिष शास्त्र में हुई थी। हम पहिले देख चुके हैं कि ज्योतिष सम्बन्धी वेध वैदिक काल में ही किए जा चुके थे और ऐतिहासिक काव्य काल में चन्द्रराशिचक्र स्थिर किया गया था और अयन सम्बन्धी विन्दुओं का स्थान देखा जा चुका था तथा अन्य बातें भी ध्यान पूर्वक देखी और लिखी जा चुकी थीं। परन्तु इन कालों अथवा दार्शनिक काल का भी ज्योतिष का कोई ग्रन्थ हम लोगों को अब नहीं मिलता। ज्योतिष का सब से प्राचीन ग्रन्थ जिसके विषय में कि हमें कुछ विदित है अथवा जो हम लोगों को अब प्राप्त है, बौद्ध काल का है।

हिन्दू ग्रन्थकारों ने १८ प्राचीन सिद्धान्त अर्थात् ज्योतिष के ग्रन्थ लिखे हैं, परन्तु उनमें से अधिकांश अब प्राप्त नहीं हैं। उनके नाम नीचे दिए जाते हैं—

१	परासर सिद्धान्त	१०	मरीचि सिद्धान्त
२	गर्ग ,,	११	मनु ,,
३	ब्रह्म ,,	१२	अंगीरस ,,
४	सूर्य ,,	१३	रोमक ,,
५	व्यास ,,	१४	पुलिश ,,
६	वशिष्ठ ,,	१५	च्यवन ,,
७	अत्रु ,,	१६	यवन ,,
८	कश्यप ,,	१७	भृगु ,,
९	नारद ,,	१८	सौनक वा सोम ,,

इनमें से कुछ सिद्धान्तों के संक्षिप्त विवरण से बौद्धकालके शास्त्रों की उन्नति का बहुत कुछ वृत्तान्त विदित हो जायगा और हम यह बात पहिले से कह देंगे कि हिन्दुओं ने इस काल में अधिकांश ज्योतिष शास्त्र का ज्ञान यूनानियों से प्राप्त किया, जिन्हों ने कि इस शास्त्र की बड़ी सफलता के साथ उन्नति की थी।

प्रोफेसर वेबर साहब कहते हैं कि हिन्दू ज्योतिषियों में पराशर सबसे प्राचीन है और समयक्रम से उसके उपरान्त गर्ग है। पराशर के विषय में हमें इसके अतिरिक्त और कोई बात विदित नहीं है कि उसका नाम वेद से सम्बन्ध रखता है। वह ग्रन्थ जिसमें पराशर की शिक्षायें दी हुई कही जाती हैं, पराशर तन्त्र के नाम से प्रसिद्ध था। पौराणिक समय में वह बड़े सत्कार की दृष्टि से देखा जाता था और वाराहमिहिर ने बहुधा इस ग्रन्थ के वाक्य उद्धृत किए हैं। इन अनेक उद्धृत वाक्यों को देखने से विदित होता है कि उनका अधिकांश, कम से कम उनका एक बड़ा अंश गद्य में लिखा है जो कि इस श्रेणी के ग्रन्थों के लिये एक विशेषता है। इसका बहुत सा भाग अनुष्टुप छन्द में है और इसमें आया छन्द भी है। भारतवर्ष के भूगोल जानने वालों के लिये उसमें एक पूरा अध्याय है जिसको कि वाराहमिहिर ने केवल रूप बदल कर परन्तु ज्यों का त्यों रख कर वृहत् संहिता के १४ वें अध्याय में दिया है। पराशर ने पश्चिमी भारतवर्ष में यवनों वा यूनानियों के होने का उल्लेख किया है जिससे विदित होता है कि इस ग्रन्थ का समय ईसा के २०० वर्ष के अधिक पहिले का नहीं है।

गर्ग के विषय में हमें इससे कुछ अधिक वृत्तान्त विदित है और वह उन हिन्दू ग्रन्थकारों में है जिनसे कि हम भारतवर्ष में ईसा के पहिले दूसरी शताब्दी में यूनानियों के आक्रमण का कुछ वृत्तान्त विदित होता है। वह यून जाति के विद्वानों का भी सम्मान करता था यद्यपि वे म्लेच्छ समझे जाते थे। उसका निम्नलिखित वाक्य प्रसिद्ध है और वह बहुधा उद्धृत किया जाता है—"यवन लोग (यूनानी लोग) म्लेच्छ हैं परन्तु वे लोग इस शास्त्र (ज्योतिष शास्त्र) को अच्छी तरह से जानते हैं। इस लिये उन लोगों का ब्राह्मण ज्योतिषियों से कहीं बढ़ कर ऋषियों की नाईं, सत्कार किया जाता है।"

अपने ग्रन्थ के ऐतिहासिक अंश में गर्ग चार युगों का उल्लेख करता है जिसमें से महाभारत के युद्ध के समय से वह तीसरे युग की समाप्ति और चौथे युग का प्रारम्भ होना लिखता है। इसके उपरान्त उसने मगध के शिशुनाग वंश और फिर मौर्य्य वंश के राजाओं का उल्लेख किया है। सालिसुक का उल्लेख करते हुए (जिसको कि हम देख चुके हैं कि अशोक के उपरान्त चौथा राजा था) गर्ग कहता है "इसके पीछे पापात्मा साहसी यूनानी लोग साकेतु (अवध) पाञ्चाल देश और मथुरा को अधीन करने के उपरान्त कुसुमध्वज (पटने) में पहुंचेंगे। पुष्पपुर (पटना) लिए जाने पर सब देशों में निस्सन्देह उलट फेर हो जायगी।"

संस्कृत ग्रन्थों में ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख इतना दुर्लभ है कि गर्ग के ज्योतिष के ग्रन्थ में ईसा के पहिले दूसरी शताब्दी में बेक्टिया के यूनानी लोगों का पटने तक भारतवर्ष को जीत लेने का जो वृत्तान्त मिलता है उसके लिये हम उसके अनुगृहीत हैं। बहुत से पाठकों को विदित होगा कि प्रसिद्ध विद्वान डाक्टर गोल्डस्टूकर साहब ने यूनानी लोगों का अवध पर आक्रमण करने का वृत्तान्त पातञ्जलि के ग्रन्थ से खोज निकाला है और इसीसे उन्होंने योग दर्शन और महाभाष्य के रचयिता पातञ्जलि का समय निश्चित किया है।

परन्तु अब गर्ग के विषय में सुनिए। "अजेय यवन लोग (यूनानी लोग) मध्य प्रदेश में नहीं रहेंगे। उन लोगों में एक बड़ा कठोर और भयानक युद्ध होगा। तब इस युग के अन्त में यूनानियों का नाश होने के उपरान्त सात प्रबल राजा अवध में राज्य करेंगे।" इसके उपरान्त यह उल्लेख है कि यूनानियों के उपरान्त लुटेरे शक लोग बड़े प्रबल हुए, और हमें यह जानने में बहुत कम कठिनाई है कि वे शक लोग वेही यूची लोग थे जिन्होंने कि ईसा के १३० वर्ष पहिले बेक्ट्रिया के राज्य को नष्ट किया था। ये नए विजयी लोग अपनी लूट पाट करते रहे और यहां पर गर्ग का इतिहास समाप्त हो जाता है। उपरोक्त बातों से डाक्टर कर्न साहब का गर्ग का समय ईसा की पहिली शताब्दी में निश्चित करना ठीक है।

अब हम कुछ अन्य सिद्धान्तों के विषय में लिखेंगे अर्थात्

उन पांच सिद्धान्तों के विषय में जो कि पञ्च सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध हैं और जिनके आधार पर छठीं शताब्दी में वाराहमिहिर ने अपनी पञ्चसिद्धान्तिका लिखी है। वे पांचों सिद्धान्त ये हैं अर्थात् ब्रह्म वा पैतामह, सूर्य्य वा सौर, वशिष्ट, रोमक, और पुलिश।

जान पड़ता है कि प्राचीन ब्रह्म वा पैतामह सिद्धान्त का पूर्ण स्थान ब्रह्मगुप्त के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'स्फुट ब्रह्मसिद्धान्त' ने ले लिया है। एलबरूनी ने इस स्फुट ब्रह्म सिद्धान्त की एक प्रति ११ वीं शताब्दी में पाई थी और उसने उसका उल्लेख अपने भारतवर्ष के वृत्तान्त में किया है।

सूर्य्य सिद्धान्त बड़ा प्रसिद्ध है परन्तु उस मूल ग्रंथ में इतनी बार परिवर्तन हुआ है और वह इतनी बार संकलित किया गया है कि मूल ग्रन्थ अब हम लोगों को प्राप्त नहीं रह गया है। हम इस मूल ग्रन्थ के बनने की तिथि के विषय में इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं कह सकते कि वह बौद्ध काल में बना होगा। और यह ग्रन्थ अन्तिम बार अपने आधुनिक रूप में कब बनाया गया इसके विषय में भी हम केवल इतनाही कह सकते हैं कि वह पौराणिक काल में बनाया गया होगा।

वाराहमिहिर का भाष्यकार, उत्पल दसवीं शताब्दी में हुआ और उसने अपने समय के सूर्य सिद्धान्त से छ श्लोक उद्धृत किए हैं और डाक्टर कर्न साहब ने दिखलाया है कि उनमें से एक भी आज कल के सूर्य सिद्धान्त मे नहीं मिलता। फिर भी "आज कल का सूर्य सिद्धान्त उस ग्रन्थ का पुनरूप मात्र है जिसे कि वाराहमिहिर ने अपना एक प्रमाण माना है।"

आधुनिक सूर्यसिद्धान्त में १४ अध्याय हैं और उसमें ग्रहों के मध्यम स्थान और वास्तविक स्थान, समय का विषय, सूर्य और चंद्र ग्रहण, ग्रहों और नक्षत्रो के योग, ग्रहों और नक्षत्रों के प्रकाशवृत्तीय उदय और अस्त, चन्द्रमा की कला और उसके स्कन्धो के स्थान, सूर्य, और चन्द्रमा की क्रान्ति, ज्योतिष सम्बन्धी यन्त्रों के बनाने की रीति, जगत की उत्पत्ति और भिन्न भिन्न प्रकार के समय का उल्लेख है।

एलबरूनी वशिष्ठ सिद्धान्त को विष्णु चन्द्र का बनाया हुआ

कहता है, परन्तु ब्रह्मगुप्त कहता है कि इस प्राचीन ग्रन्थ को विष्णु चन्द्र ने फिर से बांधा था और यह बात ठीक जान पड़ती है। आज कल वशिष्ठ सिद्धान्त के नाम से जो ग्रन्थ वर्तमान है वह निसन्देह आधुनिक समय का है।

रोमक सिद्धान्त को ब्रह्मगुप्त और अलबरूनी दोनों ही, श्री सेन का बनाया हुआ कहते हैं। आज कल एक जाली और आधुनिक समय का बना हुआ रोमक सिद्धान्त मिलता है जिसमें ईसामसीह की जन्मपत्री, बाबर के राज्य का वर्णन तथा अकबर के सिन्धविजय करने का वृत्तान्त दिया है ?

पुलिश सिद्धान्त अलबरूनी को विदित था। उसने उसकी एक प्रति ली थी और वह इस ग्रन्थ को यूनानी पालिस का बनाया हुआ कहता है। प्रोफेसर वेबर साहब का मत है कि यह यूनानी पालिस वही है जो कि पोलस अलकज़ान्ड्रीनस के नाम से प्रसिद्ध है और जिसने इसागाज नामक ज्योतिष का ग्रन्थ लिखा है। परन्तु डाक्टर कर्न साहब इस बात में सन्देह करते हैं पर उनका भी यही मत है कि पुलिस यूनानी था।

येही पांचों प्रसिद्ध सिद्धान्त हैं जिन्हें कि वाराहमिहिर ने छठीं शताब्दी में संकलित किया था। डाक्टर कर्न साहब उनका समय गर्ग और वाराहमिहिर के बीच में अर्थात सन ८५ ईसवी के लगभग निश्चित करते हैं।

बौद्धकाल में अन्य शास्त्रों के भी ग्रन्थ वर्तमान थे जो कि अब हम लोगों को अप्राप्त हो गए हैं। उदाहरण की भांति हमें यह बड़े हर्ष के साथ विदित होता है कि उस समय में नग्नजित ने गृह निर्माण विद्या, पत्थर की मूर्ति बनाने की विद्या, चित्रकारी तथा अन्य ऐसेही शिल्पों के विषयों के ग्रन्थ बनाए थे।

जान पड़ता है कि बौद्धकाल में, जब कि समस्त देश में चिकित्सालय स्थापित किए गए थे वैद्यक शास्त्र ने बड़ी उन्नति की थी। हिन्दू वैद्यक शास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थकर्ता चर्क और सुश्रुत इसी समय म हुए हैं परन्तु उनके ग्रन्थ पौराणिक समय में फिर से संशोधन किए हुए जान पड़ते हैं और इसलिये हम पौराणिक समय में उनका वर्णन करेंगे।

——:o:——

HINDI HISTORICAL SERIES No. V.

मिस्टर रमेशचन्द्र दत्त का

प्राचीन भारतवर्ष की

सभ्यता का इतिहास।
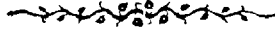
चौथा भाग।

जिसे

गोपालदास ने

सरल हिन्दी में अनुवाद किया

और

इतिहास-प्रकाशक-समिति काशी ने

प्रकाशित किया।

1909

PRINTED BY MADHO PRASAD, BHARAT PRESS,
BENARES.

अध्यायों की सूची ।

पौराणिक काल ।

प्राचीन भारतवर्ष की

सभ्यता का इतिहास।

चौथा भाग।

काण्ड ५

पौराणिक काल, सन् ५०० से १००० ई० तक।

अध्याय १

विक्रमादित्य और उसके उत्तराधिकारी।

अब हम हिन्दू इतिहास के नाटक के अन्तिम अंक पर आ गए और उसका पर्दा एक वास्तविक बड़े दृश्य पर खुलता है! एक बड़े और स्वदेशानुरागी युद्ध का विजयी, पुनर्जीवित होते हुए हिन्दू धर्म्म का संरक्षक, आधुनिक संस्कृत साहित्य में जो सबसे उत्तम और सुन्दर बातें हैं उन सब का केन्द्र, सैंकड़ों कथाओं का नायक, प्रतापी विक्रमादित्य हिन्दुओं के लिये वैसाही है जैसा की फरासीसियों के लिये शारलेम्यान, अंगरेज़ो के लिये आलफ्रेड, बौद्धों के लिये अशोक, और मुसलमानों के लिये हारन-उल-रशीद है। विद्वानों और अपढ़ लोगों के लिये, कवि वा कहानी कहनेवालों के लिये, बूढ़ों अथवा बच्चों के लिये उसका नाम भारतवर्ष में ऐसा परिचित है जैसा कि किसी देश के किसी राजा का

बादशाह का हो सकता है। इस राजा के नाम के साथही जिसकी सभा में कालिदास वर्तमान थे हिन्दू विद्वानों के हृदय में शकुन्तला और उर्वसी की कोमल सूरत का स्मरण हो उठता है। हिन्दू ज्योतिषियों के हृदय मे वराहमिहर का स्मरण और कोशकारों के हृदय में अमरसिंह के सत्कार करनेवाले राजा का सम्मान हो उठता है। और ये सब बातें उसके सच्चे प्रताप के लिये मानों काफी न होने के कारण सैंकड़ों कहानियां उसके नाम को अपढ़ और सीधे साधे लोगों से परिचित कराती हैं। आज तक भी गांव के रहने वाले लोग छाया-दार पीपल वृक्ष के नीचे यह कथा सुनने के लिये एकत्रित होते हैं कि उन बत्तिस बोलनेवाली पुतलियों ने जो कि इस बड़े सम्राट के सिंहासन को उठाए हुए थीं, किस प्रकार उसके उत्तराधिकारी की अधीनता स्वीकार नहीं की और उनमें से प्रत्येक ने विक्रम के प्रताप की एक एक कथा किस प्रकार कह कर प्रस्थान किया। प्रत्येक ग्रामीण पाठशाला के छोटे छोटे बालक भारतवर्ष में अब तक आश्चर्य और स्नेह के साथ पढ़ते हैं कि इस साहसी विक्रम ने अन्धकार और भय के दृश्यों के बीच एक प्रबल बैताल के ऊपर प्रभुत्व पाने का किस प्रकार यत्न किया और अन्त में उसने अजेय वीरता, कभी न डिगने वाली बुद्धि और कभी न चूकने वाले साहस और आत्मनिर्भर के कारण किस प्रकार सफलता प्राप्त की।

परन्तु जब हम इसके साहित्य विषयक स्मारकों और कहानियों को छोड़कर इतिहास की ओर झुकते हैं तो हमे विक्रम के समय और स्वयं उसकी स्थिति के विषय में भी बड़ाही गड़बड़ मिलता है। बहुत समय तक विद्वानों

का यह मत था कि कालिदास के आश्रयदाता विक्रमादित्य का समय ईसा के लग भग ५६ वर्ष पहिले है जैसा कि संवत अब्द से जान पड़ता है । परन्तु यह सम्मति अब साधारणतः पलट गई है । फ्लीट साहब इस बात का समर्थन करते हैं के संवत अब्द बहुत प्राचीन समय से मालव लोगों का संवत था और ईसा के ५७ वर्ष पहिले के मालव संवत का विक्रम वा विक्रमादित्य के नाम से सम्बन्ध, गुप्तवंशीय पहिले या दूसरे चन्द्रगुप्त के इण्डोसीरियन लोगों को बिजय करने के संदिग्ध अवशेषों के कारण हुआ ।

संवत अब्द की उत्पति चे विषय में अब तक भी ऐसा अन्धकार है और हम इस अन्धकार को दूर करने का कार्य्य भविष्यत के विद्वानों पर छोड़ते हैं । हमारा स्वयं यह विचार है कि कालिदास का आश्रयदाता विक्रमादित्य ईसा के उपरान्त छठीं शताब्दी में हुआ और हम संक्षेप में इस सम्मति को मानने के प्रमाण देंगे ।

हुवेंत्सांग जो कि भारतवर्ष में सातवीं शताब्दी में आया प्रथम शीलादित्य का समय सन ५८० के लगभग स्थिर करता है और विक्रमादित्य को शीलादित्य का पूर्वज बतलाता है। और इतिहासकार कल्हण जो कि बारहवीं शताब्दी में हुआ है विक्रमादित्य को कनिष्क के पीछे बीस राजाओं के उपरान्त बतलाता है जिसने की सन १७८ से राज्य किया । हमारी सम्मति में हुवेंत्सांग और कल्हण की बातों से विक्रमादित्य के राज्य का ईसा के उपरान्त छठीं शताब्दी में होना निश्चय रूप से स्थिर हो जाता है ।

अब इतिहास के विषय में हमें यह कहानी विदित है और आगे चल कर हम उस कहानी को कम से कम १०० वर्ष प्राचीन दिखलावेंगे कि विक्रमादित्य के दरबार में भी बड़े ग्रन्थकार थे जो नौरत्न के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनमें से बराहमिहर, वररुचि और कालिदास सब से अधिक विख्यात हैं। बराहमिहर का जन्म सम्भवतः सन् ५०५ ईस्वी में हुआ था और डाक्टर भाऊदाजी ने उसकी मृत्यु सन् ५८७ में दिखलाई है। वररुचि का अपने प्राकृत व्याकरण को पांचवीं वा छठीं शताब्दी के पहिले बनाना सम्भव नहीं क्योंकि उस समय के पहिले साहित्य की भाषा प्राकृत नहीं थी। और कालिदास के ग्रन्थों से यह विदित होता है कि वह पांचवीं वा छठीं शताब्दी में हुआ जब कि पौराणिक हिन्दू धर्म्म बढ़ा चढ़ा था जब मन्दिरों और मूर्तियों का आदर किया जाता था और जब हिन्दू त्रिमूर्ति की पूजा की जाती थी। मनु के विपरीत, और स्पष्टतः उसके समय के बहुत पीछे, यह कवि हिन्दू त्रिमूर्ति को मानता है, मन्दिरों और मूर्तियों का आदर करता है और हम लोगों के पञ्जाब में आकर बसने का भी उल्लेख करता है।

कालीदास के उत्तराधिकारी भारवि, दण्डिन, बाण भट्ट, सुबन्धु, भर्तृहरि—जिनके लेखों में कालिदास से इतनी समानता पाई जाती है—सब छठीं से आठवीं शताब्दी के भीतर ही हुए हैं। उनमें सुबन्धु विक्रमादित्य के विषय में लिखता है कि उसको बहुत समय नहीं हुआ।* जिन विद्वानों

* वासवदत्त के इस वाक्य पर पहिले पहिल पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने ध्यान आकर्षित किया था। उसका अनुवाद यों किया

ने इन कवियों के ग्रन्थ पढ़े हैं उनके लिये यह सम्भव नहीं है कि वे उनके और कालिदास के समय के बीच ६ शताब्दियों का अन्तर निश्चित करें। इस प्रकार वराह मिहर, वररुचि और कालिदास के ग्रन्थों से जो प्रमाण मिलते हैं उनसे भी विक्रमादित्य का समय ईसा की छठीं शताब्दी में निश्चित होता है।

विक्रमादित्य के शक लोगों को विजय करने के सम्बन्ध में अलबरूनी, जो कि भारतवर्ष में ग्यारहवीं शताब्दी में आया था, कहता है कि विक्रमादित्य ने शक राज पर आक्रमण किया, "उसे भगाया और मुलतान और लोनी के दुर्ग के बीच कोरूदेश में उसे मार डाला"। दुर्भाग्य वश हमें विक्रमादित्य के विदेशी आक्रमण करने वालों पर विजय प्राप्त करने के विषय में केवल इतनाही इतिहास विदित है।

परन्तु विदेशी आक्रमण करने वालों के हारने और भगाए जाने के बड़े उत्तम फल हुए और उससे उत्तरी भारतवर्ष में जो कि सैंकड़ों वर्ष तक आक्रमण करने वालों से पीड़ित था शान्ति के साथ ही साथ शिल्प की वृद्धि हुई। राजाओं के दर्बार तथा बड़े बड़े नगर, विलास, धन, व्यापार और शिल्प के केन्द्र होगए, विज्ञान ने अपना सिर उठाया

जा सकता है "अब विक्रमादित्य का उसके यश को छोड़ कर लोप हो गया है, राजनैतिक विचारों की उत्तमता उठ गई है, अब नए नए ग्रंथकार वर्तमान हैं और उनमें से प्रत्येक इस पृथ्वी पर के और सब लोगों पर आक्रमण करता है जो कि उस झील के समान हो गई है जिसको की सारस पक्षियों ने छोड़ दिया हो, जहां बकपक्षी विहार नहीं करते और जहां सूर्यास्त पर कनकपक्षी इधर उधर नहीं घूमते।

और आधुनिक हिन्दू ज्योतिष शास्त्र ने एक नई उन्नति प्राप्त की। कविता और नाटक ने अपना प्रकाश फैलाया और हिन्दुओं के हृदय को प्रसन्न करने लगे। स्वयं धर्म्म में और जीवनशक्ति आगई और हिन्दू धर्म्म ने अपने नए और पौराणिक रूप में लोगों को बौद्ध धर्म्म से परिवर्तित करने का यत्न किया।

बौद्ध धर्म्म ने भारतवर्ष के मुख्य धर्म्म की ओर कभी द्वेष भाव नहीं दिखाया और इन दोनों धर्म्मों के कई शताब्दियों तक साथ साथ प्रचलित होने के कारण उनका परस्पर अविरोध और भी बढ़ गया था, प्रत्येक देश में बौद्ध और हिन्दू लोग साथ ही साथ रहते थे। हिन्दू लोग बौद्धों के मठ और विद्यालयों में जाते थे और बौद्ध लोग ब्राह्मण ऋषियों से विद्या सीखते थे। एक ही राजा दोनों धर्म्मों के मानने वालों पर अनुकूल रहता था। गुप्तवंशी राजा बहुधा शिव और विष्णु के पूजने वाले थे परन्तु वे बौद्धों और बौद्ध मठों को दान, उपहार और कृपाओं से परिपूर्ण कर देते थे। यह बहुधा होता था कि कोई राजा बौद्ध हो और उसका पुत्र कट्टर हिन्दू हो और बहुधा दो भाई बिना परस्पर लड़े इन दो मतों के अनुयायी होते थे। प्रत्येक राजसभा में इन दोनों धर्म्मों के मानने वाले विद्वान होते थे, और विक्रमादित्य की सभा में भी ऐसा ही था।

हम विक्रम की सभा के महा ग्रंथकारों का वर्णन साहित्य और विज्ञान के अध्याय में करेंगे परन्तु हमारा विक्रमादित्य के राज्य का वर्णन तब तक पूरा न होगा जब तक कि हम उन ग्रन्थकारों का यहां भी, चाहे कितने ही संक्षेप में हो, वर्णन न करें।

भारतवर्ष का प्रत्येक पण्डित उस श्लोक को जानता है जिसमें कि विक्रम की सभा के नौरत्नों का नाम है * बुद्ध गया के संवत् १०१५ अर्थात् सन् ९४८ ईस्वी के एक शिला लेख में हमें निम्न लिखित वाक्य मिलते हैं—"विक्रमादित्य निस्सन्देह इस संसार में बड़ा प्रसिद्ध राजा था। इसी प्रकार उसकी सभा में नौ बड़े विद्वान थे जो कि 'नवरत्नानि' के नाम से विख्यात हैं"। इस कथा की प्राचीनता में कोई सन्देह नहीं है।

इन प्रसिद्ध विद्वानों में कालिदास सब से मुख्य हैं। राजतरंगिणी में लिखा है कि तोरमान की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र प्रवरसेन काश्मीर की राजगद्दी पर अपना अधिकार प्रमाणित नहीं कर सका और भारतवर्ष के इस माननीय सम्राट उज्जनी के विक्रमादित्य ने अपनी सभा के मातृगुप्त नामक प्रसिद्ध विद्वान को काश्मीर का राज्य करने के लिये भेजा। मातृगुप्त ने अपने संरक्षक की मृत्यु तक राज किया और तब वह यती होकर बनारस को चला आया और काश्मीर में प्रवरसेन का राज्य हुआ। डाक्टर दाऊदाजी ने पहिले पहिल इस साहसी सिद्धान्त को प्रकाशित किया कि यह मातृगुप्त स्वयं कालिदास ही थे। इस विद्वान ने अपनी सम्मति के जो प्रमाण दिए हैं उनका विस्तार पूर्वक वर्णन करने की हमें आवश्यकता नहीं है और यहां पर इतना ही कहना आवश्यक होगा कि यद्यपि उनके प्रमाण सम्भव हैं परन्तु वे निश्चय दिलाने वाले नहीं हैं।

* वे ये हैं धन्वन्तरि, क्षपणक, अमरसिंह, शंकु, वेतालभट्ट, घटकर्पर, कालिदास, वराहमिहिर, और वररुचि।

इसके विरुद्ध काश्मीर के एक कवि क्षेमेन्द्र का एक ग्रन्थ मिलता है जिसमें कि उसने कालिदास और मातृगुप्त को दो भिन्न भिन्न कवि लिखा है और इस विषय में क्षेमेन्द्र का प्रमाण निश्चित् समझना चाहिए।

अब हमें भारवि कवि का वर्णन करना है जो कि किरातार्जुनीय का ग्रन्थकर्ता है। वह विक्रमादित्य के दर्बार में रहने वाला नहीं जान पड़ता परन्तु सन् ६३७ ईस्वी का एक शिलालेख मिला है जिसमें कि उसका और कालिदास का नाम लिखा है। यदि वह कालिदास का समकालीन नहीं था तो यह बात निश्चय है कि वह छठीं शताब्दी में हुआ।

अमरसिंह जो कि प्रसिद्ध संस्कृत कोश का बनाने वाला है नवरत्नों में से एक था और वह बौद्ध था। उसके ग्रन्थ का छठीं शताब्दी में चीन की भाषा में अनुवाद किया गया था और कहा जाता है कि बुद्ध गया का बौद्ध मन्दिर उसी का बनवाया हुआ है।

ज्योतिषशास्त्र में पौराणिक काल का सब से प्रथम लेखक आर्य्यभट्ट है। वह अपना जन्म सन् ४७६ ईस्वी में लिखता है। वह विक्रमादित्य की सभा में नहीं था, उसका जन्म पाटलीपुत्र में हुआ था और उसने विक्रमादित्य के पहिले ही छठीं शताब्दी के प्रारम्भ ही में प्रसिद्धि प्राप्त की थी।

वराहमिहिर जो कि आर्य्यभट्ट के उपरान्त हुआ, नव रत्नों में था। वह अवन्ति का रहने वाला था और उसकी मृत्यु ५८७ में हुई।

उसका उत्तराधिकारी ब्रह्मगुप्त छठीं शताब्दी के अन्त में ५९८ ईस्वी में हुआ और उसने अपना ग्रन्थ तीस वर्ष की अवस्था में अर्थात् सन् ६२८ में लिखा। ब्रह्मगुप्त का पिता जिष्णु था और यह कदाचित वही जिष्णु हो जो कि कालिदास का समकालीन कहा गया है।

विक्रमादित्य के शेष रत्नों में से धन्वन्तरि प्रसिद्ध वैद्य था और दण्डिन् ने अपने दशकुमारचरित्र में उसका उल्लेख किया है। बेतालभट्ट नीतिप्रदीप का ग्रन्थकार था और वररुचि प्रसिद्ध वैयाकरण था। घटकर्पर, शंकु और क्षपणक इतने प्रसिद्ध नहीं हैं और उनके पीछे के समय के लोगों ने उनका वह सत्कार नहीं किया जैसा कि उनका विक्रम की सभा में होता था।

अब हम उस विद्या की उन्नति का कुछ विचार कर सकते हैं जो कि विक्रमादित्य के समय में हुई थी और उसने उसके नाम को कभी न मरने वाला यश दिया है। तेरह शताब्दियों के उपरान्त भी आज हम हिन्दू हृदय के विकास और धीशक्ति के उदय का कुछ विचार कर सकते हैं जो कि हिन्दू धर्म्म के पुनर्जीवित होने का चिन्ह है। हम यह विचार कर सकते हैं कि कई शताब्दियों की अवनति के उपरान्त, दुखदाई युद्धों और आक्रमणों के उपरान्त भी लोगों के हृदय में किस प्रकार वीरता, महात्मता और यश का अचानक उदय हुआ। जाति को उस समय एक पद दर्शक की आवश्यकता थी और विक्रमादित्य जो कि विदेशियों का विजय करने वाला, समस्त उत्तरी भारतवर्ष का राजा, गुणियों और विद्वानों का संरक्षक था चाहे वह

बौद्ध हो और चाहे हिन्दू पथ पर्शक की भांति खड़ा हुआ। उस समय एक महान पुरुष की आवश्यकता थी और यह महान पुरुष उपस्थित हुआ और जाति ने इस बड़े राजा के आश्रय में साहि य और विज्ञान में ऐसी सफलता प्राप्त की जो कि इनके पहिले बहुत ही कम प्राप्त हुई थी।

इस प्रकार यदि हम इतिहास को सावधानी और ठीक रीति से जानने का यत्न करें, यदि हम कहानियों और अत्युक्तियों को एक ओर हटा दें तो हम भारतवर्ष के इतिहास के प्रत्येक काल को साधारणतः समझ सकते हैं और प्रत्येक बात का सच्चा सच्चा कारण जान सकते हैं। हम स्वयं बिक्रमादित्य के महत्व का कारण उसके चारो ओर होनेवाली घटनाओं से जान सकते हैं और हम कालिदास की अद्वितीय कल्पनाओं का कारण उसके समय में हिन्दुओं के विचार में साधारणतः आनन्द का होना समझ सकते हैं। हम लोग वराहमिहर और अमरसिंह के परिश्रमों को भी समझ सकते हैं कि वे विद्वानों की एक बड़ी सभा में एक दूसरे से बढ़ कर सम्मान प्राप्त करना चाहते थे और हम उस समय में हिन्दुओं और बौद्धों के बीच उत्तम मुकाबिले को भी समझ सकते हैं जब कि धर्म्म में मतभेद बढ़ कर इतनी बुरी अवस्था को नहीं प्राप्त हुआ था कि वह असह्य हो जाय और क्लेश का कारण हो। बौद्ध धर्म्म की अवनति हो रही थी और हिन्दू धर्म्म फिर से जीवित हो रहा था और स्वभावतः इस पुनर्जीवित होने वाले धर्म्म ने बल विद्या और गुण के सब से अधिक चिन्ह दिखलाए।

विक्रमादित्य के उपरान्त लगभग ५५० ईस्वी में शीलादित्य प्रतापशील उत्तरी भारतवर्ष का राजा हुआ। हुनत्सांग के वर्णन से विदित होता है कि वह धर्म्म का पक्षपाती था और उसकी सभा में मनोरथ के शिष्य वसुवन्धु का बड़ा सत्कार किया जाता था और उसने हिन्दुओं से वादविवाद में एक बड़ी विजय प्राप्त की। वसुवन्धु एक ब्राह्मण का पुत्र था और वह प्रसिद्ध असङ्ग का भाई था। वह काश्मीर में अध्ययन करके मगध को लौटा, नालन्द के विद्यालय में पण्डित हुआ और नेपाल में मरा। हमें शीलादित्य की सभा के और कोई दूसरे महान पुरुष का वृत्तान्त विदित नहीं है।

शीलादित्य का उत्तराधिकारी लगभग ५८० ईस्वी में प्रभाकरवर्द्धन हुआ। प्रभाकर की बहिन राज्यश्री का विवाह ग्रहवर्म्मन् के साथ हुआ था, परन्तु मालव लोगों से उसका एक युद्ध छिड़ा जिसमें प्रभाकर की हार हुई और ग्रहवर्म्मन मारा गया।

लगभग ६०५ ईस्वी में प्रभाकर का उत्तराधिकारी राज्यवर्धन हुआ। राज्यवर्धन भी मालव लोगों के साथ युद्ध करता रहा और उसने उनके राजा को मार डाला। हुनत्साङ्ग के वृत्तान्त से हमें विदित होता है कि इसके उपरान्त कर्णसुवर्ण अर्थात् पश्चिमी बङ्गाल के राजा शशाङ्क नरेन्द्र गुप्त ने राज्यवर्धन को पराजित किया और मार डाला।

इसका उत्तराधिकारी लगभग ६१० ईस्वी में उसका छोटा भाई द्वितीय शीलादित्य हुआ जिसे हर्षवर्धन और कुमारराज भी कहते हैं। वह एक बड़ा और प्रबल राजा

था और उसने अपने विजयों के तथा विद्या का सत्कार करने के कारण विक्रमादित्य के राज के स्मरण को पुनर्जीवित किया। छः वर्षों में उसने "पांचों खंडों" को जीत लिया परन्तु वह महाराष्ट्रों के महाराजा पौलकेशिन द्वितीय को पराजित नहीं कर सका। मालव लोगें को उसने हराया और राज्यश्री को पुनः प्राप्त किया और उसने कामरूप के राजा भास्कर वर्म्मन् के साथ जिसे कुमारराज भी कहते हैं, एक सन्धि कर ली।

हर्षवर्द्धन वा शीलादित्य द्वितीय की एक तांबे की मोहर पाई गई है जिसमें उसकी वंशावली दी है। उसमें खुदा हुआ लेख बहुत छोटा है और उससे विदित होता है कि आदित्यवर्द्धन, राज्यवर्द्धन और महादेवी का पुत्र था; आदित्यवर्द्धन और महासेनगुप्ता का पुत्र प्रभाकरवर्द्धन हुआ, और प्रभाकरवर्द्धन का छोटा भाई यशोमति से हुआ।

हुनत्सांग के वृत्तान्त से हमें विदित होता है कि शीलादित्य की राजधानी कान्यकुब्ज वा कन्नौज में थी और वह पांचवें वर्ष धर्म्म सम्बन्धी त्योहार को करने के लिये राजाओं और सर्वसाधरण का एक बड़ा समूह एकत्रित करता था। हमें यह भी विदित होता है कि शीलादित्य एक दृढ़ बौद्ध था, यद्यपि वह ब्राह्मणों का भी आदर सत्कार करता था।

शीलादित्य हर्षवर्द्धन विद्या का एक प्रसिद्ध रक्षक था, और कहा जाता है कि रत्नावली और बौद्धनाटक नागानन्द उसी का बनाया हुआ है। परन्तु सम्भवतः इनमें से किसी

का भी वह ग्रन्थकार नहीं है, यद्यपि ये दोनों ही ग्रन्थ उसकी सभा में बनाए गए थे। रत्नावली का ग्रन्थकर्ता सम्भवतः बाण भट्ट है जिसने कि कादम्बरी और हर्षचरित्र बनाया है। दशकुमारचरित्र का ग्रन्थकार दण्डिन बाणभट्ट के पहिले और कालिदास के उपरान्त हुआ है और उसने कालिदास का उल्लेख किया है। यह सम्भव है कि दण्डिन उस समय जीवित रहा हो जब कि बाणभट्ट ने उसी का अनुकरण करते हुए कादम्बरीनाम का बहुत बढ़ाचढ़ा उपन्यास लिखा।

संस्कृत का दूसरा प्रसिद्ध उपन्यास सुबन्धु का बनाया हुआ वासवदत्ता है। सुबन्धु बाणभट्ट का समकालीन था, यद्यपि उसने अपना ग्रंथ बाणभट्ट से कदाचित कुछ पहिले लिखा है, क्योंकि बाणभट्ट ने बहुधा उसके वाक्य उद्धृत किए हैं। इस प्रकार हमें संस्कृत के तीनों सर्वोत्तम गद्य के उपन्यासों का समय विदित होगया।

बाणभट्ट के नाम के साथ मयूर के नाम का भी अनेक स्थान पर उल्लेख है और एक दन्तकथा ऐसी है कि बाण ने मयूर की एक चण्डी अर्थात् लड़ाकी कन्या के साथ विवाह किया था। यह मयूर "मयूर शतक" नाम की पुस्तक का ग्रन्थकार है।

इससे अधिक प्रसिद्ध नाम भर्तृहरि का है। प्रोफेसर मेक्समूलर साहब ने अपनी एक मनोरञ्जक टिप्पणी में चीन के यात्री इट्सिंग का प्रमाण देकर दिखलाया है कि भर्तृहरि की मृत्यु लगभग ६५० ईस्वी में हुई अर्थात यों समझिए कि शृङ्गार नीति और बैराग्य शतकों का ग्रन्थकार शीलादित्य द्वितीय का समकालीन था।

भट्टि काव्य जो कि व्याकरण सीखने का एक सहज और मनोरञ्जक ग्रन्थ है, हिन्दू विद्यार्थियों को भर्तृहरि के शतकों की अपेक्षा अधिक ज्ञात है। भट्टि काव्य के भाष्य-कार कन्दर्प, विद्याबिनोद, श्रीधर स्वामिन् आदि इस ग्रंथ को भर्तृहरि का बनाया हुआ कहते है। अन्य भाष्यकारों ने भर्तृ के नाम को बहुधा भट्टि कहा है और सब बातों पर बिचार करने से यह बहुत सम्भव जान पड़ता है कि शतकों का और भट्टि काव्य का ग्रन्थकार एक ही मनुष्य भर्तृ वा भट्टि है। प्रोफेसर मेक्समूलर साहब ने अपने इस अनुमान को दृढ़ करने के लिये चीन के उपरोक्त यात्री का प्रमाण दिया है।

कन्नौज के बड़े सम्राट् शीलादित्य के समय में विद्या की ऐसी उन्नति थी वह पांचवें वर्ष अपने त्योहारों में उत्तरी भारतवर्ष के सब राजा प्रजा को एकत्रित करता था, और समस्त उत्तरी भारतवर्ष का अधिपति था। हम पहिले देख चुके हैं कि ज्योतिषी ब्रह्मगुप्त भी इसी सम्राट् के समय में हुआ है।

शीलादित्य की मृत्यु लगभग ६५० वा ६५८ ईस्वी में हुई। इसके ५० वर्षों के उपरान्त इस बड़े सम्राट् की गद्दी पर केवल एक छोटा सा राजा रह गया था। कन्नौज की शक्ति और प्रताप अब नहीं रहा था और काश्मीर के राजा ललितादित्य ने कन्नौज के राजा यशोवर्म्मन् को युद्ध में पराजित कर दिया था। परन्तु उज्जयिनी में दो शताब्दियों के पहिले साहित्य का जो प्रदीप जलाया गया था वह अब तक भी यशोवर्म्मन् की सभा में चमक रहा था

अर्थात् भारतवर्ष का सब से बड़ा एक कवि भवभूति इसी राजा की सभा में था। उसे प्राय: उन महान कवियों में से अन्तिम समझना चाहिए जो कि भारतवर्ष में छठीं और आठवीं शताब्दी में हुए हैं। राजतरंगिणी से कि जिससे हमें यह वृत्तान्त विदित होता है, यह भी विदित होता है कि दो अन्य ग्रन्थकार अर्थात् वाकपति और राज्यश्री इसी यशोवर्म्मन् की सभा में थे।

यदि ये तीनों शताब्दियां अर्थात् ५०० ईस्वी से लेकर ८०० ईस्वी तक उत्तर काल के संस्कृत साहित्य के इतिहास में सब से उत्तम समझी जाती हैं तो वे हिन्दुओं और बौद्धों में अप्रतिरोध और मित्रवत हिस्का होने के लिये भी प्रसिद्ध हैं। परन्तु इस समय में इन दोनों धर्म्मों के अनुयायियों में विवाद हो रहे थे और प्रसिद्ध शंकराचार्य्य जो कि ८ वीं शताब्दी के अन्त में हुआ हिन्दू धर्म को पुनर्जीवित करने का बड़ा भारी पक्षपाती और बौद्ध धर्म का सब से बड़ा विरोधी हुआ।

इसके उपरान्त अन्धकार का समय हुआ और ८०० से लेकर १००० ईस्वी तक हिन्दू साहित्य विज्ञान वा शिल्प के इतिहास में एक भी प्रसिद्ध नाम नहीं मिलता।

अध्याय २

हुनत्सांग का भारतवर्ष का वृतान्त।

अब हम चीन के प्रसिद्ध यात्री हुनत्सांग के लेखों का वर्णन करेंगे जिनसे कि सातवीं शताब्दी में भारतवर्ष की अवस्था का बहुत कुछ इतिहास प्रगट हुआ है। उसने सन् ६२९ इसवी में चीन से प्रस्थान किया और वह फर्गनः समरकन्द, बुखारा और बल्क में होता हुआ भारतवर्ष में आया और यहां बहुत वर्षों तक भ्रमण करता हुआ अन्त में सन् ६४५ इस्वी में चीन को लौट गया। भारतवर्ष के इतिहास के आरम्भ में वह हिन्दुओं की चाल व्यवहार और उनके शिल्प का वर्णन करता है जिस पर कि हम आगे चल कर बिचार करेंगे यहां पर इस यात्री ने जिन हिन्दू राज्यों का वर्णन किया है उनके विषय में हम लिखेंगे।

जिले जलालाबाद की प्राचीन राजधानी नगरहार घेरे में चार मील थी। इस नगर में अन्न तथा फल बहुतायत से होते थे। यहां के लोगों की चाल व्यवहार सादी और सच्ची थी और उनके स्वभाव उत्साहपूर्ण और वीरोचित थे। यहां बौद्ध धर्म का बड़ा प्रचार था परन्तु यहां हिन्दू धर्मावलम्बी लोग भी थे और नगर में पांच शिवालय तथा लगभग १०० पूजा करने वाले लोग थे। नगर के पूर्व ओर अशोक का बनाया हुआ ३०० फीट ऊंचा एक स्तूप था जो कि सुन्दर काम किए हुए पत्थरों से अद्भुत रीति से बना था। यहां बहुत संघाराम थे और उनमें से एक नगर चार मील दक्षिण पश्चिम था जिसमें ऊंची

दीवार और ढेर किए हुए पत्थरों का कई खण्ड का बुर्ज और २०० फीट ऊंचा एक स्तूप था ।

गान्धार राज्य की राजधानी पेशावर में थी और नगरहार तथा गान्धार दोनों ही उस समय (हिन्दूकुश के निकट) के राजा के अधीन थे और उसी के नायब लोग इन देशों में राज्य करते थे । गान्धार के नगर और गांव उजाड़ होगए थे और उनमें बहुत ही थोड़े निवासी रह गए थे । नगर में अन्न बहुतायत से पैदा होता था और प्रजा कायर पर साहित्य से प्रीति रखने वाली थी । उनमें एक हजार संघाराम उजाड़ और टूटे फूटे पड़े थे और हिन्दुओं के १०० मन्दिर भी थे ।

गान्धार राज्य का वर्णन करते हुए हुनत्सांग हमें मनोहृत नामी एक बौद्ध लेखक की कुछ कथा भी सुनाता है । वह सुप्रसिद्ध विक्रमादित्य के नगर में रहता था परन्तु विक्रमादित्य हिन्दूधर्म और हिन्दू विद्या का संरक्षक था और उसकी सभा में किसी धर्म सम्बन्धी विवाद में मनोहृत का अपमान हुआ और उसने यह कह कर घृणा से सभा को छोड़ दिया कि "पक्षपातियों के समूह में न्याय नहीं रहता" परन्तु विक्रमादित्य का उत्तराधिकारी शीलादित्य विद्वानों का संरक्षक था और उसने मनोहृत के शिष्य वसुबन्धु का सत्कार किया और उसके यहां के हिन्दू पण्डितों ने लज्जित होकर सभा छोड़ दी । दूसरे स्थान पर मालवा का वृत्तान्त लिखते हुए हुवेनत्सांग कहता है कि शीलादित्य मेरे समय से ६० वर्ष पहिले अर्थात् सन ५८० ईसवी के लगभग हुआ था और इस कारण विक्रमादित्य के

राज्य का समय ५५० ई० के पहिले निश्चित होता है और यह समय हमारे निश्चित किए हुए समय से मिलता है।

पौलुश नगर के निकट हमारा यात्री एक ऊंचे पर्वत पर पहुंचा और वहां उसने नीले पत्थर को काट कर बनाई हुई भीम या देवी (दुर्गा) की एक मूर्ति देखी। यहां निकट और दूर देशों के सब गरीब और धनाढ्य लोग एकत्रित होते थे और व्रत तथा स्तुति के पश्चात मूर्ति का दर्शन करते थे। पर्वत के नीचे महेश्वर का एक मन्दिर था और वहां वे हिन्दू सम्प्रदाय के लोग जो कि अपनी देह में राख लगाए रहते थे (पाशुपत) पूजा के लिये आते थे। इन स्थानों से हुनत्सांग वैयाकरण पाणिनि के जन्म स्थान सलातुर में आया।

उद्यान अर्थात काबुल के चारों ओर के देश में जहां कि दो शताब्दी पहिले फाहियान ने बौद्ध धर्म्म का प्रचार देखा था हुनत्सांग ने संघारामों को उजाड़ और निर्जन पाया और उनमें बहुत ही थोड़े सन्यासी रह गए थे। यहां देवों के १० मन्दिर थे।

सिन्ध नदी को पार करके यह यात्री पर्वतों को लाँघता हुआ छोटे तिब्बत में पहुंचा। "यहां की सड़कें ऊंची नीची और ढालुआ हैं पर्वत और दर्रे अन्धकारमय हैं। कहीं कहीं पर हमें रस्सों के द्वारा और कहीं पर फैले हुए लोहे के सिक्कड़ों के द्वारा नालों को पार करना पड़ता है। खंदकों के आर पार हवा में लटके हुए पुल हैं। छोटे तिब्बत से हुनत्सांग तक्षशिला और सिंहपुर को जो कि काश्मीर राज्य के अधीन थे, गया। सिंहपुर में उसे

श्वेताम्बरी और दिगम्बरी जैनी लोग मिले। "उनके संस्थापक के नियम अधिकांश बौद्ध ग्रन्थों के सिद्धान्तों से लिए गए हैं.........अपने पूज्य देव (महावीर) की मूर्ति को वे चोरी से तथागत बुद्ध की श्रेणी में रखते हैं, उसमें केवल कपड़े का भेद रहता है। सुन्दरता में वह बिलकुल एक सी है"। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हुएनत्सांग का यह बिचार था कि जैनियों की सम्प्रदाय कुछ बौद्धों के जुदा होने से बन गई है।

काश्मीर का घेरा १५०० मील कहा गया है और उसकी राजधानी २॥ मील लम्बी और १ मील चौड़ी थी। यहां अन्न उपजता था और फल फूल बहुतायत से होते थे। यहां की जल वायु ठंढी और कठोर थी। यहां बर्फ बहुत होती थी परन्तु हवा की कमी थी। लोग भीतर चमड़े के कपड़े और उसके ऊपर सफेद पटुए पहिनते थे। वे लोग हलके और तुच्छ, निर्बल और कायर स्वभाव के होते थे चेहरा सुन्दर होता था परन्तु वे बड़े धूर्त होते थे। वे लोग विद्या के प्रेमी और सुशिक्षित थे। उनमें हिन्दू और बौद्ध दोनों ही थे। वहां १०० संघाराम और ५००० सन्यासी थे। काश्मीर में अब तक कनिष्क का यश व्याप्त था और हमारे यात्री ने इस बड़े राजा के विषय में भी लिखा है। यहां तथा अन्यत्र हुएनत्सांग ने बुद्ध के निर्वाण का समय अशोक के १०० वर्ष पहिले लिखा है। अतएव उसके इस कथन से कि "थतागत के निर्वाण के ४०० वर्ष पीछे गान्धार का राजा कनिष्कराज गद्दी पर बैठा, उसके राज्य का यश दूर दूर तक फैला और उसने दूर के देशों को अपने

अधीन किया" हमें यह समझना चाहिए कि उसके अनुसार कनिष्क अशोक के ३०० वर्ष उपरान्त अर्थात् लगभग ७८ ई० में हुआ और यह तिथि हमारी दी हुई तिथि तथा शक संवत के समय से मिलती है।

कनिष्क के सम्बंध में हमारा यात्री उसके राज्य काल की उत्तरी बौद्धों की सभा का वृत्तान्त लिखता है। वह कहता है कि वहां जो ५०० अरहत लोग एकत्रित हुए थे उन्होंने तीन टीकाएं बनाईं अर्थात उपदेश शास्त्र, जिसमें सूत्र पितक की टीका की है; विनय विभाषा शास्त्र जिसमें विनय पतिक की टीका की है, और अभिधर्म्म विभाषा शास्त्र जिसमें अभिधर्म्म पितक की व्याख्या है।

कनिष्क के ही सम्बंध में हमारा यात्री कहता है कि चीन के अधीनस्थ राजा लोग इस प्रतापी सम्राट के पास अपने विश्वासी आदमी भेजते थे और वह उनसे बड़े आदर के साथ वर्ताव करता था और उसने उनके रहने के लिये रावी और सतलज के बीच का देश नियत किया था इसी कारण वह चीनपति के नाम से प्रसिद्ध होगया। हुवेनत्सांग इस देश में आया जिसका घेरा ४००मील और जिसकी राजधानी का घेरा ३ मील था। चीन के लोगों ने भारतवर्ष के लोगों में नाशपाती और शफतालू का प्रचार किया और इसी कारणो शफतालू का नाम चीनानि और नाशपाती का नाम चीनराजपुत्र रक्खा गया है। जब लोगों ने हुवेनत्सांग को देखा तो वे लोग उसकी ओर अँगुली दिखा कर परस्पर कहने लगे "यह मनुष्य हम लोगों के पहिले राजाओं के देश का निवासी है"।

ह्वेनत्सांग ने बौद्धों को बड़ा दुःख देने वाले मिहिरकुल का भी वर्णन किया है। कुछ शताब्दी हुई कि मिहिरकुल ने रावी के पश्चिम साकल के नगर में अपना अधिकार जमाया। ह्वेनत्सांग कहता है कि इस भयानक मिहिरकुल ने पांचों खंडों में सब पुजेरियों का नाश करने की आज्ञा दी जिसमें कि बुद्ध के धर्म्म का अंत हो जाय और उसकी कोई बात शेष न रह जाय। इस प्रबल राजा ने मगध के राजा बालादित्य पर आक्रमण किया परंतु वहां वह पकड़ा गया और अपमान के साथ छोड़ दिया गया और वह काश्मीर लौटा और वहां राजद्रोह खड़ा करके उसने राजा को मार डाला और स्वयं राजगद्दी पर बैठगया। उसने गान्धार को विजय किया, वहां के राज्य वंश को जड़ से उखाड़ डाला बौद्ध धर्म्म और स्तूपों तथा संघारामों का नाश किया और सिंध नदी के तटों पर तीन लाख मनुष्यों का बध किया। इसमें बौद्ध लेखक की कुछ अत्युक्ति भी समझ लेनी चाहिए परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि काश्मीर का मिहिरकुल बौद्धों का एक बड़ा बिरोधक और नाश करने वाला था।

ह्वेनत्सांगश शतद्रु (सतलज) के राज्य से बड़ा प्रसन्न हुआ जो कि ४०० मील के घेरे का था और जिसकी राजधानी का घेरा साढ़े तीन मील था। इस देश में अन्न, फल, सोने चांदी और रत्न बहुतायत से थे। यहां के लोग चमकीले रेशम के बहु मूल्य और सुन्दर वस्त्र पहिनते थे। उनके आचरण नम्र और प्रसन्न करने वाले थे वे पुण्यात्मा थे

और बुद्ध के धर्म पर विश्वास करते थे। परन्तु संघाराम शून्य थे और उनमें बहुत ही कम पुजेरी रहते थे।

मथुरा के देश का घेरा १००० मील था और उसके मुख्य नगर का घेरा ४ मील। यहां की भूमि बड़ी उपजाऊ थी और इस देश में रूई और स्वर्ण होता था। लोगों के आचरण नम्र और सुशील थे और वे लोग पुण्य और विद्या का सत्कार करते थे। वहां २० संघाराम और लगभग २००० पुजेरी थे। वर्ष के तीनों महीनों (पहिले, पांचवें, और नवें महीनों) के छः छः व्रत करने वाले दिनों में स्तूपों की पूजा करते थे। "वे लोग अपनी रत्नजटित पताका को खड़ा करते हैं, बहुमूल्य छातों के झुण्ड जाल की नाईं देख पड़ते हैं, धूप का धुआं बादल की भांति उठता है, चारों ओर फूल वृष्टि की नाईं फेके जाते हैं, सूर्य्य और चन्द्रमा उस भांति छिप जाते हैं मनो घाटियों के ऊपर वे बादल से ढक लिए गए हों। देश का राजा और बड़े बड़े मंत्री इन धर्म्म कार्य्यों में उत्साह के साथ लगते हैं।"

थानेश्वर के राज्य का घेरा १४०० मील था और उसकी राजधानी का घेरा ४ मील। यहां की जल वायु अच्छी और भूमि बड़ी उपजाऊ थी परन्तु यहां लोग रूखे कपटी और बिलास में आसक्त थे। इस की राजधानी प्राचीन कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल के निकट थी और हमारे यात्री ने इस युद्ध की कथा अपने ढंग से कही है। पांचों खंडों को दो राजाओं ने अपने में बांट लिया और यह प्रकाशित किया कि जो कोई इस होने वाले युद्ध में मारा जायगा वह मुक्ति पावेगा। इन दोनों देशों में युद्ध आरम्भ हुआ और उसमें

लकड़ियों की नाई मृतकों के ढेर लग गए और उस समय से आज तक यह भूमि सर्वत्र उनकी हड्डियों से ढकी हुई है।

अघ्र (उत्तरी द्वाब) का राज्य जिसके पूरब में गंगा और उत्तर में हिमालय था, १२०० मील के घेरे का था। हमारे पाठकों को यह स्मरण दिलाने की आवश्यकता नहीं है कि हुवेनत्सांग के २००० वर्ष पहिले यही प्राचीन कुरु लोगों की भूमि थी। हमारा यात्री गंगा की लहरों से आश्चर्यित हुआ जो विस्तृत समुद्र की नाईं बह रही थी और "असंख्य पापों को धोने वाली" समझी जाती थी। मतिपुर (पश्चिमी रुहेलखण्ड) का, जिसका घेरा १२०० मील था, वर्णन करने के उपरान्त हुवेनत्सांग ने गंगा के उद्गम स्थान अर्थात मायापुरी अथवा हरिद्वार का वर्णन किया है। यह नगर ४ मील के घेरे में था। "नगर से थोड़ी ही दूर गंगा नदी के तट पर बड़ा देव मंदिर है जहां कि अनेक प्रकार के चमत्कार किए जाते हैं। उसके बीच में एक तालाब है जिसके तट कारीगरी के साथ पत्थर के बने हैं, उसमें से गंगा नदी एक नहर के द्वारा बहाई गई है। पञ्जाब के लोग उसे गंगाद्वार कहते हैं। यहीं पुण्य प्राप्त होता है और पाप का नाश हो जाता है। यहां सदा हजारों मनुष्य दूर दूर से इसके जल में स्नान करने के लिये एकत्रित होते हैं। अतएव सातवीं शताब्दी में ही हरिद्वार हिन्दुओं का एक प्रसिद्ध तीर्थ और धर्म्मात्मा हिन्दुओं के एकत्रित होने का स्थान हो गया था।

हमारा यात्री सीधे हिमालय के नीच के देशों में गया और वह वहां के एक ब्रह्मपुर राज्य का वर्णन करता है (जो कि आज कल का गढ़वाल और कमाऊ जाना गया है) "जहां स्वर्ण होता था और जहां बहुत काल तक स्त्री ही शासक रही हैं और इसलिये यह स्त्रियों का राज्य कहलाता है। राज्य करने वाली स्त्री का पति राजा कहलाता है परन्तु वह राज काज की कोई बात नहीं जानता। मनुष्य केवल युद्ध का प्रबन्ध करते हैं और भूमि जोतते बोते हैं। बस केवल इतना ही कार्य्य उनका है। यह वर्णन निस्सन्देह हिमालय के नीचे के देशों की पहाड़ी जातियों का है। इन लोगों में आज तक भी स्त्रियों की अनेक पति के साथ विवाह कर लेने की रीति प्रचलित है।

अन्य कई देशों में होते हुए ह्वेनत्सांग कान्यकुब्ज के राज्य में आया जिसे कि ह्वेनत्सांग के समय में दो हजार वर्ष की प्राचीन सभ्यता का सत्कार प्राप्त था। क्योंकि जिस समय मगध असभ्य आदिमवासियों का राज्य था उस समय पांचाल लोगों ने अपनी आदि सभ्यता की उन्नति की थी। और यद्यपि मगध ने अजातशत्रु और चन्द्रगुप्त तथा प्रतापी अशोक के समयों में इस देश के यश को दबा लिया था तथापि जान पड़ता है कि सन् ई० के कुछ शताब्दियों के उपरान्त कान्यकुब्ज ने पुनः अपना महत्व प्राप्त किया था और वह गुप्त सम्राटों का प्रधान देश होगया था। और ह्वेनत्सांग के समय में उत्तरी भारतवर्ष के अधिपति शीलादित्य द्वितीय की सभा इसी कान्यकुब्ज के प्राचीन नगर में हुई थी।

हुएनत्सांग ने कान्यकुब्ज राज्य का घेरा ८०० मील पाया और उसकी सम्पन्न राजधानी ४ मील लम्बी और १ मील चौड़ी थी। नगर के चारों ओर एक खाई थी, आमने सामने दृढ़ और ऊंचे बुर्ज थे। चारों ओर कुंज और फूल झील और तालाब दर्पण की नाई चमकते हुए देख पड़ते थे। यहां वाणिज्य की बहुमूल्य वस्तुओं के ढेर एकत्रित किए जाते थे। लोग सुखी और संतुष्ट थे पर धनसंपन्न और सुदृढ़ थे। फूल और फल सर्वत्र बहुतायत से होते थे और भूमि जोती बोई जाती थी, और उसकी फस्ल समय पर काटी जाती थी। यहां की जल वायु अच्छी और हलकी थी और लोग सच्चे और निष्कपट थे। वे देखने में सज्जन और कुलीन जान पड़ते थे। पहिनने के लिये वे कामदार और चमकीले वस्त्र काम में लाते थे, वे विद्याध्ययन में अधिक लगे रहते थे और यात्राओं में धर्म्म सम्बन्धी विषयों पर बहुत अधिक वादविवाद करते थे। उनकी शुद्ध भाषा की प्रसिद्धि बहुत दूर दूर तक फैल गई थी। यहां बौद्धों और हिन्दुओं की संख्या समान थी। यहां कोई १०० संघाराम और १०००० पुजेरी थे। देव मन्दिर २०० थे और उनके पूजने वाले कई हजार लोग थे।

एक बार के लिये हुएनत्सांग अपने साधारण नियम को छोड़ कर उस देश के इतिहास का भी कुछ वृत्तान्त लिखता है। वह कहता है कि कान्यकुब्ज का राजा पहिले प्रभाकर वर्द्धन था, और उसकी मृत्यु पर उसका सब से बड़ा पुत्र राज्य वर्द्धन राजा हुआ परन्तु कर्ण सुवर्ण (बंगाल) के राजा शशांक (नरेन्द्रगुप्त) ने उसे हराया और मार डाला

और उसके मंत्रियों ने उसके छोटे भाई हर्षवर्द्धन को शीलादित्य के नाम से गद्दी पर बैठाया। हुनत्सांग इस शीलादित्य से मिला और उसने उसका कृपा के साथ सत्कार किया। यह शीलादित्य द्वितीय था क्योंकि हम पहिले दिखला चुके हैं और फिर आगे चल कर मालव के वृत्तान्त में दिखलावेंगे कि शीलादित्य प्रथम हुनत्सांग के ६० वर्ष पूर्व हुआ। शीलादित्य द्वितीय ने ६१० से ६५० तक राज्य किया।

शीलादित्य द्वितीय अपने बल को प्रकाशित करने में ढीला नहीं था। उसने ५००० हाथियों २००० हजार घोड़ सवारों और ५०००० पैदल सिपाहियों की सेना एकत्रित की और छ वर्षों में उसने पञ्जाब को अपने अधीन कर लिया।

वह बौद्ध धर्म्म को मानने वाला था और उसने जीवों के बध का निषेध किया, स्तूप बनवाए, भारतवर्ष की समस्त सड़कों पर चिकत्सालय बनवाए, वैद्यों को नियत किया और भोजन जल तथा औषधियों का प्रबन्ध किया। पाचवें वर्ष वह बौद्धों के धार्म्मिक त्योहार में बड़ा भारी समूह एकतित्र करता था और बहुत दान देता था।

जिस समय हुनत्सांग कामरूप के राजा के साथ नालंद के संघाराम में ठहरा हुआ था तो शीलादित्य ने राजा को यह कहला भेजा "मैं चाहता हूं कि तुम उस विदेशी श्रामण के साथ जो कि नालंद के संघाराम में तुम्हारा अतिथि है इस समूह में तुरन्त आओ"। इस प्रकार हमारा यात्री कामरूप के राजा के साथ गया और शीलादित्य से उसका परिचय हुआ। शीलादित्य ने हमारे यात्री से उसके देश के विषय में अनेक प्रश्न पूछे और उसके वृत्तान्त से

वह बहुत प्रसन्न हुआ । शीलादित्य कान्यकुब्ज लौटने वाला था इस कारण उसने धार्म्मिक समूह को एकत्रित किया और लाखों मनुष्यों के साथ गंगा के दक्षिणी किनारे से यात्रा की और साथ ही साथ कामरूप के राजा ने उत्तरी किनारे से । ९० दिन में वे लोग कान्यकुब्ज पहुंचे ।

तब बीस देशों के राजा लोग जिन्हें शीलादित्य ने आज्ञा दी थी, अपने देश के प्रसिद्ध श्रामणों और ब्राह्मणों तथा प्रसिद्ध प्रसिद्ध प्रबन्धकर्ताओं और सैनिकों के सहित एकत्रित हुए । यह वास्तव में राजकीय धार्म्मिक समूह था और शीलादित्य ने गंगा के पश्चिम ओर एक संघाराम और उसके पूरब ओर १०० फीट ऊंचा एक बुर्ज बनाया और उनके बीच उसने बुद्ध की मनुष्य के कद की स्वर्ण की मूर्ति स्थापित की । और उस मास की अर्थात् वसन्त ऋतु के ३ मास की पहिली तिथि से २१ वीं तिथि तक वह श्रामणों और ब्राह्मणों को समान रीति से भोजन कराता रहा । संघाराम से लेकर राजा के वहां बने हुए महल तक सब स्थान तम्बुओं और गानेवालों के खेमों से सज्जित था । बुद्ध की एक छोटी मूर्ति एक बहुत ही सजे हुए हाथी के ऊपर रक्खी जाती थी और शीलादित्य इन्द्र की भांति सजा हुआ उस मूर्ति की बाईं ओर और कामरूप का राजा उसकी दहिने ओर पांच पांच सौ युद्ध के हाथियों की रक्षा में चलता था । शीलादित्य चारों ओर मोती और अन्य बहु-मूल्य वस्तुएं तथा सोने और चांदी के फूल फेंकता जाता था । मूर्ति को स्नान कराया जाता था और शीलादित्य उसे स्वयं अपने कन्धे पर रख कर पश्चिम के बुर्ज पर ले जाता

था, और उसे रेशमी वस्त्र तथा रत्नजटित भूषण पहिनाता था। इसके उपरान्त भोजन होता था और तब विद्वान लोग एकत्रित हो कर शास्त्रार्थ करते थे, और संध्या के समय राजा अपने भवन में चला जाता था।

इस प्रकार नित्य मूर्ति निकाली जाती थी और अन्त में जुदाई के दिन बुर्ज में एक बड़ी आग लगी। यदि हुेन-त्सांग का विश्वास किया जा सकता है तो ब्राह्मणों ने राजा को बौद्ध धर्म्म में रत देख कर केवल बुर्ज में आग ही नहीं लगा दी थी वरन् उसे मार डालने का भी यत्न किया था। परन्तु हुेनत्सांग एक कट्टर बौद्ध था, और इस कारण ब्राह्मणों के विरुद्ध उसके इस अपवाद को बहुत सावधानी के साथ मानना चाहिए।

ऊपर के वृत्तान्त से विदित होता है कि भारतवर्ष के सम्राट के अधीन उन अनेक राज्यों के राजा और सर्दार लोग थे जिनमें कि भारतवर्ष सदा विभाजित रहता था। इससे यह विदित होता है कि बौद्ध धर्म्म बिगड़ कर अब मूर्ति पूजा में आ लगा था और हमें इस बात का भी ज्ञान होता है कि बौद्ध लोग अपने धर्म्म सम्बन्धी त्योहारों को उस रीति पर धूम धाम से करते थे, जिस रीति को कि उन्होंने उत्तर काल के हिन्दुओं से सीखा है। इस से हमें यह भी विदित होता है कि राजा लोग चाहे वे बौद्ध धर्म्म के और चाहे हिन्दू धर्म्म के मानने वाले हों परन्तु वे दोनों धर्म्मों के विद्वानों और धार्म्मिक लोगों का सत्कार करते थे और इन धर्म्म के लोगों में वादविवाद प्रायः मित्रभाव से होता था। और अन्त में हमें यह भी

प्रगट होता है कि बौद्ध काल के अन्त में ब्राह्मण लोग किस ईर्षा असंतोष के साथ उस बौद्ध धर्म्म के जय और हर्ष को देखते थे जिसको उन्होंने इसके उपरान्त एक वा दो शताब्दियों में अन्तिम वार यत्न करके परास्त किया ।

हमारे यात्री ने अयोध्या के राज्य का घेरा १००० मील पाया और उसे अन्न फूल और फलों से भरा पूरा देखा । वहां की जल वायु अच्छी थी, न बहुत ठंढी थी न बहुत गरम । लोगों के आचरण पुण्यात्मक और मिलनसार थे । दूसरे स्थानों की नाईं यहां के लोग भी कुछ हिन्दू और कुछ बौद्ध थे, और इस देश में १०० संघाराम और तीन हजार अरहत थे ।

हयमुख राज्य में होकर हुवेनत्सांग प्रयाग वो इलाहाबाद में आया । इस राज्य का घेरा तीन हजार मील था, और यहां की पैदावार बहुत थी और फल बहुतायत से होते थे । और यहां के लोग सुशील और भले मानुस और विद्या के अनुरागी थे परन्तु यहां बौद्ध धर्म्म का सत्कार नहीं किया जाता था और अधिकांश लोग कट्टर हिन्दू थे । हुवेनत्सांग इलाहाबाद के उस बड़े वृक्ष का वर्णन करता है जो कि आज तक भी यात्रियों को अक्षयवट के नाम से दिखाया जाता है ।

"दोनों नदियों के संगम पर प्रति दिन सैंकड़ों मनुष्य स्नान करके मरते हैं । इस देश के लोग समझते हैं कि जो मनुष्य स्वर्ग में जन्म लेना चाहे उसे एक दाने चावल पर उपवास रखना चाहिए और तब अपने को जल में डुबा देना

चाहिए"। नदी के बीच में एक ऊंचा स्तम्भ था और लोग इस पर चढ़ कर डूबते हुए सूर्य्य को देखने जाते थे।

कौशाम्बी जहां कि गौतम ने बहुधा उपदेश किया था अब तक एक भरा पूरा नगर था। इस राज्य का घेरा १२०० मील था, यहां चावल और ऊख बहुतायत से होता था, और यहां के लोग यद्यपि उजड्ड और कठोर कहे जाते थे, तथापि वे सच्चे और धार्म्मिक थे।

श्रावस्ति जो कि कोशल की प्राचीन राजधानी थी और जहां गौतम ने उपदेश दिया था, अब उजाड़ और खंडहर हो गई थी। यह देश १२०० मील के घेरे में था और यहां के लोग सच्चे और पवित्र तथा धर्म्म तथा विद्या के अनुरागी थे।

कपिलवास्तु भी जो कि गौतम का जन्म स्थान है, खँडहर हो गई थी। यह देश ८०० मील के घेरे में था और इस में कोई दस उजाड़ नगर थे। राजभवन जो अब खंडहर हो गया था, ईंटों का बना हुआ तीन मील के घेरे में था। इस देश का कोई राजा नहीं था। प्रत्येक नगर ने अपने अपने सर्दार नियत कर लिए थे। यहां के लोग सुशील और दयालु थे।

कुशि नगर भी जो कि गौतम का मृत्यु स्थान है इसी भाँति खंडहर था और उसकी पुरानी दीवारों की ईंटे की नेंव दो मील के घेरे में थी।

इलाहाबाद और हरिद्वार की नाईं बनारस भी हुन-त्सांग के समय तक हिन्दू धर्म्म का एक स्तम्भ था। इस देश का घेरा ८०० मील था और इस की राजधानी लगभग

४ मील लम्बी और एक मील चौड़ी थी । यहां के गृहस्थ लोग धनाढ्य थे और उनके यहां बड़ी बड़ी अमूल्य वस्तुएं थीं । यहां के लोग कोमल और दयालु थे और वे विद्याध्ययन में लगे रहते थे । इन में से अधिकांश हिन्दू थे और बहुत थोड़े लोग बौद्ध धर्म्म का सत्कार करने वाले थे । यहां तीस संघाराम और लगभग ३००० पुजेरी थे परन्तु देवमन्दिर लगभग १०० के थे और उन में पूजने वाले १०००० मनुष्य थे । बनारस में विशेषत: महेश्वर की पूजा की जाती थी । कुछ लोग अपने बाल कटवा कर नंगे रहते थे और अपने शरीर में भभूत लगाकर पुनर्जन्म से बचने के लिये सब प्रकार की तपस्याओं की साधना करते थे ।

बनारस के नगर में बीस देवमन्दिर थे जिनके बुर्ज और दलान नक्काशीदार पत्थर और लकड़ियों के बने थे । मन्दिर वृक्षों की छाया में थे और उनके चारों ओर स्वच्छ जल के नाले थे । महेश्वर की एक तांबे की मूर्ति १०० फ़ीट ऊंची थी । "उस का रूप गम्भीर और तेजपूर्ण है और वह सचमुच जीवित सी जान पड़ती है" ।

नगर के उत्तर पूरब ओर एक स्तूप था और उस के सामने एक लोहे का खम्भा था जो कि दर्पण की भाँति उज्ज्वल और चमकदार था और उसकी धरातल बरफ की भाँति चिकनी और चमकीली थी । वरुणा नदी से दो मील पर मृगदाय का बड़ा संघाराम था । बुद्ध ने मृगदाय में पहिले पहल अपना धर्म्म प्रकाशित किया था । इस संघाराम के आठ भाग थे और खण्डदार बुर्ज तथा उसके आगे निकले हुए बालाखानों और गुफाओं में बहुत ही उत्तम काम था ।

इस बड़े घेरे में २०० फ़ीट ऊंचा एक विहार था और छत के ऊपर एक सोनहला आम का फल बना हुआ था। विहार की नेंव पत्थर की थी परन्तु बुर्ज और सीढ़ियां ईंटों की थीं। विहार के बीचोबीच बुद्ध की एक आदमकद मूर्ति थी जिसमें कि बुद्ध धर्म के पहिए को फेरता हुआ दिखलाया गया था। यह मूर्ति इस स्थान के लिये बहुत ही उपयुक्त है जहां कि इस महान उपदेशक ने अपने धर्म्म के पहिए को पहिले पहल चलाया था।

अन्य स्थानों में होते हुए हुनत्सांग वैशाली में आया। यह राज्य १३०० मील के घेरे में था, पर इसकी राजधानी खंडहर हो गई गई थी। इस देश की भूमि उपजाऊ थी और यहां आम और केले बहुतायत से होते थे। यहां की जल वायु अच्छी और मातदिल थी और यहां के लोग स्वच्छ और सच्चे थे। हिन्दू और बौद्ध लोग साथ ही साथ रहते थे। संघाराम अधिकांश खंडहर थे और उन में से तीन वा चार जो अब तक थे उनमें बहुत ही थोड़े सन्यासी रहते थे। देव मन्दिर बहुत थे।

हुनत्सांग वज्जैनों के राज्य का जुदा उल्लेख करता है जो कि ८०० मील के घेरे में था। परन्तु वास्तव में लिच्छवि लोग और वज्जैन लोग एक ही थे, अथवा यों कहना चाहिए कि लिच्छवि लोग वज्जैनों की आठ जातियों में से एक थे। कदाचित् यह कहना आवश्यक नहीं है कि हुन-त्सांग वैशाली की सभा का भी वर्णन करता है और उस के अनुसार यह सभा गौतम की मृत्यु के ११० वर्ष के उपरान्त

उपरान्त हुई और उसने "जो नियम टूट गए थे उन्हें फिर से शुद्ध किया और पवित्र नियम को स्थापित किया।"

हमारा यात्री तब नेपाल में गया परन्तु वहां के लोगों के विषय में उसकी अच्छी सम्मति नहीं है। वह कहता है कि वे लोग झूठे और विश्वासघातक थे, उनका स्वभाव कठोर और क्रोधी था और वे सत्य अथवा सन्नाम पर कोई ध्यान नहीं देते थे। उनका स्वरूप कुढंगा और भयानक था। नेपाल से हुएनत्सांग वैशाली को पुनः लौटा और वहां से गंगा नदी को पार करके मगध में पहुंचा जो कि उसके लिये पवित्र मंडली से भरा हुआ था। उसने जो १२ पुस्तकें लिखी हैं उनमें से पूरी दो पुस्तकें उन कथाओं दृश्यों तथा पवित्र चिन्हों के विषय में है जिन्हें कि उसने मगध में पाया था।

मगध का राज्य एक हजार मील के घेरे में था। दीवार से घिरे हुए नगरों की बस्ती बहुत कम थी परन्तु कसबों की बस्ती घनी थी। भूमि उपजाऊ थी और उसमें अन्न बहुतायत से होता था। यह देश नीचा और नम था और इस कारण बस्ती ऊंची भूमि पर थी। बरसात में सारा देश पानी से भर जाता था और तब लोग नांव के द्वारा बाहर आते जाते थे। लोग सीधे और सच्चे थे, वे विद्या का सत्कार करते थे, और बुद्ध के धर्म्म को मानते थे। उसमें ५० संघाराम थे जिनमें १०००० अरहत थे और १० देव मन्दिर थे जिनके बहुत से अनुयायी थे।

पाटलीपुत्र का प्राचीन नगर जो कि फाहियान के समय तक बसा हुआ था अब बिलकुल उजड़ गया था और

अब केवल उनकी नीव की दीवारें देख पड़ती थीं। यहां पर हमारे यात्री ने अशोक और उसके अर्धभ्राता महेन्द्र, बौद्ध ग्रन्थकार नागार्जुन और अश्वघोष के विषय में तथा उन स्तूपों, बिहारों और स्थानों के विषय में जिनका सम्बन्ध कि बुद्ध के जीवनचरित्र से है, बहुत कुछ वर्णन किया है, परन्तु हम उनका उल्लेख नहीं करेंगे। वह गया में गया जहां कि केवल ब्राह्मणों के ही एक हजार घर थे। वहां से वह प्रसिद्ध बोधी वृक्ष और उसके पास के बिहार में गया जो कि १६० वा १७० फीट ऊंचा था और बहुत ही सुन्दर वेल बूटों के काम से भरा हुआ था, "किसी स्थान पर गुथे हुए मोतियों की मूर्तियां बनी थीं, किसी स्थान पर स्वर्गीय ऋषियों की मूर्ति" और इन सब के चारों ओर तांबे का सुनहला आमलक फल था। इसके निकट ही महाबोधि संघाराम की बड़ी इमारत थी जिसे लंका के एक राजा ने बनवाया था। उसकी छः दीवारें थी और तीन खंड ऊंचे बुर्ज थे और यह रक्षा के लिये तीस वा चालीस फीट ऊंची दीवारों से घिरा हुआ था।

"इसमें शिल्पकार ने अपनी पूरी चतुराई खर्च की है, बेल बूटे बड़े ही सुन्दर रंगों के हैं, बुद्ध की मूर्ति सोने और चांदी की बनी हुई है और उसमें रत्न जड़े हुए हैं। स्तूप ऊंचे और बड़े हैं और उनमें सुन्दर काम है।

बोधि वृक्ष के निकट के सब स्थानों को हुएनत्सांग के समय में और जब तक भारतवर्ष में बौद्ध धर्म का प्रचार रहा तब तक बौद्ध लोग पवित्र समझते थे। प्रतिवर्ष जब कि भिक्षु लोग अपने वर्षा ऋतु के वार्षिक विश्राम को भंग

करते हैं उस समय यहां सब स्थानों से हजारों और लाखों धार्म्मिक मनुष्य आते हैं और सात दिन और सात रात वे लोग इस जिले में भ्रमण करते हुए तथा दर्शन और पूजा करते हुए फूलों की वर्षा करते हैं, धूप जलाते हैं और गाते बजाते हैं। बौद्धों के उत्सव भारतवर्ष में एक बीती हुई बात है और इतिहास जानने वालों के लिये उस समय के लोगों के वृत्तान्त से यह बात देखनी आवश्यक है कि अपने समय में वे उतनी ही धूम धाम और उतनी ही प्रसन्नता और बाहरी अडंबर के साथ किए जाते थे जैसे कि उत्तर काल में हिन्दुओं के त्योहार।

ह्वेनत्सांग राजगृह में आया जो कि अजातशत्रु और बिंबसार के समय में मगध की प्राचीन राजधानी था। नगर की बाहरी दीवारें नष्ट हो गई थीं और भीतर की दीवारें अब तक गिरी पड़ी दशा में वर्तमान थीं और वे ४ मील के घेरे में थीं। हमारे यात्री ने उस बड़ी गुफा वा पत्थर के मकान को देखा जिसमें कि गौतम की मृत्यु के उपरान्त तत्काल पहिला संघ हुआ था। इस संघ का सभापति काश्यप था और उसने कहा था "आनन्द जो कि तथागत के शब्दों को बराबर सुनता था सूत्रपितकों को गाकर एकत्रित करे। उपाली जो कि शिक्षा के नियमों को स्पष्ट रीति से समझता है और जिसे सब जानने वाले लोग भली भांति जानते हैं, विनयपितक को संग्रहीत करें और मैं काश्यप धर्म्मपितक को एकत्रित करूंगा।" वर्षा ऋतु के तीन मास व्यतीत होने पर त्रिपितक का संग्रह समाप्त हो गया।

हमारा यात्री अब नलंद के महाविश्वविद्यालय में यदि हम उसे इस नाम से पुकार सकते हैं आया। इस स्थान के सन्यासी लोग जिनकी संख्या कई हजार थी बड़े ही योग्य, बुद्धिमान और प्रसिद्ध मनुष्य थे। "भारतवर्ष के सब देश उनका सत्कार करते हैं और उनके अनुसार चलते हैं। गूढ़ विषयों पर प्रश्न पूछने और उनका उत्तर देने के लिये दिन काफी नहीं है। प्रातः काल से रात्रि तक वे शास्त्रार्थ में लगे रहते हैं। वृद्ध और युवा परस्पर एक दूसरे को सहायता देते हैं। जो लोग त्रिपितक के प्रश्नो पर शास्त्रार्थ नहीं कर सकते उनका सत्कार नहीं किया जाता और वे लज्जा के मारे अपना मुंह छिपाने के लिये विवश होते हैं। इस कारण भिन्न भिन्न देशों से उन विद्वानों के झुण्ड अपनी शंकाओं को दूर करने के लिये यहां आते हैं जोकि शीघ्रता से शास्त्रार्थ में प्रसिद्धि पाना चाहते हैं उन के ज्ञान की धारा दूर दूर तक फैलती है। इस कारण कुछ मनुष्य नालंदे के विद्यार्थियों का झूठ मूठ नाम ग्रहण कर के इधर उधर जाकर सत्कार पाते हैं।

डाक्टर फर्ग्यूसन साहब का यह कथन ठीक है कि मध्यम काल में फ्रांस के लिये जैसे क्लूनी और क्लैरवो थे वैसे ही सच्ची विद्या का केन्द्र मध्य भारतवर्ष में नालंद था और वहां से अन्य देशों में विद्या का प्रचार होता था। और दोनों धर्मों की सब बातों में जैसी अद्भुत समानता है वैसे ही दोनों धर्मों की सब रीतियों के आविष्कार और व्यवहार में बौद्ध लोग ईसाइयों से पांच शताब्दी पहिले रहे।

नालंद का बड़ा बिहार जहां कि विश्वविद्यालय था उसके योग्य था। कहा जाता है कि चार राजाओं में अर्थात् शक्रादित्य, बुद्ध गुप्त, तथागत गुप्त और बालादित्य ने बराबर इस बड़ी इमारत को बनवाने में परिश्रम किया और उसके बन जाने पर वहां जो बड़ी सभा हुई उसमें २००० मील दूर दूर से लोग एकत्रित हुए। इसके उपरान्त के राजाओं ने इसके आस पास के बहुत से दूसरे दूसरे बिहार बनवाए थे। उनमें से एक बड़ा बिहार जिसे कि बालादित्य ने बनवाया था सब से सुंदर था। वह ३०० फीट ऊंचा था और "सुंदरता, बड़ाई और बुद्ध की स्थापित मूर्त्ति में वह बोधि वृक्ष के नीचे के बड़े बिहार से समानता रखता है।"

मगध से हुएनत्सांग हिरण्यपर्वत के राज्य में आया और इस राज्य को जेनरल कनिंघाम ने मुंगेर निश्चित किया है। इस राज्य का घेरा ६०० मील का था, यहां कि भूमि बहुत जोती जाती थी और बड़ी उपजाऊ थी, जल वायु अच्छी थी, और लोग सीधे और सच्चे थे। राजधानी के निकट मुंगेर के गरम सोते थे जिनमें से बहुत सा धुआं और भाफ निकलती थी।

चम्पा जो कि अंग वा पूर्वी बिहार की प्राचीन राजधानी थी हमारे आज कल के भागलपुर के निकट थी। इस राज्य का घेरा ८०० मील था और भूमि सम और उपजाऊ थी और वह नियमित रूप से जोती बोई जाती थी। जल वायु कोमल और गर्म थी और लोग सीधे और सच्चे थे। राजधानी की दीवारें कोई दस फीट ऊँची थीं और दीवार

की नींव एक बहुत ऊंचे चबूतरे पर से उठी थी जिसमें कि अपनी ऊंचाई से वे लोग शत्रुओं के आक्रमण से अपनी रक्षा कर सकें।

अन्य स्थानों से होता हुआ हमारा यात्री पुन्द्रवा पुन्द्रवर्धन में आया जो कि आज कल का उत्तरी बंगाल है। यह राज्य ८०० मील के घेरे में था और उसमें घनी बस्ती थी। तालाब और राजकीयमकानफूलों के बन बीच बीच में थे भूमि चौरस और चिकनी थी और उसमें सब प्रकार के अन्न बहुतायत से उत्पन्न होते थे। फल यद्यपि बहुतायत से होता था तथापि इसकी बड़ी कदर की जाती थी। यहां बौद्ध संघाराम और ३०० पुजेरी थे। भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के लगभग १०० देव मन्दिर थे। यहां नंगे निर्ग्रन्थ लोग सब से अधिक थे।

पूरब की ओर और एक बड़ी नदी ब्रह्मपुत्र के उस पार कामरूप का प्रबल राज्य था जिसका घेरा २००० मील था। यह बात स्पष्ट है कि उस समय में इस राज्य में आधुनिक आसाम, मनीपुर, कछार, मैमन सिंह और सिलहट सम्मिलित थे। भूमि उपजाऊ थी और जोती बोई जाती थी और उसमें नारियल और दूसरे फल बहुतायत से होते थे। नदियों वा बांध का जल कस्बों के चारों ओर बहता था। जल वायु कोमल और सम थी और यहां के लोग सीधे और सच्चे थे। यहां लोग कुछ नाटे होते थे और उनका रंग पीला होता था और उनकी भाषा मध्यभारत वासियों से भिन्न थी। परन्तु वे लोग क्रोधी होते थे, उनकी स्मरण शक्ति बहुत अच्छी थी और वे अध्ययन में बड़े दत्तचित्त थे।

लोग बुद्ध के धर्म्म को नहीं मानते थे और वे देवों की पूजा करते थे और वहां लगभग १०० देव मन्दिर थे । वहां एक भी बौद्ध संघाराम नहीं था । राजा जाति का ब्राह्मण था उसका नाम भास्कर वर्म्मन था, और उसे कुमार की पदवी थी । हमारे पाठकों को यह स्मरण होगा कि इसी राजा ने कन्नौज के प्रतापी शीलादित्य से हुएनत्सांग का परिचय कराया था ।

कामरूप के दक्षिण में समतत वा पूर्वी बंगाल था । इस राज्य का घेरा ६०० मील था, यहां की भूमि नीची और उपजाऊ थी और वह नियमित रीति से जोती बोई जाती थी । इसकी राजधानी ४ मील के घेरे में थी । यहां के लोग नाटे और काले रंग के थे परन्तु वे बलिष्ट और विद्या के अनुरागी थे तथा विद्योपार्जन में परिश्रम करते थे— और ये बातें पूर्वी बंगाल के लोगों में आज तक पाई जाती हैं । वहां कोई ३० संघाराम और लगभग दो हजार सन्यासी थे और देव मन्दिर लगभग १८० के थे । नंगे निर्ग्रन्थ लोग असंख्य थे ।

समतत के उपरान्त ताम्रलिप्ति का राज्य अर्थात् तुमलूक देश अथवा दक्षिण पश्चिमी बंगाल था जिसमें आधुनिक मिदनापुर भी सम्मिलित है । यह देश ३०० मील के घेरे में था और इसकी राजधानी एक बंदरगाह थी । यहां के लोग बलवान और शूर थे परन्तु वे फुर्तीले और जल्दीबाज थे देश का किनारा ऐसा था कि समुद्र देश के भीतर कुछ घुस आया था और यहां पर अद्भुत अमूल्य वस्तुएं और रत्न एकत्रित होते थे और यहां के लोग धनाढ्य थे । यहां दस संघाराम और पचास देव मंदिर थे ।

हुनत्सांग इसके उपरान्त कर्ण सुवर्ण का वर्णन करता हैं जो कि पश्चिमी बंगाल और आधुनिक मुर्शिदाबाद समझा गया है। हम देख चुके हैं कि इसी देश के राजा शशांक ने कन्नौज के प्रतापी शीलादित्य के बड़े भाई को हराया और मार डाला था। इस देश का घेरा ३०० मील था और इसकी बस्ती घनी थी। लोग विद्या के प्रेमी तथा सच्चे और मिलनसार थे। यहां की भूमि नियमित रूप पर जोती बोई जाती और जल वायु अच्छी थी। यहां दस संघाराम और पचास देव मंदिर थे।

ऊपर के वृत्तान्त से पाठक लोग देखेंगे कि उस समय में खास बंगाल (अर्थात् विहार और उड़ीसा को छोड़ कर) पांच बड़े बड़े राज्यों में बटा हुआ था। उत्तरी बंगाल में पुन्द्र राज्य था, आसाम और उत्तर पश्चिमी बंगाल में कामरूप राज्य था, पूर्वी बंगाल समतत था, दक्षिण पश्चिमी बंगाल ताम्रलिप्ति था और पश्चिमी बंगाल कर्णसुवर्ण था। हुन-त्सांग का उत्तरी भारतवर्ष का वृत्तान्त बंगाल के साथ समाप्त होता है। अब हम अपने योग्य पथदर्शक के साथ दक्षिणी भारतवर्ष का वृत्तान्त जानेंगे।

उद्र वा उड़ीसा का राज्य १४०० मील के घेरे में था और उसकी राजधानी आधुनिक जयपुर के निकट पांच मील के घेरे में थी। यहां कि भूमि उपजाऊ थी और उसमें सब प्रकार के अन्न और बहुत से अद्भुत वृक्ष और फूल उत्पन्न होते थे परन्तु यहां के लोग असभ्य थे और उनका रंग पीलापन लिए हुए काला था और उन लोगों की भाषा

मध्य भारतवर्ष से भिन्न थी। परन्तु वे लोग विद्या के प्रेमी थे और उनका देश उस बौद्ध धर्म्म की रक्षा का स्थान था जिसका कि भारतवर्ष के अन्य स्थानों में पतन हो गया था। उसमें लगभग १०० संघाराम थे जिन में कोई दस हजार सन्यासी थे और देव मन्दिर केवल ५० थे।

उड़ीसा तीर्थस्थान पहिले ही हो गया था यद्यपि उस समय तक वहां पुरी का मन्दिर नहीं बना था। इस देश की दक्षिण पश्चिमी सीमा पर एक बड़े पर्वत पर पुष्पगिरि नामक एक संघाराम था और कहा जाता है कि इस संघाराम के पत्थर के स्तूप में एक अद्भुत प्रकाश मिलता था। बौद्ध लोग दूर दूर से इस स्थान पर आते थे और सुन्दर कार्चोबी के छाते भेंट करते थे और उन्हें गुम्बज के सिरे पर एक गुलदान के नीचे रखते थे और वे पत्थर में सूइयों की नाईं खड़े रहते थे। झंडा गाड़ने की रीति जगन्नाथ में आज तक प्रचलित है।

दक्षिण पश्चिम की ओर चरित्र नाम का एक बड़ा बन्दरगाह था। यहां से व्यापारी लोग दूर दूर देशों के लिये यात्रा करते हैं और विदेशी लोग आया जाया करते हैं और अपनी यात्रा में टिकते हैं। नगर की दीवार दृढ़ और ऊंची है। यहां सब प्रकार की अपूर्व और बहुमूल्य वस्तुएं मिलती हैं।

उड़ीसा के दक्षिण पश्चिम और चिल्क झील के तट पर कान्योध का राज्य था। यहां के लोग वीर और उद्योगी परन्तु वे काले और मैले थे। वे कुछ सुशील और बड़े सच्चे थे और लिखने में मध्य भारतवर्ष के अक्षर काम

में लाते थे परन्तु उन लोगों का उच्चारण बिलकुल भिन्न था। यहां पर बौद्ध धर्म्म का अधिक प्रचार नहीं था, हिन्दू धर्म्म प्रचलित था।

यह जाति बड़ी प्रबल थी, उसके नगर दृढ़ और ऊंचे थे और उसके सैनिक बीर और साहसी थे और वे लोग अपने बल से आस पास के प्रान्तों का शासन करते थे और कोई उन्हें नहीं रोक सकता था। उनका देश समुद्र के तट पर था इस कारण लोगों को बहुत सी अपूर्व और बहुमूल्य वस्तुएं मिल जाती थीं और लेन देन में कौड़ी और मोतियों को काम में लाते थे। बोझों को खींचने के लिये हाथी काम में लाए जाते थे।

इसके उत्तर पश्चिम की ओर एक बड़े जंगल के पार कलिंग का प्राचीन राज्य था। इस राज्य का घेरा १०० मील था और इसकी राजधानी पांच मील के घेरे में थी। यहां की भूमि उपजाऊ थी और वह नियमित रूप पर जोती बोई जाती थी परन्तु यहां पर बहुत से जंगल थे जिनमें जंगली हाथी भी थे। यहां के लोग यद्यपि जोशीले उजड्ड और असभ्य थे तथापि वे विश्वासपात्र और अपनी बात के बड़े पक्के थे।

हूनत्सांग के समय में कलिंग की ऐसी अवस्था थी परन्तु हमारे पाठकों को स्मरण होगा कि मेगास्थनीज़ के समय में कलिंग का राज्य और अधिकार बंगाल से लेकर गोदावरी के मुहाने तक समस्त समुद्र तट तक फैला हुआ था। उसकी प्रबलता का स्मरण अब तक बना था क्योंकि हूनत्सांग कहता है कि "प्राचीन समय में कलिंग के राज्य

की बस्ती बहुत घनी थी । लोगों के कंधे एक दूसरे से रगड़ खाते थे और रथ के पहियों की धुरी एक दूसरे से टकराती थी परन्तु कलिंग के प्रभुत्व का समय अब नहीं रहा था और उस प्राचीन राज्य के अंशों में से बंगाल और उड़ीसा के नए राज्यों की उत्पत्ति हो गई थी । ऐसा भारतवर्ष के इतिहास में सदैव पाया जाता है । राज्य और जातियां अधिकार और सभ्यता में बढ़ती हैं और फिर पारी पारी से उनका पतन होता है । फिर भी इन जातियों के बड़े समूह में एक प्रकार राजकीय एकता थी, धर्म्म भाषा और सभ्यता में एक ऐसा मिलाप था जिसने कि प्राचीन समय में भारतवर्ष को एक बड़ा देश बना रखा था ।

कलिंग के उत्तर पश्चिम जंगलों और पहाड़ियों में हो कर कोशल का मार्ग था जोकि आधुनिक बरार का देश है । इस देश का घेरा एक हज़ार मील और उसकी राजधानी का आठ मील था, कस्बे और गांव बहुत पास पास थे और बस्ती घनी थी । यहां के लोग लम्बे काले कट्टर जोशीले और वीर थे और उनमें कुछ बौद्ध और कुछ हिन्दू थे । इन दक्षिणी कोशलों के सम्बन्ध में (जिन्हें कि अवध के कोशलों से भिन्न समझना चाहिए) हुएनत्सांग प्रसिद्ध बौद्ध ग्रंथकार नागार्जुन और राजा सद्वह का वर्णन करता है जिसने एक चट्टान को कटवा कर उसमें निवास के लिये एक संघाराम बनवाया था । न तो फाहियान और न हुएनत्सांग ने स्वयं इस चट्टान के मठ को देखा था परन्तु दोनों ने इसका वर्णन किया है और उनके समय में यह बड़ा प्रसिद्ध रहा होगा । कहा गया है कि राजा सद्वह ने

"इस चट्टान के बीच में गड्ढ़ा करवाया और उस में एक संघाराम बनवाया। लगभग दस लौ(दो मील) की दूरी पर उन्होंने सुरंग खुदवाकर एक ढँका हुआ मार्ग खोला। इस प्रकार चट्टान के नीचे खड़े रहने से बिलकुल कटी हुई चट्टानों और लम्बे बरामदों के बीच जिनमें नीचे चलने के लिये गुफाएं और ऊंचे बुर्ज हैं, खण्डदार इमारत को देख सकते हैं जो कि पांच खण्डों की ऊंची है और प्रत्येक खण्ड में चार दलान तथा घिरे हुए विहार हैं। यह भी कहा है कि इस संघाराम में बौद्ध पुजेरी लोग परस्पर झगड़े और राजा के पास गए और ब्राह्मणों ने इस अवसर को पाकर संघाराम को नाश कर दिया और उस स्थान की गढ़बंदी करदी।

इसके उपरान्त हमारा यात्री अन्ध्रों के प्राचीन देश में आया जिन्होंने कि ईसा के कई शताब्दियों पहिले दक्षणी भारतवर्ष में अपनी सभ्यता की उन्नति की थी तथा अपने राज्य को बढ़ाया था और जिनका इसके उपरान्त मगध और भारतवर्ष में प्रधान शासन था। तब से यह प्रधानता गुप्तों और उज्जैनियों के हाथ में चली गई थी और सातवीं शताब्दी में अन्ध्र लोगों का अधिकार बहुत कम रह गया था। उन का राज्य केवल ६०० मील के घेरे में था और वह नियमित रूप से जोता बोया जाता था। लोग कट्टर और जोशीले थे। यहां २० संघाराम और ३० देव मन्दिर थे।

इस देश के दक्षिण में धनकटक अर्थात अन्ध्रों का बड़ा देश था जिस का घेरा १२०० मील का था और जिसकी राजधानी ८ मील के घेरे में थी और अब यह

जाना गया है कि आधुनिक काल की वह बेजवाड़ा थी । भूमि उपजाऊ थी और उसमें बड़ी फसल उत्पन्न होती थी, परन्तु देश का बहुत भाग बियाबान था और कस्बों में बहुत थोड़ी बस्ती थी । लोग पीलापन लिए काले रंग के थे, वे कट्टर और जोशीले थे परन्तु विद्या के प्रेमी थे । प्राचीन मठ अधिकांश उजाड़ और खंडहर हो गए थे, उनमें से केवल ९० मठों में मनुष्य रहते थे । देव मन्दिर लगभग १०० के थे और उनके बहुत से अनुयायी थे ।

हुएनत्सांग नगर के पूरब और पश्चिम ओर दो बड़े मठों का उल्लेख करता है जो कि पूर्वशिला और अपरशिला कहलाते थे और जिन्हें किसी प्राचीन राजा ने बुद्ध के सम्मानार्थ बनवाया था । उसने घाटी में गड्हा खुदवाया, सड़क बनवाई, और पहाड़ी अड़ारों को खुलवाया ।

परन्तु गत १०० वर्षों से कोई पुजेरी नहीं है । डाक्टर फर्ग्यूसन साहब ने पश्चिमी मठ का अमरावती के उस बड़े स्तूप से मिलान किया है जो कि १७९६ में जाना गया और खुदवाया गया था । डाक्टर बर्जेस साहेब वहां के पत्थरों पर खुदे हुए एक लेख से यह निश्चय करते हैं कि अमरावती का स्तूप यदि अधिक प्राचीन समय में नहीं तो ईसा की दूसरी शताब्दी में बन गया था अथवा बन रहा था ।

बड़े अन्ध्र देश के दक्षिण पश्चिम चोला का राज्य था जो कि ५०० मील के घेरे में था परन्तु उजाड़ और जंगल था । यहां की बस्ती थोड़ी थी । डांकू लोग इस खुले देश में लूट पाट मचाते थे और यहां के लोग दुराचारी और निर्दय थे ।

इसके दक्षिण ओर द्राविड़ का राज्य था जिसका घेरा १२०० मील का था और जिसकी राजधानी प्रसिद्ध काञ्ची वा कांञ्चपुर थी जो कि आधुनिक कांचीवरम से मिलाई की गई है। यहां की भूमि उपजाऊ थी और नियमित रूप पर जोती बोई जाती थी और यहां के लोग वीर सच्चे और खरे और विद्या के प्रेमी थे और वे मध्य भारतवर्ष की भाषा बोलते थे। यहां कोई एक सौ संघाराम और दस हजार पुजेरी थे।

द्राविड़ के दक्षिण मलकूट का राज्य था जिससे डाक्टर बर्नेल साहेब ने कावेरी नदी के डेल्टा से मिलाया है। यहां के लोगों का रंग काला था। वे दृढ़ और जोशीले थे परन्तु विद्या के प्रेमी नहीं थे और पूर्णतया व्यापार के उद्योग में लगे हुए थे। इस देश के दक्षिण ओर प्रसिद्ध मलयपर्वत् अर्थात् मलाबार घाट के दक्षिणी भाग थे जिन में चन्दन और कपूर होता था। इस पर्वत श्रेणी के पूरब ओर पोटलक पर्वत था जहां कि यह समझा जाता था कि बुद्ध महात्मा अवलोकितेश्वर ने जिनकी पूजा तिब्बत चीन और जापान में उत्तरी बौद्ध लोग करते हैं कुछ समय तक निवास किया था।

हुएनत्सांग लंका में नहीं गया परन्तु फिर भी वह इस टापू का उसके हरी भरी बनस्पति का, उसकी विस्तृत खेती का और उसकी भरी पूरी बस्ती का उल्लेख करता है। वह सिंह के विषय में, राक्षसों के विषय में और इस टापू में बौद्ध धर्म्म का प्रचार करने वाले अशोक के भाई महेन्द्र के विषय की कथाओं का उल्लेख करता है और वहां हुएनत्सांग

के समय में १०० मठ और २०००० पुजेरी थे। वह इस टापू के तटों में रत्नों के अधिक पाए जाने का वर्णन करता है और टापू के दक्षिण पूरब की ओर लंका पर्वत को लिखता है।

द्राविड़ से उत्तर की ओर यात्रा करते हुए हुएनत्सांग कोकन में आया जो कि १०००० मील के घेरे में था। यहां की भूमि उपजाऊ थी और वह नियमित रूप पर बोई जाती थी। लोग काले जंगली और क्रोधी थे परन्तु वे विद्या का सम्मान करते थे।

कोकन के उत्तर पश्चिम ओर एक बड़े जंगल के पार जिसमें कि जंगली पशु और लुटेरे रहते थे महाराष्ट्र का बड़ा देश था जिसका घेरा १००० मील था। भूमि उपजाऊ थी और नियमित रूप पर जोती बोई जाती थी यहां के लोग सच्चे परन्तु कठोर और बदला लेने वाले थे। वे "अपने उपकार करने वाले के अनुगृहीत होते हैं और अपने शत्रुओं के लिये निठुर थे। यदि वे अपमानित किए जांय तो अपना पलटा देने के लिये वे अपनी जान पर खेल जांयगे। यदि उनसे किसी दुखी मनुष्य की सहायता करने की प्रार्थना की जाय तो उसे सहायता करने की जल्दी में अपने को भूल जांयगे। जब वे पलटा लेने जांयगे तो अपने शत्रु को पहिले सूचना देदेंगे और तब दोनों शस्त्र से सज्जित होकर एक दूसरों से भालों से लड़ेंगे। यदि कोई सेनापति युद्ध में हार जाय तो वे उसे कोई दण्ड नहीं देते परन्तु उसे स्त्रियों का कपड़ा देकर निकाल देते हैं कि जिसमें वह अपनी मृत्यु का आप उपाय करे।

राजा क्षत्रिय जाति का है और उसका नाम पुलकेशि है। उसके उपाय और कार्य्य दूर दूर तक प्रसिद्ध हैं और उसके परोपकारी कार्य्य बहुत दूर तक पाए जाते हैं। उसकी प्रजा पूरी तरह से उसकी आज्ञा पालन करती है। इस समय (कन्नौज के) शीलादित्य महाराज ने पूरब से लेकर पश्चिम तक सब जातियों को विजय किया है और अपनी विजय दूर दूर के देशों में फैलाई है परन्तु केवल इसी देश के लोगों ने उसकी आधीनता नहीं स्वीकार की। वह पांचों भागों से सेना एकत्रित करके और सब देशों से सर्वोत्तम सेनापतियों को बुलवा कर स्वयं इस सेना को लेकर इन लोगों को दण्ड देने और अधीन करने के लिये गया था परन्तु उसने अब तक उनकी सेना को पराजित नहीं किया और न शीलादित्य के भाग्य में पुलकेशि को विजय करना बदा था। पुलकेशि ने उसे युद्ध में हराया और घमण्डी महरठों की स्वतंत्रता स्थिर रक्खी। उसी प्रकार १००० वर्षों के उपरान्त पुलकेशि के एक उत्तराधिकारी ने उत्तरी भारतवर्ष के एक सम्राट औरंगजेब का सामना किया था और मरहठों की गई हुई स्वतंत्रता और प्रसन्नता को पुनः प्राप्त किया था। जब मोगलों और राजपूतों दोनों ही के अधिकार का पतन हो गया था उस समय पुलकेशि के देश वासी ही अंग्रेजों से भारतवर्ष के राज्य के लिये लड़े थे।

महाराष्ट्र देश की पूर्वी सीमा पर एक बड़ा पर्वत था जिसमें बहुत ऊंची ऊंची चट्टान और ऊंचे दालान तथा खड़े पर्वतों की लगातार श्रेणी थी। "इसमें एक संघाराम है जो कि एक अन्धकारमय घाटी में बना है उसके ऊंचे कमरे और

धमी दालाने चट्टानों के सामने फैली हुई हैं। उसके प्रत्येक खण्ड के पीछे की ओर चट्टान और सामने की ओर घाटी है।" प्रसिद्ध एजेण्टा की ये गुफाएं हैं जो कि एक एकान्त घाटी के किनारे की एक ऊंची और लगभग खड़ी चट्टानों में खुदी हुई हैं। आधुनिक पाठक लोग इस सब से अद्भुत कारीगरी की इमारत से फर्ग्यूसन और बर्जेस साहेब के वृत्तान्त और चित्रों के द्वारा परिचित हैं। हुएनत्सांग इस के अतिरिक्त कहता है कि यहां एक बड़ा बिहार लगभग १०० फीट ऊंचा था और उसके बीच में ७० फीट ऊंची बुद्ध की एक पत्थर की मूर्ति थी। इसके ऊपर सात मंजिल का एक पत्थर का चंदवा था जो कि देखने में बिना किसी आधार के खड़ा हुआ था।

महाराष्ट्र के पश्चिम वा उत्तर पश्चिम में भरूकच्छ वा बरूच का देश था जिसका घेरा ५० मील था। यहां की भूमि खारी थी और यहां वृक्ष बहुत दूर दूर पर तथा बहुत कम होते थे और लोग समुद्र के मार्ग से ही अपना सब अन्न प्राप्त करते थे।

वहां से हुएनत्सांग मालवा के प्राचीन देश में गया, वह कहता है कि "दो देश अपने निवासियों की बड़ी विद्या के लिये प्रसिद्ध हैं अर्थात् दक्षिण-पश्चिम में मालव और उत्तर-पूरब में मगध।" इसके आगे हुएनत्सांग फिर कहता है कि इस देश के ग्रंथों में लिखा है कि इस के साठ वर्ष पहिले शीलादित्य राजा था जो कि बड़ा विद्वान था और बुद्धि के लिये प्रसिद्ध था, विद्या में उसकी निपुणता पूर्ण थी। यह प्रथम शीलादित्य था जिसने कि सम्भवतः ५५० ईस्वी से ६००

ईस्वी तक राज्य किया और जो सम्भवतः प्रातापी विक्रमादित्य का उत्तराधिकारी था। वह राजा जिसे हुनत्सांग ने कन्नौज में देखा था और जो पुलकेशि तथा मरहठों को अपने अधीन करने का उद्योग कर रहा था शीलादित्य द्वितीय था जिसने लगभग ६१० ईस्वी से ६५० ईस्वी तक राज्य किया।

मालव में हुनत्सांग के समय में दोनों धर्म्म प्रचलित थे। यहां लगभग १०० संघाराम और १०० देव मन्दिर थे।

हुनत्सांग तब अटाली और कच्छ में गया और तब वल्लभी में आया जो कि प्रतापी वल्लभी वंश का मुख्य स्थान थी। "यहां की भूमि जल वायु और लोग मालव राज्य की भांई है, बस्ती घनी हैं और अन्न बहुतायत से है। यहां कोई एक सौ घर करोड़पतियों के हैं।

सौराष्ट्र और गुजरात, सिन्ध और मुलतान को देख कर इस प्रसिद्ध यात्री ने भारतवर्ष से प्रस्थान किया। परन्तु हम उससे बिदा होने के पहिले उसकी डायरी के कुछ वाक्य उद्धृत करेंगे जिसमें देश की राज्य प्रणाली और लोगों की चालव्यवहार का वर्णन है।

"देश की राज्य प्रणाली उपकारी सिद्धान्तों पर होने के कारण शासनरीति सरल है। राज्य चार मुख्य भागों में बँटा है। एक भाग राज्य प्रबंध चलाने तथा यज्ञादि के लिये है, दूसरा भाग मंत्री और प्रधान राज्य कर्म्मचारियों की आर्थिक सहायता के लिये, तीसरा भाग बड़े बड़े योग्य मनुष्यों के पुरस्कार के लिये और चौथा भाग धार्मिक लोगों को दान के लिये जिससे कि यश की वृद्धि होती है। इस

प्रकार से लोगों के कर हल्के हैं और उनसे शारीरक सेवा थोड़ी ली जाती है। प्रत्येक मनुष्य अपनी सांसारिक सम्पत्ति को शान्ति के साथ रखता है और सब लोग अपने निर्वाह के लिये भूमि जोतते बोते हैं। जो लोग राजा की भूमि को जोतते हैं उन्हें उपज का छठां भाग कर की भांति देना पड़ता है। व्यापारी लोग जो वाणिज्य करते हैं अपना लेन देन करने के लिये आते जाते हैं। नदी के मार्ग तथा सड़क बहुत थोड़ी चुंगी देने पर खुले हैं। जब कभी राज्य कार्य के लिये मनुष्यों की आवश्यकता होती है तो उनसे काम लिया जाता है परन्तु इसके लिये उनको मजदूरी दी जाती है। जितना कार्य होता है ठीक उसी के अनुसार मजदूरी दी जाती है।

"सैनिक लोग सीमा प्रदेश की रक्षा करते हैं और उपद्रवी लोगों को दण्ड देने के लिये भेजे जाते हैं। वे रात्रि को सवार होकर राजभवन के चारों ओर पहरा भी देते हैं। सैनिक लोग कार्य की आवश्यकता के अनुसार रक्खे जाते हैं, उन्हें कुछ द्रव्य देने की प्रतिज्ञा की जाती है और प्रगट रूप से उनका नाम लिखा जाता है। शासकों, मंत्रियों, दण्डनायकों तथा कर्मचारियों को उनके निर्वाह के लिये कुछ भूमि मिलती थी।"

ऊपर के वृत्तान्त से विदित होगा कि भारतवर्ष की प्राचीन रीति के अनुसार सब कर्मचारियों को उनकी सेवा के लिये भूमि दी जाती थी। हुएनत्साङ्ग ने जो राजा की निज की सम्पत्ति लिखी है उससे उसका तात्पर्य सब राज्य से है पर ऐसे गांव वा भूमि को छोड़ कर जो कि किसी मनुष्य

वा मन्दिर वा मठ को सदा के लिये दे दी गई हो अथवा जो राज्य कर्मचारियों के लिये नियत हो। शान्ति और युद्ध में राज्य का तथा राजा के घर का सब व्यय राजा की सम्पत्ति तथा कर की आय से किया जाता था।

लोगों की चाल व्यवहार के विषय में हुनत्साङ्ग उनके सीधेपन तथा सचाई की आदरणीय साक्षी देता है। वह कहता है कि 'यद्यपि वे स्वभावतः ओछे हृदय के नहीं हैं तथापि वे सच्चे और आदरणीय हैं। धन सम्बन्धी बातों में वे निष्कपट और न्याय करने में गम्भीर हैं। वे लोग दूसरे जन्म में प्रतिफल पाने से डरते हैं और इस संसार की वस्तुओं को तुच्छ समझते हैं। वे लोग धोखा देने वाले अथवा छली नहीं हैं और अपनी शपथ अथवा प्रतिज्ञा के सच्चे हैं'।

यही सच्ची सम्मति मेगास्थिनीज़ के समय से लेकर सब विचारवान यात्रियों की रही है जिन्होंने कि हिन्दुओं को उनके घरों और गांओं में देखा है और जो उनके नित्य कर्म्मों और प्रति दिन के व्यवहारों में सम्मिलित हुए हैं। उन आधुनिक अंगरेजों में जो कि भारतवर्ष में रहे हैं और यहां के लोगों में हिले मिले हैं, ऐसे ही एक निरीक्षक कर्नल स्लीमेन साहब हैं। कर्नल साहब कहते हैं कि गांव के रहने वाले स्वभावतः अपनी पंचायतों में दृढ़ता से सत्य का साथ देते हैं और "मेरे सामने सैंकड़ों ऐसे अभियोग हुए हैं जिनमें कि मनुष्य की सम्पत्ति, स्वाधीनता और प्राण उसके झूठ बोल देने पर निर्भर रही है, पर उसने झूठ बोलना स्वीकार नहीं किया है"।

———o———

अध्याय ३।

वल्लभी लोग और राजपूत लोग।

गुप्तवंश की चढ़ती के दिनों में गुजरात इसी वंश के राजाओं के अधीन रहा और इस कारण पांचवीं शताब्दी के अन्तिम अर्द्ध भाग में जब गुजरात के वल्लभी लोगों ने स्वतंत्रा और प्रबलता प्राप्त की तो उन्होंने स्वभावतः गुप्त संवत् को प्रचलित रक्खा जो कि सन् ३१९ ईस्वी से गिना जाता है। जिस समय कि गुप्तों का बल, जो कि उस समय भारतवर्ष के सम्राट थे घट रहा था उस समय भटार्क नामक एक उद्योगी सेनापति गुजरात में स्वतंत्र हो गया और वह सौराष्ट्र के वल्लभी वंश का संस्थापक हुआ।

वल्लभी राजाओं की वंशावली तथा उनका इतिहास जो बहुत से शिलालेख मिले हैं उनसे विदित हुआ है। उनमें से दो ताम्र पत्र सब से प्राचीन हैं जो कि गुजरात में ५० वर्षों से अधिक समय हुआ कि खोदने में मिले थे। उन्हें डबल्यू० एच० वाथेन साहब ने सन् १८३५ में प्रकाशित किया था और वे बड़े ही काम के हैं।

सेनापति भटार्क के विषय में, जो कि इस वंश का संस्थापक है, कहा गया है कि उसने "अपने शत्रुओं के देश में सैकड़ों युद्ध में यश प्राप्त किया" और सब वंशों के संस्थापकों की नाईं वह बड़ा योधा और योग्यता से राज्य प्रबन्ध करने वाला रहा होगा। उसके चार पुत्र थे अर्थात् धरसेन, द्रोणसिंह, ध्रुवसेन, और धरपत्त। इनमें से पहिला भाई

सेनापति कहा गया है और यह स्पष्ट है कि उसने अब तक राजा की पदवी ग्रहण नहीं की थी, परन्तु उससे छोटे भाई ने "स्वयं बड़े सम्राट (सम्भवतः कन्नौज का) से राजतिलक पाया था" और वह श्रीमहाराज द्रोणसिंह कहा गया है। उसके अन्य दोनों भाई भी इसी भांति श्रीमहाराज ध्रुवसेन और श्रीमहाराज धरपत्त कहे गए हैं।

धरपत्त का पुत्र गुहसेन था जो कि "शत्रुओं के दलों का नाशक" था और उसके पुत्र धरसेन द्वितीय ने दान दिया था।

वाथेन साहब के दूसरे ताम्रपत्र में धरसेन द्वितीय के उत्तराधिकारी शीलादित्य खरग्रह, धरसेन तृतीय, ध्रुवसेन द्वितीय, धरसेन चतुर्थ, शीलादित्य द्वितीय (यहां पर दो वा तीन नाम अस्पष्ट हैं), खरग्रह द्वितीय, शीलादित्य तृतीय और शीलादित्य चतुर्थ कहे गए हैं। एक शिलालेख में, जो कि हरिबल्लभ को सन् १८७८ में मिला था, इन राजाओं की सूची शीलादित्य सप्तम तक दी है जिसने कि आठवीं शताब्दी के अन्त में राज्य किया है। इस प्रकार हमें एक ही लेख में तीन शताब्दियों तक की इस वंश के राजाओं की पूरी सूची मिलती है अर्थात् भटार्क से लेकर, जिसने की पांचवीं शताब्दी के अन्त में इस वंश को आरम्भ किया था, शीलादित्य सप्तम तक जिसने कि आठवीं शताब्दी के अन्त में राज्य किया। निम्न लिखित वंश वृक्ष तथा तिथियों से इनके नाम सहज ही स्पष्ट हो जायंगे।

भटार्क ।
(लगभग ४६० ई०)

- धरसेन प्रथम
- द्रोणसिंह
- ध्रुवसेन प्रथम (५२६ ई०)
- धरपत्त
  - गुहसेन (५५९,५६५ और ५६७ ई०)
    - धरसेन द्वितीय (५७१,५८८ और ५८९ ई०)
      - शीलादित्य प्रथम (६०५,६०९ ई०)
        - देरभट
          - शीलादित्य द्वितीय
            - शीलादित्य तृतीय (६७८ ई०)
              - शीलादित्य चतुर्थ (६९१ ई०)
                - शीलादित्य पंचम (७२२ ई०)
                  - शीलादित्य षष्ठ (७६० ई०)
                    - शीलादित्य सप्तम (७६६ ई०)
          - खरग्रह द्वितीय (६५७ ई०)
          - ध्रुवसेन तृतीय
      - खरग्रह प्रथम
        - धरसेन तृतीय
        - ध्रुवसेन द्वितीय (६२९ ई०)
          - धरसेन चतुर्थ (६४५,६४९ ई०)
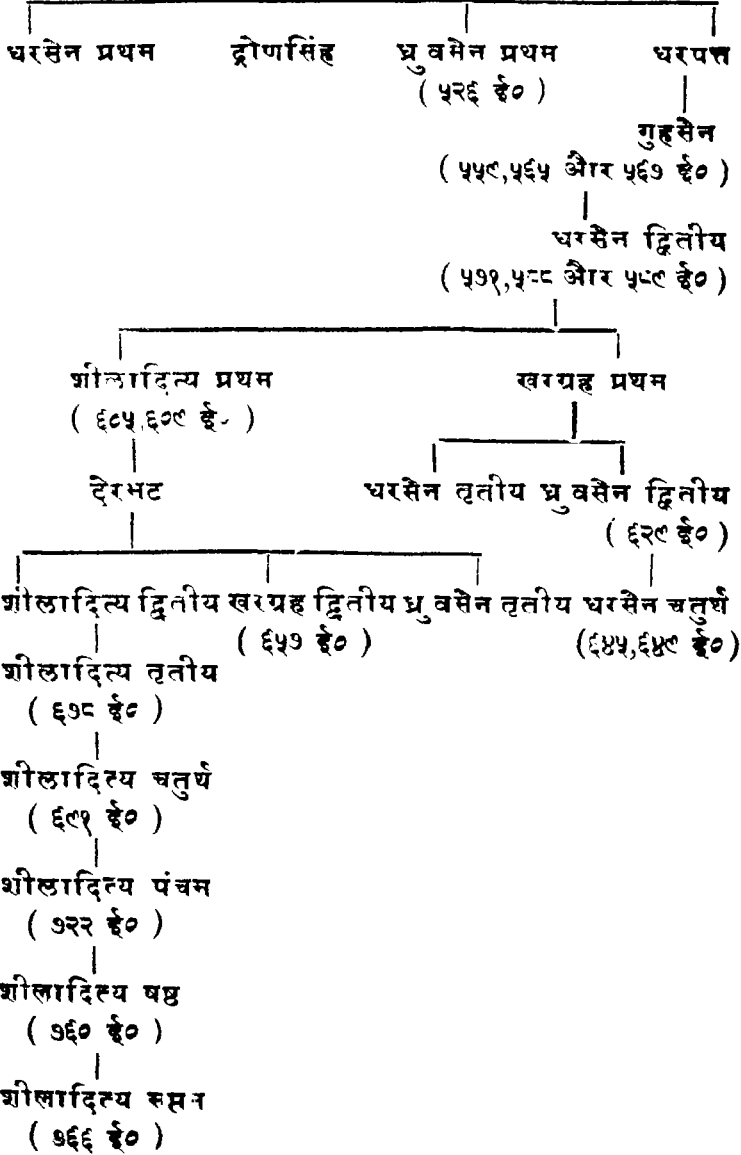
अब हमें केवल यह कहना है कि जब हूनत्सांग वल्लभी में पहुंचा तो उसने वहां के लोगों को धनाढ्य प्रबल और सुसम्पन्न पाया और इन के अधीन सौराष्ट्र देश था। उनकी राजधानी में दूर दूर से बहु मूल्य पदार्थ बहुतायत से एकत्रित किए जाते थे जिससे कि वल्लभी लोगों का उद्योग-पूर्ण समुद्री व्यापार प्रगट होता था। इस प्रबल जाति के पतन होने का कारण विदित नहीं है परन्तु इसमें बहुत ही कम सन्देह हो सकता है कि जिस समय वल्लभी लोगों का पतन हो रहा था उस समय पश्चिमी भारतवर्ष में राजपूत लोगों का प्रताप और यश बढ़ रहा था।

कई प्रमाणों से राजपूत लोग पश्चिमी भारतवर्ष में प्रभुत्व में वल्लभी लोगों के उत्तराधिकारी समझे जा सकते हैं, जिस भांति कि स्वयं वल्लभी लोग गुप्तों के उत्तराधिकारी थे। और सबसे घमण्डी राजपूत लोग अर्थात मेवाड़ के राना लोग वल्लभियों से अपनी उत्पत्ति की कल्पना करते थे। जब कि ८ वीं शताब्दी के अन्त में गुजरात में वल्लभी लोगों के स्थान पर राजपूत लोग प्रबल हुए और वल्लभीपुर के पतन के साथ ही साथ पट्टन का उदय हुआ तो उत्तरी भारतवर्ष के इतिहास में फिर कोई समानता न रह गई। वहां ७५० ई० के लगभग उज्जैनी और कन्नौज के वंशों का लोप हो गया जैसा कि हम पहिले देख चुके हैं। उस समय से लेकर १० वीं शताब्दी तक उत्तरी भारतवर्ष का इतिहास पूर्णतया शून्य है। हमें दक्षिण में चालुकों का, उत्तर पश्चिम की छोर पर काश्मीर के राजाओं का, पूरब में बंगाल और उड़ीसा के राजाओं का वृत्तान्त मिलता

नहीं मिलता जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, और न उत्तरी भारतवर्ष में इस समय का बना हुआ शिल्प का कोई बड़ा नमूना ही इमारत के रूप में मिलता है। इन दोनों शताब्दियों के ऊपर अन्धकार का एक बड़ा भारी परदा पड़ा हुआ है जिसे कि इतिहासज्ञ लोग अब तक नहीं हटा सके हैं।

जब दसवीं शताब्दी के अन्त में यह अन्धकार का परदा दूर होता है तो हम नए पात्रों और नए दृश्यों को पाते हैं। इस समय पौराणिक हिन्दू धर्म को हम भारतवर्ष में सब से प्रधान पाते हैं और इसकी प्रधानता एक नई और वीर जाति अर्थात् राजपूतों की राजकीय प्रधानता के साथ साथ है। राजपूत लोग अपने राज्यों से निकल कर गुजरात और दक्षिणी भारतवर्ष में आगए थे और वे भारतवर्ष के दूर दूर के भागों यथा दिल्ली कन्नौज अजमेर के स्वामी हो गए थे। सर्वत्र वे पौराणिक हिन्दू धर्म्म के अनुकूल रहे और ब्राह्मणों ने उन्हें उनके इस परिश्रम का पुरस्कार दिया और इस नई जाति को आधुनिक समय का क्षत्रिय माना।

इन परिणामों से हम आठवीं से दसवीं शताब्दी तक के अन्धकारमय समय का कुछ इतिहास जान सकते हैं। यह अभागा समय भयंकर युद्धों का तथा प्राचीन प्रणालियों और वंशों के नष्ट होने का समय था। प्राचीन वंशों का जीर्णता अथवा उपद्रव के कारण पतन हुआ और एक नई तथा बलवान जाति ने उनका स्थान ग्रहण किया। यह उसी दृश्य का पुनराभिनय था जो कि भारतवर्ष के इतिहास में

इसके पूर्व कम से कम एक बार हो चुका था। इसी प्रकार ईसा के पहिले चौथी शताब्दी में बलवान और युवा मगध लोगों ने जो कि ऐतिहासिक काव्य काल में आर्य्य जाति के बाहर समझे जाते थे, प्रबलता प्राप्त की, अपना राज्य बढ़ाया और काशी, कोशल, कुरू और पञ्चाल लोगों के प्राचीन राज्य पर अपना प्रभुत्व जमाया। और जब म्यगास्थिनीज़ भारतवर्ष में आया तो उसने प्राच्यों अर्थात् मगध लोगों को उत्तरी भारतवर्ष में सर्व प्रधान पाया।

इसी प्रकार अठवीं से दसवीं शताब्दी तक के अन्धकारमय समय में राजपूत जाति, जो कि इसके पूर्व कठिनता से आर्य्य हिन्दू जाति में समझी जाती थी, जातियों के झगड़ों के बीच में आगे बढ़ी और उसने अपने श्रेष्ठ बल और बीरता से कन्नौज दिल्ली लाहौर तथा अन्य स्थानों के शून्य राज्य सिंहासनों को प्राप्त किया। ईसा के पहिले चौथी शताब्दी की नाईं उसके उपरान्त १० वीं शताब्दि में भी किसी राज्य वंश की प्रबलता नहीं हुई थी वरन् एक जाति की प्रबलता अर्थात् प्रत्येक अवस्था में एक नई बीर और बलवान जाति प्राचीन और शिक्षित परन्तु लुप्त प्राय: जातियों के खाली किए हुए स्थान को लेने के लिये आगे बढ़ी थी। और मानो इस समानता को पूर्ण करने के लिये इन दोनों राजकीय उलट फेर के साथ ही साथ धर्म्म का भी उलट फेर हुआ। भारतवर्ष की प्राचीन और सुशिक्षित जातियों पर मगध लोगों की प्रबलता की वृद्धि ने इस देश के प्राचीन और विद्वतापूर्ण धर्म्म के विरुद्ध एक नए बौद्ध धर्म्म का प्रचार किया और राजपूतों की वृद्धि ने भारतवर्ष में अन्तिम बार पौराणिक धर्म्म की बिजय प्राप्त की।

हम इस पुस्तक की भूमिका में दिखला चुके हैं कि पांचवीं शताब्दी से लेकर दसवीं शताब्दी तक के यूरप के इतिहास के साथ भारतवर्ष के आठवीं शताब्दी से १० वीं शताब्दी के इतिहास की और भी अद्भुत समानता है। यूरप और भारतवर्ष दोनों ही में प्राचीन राज्य और प्राचीन प्रणालियों का नाश हुआ, नई जातियों ने भूमि पर अपना अधिकार और राज्य जमाया और फिर इन नवीन जातियों को, अर्थात् यूरप में जर्मन जाति को और भारतवर्ष में राजपूतों को, मुसल्मानों के बढ़ते हुए बल का सामना करना पड़ा, पर यूरप ने अपनी स्वतन्त्रता रक्षित रक्खी और भारतवर्ष ने उद्योग किया परन्तु उसका पतन हुआ।

हम देख चुके हैं कि आठवीं शताब्दी के पहिले राजपूत लोग आर्य्य हिन्दू जाति में कठिनता से गिने जाते थे। हमें इस देश के ग्रन्थों में अथवा विदेशी जातियों की पुस्तकों में उनका न तो कहीं नाम मिलता है और न उनकी पूर्व सभ्यता का कोई पता चलता है। उनकी उत्पत्ति के विषय में अनुमान किए गए हैं। डाक्टर एच० एच० विलसन साहेब का मत है कि वे लोग उन शक् लोगों तथा अन्य आक्रमण करने वालों की सन्तान हैं जिनके दल के दल भारतवर्ष में विक्रमादित्य के कई शताब्दी पहिले आए थे, जिन्हें विक्रमादित्य ने पराजित किया था परन्तु वे फिर भी फैल कर भारतवर्ष में और विशेषत: पश्चिम और दक्षिण में बस गए। पुराणों में भी इस बात के छिपे छिपे संकेत मिलते हैं कि राजपूत लोग भारतवर्ष में नए आकर बसने वाले थे। यथा

उनमें लिखा है कि परिहार, प्रमार, चालुक्य और चौहान जातियों की उत्पत्ति चार योधाओं से हुई जिन्हें वशिष्ठ ऋषि ने आबू पर्वत पर एक यज्ञ करके उत्पन्न किया था। और राजपूतों की ३६ जातियों की उत्पत्ति इन्हीं चार जातियों से कही गई है।

चालुक्य लोग गुजरात में बसे, उन्हों ने अपनी नई राजधानी पट्टन में स्थापित की और वल्लभी लोगों का अब तक जो प्रभुत्व था उसे छीन लिया। परिहार लोग मारवाड़ में बसे। प्रमार लोग पश्चिमी मालवा में और चौहान लोग पूरब की ओर दिल्ली और अजमेर में आए। राजपूतों की अन्य जातियां भी थीं जिनकी उत्पत्ति के विषय में अन्य कल्पनाएं की गई हैं। यथा मेवाड़ के गहलौत राना अपनी उत्पत्ति गुजरात के बल्लभी राजाओं के द्वारा राम से बतलाते हैं। इसके सिवाय यह दन्तकथा भी है कि मारवाड़ के राठौरों की उत्पत्ति हिरण्यकश्यप से हुई है।

राजपूतों की उत्पत्ति चाहे किसी से भी क्यों न हो परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वे लोग हिन्दू सभ्यता और धर्म्म की मंडली के बीच में नए आए हुए लोग थे। और सब नए अन्य मतावलम्बियों की नाईं उनमें अपने ग्रहण किए हुए धर्म्म को पुनर्जीवित करने का अत्यन्त उत्साह भरा हुआ था। ब्राह्मण लोग इन्हीं नए क्षत्रियों के उत्साह पर कार्य्य करते थे और चौहानों और राठौरों ने ब्राह्मणों का प्रभुत्व स्थापित करने के कारण क्षत्रिय जाति में सम्मिलित होने का अधिकार प्राप्त किया। दसवीं शताब्दी के अन्त तक पौराणिक धर्म्म सर्वत्र स्थापित होगया था और

कन्नौज मथुरा तथा सैंकड़ों अन्य नगर उन सुन्दर भवनों और मन्दिरों से सुशोभित होगए थे जिन्होंने कि ११ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में गजनी के सुल्तान को आश्चर्यित किया था।

—— :o: ——

अध्याय ४

बंगाल और उड़ीसा।

ऐतिहासिक काव्य काल में मगध और अंग के राज्य अर्थात् दक्षिणी और पूर्वी विहार कठिनता से आर्य्यों की सीमा में समझे जाते थे। मगध दार्शनिक काल में एक हजार ई० पू० के उपरान्त पूर्णतया आर्य्यों का हो गया और उसने बल तथा सभ्यता में यहां तक उन्नति की कि वह गंगा की घाटी के अधिक प्राचीन राज्यों से बढ़ गया और उन्हें उसने अपने अधीन भी बना लिया। और उसी समय, सम्भवतः ईसा के पांचवीं शताब्दी में खास बंगाल और उड़ीसा ने मगध के बढ़े चढ़े राज्य से पहिले आर्य्यों की सभ्यता प्राप्त की।

ईसा के पहिले चौथी शताब्दी में जब यूनानी लोग भारतवर्ष में आए तो उन्होंने बंगाल और उड़ीसा में जिसे कि वे कलिंग के नाम से पुकारते थे, प्रबल राज्य स्थापित देखे। ईसा के पहिले तीसरी शताब्दी में कलिंग को प्रतापी अशोक ने विजय किया जैसा कि हमें उसके शिलालेखों से विदित होता है और सम्भवतः इस विजय से उन प्रान्तों में बौद्ध धर्म्म के प्रचार होने में सफलता हुई और उससे बंगाल और उड़ीसा का उत्तरी भारतवर्ष की सभ्यता से अधिक सम्बन्ध स्थापित हुआ।

धीरे धीरे और अज्ञात रीति से बंगाल प्रधानता और सभ्यता में बढ़ा और बौद्ध काल के अन्त तक बंगाल भारतवर्ष में एक माननीय राज्य होगया। सातवीं शताब्दी

के प्रारम्भ के लगभग गौड़ के निकट कर्णसुवर्ण के राजा शशांक (नरेन्द्र गुप्त) ने प्रतापी शीलादित्य के बड़े भाई को युद्ध में पराजित किया और मार डाला और जब सन् ६४० के लगभग हुनत्सांग बंगाल में आया तो उसने पुन्ड्र वा उत्तरी बंगाल, समतत वा पूर्वी बंगाल, कामरूप व आसाम और ताम्रलिप्त वा दक्षिणी बंगाल तथा कर्णसुवर्ण अथवा पश्चिमी बंगाल में सभ्य तथा प्रबल राज्य देखे। ये राज्य मोटे हिसाब से आज कल के राजशाही, ढाका, आसाम, बर्दवान, और प्रेसिडेंसी डिवीजनों में थे। हुनत्सांग ने इन राज्यों का जो वर्णन लिखा है वह अन्यत्र दिया जा चुका है और यहां उनके पुनरुल्लेख की कोई आवश्यकता नहीं है।

इसके उपरान्त हमें बंगाल का वृत्तान्त फिर नौवीं शताब्दी में विदित होता है।

आधुनिक समय में बहुत से ताम्रपत्र मिले हैं जिनसे विदित होता है कि मुसल्मानों की विजय के लगभग तीन शताब्दी पहिले तक बंगाल में पालवंश तथा सेनवंश के राजाओं का राज्य था। डाक्टर राजेन्द्र लाल मित्र ने इस विषय की बातों को सावधानी से संक्षेप में पाल और सेन वंशों पर अपने व्याख्यान में वर्णन किया है जो कि अब उनकी "इण्डो आर्यंस" नामक पुस्तक के दूसरे भाग में प्रकाशित हुआ है और हम उसी लेख से निम्न लिखित सूची उद्धृत करते हैं। डाक्टर मित्र ने प्रत्येक राज्य के लिये प्रायः बीस वर्ष का औसत समय नियत किया है—

पालवंशी राजा ।

(पश्चिमी और उत्तरी बंगाल में)

	ईस्वी
१ गोपाल	८५५
२ धर्म्मपाल	८७५
३ देवपाल	८९५
४ विग्रहपाल	९१५
५ नारायनपाल	९३५
६ राजपाल	९५५
७ — पाल	९७५
८ विग्रहपाल द्वितीय	९९५
९ महीपाल	१०१५
१० नयपाल	१०४०

(इन्हें सेनवंशी राजाओं ने बंगाल से निकाल दिया)

सेनवंशी राजा ।

(पूर्वी और समुद्र तट के बंगाल में)

	ईस्वी
१ वीरसेन	९८६
२ सामन्तसेन	१००६
३ हेमन्तसेन	१०२६
समस्त बंगाल में	
४ विजय उपनाम सुखसेन	१०४६
५ बल्लालसेन	१०६६
६ लक्ष्मणसेन	११०६
७ माधवसेन	११३६
८ केशवसेन	११३८
९ लाक्ष्मणेय उपनाम अशोकसेन	११४२
मुसलमानों की विजय ।	१२०४

पालवंशी राजाओं के विषय में इसके अतिरिक्त और वृत्तान्त विदित नहीं है कि वे बौद्ध थे परन्तु हिन्दुओं से द्वेष नहीं रखते थे, हिन्दू कर्मचारियों को रखते थे और हिन्दुओं को धर्मकार्यों के लिये भूमि देते थे। उनके अधिकार में पूर्वी बंगाल कभी नहीं आया वरन् उनका राज्य जैसा कि डाकृर मित्र कहते हैं "भागीरथी के पश्चिम में निस्सन्देह बिहार की सीमा तक और सम्भवत: इसके भी

आगे सम्पूर्ण मगध के प्राचीन राज्य को लिए हुए था। उत्तर की ओर उसमें तिरहुत, मालदा, राजशाही, दीनाज-पुर, रंगपुर और बागुरा सम्मिलित थे जो कि पुन्द्रवर्धन के प्राचीन राज्य में सम्मिलित थे। डेल्टा का मुख्य भाग उसके अधीन नहीं जान पड़ता"।

प्रथम राजा गोपाल के सम्बन्ध में नालन्द में एक छोटा सा शिलालेख मिला है जिससे प्रगट होता है कि इस बड़े राजा ने मगध को विजय किया था और इस बात की तारानाथ से पुष्टि होती है। तारानाथ लिखता है कि गोपाल ने "बंगाल में राज्य आरम्भ किया और इसके पीछे मगध को जीता"। जेनरल कनिंगहाम के अनुसार उसने अपना राज्य सन् ८१५ ई० में आरम्भ किया और यह तिथि डाक्टर मित्र की निश्चित की हुई तिथि से ४० वर्ष पूर्व है। गोपाल के उत्तराधिकारी धर्म्मपाल ने अपना राज्य बढ़ाया और उसने "बहुत से देशों के राजा" "प्रबल" की पुत्री कन्न-देवी से विवाह किया। धर्म्मपाल का उत्तराधिकारी देवपाल बड़ा विजयी हुआ। शिलालेखों से उसका कामरूप और उड़ीसा को विजय करना प्रगट होता है और तारानाथ कहता है कि उसने हिमालय से लेकर विन्ध्यपर्वत तक समस्त उत्तरी भारतवर्ष को अपने अधीन किया। एक खुदे हुए लेख में लिखा है कि देवपाल के सब युद्धों को उसका भाई जैपाल करता था जिसके पुत्र विग्रहपाल ने एक वा दो छोटे छोटे राजाओं के उपरान्त, जो कि डाक्टर मित्र की सूची में छोड़ दिए गए हैं, अन्त में राजगद्दी पाई। भागलपुर के ताम्रपात्र से हमें विदित होता है कि विग्रहपाल ने हैहय

राज्यकुमरी लज्जा से विवाह किया और यह विश्वास किया जाता है कि हैहय लोग राजपूत थे। जान पड़ता है कि विग्रह पाल ने अन्त में अपने पुत्र से यह कह कर संसार त्याग दिया कि "तपस्या मेरी है और राज्य तेरा।" अतएव उसका पुत्र नारायणपाल उत्तराधिकारी हुआ। और जिस समय गज़नी का महमूद सन् १०२७ ई० में कन्नौज के सामने आया उस समय उसका उत्तराधिकारी राज्यपाल बंगाल से लेकर कन्नौज तक समस्त उत्तरी भारतवर्ष का राज्य कर रहा था। डाकृर मित्र ने राज्यपाल की जो तिथि दी है वह स्पष्ट गलत है।

राज्यपाल के उत्तराधिकारियों के विषय में महिपाल तक का कुछ वृत्तान्त विदित नहीं है। तारानाथ के अनुसार महिपाल ने ५२ वर्ष राज्य किया और इस कारण जनरल कनिंगहाम साहब उसका राज्य काल सन् १०२८ से १०८० तक निश्चित करते हैं। उड़ीसा का राजा इस प्रबल राजा के अधीन कहा गया है। इस राजा के उत्तराधिकारियों के समय में और ११ वीं शताब्दी में पूर्वी बंगाल के सेन राजाओं के अधिकार की वृद्धि हुई और उन्होंने उनसे मगध को छोड़ कर पूर्वी प्रान्तों को छीन लिया। मगध में पालवंशी राजा राज्य करते रहे यहां तक कि सन् ११७८ के थोड़े ही दिन पीछे, जो कि इस वंश के राजाओं के सब से अन्तिम शिलालेख की तिथि है इस वंश की अचांचक समाप्ति हुई।

सेन राजाओं के विषय में डाकृर राजेन्द्रलाल का विश्वास है कि पहिला राजा बीरसेन वही प्रसिद्ध आदिसूर

था जिसके विषय में यह विश्वास किया जाता है कि वह बंगाल में विद्वानों का अभाव होने के कारण कन्नौज से पांच ब्राह्मणों और पांच कायस्थों को लाया था। परन्तु जेनरल कनिंगहाम साहब का मत है कि वीरसेन पीछे के समय में सेनवंशी राजाओं के बहुत पहिले का पूर्व पुरुष है, और उसका राज्य सातवीं शताब्दी में था, यह बात असम्भव नहीं है यदि हम इस बात पर विचार करें कि जिन १० ब्राह्मणों और कायस्थों को आदिसूर लाया था उनकी सन्तान ११ वीं शताब्दी तक इतनी अधिक नहीं हो सकती थी कि बल्लाल को उनका एक भिन्न जाति की भांति वर्णन करना पड़ता। जेनरल कनिंगहाम साहेब सामंतसेन से लेकर लाक्षणेय के राज्य तक का समय ९७५ से ११९८ ईस्वी तक निश्चित करते हैं।

सामन्त और उसके पुत्र हेमन्त के विषय में बहुत वृत्तान्त विदित नहीं है। इसके उपरान्त विजयराजा हुआ और उसका पुत्र प्रसिद्ध बल्लालसेन था।

कहा जाता है कि जो ब्राह्मण और कायस्थ कन्नौज से लाए गए थे वे इस समय तक बहुत बढ़ गए थे और बल्लाल ने अपने देश के ब्राह्मणों और कायस्थों से कन्नौज से लाए हुए ब्राह्मणों और कायस्थों की सन्तान के विवाह होने का निषेध किया। उसने और उसके उत्तराधिकारियों ने कुलीनों के साथ विवाह करनेवालों की स्थिति बढ़ाने के लिये बहुत से पेचीले नियम भी बनाए परन्तु यह सम्भव है कि भिन्न भिन्न जाति के ब्राह्मणों और कायस्थों में जो भेद और नियम उत्पन्न होगए थे उन्हीं के लिये बल्लाल ने केवल अपनी अनुमति दी हो।

बल्लाल का उत्तराधिकारी लक्ष्मणसेन हुआ। उसका मंत्री हलायुध था जो कि "ब्राह्मण सर्वस्व" का ग्रन्थकार है। मुसल्मान इतिहासज्ञ लोग कहते हैं कि इस राजा ने गौड़ के नगर को बहुत सुशोभित कर दिया था।

उसके उत्तराधिकारी क्रमात् उसके दोनों पुत्र माधवसेन और केशवसेन हुए। उसके उपरान्त लाक्ष्मणेय हुआ जिसके राज्य में बंगाल को बख़्तियार खिलजी ने सन् १२०४ ई० वा कुछ लोगों के अनुसार ११९८ ई० के लगभग जीता।

जान पड़ता है कि सेन वंश की राजधानी ढाके के निकट विक्रमपुर में थी जहां कि बल्लाल के राज्यभवन का कल्पित खंडहर अब तक यात्रियों को दिखलाया जाता है। सेन लोग हिन्दू थे जैसा कि पाल लोग बौद्ध थे और एक वंश का धीरे धीरे दूसरे वंश से अधिकार छीनने से वास्तव में बौद्ध धर्म्म का पतन और बंगाल के लोगों का आधुनिक हिन्दू धर्म्म ग्रहण करना विदित होता है। वंशों के उदय अथवा अस्त होने के कारण जैसे ऊपर से देख पड़ते हैं उनकी अपेक्षा बहुधा बहुत गूढ़ हैं और भारतवर्ष में आठवीं और नवीं शताब्दियों में नए वंशों के उदय होने का घनिष्ट सम्बन्ध टूटे हुए बौद्ध धर्म्म के ऊपर पौराणिक हिन्दू धर्म्म की वृद्धि से है।

बंगाल के पाल और सेनवंशी राजा लोग किस जाति के थे यह आज कल एक विवाद का विषय रहा है और इस विवाद में डाक्टर राजेन्द्रलाल और जनरल कनिंगहाम के समान विद्वान लोग सम्मिलित हुए हैं। हमारे लिये इस विवाद में प्रवृत्त होना आवश्यक नहीं है। हम केवल उन विचारों को लिखेंगे जो कि हमें सबसे अधिक ठीक जँचते हैं।

पालवंशी राजा लोग बंगाल में उसी समय राज्य करते थे जिस समय कि पश्चिमी भारतवर्ष में जैपाल और अनंगपाल का राज्य था और वे लोग सुबुक्तगीन और सुलतान महमूद को रोकने का यत्न कर रहे थे । यह बिचार कोई असम्भव नहीं है कि बंगाल के पाल लोग उसी राजपूत जाति की एक शाखा थे जिसने कि नवीं और दसवीं शताब्दियों में सारे भारतवर्ष में नए राज्य स्थापित किए थे । वे लोग निसन्देह क्षत्रिय थे परन्तु केवल इसी अर्थ में कि वे राजाओं और योधाओं की जाति के थे । जब तक हिन्दू लोगों की एक जीवित जाति थी तब तक बहुधा क्षत्रिय की पदवी उन वीर वंशों को दी जाती थी जिनका कि साधारण लोगों में से उदय होता था और राजपूत राजाओं ने तथा मरहठा सर्दार शिवाजी ने भी क्षत्रिय की पदवी ग्रहण की थी ।

बंगाल के सेन लोग आज कल वैद्य हैं अर्थात् वे औषधि करनेवाली जाति के हैं और इस कारण उनका यह अनुमान है कि बंगाल के प्राचीन सेन राजा भी इसी जाति के थे । परन्तु इस कल्पना के पहिले तो यह दिखलाना चाहिए कि पश्चिमी वा दक्षिणी भारतवर्ष में पहिले वैद्यों की एक जुदी जाति थी, जिससे कि बंगाल के सेनवंशी राजाओं की उत्पत्ति होना सम्भव हो सकता है । हम अन्यत्र दिखला चुके हैं और फिर दिखलावेंगे कि मनु के समय में और उसके कई शताब्दियों पीछे तक न तो कायस्थों और न वैद्यों की कोई जुदी जाति थी । लेखक तथा औषधि का व्यवसाय करने वाले लोग उस समय तक भी आर्यों की

वही क्षत्रिय और वैश्य जातियों में सम्मिलित थे, और उनकी भिन्न भिन्न जाति केवल आज कल के समय में हुई है। तब हम यह कैसे विचार सकते हैं कि सेन राजा लोग जाति के वैद्य थे ?

आज तक भी बंगाल के बाहर किसी प्रान्त में वैद्यों की जुदी जाति नहीं है। अतएव हम इस कथन से क्या समझ सकते हैं कि सेन राजा लोग जो कि बंगाल में पश्चिमी वा दक्षिणी भारतवर्ष से आए थे जाति के वैद्य थे।

सच्ची बात तो यह है कि बंगाल के सेनवंशी राजा पश्चिमी वा दक्षिणी भारतवर्ष के किसी राज्यवंश, सम्भवत: सौराष्ट्र के वल्लभीसेन वंश वा दक्षिणी भारतवर्ष के किसी सेनवंश की सन्तान थे। चाहे जो कुछ हो पर इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि बंगाल के राज्यवंश का संस्थापक किसी वीरवंश वल्लभी वा राजपूत वा वैश्य से उत्पन्न हुआ और उसने एक राज्य स्थापित करने के कारण क्षत्रिय की पदवी को यथार्थ रूप से ग्रहण किया।

पूर्वी बंगाल के सेन वैद्य लोगों का वल्लालसेन तथा उसके उत्तराधिकारियों से सम्बन्ध जोड़ने के ठीक और काफी प्रमाण हो सकते हैं परन्तु यह कहने के पलटे में कि प्राचीन राजा लोग वैद्य थे और बंगाल में खलबट्टा मलहम और जड़ी लेकर आए थे, यह कहना ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक ठीक होगा कि प्राचीन सेन वंश के वैश्य वा क्षत्रिय राजाओं की सन्तान अब बंगाल की आधुनिक वैद्य वा औषधि करने वाली जाति हो गई है।

हम लोगों के लिये बंगाल के लोगों की जाति निश्चित करना बहुत आवश्यक है। बंगाल में आर्य्य लोग सदा से बहुत कम रहे हैं और आज तक भी ऐसा ही है। ब्राह्मण लोग आर्य्य वंशज हैं, परन्तु वर्ण ब्राह्मणों को छोड़ कर जो कि उसी जाति के हैं जिनका वे कर्म करते हैं। कायस्थ लोग भी आर्य्य वंशज हैं परन्तु उन नीच और खेती करने वाली जातियों (भण्डारियों इत्यादि) को छोड़ कर जो कि अपने को कायस्थ कहते हैं पर साधारण: शूद्र समझे जाते हैं। वैद्य लोगों की जाति बहुत छोटी है और सम्भवत: वे शुद्ध आर्य्य वंश के अर्थात् प्राचीन वैश्यों की सन्तान है। वाणिज्य करने वाली जातियों में सुवर्ण वणिक तथा कुछ अन्य जातियां न्यून वा अधिक आर्य्य वंश की हैं। कुम्हार तांती, लुहार, सोनार, तथा अन्य शिल्पकार कुछ अंश में आर्य्यवंशज हैं और उनकी उत्पत्ति प्राचीन वैश्य जाति से हुई है और वे भिन्न भिन्न व्यवसाय करने के कारण आधुनिक समय में भिन्न भिन्न जाति के हो गए हैं। इसके साथ ही इन आर्य्य जातियों में आदि वासियों के खून का अधिक सम्मेल है। जो आदि वासी लोग विजयी आर्य्यों के सिखाए हुए व्यवसाय को करने लगे वे अन्त में उन्हीं लोगों के व्यवसाय की जाति में सम्मिलित हो गए। इनके सिवाय खेती चराई, अहेर करने वाली तथा मछली मारने वाली बड़ी जातियां, कैवर्त्त, चाण्डाल, और लाखों खेती करने वाले मुसल्मान निस्सदेह इस देश के अनार्य्य आदि वासियों की सन्तान हैं। इनके भी सिवाय बागदी,

सौरे, डोम हरी इत्यादि वे आदि वासी हैं जो कि अब तक पूरी तरह से हिन्दू नहीं बनाए गए हैं।

अब हम उड़ीसा के इतिहास की ओर झुकेंगे। बंगाल की नाईं उड़ीसा में भी सम्भवत: आर्य लोग पहिले पहल दार्शनिक काल में आकर बसे थे परन्तु उड़ीसा में, चट्टानों में कटी हुई गुफाओं और भवनों में, वहां के प्राचीन आर्य्य वासियों के स्मारक अब तक वर्त्तमान हैं जो कि बंगाल में नहीं हैं। इस भूमि में बौद्ध उपदेशक लोग अपने धर्म्म का प्रचार करने के लिये और गुफाओं में शान्ति और कठिन ध्यान के साथ अपना जीवन व्यतीत करने के लिये आए और इनमें से कुछ गुफाएं अशोक के समय से पहिले की हैं। कटक और पुरी के बीचो बीच जंगलों में दो बलुए पत्थरों की पहाड़ियां एकाएक उठी हुई हैं और इन पहाड़ियों की चोटियों पर तथा उनके चारों ओर अनेक कोठरियां गुफाएं और इमारते हैं। इनमें से सब से प्राचीन गुफाओं में केवल एक एक कोठरी है जो कि ऐसे मनुष्यों को छोड़ कर और किसी के रहने के योग्य नहीं हैं जिन्होंने कठिन एकान्त में अपना जीवन बिताने का निश्चय कर लिया था। कुछ समय बीतने पर इससे बड़ी गुफा खोदी जाने लगीं। उनमें पत्थर की नक्काशी के काम भी होने लगे और सब से अन्तिम समय की बनी हुई गुफाएं तो बड़े उत्तम भवन हैं जो कि बहुत से सन्यासियों के तथा राजाओं और रानियों के भी रहने योग्य हैं। इसमें बहुत कम सन्देह हो सकता है कि अशोक के कलिंग विजय करने पर ये उत्तम बौद्ध गुफाएं बनाई गईं, और हम यह भी देख चुके हैं कि उड़िसा में अशोक के कुछ शिलालेख भी मिले हैं।

बौद्ध काल का उड़ीसा का इतिहास हमें बहुत ही कम विदित है। इस देश के इतिहास की खोज पहिले पहिल स्टर्लिंग साहेब ने की थी और उन्हें जो बातें विदित हुईं वे "एशियाटिक रिसर्चेज़" के १५ वें भाग में प्रकाशित हुई हैं। उस समय से सर विलियम हण्टर और डाकूर राजेन्द्र लाल का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ है

यह देखने में आवेगा कि सब से अन्तिम बौद्ध राजा लोग यमन कहे जाते थे परन्तु यह बात विदित नहीं है कि बेक्ट्रिया के यूनानियों से उनकी उत्पत्ति होने के कारण से वे यमन कहलाते थे अथवा केवल बौद्ध होने के कारण। ययाति केशरी ने यवनों को सन् ४७४ ई० में निकाल दिया और केशरी वंश को स्थापित किया तथा पौराणिक हिन्दू धर्म्म का प्रचार किया। केशरी वंश ने लगभग ७ शताब्दियों तक राज्य किया और उड़ीसा का प्रमाणिक इतिहास इसी वंश से प्रारम्भ होता है, निम्न लिखित वंशक्रम की सूची जो कि डाकूर हण्टर साहब से लीगई है हमारे पाठकों को मनोरञ्जक होगी—

	सन्		
ययाति केशरी	४७६	वृद्ध ,,	७०६
सूर्य्य केशरी	५२६	बट ,,	७१५
अनन्त ,,	५८३	गज ,,	७२६
अलबु ,,	६२३	बसन्त केशरी	७३८
कनक ,,	६७७	गन्धर्व ,,	७४०
वीर ,,	६९३	जनमेजय ,,	७५४
पद्म ,,	७०१	भरत ,,	७६३

कलि	,,	७७८	गोविंद	,,	९८९
कमल	,,	७९२	नरसिंह	,,	१०१३
कुण्डल	,,	८११	नृत्य	,,	९९९
चन्द्र	,,	८२९	कूर्म केशरी		१०२४
वीरचन्द्र	,,	८४६	मत्स्य	,,	१०३४
अमृत	,,	८६५	बराह	,,	१०५०
विजय केशरी		८७५	वामन	,,	१०६५
चन्द्रपाल	,,	८९०	परशु	,,	१०७८
मधुसूदन	,,	९०४	चन्द्र	,,	१०८०
धर्म	,,	९२०	सुजन	,,	१०९२
जन	,,	९४१	मालिनि	,,	१०९९
नृप	,,	९४१	पुरञ्जन	,,	११०४
मकर	,,	९५३	विष्णु	,,	११०७
त्रिपुर	,,	९६१	इन्द्र	,,	१११९
माधव	,,	९७१	सुवर्ण	,,	११२३–११३२

[केशरी वंश की समाप्ति]

केशरी राजाओं की राजधानी भुवनेश्वर में थी जिसे कि उन्होंने बहुत से मन्दिरों और इमारतों से सुशोभित किया था जिनके शेषभाग भारतवर्ष में हिन्दुओं की गृहनिर्म्माण विद्या के सब से उत्तम नमूने हैं। सारा स्थान ऐसी इमारतों से भरा हुआ है और केशरी वंश की वृद्धि के समय यह नगर मन्दिरों और सुन्दर इमारतों के लिये बड़ा सुन्दर रहा होगा।

कहा जाता है कि पहिले राजा ययाति ने इस राजधानी को स्थापित किया था और उसके नाम से विदित होता है कि उस समय शिव वा भुवनेश्वर उड़ीसा के हिन्दुओं का सब से प्रसिद्ध देवता था। जाजपुर ययाति की दूसरी राजधानी थी और वहाँ जो बड़ी मूर्तियां मिली हैं उनसे इस राज्यवंश की प्रबलता और महत्व तथा शिव और उसकी पत्नी में उनकी भक्ति प्रगट होती है। नृप केशरी जिसने कि सन ९४१ से ९५३ तक राज्य किया कटक के नगर का स्थापित करने वाला कहा जाता है।

केशरी वंश के उपरान्त एक नया वंश अर्थात् गंग वंश हुआ।

इस वंश का उत्पत्ति का अब तक पता नहीं लगा है परन्तु इस वंश के नाम तथा उसके सम्बन्ध की दन्त कथाओं से उनका बंगाल से सम्बन्ध प्रगट होता है और यह सम्भव है कि वे प्राचीन ताम्रलिपि वा तुम्लूक के निकट से आए हों। इस वंश के उदय के साथ धर्म्म का भी परिवर्तन हुआ और जिस भांति केशरी वंश ने बौद्ध धर्म्म को दबाकर शिवपूजन का प्रचार किया था उसी भांति गंग वंश ने शिवपूजन को उठाकर बिष्णु पूजन का प्रचार किया। परन्तु फिर भी इनमें से किसी धर्म्म का भी उड़ीसा से पूर्णतया लोप नहीं हो गया था, वरन् इसके विरुद्ध तीनों धर्म्म साथ ही साथ प्रचलित थे और समय पाकर घट बढ़ जाते थे। बिष्णु पूजन आधुनिक रूप में आजकल का प्रचलित धर्म्म है।

हम डाक्टर हन्टर साहेब के ग्रंथ से गंग वंश की निम्न लिखित सूची देते हैं—

	ई०		
चोर गंग	११३२	संख वसुदेव	१३३७
गंगेश्वर	११५२	बलि वसुदेव	१३६१
एकजतकमदेव	११६६	बीर वसुदेव	१३८२
मदनमहादेव	११७१	कलि ,,	१४०१
अनंग भीम ,,	११७५	नेतु गतंत ,,	१४१४
राजराजेश्वर ,,	१२०२	नेत्र ,,	१४२९
लांगुलनरसिंह	१२३७	कपिलेन्द्र देव	१४५२
केशरी ,,	१२८२	पुरुषोत्तम ,,	१४७९
प्रताप ,,	१३०७	प्रताप रुद्र ,,	१५०४
घटिकन्य ,,	१३२७	कलिंग ,,	१५३२
कपिल ,,	१३२९	कल्हरूग ,,	१५३३ १५३४
शंख भसुर	१३३०		

[गंग वंश की समाप्ति]

इस वंश के पहिले कुछ राजा अपने समय में बड़े प्रतापी हुए। गंगेश्वर (११५२-११६६) ने गंगा से लेकर गोदावरी तक राज्य किया और अनंगभीमदेव (११७५-१२०२) जो कि एक बड़ा प्रबल राजा था आधुनिक जगन्नाथ के मन्दिर का बनवाने वाला कहा जाता है। इसके उपरान्त कहा जाता है कि पुरुषोत्तम देव (१४७९-१५०४) ने दक्षिणी भारतवर्ष में कांची के राजा को पराजित किया और उसकी पुत्री से विवाह किया और जिस समय वैष्णव धर्म का

प्रचारक चैतन्य उड़ीसा में आया उस समय उसके उत्तराधिकारी प्रतापरुद्र देव का राज्य था।

गंगवंश के अन्तिम राजा को गोविन्द विद्याधर ने मार कर राज्य ले लिया परन्तु उसके राज्य काल (१५३४-१५४१) में मुसल्मानों से युद्ध आरम्भ हुआ। इसके उपरान्त ४ राजा गद्दी पर बैठे अर्थात् चक्रप्रताप (१५४१-१५४९) नरसिंहजन (१५४९-१५५०) रघुराम चोत्र (१५५०-१५५१) और मकुन्ददेव (१५५१-१५५९)। इसी अन्तिम राजा के राज्य में प्रसिद्ध मुसल्मान सेनापति कलपहर ने इस प्रान्त में आक्रमण किया, जाजपुर के निकट के युद्ध में राजा को हराया और मार डाला, जगन्नाथ के नगर को लूटा और हिन्दू राज्य का नाश कर दिया।

इस भांति उत्तरी भारतवर्ष और बंगाल के विजय के लगभग ४ शताब्दी पीछे तक उड़ीसा ने अपनी स्वतंत्रता स्थिर रखी थी और लगभग १५६० ईस्वी में उसे मुसल्मानों ने जीता।

——०——

५ अध्याय।

कश्मीर और दक्षिणी भारतवर्ष।

हम पहिले किसी अध्याय में प्रतापी विक्रमादित्य के समकालीन मातृगुप्त के समय तक कश्मीर का इतिहास लिख चुके हैं अब हम मातृगुप्त के उत्तराधिकारियों के नाम बारहवीं शताब्दी के बीच तक देते हैं जब कि कल्हण के इतिहास की समाप्ति होती है। कल्हण के उपरान्त का इतिहास अन्य ग्रंथकारों ने लिखा है।

हमें केवल इतना कह देना है कि दुर्लभवर्द्धन के समय से (जो कि मातृगुप्त के उपरान्त सातवां राजा था) कल्हण की दी हुई तिथियां पूर्णतया विश्वास योग्य हैं। कल्हण के अनुसार दुर्लभवर्द्धन का राज्य सन ५९८ में आरम्भ हुआ। मातृगुप्त और दुर्लभवर्द्धन के बीच ६ राजाओं ने राज्य किया और यदि हम इनमें से प्रत्येक राजा के लिये १५ वर्ष का औसत समय दें तो मातृगुप्त का राज्य छठीं शताब्दी के प्रारम्भ में निश्चित होता है।

परन्तु कल्हण को शक संवत ने भ्रम में डाल दिया था और उसने विक्रमादित्य और मातृगुप्त का राज्य इस संवत के आरम्भ में समझा। अतएव उसे इन छओ राज्यों को (मातृ गुप्त से लेकर दुर्ल्लभ वर्द्धन तक) पांच शताद्वियों में बांटना पड़ा और इसके लिये उसने एक राज्य अर्थात् रणादित्य के राज्य का समय ३०० वर्ष रक्खा है। इसी कारण दुर्लभवर्द्धन के समय के पहिले जो तिथियां कल्हण ने दी हैं वे ठीक नहीं हैं।

मातृगुप्त ने राज्य त्याग ५० ई० में किया		उत्पला पीर (कलहण की तिथि) ८५२
प्रवरसेन	} ५५०–५९८	अवन्ति वर्म्मन ,, ८५५
युधिष्ठिर		शंकर ,, ८८३
नरेन्द्रादित्य		गोपाल ,, ९०२
रणादित्य		संकट ,, ९०४
विक्रमादित्य		सुगन्धा ,, ९०४
बालादित्य		पार्थ ,, ९०६
दुर्लभ वर्द्धन (कल्हँण की तिथि)	५९८	निर्जित ,, ९२१
		चक्र वर्म्मन ,, ९२२
दुर्लभक ,,	६३४	सुर ,, ,, ९३३
चन्द्रापीर ,,	६८४	पार्थ (दूसरी बार) ९३४
तारा ,, ,,	६९३	चक्र वर्म्मन (दूसरी और
ललितादित्य ,,	७६९	तीसरी बार) ,, ९३५
कुवलयापीर ,,	७३३	त्रिभुवन ,, ,, ९७३
वज्रादित्य ,,	७३४	भीम गुप्त ,, ९७५
पृथिव्यापीर ,,	७४१	उनमत्तावन्ति ,, ९३७
संग्राम ,, ,,	७४५	सुर वर्म्म ,, ९३९
जया ,, ,,	७४५	यशस्कर ,, ९३९
ललिता ,, ,,	७७६	वर्नट ,, ९४८
संग्राम ,, ,,	७८८	संग्राम ,, ९४८
चिप्पट जया ,, ,,	७९५	पर्व गुप्त ,, ९४८
अजिता ,, ,,	८१३	क्षेम गुप्त ,, ९७५
अनंग ,, ,,	८४९	अभिमन्यु ,, ९५८

नन्दिगुप्त	,,	९७२	रोड्डु	,,	११११
दिद्दा	,,	९८०	सल्हण	,,	११११
संग्राम	,,	१००३	सुस्सल	,,	१११२
हरिराज	,,	१०२८	भिक्षाचर	,,	११२०
अनन्तदेव	,,	१०२८	सस्सल	,,	११२१
रणादित्य	,,	१०६३	सेन्ह देव	,,	११२७
उत्कर्ष	,,	१०८९	कल्हण का इतिहास इस		
हर्ष	,,	१०८९	राजा के राज्य के बाइसवें		
उच्चल	,,	११०१	वर्ष में समाप्त होता है।		

कल्हण और उसके अनुवादक को धन्यवाद है कि उनसे पाठकों को कश्मीर के इतिहास की कुछ मनोरंजक बातें विदित होती हैं। मातृगुप्त की कथा इतिहास में सब से मनोरंजक है। कहा जाता है कि वह प्रतापी विक्रमादित्य की सभा का कवि था और इस सम्राट ने उसकी योग्यता के पुरस्कार की भांति उसे कश्मीर का राज्य दिया। हम नहीं जानते कि इस कवि ने किस भांति राज्य का प्रबन्ध किया परन्तु जब उसने अपने संरक्षक की मृत्यु का समाचार सुना तो उसने शोक के कारण संसार त्याग दिया और वह सन्यासी होकर बनारस चला गया।

पहिले राजा का भतीजा प्रवरसेन मातृगुप्त का उत्तराधिकारी हुआ और इस कवि ने प्रस्थान करने के पहिले एक अद्भुत पुल की छन्द में प्रशंसा की है जिसे कि नए राजा ने वितस्ता नदी पर बनाया था। प्रवरसेन बड़ा प्रतापी राजा हुआ उसने अपना राज्य सौराष्ट्र तक बढ़ाया और कहा जाता है कि उसने विक्रमादित्य के उत्तराधिकारी प्रथम

शीलादित्य को पराजित किया और उज्जयिनी से वह सिंहासन ले आया जिसे कि विक्रमादित्य ने विजय चिन्ह की भांति पाया था। यहां पर हमें हुनत्सांग के इस कथन का प्रमाण मिलता है कि प्रथम शीलादित्य प्रतापी विक्रमादित्य का उत्तराधिकारी हुआ।

इसके उपरान्त का बड़ा राजा प्रसिद्ध ललितादित्य हुआ जिसका ३० वर्ष का बड़ा राज्य सन ६९७ से प्रारम्भ होता है। उसने अपना राज्य बहुत दूर दूर तक फैलाया और कन्नौज के राजा यशोवर्मन को पराजित किया और वहां से भवभूति इस राजा के साथ आया जो कि कालिदास के उपरान्त भारतवर्ष का सब से प्रसिद्ध नाटककार है। ललितादित्य तब पूरब और दक्षिण की ओर बढ़ा और कहा जाता है कि उसने कलिंग गौड़ और कर्नाट को भी पराजित किया और तब "एक द्वीप से दूसरे द्वीप में होते हुए समुद्र को पार किया" हम नहीं जानते कि यह कहां तक सत्य है और इसमें कहां तक कवि की अत्युक्ति है। वह विन्ध्या को पार कर अवन्ति में होता हुआ अपने देश को लौटा। उसने बहुत सी इमारतें बनवाईं और कहा जाता है कि अज्ञात उत्तर को विजय करने के निमित्त हिमालय को पार करने के यत्न में उसने अपना जीवन खोया।

ललितादित्य केवल भवभूति कवि का ही नहीं वरन सिंधु के जीतने वाले मुहम्मद कासिम का भी समकालीन था। कहा जाता है कि ललितादित्य ने तुरकों को तथा सिंध के छली राजा को पराजित किया था। यह कदाचित

कासिम का उत्तराधिकारी होगा जिसके अधीन सन् ७५०ई० तक सिंध रहा।

वज्रादित्य की जिसने ७४४ से ७४१ ई० तक राज्य किया बहुत सी स्त्रियां थीं। उसने बहुत से लोगों को म्लेच्छों के हाथ बेच डाला और उनकी बुरी रीतियों का प्रचार किया।

प्रतापी जयापीर ने सन् ७५५ से ७७६ ई० तक ३१ वर्ष राज्य किया और पाणिनि पर पातंजलि के महाभाष्य को संगृहीत करने के लिये विद्वानों को नियत किया। यह भी कहा जाता है कि वह पौन्द्रवर्द्धन में गया जो कि गौड़ के जयन्त राजा के अधीन था और उसने जयन्त की पुत्री कल्याणा देवी से विवाह किया। एक बहुल विजयी होने के कारण उसने नेपाल में भी प्रवेश किया परन्तु वहां हराया और कैदकर लिया गया पर फिर भाग आया। जयापीर अपने कायस्थ मंत्रियों और कोषाध्यक्षों पर विश्वास करता था और एक ब्राह्मण इतिहासकार लिखता है कि ब्राह्मण के शाप से उसकी मृत्यु हुई।

अवन्तिवर्म्मन् ने सन् ८५५ ई० में एक नए वंश को स्थापित किया और सन् ८८३ तक राज्य किया। उसके राज्य में बड़ी बड़ी बाढ़ो ने बड़ी हानि पहुंचाई और कहा जाता है कि सुय्यु नामक एक देशहितैषी ने वितष्टा नदी के जल के लिये मार्ग साफ किया और अधिक जल को निकालने के लिये नहरें भी खुदवाईं। सिंधु बाईं ओर और वितष्टा दहनी ओर बहती थी। वे दोनों वैन्यस्वामिन पर मिलाई गईं और इस प्रकार नदियों का मार्ग बदलने पर उसने

महापद्म झील के पानी से रक्षा के लिये एक बड़ी बांध बंधवाई और इस झील को भी वितष्टा में मिलाया।

अवन्ति वर्म्मन् पहिला वैष्णव राजा देखने में आता है उसका उत्तराधिकारी शंकरवर्म्मन् बड़ा विजयी हुआ और उसने अपना राज्य गुजरात तक बढ़ाया परन्तु कायस्थ कोषाध्यक्षों पर विश्वास करने के कारण वह अपने देश के ब्राह्मणों का घृणापात्र बन गया। सन् ९०२ ईस्वी में सुरेन्द्रवती और उसकी अन्य दो रानियां उसके साथ चिता में सती हो गईं।

उसकी एक दुराचारी रानी सुगन्धा ने तांत्रियों और एकांगों की सहायता से जो कि सम्भवतः दो पन्थ के लोग थे, सन् ९०४ से ९०६ ई० तक दो वर्ष राज्य किया। परन्तु वह शीघ्र ही राज्यसिंहासन से उतारी गई और तांत्री लोग पारितोषिक और आदर पाने के अनुसार एक के उपरान्त दूसरे राजा को सिंहासन पर बैठाते रहे। इसके उपरान्त हमें लगातार अयोग्य और दुराचारी राजाओं की नामावली मिलती है जिनमें से क्षेमगुप्त (९५०-९५८) सब से अधिक निर्लज्ज और दुराचारी हुआ। उसका पुत्र अभिमन्यु निष्कलंक राजा था और उसने १४ वर्ष तक राज्य किया। इसके उपरान्त उसकी माता दिद्दा (क्षेमगुप्त की विधवा) ने तीन बालक राजाओं को मार कर तेइस वर्ष तक (९८० से १००३) तक राज्य किया। जिस समय कश्मीर के राज्य को ये दृश्य कलंकित कर रहे थे उस समय एक बड़ा शत्रु निकट था। महमूद गज़नी ने दिद्दा का राज्य समाप्त होने के पहिले अपना आक्रमण आरम्भ कर दिया था।

उसके उत्तराधिकारी क्षेमपति ने तुरत आक्रमण करने वाले हम्मीर (महमूद) के विरुद्ध शाहराजा को सहायता भेजी। परन्तु वह व्यर्थ हुई। इस भयानक आक्रमण करने वाले ने कश्मीरियों और राजपूतों की सेना को पराजित किया और "शाहिराज्य" को अपने राज्य में मिला लिया इसके उपरान्त एक दूसरी सेना भेजी गई परन्तु विजयी मुसल्मानों के साम्हने सेना अपने देश की ओर भागी।

अनन्त ने ३५ वर्ष राज्य करने के उपरान्त अपने पुत्र रणादित्य को राज्य दे दिया जो कि दुराचारी प्रकृति का था। उसने भी २६ वर्ष तक राज्य किया और सन् १०८९ में मरा। उसका पुत्र उत्कर्ष उसका उत्तराधिकारी हुआ परन्तु उसके योग्य भ्राता हर्ष ने उसे शीघ्रही राज्य सिंहासन से उतार दिया। इसके राज्य में देश में बहुत से युद्ध हुए और अन्त में राजा की हार हुई। वह सन्यासी होगया परन्तु पता लगवा कर वह मार डाला गया।

कश्मीर की एकान्त स्थिति ने राज्य के कई शताब्दियों के उपरान्त तक अपनी स्वतंत्रता स्थिर रखी परन्तु उसके इतिहास में पाठकों के लिये कोई बड़ी मनोरञ्जक घटना नहीं हुई, अन्त में इस राज्य को मुसल्मान आक्रमण करने वालों ने जीत लिया और अकबर ने उसे अपने राज्य में मिला लिया।

अब हम दक्षिणी भारतवर्ष के इतिहास के ओर झुकेंगे।

हम देख चुके हैं कि दार्शनिक काल में ईसा के पहिले दसवीं शताब्दी के उपरान्त दक्षिणी भारतवर्ष को आर्यों ने हिन्दू बनाया। इसी काल में दक्षिण में अन्ध्र का बड़ा

राज्य स्थापित हुआ और वहां विद्या और स्मृति के भी कुछ सूत्र सम्प्रदाय स्थापित हुए। सन् ईस्वी के उपरान्त अन्ध्र लोगों ने मगध और उत्तरी भारत वर्षतक अपना राज्य बढ़ाया और कई शताब्दियों तक वे भारतवर्ष में सर्व प्रधान रहे। अन्धों और गुप्तों के पतन के उपरान्त बल्लभी लोग गुजरात और पश्चमी भारतवर्ष के स्वामी हुए और उनके उत्तराधिकारी राजपूत लोग हुए।

इस बीच में जब कि बल्लभी लोगों का गुजरात में उदय हुआ था तो दक्षिण में चालुक्यों की एक राजपूत जाति बड़ी प्रबल हुई और नर्बदा और कृष्णा के बीच का समस्त देश उसके अधीन रहा। दक्षिण में चालुक्यों का राज्य पांचवीं शताब्दी के अन्त से प्रारम्भ हुआ और २० वीं शताब्दी के अन्त तक अर्थात् उस समय तक रहा जब कि उत्तरी भारतवर्ष को मुसल्मानों ने विजय किया था। चालुक्यों की पश्चिमी शाखा कोकन और महाराष्ट्र देश पर राज्य करती थी और उनकी राजधानी कल्याण में थी। इसी जाति की पूर्वी शाखा पूर्वी दक्षिण में राज्य करती थी और उसकी राजधानी गोदावरी नदी के मोहाने के निकट राजमन्द्री में थी। सर वाल्टर ईलियट साहब ने सन् १८५८ ई० में इन दोनों राज्यवंशों के राजाओं की सूची प्रकाशित की थी और तब से अन्य ग्रन्थकारों ने इन सूचियों की नकल की है।

———०———

चालुक्य वंश।

पश्चिमी शाखा। राजधानी-कल्याण।

१ जयसिंह बिजयादित्य प्रथम ४७० ई०
२ राजसिंह विष्णुवर्द्धन
३ विजयादित्य द्वितीय
४ पुलकेशिन प्रथम
५ कृत्तिवर्म्म प्रथम
६ मंगलीश
७ सत्याश्रय पुलकेशिन द्वितीय (शिलादित्य द्वितीय और हुनत्सांग का समकालीन) ६०९
८ अमर
९ आदित्य
१० विक्रमादित्य प्रथम
११ बिनयादित्य
१२ बिजयादित्य तृतीय
१३ विक्रमादित्य द्वितीय
१४ कृत्तिवर्म्म द्वितीय
१५ कृत्तिवर्म्म तृतीय ७०९
१६ तैलप प्रथम
१७ भीमराज
१८ कृतिवर्म्म चतुर्थ
१९ बिजया दित्य चतुर्थ
२० विक्रमादित्य तृतीय वा तैलप द्वितीय (इस ने रत्त पुल से राज्य छीने जाने उप-रान्त उसे प्राप्त किया) ९७३
२१ सत्याश्रय द्वितीय
२२ विक्रमादित्य चतुर्थ
२३ जहसिंह
२४ सोमेश्वर प्रथम
२५ सोमेश्वर द्वितीय
२६ विक्रमादित्य पंचम
२७ सोमेश्वर तृतीय ११२७
२८ जगदेव ११३८
२९ तैलक तृतीय ११५०
३० सोमेश्वर चतुर्थ (इन्हें कलचुर्य्य वंश के विजल ने राजगद्दी से उतार दिया और राज्य का दक्षिणी भाग मैसूर के बल्लाल वंश के अधीन हुआ) ११८२

पूर्वी शाखा । राजधानी राजमन्द्री ।

ई०	
१ विष्णुवर्द्धन द्वितीय (६०५)	२० युद्ध मल्ल
२ जयसिंह प्रथम	२१ राजभीम द्वितीय
३ इन्द्रराज	२२ अम्मराज द्वितीय
४ विष्णुवर्द्धन तृतीय	२३ धनार्णव
५ मंग युवराज	(२७ वर्ष राजगद्दी शून्य रही)
६ जयसिंह द्वितीय } भाई	२४ कृत्ति वर्म्म
७ कोकिल } भाई	२५ विमलादित्य
८ विष्णुवर्द्धन चौथा } भाई	२६ राजनरेन्द्र
९ विजयादित्य प्रथम	२७ राजेन्द्र चोल
१० विष्णु वर्द्धन पंचम	२८ विक्रमदेव चोल
११ नरेन्द्र मृगराज	२९ राज राज चोल (एक वर्ष के लिये राज प्रतिनिधि रहा)
१२ विष्णु वर्द्धन षष्ठ	३० वीरदेव चोल (१०७९–११३५) इसके उपरान्त वारंगल के ककत्य वंश के अधीन यह देश हो गया)
१३ विजयादित्य द्वितीय (कलिंग विजय किया)	
१४ चौलुक्य भीम प्रथम	
१५ विजयादित्य तृतीय	
१६ अम्मराज	
१७ विजयादित्य चतुर्थ	
१८ तलप	
१९ विजयादित्य पंचम	

केवल राजाओं की सूची से पाठकों को देश के इतिहास का कोई ज्ञान नहीं हो सकता और दुर्भाग्य वश उपरोक्त सूचियों के सिवाय चालुक्यों के विषय में हमें और

कोई बात विदित नहीं है। कहा जाता है कि प्राचीन अर्थात् पश्चिमी शाखा का संस्थापक वल्लभी राजाओं के संस्थापक भयर्क का सम्बन्धी था। चौथा राजा पुलकेशिन वही है जिसने कि हुनत्सांग के समय के एक सो वर्ष पहिले अमरावती के मठ को लूट लिया था और वहां से बौद्ध धर्म को उठा दिया था। उसने सम्भवतः चोल को भी विजय किया, कंजीवरम को जला डाला और वहां से पल्लावा लोगों को भगा दिया, जो कि चालुक्यों के उदय के पहिले दक्षिण में प्रधान जाति थे। सातवां राजा पुलकेशिन द्वितीय कन्नौज के शीलादित्य द्वितीय का बड़ा समस्पर्धी था जिसे कि शीलादित्य कभी पराजित न कर सका और हम हुनत्सांग की यात्रा में इस बड़े और लड़ाके राजा के अधीन मरहठों का उत्तेजक वृत्तान्त लिख चुके हैं। जान पड़ता है कि इस वंश की प्रबलता लगभग सन् ७५० ई० तक रही। इसके उपरान्त कुछ समय के लिये तैलप द्वितीय के समय तक इसका अधिकार घटा रहा। तैलप द्वितीय ने अपने सम्राज्य को सन् ९७३ ई० में पुनः प्राप्त किया। इसके पीछे दो शताब्दियों तक और यह वंश अच्छी अवस्था में रहा और फिर उसकी समाप्ति हो गई।

पूर्वी वा छोटी शाखा ने अपना राज्य उत्तर की ओर कटक की सीमा तक बढ़ाया और अपनी राजधानी राज-महेन्द्री अर्थात् आधुनिक राजमुंद्री में स्थापित की। उनके इतिहास में कई बार उलट फेर हुए परन्तु यह प्राचीन वंश सदा अपने अधिकार को प्राप्त करने में सफल होता गया यहां तक कि यह राज्य विवाह के द्वारा राजेन्द्र चोल के

पास चला गया जो कि दक्षिणी भारतवर्ष का उस समय प्रधान सम्राट था और जिसके समय में चोल लोगों के प्रताप की सब से अधिक वृद्धि हुई थी।

चालुक्य लोग भारतवर्ष के अन्य सब राजपूतों की भाईं कट्टर हिन्दू थे और बौद्ध धर्म्म के विरोधी थे। हम आगे चल कर एक अध्याय में इस वंश की बनाई हुई हिन्दू इमारतों का कुछ वृत्तान्त देंगे।

अब हम कृष्णा नदी के दक्षिण ओर द्रविड़ के प्राचीन देश को पाते हैं जो कि दक्षिण में कन्याकुमारी तक फैला हुआ है। जान पड़ता है कि प्राचीन द्रविड़ लोगों में आर्यों की सभ्यता का प्रचार होने के पहिले वे लोग अपनी ही रीति से सभ्य थे। हम पंड्यों के विषय में लिख चुके हैं जिन्होंने नितांत दक्षिण में ईसा के कई शताब्दी पहिले अपना राज्य स्थापित किया था। स्ट्रेबो ने लिखा है कि आगस्टस के पास राजा पेण्डिअन के यहां से एक राजदूत आया था और यह अनुमान किया जाता है कि यह राजदूत पांड्य देश का था। "पिरिप्लस" के समय में पांड्यों के राज्य में मालाबार तट भी सम्मिलित था और प्राचीन ग्रन्थकारों का इस देश के विषय में बहुधा उल्लेख होने के कारण जान पड़ता है कि ईसा के पहिले और पीछे की शताब्दियों में वह इतना सभ्य था कि पश्चिमी जातियों के साथ उसका बड़ा व्यापार होता था। इस राज्य की राजधानी दो बार बदली गई और अन्त में मदुरा में नियत हुई और यहीं वह टालेमी के समय में तथा इसके उपरान्त रही।

पाण्ड्य राज्य भारतवर्ष के नितान्त दक्षिण में था और उसमें एक मोटे हिसाब से आज कल के टिन्नीवेली और मदुरा के ज़िले सम्मिलित थे। इसके उत्तर की ओर सन् ईस्वी के पहिले एक दूसरे सभ्य राज्य अर्थात् चोल के राज्य की उत्पत्ति हुई जो कि कावेरी नदी के समीप और उसके उत्तर की ओर फैला हुआ था। इस राज्य की राजधानी काञ्ची का नाम संस्कृत साहित्य में विद्या के लिये प्रसिद्ध है और वह हुएनत्सांग के समय में एक भरा पूरा नगर था और इस विद्या के केन्द्र से उत्तर में उज्जैनी और कन्नौज के साथ बराबर व्यवहार होते रहे होंगे। आठवीं तथा इसकी उपरान्त की शताब्दियों में चोल राजाओं का अधिकार कर्नाट और कलिंगन के बहुत से भाग में फैल गया।

एक तीसरे प्राचीन राज्य अर्थात् चेर राज्य में ट्रैवेनकोर, मालाबार और कैम्बटूर सम्मिलित थे। उसका उल्लेख टालोमी ने किया है और वह सन् ईस्वी के पहिले रहा होगा। केरल भी जिसमें कि मालाबार और कनारा सम्मिलित थे इससे सटा हुआ एक राज्य था और सम्भवतः वह बहुधा पांड्य राजाओं के अधिकार और रक्षा में था।

यह बात विदित हुई है कि अशोक की दूसरी सूचना में चोड़ा, पद, और केरलपुत्र देशों का उल्लेख है और यह अनुमान किया जाता है कि ये नाम चोल, पांड्य, और केर (वा केरल) राज्यों के लिये आए हैं। इससे यह विदित होगा कि भारतवर्ष के नितान्त दक्षिण के ये तीनों प्राचीन

हिन्दूराज्य ईसा के ३०० वर्षों से अधिक पहिले ही प्रसिद्ध हो चुके थे ।

दक्षिणी भारतवर्ष के इन प्राचीन तीनों राज्यों का विस्तार भिन्न भिन्न राजाओं और वंशों के अधिकार के अनुसार बढ़ता घटता रहा । पांड्य लोग सब से प्राचीन थे परन्तु सन् ईस्वी के उपरान्त चोल अर्थात् काञ्ची के राजा लोग सब से प्रसिद्ध और सब से प्रबल हुए और वे बहुधा चालुक्य वंश की पूर्वी शाखा से युद्ध करते रहे । पाठकों को पूर्वी चालुक्य राजाओं की सूची में राजेन्द्र चोल और उसके तीनों उतराधिकारियों के नाम मिलेंगे जो कि उस समय दक्षिणी भारतवर्ष के स्वामी थे ।

दसवीं शताब्दी के अन्त में मैसूर में एक बड़े राजपूत वंश अर्थात् बल्लाल वंश का उदय हुआ । ११ वीं शताब्दी में उन्होंने सारे कर्नाटक को अपने अधीन कर लिया और जैसा कि हम पहिले देख चुके हैं पश्चिमी चालुक्यों के दक्षिणी राज्य को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया । यह प्रबल वंश कर्नाटक और मालावार में सर्वप्रधान रहा यहां तक कि अंत में मुसल्मानों ने सन १३१० ईस्वी में उसका नाश कर डाला ।

अब हमें दक्षिण के एक हिन्दू राज्य का वर्णन करना है यद्यपि उसका इतिहास मुसल्मानों के समय से सम्बन्ध रखता है । कर्नाटक के बल्लाल वंश का नाश होने पर उनका स्थान एक नए वंश ने लिया जिसने कि सन् १३४४ ई० के लगभग विजयनगर में अपनी राजधानी स्थापित की । विजयनगर के स्थापित करने वाले दो राजा कहे जाते हैं

अर्थात् बुक्कराय और हरिहर जिन्होंने कि एक विद्वान ब्राह्मण माधव विद्यारण्य की सहायता से इसे किया। बुक्कराय के सब से प्राचीन ताम्रपत्र का समय १३७० ई० है। माधव जो कि सायन भी कहलाता है उसका प्रधान मंत्री था और वह हिन्दुओं के पवित्र ग्रन्थों का सबसे बड़ा और विद्वान भाष्यकार है जिसे भारतवर्ष ने उत्पन्न किया है। १४ वीं शताब्दी में एक बड़े हिन्दूराज्य के स्थापित होने के कारण थोड़े काल के लिये हिन्दुओं की विद्या पुनर्जीवित होगई और वेदों, दर्शन शास्त्रों, स्मृति और व्याकरण के भाष्यों के लिये, जो कि आज तक समस्त भारतवर्ष में प्रमाण समझे जाते हैं हम लोग सायन के अनुगृहीत हैं।

विजयनगर का हिन्दूराज्य दो सौ वर्ष से अधिक समय तक बढ़ा चढ़ा रहा। दक्षिण में जिन मुसल्मानी राज्यों का उदय हो गया था उनके बीच उसने अपना स्थान स्थिर रखा, मेल वा संधि और युद्ध के द्वारा देशों को जीता वा खोया। हिन्दु और मुसल्मानों के बीच पहिले से अधिक हेल मेल हो गया था। बहमनी राजा लोग राजपूत सेना को रखते थे और विजयनगर के राजा लोग मुसल्मानी सेना को रखते थे। उनके सर्दारों को भूमि देते थे और उनके लिये अपनी राजधानी में मसजिदें बनवाते थे।

परन्तु कई शताब्दियों में एक कट्टर जोश की उत्पत्ति हुई और अहमदाबाद बीजापुर और गोलकुण्डा, (जो कि प्राचीन बहमनी राज्य में से भिन्न राज्य बन गए थे) के मुसल्मानी सर्दारों ने हिन्दू राज्य के विरुद्ध

एका किया। कृष्णा नदी के तट पर टलीकोटा के निकट सन १५६५ ई० में एक बड़ा युद्ध हुआ और उसमें मुसल्मान लोगों ने विजय पाई। वृद्ध और बीर राजा का बड़ी निर्दयता से बध किया गया और उसका सिर कई शताब्दियों तक बीजापुर में तोहफे की नांई रखा रहा।

इस प्रकार विजयनगर के राज्य का नाश हुआ और यह दक्षिणी भारतवर्ष का हिन्दुओं का सबसे अंतिम बड़ा राज्य था। परन्तु मुसल्मानों का दक्षिणी भारतवर्ष की विजय पूर्ण नहीं हुई और कर्नाटक, ट्रैवेनकोर तथा अन्य स्थानों में छोटे छोटे सर्दार राजा जिमींदार और पोलीगार लोग अपना अधिकार जमाए थे जो कि बहुधा अपने पहाड़ी किलों में रहते थे और कर्नाटक में अंग्रेजों के युद्ध के समय में देखने में आए थे।

विजयनगर के अन्तिम राजा का भाई चन्द्रगिरि में आकर बसा और उसीकी एक सन्तान ने अंग्रेजों को फोर्ट सेण्ट ज्यार्ज (मद्रास) में सन् १६४० ई० में अर्थात् प्राचीन विजयनगर के राज्य के पतन होने के १०० वर्ष के भीतर बसने की आज्ञा दी थी। यह छोटी सी बात एक अद्भुत और मनोरञ्जक घटना है जो कि भूत काल को वर्तमान काल से मिलाती है।

——:o:——

अध्याय ६।

धर्म्म।

जो हिन्दू धर्म्म भारतवर्ष में बौद्ध धर्म्म के पहिले प्रचलित था वह साधारणतः वैदिक धर्म्म के नाम से प्रसिद्ध है और जिस रूप में हिन्दू धर्म्म ने बौद्ध धर्म्म के उपरान्त उसका स्थान ग्रहण किया वह साधारणतः पौराणिक धर्म्म कहालता है। वैदिक और पौराणिक धर्म्म में दो मुख्य भेद हैं अर्थात् एक तो सिद्धान्त में और दूसरा आचार में।

वैदिक धर्म्म अन्तिम समय तक तत्वों के देवताओं का धर्म्म था अर्थात् इन्द्र, अग्नि, सूर्य्य, वरुण, मरुत्स, अश्विनी, तथा अन्य देवताओं का, और यद्यपि ऋचाओं और उपनिषदों के बनाने वालों में एक सर्वप्रधान और सर्व व्यापक ईश्वर का विचार उदय हुआ परन्तु फिर भी राजा और सर्व साधारण लोग समान रीति से ऋग्वेद के प्राचीन देवताओं को अब भी बलिप्रदान करते थे। इसी भांति पौराणिक धर्म्म में भी ये सब देवता माने गए थे परन्तु इन देवताओं से कहीं ऊपर एक परमेश्वर अपने तीन रूपों में अर्थात् सृष्टि करने वाले ब्रह्मा, पालन करने वाले विष्णु और संहार करने वाले शिव के रूप में माना गया था। इस हिन्दू त्रैकत्व का मानना पौराणिक धर्म्म के सिद्धान्त में एक नई बात है और इस विचार को बौद्धत्रै-कत्व से उद्धृत न किए जाने का सन्देह करना असम्भव है।

आचार के विषय में पौराणिक धर्म्म की नई बात मूर्तिपूजा है। वैदिक धर्म्म अग्नि में होम करने का धर्म्म

था । बड़े प्राचीन समय से जो कुछ देवताओं को चढ़ाना होता था वह अग्नि में हवन किया जाता था और दार्शनिक काल के अन्त तक राजा, पुजेरी तथा नम्र गृहस्थ लोग अग्नि में हवन करते थे और मूर्तिपूजा को नहीं जानते थे । सन् ईस्वी के उपरान्त की शताब्दियों में बौद्ध धर्म्म में बिगड़ कर मूर्तिपूजा होगई थी और इस बात का सन्देह न करना असम्भव है कि आधुनिक हिन्दू धर्म्म ने मूर्तिपूजा को बौद्ध धर्म्म से ग्रहण किया है । यह निश्चय है कि बौद्ध काल में जिस समय मनुस्मृति बन रही थी उस समय मूर्ति पूजा का प्रचार होता जाता था और इस कट्टर स्मृतिकार ने उसकी निन्दा की है । परन्तु यह रीति दृढ़ता से प्रचलित होती गई यहां तक कि वह आधुनिक हिन्दू रीतियों और बिधानों का मूल तत्व हो गई है । अब अग्नि में हवन करना प्रायः एक बीती हुई कहानी है ।

वैदिक धर्म्म और पौराणिक धर्म्म के सिद्धान्त और आचार में ऐसा भेद है । परन्तु उस कट्टर बिचार के साथ जो कि हिंदू धर्म्म की प्रत्येक नई उन्नति में सदा पाया जाता है, पौराणिक ग्रंथकारों ने भी नवीन बात के दिखाव को बचाया है और प्राचीन वैदिक देवताओं के नाम में से त्रिमूर्ति के नामों को चुना है । ब्राह्मा अथवा ब्रह्मन्-स्पति ऋग्वेद में स्तुति का देवता था और जब उपनिषदों के बनाने वालों ने एक सर्वव्यापक ईश्वर होने का बिचार ग्रहण किया तब उन्होंने उस ईश्वर का नाम ब्रह्मन् रखा । अतएव यह नाम ईश्वर के शृष्टि उत्पन्न करने के कार्य्य के

लिये ठीक हुआ। ऋग्वेद में विष्णु सूर्य्य का नाम था जो कि सब प्राणियों का पालन करता है और इस कारण उसका नाम ईश्वर की पालन करनेवाली शक्ति के आधुनिक विचार के लिये उपयुक्त हुआ। रुद्र ऋग्वेद में बिजली वा बिजली के बादल का नाम था और ईश्वर की संहारक शक्ति के लिये इससे उत्तम और कोई नाम नहीं चुना जा सकता था। और जब ईश्वर की भिन्न भिन्न शक्तियों के नाम इस प्रकार भिन्न भिन्न रक्खे गए तो उन्होंने बहुत ही शीघ्र विशेष विशेष रूपों और स्थितियों को ग्रहण किया। सन् ईस्वी के लगभग मनु को शृष्टिकर्त्ता पालनकर्ता और संहारकर्ता का यह त्रैकत्व विदित नहीं था। परन्तु छटीं शताब्दी में कालिदास के समय तक यह जातीय विचार हो गया था।

जब कि सर्व साधारण की कल्पना ने ईश्वर की उन भिन्न भिन्न शक्तियों के लिये भिन्न भिन्न देवताओं की कल्पना करली थी तो इन देवताओं का सम्बन्ध देवियों से करने की आवश्यकता हुई। ब्रह्मा का सम्बंध सरस्वती से किया गया और इस संयोग का कारण यह है कि ऋग्वेद में ब्रह्मा स्तुति का देवता और सरस्वती सूक्तों की देवी थी। विष्णु का सम्बंध एक नई देवी अर्थात लक्ष्मी से किया गया जिसका कि प्राचीन संस्कृत के ग्रन्थों में कोई पता नहीं लगता। परन्तु इस कल्पना के कई कारण हैं कि जब ऋग्वेद के खेत के हल की लकीर सीता ने मनुष्य रूप धारण किया और वह भारतवर्ष में एक ऐतिहासिक काव्य की नायका हुई तो लक्ष्मी ने अन्न और धन की देवी

की भांति उसका स्थान ग्रहण किया और इस प्रकार वह पालन करनेवाले देवता की पत्नी होने के उपयुक्त हुई और अन्त में केनोपनिषद् में उमा एक निगूढ़ स्त्री है जो कि इन्द्र को ब्रह्मन का स्वभाव समझाती है। शतपथ ब्राह्मण में अम्बिका रुद्र की बहिन है और मुण्डकोपनिषद् में काली कराली, इत्यादि अग्नि की सातों जिह्वाओं के नाम हैं और रुद्र, अग्नि वा वज्ज्र का नाम है। पौराणिक ग्रन्थकारों ने इन सब बिखरी हुई बातों को एकत्रित किया और उमा और अम्बिका, दुर्गा और काली-भयानक संहार कर्त्ता, रुद्र, शिव वा महादेव की पत्नी के भिन्न भिन्न नाम रखे गए।

परन्तु जब कि हमने तीनों प्रधान देवता और उनकी स्त्रियों का उल्लेख किया तो हमने आधुनिक हिन्दूधर्म्म के विषय में केवल बहुत ही थोड़ी बात कही है। इस त्रैकत्व में से एक अर्थात् विष्णु वा पालनकर्ता के अवतारों के सम्बन्ध में लाखों कथाएं हैं। रामायण के नायक राम विष्णु के एक अवतार समझे जाते हैं, और छान्दोग्य उपनिषद् में देवकी के पुत्र कृष्ण ने जो कि अंगिरस के शिष्य थे और महाभारत के प्राचीन अंशों में केवल यादवों के एक सर्दार थे ईश्वर का रूप ग्रहण किया और विष्णु के दूसरे अवतार समझे जाने लगे। और जैसे जैसे कृष्ण अधिक प्रसिद्ध देवता होते गए तो पुराणों में उनके वृन्दावन की ग्वालिनों के साथ खेल करने की नई नई कहानियां बढ़ती गईं।

हम पहिले देख चुके हैं कि कृष्ण संस्कृत के पवित्र ग्रन्थों में एक प्राचीन नाम है। परन्तु उनका प्रधान देवता की भांति आधुनिक रूप और उनके जन्म के विषय की और कंस तथा निरपराधियों के मारे जाने की कहानियां तथा बाइबिल और भगवद्गीता में समानता के कारण बहुत से यूरप के विद्वानों का यह विचार हुआ है कि हिन्दुओं ने ईसाई कथाओं और विचारों को उद्धृत करके उनका कृष्ण के साथ सम्बन्ध किया है।

इंडियन एण्टिक्वेरी में कई वर्षों तक इस विषय का एक मनोरञ्जक विवाद चलता रहा। डाक्टर लोरिसनर ने सन् १८६९ में लिखते हुए हिन्दुओं का अनुगृहीत होना प्रमाणित किया, बम्बई के मिस्टर तेलंग और हेडेलबर्ग के प्रोफेसर विण्डिश ने इसका विरोध किया। प्रोफेसर भंडार्कर ने महाभाष्य में कृष्ण के देवता होने का उल्लेख दिखलाया है जो कि ईसा के पहिले दूसरी शताब्दी का ग्रन्थ है, और प्रोफेसर वेबर यद्यपि सन् ईस्वी की पहिली शताब्दी में ईसाई धर्म और भारतवर्ष के विचारों में परस्पर प्रभाव पड़ने को स्वीकार करते हैं तथापि वे डाक्टर लोरिनर साहब के मत को अत्युक्तिमात्र समझते हैं।

शिव विष्णु के जैसे प्रसिद्ध देवता नहीं हैं परन्तु पौराणिक काल में अर्थात् विक्रमादित्य तथा उड़ीसा के केशरी राजाओं के समय में शिव अधिक प्रसिद्ध थे। पुराणों में शिव की पत्नी के विषय में विलक्षण कथाएं गढ़ी गई हैं। शतपथ ब्राह्मण में दक्ष पारवती के एक यज्ञ करने का उल्लेख है, परन्तु यह कथा कि सती (शिव की पत्नी और दक्ष की

पुत्री) ने इस यज्ञ में अपना प्राण दिया, पुराणों की जोड़ी हुई बात है । फिर केन उपनिषद् में हमें उमा हैमवती का उल्लेख मिलता है जो कि इन्द्र को ब्रह्मन् की प्रकृति समझाती है और उमा हैमवती के इस रूप से पुराण की इस कथा की उत्पत्ति हुई कि सती ने हिमालय पर्वत की कन्या हो कर जन्म लिया । इस पर्वत की कन्या ने इस भांति समाधि में मग्न होकर शिव की आराधना की, मानो प्रेम के देवता की सहायता पाने पर भी वह किसी भांति इस योगी देवता पर कोई प्रभाव न डाल सकी, और अन्त में उसने अपनी तपस्या और भक्ति द्वारा उसे किसी भांति प्राप्त किया, ये सब पुराणों की मनोहर कल्पनाएं हैं जिन्हें कि कालिदास की चिरस्थयी कविता ने रक्षित किया ।

हिन्दू त्रैकत्व के देवताओं के सम्बन्ध में मुख कथाएं इस प्रकार की हैं । ऋग्वेद के तत्वों के प्राचीन देवताओं का आधुनिक हिन्दू देवताओं में बड़ा नीचा स्थान है । फिर भी पुराणों में इन्द्र के स्वर्ग के भड़कीले वृत्तान्त हैं कि वहां सुन्दर वैदिक देवता अग्नि वायु इत्यादि तथा उनके स्वर्गीय सैनिक रथ और हाथी, सुन्दर अप्सराओं और गाने वाले गंधर्वों से सुशोभित हैं । परन्तु इन वैदिक देवताओं के भी रूप परिवर्त्तित होगए हैं । इन्द्र वह सोम पीनेवाला युद्ध का देवता नहीं रहा है जो कि आर्य्यों को आदिवासियों के विरुद्ध युद्ध करने में सहायता देता था । समय में परिवर्तन हो गया है और समय के साथ ही साथ विचारों में भी परिवर्तन हो गया है । पुराण का इन्द्र बिलास और कुछ विषय युक्त स्वर्ग की सभा का भड़कीला राजा है जो कि

अपना अधिक समय नाच और गान में व्यतीत करता है। उसकी रानी शची वा इन्द्राणी एक उत्तम और उत्साह युक्त कल्पना है और वह सब देवताओं से सत्कार पाती है। वेद की अप्सराओं ने मनोहर रूप धारण किया है और रम्भा, तिलोत्तमा और पौराणिक उर्वसी स्वर्ग की वेश्याएं हैं जो कि इन्द्र के अवकाश के समय को नृत्य और प्रेम की बातों से विताती थीं। इन्द्र का पद कठिन तपस्या के द्वारा प्राप्त किया हुआ कहा गया है और वह सदा इस भय में है कि पृथ्वी पर के मनुष्य उसी रीति से उसके पद को न प्राप्त करलें। इस कारण वह बहुधा स्वर्ग की अप्सराओं को पृथ्वी पर कठोर तपस्याओं में विघ्न डालने के लिये और अपनी प्रबल मोहनी शक्ति के द्वारा तपस्वियों के हृदय को विचलित करने के लिये भेजता है। उसके भय का एक दूसरा कारण असुर हैं और यद्यपि वे स्वर्ग से निकाल दिए गए हैं तथापि वे बहुधा सेना लेकर आते हैं और केवल युद्ध द्वारा उसे पुनः जीत लेते हैं। ऐसे अवसरों पर इन्द्र तथा उसके साथियों को किसी उच्च देवता अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु वा शिव की शरण लेनी पड़ती है। ये देवता लोग छोटे देवताओं की असुरों के विरुद्ध सहायता करने की ओर कभी नहीं झुकते परन्तु हारे हुए देवताओं को धीरज देते हैं और उन्हें अपना पद पुनः प्राप्त करने के लिये उपाय बतलाते हैं। ऐसे एक अवसर पर देवताओं ने शिव और पर्वत की कन्या उमा के विवाह का उपाय किया और इस विवाह से कुमार, स्कन्द, वा कार्त्तिकेय नामक जो पुत्र हुआ उसने निकाले हुए देवताओं को विजय और स्वर्ग की पुनः प्राप्ति

करवाई । दोनों कुमार और उसके भाई हाथी के मस्तक वाले गणेश प्राचीन हिन्दू धर्म्म में अज्ञात हैं और वे पुराणों की कल्पनाएं हैं।

जब कि सर्वसाधरण का हृदय इन पौराणिक देवताओं के सम्बन्ध की असंख्य कथाओं में लिप्त होता है जिनकी कि संख्या तेंतीस करोड़ कही गई है (जो कि तेंतीस वैदिक देवताओं का प्रत्यक्ष 'बढ़ाव है') बुद्धिमान और विद्वान लोगों को उपनिषदों के इस मुख्य सिद्धान्त का सदा स्मरण रहता है कि परमेश्वर केवल एक है और देवता असुर और मनुष्य अर्थात् समस्त सृष्टि की उत्पत्ति उसी सर्वव्यापक ईश्वर से हुई है और सबका उसी सर्वव्यापक ईश्वर में लय हो जायगा।

पुण्य के कर्म्मों से स्वर्ग में थोड़े वा बहुत समय के लिये बास मिलता है और पाप कर्म्मों से नियत समय तक नर्क के कष्ट सहने पड़ते हैं और इसके उपरान्त आत्मा को नई देहों में पुनर्जन्म लेने पड़ते हैं। पुनर्जन्म का सिद्धान्त हिन्दुओं के हृदय में उतनी ही दृढ़ता के साथ जमा हुआ है जितना कि ईसाइयों के हृदय में मृतोत्थान का सिद्धान्त और नीच से नीच हिन्दू भी नए जन्मे हुए बच्चे में अथवा पक्षी वा पशु में भी सम्बन्ध की सम्भावना देखता है। केवल पवित्र ध्यान और विद्या के द्वारा पाप से तथा सब सांसारिक बिचारों और अभिलाषाओं से रहित रह कर भी आत्मा सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो सकती है और परमेश्वर में संयुक्त हो सकती है जो कि हिन्दुओं की अंतिम मुक्ति है। हम देखते हैं कि उपनिषदों का यह

विचार किस भांति बौद्धों के निर्वाण के सिद्धान्त में परिवर्तित किया गया और तब वह वेदान्त और आधुनिक पौराणिक धर्म्म में किस भांति ग्रहण किया गया। इस कारण सर्व्व विद्वान और बुद्धिमान लोगों को यह सम्मति दी गई है कि वे कीर्ति के कार्य्यों द्वारा इन्द्र के स्वर्ग की प्राप्ति न करें वरन् सांसारिक विषयों और कामनाओं से इस संसार में मुक्त होकर उस परमब्रह्म में मिल जांय।

उत्तर काल के हिन्दू धर्म्म उसी एक ईश्वर को मान कर चले हैं और उन्होंने आधुनिक हिन्दू देवताओं में से कोई एक नाम इस कार्य्य के लिये चुन लिया है। डाक्टर विल्सन साहब ने हिन्दुओं के धर्म्म सम्प्रदाय के विषय में अपने ग्रन्थ में वैष्णवों के १९ सम्प्रदाय, शैवों के ११ सम्प्रदाय, शाक्तों के ४ सम्प्रदाय और उनके अतिरिक्त बहुत से भिन्न सम्प्रदायों का उल्लेख किया है।

वैष्णव धर्म्म अपने कई रूपों में केवल बौद्ध धर्म्म का अवशेष जान पड़ता है। उसमें सब मनुष्यों और सब जातियों की समानता का वही सिद्धान्त और जीव की हिंसा का वही निषेध है। परन्तु इन सिद्धान्तों का संयोग एक देवता विष्णु में विश्वास रखने के साथ कर दिया गया है और इसी विष्णु को साधारण लोग बहुधा कृष्ण के नाम से पूजते हैं। कृष्ण के वृन्दावन की ग्वालिनों के साथ बिहार करने की कथाओं का प्रचार लोगों में पौराणिक समय से हुआ है। भारतवर्ष के सब से बड़े जीवित ग्रन्थकार बंकिमचन्द्र ने यह बात अभी प्रमाणित की है कि इन कथाओं का महाभारत में कहीं उल्लेख नहीं है।

शिव और उनकी पत्नी शक्ति के उपासकों ने बहुधा इन से भी अधिक बिगड़े हुए सिद्धान्तों और आचारों को ग्रहण किया है।

आधुनिक हिन्दू धर्म्म के भिन्न भिन्न पन्थों के सिद्धान्त और विचार इस प्रकार के हैं परन्तु किसी जाति के आचरण पर उसके धार्म्मिक सिद्वान्तों की अपेक्षा उसकी रीतियों और विधानों से अधिक प्रभाव पड़ता है और हम पहिले कह चुके हैं कि धार्म्मिक रीतियों और विधानों में प्राचीन वैदिक काल से बहुत ही अन्तर हो गया है।

मन्दिरों में मूर्ति की पूजा बौद्ध धर्म्म के प्रचार के पहिले हिन्दुओं को विदित नहीं थी और इसका व्यवहार उस समय से हुआ जान पड़ता है जब कि बौद्ध धर्म्म प्रधान हो गया था। हम पहिले देख चुके हैं कि मनु ने जो कि धर्म्म सम्बन्धी रीतियों में बड़ा कट्टर था, घर की अथवा यज्ञ की अग्नि में हवन करने की प्राचीन रीति का समर्थन करता है और मन्दिर के पुजारियों को बड़े क्रोध के साथ मदिरा और मांस के बेचने वालों के तुल्य कहता है। परन्तु मन्दिर और मूर्तियां सर्व साधारण के हृदय को आकर्षित करती थीं और छठीं शताब्दी तक वे सत्कार की दृष्टि से देखी जाने लगीं और उन्होंने अधिक अंश में प्राचीन पूजा की रीति को दबा लिया। छठीं से लेकर आठवीं शताब्दी तक के ग्रन्थों में हमें यज्ञों का कोई उल्लेख नहीं मिलता सिवाय उन यज्ञों के जिन्हें राजा लोग करते थे, परन्तु कालिदास तथा अन्य कवियों ने मन्दिर और उनमें जिन मूर्तियों की पूजा होती थी उनका बहुधा उल्लेख किया है।

यह परिवर्तन निस्संदेह अनुचित हुआ। लोगों के हृदय पर मूर्तिपूजा का कभी उत्तम प्रभाव नहीं पड़ता परन्तु भारतवर्ष में इसके साथ और भी बुराइयां हुई। मनु के समय तक वैश्य लोग अर्थात् सर्वसाधारण जन देवताओं की पूजा अपनी इच्छानुसार कर सकते थे और अपने घर की अग्नि में हवन कर सकते थे। परन्तु जब पूजा का स्थान अग्नि से मन्दिर में परिवर्तित हुआ तो पुजेरियों का जो कि इन मन्दिरों के रक्षक थे अधिक प्रभाव लोगों के हृदय पर पड़ा और उन्होंने लोगों के गले में अधिक बंधन डाल दिए। धूम धाम के उत्सव और भड़कीली सजावट ने सर्वसाधारण के ध्यान को आकर्षित किया उनके मिथ्या विचारों को रक्षित रखा, कविता, शिल्प, गृहनिर्म्मण विद्या, संगतराशी, और गान विद्या ने इसमें सहायता दी और कुछ ही शताब्दियों के भीतर जाति का धन उन भड़कीले मन्दिरों और उत्सवों में व्यय होने लगा जो कि लोगों की अपरिमित भक्ति और उनके विश्वास के बाहरी दिखलावे थे। यात्रा जो कि बहुत प्रचीन समय में बहुत ही कम की जाती थी अथवा बिलकुल नहीं की जाती थी, बहुत ही अधिक होने लगी, मन्दिरों की सहायता के लिये भूमि और द्रव्य के दान बहुतायत से आने लगे और स्वयं धर्म्म ने मूर्ति और उनके रक्षकों का अन्धे होकर सत्कार करने का रूप ग्रहण किया। भारतवर्ष के बड़े बड़े नगर मन्दिरों से भर गए और पत्थर के मन्दिरों में तथा मूर्ख पूजकों के हृदय में नए नए देवताओं और नई नई मूर्तियों ने स्थान पाया।

हमने ऊपर पौराणिक धर्म्म के विषय में जो बातें लिखी हैं उनको अगले अध्याय में पौराणिक धर्म्म ग्रन्थों की संक्षिप्त आलोचना करके दिखलावेंगे ।

अध्याय ७

धर्म्म ग्रन्थ ।

१ धर्म्म शास्त्र ।

दार्शनिक काल की चाल व्यवहार और कानूनों के लिये हमें गौतम, बशिष्ठ, बौद्धायन और आपस्तम्भ के धर्म्मसूत्रों में सबसे उत्तम सामग्रियां मिली थीं । मनु के धर्म्म शास्त्र से हमें बौधकाल में हिन्दू जीवन के वृत्तान्त के लिये भी वैसी ही बहुमूल्य समग्रियां मिली थीं । सोभाग्य वश पौराणिक समय में भी धर्म्मशास्त्र बनते रहे और याज्ञवल्क ने हमें बीस ग्रन्थों से कम की सूची नहीं दी है—

१ मनु	११ कात्यायन
२ अत्रि	१२ वृहस्पति
३ विष्णु	१३ पराशर
४ हारीत	१४ व्यास
५ याज्ञवल्क्य	१५ शंख
६ उशनास	१६ लिखित
७ अंगिरस	१७ दक्ष
८ यम	१८ गौतम
९ आपस्तम्ब	१९ सातातप
१० संवर्त	२० वशिष्ठ

पाराशर भी हमें इन्हीं २० ग्रन्थों के नाम देता है, केवल उसने विष्णु के स्थान पर काश्यय, व्यास के स्थान पर गर्ग और यम के स्थान पर प्रचेतस लिखा है । इन २० ग्रन्थों में गौतम, आपस्तम्ब और वशिष्ठ दार्शनिक काल से और

मनु बौद्ध काल से सम्बन्ध रखता है जैसा कि हम पहिले देख चुके हैं। शेष १६ ग्रन्थ भी सम्भवतः प्राचीन सूत्र ग्रन्थों के आधार पर बनाए गए हैं परन्तु वे अपने आधुनिक रूप में पैाराणीक काल से अथवा मुसल्मानों के भारत विजय की पीछे की शताब्दियों से सम्बन्ध रखते हैं।

और यही हमारी कठिनाई है। हम पैाराणिक काल के लोगों के आचरण के वृतान्त के लिये इन १६ धर्म्म शास्त्रों का निश्चय रूप से हवाला नहीं दे सकते क्योंकि हम यह नहीं जानते कि उनमें से कैान पैाराणिक काल के बने हैं और कैान उसके पीछे के समय के। इनमें से कुछ निस्सन्देह पैाराणिक काल के अथवा उससे भी पहिले के बने हैं परन्तु इन ग्रन्थों में कुछ अध्याय पीछे के समय में मुसल्मानों के विजय के उपरान्त जोड़े गए हैं। फिर कुछ ग्रन्थ पूरे इस पीछे के समय के बने हुए जान पड़ते हैं। इस कारण इन धर्म्म शास्त्रों में से हिन्दुओं के आचरण का जो वृत्तान्त लिया जाय वह मुसल्मानों के समय का होगा, पैाराणिक समय का नहीं जिसे कि हम वर्णन करना चाहते हैं।

इन सोलहो धर्म्म शास्त्र के थोड़े विवरण से यह बात प्रगट हो जायगी।

१ अत्रि—इसकी जो प्रति हमने देखी है वह एक छोटा सा ग्रन्थ है जिसमें कि ४०० श्लोकों से कम हैं और वह लगातार श्लोक छंद में लिखा गया है। उसमें आधुनिक शास्त्रों तथा प्राचीन वेदों के अवलोकन करने की आवश्यकता दिखलाई गई है (११), फल्गू नदी में स्नान करने और गदाधर देव के दर्शन करने का उपदेश दिया गया है (५७), शिव

और विष्णु के चरणामृत पीने का उपदेश किया गया है, सब म्लेच्छों से घृणा प्रगट की गई है (१८०, १८३), विधवाओं को जलाने की रीति का उल्लेख है (२०९) और उसमें उनके मुसल्मानों के विजय के उपरान्त के बनाए जाने अथवा किए जाने के सब चिन्ह हैं।

२ विष्णु—उपरोक्त १६ धर्म्म शास्त्रों में केवल विष्णु ही गद्य में है और इस कारण वह सब से अधिक प्राचीनता का स्वत्व रख सकता है। डाक्टर जौली साहेब ने काथक कल्प सूत्र के गृह्यसूत्र से उसकी घनिष्ट समानता दिखलाई है और यह सूत्र निस्सन्देह दार्शनिक काल का है, और डाक्टर बुहलर के साथ वे भी इस बात का समर्थन करते हैं कि विष्णु धर्म्म शास्त्र का अधिकांश वास्तव में उसी कल्प सूत्र का प्राचीन धर्म्म सूत्र है। फिर भी यह प्राचीन ग्रन्थ कई बार संकलित और परिवर्त्तित किया गया जान पड़ता है। डाक्टर बुहलर साहेब का यह मत है कि समस्त ग्रन्थ को विष्णु के किसी अनुयायी ने संकलित किया था और अन्तिम तथा भूमिका के अध्यायों को (पद्य में) किसी दूसरे तथा उसके पीछे के समय के ग्रन्थकार ने बनाया था। इस प्रकार इस ग्रन्थ के कई बार बनाए जाने का समय चौथी शताब्दी से ११वीं शताब्दी तक है।

जैसी कि आशा की जासकती है इस ग्रन्थ का रूप बहुत ही भिन्न भिन्न है। उस में ऐसे अध्याय हैं जो कि दार्शनिक काल में वशिष्ठ और बौद्धायन द्वारा उद्धृत किए हुए दिखलाए गए हैं, और फिर ऐसे वाक्य भी हैं जो हरिवंश तथा अन्य आधुनिक ग्रन्थों से उद्धृत किए हैं। अध्याय

६५ में प्राचीन और सच्चे कायक मंत्र दिए हैं जो कि वैष्णव कार्य्य के लिये परिवर्त्तित और संकलित किए गए हैं, अध्याय ९७ में सांख्य और योग दर्शनों का वैष्णव धर्म्म के साथ सम्बन्ध करने का यत्न किया गया है, अध्याय ७८ में आधुनिक सप्ताह के दिनों (अतवार से लेकर सनीचर तक) का उल्लेख है जो कि प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में कहीं नहीं मिलता, अध्याय २०, श्लोक ३ और २५, में विधवाओं के आत्म बलिदान करने का उल्लेख है, अध्याय ८४ म्लेच्छों के राज्य में श्राद्ध करने का निषेध करता है, और अध्याय ८५ में लगभग ५० तीर्थस्थानों का वर्णन है। भूमिका का अध्याय जो कि लगातार श्लोकों में है और जिसमें पृथ्वी एक सुन्दर स्त्री के रूप में क्षीर सागर में अपनी पत्नी लक्ष्मी के साथ लेटे हुए विष्णु से परिचित कराई गई है, सम्भवतः इन आधुनिक ग्रन्थ के सौ अध्यायों में सब से पीछे के समय का है।

इस प्रकार से हमारे प्राचीन ग्रन्थों में परिवर्तन और सम्बन्ध स्थापित किया गया है जो कि प्रत्येक नए धर्म्म के तथा प्रत्येक आधुनिक रीति के सहायक के लिये हर्ष का, परन्तु इतिहास जानने वाले के लिये शोक का विषय है।

३ हारीत—यह दूसरा प्राचीन ग्रन्थ है जो कि पीछे के समय में पूर्णतया फिर से लिखा किया गया है। हारीत का उल्लेख बौद्धायन, वशिष्ठ और आपस्तम्ब में किया है जो सब कि दार्शनिक काल के ग्रन्थ हैं। मिताक्षर और दायभाग में हरीत के जो उद्धृत वाक्य पाए जाते हैं वे सब गद्य सूत्रों में हैं। परन्तु फिर भी हारीत के जिस ग्रन्थ को हमने देखा है वह लगातार श्लोकों में है और उसका

विषय भी आधुनिक समय का है। पहिले अध्याय में यह पौराणिक कथा है कि विष्णु अपनी पत्नी श्री के साथ एक कल्पित नाग पर जल में पड़े हैं और उनकी नाभी में एक कमल उत्पन्न हुआ जिसमें से ब्रह्मा उत्पन्न हुए जिन्होंने कि संसार की सृष्टि की। दूसरे अध्याय में नरसिंह देव की पूजा का वर्णन है और चैाथे अध्याय में विष्णु की पूजा का, और सातवें अर्थात् अन्तिम अध्याय में योग शास्त्र का विषय है।

४ याज्ञवल्क्य*—स्टेंज़लर और लेसन साहब याज्ञवल्क्य का समय विक्रमादित्य के पहिले परन्तु बौद्ध धर्म्म के प्रचार के उपरान्त निश्चित करते हैं। आधुनिक खोज से विद्वान लोग मनु का समय ईसा के १ वा २ शताब्दी पहिले वा उपरान्त निश्चित कर सके हैं और चूंकि याज्ञवल्क्य निस्सन्देह मनु के उपरान्त हुआ अतएव उसका सम्भव समय ईसा के उपरान्त पांचवीं शताब्दी अर्थात् पैाराणिक काल के प्रारम्भ के लगभग है। इस ग्रन्थ के विषय को देखने से यह सम्मति कुछ दृढ़ होती है। अध्याय २, श्लोक २९६ में बौद्ध भिक्षुणियों का उल्लेख है और बौद्धों की रीति और सिद्धान्तों के बहुत से उल्लेख हैं। मनु उच्च जाति के मनुष्यों को शूद्र जाति की स्त्रियों से विवाह करने का अधिकार देता है परन्तु याज्ञवल्क्य इस प्राचीन रीति का विरोध करता है (१, ५६)। परन्तु बहुत सी बातों में याज्ञवल्क्य उत्तर काल के धर्म्म

* पाठकों को जनक के पुरोहित प्राचीन याज्ञवल्क्य तथा इस धर्म्म शास्त्र के बनाने वाले इस पीछे के समय के याज्ञवल्क्य को भिन्न समझना चाहिए।

शास्त्रों की अपेक्षा मनु से अधिक मिलता है और सब बातों पर विचार कर उपरोक्त १६ शास्त्रों में से केवल याज्ञवल्क्य का ही ग्रन्थ ऐसा है जिस पर कि पौराणिक काल की बातों के लिये पूर्णतया विश्वास किया जा सकता है। यह ग्रन्थ तीन अध्यायों में है और उसमें एक हज़ार से अधिक श्लोक हैं।

५ उषणस—अपने आधुनिक रूप में यह ग्रन्थ बहुत पीछे के समय का बना हुआ है। उसमें हिन्दू त्रिमूर्ति का (३,५७) और विधवाओं के आत्मबलिदान का (३,११७) उल्लेख है, समुद्र यात्रा करने वालों को अपराधी ठहराया है (४,३३) और पाप करने वालों के लिये अग्नि वा जल में आत्म बलिदान करने के लिये लिखा है (८,३४)। बहुत से नियमों, निषेधों और प्रायश्चितों की इस ग्रंथ में विशेषता पाई जाती हैं। यह ग्रन्थ नौ अध्यायों में है, और उसमें लगभग ६०० श्लोक हैं।

६ अंगिरस—इस नाम का जो ग्रन्थ हमें प्राप्त है वह सत्ताइस श्लोकों का एक छोटा सा अध्याय है। यह आधुनिक समय का ग्रन्थ है और नील की खेती को उत्तम जातियों के लिये अयोग्य अपवित्र व्यापार लिखता है।

७ यम—दार्शनिक काल में वशिष्ठ ने यम का उल्लेख किया है परन्तु जो यम स्मृतियां आज कल वर्त्तमान हैं वे आधुनिक समय की बनी हुई हैं और वशिष्ठ का तात्पर्य्य उनसे नहीं हो सकता। हमें ७८ श्लोकों का एक छोट सा ग्रंथ अब प्राप्त है। अंगिरस के साथ उसमें भी धोबी, चर्म-कार, नाचने वालों, बरुद, कैवर्त्त, मेद, और भील लोगों को अपवित्र जाति लिखा है।

८ संवर्त—यह आधुनिक समय का एक पद्य गन्थ है जिसमें २०० से अधिक श्लोक हैं। यह कोई उपयोगी गन्थ नहीं है। यम की भांति उसमें भी धोबियों, नाचने वालों और चर्मकारों को अपवित्र जाति माना है।

१० कात्यायन—(जिसे कि पाठकों को पाणिनि के प्राचीन समालोचक से भिन्न समझना चाहिए) उन नियमों और रीतियों को दीपक की नाईं प्रकाशित करता है जिन्हें कि गोभिल ने अन्धकार में छोड़ दिया है जिसके गृह्य सूत्र की आलोचना हम दार्शनिक काल के वृत्तान्त में कर चुके हैं। परन्तु कात्यायन का धर्म्मशास्त्र पीछे के समय का है, और वह २९ अध्यायों में है जिनमें कि लगभग ५०० श्लोक हैं। अध्याय १ श्लोक ११–१४ में गणेश तथा उसकी माताओं गौरी, पद्मा, शची, सावित्री, जया, विजया इत्यादि की पूजा के विषय में लिखा है, और यह भी लिखा है कि उनकी मूर्तियों की अथवा उजले वस्त्र पर लिखे हुए चित्रों की पूजा करनी चाहिए। अध्याय १२, श्लोक २ में (जो कि गद्य में है) हिन्दू त्रैकत्व का उल्लेख है, अध्याय १९, श्लोक ७ में उमा का उल्लेख है, और अध्याय २०, श्लोक १० में जिस समय सीता निकाल दी गई थी उस समय राम का सीता की स्वर्ण प्रतिमा के साथ यज्ञ करने का उल्लेख है।

११ वृहस्पति—इस गून्थ के ८० श्लोकों का एक छोटा सा खण्ड हमारे देखने में आया है, जो कि प्रत्यक्ष आधुनिक समय का बना हुआ है। उसमें ब्राह्मणों को भूमि दान देने के पुण्य का विषय है और पाठकों के हृदय पर ब्राह्मण के कोप के भयानक फल को जमाने का यत्न किया गया है। परन्तु

"सेक्रेट बुक्स आफ दी ईस्ट" नाम की ग्रन्थावली में बृहस्पति के अधिक प्राचीन और अधिक विश्वास योग्य ग्रन्थ का अनुवाद प्रकाशित हुआ है।

१२ पराशर निस्संदेह सब से पीछे के समय के धर्म्म शास्त्रों में से एक है। स्वयं संग्रहकर्ता हमें कहता है (१,२३) कि मनु सत्य युग के लिये था, गौतम त्रेता युग के लिये, शंख और लिखित द्वापर युग के लिये थे। और पराशर अब कलियुग के लिये है। हमें हिन्दू त्रैकत्व का उल्लेख (१,१९), और विधावाओं के आत्मबलिदान का उल्लेख (४,२८ और २९) मिलता है। फिर भी विधवा विवाह इस पीछे के समय में भी प्रचलित था और यदि किसी स्त्री के पति का पता न लगे अथवा वह मर जाय अथवा योगी वा जाति बाहर वा नपुंसक होजाय तो पराशर उस स्त्री को दूसरा विवाह करने की आज्ञा देता है (४,२६)। यह ग्रन्थ बारह अध्यायों में है, और उसमें लगभग ६०० श्लोक हैं।

१३ व्यास * और भी पीछे के समय का है। वह निःसन्देह हिन्दू त्रैकत्व का उल्लेख करता है (३,२४) और विधवाओं के आत्म बलिदान की प्रशंसा करता है (२,५३) और जाति के अधिकांश से बने हुए भिन्न भिन्न व्यवसायों का नीच बनाया जाना बहुत से अन्य धर्म्म शास्त्रों की अपेक्षा

* पाठकों को इन धर्म्म शास्त्रों के बनाने वाले पराशर और व्यास को इन नामों के प्राचीन ज्योतिषी और वेदों के प्राचीन संग्रह कर्त्ता से भिन्न समझना चाहिए। इन आधुनिक संग्रह कर्त्ताओं ने कदाचित अपने ग्रन्थों के प्राचीन समझे जाने के लिये इन प्राचीन नामों को ग्रहण कर लिया है।

व्यास में अधिक पूर्ण है। मुसल्मानी राज्य में हिन्दुओं के व्यवहारों के वृत्तान्त के लिये हमें व्यास से बहुत उत्तम सामग्रियां मिलेंगी। इस छोटे से ग्रन्थ में चार अध्याय हैं जिनमें दो सौ के ऊपर श्लोक हैं।

१४ शंख भी विष्णु की नाईं एक प्राचीन ग्रन्थ है, परन्तु वह पीछे के समय में पुनः पद्य में बनाया गया है, यद्यपि उसके दो अंश अब तक भी गद्य में हैं। डाक्टर बुहलर का विचार है कि गद्य के अंश शंख के मूल ग्रन्थ से लिए हुए सच्चे सूत्र हैं और यह मूल ग्रन्थ दार्शनिक काल में बना था, और पूर्णतया सूत्रों में था। परन्तु इसमें बहुत कम सन्देह हो सकता है कि यह ग्रन्थ बहुत ही आधुनिक समय का है। अध्याय ३, श्लोक ७ में मन्दिरों और शिव की मूर्ति का उल्लेख है, अध्याय ४, श्लोक ९ में उच्च जाति के मनुष्यों का शूद्र जाति की स्त्री से विवाह करने का निषेध है और मनु ने इसका निषेध नहीं किया है। अध्याय ७, श्लोक २७ में ग्रन्थकार ने विष्णु का नाम वासुदेव लिखा है। अध्याय १४, श्लोक १–३ में ग्रन्थकार ने १६ तीर्थ स्थानों का नाम लिखा है, और अध्याय १४, श्लोक ३ में म्लेच्छ देशों में श्राद्ध करने अथवा जाने का भी निषेध किया है। परन्तु इस आधुनिक ग्रन्थ में भी विधवा विवाह की आज्ञा दी गई है [१५,१३]। इस ग्रन्थ में १८ अध्याय हैं, जिनमें तीन सौ श्लोकों से अधिक हैं।

१५ लिखित जैसा कि हमें अब प्राप्त है, ९२ श्लोकों का एक छोटा आधुनिक ग्रन्थ है और उसमें देव मन्दिरों का (४) काशीवास करने का [११], और गया में पिण्ड देने का उल्लेख है।

१६ दक्ष भी सात अध्यायों का एक आधुनिक ग्रन्थ है, और उसमें गृहस्थी के जीवन तथा मनुष्य और स्त्रियों के कर्तव्य का एक मनोहर वर्णन दिया है। परन्तु इस वर्णन को विधवाओं के आत्म बलिदान की निष्ठुर रीति ने कलंकित कर दिया है [४,२७]।

१७ सातातप अपने आधुनिक रूप में व्यास की नांई १६ धर्म्म शास्त्रों में एक सबसे नवीन है और उसमें तीन आंख वाले रुद्र का [१,१९] विष्णु की पूजा का [१,२२], चार मुख वाले ब्रह्मा की मूर्ति का [२,५], और भैंसे पर चढ़े हुए तथा हाथ में दण्ड लिए हुए यम की मूर्ति का भी [२,१८], उल्लेख है। इसमें विष्णु की पूजा श्री वत्सलांछन, वासुदेव, जगन्नाथ के नाम से कही गई है, उसकी स्वर्ण की मूर्ति वस्त्र से सज्जित करके पूजा के उपरान्त ब्राह्मणों को देनी चाहिए [२,२२–२५]। सरस्वती की भी जो कि अब ब्रह्मा की स्त्री है, पूजा कही गई है [२,२८], और यह भी कहा गया है कि पाप से मुक्ति पाने के लिये हरिवंश और महाभारत को श्रवण करना चाहिए। इसके आगे गणेश [११,४४], दोनों अश्विनों [४,१४], कुबेर [५,३], प्रचेत [५,१०], और इन्द्र [५, १७], की मूर्तियों का उल्लेख है। इन सब स्वर्ण की मूर्तियों को भी केवल ब्राह्मणों को दान देने के लिये कहा गया है और वास्तव में इस कार्य्य का उद्देश्य ब्राह्मणों को बहुतायत से दान दिलाने का जान पड़ता है। संसार में कोई पाप वा कोई असाध्य रोग अथवा कोई गृहस्थी की आपत्ति वा संपत्ति अथवा कोई हानि ऐसी नहीं है जो ऐसे दान से पूरी न की जा सके। मुसल्मानों के विजय के उपरान्त हिन्दू धर्म्म

ने जो रूप धारण किया था उसके जानने के लिये यह ग्रन्थ बहुमूल्य है।

उपरोक्त वृत्तान्त से यह विदित होगा कि याज्ञवल्क्य तथा सम्भवतः एक वा दो अन्य धर्म्म शास्त्रों को छोड़ कर शेष सब पौराणिक काल में हिन्दुओं के व्यवहारों को जानने के लिये निरर्थक हैं। उनमें से अधिक मुसल्मानों के राज्य में हिन्दुओं के आचरण और धर्म्म जानने के लिये कुछ उपयोगी हैं।

दुर्भाग्य वश पुराणों की भी जिस रूप में वे प्राप्त हैं वही दशा है। उनसे हमें पौराणिक काल में हिन्दू धर्म्म का स्वाभाविक और मनोरञ्जक वृत्तान्त नहीं मिलता वरन उनमें विशेष देवताओं यथा विष्णु शिव इत्यादि की प्रधानता के विषय में साम्प्रदायिक झगड़े हैं। और हम यह जानते हैं कि भारतवर्ष में मुसल्मानों के राज्य के समय में ये झगड़े सब से अधिक प्रचलित थे। अब हम पुराणों के संक्षिप्त वृत्तान्त की ओर झुकेंगे।

२ पुराण।

विक्रमादित्य की सभा का कोषकार अमरसिंह पुराण में पञ्च लक्षण अर्थात् पांच विशेष विषयों का होना लिखता है और भाष्यकार इस बात में सहमत हैं कि वे पांच विषय ये हैं—अर्थात् (१) आदि सृष्टि वा जगत की उत्पत्ति (२) उपसृष्टि वा संसार का नाश और पुनरुत्पत्ति जिसमें समय निरूपण भी सम्मिलित है (३) देवताओं तथा आचार्यों की वंशावली (४) मनु के राज्य वा मन्वन्तर (५) सूर्य और चन्द्र

वंशों तथा उनके आधुनिक संतान का इतिहास। जो पुराण अब वर्तमान हैं और जो मुसल्मानों के भारत विजय के उपरान्त संकलित किए गए थे, इस वर्णन से बहुत कम मिलते है।

पुराण तीन श्रेणी के हैं अर्थात् विष्णु, शिव औरब्रह्मा से क्रमात सम्बन्ध रखने वाले। उनके नाम और उनके श्लोकों की जो संख्या समझी जाती है नीचे दी जाती है-

वैष्णव		शैव		ब्रह्मा	
विष्णु	२३०००	मत्स्य	१४०००	ब्रह्मांड	१२०००
नारदीय	२५०००	कूर्म्म	१७०००	ब्रह्मवैवर्त	१८०००
भागवत	१८०००	लिंग	११०००	मारकण्डेय	९०००
गरूण	१९०००	वायु	२४०००	भविष्य	१४५००
पद्म	५५०००	स्कंद	८११००	वामन	१००००
वाराह	२४०००	अग्नि	१५४००	ब्रह्मा	१००००

इस पुस्तक में इन वृहद् ग्रन्थों का कुछ भी सारांश देना असम्भव है जिसमें कि कई शताब्दियों तक पुजेरियों ने प्राचीन कथाओं, इतिहासों और वार्ताओं को संकलित करने और आधुनिक साम्प्रदायिक धर्म्मों और पूजाओं का प्रचार करने का यत्न किया है। हम थोड़े से शब्दों में प्रत्येक ग्रन्थ के केवल प्रधान चिन्हों का वर्णन करेंगे।*

१ ब्रह्मपुराण—इसके आरम्भ के अध्यायों में सृष्टि की उत्पत्ति तथा कृष्ण के समय तक सूर्य्य और चन्द्र वंशों का

* पाठकों को इन पुराणों के विषयों का पूरा वृत्तान्त विल्सन साहेब के विष्णुपुराण की भूमिका के पृष्ट २७-८६ में मिलेगा, जहां से कि हमारा भी वृत्तान्त लिया गया है।

वृत्तान्त दिया है। इसके उपरान्त सृष्टि का वर्णन दिया है और फिर उड़ीसा तथा वहां के सूर्य्य, शिव और जगन्नाथ के मन्दिरों और पवित्र कुंडों का वर्णन है। इसके उपरान्त कृष्ण का जीवन चरित्र दिया है जिसका कि एक एक शब्द वही है जैसा कि विष्णु पुराण में है और फिर योग का वृत्तान्त देकर यह ग्रन्थ समाप्त होता है।

२ पद्मपुराण—यह पुराण जो कि (केवल स्कंद पुराण को छोड़ कर) सब पुराणों से बड़ा है, पांच भागों में है अर्थात् (१) सृष्टि (२) भूमि (३) स्वर्ग (४) पाताल (५) उत्तर खंड। सृष्टि खंड में सृष्टि की उत्पत्ति तथा आचार्य्यों और राजाओं की भी वंशावली दी है और तब अजमेर की पुष्कर झील की पवित्रता और तीर्थ स्थान होने का वृत्तान्त दिया है। भूमि खंड में १२७ अध्याय हैं जिनमें अधिकांश तीर्थों के सम्बन्ध की कथाएं हैं और इनमें तीर्थ स्थान तथा सत्कार किए जाने योग्य पुरुष भी सम्मिलित हैं। इस के उपरान्त पृथ्वी का वर्णन है। स्वर्ग खण्ड में सब स्वर्गों के ऊपर विष्णु के वैकुंठ को माना है। उसमें भिन्न भिन्न जातियों और जीवन की भिन्न भिन्न अवस्थाओं के आचरण के नियम तथा बहुत सी कथाएं हैं जिनमें से अधिकांश आधुनिक समय की हैं। पाताल खण्ड हमें सर्पों के लोक में ले जाता है। वहां शेषनाग पुराण की कथा कहता है और इसके उपरान्त कृष्ण के बालचरित का वर्णन और विष्णु की पूजा का माहात्म्य कहा है। उत्तर खंड का जो कि सम्भवतः इस पुराण के अन्य भागों से पीछे के समय का बना हुआ है, रूप बहुत ही वैष्णव है। इसमें शिव

ने अपनी पत्नी पार्वती से विष्णु की भक्ति, शरीर पर वैष्णव चिन्हों का लगाना, विष्णु के अवतारों की कथाएं और विष्णु की मूर्ति का वर्णन किया है और फिर दोनों विष्णु की पूजा करके समाप्त करते हैं। उसमें यह भी कहा गया है कि हिन्दू त्रैकत्व में केवल विष्णु ही सत्कार के योग्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि इस साम्प्रदायिक विवाद का बहुत सा अंश मुसल्मानों के भारत विजय के पीछे जोड़ा गया है। इस पुराण के प्रारम्भ के भागों में भी भारतवर्ष में म्लेच्छों के होने का उल्लेख है और इसके सब से अन्तिम भागों का सम्भव समय डाक्टर विल्सन साहेब १५ वीं १६ वीं शताब्दी बतलाते हैं।

३ विष्णु पुराण के ६ भाग हैं। पहिले भाग में विष्णु और लक्ष्मी की उत्पत्ति तथा बहुत सी कथाएँ जिनमें ध्रुव और प्रह्लाद की कथाएं भी सम्मिलित हैं वर्णन की गई हैं। दूसरे भाग में पृथ्वी, उसके सात द्वीप और सात समुद्र का वर्णन है तथा भारतवर्ष और नीचे के देशों, ग्रहमंडल, सूर्य्य, चन्द्रमा इत्यादि का वर्णन है। तीसरी पुस्तक में वेद तथा द्वापर युग में कृष्ण द्वैपायन व्यास द्वारा उसके ४ विभाग किए जाने का वर्णन है। उसमें अट्ठारहों पुराणों के नाम, चारों जाति और चारों आश्रमों के धर्म्म, और गृहस्थी सम्बन्धी तथा सामाजिक रीतियों और श्राद्धों का भी वर्णन दिया हैं। अन्तिम अध्याय में बौद्धों और जैनियों की निन्दा है। चौथी पुस्तक में सूर्य्य और चन्द्र वंशो का इतिहास दिया है और अन्त में मगध के राजाओं की सूची दी है जिसे कि हम चौथे कांड तीसरे अध्याय में उद्धृत कर चुके हैं।

पांचवे भाग में विशेषतः कृष्ण का, उस के बाल्यावस्था के खेलों का, गोपियों के साथ उनके विहारों का और उनके जीवन के भिन्न भिन्न कार्यों का विशेष रूप से वर्णन है। फिर छठें और अन्तिम भाग में यह वर्णन है कि विष्णु की भक्ति से सब जाति और सब मनुष्यों की मुक्ति हो सकती है और फिर योग तथा मुक्ति के अध्याय के उपरान्त यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है।

४ वायु पुराण जिसे कि शिव वा शैव पुराण भी कहते हैं चार भागों में बँटा है। पहिले भाग में सृष्टि की उत्पत्ति और प्राणियों के प्रथम विकास का वर्णन है। दूसरे भाग में भी सृष्टि की उत्पत्ति का विषय है और उसमें भिन्न भिन्न कल्पों का वर्णन आचार्यों की वंशावली और सृष्टि तथा मन्वंतरों की घटनाओं का वर्णन है जिसमें शिव की प्रशंसा और कथाएं मिली हैं, तीसरे भाग में भिन्न भिन्न प्राणियों का वर्णन है तथा सूर्य और चन्द्र वंशों और अन्य राजाओं का वृत्तान्त है। चौथे और अन्तिम भाग में योग का फल और शिव का माहात्म्य जिसके साथ कि योगियों का अन्त में लय हो जाता है लिखा है।

५ भागवत पुराण जिसे कि श्रीमद्भागवत भी कहते हैं सब पुराणों में सब से पवित्र, कम से कम वैष्णवों की दृष्टि में, समझा जाता है। यह ग्रन्थ भी अन्य पुराणों की नाईं सृष्टि की उत्पत्ति के विषय से आरम्भ होता है। वासुदेव परम श्रेष्ठ कहा गया है। उसकी सृष्टि माया है। उस में यह भी कहा गया है कि सब जाति के लोग और म्लेच्छ भी वासुदेव के भक्त हो सकते हैं, और यह शुद्ध वैष्णव सिद्धान्त

है। तीसरे भाग में ब्रह्मा की उत्पत्ति, विष्णु के वराह अवतार और उसके सांख्य दर्शन के रचयिता कपिल के रूप में अवतार लेने का वर्णन है। चौथे और पांचवें भाग में ध्रुव और वेंण पृथु और भारत की कथाएं दी हैं। छठें भाग में विष्णु के पूजन को शीक्षा देने के अभिप्राय से बहुत सी कथाएं दी हैं। सातवें भाग में प्रह्लाद की कथा है और आठवें में बहुतसी अन्य कथाएं हैं। नवें भाग में सूर्य्य और चन्द्र वंशों का वर्णन है, और दसवें भाग में जो कि इस ग्रन्थ का विशेष भाग है, पूर्णतया कृष्ण का जीवनचरित्र है। ग्यारहवें भाग में यादवों के नाश होने और कृष्ण की मृत्यु का वर्णन है और बारहवें तथा अन्तिम भाग में विष्णुपुराण की नाईं पीछे के समय के राजाओं की सूची है।

६ नारद पुराण। इस ग्रन्थ में विष्णु की अनेक प्रकार की स्तुति और हरि में भक्ति दिलाने वाली कथाएं हैं। वृहत् नारदीय पुराण नामक एक दूसरे ग्रन्थ में भी विष्णु की ऐसी ही स्तुति, भिन्न भिन्न रीतियों को पालन करने की आज्ञाएं और उसके सम्मानार्थ व्रत रहने का उल्लेख वा भिन्न भिन्न कथाओं का वर्णन है। ये दोनों ग्रन्थ बहुत ही थोड़े समय के हैं, और डाक्टर विलसन साहब का यह अनुमान है कि ये वे मूल ग्रन्थ नहीं हैं, जिनका कि अट्ठारह पुराण की नामावली में वर्णन है।

७ मार्कण्डेय पुराण में केवल कथाएं हैं, वृत्र की मृत्यु, बलदेव की तपस्या, हरिश्चन्द्र की कथा और वशिष्ठ और विश्वामित्र के विवाद की कथा के उपरान्त जन्म, मृत्यु, पाप और नर्क के विषय पर विचार किया गया है, उसके

उपरान्त सृष्टि की उत्पत्ति और मन्वन्तरों का वर्णन है। एक भविष्यत मन्वन्तर के वृत्तान्त में दुर्गादेवी के कार्यों का वर्णन है, जो कि इस पुराण का विशेष अहंकार है, और चण्डी वा दुर्गा की पूजा का पाठ है। यह प्रसिद्ध चण्डी पाठ है, और यह आज तक भी हिन्दुओं के घरों और दुर्गा के मन्दिरों में पढ़ा जाता है।

८ अग्नि पुराण—जिसके आरम्भ के अध्यायों में विष्णु के अवतारों का वर्णन है। इसके उपरान्त धार्म्मिक क्रियाओं का वर्णन है, जिनमें से अधिकांश तांत्रिक क्रियाएं हैं, और कुछ शिव पूजन की रीतियां हैं। इसमें पृथ्वी और विश्व के विषय के भी अध्याय हैं, इसके उपरान्त राजाओं के कर्तव्य, युद्ध की विद्या और कानून के विषय के अध्याय हैं, और उसके उपरान्त वेदों और पुराणों का वृत्तान्त है। इसकी वंशावली बहुत ही सूक्ष्म है। औषधि, अलंकार, छन्द, शास्त्र और व्याकरण के वर्णन के उपरान्त यह ग्रन्थ समाप्त होता है।

९ भविष्य पुराण तथा उसके अनुक्रम में भविष्योत्तर पुराण—इसमें से पहिले ग्रंथ में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन, संस्कारों और भिन्न जातियों और आश्रमों के कर्तव्यों तथा भिन्न रीतियों का वर्णन है। इन विषयों ने ग्रन्थ का तिहाई भाग ले लिया है, और उसके उपरान्त कृष्ण, उसके पुत्र साम्ब, वशिष्ठ, नारद और व्यास में परस्पर सूर्य्य के प्रताप और यश के विषय की वार्ता है। "अन्तिम अध्याओं में शाक-द्वीप वासी सूर्य्य के मौन पूजक मगलोगों के विषय में कुछ अद्भुत उल्लेख है। ग्रंथकार ने मानो फारसी शब्द मग का प्रयोग करके ईरान के अग्नि पूजकों का भारतवर्ष के सूर्य्य

पूजकों के साथ सम्बन्ध कर दिया है"*। भविष्य पुराण की नाईं भविष्योत्तर पुराण भी धर्म्म कर्म्मों के विषय की पुस्तक है।

१० ब्रह्मवैवर्त पुराण–यह चार भांगों में है, जिसमें कि ब्रह्मा, देवी, गणेश और कृष्ण के चरित्रों का वर्णन है। परन्तु इस ग्रंथ के मूल रूप में बहुत परिवर्तन होगया है और वर्तमान ग्रन्थ निस्सन्देह साम्प्रदायिक है, और उसमें सब देवताओं से कृष्ण को प्रधानता दी गई है। वर्त्तमान ग्रंथ के अधिकांश भाग में वृन्दावन का वर्णन, कृष्ण की असंख्य स्तुतियां, और राधा और गोपियों के प्रेम को उकसाने वाली कहानियां दी हैं।

११ लिंगपुराण–यह ग्रन्थ सृष्टि की उत्पत्ति तथा सृष्टि कर्ता शिव के वृत्तान्त से प्रारम्भ होता है। सृष्टि के अंतर में एक बड़े प्रकाशमय लिंग का दर्शन होता है, और ब्रह्मा और शिव उसकी अधीनता स्वीकार करते हैं। लिंग से वेदों की उत्पत्ति होती है, जिससे कि ब्रह्मा और शिव को ज्ञान प्राप्त होता है, और वे शिव के यश का गान करते हैं। इसके उपरान्त दूसरी सृष्टि होती है, और शिव अपने अट्ठाइसों अवतार का वर्णन करते हैं, (जो कि निस्सन्देह भागवत पुराण में कहे हुए विष्णु के २४ अवतारों के समान हैं) और इसके उपरान्त विश्व का वर्णन और कृष्ण के समय तक के राज्यवंशों का वर्णन है। फिर शिव के सम्बन्ध की कथाएं, विधान, स्तुतियां है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि लिंग पुराण में भी "पुरा काल के निकृष्ट विधानों की भांति कोई वस्तु नहीं है। उसमें सब बातें निगूढ़ और धर्म्म सम्बन्धी हैं ‡"।

* विष्णु के २४ अवतारों का विचार सम्भवतः गौतम बुद्ध के पहिले २४ बुद्धों के होने की कथा से लिया गया था।

‡ विलसन साहब के विष्णु पुराण की भूमिका देखो

१२ वाराह पुराण–यह ग्रन्थ प्राय: समस्त विष्णु की पूजा और भक्ति के नियमों से भरा है, और दृष्टान्त के लिये उसमें कथाएं दी हैं। इसके अधिक अंश में वैष्णवों के भिन्न भिन्न तीर्थस्थानों का भी वर्णन है।

१२ स्कंदपुराण–यह ग्रन्थ जो कि सब पुराणों से अधिक बड़ा है संगठित रूप में नहीं है परन्तु खण्ड खण्ड में है जिसमें इस पुराण के जो ८११०० श्लोक कहे गए हैं उनसे अधिक हैं। काशी खण्ड में बनारस के शिवमन्दिरों का सूक्ष्म वर्णन है और उसमें पूजा की रीति और बहुत सी कथाएं भी दी हैं। उत्कल खण्ड में उड़ीसा और जगन्नाथ के माहात्म्य का वर्णन है और यह निस्सन्देह पीछे के समय के वैष्णव ग्रन्थकारों का जोड़ा हुआ है जिन्होंने कि इस प्रकार से एक प्रसिद्ध शिवपुराण में एक वैष्णव तीर्थ का वृत्तान्त मिला दिया है। इस मिले जुले पुराण में भिन्न भिन्न खण्डों के अतिरिक्त कई संहिता और बहुत से महात्म्य सम्मिलित हैं।

१४ वामन पुराण–इसमें विष्णु के बवने अवतार का वृत्तान्त है। इसमें लिङ्ग की पूजा का भी वर्णन है परन्तु इस ग्रंथ का मुख्य उद्देश्य भारतवर्ष के तीर्थस्थानों की पवित्रता वर्णन करने का है और इस कारण इस पुराण को माहात्म्यों का एक अनुक्रम ही कहना चाहिए। दक्ष के यज्ञ, कामदेव के भस्म किए जाने, शिव और उमा के विवाह और कार्तिकेय के जन्म की कथा, बलि के प्रताप और कृष्ण का वामन अवतार लेकर उसे अधीन करना, ये सब विशेष स्थानों और तीर्थों को पवित्र गिने जाने के लिये लिखे गए हैं।

१५ कूर्म पुराण। वामन पुराण की भांति इस पुराण का नाम भी विष्णु के एक अवतार का है परन्तु फिर भी इसकी गणना शैवपुराण में है और इसके अधिक भाग में शिव और दुर्गा की पूजा का वर्णन है। इस पुराण के प्रथम भाग में सृष्टि की उत्पत्ति, विष्णु के अवतार, कृष्ण के समय तक सूर्य्य और चन्द्रवंशी राजाओं की वंशावली, विश्व और मन्वन्तरों का विषय है और इनके साथ महेश्वर की स्तुति और अनेक शैव कथाएं मिली हुई हैं। दूसरे भाग में ध्यान और वैदिक विधानों के द्वारा शिव के ज्ञान प्राप्त करने का विषय है।

१६ मत्स्यपुराण—यह ग्रंथ विष्णु के मत्स्य अवतार लेने की कथा से प्रारम्भ होता है। यह कथा निस्सन्देह सतपथ ब्राह्मण में दी हुई कथा का परिवर्धित रूपांतर है जिसकी कि ईसाइयों की प्राचीन धर्म्म पुस्तक के प्रलय और नोआ की कथा से इतनी अद्भुत समानता है। इस पुराण में विष्णु ने मछली का रूप धारण करके मनु को सब वस्तुओं को बीज के सहित एक नौका में प्रलय के जल से बचाया है। जिस समय मत्स्य में बंधी हुई यह नौका जल के ऊपर तैरती थी उस समय मनु ने मत्स्य से बार्तालाप किया है और उसने जो प्रश्न किए हैं तथा विष्णु ने उनका जो उत्तर दिया है वे ही इस पुराण के मुख्य अंश हैं। इसमें सृष्टि की उत्पत्ति राज्यवंशों और भिन्न भिन्न आश्रमों के कर्त्तव्य का क्रम से वर्णन है। इसके उपरान्त शिव के पार्वती के साथ विवाह करने और कार्तिकेय के जन्म की कथाएं हैं और उनमें वैष्णव कथाएं भी सम्मिलित कर दी गई हैं। फिर कुछ महात्म्य दिएगए

हैं जिनमें नर्मदा माहात्म्य है, और स्मृति और नीति तथा मूर्तियों के बनाने, भविष्यत के राजाओं और दान के विषय के अध्याय हैं।

१७ गरुड़पुराण–इसमें सृष्टि की उत्पत्ति का संक्षेप वृत्तान्त है परन्तु उसका मुख्य विषय धार्मिक आचार, त्योहार और स्तुतियां, तांत्रिक रीति से ज्योतिष शास्त्र, हस्तसामुद्रिक शास्त्र, वैद्यक शास्त्र इत्यादि हैं। इस ग्रंथ के अन्तिम भाग में अन्त्येष्टि क्रिया के करने की रीतियों का वर्णन हैं। वर्त्तमान ग्रन्थ में गरुण के जन्म का कोई वर्णन नहीं है और यह सम्भव है कि मूल गरुणपुराण अब हम लोगों को अप्राप्त हो।

१८ ब्रह्माण्डपुराण–स्कंद पुराण की नांई यह ग्रन्थ भी अब हम लोगों को संगठित रूप में नहीं मिलता वरन् वह खण्ड खण्ड में मिलता है और पीछे के समय के ग्रन्थकारों ने समय समय पर इस अप्राप्त मूल ग्रन्थ में भिन्न भिन्न स्वतन्त्र विषयों को सम्मिलित करने का लाभ उठाया है। आध्यात्म रामायण नामक एक बड़ा विलक्षण ग्रंन्थ ब्रह्माण्ड पुराण का एक अंश समझा जाता है।

अट्ठारहों वृहत पुराणों के विषयों की उपरोक्त संक्षिप्त आलोचना से इन ग्रन्थों का ढंग यथेष्ट रीति से प्रगट होता है। ये अट्ठारहों मूलग्रन्थ पौराणिक काल में बनाए अथवा संकलित किए गए थे और जब अलबरूनी ११वीं शताब्दी में भारतवर्ष में आया उस समय ये वर्तमान थे परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि उस समय से वे बहुत ही परिवर्तित और विस्तृत किए गए हैं विशेषत:

शैव और वैष्णव ग्रन्थकारें के द्वारा जो कि अपने अपने धर्म्मों की प्रधानता स्थिर करने के लिये उत्सुक थे। पौराणिक काल में शिव सबसे अधिक प्रिय देवता था जैसा कि हमें उड़ीसा और अन्य प्रान्तों के इतिहासें से और पौराणिक काल के साहित्य से भी विदित होता है। कृष्ण जो कि कालिदास, भारवि, बाणभट्ट, भवभूति वा अन्य ग्रंथकारें से अधिक परिचित नहीं है, पीछे के समय में हिन्दुओं का सर्व प्रिय देवता हुआ। माघ और जयदेव ने ११ वीं और १२वीं शताब्दियों में उसके चरित्रों का वर्णन किया है और मुसल्मानों के राज्य के समस्त समय में कृष्ण निस्संदेह हिन्दुओं का सबसे अधिक प्रिय देवता था। अधिकांश पुराण जिसमें कृष्ण के प्रेम और बिहारें का तथा तांत्रिक रीति के अनुसार शिव वा शक्ति की पूजा का वर्णन है, मुसल्मानें की विजय के उपरान्त की शताब्दियों के बने हुए जान पड़ते हैं। पुराणों में मुसल्मानों के विजय होने के उपरान्त इतना परिवर्तन होने के कारण ही वे पौराणिक समय में हिन्दू जीवन और आचरण के लिये अनिश्चित और अविश्वास योग्य हैं।

इन अट्ठारहों पुराणों के अतिरिक्त इतने ही उप पुराण भी कहे गए हैं परन्तु भिन्न भिन्न ग्रन्थकारें ने इनकी जो सूची दी है उनमें भेद पाया जाता है। उपपुराण निस्संदेह पुराणों की अपेक्षा बहुत पीछे के समय के हैं और सम्भवत: वे सब मुसल्मानें की विजय के उपरान्त के बने हुए हैं। उपपुराणों में सब से प्रसिद्ध कालिका पुराण है जिसमें शिव की पत्नी की पूजा का वर्णन है और वह

मुख्यतः शाक्तग्रंथ है। उसमें दक्ष के यज्ञ और सती की मृत्यु का वर्णन है और उसके उपरान्त यह कहा गया है कि शिव ने अपनी स्त्री के मृत देह को समस्त संसार में घुमाया और इस शरीर के भिन्न भिन्न भाग भारतवर्ष के भिन्न भागों में पड़े और इस कारण ये स्थान पवित्र हो गए इन स्थानों में लिंग स्थापित किए गए जहां कि आज तक भी प्रति वर्ष लाखों यात्री जाते हैं। जो लोग वेद के सूत्रों का गान करते थे और जिन्होंने उपनिषदों की गूढ़ और उत्साहपूर्ण खोज को आरम्भ किया था उनके संतानों का अब ऐसी कल्पित कथाओं में विश्वास है और वे ऐसे धर्म्म बिधानों को करते हैं।

३ तंत्र।

परन्तु मुसल्मानी राज्य का हिन्दू साहित्य हमारे साम्हने मनुष्यों की कल्पना और विश्वास का इससे भी अधिक अद्भुत रूपान्तर उपस्थित करता है। योग दर्शन ने अब अद्भुत साधनों के भिन्न रूप धारण किए थे जिनके द्वारा कि अमानुषिक शक्तियों के प्राप्त होने का विश्वास किया जाता था। हमें इसका प्रमाण भवभूति के ग्रन्थों में भी मिलता है जो कि आठवीं शताब्दियों में हुआ है परन्तु आगे चलकर इसने और भी विलक्षण रूप धारण किया। तंत्र के ग्रन्थों में जो कि विदेशी राज्य में हिन्दुओं की अवनति के सब से अन्तिम काल के बने हुए हैं हमें दैविक शक्तियों को प्राप्त करने के लिये अन्धकारमय कठोर और

निर्लज्ज साधनों के वर्णन मिलते हैं। और एक ढिठाई की कथा के द्वारा ये दूषित मस्तिष्क की अद्भुत कल्पनाएं स्वयं शिव के लिये निरूपित की गई हैं। तंत्रों की संख्या ६४ कही गई है, और हमने इनमें से कुछ तंत्रों को देखा है जो कि कलकत्ते में प्रकाशित हुए हैं।

जहां अज्ञान है वहीं सरल विश्वास है और दुर्बलता प्रबलता का पीछा करती है। और जब मिथ्या विश्वास की अज्ञानता और वृद्धावस्था की निर्बलता अन्तिम सीमा पर पहुंच गई थी तो लोगों ने हानिकारक साधनों और अपवित्र क्रियाओं के द्वारा उस शक्ति को प्राप्त करना चाहा जिसे कि ईश्वर ने केवल हमारे धार्मिक, मानसिक और शारीरिक शक्तियों के स्वतन्त्र और निर्दोषी अभ्यास से प्राप्त करने योग्य बनाया है। इतिहास जानने वाले के लिये तंत्र ग्रन्थ, हिन्दू विचार का कोई विशेष रूप प्रगट नहीं करते वरन् उनसे हिन्दू मन का रोगग्रस्त होना विदित होता है जो कि केवल उसी अवस्था में सम्भव है, जब कि जातीय जीवन नहीं रह जाता, जब सब राजनैतिक ज्ञान का लोप हो जाता है, और विद्या का प्रदीप ठंढा हो जाता है।

अध्याय ८

जाति ।

हम चौथे कांड में देख चुके हैं कि भारतवर्ष की वृहद् आर्य जाति (पुजेरियों और राजाओं को छोड़ कर) बौद्ध काल तक एक ही संयुक्त जाति थी और वह आज कल के व्यवसाय की जातियों में नहीं बँटी थी । पौराणिक काल में जातियों के फूटने की प्रवृत्ति सब से अधिक थी और इसमें भिन्न भिन्न व्यवसाय करने वालों के एक दूसरे से स्पष्ट जुदे उल्लेख मिलते हैं । परन्तु फिर भी जो प्रमाण अब मिलते हैं उनको पक्षपात रहित दृष्टि से देखने से सब पाठकों को विश्वास हो जायगा कि आज कल की व्यवसाय की जाति पौराणिक समय में भी पूर्णतया नहीं बनी थी और लोग तब तक भी एक ही संयुक्त जाति में अर्थात् वैश्य जाति में रह कर भिन्न भिन्न व्यवसाय करते थे । जाति का भिन्न भिन्न व्यवसाय की जातियों में पूरी तरह से बँटना मुसल्मानों के भारत विजय तथा हिन्दुओं के जातीय जीवन की समाप्ति के उपरान्त हुआ ।

यह कहने की कठिनता से आवश्यकता है कि हम इस अध्याय में केवल याज्ञवल्क्य तथा एक वा दो अन्य धर्म्मशास्त्रों का उल्लेख करेंगे जो कि पौराणिक काल के हैं । मुसल्मानों के विजय के उपरान्त के बने हुए अथवा पूर्णतया फिर से लिखे गए धर्म्मशास्त्रों पर हम निर्भयता से भरोसा नहीं कर सकते ।

पौराणिक काल के सब धर्म्मशास्त्रों में चार बड़ी जातियों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का उल्लेख है। इनमें से पहिली तीनों जातियां उस समय तक भी धार्म्मिक विधानों को करने तथा वेद पढ़ने की अधिकारी थीं। इनके कार्य्य क्रमात् ये थे अर्थात् वेद पढ़ना, शस्त्र चलाने का अभ्यास करना और पशु चराना। और उनके जीविका निर्वाह के विषय में ब्राह्मणों के लिये दूसरों का यज्ञ करना और दान ग्रहण करना, क्षत्रिय के लिये लोगों की रक्षा करना और वैश्य के लिये खेती करना, गौ रखना, व्यापार करना, द्रव्य उधार देना और बीज बोना था (विष्णु, २)।

शूद्र का धर्म्म अन्य जातियों की सेवा करना था और उसकी जीविकावृत्ति भिन्न भिन्न प्रकार के शिल्प द्वारा कही गई है (विष्णु २) वह वाणिज्य भी कर सकता था, (याज्ञवल्क्य, १,१२०) और निस्सन्देह बहुत से दूसरे व्यवसाय भी करता था।

याज्ञवल्क्य भी भिन्न भिन्न मुख्य जातियों के पुरुषों और स्त्रियों के द्वारा मिश्रित जातियों की उत्पत्ति की प्राचीन कथा लिखता है, उसने जिन १३ मिश्रित जातियों का उल्लेख किया है वे ये हैं—

पिता	माता	जाति
ब्राह्मण	क्षत्रिय	मूर्द्धाभिशक्ति
,,	वैश्य	अम्बष्ठ
,,	शूद्र	निषाद वा पार्सव
क्षत्रिय	वैश्य	माहिश्य
,,	शूद्र	उग्र

वैश्य	,,	करन
क्षत्रिय	ब्राह्मण	सूत
वैश्य	,,	वैदेहक
शूद्र	,,	चाण्डाल
वैश्य	क्षत्रिय	मागध
शूद्र	,,	क्षत्री
,,	वैश्य	आयोगव
माहिश्य	करन	रथकार

(याज्ञवल्क्य १,९१-९५)

अब एक बार पुन: इस बात को दिखलाने की कठिनता से आश्यकता है कि ऊपर जो मिश्रित जातियां कही कई हैं, वे भारतवर्ष की आज कल की व्यवसाय करने वाली जातियां नहीं हैं, वरन उनमें से अधिकांश उन आदि वासी जातियों के नाम हैं, जो धीरे धीरे हिन्दू रीति और सभ्यता को ग्रहण कर रही थीं और पूर्णतया शूद्र जाति में सम्मिलित नहीं हुई थीं। यह विदित होगा कि याज्ञवल्क्य को इन जातियों के धीरे धीरे हिन्दुओं में मिलने का कुछ विचार था क्योंकि उपरोक्त सूची के उपरान्त ही वह लिखता है कि सातवें अथवा पांचवें युग में भी कर्मों के अनुसार नीच जाति उच्च पद को प्राप्त कर सकती है (१,९६)।

अत: इन मिश्रित जातियों से हमें आज कल की व्यवसाय करने वाली जातियों की उत्पत्ति का पता नहीं लगता। इन आधुनिक जातियों की उत्पत्ति किस प्रकार हुई? पैाराणिक धर्म्मशास्त्रों से इस विषय का कुछ पता लगेगा।

मनु के ग्रन्थ में कायस्थों का कोई उल्लेख नहीं क्योंकि बौद्धकाल में प्रत्येक न्यायालय और कार्यालय में लेखकों के नियत करने की रीति साधारणतः प्रचलित नहीं थी। पौराणिक काल में लेखक लोग बहुत और प्रभाव शाली हो गए थे, और वे न्यायालय में न्यायाधीश के पास कार्य्य करते थे, दस्तावेजों पर शाक्षी करते थे और कानून के सम्बन्ध का सब लिखने पढ़ने का कार्य्य करते थे। वे बहुधा इससे भी ऊंचे कार्य्यों में नियत किए जाते थे और राजा लोग उन्हें आय का प्रबन्ध करने, कर उगाहने, राज्य का हिसाब रखने और उन सब कार्य्यों के करने के लिये नियत करते थे जो कि आज कल कोश विभाग के मंत्री को करने पड़ते हैं। मृच्छकटि नामक एक नाटक में हम एक कायस्थ अर्थात् दस्तावेज रखने वाले को न्यायालय में न्यायाधीश की सेवा में पाते हैं और कल्हण ने अपने काश्मीर के इतिहास में कायस्थों का राजाओं के हिसाब रखने वालों, कर उगाहने वालों, और कोषाध्यक्ष की नांई बहुधा उल्लेख किया है। वे शीघ्र ही ब्राह्मणों के कोप में पड़े क्योंकि वे सभों से कर उगाहते थे किसी को नहीं छोड़ते थे और इस कारण स्वयं कल्हण ने भी बहुत कड़े ही शब्दों में उनकी निन्दा की है। कर देने वाले पुजेरियों के इस क्षमायोग्य क्रोध को छोड़कर हम उनके अनुगृहीत हैं कि पौराणिक काल के ग्रन्थों के वाक्यों से हमें विदित होता है कि भारतवर्ष में इस व्यवसाय करने वालों की किस भांति उत्पत्ति हुई और उनके मुख्य कार्य्य क्या थे। यह सम्भव जान पड़ता है कि इस जाति के लोग मुख्यतः सर्व साधारण लोगों अर्थात् क्षत्रियों और वैश्यों में

से लिए गए। ब्राह्मण लोग कठिनता से ऐसे कार्य्यों के करने का अपमान सहन कर सकते थे और शूद्रों में उनको करने की योग्यता नहीं थी *। मुसल्मानों की विजय के उपरान्त इस व्यवसाय के करने वालों की एक जुदी और अविचल जाति हो गई।

याज्ञवल्क्य कहता है (१,३२६) कि राजा को छलने वालों, चोरों, उपद्रवी लोगों, डांकुओं इत्यादि से और विशेषतः कायस्थों से अपनी प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। यहां यदि हम कायस्थों से आधुनिक जाति का तात्पर्य समझें तो इस वाक्य का कोई अर्थ नहीं होता क्योंकि किसी विशेष जाति की रक्षा किए जाने को आवश्यकता का कोई कारण नहीं देख पड़ता। इसके विरुद्ध यदि हम इस शब्द का तात्पर्य लोभी कर उगाहने वालों से समझें, तो हम उस ग्रन्थकार के विचारों को समझ सकते हैं, जिसने कि उनकी चोरों और डाकुओं में गणना की है। ऐसा सत्कार आज तक भी कर उगाहने वालों का किया जाता है। और यह स्पष्ट है कि

* इस अध्याय में तथा अन्यत्र हमने कायस्थों और वैद्यों की उत्पत्ति प्राचीन क्षत्रियों और वैश्यों से दिखलाई है। परन्तु कई वर्षों से इस सिद्धान्त का विरोध हो रहा है और कायस्थों के क्षत्रिय होने के प्रमाण दिखलाए गए हैं। हम इस वाद विवाद में प्रवृत्त नहीं हुए हैं और हम इस विषय में कोई सम्मति देने में अयोग्य हैं। हमारा मुख्य कथन यह है कि आधुनिक कायस्थ और वैद्य लोग शूद्र नहीं हैं और न उनकी दो जाति के सम्मेल से उत्पत्ति हुई है। वे भारतवर्ष के प्राचीन आर्य्यों की सन्तान हैं और केवल एक जुदा व्यवसाय ग्रहण करने के कारण उनकी जुदी जुदी जातियां बन

यद्यपि याज्ञवल्क्य कायस्थों का उल्लेख करता है परन्तु उनका अपनी मिश्रित जातियों की सूची में वर्णन नहीं करता। इससे यह प्रमाणित होता है कि पौराणिक काल में कायस्थ केवल एक व्यवसाय के लोग थे, उनकी कोई जुदी जाति नहीं थी।

अब हम विष्णु पुराण से उद्धृत करेंगे। उसमें दस्तावेजों के प्रसिद्ध अध्याय में तीन प्रकार के दस्तावेज कहे गए हैं अर्थात् (१) जिन पर राजा के हस्ताक्षर हों जो कि आजकल के रजिस्टरी किए हुए दस्तावेज के काम देते थे (२) वे जिन पर अन्य शाक्षियों के हस्ताक्षर हों और (३) वे जिन पर किसी की साक्षी न हो। इसके आगे ग्रन्थकार कहता है कि "दस्तावेज पर राजा की सही तब कही जाती है जब कि वह राजदर्बार में राजा के नियत किए हुए कायस्थ के द्वारा लिखी जाय और उसमें दर्बार के प्रधान के हस्ताक्षर हों। यहां भी यदि हम कायस्थ से किसी जाति को समझें तो इस शब्द का कोई अर्थ नहीं होता। डाक्टर जौली साहेब ने इस शब्द का अनुवाद केवल "लेखक" किया है और यह ठीक है। पौराणिक काल में कायस्थ का अर्थ ठीक वही था जो कि आज कल मोहर्रिर का अर्थ है।

गई हैं। यह सम्भव है कि कायस्थ लोग केवल क्षत्रिय जाति से ही लिए गए हों और क्षत्रिय राजाओं के धनहीन भाइयों ने राज्य-न्यायालय में हिसाब लिखने और दस्तावेज रखने का कार्य्य प्रसन्नता से स्वीकार किया हो। हमें यह विदित किया गया गया है कि उत्तरी भारतवर्ष में आज तक भी कायस्थों में सम्बन्धियों की मृत्यु होने पर अशौच का समय उतना नहीं है जितना कि क्षत्रियों के लिये है।

अब हमें वैद्यों के विषय में लिखाना है। धर्म्म-शास्त्रों ने उनके साथ भी कायस्थों से अच्छा व्यवहार नहीं किया। यदि याज्ञवल्क्य ने कायस्थों की गणना चोरों और डांकुओं में की है तो उसने वैद्यों की गणना भी चोरों वेश्याओं इत्यादि के साथ की है जिनका कि भोजन ग्रहण नहीं किया जा सकता [१,१६२]। परन्तु जिस बात को हम स्पष्ट रीति से दिखलाया चाहते हैं वह यह है कि याज्ञवल्क्य ने वैद्यों को भी अपनी मिश्रित जाति की सूची में सम्मिलित नहीं किया है और इससे यह प्रगट होता है कि पौराणिक काल में वैद्यों का भी एक व्यवसाय था कोई जाति नहीं थी। आधुनिक जाति भेद का समर्थन करनेवाले प्राचीन सूत्रकारों तथा मनु और याज्ञवल्क्य के अम्बक जाति से आधुनिक वैद्यों को मिलाने का उद्योग करते हैं। वशिष्ठ ने अम्बष्ठों की उत्पत्ति ब्राह्मणों और क्षत्रियों के संयोग से लिखी है। और मनु तथा याज्ञवल्क्य ने उनका जन्म ब्राह्मणों और वैश्यों से लिखा है। और मनु यह भी कहता है कि अम्बष्ठ लोग औषधि का कार्य्य करते थे [१०, ४७]। इसी निर्बल प्रमाण पर आधुनिक वैद्य लोग इसी अम्बष्ठ जाति से मिलाए गए हैं मानों ब्राह्मणों के अपने से नीच जाति की कन्याओं का पीछा करने और उन्हे ग्रहण करने के पहिले आर्य्यलोग वैद्यगी करते ही नहीं थे, और मानो इस मिश्रित जाति की उत्पत्ति के पहिले आर्य्य हिन्दुओं को वैद्यक शास्त्र अविदित था! आज कल के पाठक लोग ऐसी कल्पित कथाओं को छोड़कर बिना सन्देह के इस बात को स्वीकार करेंगे कि आधुनिक वैद्य लोग प्राचीन

अन्य वैश्यों से उत्पन्न हुए हैं और एक जुदा व्यवसाय करने के कारण उनकी यक जुदी जाति बन गई है; और कायस्थों की नांई वैद्यों के विषय में भी यह सम्भव है कि बंगाल के सेन वंशी राजाओं की नांई राजाओं की क्षत्रिय जातियों की सन्तान भी इस आधुनिक व्यवसाय की जाति में सम्मलित हो गई हों।

परन्तु यद्यपि पौराणिक काल में जुदे जुदे व्यवसाय करने वालों की जुदी जुदी जातियां नहीं हो गई थीं तथापि भिन्न भिन्न व्यवसाय अपमान की दृष्टि से देखे जाने लगे थे जैसा कि हम कायस्थों और वैद्यों के विषय में दिखला चुके हैं। जातिभेद का जिसने कि पुजेरियों के अधिकार और स्वत्वों को अनुचित रीति से बढ़ा दिया था पुजेरियों के सिवाय अन्य सचाई के व्यापारों और व्यवसायों पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। हमने मनु के ग्रंथों में इस बात को देखा है और याज्ञवल्क्य में और भी अधिक देखते हैं। एक वाक्य में जिसका कि हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं (१, १६०–१६५) उसने बहुत से व्यवसाय करना अपवित्र कहा है और वैद्यों, सोनारों, लोहारों, तातियों, रँगरेजों, शस्त्र बनाने वालों और तेलियों की गणना चोरों और वेश्याओं के साथ की है। इस प्रकार जातिभेद का अपने पीछे के रूप में दो फल हुआ जैसा कि हमारे पाठक लोग ऊपर के सदृश वाक्यों से देखेंगे। उसने जाति में भेद कर के परस्पर के द्वेश को उत्पन्न किया और उसने ब्राह्मणों को उच्च पद देने के लिये अन्य जातियों को नीचा बनाया।

अध्याय ६।

हिन्दुओं और जैनियों की गृह और मूर्ति निर्माण विद्या।

हम पहिले एक अध्याय में भारतवर्ष में बौद्धों की गृहनिर्माण विद्या के विषय में लिख चुके हैं। बौद्धों की गृह निर्माण विद्या के इतिहास की पांचवीं शताब्दी में समाप्ति होती है और पांच सौ ईस्वी के पीछे के बहुत ही थोड़े नमूने हम लोगों को मिलते हैं। इसके विरुद्ध हिन्दू मन्दिरों के वर्तमान नमूनों को देखने से विदित होता है कि वे इसी समय में प्रारम्भ होते हैं और भारतवर्ष के मुसल्मानी विजय के बहुत उपरान्त तक जारी रहते हैं। ये घटनाएं जो सारे भारतवर्ष में चिरस्थायी पत्थरों पर लिखी हुई हैं उस विभाग का समर्थन करती हैं जो कि हमने बौद्ध काल और पौराणिक काल का किया है।

उत्तरी भारतवर्ष का ढंग।

तब हिन्दू मन्दिरों के सब से प्राचीन नमूनों का समय ५०० ईस्वी से प्रारम्भ होता है और ये नमूने अपने शुद्ध रूप में बहुतायत से उड़ीसा में मिलते हैं। जो मनुष्य उड़ीसा के भुवनेश्वर नगर में गया है उसे हिन्दू मन्दिरों का बहुत अधिक वृत्तान्त विदित है जो कि कई पृष्ट के वर्णन से भी नहीं विदित हो सकता।

उत्तरी भारतवर्ष के मन्दिरों की बनावट में कुछ विशेष बातें हैं जो कि सारे उत्तरी भारतवर्ष की सब प्राचीन इमारतों में देखने में आती हैं। विमान के ऊंचे बुर्ज का

आकार वक्रीय होता है और उसके सिरे पर अमलक होता है जो कि इस नाम के किसी फल के आकार का समझा जाता है। उनमें खण्डों के होने का कोई चिन्ह नहीं दीख पड़ता और उनमें कहीं पर खम्भे नहीं हैं। उसके द्वारा पर सुरखा-कार सिरा होता है जिसमें कि बहुत सी कार्नीस होती हैं। डाक्टर फर्ग्यूसन साहब ने इस बात को दिखलाया है कि बनारस के आज कल के मन्दरों के रूप (और बनारस का कोई वर्तमान मन्दिर दो शताब्दियों से प्राचीन नहीं है) में परिवर्तन होने पर भी उनमें वे ही विशेषता हैं जो कि बारहवीं शताब्दी के बने हुए उड़ीसा के विमानों में पाई जाती है। *

कहा जाता है कि भुवनेश्वर में सैकड़ों मन्दिर बनाए गए थे और उनमें से बहुत से अब तक भी वर्तमान हैं और दर्शकों को आश्चर्यित करते हैं। उनमें से सब से प्रसिद्ध वह है जो भुवनेश्वर का बड़ा मन्दिर कहलाता है और वह सन् ६१७ और ६५७ ईस्वी के बीच का बना है। उसकी पहिली इमारत जिसमें कि विमान और द्वार सम्मिलित हैं १६० फीट लम्बी थी और उसके उपरान्त १२ वीं शताब्दी में उसमें नाट मन्दिर और भोग मन्दिर बनवाए गए। बिमान के भीतर का भाग ६६ फीट का एक समचतुर्भुज है और वह १८० फीट ऊंचा है। यह समस्त इमारत पत्थर की है। इसके बाहर

* कदाचित पाठकों को यह सूचना देनी अनावश्यक नहीं है कि इस अध्याय की सब बातें डाक्टर फर्ग्यूसन साहब के उत्तम और पूर्ण ग्रन्थ " हिस्टरी आफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर" से ली गई हैं।

का भाग बहुत ही उत्तम खुदाई के काम से ढका हुआ है। प्रत्येक पत्थर पर एक एक प्रकार की खुदाई है और यह अनुमान किया जाता है कि स्वयं इस इमारत की बनवाई में जितना व्यय हुआ होगा उसका तिगुना उसकी खुदाई में लगा होगा। "बहुत से लोगों का यह विचार होगा कि इसकी चौगुनी इमारत का बड़ा और अधिक प्रभाव पड़ता। परन्तु हिन्दू लोगों ने इस विषय को इस दृष्टि से कभी नहीं देखा होगा। उन लोगों का यह विचार था कि प्रत्येक बात में बहुत ही अधिक परिश्रम करने से वे अपने मन्दिर को अपने देवता के अधिक योग्य बना सकते थे और चाहे उनका विचार सत्य हो वा असत्य इसका फल निस्संदेह अद्भुत रीति से सुन्दर हुआ। मूर्ति निर्माण का काम बहुत ही उच्च श्रेणी का और बड़े ही सुन्दर नमूने का है।" (फर्ग्यूसन पृष्ठ ४२२)

कनारक का प्रसिद्ध काला मन्दिर जिसका कि अब केवल बरामदा रह गया है १२४१ ई० का बना हुआ समझा जाता है। डाक्टर फर्ग्यूसन साहब अच्छे प्रमाणों के साथ इस बात का समर्थन करते हैं कि वह ८५० वा ८७५ में बना था। उसकी गच ४० फीट की चौकोर है और उसकी छत भीतर की ओर ढालुआं होते हुए २० फीट तक हो गई है और वहां उसपर चौरस पत्थर की छत पाट दी गई है जो कि लोहे की २१ वा २३ फीट लम्बी धरनों पर है। और उससे हिन्दुओं की लोहे को ढालने की विद्या प्रगट होती है जो कि अब उनमें नहीं रही है। इसके बाहरी भाग में "बारहों कोनों तथा मोड़ों पर बहुत ही सुन्दर चित्र विचित्र खुदाई

का काम है और ईंटे ऐसी सुन्दरता और विचार के साथ लगाई गई हैं जिसकी बराबरी कोई सच्चा यवन कठिनता से कर सकता था।" (फर्ग्यूसन पृष्ठ ४२८)

इसके उपरान्त हमारे साम्हने पुरी का जगन्नाथ का मन्दिर है, जो कि उड़ीसा में वैष्णव धर्म्म के शैव धर्म्म को दबा लेने के उपरान्त बना था। उससे केवल धर्म्म का परिवर्तन ही प्रगट नहीं होता वरन हिन्दू धर्म्म में अधमता का आजाना भी प्रगट होता है जो कि सन् ११७४ ई० की इस इमारत पर अंकित है। "परन्तु इस मन्दिर की केवल बनावट ही से नहीं वरन उसके आकार, प्रकार और प्रत्येक बातों से विदित होता है कि इस शिल्प को कम से कम इस प्रान्त में वह हानिकारक धक्का पहुंचा था जिससे कि वह अपनी पहिली अवस्था को प्राप्त नहीं कर सका" (फर्ग्यूसन पृष्ठ ४३०)

इस मन्दिर का बिमान बीच में ८५ फीट लम्बा है, और वह १९२ फीट की ऊँचाई तक उठा हुआ है, बरामदे को लेकर उसकी पूरी लम्बाई १५५ फीट है और नाट मन्दिर तथा भोग मन्दिर को लेकर, भुवनेश्वर के बड़े मन्दिर की नाईं वह ३०० फीट लम्बा है।

बुन्देलखण्ड के प्रान्त में प्राचीन हिन्दू मन्दिर अधिकता से सम्भवतः उड़ीसा को छोड़ कर उत्तरी भारतवर्ष के और सब स्थानों की अपेक्षा बहुत अधिकता से पाए जाते हैं। बुन्देलखण्ड के खजुराहो स्थान में लगभग ३० बड़े बड़े मन्दिर हैं जिनमें से कि प्रायः सब ९५० ई० से लेकर १०५० ई० के भीतर के हैं, जो कि हमारे पाठकों को स्मरण

होगा कि राजकीय उलट फेर के अन्धकार मय समय के उपरान्त राजपूतों की प्रबलता की पहिली शताब्दी है। डाक्टर फर्ग्यूसन साहब के ग्रन्थ में इनमें से एक मन्दिर का एक उत्तम चित्र दिया हुआ है जिससे कि उड़ीसा की बनावट के परिवर्तन प्रगट होते हैं। एक ऊंचे बिमान के चारों ओर बहुत से छोटे छोटे बिमान उसको घेरे हुए हैं। उसकी कुर्सी ऊंची है और उसके चारों ओर मूर्तियों की खुदी हुई तीन पंक्तियां हैं। जेनरल कनिंघाम साहब ने इनमें ८७२ मूर्तियां गिनी हैं जिनमें कि बहुतायत से बेल बूटे का काम भी मिला हुआ है। इस मन्दिर की उंचाई ११६ फीट अर्थात् चबूतरे के ऊपर ८८ फीट है और उसके बाहर का रूप बहुत ही भड़कीला और सजा हुआ है।

भूपाल राज्य में ११ वीं शताब्दी के एक मन्दिर का पूरा नमूना है। उसे मालवा के किसी राजा ने सन् १०६० ई० में बनवया था। विमान बहुत ही सुन्दर और भड़कीले अमलक के चार चौरस बंद से सुसज्जित है और उसके चारों ओर के अमलक पर भी बहुत ही अच्छी नकाशी का काम है। मन्दिर की नकाशी में सर्वत्र यथार्थता और उत्तमता पाई जाती है।

अब हम राजपुताने की ओर झुकेंगे। चित्तौड़ के प्रसिद्ध खंडहरों में हमने कुंभु की रानी के बनवाए हुए मन्दिरों को देखा है। कुंभ एक बड़ा विजयी राजा था और वह जैन धर्म्मावलम्बी था। उसने सत्री में जैन मन्दिर और चित्तौर में विजय का संगमर्मर का खम्भा बनवाया है। उसकी रानी मीराबाई एक कट्टर हिन्दू जान पड़ती है और

उसने दो मन्दिर बनवाए हैं (१४१८-१४६८) जो कि अब खँडहर हो गए हैं और उनमें वृक्ष आदि उग आए हैं। विमान और बरामदे दोनों ही का ढंग निस्सन्देह उड़ीसा के मन्दिरों का सा है। मन्दिर के चारों ओर खम्भों की पंक्तियां है और चारों कोने पर चार छोटी छोटी कोठरियां हैं और ऐसा ही द्वार पर भी है।

महाराष्ट्र देश में भी प्राचीन मन्दिरों के नमूनों में न इतना उत्तम नकाशी का काम है और न वे इतने अधिक हैं जितने कि उड़ीसा में। महराष्ट्र मन्दिरों में मनोरञ्जक बात केवल यह है कि वहां उड़ीसा वा उत्तरी भारतवर्ष के ढंग के द्रविड़ अथवा दक्षिणी भारतवर्ष के ढंग पर प्रभुत्व पाने के लिये यत्न किया गया है। मरहठा लोग द्राविड़ जाति के हैं परन्तु आर्य्यों के साथ उनके संसर्ग ने तथा उनमें आर्य सभ्यता के प्रचार ने उन्हें आर्यों के अर्थात् उत्तरी भारतवर्ष के ढंग को ग्रहण करने के लिये उत्तेजित किया। इमारतों में दोनों ढंगों के चिन्ह देख पड़ते हैं।

जब कि उड़ीसा, बुंदेलखंड, मालवा, महाराष्ट्र, और राजपूताना में प्राचीन मन्दिरों के नमूने इतनी अधिकता से मिलते हैं तो वे स्वयं आर्यों के निवासस्थान अर्थात् गंगा और जमुना की घाटी में इतने अप्राप्य क्यों हैं? इसका उत्तर स्पष्ट है। बारहवीं शताब्दी में मुसल्मानों ने गङ्गा और यमुना की घाटियों को विजय किया और उन्होंने केवल उस समय के प्राचीन मन्दिरों को तोड़वा कर उनके पत्थरों से मसजिद और मीनार ही नहीं बनवाए वरन मन्दिरों के निर्माण की उन्नति को भी रोक दिया।

राजनैतिक जीवन के लोप हो जाने पर शिल्प की उन्नति सम्भव नहीं है और जो दुर्बल उद्योग देखने में आ भी सकते थे उनको कट्टर मुसल्मानों ने रोक दिया। परन्तु हिन्दुओं की स्वतंत्रता अबतक भी राजपूताना, महाराष्ट्र, मालवा, बुंदेलखण्ड और उड़ीसा में रह गई थी और यही कारण है कि इन प्रान्तों में हम प्राचीन मन्दिर बचे हुए और नए मन्दिर बने हुए पाते हैं।

सम्राट अकबर के समय में मानसिंह ने वृन्दावन में एक बड़ा मन्दिर बनवाया था परन्तु कहा जाता है कि कट्टर औरङ्गजेब की आँखे इस मन्दिर के ऊंचे सिरे को न देख सकीं और उसने इस मन्दिर को गिरवा डाला। इस मन्दिर का जो भाग शेष है और जिसे हमारी अंग्रेजी सरकार ने अंशतः बनवा दिया है उसे वृन्दबन में जानेवाले प्रत्येक यात्री ने देखा होगा।

मन्दिरों का निर्माण अब तक भी उड़ीसा के पुराने ढंग के अनुसार होता था, यद्यपि उसमें बहुत परिवर्तन हो गए थे। उन्होंने नए मुसल्मानी ढंग को भी ग्रहण किया था। यह बात बनारस के आधुनिक मन्दिरों में यथा विश्वेश्वर के मन्दिर में देखने में आती है। उड़ीसा के मन्दिरों का विमान छोटा कर दिया गया है और बीच में विमान के चारों ओर बहुत से छोटे छोटे विमान बनाए गए हैं और आगे के बरामदे में उड़ीसा की शुंडाकार छत के स्थान पर मुसल्मानी ढंग का गुम्बज है जो कि बहुत ही सुन्दर है परन्तु मन्दिर की बनावट के मेल में नहीं है। बंगाल में लोगों के छाए हुए झोपड़ों की सुन्दर झुकी हुई छतों से

एक नई सुन्दरता ली गई है। बंगाल में पत्थर के मन्दिर प्रायः नहीं हैं परन्तु ईंटों के शिवालय बनते हैं जिनकी छत छाए हुए झोपड़ों की नाईं सुन्दरता से झुकी हुई होती है और जिनकी दीवारें कहीं कहीं खपरे के उत्तम श्रेणी के काम से ढकी हुई होती हैं, इन मन्दिरों के नोकीले मेहराब मुसलमानी ढंग से लिए गए हैं यद्यपि बंगाल के आधुनिक शिवालयों में उत्तरी भारतवर्ष के ढंग से इतना अन्तर है जितना कि भली भांति बिचारा जा सकता है।

उत्तरी भारतवर्ष की जैन इमारतों ने उड़ीसा के विमान के ढंग को ग्रहण किया परन्तु काल पाकर उसने सुन्दर मुसलमानी गुम्बज का भी आश्रय लिया। मन्दिरों के समूह बनाने की चाल अन्य धर्म्म के लोगों की अपेक्षा जैनियों में बहुत अधिक है। सामान्य श्रेणी के धनाढ्य लोग प्रत्येक शताब्दी में मन्दिर पर मन्दिर बनवाते हैं और यद्यपि उनके प्रत्येक मन्दिर में राजाओं की आज्ञा से बने हुए हिन्दू मन्दिरों की शान नहीं पाई जाती तथापि कुछ समय में मन्दिरों के समूह किसी पहाड़ी वा तीर्थ स्थान को मन्दिरों के नगर में परिवर्त्तित कर देते हैं। ऐसे ही गुजरात में पलीताने के मन्दिर हैं जिनमें से कुछ ११ वीं शताब्दी के बने हुए प्राचीन हैं और उनमें से सब से पीछे के केवल वर्त्तमान शताब्दी के बने हैं। ये सैकड़ों मन्दिर विस्तृत पहाड़ियों की चोटियों और उनके बीच की घाटी को ढके हुए हैं और इन मन्दिरों के पूरे समूह का साधारण प्रभाव बहुत पड़ता है।

गिरनार भारतवर्ष के इतिहास में एक प्रसिद्ध स्थान है। प्रतापी अशोक ने यहां अपनी सूचनाओं की एक प्रति खुदवाई थी और शाह तथा गुप्त वंश के राजाओं ने अपने अपने शिलालेख खुदवाए थे। यहां झुण्ड के झुण्ड जैन मन्दिर १० वीं शताब्दी से बनवाए गए हैं और उनमें से एक तेजपाल और वस्तुपाल का बनवाया है। गिरनार की पहाड़ी के निकट ही सोमनाथ का प्राचीन मन्दिर था जिसे कि महमूद गज़नवी ने नष्ट कर दिया।

परन्तु जैन इमारतों की नाक आबू के दो अद्वितीय मन्दिर हैं। भारतवर्ष के मन्दिरों में केवल वे ही सम्पूर्ण सफेद संगमर्मर के बने हुए हैं जो कि ३०० मील से अधिक दूर से कटवाकर लाए गए होंगे। इनमें से एक मन्दिर को विमल शाह ने लगभग १०३२ ईस्वी में बनवाया था और दूसरे को जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है तेजपाल और वस्तुपाल ने ११९७ और १२४७ के बीच में बनवाया था। इसका बरामदा सुन्दर नकाशीदार खम्भों पर है और गुम्बज के भीतर की ओर सुन्दर और उत्तम नकाशी का काम है जो कि भारतवर्ष में अद्वितीय है।

द्रविड़ ढंग।

अब हम दक्षिणी भारतवर्ष अर्थात द्रविड़ के ढंग का वर्णन करेंगे जो कि उत्तरी ढंग से बिलकुल भिन्न है। एक मोटे हिसाब से कृष्णा नदी के दक्षिण के प्राय:द्वीप की इमारतें इसी ढंग की बनी हुई हैं।

बौद्ध इमारतों और उत्तरी भारतवर्ष की इमारतों के ढंग में कोई सम्बंध नहीं पाया गया है। उड़ीसा के सब से

प्राचीन मन्दिरों में बौद्ध ढंग के कोई चिन्ह नहीं मिलते। उनमें से सब से प्राचीन मन्दिर बनावट में अर्थात् ढांचे और कारीगरी में सब प्रकार पूर्ण हैं और इस ढंग के इतिहास का इसके पहिले कोई पता नहीं चलता।

परंतु द्रविड़ की अर्थात् पश्चिमी ढंग की उत्पत्ति बौद्धों के गुफा खोदने के ढंग से दिखलाई गई है। सब से प्राचीन द्रविड़ मन्दिर जो अब वर्त्तमान हैं वे गुफा खोद कर बनाए गए थे। और सबसे पीछे के समय में द्रविड़ इमारतों ने जो उन्नतियां कीं उनमें उनकी उत्पत्ति के और भी चिन्ह मिलते हैं।

एलोरा कृष्णा नदी से दूर उत्तर की ओर है। एलोरा की कई इमारतों के ढांचे और उनकी बनावट के देखने से इसमें बहुत कम सन्देह हो सकता है कि वे द्रविड़ ढंग की हैं। कैलाश का मन्दिर आठवीं वा नवीं शताब्दी में बनाया गया था और यह समझा जाता है कि इसी समय के लगभग चालुक्यों की प्रबलता के पतन होने पर दक्षिण के द्रविड़ लोगों अर्थात् प्रबल चोला लोगों ने उत्तर की ओर अपना राज्य बढ़ाया था। इससे कृष्णानदी से इतनी दूर उत्तर में द्रविड़ ढंग के इस अद्भुत नमूने के मिलने का कारण विदित हो जाता है।

चट्टान में २७० फीट लम्बा और १५० चौड़ा एक बड़ा गड्हा खोदा गया है। इस चौकोर गड्हे के बीच में मन्दिर है जिसका विमान ८० वा ९० फीट ऊंचा है और जिसके आगे का बड़ा बरामदा १६ खम्भों पर है और यह एक पुल तथा गोपुर अर्थात् फाटक के द्वारा मन्दिर से मिला

हुआ है। इसके सिवाय दो दीपदान और चारों ओर छोटी छोटी कोठरियां हैं। यह मन्दिर की पूरी बनावट के ढांचे का है परन्तु वह ठोस चट्टान में काट कर बनाया गया है और इन बड़ी इमारतों का एक ही पत्थर से बनने के कारण उन में वह पायदारी, मजबूती और शान है जो कि सब देखने वालों को आश्चर्य्यित करती है। चारों ओर की कोठरियां बौद्ध इमारतों के ढंग पर हैं परन्तु इन सातों कोठरियों में से प्रत्येक में भिन्न भिन्न हिन्दू देवताओं की स्थापना है। इसकी बनावट से प्राचीन बौद्ध से हिन्दू ढंग का निकला विदित होता है।

जब हम दक्षिण के चट्टान खोद कर बनाए हुए मन्दिरों को छोड़ कर उठाए हुए मन्दिरों क ओर फिरते हैं तो हमे यह देख कर आश्चर्य्यित होना पड़ता है कि उनमें से सब से बड़े और सब से उत्तम मन्दिर बहुत ही थोड़े समय के बने हुए हैं। जिन शताब्दियों में उत्तरी भारतवर्ष तथा दक्षिण भी मुसल्मानों के अधीन था उनमें कृष्णा नदी के दक्षिण में दक्षिण ढंग के मन्दिर निर्म्माण करने की विद्या अद्भुत बल और परिश्रम के साथ की जा रही थी। और दक्षिण के मन्दिर बनाने वाले अपने परिश्रम से उस समय तक नहीं चूके जब कि गत शताब्दी में अंग्रेजी और फरासीसी लोग कर्नाटक में प्रभुत्व पाने के लिये झगड़ रहे थे। दक्षिण में उठा कर बनाए हुए एक सब से प्राचीन मन्दिरों में तंजोर का बड़ा मन्दिर है, परन्तु उसकी तिथि भी १४ वीं शताब्दी से पहिले निश्चित नहीं की जा सकती और यह कल्पना की जाती है कि उसे प्राचीन कांचीवरम अर्थात् काञ्ची के एक

राजा ने बनवाया था। नीचे का सीधा भाग दो खण्ड का ऊंचा है, और इसके ऊपर इमारत सुण्डाकार होकर १३ खण्डों की ऊंची, है इसके सिरे पर एक गुम्बज़ है जो कि एक ही बड़े पत्थर का बना हुआ कहा जा सकता है। इसकी पूरी ऊंचाई १९० फीट है और इस भड़कीली इमारत का रूप मनोहर और सुन्दर है। यह इमारत यद्यपि एलोरा के चट्टान खोद कर बने हुए मन्दिर से बहुत भिन्न है तथापि उसमें उसी ढंग के होने के चिन्ह मिलते हैं।

दक्षिणी भारतवर्ष के सब से मान्य और सब से प्राचीन मन्दिरों में समुद्र तट पर कावेरी नदी के मुहाने के कुछ उत्तर चिल्लमबरं का मन्दिर है। उसका बनवाना निस्सन्देह दसवीं वा ग्यारहवीं शताब्दी में प्रारम्भ किया गया था, परन्तु इसके सब से अच्छे भाग १५ वीं, १६ वीं और १७ शताब्दियों के बने हुए हैं। इन्हीं शताब्दियों में बड़े गोपुर अर्थात् फाटक, पार्वती के मन्दिर और एक हजार खम्भों के बड़े और सुन्दर दलान का समय निश्चित करना चाहिए। पार्वती के मन्दिर का अगला भाग अद्भुत रीति से सुन्दर है। १००० खम्भों के दालान के खम्भे सामने की ओर २४ और लम्बान की ओर ४१ की पंक्तियों में हैं। कड़े पत्थरों के खम्भों का कुञ्ज जिसमें से प्रत्येक खम्भा एक ही पत्थर का बना हुआ है, और सब पर थोड़ी वा बहुत नकाशी का काम है एक अद्भुत शान का प्रभाव उत्पन्न करता है।

तंजौर के निकट शरिंघम का रौनकदार मन्दिर गत शताब्दी में बना था और निस्सन्देह इस मन्दिर का बनना फरासीसियों के कारण रुक गया, जिन्होंने कि ट्रिचिना-

पल्ली के लेने के लिये अंग्रेजों से १० वर्ष तक युद्ध करने के समय में यहां रह कर किलाबन्दी की थी। इसके १४ वा १५ सुन्दर नक्काशीदार फाटकों को दूर से देखने से बहुत ही अद्भुत प्रभाव पड़ता है। परन्तु इसके बीच की अधिक उत्तम बनावट सब के ऊपर उठी हुई नहीं है और यह अभाव दक्षिण के प्रायः सब बड़े बड़े मन्दिरों में पाया जाता है। वे सब थोड़े वा अधिक इमारतों के समूह हैं, जो कि सुन्दरता और काम की उत्तमता में आंख को चकाचौंध में डालने वाले हैं, परन्तु उनमें उत्तरी भारतवर्ष के मन्दिरों की नांई दृष्टि किसी बीच की अद्भुत इमारत पर नहीं ठहरती।

मदुरा में एक बड़ा मन्दिर है जो कि कहा जाता है, १६ वीं शताब्दी में प्रारम्भ किया गया था, परन्तु स्वयं मन्दिर को १७ वीं शताब्दी में त्रिमुल्ल नायक ने बनवाया। यह एक बड़ा चौखुटा मन्दिर है जो कि लगभग ८४० फीट लम्बा और ७२० फीट चौड़ा है और उसमें ९ गोपुर तथा १००० खम्भों का एक दालान है, जिनके पत्थर की नक्काशियां इस प्रकार की बहुत सी अन्य इमारतों से बढ़ कर हैं। इस मन्दिर के सिवाय मदुरा में एक प्रसिद्ध चोलत्री भी है जिसे कि इसी नायक ने राजा के यहां दस दिन भेट करने के अवसर पर मुख्य देवता के लिये बनवाया था। यह ३३३ फीट लम्बी और १०५ फीट चौड़ी एक बड़ी दालान है जिसमें कि खम्भों की चार पंक्तियां हैं, और उनमें से सब पर बहुत सुन्दर भिन्न भिन्न नक्काशी हैं।

द्वीपों की उस श्रेणी में से एक पर जो कि भारतवर्ष को लंका से जोड़ती हुई जान पड़ती हैं, रामेश्वर का प्रसिद्ध

मन्दिर है जिसमें द्रविड़ ढंग की सब से पूर्ण सुन्दरता देखने में आती है। मदुरा की नाईं यह मन्दिर भी (एक नीचे और प्राचीन विमान को छोड़ कर) १७वीं शताब्दी का बना हुआ है। मन्दिर के चारों ओर ८८६ फीट लम्बी और ६७२ फीट चौड़ी और २० फीट ऊंची दीवाल का घेरा है, इसके चारों ओर चार बड़े बड़े गोपुर हैं, परन्तु उनमें से केवल एक ही पूरा बना है। परन्तु मन्दिर की शान उसके लम्बे दालान में है जो कि लगभग ४००० फीट लम्बे हैं। उसकी चौड़ाई २० फीट से ३० तक है, और ऊंचाई ३० फीट है। "कोई नक्काशी उस विचार को नहीं प्रगट कर सकती जो कि लगातार ७०० फीट की लम्बाई तक इस परिश्रम की कारीगरी को देखने से होती है। हमारे कोई गिर्जे ५०० फीट से अधिक ऊंचे नहीं हैं और सेंट-पीटर के गिर्जे का मध्य भाग भी द्वार से लेकर पूजास्थान तक केवल ६०० फीट लंबा है। यहां बगल के लंबे दालान ७०० फीट लम्बे हैं और वे उन फैले हुए पतले दालानों से जुड़े हुए हैं जिनका काम स्वयं उनकी ही भांति सुन्दर और उत्तम है। इनमें भिन्न भिन्न उपायों और प्रकाश के प्रबन्ध से ऐसा प्रभाव उत्पन्न होता है जो कि निस्सन्देह भारतवर्ष में और कहीं नहीं पाया जाता। यहां हमें ४००० फीट तक लंबे दालान मिलते हैं जिनके दोनों ओर कड़े से कड़े पत्थरों पर नक्काशी की गई है। यहां पर परिश्रम की जो अधिकता देखने में आती है उसका प्रभाव नक्काशी के गुण की अपेक्षा बहुत अधिक होता है और वह एक प्रकार की मनोहरता और अद्भुतता को लिए हुए एक ऐसा प्रभाव उत्पन्न करता है जो कि भारतवर्ष के किसी मन्दिर में नहीं पाया जाता है"। (फर्ग्यूसन् पृष्ठ २५८)

कांचीवरम या काञ्ची के प्राचीन नगर में बहुत से मनोहर मन्दिर हैं जो कि प्राय: इतने बड़े हैं जितने कि अन्यत्र कहीं नहीं मिलते। कांचीवरम में एक बड़ा मन्दिर है जिसमें कि कई बड़े बड़े गोपुर और १००० खम्भों का एक दालान तथा उत्तम मंडप और बड़े बड़े तलाब हैं जिसमें सीढ़ियां भी हैं।

हमारे पाठकों को स्मरण होगा कि दक्षिणी भारतवर्ष में विजयनगर में हिन्दुओं का अन्तिम प्रबल राज्य था और उसने अपनी स्वतंत्रता दो शताब्दियों से अधिक समय तक अर्थात् १३४४ से १५५६ ई० तक रक्षित रक्खी। यहां गृह निर्माण शिल्प तथा विद्या और वेदाध्यायन उन्नति की अवस्था में रहे और सारे भारतवर्ष में कठिनता से कोई ऐसा नगर है जिसमें कि हिन्दुओं की विद्या और उनके प्रताप के इस अन्तिम नगर की नांई उसके चिन्ह इतने बहुतायत से वर्त्तमान हैं।

विटोप के मन्दिर का अगला भाग बड़ा ही सुन्दर और मनोहर है जो कि सारा कड़े पत्थरों से बना हुआ है और जिसकी खोदाई के काम में वह साहस और पराक्रम पाया जाता है जिसकी कि समानता इस प्रकार की इमारतों में और कहीं नहीं मिलती। बहुत से दूसरे मन्दिर और इमारतें भी बड़ी सुन्दर और विस्तृत पाई जाती हैं जो कि विजयनगर के राजाओं के अधिकर और उद्योग की शिक्षा देती हैं।

परन्तु इन राजाओं की सब से उत्तम इमारतें नगर में नहीं है वरन् विजयनगर के लगभग १०० मील दक्षिण पूरब की ओर तरपुत्री नामक एक स्थान में है। वहां अब एक उजाड़ मन्दिर के दो गोपुर खड़े हैं जिनमें से एक तो पूरा

बन गया है और दूसरे का केवल खड़े भाग के ऊपर नहीं बना है। "यह समस्त खड़ा भाग बहुत ही उत्तम खोदाई के काम से ढका हुआ है यह एक सुन्दर ठोस पत्थर पर बहुत ही उत्तम गहराई और शुद्धता के साथ बनाया गया है, और इसका अन्य बनावटों से अधिक और सम्भवतः विशेष मनोहर प्रभाव होता है ! (फरग्यूसन पृष्ठ ३९५) ।

अब दक्षिणी जैनियों की इमारतों के विषय में हम देखते हैं कि उन्होंने प्रायः द्रविड़ ढंग को ग्रहण किया है जैसा कि उत्तरी जैनियों ने उड़ीसा के ढंग को ग्रहण किया था। चन्द्रगिरि पर्वत पर १५ मन्दिरों का समूह है। प्रत्येक मन्दिर के भीतर एक दालान है जिसके चारों ओर बरामदे हैं जिसके पीछे की ओर तीर्थंकर की प्रधान मूर्ति की कोठरी के ऊपर विमान उठा हुआ है।

मन्दिरों के सिवाय दक्षिणी जैनियों ने कई स्थानों पर पर्वताकार मूर्तियां बनवाई हैं जो कि उत्तर में पूर्णतया नहीं हैं। वे गौतम राजा की मूर्तियां कही जाती हैं और ऐसा अनुमान किया जाता है कि गौतम बुद्ध के राजकुमार वा राजा होने के कुछ अस्पष्ट स्मरण इन मूर्तियों के बनवाने के कारण हैं। इनमें से एक श्रावन बेलगुल में है जिसने कि वेलिंटन के ड्यूक सर ए वेलेसली साहब का ध्यान आकर्षित किया था जिस समय कि वे सेरिंगपटम को घेरने में एक सेना के सेनापति थे। यह ७० फीट ३ इंच ऊंची एक मूर्ति है और ऐसा समझा जाता है कि यह एक ठोस पहाड़ी को काटकर बनाई गई है जो कि पहिले इस स्थान पर थी। ईजिप्ट के सिवाय और कहीं ऐसा भारी और इतना प्रभाव

उत्पन्न करने वाला दृश्य नहीं है और ईजिप्ट में भी कोई मूर्ति इससे अधिक ऊंची नहीं है। (फर्ग्यूसन पृष्ठ २६८)

दक्षिणी ढंग।

हम हिन्दू इमारतों के दो भिन्न ढंग के विषय में लिख चुके हैं अर्थात एक तो उड़ीसा वा उत्तरी भारतवर्ष का जो कि विंध्या पर्वत के उत्तर के देश में पाया जाता है, और दूसरा द्रविड़ का अथवा दक्षिणी भारतवर्ष का ढंग जो कि कृष्णा नदी के दक्षिण देश में पाया जाता है। परन्तु इनके सिवाय एक तीसरे प्रकार का ढंग भी है जिसे डाक्टर फर्ग्यूसन साहेब चालुक्य ढंग कहते हैं और जो विंध्या पर्वत और कृष्णा नदी के बीच में अर्थात् उस देश में जो कि दक्षिण कहलाता है, मिलता है। इसकी अभी पूरी तरह जांच नहीं की गई है, क्योंकि और देशों की अपेक्षा निज़ाम के राज्य में अभी कुछ भी खोज नहीं की गई है। इसके सिवाय यह भी सम्भव है कि वहां कई शताब्दियों तक बराबर मुसल्मानों का राज्य रहने के कारण बहुत ही कम प्राचीन हिन्दुओं की इमारतें बची होंगी। इस के जो नमूने विदित हैं, उनमें से सब से उत्तम मैसूर के राज्य में हैं जो कि यद्यपि कृष्णा के दक्षिण में है पर फिर भी यहां पर चालुक्य ढंग की वृद्धि हुई है।

इस ढंग की विशेषता यह है कि मन्दिरों का आधार बहुभुज वा तारे के रूप का होता है, दिवारें कुछ दूर तक सीधी उठती हैं, और तब ढालुआं होती हुई हैं एक बिंदु पर मिल जाती हैं।

हमारे पाठकों को स्मरण होगा कि बल्लाल राजाओं ने मैसूर और कर्नाटक में सन् १००० से सन् १३१० ईस्वी तक सर्व प्रधान रह कर राज्य किया और इस वंश के राजाओं ने मन्दिरों के तीन अद्भुत समूह बनवाए हैं। इनमें से एक तो सोमनाथपुर में विनादित्य बल्लाल का बनवाया हुआ है, जो कि सन् १०४३ में राजगद्दी पर बैठा था। इस मन्दिर की ऊंचाई केवल ३० फीट है परन्तु उसकी विशेषता उसके वाह्य रूप की अद्भुत सुन्दरता और काम की बारीकी में है। दूसरा मन्दिर बेलूर में है जिसे विष्णुवर्द्धन ने १११४ ईस्वी के लगभग बनवाया था। उसमें प्रधान मन्दिरों के चारों ओर चार वा पांच अन्य मन्दिर तथा बहुत सी छोटी छोटी इमारतें हैं जो कि एक ऊंची दीवार से घिरी हुई हैं और उसमें दो उत्तम गोपुर हैं। इसकी २८ खिड़कियों में मूर्ति निर्माण विद्या का अद्भुत काम दिखलाया गया है। बल्लाल राजाओं का तीसरा और अन्तिम मन्दिर हुल्लाविड़ में है। इस मन्दिर को जिसे कि कैटईश्वर का मन्दिर कहते हैं, सम्भवत: इस वंश के पांचवें राजा विजय ने इसे बनवाया था। "नींव से लेकर सिरे तक वह भारतवर्ष के सब से उत्तम श्रेणी के खुदाई के काम से ढका हुआ है और ये इस प्रकार से बनए गए हैं कि वे इमारत के वाह्य रूप में कोई विशेष हस्तक्षेप नहीं करते वरन् उसे ऐसी शोभा देते हैं जो कि केवल हिन्दू शिल्प के नमूनों में पाई जाती है। यदि इस मन्दिर का संपूर्ण चित्र देना सम्भव होता तो सम्भवत: भारतवर्ष में और कोई ऐसी वस्तु नहीं होती जिससे कि

उसके बनाने वालों की योग्यता का अधिक परिचय मिलता" (फरग्यूसन पृष्ठ ८३७)।

परन्तु कैटईश्वर के मन्दिर से अधिक उत्तम उसके निकट का हुल्लाबिड का बड़ा दोहरा मन्दिर है। यदि यह दोहरा मन्दिर पूरा बन गया होता तो यह एक ऐसी इमारत होती जिस पर कि डाक्टर फरग्यूसन साहेब के कथनानुसार, हिन्दू गृहनिर्माण विद्या के प्रशंसक अपनी स्थिति लेना चाहते। परन्तु दुर्भाग्य वश यह इमारत समाप्त न हो सकी। ८६ वर्ष तक यह बनती रही परन्तु इसके उपरान्त सन् १३१० ई० में मुसल्मानों की विजय ने इसका बनना रोक दिया।

"निस्सन्देह इतने पेचीले और इतने भिन्न भिन्न प्रकार के नमूनों का दृष्टान्त के द्वारा समझाना असम्भव है। यह इमारत पांच वा छ फीट ऊंचे एक चबूतरे पर है जिसमें कि बड़े बड़े पत्थर की पटिया लगी हैं। इस चबूतरे के ऊपर हाथियों की एक पंक्ति खुदी है जो कि लगभग ७१० फीट लम्बी है और उसमें २००० हाथियों से कम नहीं है और उनमें से अधिक पर साज तथा सवार भी इस भांति खुदे हुए हैं जैसा कि केवल पूर्व देश वासी इन्हें बना सकते हैं। इसके ऊपर शार्दूलों अर्थात् कल्पित सिंहों की पंक्ति है जो कि इस मन्दिर को बनाने वाले होइशल बल्लालों का राज्यचिन्ह है। इसके उपरान्त बड़े सुन्दर चित्र विचित्र बेल बूटों का काम है, उसके ऊपर घोड़सवारों की पंक्ति और दूसरे बेल बूटों का काम है और उसके ऊपर रामायण के दृश्य यथा लंकाविजय तथा अन्य भिन्न घटनाओं के

दृश्य खुदे हुए हैं। यह भी पहिले मन्दिर की नांई ७०० फीट लम्बा है इसके उपरान्त स्वर्ग के पशु और पक्षियों की मूर्तियां हैं और पूरब ओर बराबर मनुष्यों के भुण्ड की पंक्ति है और फिर कटघरे के सहित एक कार्निस है जिसमें कि बराबर खाने हैं जिनमें से प्रत्येक खाने में दो मूर्तियां हैं। इनके ऊपर जालीदार पत्थर की खिड़कियां हैं जो कि बेलूर के मन्दिर की नाईं हैं यद्यपि उनमें इतना अधिक और इतने भिन्न भिन्न प्रकार का काम नहीं है, मध्य में खिड़कियों के स्थान पर पहिले बेल बूटे हैं और उसके उपरान्त देवताओं और स्वर्ग की अप्सराओं तथा हिंदू कथाओं की अन्य बातों की पंक्ति है। यह पंक्ति जो कि साढ़े पांच फीट ऊंची है इमारत के संपूर्ण पश्चिमी ओर भी है तथा उसकी लम्बाई ४०० फीट के लगभग है इसमें शिव तथा उसके जांघ पर उसकी पत्नी पार्वती की मूर्ति कम से कम १४ बार दी गई है। विष्णु के नवों अवतार की भी इसमें मूर्तियां हैं। ब्रह्मा की तीन वा चार मूर्तियां हैं और इसमें हिन्दुओं की कथाओं के प्रत्येक देवता दिए हैं। इनमें से कुछ मूर्तियों में ऐसा महीन काम है कि उसका चित्र केवल फोटोग्राफ के द्वारा लिया जा सकता है और सम्भवतः वह धैर्यमान पूरब में भी मनुष्यों के परिश्रम का सब से अद्भुत नमूना समझा जा सकता है"। (फरग्यूसन पृष्ठ ४०१)

हमने डाक्टर फरग्यूसन साहेब के ग्रन्थ से अपने पाठकों को उन खुदाई के अद्भुत कामों से परिचय दिलाने के लिये इन बड़े बड़े वाक्यों को उद्धृत किया है जिनके विषय में कि हमने प्रायः प्रत्येक मन्दिर और विमान, बरामदे और

गोपुर का वर्णन करने में इतनी बार उल्लेख किया है। हिन्दू मन्दिर में यदि उत्तम नक्काशी और सुन्दर काम बहुतायत से न हो तो वह कुछ नहीं है और यही अद्भुत और अनन्त बेल बूटों और खुदाई का काम उड़ीसा और राजपूताना से लेकर मैसूर और रामेश्वरम तक भारतवर्ष के प्रत्येक मन्दिर में पाया जाता है। अब हम हेलेबिड के मन्दिरों की सुन्दर नक्काशी के विषय में अपने उसी ग्रंथकर्ता की कुछ विचारशील बातों को उद्धृत करके इस अध्याय को समाप्त करेंगे जिसके वाक्यों को कि हमने इस अध्याय में इतनी अधिकता से उद्धृत किया है।

"यदि हलेबिड के मन्दिर का इस प्रकार से दृष्टान्त देकर समझाना सम्भव होता कि हमारे पाठक उसकी विशेषता से परिचित हो जाते तो उनमें तथा एथेंस के पार्थीनान में समानता ठहराने में बहुत ही कम वस्तुएं इतनी मनोरंजक और इतनी शिक्षाप्रद होतीं। यह बात नहीं है कि ये दोनो इमारतें एक सी हैं वरन इसके विरुद्ध वे गृहनिर्म्माण विद्या के दोनों ओर के अन्तिम सिरे हैं परन्तु वे अपनी अपनी श्रेणी के सब से उत्तम नमूने हैं और इन दोनों सिरों के बीच गृहनिर्म्माण करने की समस्त विद्या है।

"पार्थीनान गृहनिर्म्माण करने की शुद्ध उत्तम बुद्धि का सब से उत्तम नमूना है जो कि हमें अब तक विदित है। उसका प्रत्येक भाग और प्रत्येक वस्तु गणित की बड़ी शुद्धता और बड़ी कारीगरी के साथ बनाई गई है जिसकी बराबरी कभी नहीं हो सकी। उसके पत्थर का काम उसके निर्माण को पूर्णता पर पहुंचाने के लिये बहुत उत्तमता से

किया गया है जो कि बड़ा दृढ़ और देवताओं सा है और उसमें मनुष्यों के नीच विचार कहीं देखने में नहीं आते।

"हूलेबिड का मन्दिर इन सब बातों में विरुद्ध है वह समकोण है परन्तु उसके बाह्य रूप भिन्न भिन्न प्रकार के हैं तथा उसको विशेष बनावट में और भी अधिक भिन्नता है। पार्थीनान के सब खम्भे एक से हैं। परन्तु भारतवर्ष के इस मन्दिर के कोई दो भी एक से नहीं हैं, प्रत्येक बेल का प्रत्येक घुमाव जुदी जुदी भांति का है। सारी इमारत में कोई दो मंडप एक से नहीं हैं और प्रत्येक में कारीगरी की बाधाओं को लज्जित करती हुई, आनन्द देने वाली कल्पना की अधिकता देखने में आती है। मनुष्यों के धर्म्म की सब निगढ़ बातों तथा मानवी विचार की सब बातों के चित्र इन दीवारों में अङ्कित पाए जाते हैं। परन्तु इसमें शुद्ध बुद्धि की बहुत ही थोड़ी बातें हैं अर्थात् पार्थीनान में जो मानवी विचार पाए जाते हैं उनसे बहुत थोड़ी बातें इसमें पाई जाती हैं।

हमारे लिये भारतवर्ष के इन नमूनों का अध्ययन इस कारण बड़ा उपयोगी है कि उसमें गृहनिर्माण विद्या के गुणदोष के विषय में हमारे ज्ञान की वृद्धि होती है। हम लोग जिन रूपों से अब तक परिचित हैं उनसे इतने विपरीत रूपों को जानने से हम यह देख सकते हैं कि जो लोग एक ही रूप वा एक ही रीति से संतुष्ट हैं वे कितने परिमित हैं। इस विस्तृत दृष्टि से हमें यह देख पड़ेगा कि गृहनिर्माण विद्या भी इतनी ही भिन्न भिन्न भांति की हो सकती है जितने भिन्न भिन्न मनुष्यों के हृदय वा मस्तिष्क

कितने थोड़े ऐसे विचार और ऐसी कामनाएं हैं जो कि शिल्प के द्वारा प्रगट न की जा सकें। (फरग्यूसन पृष्ठ ४०३)

इन विचार शील तथा गृह निर्माण विद्या के सम्बन्ध में दार्शनिक बातों से इतिहास जानने वालों के स्वभावत: कुछ विचार मिलते हैं। क्या कारण है कि भारतवर्ष के गृह-निम्मोण विद्या में "शुद्ध बुद्धि" का अभाव प्रगट होता है जैसा कि डाकृर फरग्यूसन साहब कहते हैं ? और फिर क्या कारण है कि उसी गृह निम्मोण विद्या में आनन्द देनेवाली कल्पना की इतना अधिकता तथा "पवित्र विचार" अर्थात लाखों जीवधारियों को उनके सब मम्र विचार आशा और भय के भावों को, उनके नित्य के व्यवसायों को, उनके युद्ध और विजय को, उनके परिश्रम और पश्चात्ताप को, तथा उनके पापों को भी अपने मन्दिरों में चित्रित करने की इतनी प्रबल कामना पाई जाती है ?

पहिले प्रश्न का उत्तर सहज है। कपिल और काली-दास की भूमि में "शुद्धि बुद्धि" का अभाव नहीं था परन्तु दुर्भाग्य वश उच्चश्रेणी के लोगों में शारीरिक परिश्रम के व्यवसायों को करने की अरुचि थी। और जब जाति भेद एक बार पूरी तरह से स्थापित होगया तो शारीरिक परि-श्रम न करने की यह रुचि ऊंची जातियों का एक नियम होगया। विचारशील लोगों अर्थात् क्षत्रियों और ब्राह्मणों के लिये खुदाई का व्यवसाय करना असम्भव हो गया और इस प्रकार इस उत्तम शिल्प से उच्चश्रेणी के बुद्धवाले लोग सदा के लिये जुदे होगए। शिल्प करने वाली जातियों में सजने की विद्या की वह अद्भुत चतुराई थी जो कि हिन्दुओं के सब

प्रकार की कारीगरी में विशेष रूप से पाई जाती है, और उन्होंने कारीगरी में वह सुगमता प्राप्त की जो कि सैकड़ों वर्ष के अनुभाव से होती है। उनके लिये कोई परिश्रम का भी यत्न करना इतना बड़ा कार्य्य नहीं था जो कि न हो सके। किसी प्रकार का भी सूक्ष्म वा परिश्रम का काम ऐसा नहीं था, जिन्हें कि वे न कर सकें परन्तु फिर भी हिन्दू काल के अन्त तक वे लोग केवल शिल्पकार अर्थात् निपुण कारीगरों के वंशज बने रहे और इसके सिवाय उन्होंने और किसी विषय में उन्नति न की। पुजेरियों तथा राजाओं की आज्ञा से उन्होंने जिन अद्भुत इमारतों से भारतवर्ष को भर दिया है वे किसी उच्च बुद्धि के विचार वा किसी आविष्कारक बुद्धि के नमूने की अपेक्षा बड़े परिश्रम तथा सूक्ष्म और अनन्त कारीगरी के लिये अधिक प्रसिद्ध हैं। और उन हजारों मनुष्यों और स्त्रियों की सुन्दर मनोहर और स्वाभाविक मूर्तियों में जिन्हें कि प्रकृति के ध्यान पूर्वक अवलोकन ने इन शिल्पकारों को प्रत्येक मन्दिर और बरामदों के पत्थरों में खोदना सिखलाया था, हमारा उस उच्चश्रेणी की बुद्धि का खोजना व्यर्थ है, जो कि ग्रीस और रोम की संगमर्मर की मूर्तियों में पाई जाती है। फीडिअस और मैकेल एञ्जलो के ऐसे शिल्पकारों का होना असम्भव था।

दूसरे प्रश्न के उत्तर के लिये हमें इससे अधिक गूढ़ कारण खोजने पड़ेंगे। केवल ग्रीस के मन्दिरों में ही नहीं वरन यूरप के मध्य समय के तथा आज कल के गिरजों के लिये धर्म्म सम्बन्धी विषय और नमूने ही उपयुक्त समझे गए हैं। प्राटेस्टेण्ट जातियों के गिरजों की खिड़कियों को

ईसामसीह के चरित्र तथा अन्य पवित्र विषय के चित्र सुशोभित करते हैं और केथोलिक गिरजों को मसीह और उनकी माता की तथा पीरों और धार्म्मिक मनुष्यों की संगमर्मर की मूर्तियां सुशोभित करती हैं। भारतवर्ष में देवताओं के असंख्य मन्दिरों में भी मूर्तियां खोदी हुई हैं परन्तु वे केवल देवताओं और देवियों की मूर्तियां ही नहीं है वरन समस्त सृष्टि के जीवधारी तथा निर्जीव वस्तुओं की भी हैं, जैसे मनुष्यों और स्त्रियों की, उनके नित्य के कार्य्य, उनके युद्धों विजयों और बारातों की, हवा में रहने वाले और कल्पित प्राणियों तथा गन्धर्वों और अप्सराओं की, घोड़ों सांपों पक्षियों हाथियों और सिंहों की, वृक्षों और लताओं की तथा अन्य अन्य प्रकार की अर्थात् उन सब वस्तुओं की जिन्हें कि शिल्पकार सोच सकता था वा जो उसके शिल्प द्वारा दिखलाई जा सकती थीं।

हिन्दुओं के लिये यह प्रश्न अपनी ही व्याख्या प्रगट करता है। यूरोप में धर्म के विचार का सम्बन्ध ईश्वर के प्रताप और ईसा मसीह की शिक्षाओं तथा गिरजों के उपदेश और धार्म्मिक कार्यों से है। हिन्दुओं के लिये उनके जीवन के सब छोटे छोटे कार्य्य भी उनके धर्म एक भाग हैं। केवल नीति शिक्षा ही नहीं वरन सामाजिक और गृहस्थी के नियम, खाना पीना और मनुष्यों तथा प्राणियों के साथ व्यवहार करना भी उनके धर्म्म में सम्मिलित है। यह धर्म्म ही है जो कि उनके योधाओं को लड़ने के लिये, विद्वानों को अध्ययन और विचार करने के लिये, शिल्पकारों को अपना व्यवसाय करने के लिये और सब मनुष्यों के पर-

स्पर आचरण के लिये शिक्षा देता है। उपनिषदों में उत्तर काल के सब धार्म्मिक ग्रन्थों में स्वयं ब्रह्मन का ज्ञान है, सर्वव्यापक जगत में सभों की उत्पत्ति उसीसे हुई है, और सब उसीमें लीन हो जाते हैं। प्राचीन धर्म्मशास्त्रों में स्वयं धर्म्म शब्द का अर्थ आधुनिक धर्म्म से ही नहीं वरन मनुष्यों के कर्तव्य और मनुष्यों के जीवन के सब व्यवसाय उद्योग और प्रति दिन के कार्यों से है। अध्ययन, व्यवसाय और वाणिज्य को धर्म्म नियमानुसार चलाता है, धर्म्म खाने पीने और जीवन के सुखों के नियम निश्चित करता है, धर्म्म दीवानी और फौजदारी के नियमों और पैत्राधिकार के नियमों को निश्चित करता है, धर्म्म इस लोक में मनुष्य, और पशु बनस्पतियों पर तथा ऊपर के लोक में देवताओं और ऋषियों पर प्रभुत्व करता है। यह शब्द ऐसा नानार्थक है कि वह निर्जीव वस्तुओं के गुणों को भी प्रगट करता है, अग्नि का धर्म्म ही जलना है, वृक्षों का धर्म्म उगना है, और जल का धर्म्म सब से नीचे स्थान को खोजना है। और यद्यपि आज कल के हिन्दुओं का उनके पूर्वजों के विचार से बहुत ही परिवर्तन होगया है, तथापि अब तक भी कट्टर और धार्म्मिक हिन्दुओं का समस्त जीवन उन नियमों और विधानों के द्वारा चलता है, जिसे कि वे अपना धर्म्म समझते हैं, अर्थात् राजनैतिक, सामाजिक और गृह्य जीवन के प्रत्येक कार्य्य और प्रत्येक शब्द के नियम। धर्म्म विषय और सांसारिक विषय का भेद हिन्दुओं में नहीं है। आचरण का प्रत्येक नियम हिन्दुओं के धर्म्म का अंश है।

धर्म्म के सम्बन्ध में ऐसा विचार होने के कारण हिन्दुओं ने इन विचारों को अपनी इमारतों और खुदाई के काम में चित्रित करने का यत्न किया। मन्दिरों की पवित्र सीमा से कोई वस्तु भी, मजदूरों का नित्य का नीचे से नीचा व्यवसाय भी अथवा शोक, दुःख, और पाप भी वंचित नहीं रखा गया। सारी सृष्टि उस देवता से उत्पन्न हुई है, जिसके लिये कि मन्दिर बनवाए जाते थे, और जहां तक उनकी चतुराई और अविशांत परिश्रम से हो सकता था वे इन मन्दिरों पर सृष्टि को चित्रित करने का यत्न करते थे। ऊँच और नीच, बुद्धिमान और निर्बुद्धि, जीवधारी और निर्जीव अर्थात् समस्त संसार अपने हर्ष और दुःख के सहित हिन्दू धर्म्म के विचार में सम्मिलित है, और हिन्दुओं ने इन सर्वव्यापी विचार को अनुभव करके अपने परिश्रम और अपने धर्म्म के चिरस्थायी स्मारक पर सब सृष्टि को चित्रित करने का यत्न किया।

———:o:———

अध्याय १०

ज्योतिष बीजगणित और अंकगणित।

कोलब्रूक साहब यूरोप के पहिले ग्रन्थकार हैं, जिन्होंने हिन्दू बीजगणित अंकगणित और ज्योतिष के विषय की पूरी खोज की है, और उनके समय से लेकर आज तक किसी ग्रन्थकार ने अधिक सावधानी से और पक्षपात रहित होकर इस विषय में कोई ग्रन्थ नहीं लिखा है यद्यपि उनके पीछे के विद्वानों ने इस विषय पर कई बार विचार किया है। अतएव हम हिन्दू बीजगणित के विषय में कोलब्रूक साहेब के उन विचारों को उद्धृत करने के लिये क्षमा नहीं मांगेगे, जिनको लिखे हुए कि ७० वर्ष के ऊपर होगया है।

"युनानियों ने इस शास्त्र के मूल तत्वों को जिस शताब्दी में सीख लिया उसके उपरान्त की ही शताब्दी में हिन्दुओं ने इसमें विशेष उन्नति प्राप्त कर ली थी। हिन्दुओं को गणित के अंकों को लिखने की उत्तम रीति का लाभ था परन्तु युनानियों को इसका अभाव था। बीजगणित अंक-गणित के प्रायः सामान होने के कारण जहां अंकगणित की सब से उत्तम रीति प्रचलित थी वहां बीजगणित के कलन का आविष्कार भी अधिक सहज और स्वाभाविक हुआ, हिन्दु और डिओफैंटी प्रणालियों में कोई ऐसी स्पष्ट समानता नहीं देखी जाती कि जिससे उनका सम्बन्ध प्रमाणित हो। उनमें इस विचार की पुष्टि करने के लिये काफी भेद है, कि ये दोनों प्रणालियां एक दूसरे से स्वतंत्र रीति पर बनाई गई हैं।

"परन्तु यदि यह कहा जाय कि हिन्दुओं को इस विषय के ज्ञान का बीज एलेक्ज़ेण्ड्रिया के युनानियों से स्वयं अथवा बैक्ट्रिया के युनानियों द्वारा प्राप्त हुआ तो उसके साथ यह भी स्वीकार करना होगा कि एक बहुत ही निर्बल बीज ने भारतवर्ष में बहुत ही शीघ्र बढ़ कर सम्पूर्णता की उन्नत अवस्था को प्राप्त कर लिया"।

इसी ग्रन्थकार के हिन्दू ज्योतिष के सम्बन्ध के विचार भी वैसे ही ध्यान देने योग्य हैं। "हिन्दुओं ने समय को निश्चित करने के लिये जो ज्योतिष शास्त्र बनाया था उसमें निस्सन्देह बहुत प्राचीन समय में ही कुछ उन्नति करली थी। उनके सामाजिक और धर्म्म सम्बन्धी पञ्चाङ्ग मुख्यतः चन्द्रमा और सूर्य्य के अनुसार होते थे परन्तु केवल इन्हीं के अनुसार नहीं थे, और उन लोगों ने चन्द्रमा और सूर्य्य की गति को ध्यान पूर्वक जान लिया था, और ऐसी सफलता प्राप्त की कि उन्होंने चन्द्रमा का जो युति भगण निश्चित किया है जिससे कि उनका विशेषत सम्बन्ध था, वह युनानियों की अपेक्षा बहुतही शुद्ध है। उन्होंने क्रान्ति वृत्त को २७ वा २८ भागों में बांटा है जो कि स्पष्ट चन्द्रमा के दिन की संख्या से जाना गया है और यह सिद्धान्त जो उन्हीं का निर्माण किया हुआ जान पड़ता है निस्सन्देह अरब के लोगों से लिया गया था। स्थिर तारों को देखने के कारण उन्हें उनमें से सबसे प्रसिद्ध तारों की स्थिति का ज्ञान हुआ और धर्म्म सम्बन्धी कार्य्यों के लिये तथा मिथ्या विश्वास के कारण उन्होंने उन तारों के सूर्य्य के साथ उदय होने को तथा अन्य बातों को जाना।

अन्य तत्वों के साथ सूर्य, ग्रहों तथा नक्षत्रों की पूजा उनके धर्म सम्बन्धी परिणाम में एक मुख्य बात थी जिसका उपदेश वेदों में किया गया है, और वे धर्म के कारण इन नक्षत्र आदि को निरन्तर ध्यानपूर्वक देखने के लिये बाध्य हुए। वे सबसे भड़कीले मुख्य ग्रहों से विशेष परिचित थे और उन्होंने अपने पवित्र और सामाजिक पञ्चाङ्ग के निश्चित करने में सूर्य और चन्द्रमा के सहित बृहस्पति का काल ६० वर्षों के प्रसिद्ध चक्र के रूप में रक्खा है"।

जब कि हिन्दू ज्योतिष शास्त्र वेदों से इतना प्राचीन है तो इसमें बहुत कम सन्देह हो सकता है कि सन ईस्वी के उपरान्त इस शास्त्र ने युनानियों के द्वारा बहुत कुछ उन्नति प्राप्त की। हम अन्तिम कांड में देख चुके हैं कि बौद्ध काल के सिद्धान्त युनानियों के ज्योतिष शास्त्र के बहुत अनुगृहीत हैं।

उदाहरण के लिये सूर्य सम्बन्धी राशिचक्र को हिन्दुओं ने निस्सन्देह यूनानियों से पाया है। हिन्दुओं के राशि चक्र के बारह भाग करने से और प्रत्येक भाग को उन्हीं पशुओं के चिन्हों से अंकित होने के तथा उन्हीं अर्थ के नामों से पुकारने से जैसा कि यूनानी लोग करते थे इसमें बहुत कम सन्देह रह जाता है कि सन ईस्वी के उपरान्त हिन्दुओं ने के ज्योतिष शास्त्र की बातें लीं।

आर्यभट्ट पौराणिक काल में बीजगणित तथा ज्योतिष शास्त्र का पहिला हिन्दू ग्रन्थकार हुआ। उसका जन्म सन् ४७६ ईस्वी में हुआ जैसा कि वह स्वयं कहता है। उसने आर्यभट्टीय ग्रन्थ लिखा जिसमें कि गीतिका पाद, गणित पाद, कालक्रिया पाद और गोल पाद हैं।

इस ग्रन्थ को अब डाक्टर कर्न साहब ने प्रकाशित किया है और इसमें इस ज्योतिषी ने पृथ्वी के अपनी धूरी पर घूमने के सिद्धान्त तथा सूर्य और चन्द्र ग्रहणों के सच्चे कारण का साहस के साथ समर्थन किया है। आर्यभट्ट कहता है "जिस प्रकार किसी नौका में बैठा हुआ मनुष्य आगे बढ़ता हुआ स्थिर वस्तुओं को पीछे की ओर चलता देखता है उसी प्रकार तारे भी यद्यपि वे अचल हैं तथापि नित्य चलते हुए दिखाई पड़ते हैं।" जान पड़ता है कि ग्रहण के सम्बन्ध में आर्यभट्ट की बातें उसके समकालीनों को विदित थीं क्योंकि हम कालिदास के रघुवंश की (१६, ४०) एक उपमा में इस अविष्कार का उल्लेख पाते हैं जिसमें उसने कहा है कि "जो वस्तु वास्तव में पृथ्वी की छाया है उसे लोग चन्द्रमा की अपवित्रता समझते हैं।" गोलपाद में आर्यभट्ट ने सौर राशिचक्र के बारहों भाग के नाम दिए हैं। आर्यभट्ट ने पृथ्वी की परिधि की जो गणना की है (चार चार कोसों के ३३०० योजन) वह लगभग ठीक है।

आर्यभट्ट का जन्म प्रतापी अशोक की प्राचीन राजधानी पाटलिपुत्र में हुआ था और उसने छठीं शताब्दी के प्रारम्भ में अपने ग्रन्थ लिखे हैं। इस शताब्दी में विद्या की उन्नति केवल उज्जयिनी ही में परिमित नहीं थी, यद्यपि इस नगर ने प्रतापी विक्रमादित्य के कारण बहुत कुछ प्रसिद्धि पाई थी।

आर्यभट्ट का उत्तराधिकारी वराहमिहिर अवन्ती का एक सच्चा पुत्र था। उसका जन्म अवन्ती में हुआ था और वह आदित्य दास का पुत्र था जो कि स्वयं भी ज्यो-

लिखी था। डाक्टर हंटर तथा एलबेरुनी ने ज्योतिषियों की जो सूची सङ्कलित की है उसमें बराहमिहिर का समय सन् ५०५ ईस्वी दिया है और यह सम्भवतः उसके जन्म का समय है। हम पहिले कह चुके हैं कि विक्रम की सभा के "नवरत्नों" में एक यह भी था और डाक्टर भाऊदाजी ने उसकी मृत्यु का समय सन् ५८१ ई० निश्चित किया है।

उसने अपनी प्रसिद्ध पञ्चसिद्धान्तिका में पांच प्राचीन सिद्धान्तों अर्थात् पौलिश, रोमक, वसिष्ठ, सौर और पैतामह सिद्धान्तों को सङ्कलित किया है। हम इन सिद्धान्तों के विषय में इस पुस्तक के पिछले कांड में लिख चुके हैं।

बराह-मिहिर "बृहत् संहिता" नामक ग्रन्थ का भी रचयिता है जिसे कि डाक्टर कर्न साहब ने सम्पादित किया है। ग्रन्थ में भिन्न भिन्न विषयों पर पूरे १०६ अध्याय हैं। पहिले बीस अध्यायों में सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी और ग्रहों का विषय है, २१वें से ३९वें अध्याय तक वृष्टि, हवा, भूडील, उल्का, इन्द्रधनुष, आंधी, बज्र इत्यादि का विषय है, ४० से ४२ तक ग्रहों और बनस्पति का तथा भिन्न ऋतु में मिलने वाली व्यापार की सामग्रियों का विषय है, अध्याय ४३ से ६० तक बहुत सी फुटकर बातों का तथा घर बनाने, बगीचे, मन्दिर, मूर्ति इत्यादि का विषय है, अध्याय ६१ से ७८ तक में भिन्न भिन्न पशुओं और मनुष्यों तथा स्त्रियों इत्यादि का विषय है, अध्याय ७९ से ८५ तक रत्न और असबाब इत्यादि का विषय है, अध्याय ८६ से ९६ तक सब प्रकार के सगुन का विषय है और ९७ से १०६ तक बहुत से विषयों का वर्णन है जिनमें विवाह राशिचक्र के भाग इत्यादि भी सम्मिलित हैं।

इस ग्रन्थ के उपरोक्त विषयों से इस बृहद् ग्रन्थ में समस्त शास्त्रों के सम्मिलित होने का काफी ज्ञान नहीं होता। इसके ज्योतिष विद्या के उत्तम ग्रन्थ होने के अतिरिक्त साधारण विषयों के सम्बन्ध में जो सूचना मिलती है वह इतिहास जानने वालों के लिये बड़े ही मूल्य की है। उदाहरण के लिये १४ वें अध्याय में भारतवर्ष की छठीं शताब्दी का पूरा भूगोल है और उसमें बहुत से प्रान्तों और नगरों के नाम हैं। ४१ वें और ४२ वें अध्यायों में वाणिज्य की वस्तुओं, वनस्पतिओं और शिल्प की वस्तुओं के बहुत से नाम हैं जो कि सभ्यता का विशेष रूप से वृत्तान्त जानने के लिये बहुत ही आवश्यक हैं। इसी प्रकार ६१ वें अध्याय से लेकर ६७ वें अध्याय तक भिन्न भिन्न प्रकार के पशुओं का उल्लेख है और ७९ से ८५ तक भिन्न भिन्न प्रकार की वस्तुओं का हीरे से लेकर दांत साफ करने की कूची तक का वर्णन है। अध्याय ८५ हमारे लिये विशेष काम का है क्योंकि उसमें भिन्न भिन्न मूर्तियां तथा राम, बलि, आठ वा चार वा दो हाथों के विष्णु, बलदेव, कृष्ण और बलदेव के बीच एक देवी, साम्ब, चार मुख वाले ब्रह्मा, इन्द्र, शिव और उसकी पत्नी, अरहतों, देवता बुद्ध, सूर्य, लिङ्ग, यम, वरुण, कुबेर और हाथी के सिरवाले गणेश की मूर्तियों के बनाने के नियम हैं। और अध्याय ६० में कहा गया है कि भागवत लोग विष्णु की पूजा करते हैं, मग लोग सूर्य की पूजा करते हैं और द्विज लोग भस्म लगाकर शिव की पूजा करते हैं, मात्रि की पूजा वे लोग करते हैं जो लोग उसको जानते हैं और ब्राह्मण लोग ब्रह्मा की पूजा करते

हैं। शाक्य तथा नंगे जैनी परम दयालु और शान्त हृदय-वाले देवता (बुद्ध) की पूजा करते हैं। "प्रत्येक पंथ के लोगों को अपने अपने देवता की पूजा अपने पंथ के नियमानुसार करनी चाहिए।" इन वाक्यों से छठीं शताब्दी का विरोधा भाव प्रमाणित होता है। शङ्कराचार्य के उपरान्त का कोई हिन्दू देवताओं की सूची में बुद्ध के "परम दयालु" और "शान्त हृदय" होने का वर्णन नहीं करेगा। इसके उपरान्त की शताब्दी में ब्रह्मगुप्त ने अपना ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त नामक ग्रन्थ (६२८ ई० में) लिखा। इस ग्रन्थ में २१ अध्याय हैं। पहिले १० अध्यायों में ज्योतिष की प्रणाली का वर्णन है जिसमें ग्रहों के स्थानों, सूर्य और चन्द्रग्रहण की गणना, चन्द्रमा के रूपों की स्थिति, ग्रहों और नक्षत्रों इत्यादि का उल्लेख है। इसके उपरान्त के १८ वां अध्याय विषय पूरक हैं और अन्तिम अध्याय में स्फेरिक्स के विषय के लेख में ज्योतिष की प्रणाली का वर्णन किया है। १२ वें और १८वें अध्यायों का कोलब्रूक साहब ने अनुवाद किया है।

ब्रह्मगुप्त के उपरान्त अन्धकार और राजकीय उलट फेर का समय आया। जब इस समय की समाप्ति होकर भारतवर्ष में राजपूतों का अधिकार समाप्त हुआ उस समय एक दूसरा गणितज्ञ हुआ। प्रसिद्ध भास्कराचार्य का जन्म जैसा कि वह स्वयं कहता है सन १११४ ई० में हुआ और उसने सिद्धान्तशिरोमणि नाम का बड़ा ग्रन्थ सन ११५० ई० में समाप्त किया। इस ग्रन्थ के आरम्भ के भाग बीजगणित और लीलावती (अङ्क गणित) हैं और इनका अनुवाद कोलब्रूक साहब ने किया और गोलीय त्रिकोणमिति पर

गोलाध्याय के अंश का विलकिन्सन साहब ने अनुवाद किया है और उसे प्रसिद्ध गणितज्ञ पण्डित बापूदेव शास्त्री ने शोधा है।

भास्कराचार्य के ग्रन्थ में अद्भुत प्रश्नों के विवरण हैं जो कि यूरप में १७ वीं और १८ वीं शताब्दी तक नहीं प्राप्त हुए थे। * बीजगणित ने निस्सन्देह भारतवर्ष में एक अद्भुत उन्नति प्राप्त की थी। बीजगणित की ज्योतिषसंबन्धी खोज और रेखागणित सम्बन्धी प्रमाणों में प्रयोग करना हिन्दुओं का विशेष आविष्कार है और जिस रीति से वे उसका प्रयोग करते थे उसने आजकल के यूरोप के गणितज्ञों की प्रशंसा प्राप्त की है।

* स को निकालना जिसमें अ स२ + ब एक वर्ग संख्या हो, इस प्रश्न को हल करने के विषय में एक अद्भुत कथा कही जाती है। फ्रंसेट ने इस प्राचीन प्रश्न को हल करने के सम्बन्ध में कुछ उन्नति की और उसने १७ वीं शताब्दी में इस प्रश्न को अंग्रेजी बीजगणितज्ञों के पास हल करने के लिये भेजा। अन्त में इयूलर ने इसको हल किया और उसने उसी बात को प्राप्त किया जिसे कि भास्कर ने सन् ११५० ई० में प्राप्त किया था। भास्कर ने एक दूसरे प्रश्न को एक विशेष रीति से हल किया है और यह ठीक वही रीति है जिसे कि योरप में लोर्ड ब्रोंकर साहब ने सन १६५७ ई० में आविष्कृत किया था, और इसी प्रश्न का हल जिसे ब्रह्मगुप्त ने सातवीं शताब्दी में दिया है उसके हल करने का निष्फल उद्योग यूलर साहब ने किया था और उसे अन्त में सन् १७६७ ई० में डीलाग्रञ्जे साहब ने पूरा किया। हिन्दुओं की वह प्रिय रीति जो कि कुट्टक के नाम से प्रसिद्ध है, यूरोप में तब तक विदित नहीं हुई थी जब तक कि सन् १६२४ में बेकेट डिमेसेरिएक ने उसे नहीं प्रकाशित किया था।

जब कि भारतवर्ष में ज्योतिष शास्त्र, बीजगणित और अङ्कगणित की इतनी उन्नति हुई तो रेखागणित के शास्त्र का लोप हो गया । हिन्दुओं ने ईसा के पहिले आठवीं शताब्दी में रेखागणित के मूल नियम निकाले थे और उन्होंने उसे यूनानियों को सिखलाया था; परन्तु जब रेखागणित के नियमों के अनुसार वेदियों के बनाने का प्रचार उठ गया तो रेखागणित पर ध्यान नहीं दिया गया और रेखागणित सम्बन्धी प्रश्न बीजगणित के द्वारा हल किए जाने लगे ।

अरबी ग्रन्थकारों ने ईसा की आठवीं शताब्दी में हिन्दुओं के बीजगणित के ग्रन्थों का अनुवाद किया और सिसा देश के नियोनार्डो ने पहिले पहिल आधुनिक यूरोप को इस विद्या से परिचित कराया । त्रिकोणमिति में भी हिन्दू लोग संसार में सब से प्राचीन गुरू जान पड़ते हैं और गणित शास्त्र में उन्होंने उस दशमलव की प्रणाली को निकाला जिसे कि अरब लोगों ने उनसे उद्धृत करके यूरोप में सिखलाया और जो कि आजकल मनुष्य जाति की सम्पत्ति हो गई है ।

अध्याय ११।

वैद्यक

दुर्भाग्यवश भारतवर्ष के अन्य शास्त्रों की अपेक्षा हिन्दुओं के वैद्यक शास्त्र पर पहिले के पुरातत्ववेत्ताओं ने बहुत कम ध्यान दिया है और आजतक भी इस विषय में जो बातें संगृहीत की गई हैं वे पूर्ण नहीं हैं। सन् १८२३ ई० में प्रोफेसर यच यच विल्सन साहब ने "ओरिएण्टल मेगेज़ीन" में हिन्दू औषधियों और वैद्यक शास्त्रों की एक संक्षिप्त आलोचना प्रकाशित की। परिश्रमी यात्री और विद्वान सौमा-डी-क्रोरस ने सन् १८३५ ई० के जनवरी के एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में हिन्दू वैद्यक सिद्धान्तों का तिब्बत भाषा के अनुवादों के अनुसार वर्णन दिया था। हिज और एंस्ली साहबों ने भी हिन्दुओं के वैद्यक शास्त्र के विषय में बहुत सी बातें एकत्रित कीं। और सन् १८३७ ई० में लन्दन के किंगसकालेज के डाक्टर रौली ने उपरोक्त ग्रन्थों की सब बातों को लेकर इस विषय में अपने अनुसन्धान के साथ हिन्दू वैद्यक शास्त्र के पुरातत्व पर अपना प्रसिद्ध लेख प्रकाशित किया। हमारे प्रसिद्ध देशभाई मधुसूदन गुप्त ने जिसने कि पहिले पहिल अङ्ग को काटने के विरुद्ध आज कल के मिथ्या विचारों को दूर किया और जो कलकत्ते के मेडिकल कालेज में शरीर चीरने की विद्या का प्रोफेसर था हिन्दुओं के प्राचीन सुश्रुत नामक ग्रन्थ को प्रकाशित किया और यह प्रमाणित किया कि प्राचीन हिन्दुओं को वैज्ञानिक रीति से शास्त्र सम्बन्धी उद्योग के विरुद्ध कोई मिथ्या विचार नहीं थे, डाक्टर वाइज़ साहब ने जो कि पहिले बंगाल के चिकित्सा

व्यवहार में थे सन् १८४५ ई० में हिन्दुओं की प्राचीन वैद्यक प्रणाली के विषय में एक पुस्तक प्रकाशित की और इसके उपरान्त उसने वैद्यक शास्त्र के इतिहास पर अपनी आलोचना में जो कि लन्दन में सन १८६८ ई० में छापी गई थी इस विषय को अधिक योग्यता और पूर्णता के साथ लिखा है। उस समय से इस विषय ने हमारे देशवासियों का अधिक ध्यान आकर्षित किया है और हमारे देशहितैषी वैद्य अविनाश चन्द्र कविरत्न अब चरक और सुश्रुत का टीका के सहित एक बहुमूल्य संस्करण प्रकाशित कर रहे हैं।

यूरोप में हिन्दू वैद्यक शास्त्र का पुरातत्त्व अभी तक साधारणतः विदित नहीं हो गया है और आर्यों की सब सभ्यता की उत्पत्ति युनानियों से खोजने की आदत ने पक्षपात रहित खोज को अब तक रोक रक्खा है। डाकृर वाइज़ साहब का यह कथन ठीक है कि "वैद्यक शास्त्र के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध की बातें केवल यूनान और रोम के ग्रन्थकारों में खोजी गई हैं और वे उस पुराने सिद्धान्त के अनुकूल ठीक की गई हैं जो कि उन सब सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं जिनकी उत्पत्ति कि यूनान से नहीं हुई है। हम लोग बचपन से प्राचीन इतिहास से परिचित रहते हैं और उन घटनाओं को स्मरण करना पसन्द करते हैं जो कि बुद्धि के प्रदीप से दिखलाई गई और हमारे हृदय पर जमा दी गई हैं और उन विचारों को बदलने के लिये उस विषय की पूरी जांच की, नए प्रमाणों पर सावधानी से विचार करने की और निष्कपटता की आवश्यकता है जो कि सदा नहीं पाई जाती। फिर भी

सचाई और सरलता हमें इतिहास में जो नई नई बातें विदित हों उनकी जांच करने के लिये विवश करती है जिसमें कि हमें ठीक बातों का पता लग जाय।" स्वयं यूनानी लोग साधारणतः प्राचीन सभ्यता और विशेषतः वैद्यक शास्त्र को उत्पन्न करने का दावा नहीं करते जिस का दावा कि आधुनिक ग्रन्थकार बहुधा उनके लिये करते हैं। नियार्कस से हमें विदित होता है कि "यूनानी वैद्य लोग सांप के काटने की कोई दवा नहीं जानते थे परन्तु जो लोग इस दुर्घटना में पड़े उन्हें भारतवासी अच्छा कर देते थे।" स्वयं एरियन कहता है कि यूनानी लोग "जब बीमार होते थे तो वे मिथ्यावादियों (ब्राह्मणों) की दवा करते थे जो कि अद्भुत और मनुष्य की शक्ति के बाहर की रीति से उन सब रोगों को अच्छा कर देते थे जो कि अच्छे होने ये गय थे"। डिआस्कोराइडस जो कि ईसा की पहिली शताब्दी में हुआ प्राचीन लोगों में ओषधि के विषय में सब से बड़ा ग्रन्थकार है और डाक्टर रौले साहब ने अपनी पूरी जांच से यह दिखलाया है कि उसके ओषधि शास्त्र का कितना अंश हिन्दुओं के अधिक प्राचीन ओषधि शास्त्र से उद्धृत है। यही अवस्था थियोफ्रेसस की भी है जो कि ईसा के पहिले तीसरी शताब्दी में हुआ है और टीसियस वैद्य ने जो कि ईसा के पहिले पांचवीं शताब्दी में हुआ है भारतवर्ष का जो वृत्तान्त लिखा है उसमें डाक्टर विल्सन साहब ने दिखलाया है कि भारतवर्ष में उत्पन्न होने वाली वस्तुओं की आलोचना हैं। परन्तु प्रमाणों का यह सिल-सिला उस समय पूर्ण होता है जब कि हिपोक्रेटीस जो कि

"वैद्यक शास्त्र का जन्मदाता" इस कारण कहलाता है क्योंकि उसने यूरप में इस शास्त्र को पहिले पहिल अध्ययन किया, अपने औषधि शास्त्र को हिन्दुओं से उद्धृत किया हुआ दिखलाता है। हम इस विषय के प्रमाणों के लिये अपने पाठकों को डाक्टर रौले साहब के उत्तम लेख को देखने के लिये कहेंगे। डाक्टर वाइज़ साहब कहते हैं कि "हम लोग वैद्यक शास्त्र की पहिली प्रणाली के लिये हिन्दुओं के ही अनुगृहीत हैं।"

दुर्भाग्यवश हमें हिन्दुओं की उस सब से प्राचीन वैद्यक प्रणाली का बहुत ही कम अंश अब प्राप्त है जो कि कुरु और पञ्चाल लोगों के समय से उस समय तक प्रचलित थी जब कि सब हिन्दू विद्याओं के शास्त्र बने (१४०० से ४०० ई० पू० तक)। प्राचीन वैद्यक शास्त्र का पीछे के समय के ग्रन्थों में "आयुर्वेद" की भाँति उल्लेख किया गया है। सम्भवतः इस नाम से किसी विशेष ग्रन्थ का तात्पर्य्य नहीं था वरन् यह प्राचीन वैद्यक शास्त्र का ही नाम था, ठीक उसी भांति जैसा कि धनुर्वेद धनुष और शस्त्र चलाने की प्राचीन विद्या का नाम था। प्राचीन आयुर्वेद अर्थात् वैद्यक शास्त्र नीचे लखे हुए भागों में बांटा जाता है जिसे कि हम डाक्टर विलसन साहब के ग्रंथ से उद्धृत करते हैं—

(१) शल्य अर्थात् बाहरी चीजों यथा तीर, लकड़ी, मिट्टी इत्यादि निकालने की विद्या और उनसे जो सूजन और पीप हो जाती है उसकी चिकित्सा और उसी प्रकार से सब गिल्टियों घावों की चिकित्सा।

(२) शलाक्य अर्थात् अंगों के बाहरी रोगों यथा आँख, कान, नाक इत्यादि के रोग की चिकित्सा । इस शब्द की उत्पत्ति शलाका से है जो कि एक पतला चोखा शस्त्र होता है और जो प्राचीन समय से ही प्रचलित रहा होगा ।

(३) कायाचिकित्सा अर्थात् देह की चिकित्सा जो कि आजकल के औषधि शास्त्र का काम देती थी और शल्य तथा शलाक्य आजकल की चीर फाड़ का काम देती थी।

(४) भूत विद्या अर्थात् मन की शक्तियों की उस बिगड़ी हुई अवस्था की चिकित्सा, जो कि भूतों के कारण समझी जाती थी ।

(५) कुमार भृत्य अर्थात् बच्चों की रक्षा जिसमें बच्चों का प्रबन्ध और उनकी माता और दाइयों के रोगों की चिकित्सा सम्मिलित है ।

(६) अगद अर्थात् विष को मारने की औषधि ।

(७) रसायन ।

(८) बाजीकरन जिससे कि मनुष्यजाति की वृद्धि का उपाय समझा जाता था ।

औषधि शास्त्र ने भी अन्य शास्त्रों की नाईं समय पाकर बड़ी उन्नति की और बौद्ध काल में इस शास्त्र के बड़े बड़े ग्रन्थ लिखे गए परन्तु फिर भी प्राचीन बातों में उस भक्ति के साथ जिसके लिये कि सदा से हिन्दू ग्रंथकार प्रसिद्ध हैं इन पीछे के समय के ग्रन्थकारों ने प्राचीन शास्त्र को आयुर्वेद के नाम से ईश्वर का दिया हुआ लिखा है और उस प्राचीन विद्या और बुद्धि को पीछे के समय के कम बुद्धिमान मनुष्यों को केवल समझाना अपना उद्देश्य प्रगट

किया है। इन पीछे के समय के अधिक वैज्ञानिक ग्रन्थों में चरक और सुश्रुत के ग्रन्थ सब से अधिक प्रसिद्ध हैं और उन्हीं के ग्रन्थ सब से अधिक प्राचीन हैं जो कि अबतक वर्तमान हैं। यह विश्वास करने के प्रमाण हैं कि ये प्रसिद्ध ग्रंथकार बौद्ध काल में हुए हैं परंतु उनके ग्रन्थ पौराणिक काल में जब कि हिन्दू विद्या और शास्त्रों का साधारणतः पुनर्जीवन हुआ, संकलित किए गए थे। इन ग्रन्थों के नाम दूसरे दूसरे देशों में भी प्रसिद्ध हुए और आठवीं शताब्दी में हारूं रसीद के समय में इन ग्रन्थों के अनुवाद से अरब लोग परिचित थे। एक सबसे प्राचीन अरब ग्रन्थकार सेरापियन चरक को ज़र्क के नाम से लिखता है, एक दूसरा अरब ग्रन्थकार एविसेना उसे सिरक के नाम से बताता है, और रहाज़ेज़ जो कि एविसेना के पहिले हुआ है उसे सरक के नाम से लिखता है। इस प्रकार से हिन्दुओं के बौद्धकाल के बने हुए वैद्यक ग्रन्थों को पौराणिक काल में संसार के लिये पहिले पहिल अरब के लोगों ने प्रकाशित किया।

चरक का ग्रन्थ ८ भागों में हैं जिनके नाम नीचे लिखे जाते हैं।

(१) सूत्रस्थान जिसमें औषधि की उत्पत्ति, वैद्य के कर्तव्य, औषधि का प्रयोग, रोगों की चिकित्सा, औषधि शास्त्र, पथ्य इत्यादि का वर्णन है।

(२) निदानस्थान जिसमें रोगों का यथा ज्वर, रुधिर निकलना, फोड़ा, बहुमूत्र, कोढ़, दमा, पागलपन और मृगी का वर्णन है।

(३) विमानस्थान जिसमें मरी, पथ्य की प्रकृति, रोग के लक्षण और पहिचान, औषधियों के प्रयोग और शरीर के रसों के गुणों का विषय है।

(४) शरीरस्थान जिसमें आत्मा की प्रकृति, गर्भाधान, जातियों के भेद, तत्वों के गुण, शरीर का वर्णन, शरीर और आत्मा के सम्बन्ध का वर्णन है।

(५) इन्द्रियस्थान जिसमें इन्द्रियों और उनके रोगों का, देह के रंग, बोली के दोष, शरीर और इन्द्रियों के रोग, बल घटने और मृत्यु का वर्णन है।

(६) चिकित्सास्थान जिसमें कि रोगों की चिकित्सा और आरोग्य की वृद्धि, तथा दीर्घायु होने के उपाय का वर्णन है। उसमें ज्वर, जलन्धर, सूजन, बवासीर, अतिसार, पांडु रोग, दमा, खांसी, आंव, कै होना, सुर्ख बाद, प्यास और विष के असर का वर्णन है। उसमें मद्य के नशे को दूर करने, सूजन, मर्म स्थानों के रोग, घाव, गठिया और लकवे को अच्छा करने का वर्णन है।

(७) कल्पस्थान जिसमें कै की औषधि, रेचक की औषधि, विष हटाने वाली औषधि, और औषधि के मंत्रों का विषय है।

(८) सिद्धिस्थान जिसमें औषधियों को शोधने का, मूत्रस्थान, गर्भस्थान, आंतों के लिये पिचकारी लगाने का, फोड़ों का, पिचकारी के प्रयोग का, मर्मस्थानों इत्यादि का वर्णन है।

इस सारे ग्रन्थ में ऋषि आत्रेय ने अग्निवास को शिक्षा दी है। इसकी भूमिका में यह कहा गया है कि ब्रह्मा ने पहिले पहल शिक्षा प्रजापति को दी, प्रजापति ने उसे दोनों

अश्विनों को सिखलाया और अश्विनों ने उसे इन्द्र को सिखलाया। भारद्वाज ने इसे इन्द्र से पढ़ कर छः ऋषियों को सिखलाया जिसमें अग्निवास एक ऋषि थे।

सुश्रुत सम्भवतः चरक से पीछे का बना हुआ है और उसके विषय में भी ऐसी ही कथा कही गई है कि इन्द्र ने इस शास्त्र को देवताओं के वैद्य धन्वंतरि को सिखलाया और धन्वन्तरि ने आठ ऋषियों को सिखलाया जिनमें से सुश्रुत शिक्षाओं को शुद्ध शुद्ध लिखने को चुना गया था।

सुश्रुत के ग्रन्थ के विभाग भी चरक से बहुत मिलते है परन्तु चरक ने मुख्यतः औषधियों का वर्णन किया है और सुश्रुत ने अपने छओं भागों में जिनका कि नीचे उल्लेख किया जाता है मुख्यतः शस्त्र वैद्यक को लिखा है।

(१) सूत्रस्थान में औषधियों, शरीर के तत्वों और भिन्न भिन्न रोगों, वैद्यक के शस्त्रों और औषधियों को चुनने और शस्त्र का प्रयोग करने के उपरान्त की चिकित्सा का वर्णन किया है। उसके उपरान्त रक्त मय और शस्त्र वैद्यक सम्बन्धी रोगों का तथा बाहरी वस्तुओं को निकालने और घाव तथा फ़ोड़ों को अच्छा करने का वर्णन है, इसके सिवाय और भी अनेक विषयों का वर्णन है।

(२) निदानस्थान में रोगों के लक्षण और पहिचान का विषय है। इसमें गठिया, बवासीर, पथरी, भगन्दर, कोढ़, बहुमूत्र आदि के कारणों का वर्णन है। प्रसव कर्म में स्वभाव विरुद्ध बातों के होने, भीतरी सूजन, सुर्खबाद गलगण्ड, जलन्धर और जनमाने वाली इन्द्रियों तथा मुंह के रोगों पर विचार किया है।

(३) शारीरस्थान अर्थात शरीर चीरने की विद्या जिसमें शरीर की बनावट का वर्णन है। इसमें आत्मा और शरीर के मूलभाग, युवावस्था, गर्भ और शरीर की वृद्धि के विषयों पर विचार किया गया है। रक्त निकलने और गर्भाधान तथा बच्चों की चिकित्सा के विषय में भी विचार किया गया है।

(४) चिकित्सास्थान जिसमें रोग, घाव, फोड़े, सूजन, टूटन, गठिया, बवासीर, पथरी, भगन्दर, कोढ़, बहुमूत्र और जलन्धर के लक्षण और चिकित्सा का वर्णन है। गर्भ में असाधारण स्थिति से बच्चों को निकालने की रीति तथा अन्य विषयों का भी वर्णन है। पिचकारी लगाने, नास लेने और दवाइयों के धूओं के प्रयोग का भी वर्णन है।

(५) कल्पस्थान में विष उतारने वाली दवाइयों का वर्णन है। खाने और पीने की वस्तुओं को बनाने और रक्षित रखने और जहर के भोजन को पहिचानने के उपाय वर्णन किए गए हैं और भिन्न भिन्न धातु बनस्पति और जीवधारियों के विषों के उतारने का भी वर्णन किया गया है।

(६) उत्तरस्थान में अनेक स्थानिक रोगों यथा आंख, कान, नाक, और सिर के रोगों का वर्णन है। इसके सिवाय अनेक रोगों की चिकित्सा का यथा ज्वर, अतिसार, दमा, फोड़े, हृदय के रोगों, पाण्डुरोग, रक्तनिकलने, मूर्छा, नशे, खांसी, हुचकी, क्षई, गलाबैठने, क्रिमीरोगों, रद्द होने, हैजा, आंव, पागलपन, भूत के आवेश, मिरगी, और मूर्छा का वर्णन है।

चरक और सुश्रुत के विषयों के ऊपर लिखे हुए संक्षिप्त विवरण से प्राचीन समय में वैद्यक शास्त्र की उन्नति तथा जिन रोगों पर वैद्यों का ध्यान गया था, यह विदित होजायगा निस्सन्देह बहुतेरे प्राचीन सिद्धान्त अब कल्पित दिखलाए गए हैं और उस समय के बहुतेरे विचारों की अब असत्यता दिखलाई गई है। परन्तु फिर भी दो हजार वर्ष पूर्व के बने हुए वैद्यक के पूर्ण ग्रन्थों से प्राचीन समय में भारतवर्ष में इस शास्त्र की उन्नति प्रगट होती है और इन ग्रन्थों में जो औषधियां और नुकसे लिखे गए हैं वे भी बहुत से तथा भिन्न भिन्न प्रकार के हैं। हमारा अभिप्राय यहां पर हिन्दुओं की औषधि और चिकित्सा प्रणालियों के पूरे विवरण को देने का नहीं है। हम यहां केवल उनमें से कुछ औषधियों और वैद्यक के शस्त्रों का उल्लेख करेंगे जो कि प्राचीन हिन्दुओं को विदित थे।

हिन्दू लोग बहुत पहिले से रसायन और भिन्न भिन्न रासायनिक मिश्रणों का बनाना जानते थे। और यह बात कोई अचरज की नहीं है क्योंकि बहुत से रासायनिक पदार्थों को तयार करने की सामग्रियां भारतवर्ष में बहुतायत से रही हैं। नमक पश्चिमी भारतवर्ष में पाया जाता था, सोहागा तिब्बत से आता था। शोरा और सोडा सहज में बन जाते थे, फिटकिरी कच्छ में बनती थी और नौसादर भी हिन्दुओं को विदित था। वे लोग चूने, कोयले, और गंधक से तो न जाने कब से परिचित थे।

खार और तेजाब हिन्दुओं को प्राचीन समय से ही विदित थे और उनसे अरब लोगों ने इन्हें जाना। धातुओं

का औषधि की भांति प्रयोग भी बहुत अच्छी तरह से विदित था । हमें सुरमें तथा पारे, संखिये और अन्य नौ धातुओं की बनी औषधियों का उल्लेख मिलता है । हिन्दू लोग तांबे, लोहे, सीसे, टिन, और जस्ते के अम्लजिद से, लोहे, तांबे, सुरमे, पारे और संखिये के गन्धेत से, तांबे, जस्ते और लोहे के गन्धित से, तांबे के द्वियम्लेत तथा सीसे और लोहे के कर्बनेत से परिचित थे । "यद्यपि प्रचीन यूनान और रोम के लोग बहुतेरी धातुओं की वस्तुओं का लगाने की औषधियों में प्रयोग करते थे तथापि यह साधारणतः विश्वास किया जाता है कि खाने की औषधि में उनका पहिले पहल प्रयोग करने वाले अरबी लोग थे ... परन्तु चरक और सुश्रुत के ग्रन्थों में, जिससे, हम प्रमाणित कर चुके हैं कि सब से पहिले अरब लोग परिचित थे, हमें बहुतेरी धातुओं की वस्तुओं का खाने की औषधि के लिये प्रयोग मिलता है ।

अनेक वस्तुओं के बनाने की जो रीतियां दी हैं उनसे यह स्पष्ट है कि प्राचीन हिन्दू लोग बहुतेरी रासायनिक क्रियाओं से यथा घोलने, भाफ बनाने, भस्म करने, पिघलाने, और अर्क खींचने की क्रियाओं से परिचित थे ।

जड़ी और पौधों के विषय में सुश्रुत ने उनके निम्न लिखित विभाग किए हैं अर्थात गट्ठीली और कंद, जड़, जड़ की छाल, विशेष सुगन्धि रखने वाले वृक्ष, पत्ते, फूल, फल, बीज, तीखी और संकोचक बनस्पति, दूधवाले वृक्ष, गोंद और राल । सम्भवतः सुश्रुत में जड़ी बूटी सम्बन्धी भूगोल का सब से प्रथम उल्लेख है जिसमें

कि पौधों के उगने के स्थानों और जलवायु का वर्णन किया है। वह औषधि के लिये तौल और नाप को भी लिखता है और ताजी जड़ी बूटियों से रस निकालने, अच्छी तरह सुखाए हुए पौधों के चूर्ण बनाने तथा अनेक प्रकार के काढ़े आदि बनाने की रीति भी देता है। भारतवर्ष में बनस्पति प्रायः असंख्य हैं और यह कहना अनावश्यक है कि हिन्दू वैद्य लोग बहुत प्रकार की जड़ी बूटियों से परिचित हैं। उनमें से बहुत सी पीड़ा घटाने वाली और शुद्ध करनेवाली औषधियां हैं जो कि इस देश की जलवायु और यहां के लोगों की शान्त प्रकृति के योग्य हैं। अचाञ्चक और कड़ी अवस्थाओं के लिये कड़े और नरम जुल्लाब, कै की औषधियां, पसीना लाने वाली औषधियां और स्नान थे और तीखे विष, संखिये और पारे की मिलावटी तथा जमाव और मिलानेवाली औषधियों के साथ पिए जाते थे।

अब शस्त्र वैद्यक की ओर ध्यान देने से हमे निस्संदेह आश्चर्य होगा। शैली साहेब कहते हैं "इन प्राचीन शस्त्र वैद्यों को पथरी निकालने तथा पेट से गर्भ निकालने की क्रिया विदित थी और उनके ग्रन्थों में पूरे १२७ शस्त्रों का वर्णन किया हुआ है। शस्त्र वैद्यक इन भागों में बँटा हुआ है अर्थात् छेदन, भेदन, लेखन, व्याधन, यम, अहैर्य्य, विस्रवण और सेवन। ये सब कार्य्य बहुत प्रकार के वैद्यक शस्त्रों से किए जाते थे जिन्हें कि डा० विल्सन साहब निम्न लिखित भागों में बाँटते हैं अर्थात् यन्त्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि वा दागना, शलाका, शृंग वा सींग, खून निकालने के

लिये तुम्बी और जलौक वा जोंक। इनके सिवाय हमें तो पत्तियाँ, पट्टी, धागे के लिये गरम की हुई धात की चद्दर और अनेक प्रकार के संकोचक और कोमलकारी लेप भी मिलते हैं।

यह कहा गया है कि शस्त्र सब धातु के होने चाहिएं। वे सदा उज्वल सुन्दर पौलिश किए हुए और चोखे होने चाहिएं जो बाल को खड़े बल चीर सकें। और युवा अभ्यास करने वाले को इन शस्त्रों का अभ्यास केवल बनस्पतियों पर ही नहीं वरन पशुओं की ताजी खाल और मरे हुए पशुओं की नसों पर करके निपुणता प्राप्त करनी चाहिए।

हमारे हिन्दू पाठकों को यह जानना मनोरञ्जक होगा कि जब आजकल भारतवर्ष के प्रत्येक भाग में स्वास्थ्य और चिकित्सा के लिये विदेशियों की विद्या और निपुणता की आवश्यकता होती है तो २२०० वर्ष पहिले सिकन्दर ने अपने यहाँ उन लोगों की चिकित्सा के लिये हिन्दू वैद्यों को रखा था जिनकी चिकित्सा कि युनानी नहीं कर सके थे और ११०० वर्ष हुए कि बगदाद के हारूलरसीद ने अपने यहाँ दो हिन्दू वैद्य रखे थे जो कि अरबी ग्रन्थों में मनका और सलेह के नाम से विख्यात हैं।

अध्याय १२।

नाटक

इस काल में विज्ञान में जितनी उन्नति हुई उससे कहीं अधिक और अद्भुत उन्नति संस्कृत साहित्य के नाटक और काव्य में हुई। आर्यभट्ट और चर्क की अपेक्षा कालिदास और भवभूति हिन्दुओं तथा संसार की दृष्टि में अधिक मान्य हैं।

इस पुस्तक में पीछे के समय के संस्कृत साहित्य का इतिहास देना न तो सम्भव ही है और न ऐसा करने का हमारा उद्देश्य ही है। हम केवल सब से प्रसिद्ध ग्रन्थकारों के नाम तथा उनके सब से अद्भुत ग्रन्थों का बड़े संक्षेप में वर्णन करेंगे। इससे हमारे पाठकों के इस काल के साहित्य का साधरण ज्ञान प्राप्त हो जायगा और हम इस पुस्तक में केवल इतना ही करने का यत्न कर सकते हैं। हम इस अध्याय में नाटकों का तथा आगामी अध्यायों में काव्य और कथाओं का वर्णन करेंगे।

जिस उज्वल काल का हम वर्णन कर रहे हैं वह प्रसिद्ध कालिदास के समय से आरम्भ होता है और सरस्वती के इस पुत्र ने यद्यपि कई बड़े उत्तम ग्रन्थ बनाए हैं पर वह सभ्य सृष्टि में मुख्यतः शकुन्तला के ग्रन्थकार की भांति परिचित है। जिसने संस्कृत में इस नाटक को पढ़ा है वह हिन्दू ही नहीं वरन कोई भी क्यों न हो पर उसकी सम्मति यही होगी कि नम्र और कोमल हृदयवाली बनवासिनी शकुन्तला से बढ़ कर मृदु और मनोहर कल्पना मनुष्य की लेखनी से कभी नहीं निकली है।

राजा दुष्यन्त अहेर के लिये आता है और कन्व ऋषि के आश्रम पर पहुंचता है। कुञ्जों में साधारण वेष में चलते हुए वह तीन युवतियों को वृक्ष में जल सींचते हुए देखता है। यह कहना अनावश्यक है कि युवतियां शकुन्तला (जो कि मनुष्य पिता से अप्सरा की कन्या थी) तथा उसकी दो सखियां हैं। शकुन्तला को बचपन से कन्व ऋषि ने पाला था और उसने बन के इन्हीं एकान्त स्थानों में अपनी बनवासिनी साथिनियों, अपने वृक्षों और पालतू पशुओं में ही अपनी सुन्दर युवावस्था को प्राप्त किया था। दुष्यन्त जो कि राजसभाओं की बनावटी सुन्दरता से परिचित था प्रकृति की इस सुन्दर पुत्री को देख कर मोहित हो गया और उसने जो छाल के वस्त्र पहिने थे उससे उसकी सुन्दरता और भी अधिक हो गई थी, उस सुन्दर फूल की नाईं जिसको पत्तियां ढके रहती हैं। उसे इस युवती तथा उसकी सखियों के सम्मुख आने का उपयुक्त अवसर मिला, उनमें कुछ बातें हुईं और कोमल शकुन्तला के हृदय में एक ऐसा भाव उत्पन्न हुआ जैसा कि उसके सारे जीवन में पहिले कभी नहीं हुआ था।

प्रेम ने शकुन्तला के कोमल अंग पर अपना प्रभाव डाला और जब दुष्यन्त उससे पुनः मिलने आया तो वह उस माधवी लता की नाईं हो गई थी जिसके पत्ते सूखी हवा से मुरझा गए हों, परन्तु यह परिवर्तन होने पर भी वह मनोहर और उसके हृदय को उलझाने वाली थी। इन दोनों प्रेमियों ने मिलकर गान्धर्व विवाह की रीति से अपना सम्बन्ध दृढ़ कर लिया। तब दुष्यन्त शकुन्तला को

अपनी अंगूठी देकर और उसे शीघ्र ही अपनी राजधानी में ले चलने की प्रतिज्ञा करके उससे बिदा हुआ।

अब नाटक का मनोरञ्जक भाग आरम्भ होता है। शकुन्तला अपने अनुपस्थित पति का सोच करती हुई एक बड़े क्रोधी ऋषि का उचित सम्मान करना भूल गई जो कि उसके आश्रम में अतिथि की नाईं आए थे। इस क्रोधी ऋषि ने इस असावधानी पर बड़े कुपित होकर यह शाप दिया कि वह जिस पुरुष के ध्यान में इतनी लीन है वह उसे भूल जायगा। परन्तु उसकी सखियों की प्रार्थना पर शान्त होकर उस ऋषि ने अपने वाक्य का कुछ परिवर्तन किया और कहा कि उसे अपनी दी हुई अंगूठी देखकर पुनः उसका स्मरण हो जायगा। अतः दुष्यन्त अपने इस प्रेम को भूल गया और शकुन्तला जो कि गर्भवती हो गई थी अपने एकान्त आश्रम में मुरझा कर क्षीण होने लगी।

उसके पालनेवाले पिता कन्व ने यह सब वृत्तान्त जान लिया और शकुन्तला को उसके पति के यहां भेजने का प्रबन्ध किया। यह समस्त नाटक बड़ा हृदयबेधक है परन्तु उसका कोई अंश इतना अधिक कोमल और हृदयवेधक नहीं है जितना कि शकुन्तला का अपने इस शान्त आश्रम के साथियों और पशुओं के साथ बिदा होना, जहां कि वह इतने काल तक रही थी। कन्व का हृदय शोक से भरा हुआ है और उसकी आँखों से आँसू की धारा बह रही है। अदृश्य वन देवियां शोक के साथ उससे बिदा होती हैं, शकुन्तला की दोनों सखियां अपनी प्यारी बिदा होनेवाली सखी से जुदा नहीं हो सकतीं। स्वयं शकुन्तला ने इतने

दिनों तक जिनको प्यार किया था और जिनको पाला पोसा था उनसे जुदा होने में वह विह्वल होगई।

शकुन्तला—हे पिता जब यह कुटी के निकट चरने वाली गाभिन हरिनी क्षेम कुशल से जने तुम किसी के हाथों यह मंगल समाचार मुझे कहला भेजना, भूल मत जाना।

कन्व—अच्छा न भूलूंगा।

शकुन्तला—(कुछ चल कर और फिर कर) यह कौन है जो मेरा अंचल नहीं छोड़ता (पीछे फिर कर देखती है)।

कन्व—जिसका मुंह दाभ से चिरा हुआ देख कर घावों पर तू अपने हाथ हिंगोट का तेल लगाती थी, जिसे तैने समा के चावल खिला खिला कर पाला है और अपने बेटे की भांति लाड़ चाव किया है सो इस समय तेरे पैर क्योंकर छोड़ेगा।

शकुन्तला—अरे छौना मुझ सहवास छोड़ती हुई के पीछे तू क्यों आता है। तेरी मां तुझे जनते ही छोड़ मरी थी तब मैंने तेरा पालन किया। अब मेरे पीछे पिताजी तुझे पालेंगे। तू लौट जा। [लक्ष्मणसिंह]

नाटक में रंजकता बढ़ चली। शकुन्तला का पति उसे भूल गया था और वह अंगूठी जिससे कि उसे उसका स्मरण हो सकता था मार्ग में खोगई। दुष्यन्त ने शकुन्तला तथा उसके साथियों का बड़ी शिष्टता से स्वागत किया परन्तु उसने अज्ञात और गर्भवती स्त्री को अपनी पत्नी की भांति अंगीकार करना स्वीकार नहीं किया। बिचारी शकुन्तला इस अपत्ति से प्रायः अधमरी सी होगई क्योंकि वह इसका कारण नहीं जानती थी। उसने ऋषि का शाप नहीं सुना था और उसकी सखियों की प्रार्थना पर ऋषि ने शाप से निवृत होने का जो उपाय बतलाया था उसे भी वह नहीं जानती थी। उसने

दुष्यन्त को उन पूर्व परिचित घटनाओं के स्मरण दिलाने का व्यर्थ उद्योग किया जो कि दुष्यन्त के आश्रम में रहने के समय में हुई थीं और अन्त में वह दुःख और शोक से रोने लगी। उसके साथियों ने उसे महल में छोड़ दिया और उसके लिये अलग स्थान दिए गए परन्तु वह एक अपूर्व घटना के द्वारा इससे अधिक अपमान सहने से बचा ली गई। एक स्वर्ग की अप्सरा ज्योति के रूप में उतरी और उसे इस पृथ्वी से ले गई जहां कि निस्संदेह उसके दिन दुखदाई और कठोर थे।

अब एक ऐसी घटना हुई जिससे कि राजा को पिछली बातों का स्मरण हो गया। एक मछुए ने एक मछली पकड़ी जो कि उस अंगूठी को निगल गई थी जो कि शकुन्तला के हाथ से उस नदी में गिर पड़ी थी और इस अंगूठी को देख कर राजा को सब पिछली बातों का एकदम स्मरण हो आया? शकुन्तला का प्रेम दसगुना भड़क उठा और उसने इस कोमल तथा प्रेम और विश्वास करने वाली युवती के साथ जो कठोर अन्याय किया था उसके दुखः ने उसे पागल बना दिया। उसने सब राज काज छोड़ दिया, वह आहार और निद्रा भूल गया और कठोर पीड़ा में मग्न हो गया।

इस अचेत अवस्था से उसे इन्द्र के सारथी ने जागृत किया और इन्द्र की ओर से उसने दानवों के विरुद्ध राजा की सहायता मांगी। राजा स्वर्गीय विमान पर चढ़ा, उसने दानवों को विजय किया और तब वह देवताओं के पिता कश्यप के स्वर्गीय आश्रम में लाया गया जहां कि अपनी पत्नी अदिति के साथ वे पवित्र एकान्त में वास करते थे।

वहां पर राजा ने एक छोटे बलवान बालक को सिंह के बच्चे के साथ खेलते हुए देखा।

दुष्यन्त—(आपही आप) अहा क्या कारण है कि मेरा स्नेह इस बालक में ऐसा होता आता है जैसा पुत्र में होता है। हो न हो यह हेतु है कि मैं पुत्रहीन हूं। [लक्ष्मणसिंह]

पाठक लोग निस्संदेह देखेंगे कि यह बालक स्वयं उस राजा का ही पुत्र था। शकुन्तला को दयालु देवताओं ने लाकर राजा को पिछली बातों का स्मरण होने के समय तक यहां रखा था और जब शकुन्तला सम्मुख आई तो दुष्यन्त ने घुटनों के बल होकर क्षमा की प्रार्थना की और प्रेममयी शकुन्तला ने उसे क्षमा किया। तब यह जोड़ी बालक के सहित कश्यप और अदिति के सम्मुख लाई गई और इन दोनों पवित्र महानुभावों के आशीर्वाद के साथ यह नाटक समाप्त होता है।

कालिदास के दो अन्य नाटक रह गए हैं। विक्रमोर्वसी में राजा पुरुरवस और स्वर्गीय अप्सरा उर्बसी के प्रेम का वर्णन है। हमें विदित है कि यह कथा ऋग्वेद के समान प्राचीन है और अपने पहिले रूप में यह सूर्य्य (पुरुरवस=चमकीली किर्णों वाला) का प्रभात (उर्बसी=अतिविस्तृत) के पीछा करने की कथा है। परन्तु उस समय से इस कथा की उत्पत्ति हिन्दुओं के हृदय से लुप्त हो गई है और कालिदास तथा पुराणों का पुरुरवस एक मानवी राजा माना गया है जिसने कि उर्वसी नाम की अप्सरा की दानवों से रक्षा की और जो उसके प्रेम में आशक्त होगया और उर्वसी भी राजा पर आशक्त होगई। यह अपसरा इस मनुष्य के

प्रेम में इतनी लीन हो गई थी कि जब वह इन्द्र की सभा में एक नाटक का अभिनय करने गई तो वह अपना अंश भूल गई और अपने प्रियतम का नाम भूल से लेकर उसने अपने हृदय की गुप्त बात को प्रगट कर दिया।

उर्वसी लक्ष्मी बनी थी और मेनका वरुणी बनी थी। मेनका कहती है।

"लक्ष्मी, भिन्न भिन्न मंडलों का शासन करने वाली शक्तियां यहां उपस्थित हैं। इनके शिरोमणि सुन्दर केशव हैं। कह तेरा हृदय किस पर जाता है।"

उसके उत्तर में उसे कहना चाहिए था "पुरुषोत्तम पर" परन्तु उसके पलटे में उसके मुंह से "पुरूरवा पर" निकल गया। इस भूल के लिये इस कोमल अप्सरा को दंड दिया गया परन्तु इन्द्र ने बड़ी सावधानी से इस दण्ड को आशीर्वाद के रूप में परिवर्तित कर दिया और इस अप्सरा को अपने प्रियतम के साथ जाकर तब तक रहने के लिये कहा जब तक कि वह उससे उत्पन्न हुए बच्चे को न देखले।

पुरूरवा ने अपने इस नए प्रेम को अपनी रानी से व्यर्थ छिपाने का उद्योग किया और व्यर्थ उसके पैरों पर गिर कर झूठ मूठ का पश्चाताप प्रगट किया। रानी ने कुछ असभ्यता से उत्तर दिया।

"आर्यपुत्र, आप विचित्र पश्चाताप करते हैं। मुझे आप पर विश्वास नहीं होता।"

और उसने राजा को बड़े निष्ठुर परन्तु बड़ी बुद्धिमानी के विचार के लिये छोड़ दिया।

"मैंने अपने को यह कष्ट वृथा दिया। स्त्रियां स्पष्टदर्शी होती हैं और केवल शब्द उनके मन को भुलावा नहीं देसकता, प्रेम ही उनको

जीत सकता है । अपनी विद्या में निपुण रत्न काटने वाला झूठे रत्नों को उपेक्षा से देखता है ।

परन्तु रानी ने शीघ्र ही देखा कि उसके पति के नए स्नेह का कोई उपाय नहीं था और उसका क्रोध निरर्थक था ! इन्द्रपत्नी के आत्मत्याग के साथ उसने अपने पूर्व आचरण के प्रायश्चित के लिये व्रत धारण किया और अपने पति को उसके नए प्रेम में भी आशक्त होने दिया। श्वेत वस्त्र पहिन कर आभूषण के स्थान पर केवल फूलों को धारण करके वह धीरे धीरे अपने पति और राजा की पूजा के लिये आई और उसे इस वेष में देख कर राजा को उसके लिये पहिला सा स्नेह हो आया ।

"वास्तव में यह बात मुझे अच्छी लगती है । इस प्रकार साधारण श्वेत वस्त्रों को पहिन कर, पवित्र फूलों से अपनी लटों को सज्जित कर, तथा अपनी मस्त चाल को सच्ची भक्ति में परिवर्तित कर वह वर्धित सौंदर्य से चल रही है" ।

परन्तु वह जानती थी कि उसकी सुन्दरता निरर्थक थी । उसने राजा की पूजा की उसको दंडवत किया और तब चन्द्रमा और रोहिणी नक्षत्र को कहा ।

"पति प्रति मेरी इस प्रतिज्ञा को सुनो और उसकी साक्षी करो। जो कोई अप्सरा मेरे पति की स्नेह भजन हो और उसके प्रेम पाश में बँधे उससे मैं दया के साथ अच्छा व्यवहार करूंगी" ।

स्वयं उर्वसी की सखी को भी इस महान-आत्म त्याग से बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने कहा ।

"यह बड़े उच्चमन की स्त्री है । इसका भार्याचरित्र आदर्शनीय है" ।

इसके उपरान्त राजा और उर्वसी का प्रेम और उनका एक दैवी घटना के द्वारा थोड़े समय के लिये वियोग होने का कालिदास की लेखनी की पूरी शक्ति के साथ वर्णन है।

वह इस वियोग में सूख गया, बन में इधर उधर घूमने लगा और पशु पक्षी तथा निर्जीव वस्तुओं से बात करने लगा।

"जाइ आँख्यों नखतमंडित शिखी सों नियराइ।
मदन राग अलापिनी इन कोकिलन सों धाइ॥
और कुञ्जरवृन्द-अधिपति सों अनेक प्रकार।
तथा मधुकर सों फिरत जो करत मृदु गुञ्जार॥
हंस औ कल-नाद-कारी विमल झरनन टेरि।
विहग चकवा, गिरि शिला, अरु चपल हरिनहिं हेरि॥
खोज में बहु याचना इन सों करी मैं जाय।
पै नहीं मम दुःख को इन कियो हलको, हाय!"

उसने भ्रमण के उपरान्त उसे पाया परन्तु फिर भी उसके वियोग की आशंका थी। क्योंकि उससे उर्वसी को जो पुत्र उत्पन्न हुआ था और जिसे उर्वसी ने उससे अब तक छिपा रक्खा था, उसे दैवात् उसने देख लिया और इन्द्र की आज्ञा के अनुसार उसकी दृष्टि उस पुत्र पर पड़ते ही उर्वसी को स्वर्ग को लौट जाना पड़ता। परन्तु इन्द्र ने अपनी आज्ञा में फिर परिवर्तन कर दिया और नारद स्वर्ग से इन्द्र की आज्ञा पुरूरवा को सुनाने के लिये आए--

"सदा पवित्र बन्धनों से उर्वसी आजीवन तेरे साथ रहेगी"।

तीसरा और अन्तिम नाटक जो कालिदास का बनाया हुआ कहा जाता है, मालविकाग्निमित्र है जिसमें मालविका और अग्निमित्र की प्रीति का वर्णन है। परन्तु हमें इस ग्रन्थ के कालिदास का रचा हुआ होने में बड़ा सन्देह है।

अग्निमित्र और उसके पिता पुष्पमित्र ऐतिहासिक राजा हैं। पुष्पमित्र मौर्यवंश के अन्तिम राजा का सेनापति था और उसने उस राजा को मार कर मगध के संग वंश को स्थापित किया था।

मालविका राजमहिषी धारिणी की एक सुन्दर दासी है, और वह नाचना गाना सीखती है। रानी ने उसे शंका से राजा अग्निमित्र की दृष्टि से बचाया परन्तु उस चित्रशाला में उसका चित्र भूल से खिंचवाया था और इस चित्र को देख कर राजा को मालविका के देखने की बड़ी उत्कंठा हुई। मालविका राजा के सम्मुख नृत्य और गान में अपनी चतुराई दिखलाने के लिये उपस्थित हुई और राजा उस पर मोहित होगया।

रानी ने मालविका को ताले में बन्द कर दिया परन्तु वह एक युक्ति से निकाल ली गई और राजा से उसका साक्षात् हुआ।

यह समाचार मिला कि राजा के पुत्र ने सिंधनदी के तट पर यवनों को पराजित किया और रानी इस समाचार को सुन कर इतनी प्रसन्न हुई कि उसने सबको बहुत सा पुरस्कार दिया और कदाचित यह विचार कर कि राजा की प्रीति को रोकना निर्थक है उसे मालिविका को अर्पण किया। इस प्रकार यह नाटक सुख से समाप्त होता है परन्तु न तो इसकी कहानी और न इसका काव्य शकुन्तला वा विक्रमोर्वसी की बराबरी का है।

कालिदास छठीं शताब्दी में हुए हैं, और वह विक्रमादित्य के दर्बार को सुशोभित करते थे। उनके १०० वर्ष

के उपरान्त भारतवर्ष के एक सम्राट ने जो कि अधिकार और विद्या में विक्रमादित्य का एक योग्य उत्तराधिकारी था, प्रसिद्ध कालिदास की बराबरी करने का उद्योग किया। यह शीलादित्य द्वितीय था जिसे श्रीहर्ष भी कहते हैं, जिसने सन् ६१० से ६५० ई० तक राज्य किया और जिसने चीन के यात्री हुन्तसांग का स्वागत किया था। वह केवल सारे उत्तरी भारतवर्ष का सम्राट ही नहीं था वरन स्वयं एक विद्वान मनुष्य था। वह रत्नावली का ग्रन्थकार कहा जाता है, परन्तु यह अधिक सम्भव है कि उसकी सभा के प्रसिद्ध ग्रन्थ-कार बाणभट्ट ने इस नाटक को रचा हो। कालिदास का यश उस समय तक सारे भारतवर्ष में फैल गया था और छोटे छोटे कवि अपने ग्रन्थ अनजाने इसी महान कवि के ढंग पर रचते थे। यह बात रत्नावली में विशेषतः देखी जाती है जिसमें कि कालिदास के नाटकों की वाक्यचोरी स्पष्ट मिलती है।

यह नाटक वसन्तोत्सव के वर्णन से आरम्भ होता है, जिसमें कि कामदेव की पूजा की जाती थी और प्रसन्न हृदय मनुष्य और स्त्रियां एक दूसरों पर रंग छिड़कते थे। गुलाल और रंग छिड़कने की रीति अब तक भी सारे भा-रतवर्ष में प्रचलित है। परन्तु प्राचीन समय में जो कामदेव की पूजा होती थी उसका स्थान अब कृष्ण ने लेलिया है।

रानी वाटिका में प्रद्युम्न की पूजा करने जाती है और राजा से वहां आने के लिये प्रार्थना करती है, रानी की एक सुन्दर दासी सागरिका भी जिसे कि रानी ने राजा की दृष्टि से बड़े यत्न के साथ बचाया था वाटिका में आई,

और वह वृक्ष की आड़ से राजा को देख कर उस पर मोहित होगई।

वाटिका में एकान्त में बैठ कर इस प्रेमासक्त युवती ने अपने हृदय को चुरानेवाले का चित्र खींचा परन्तु उसे उसकी एक सखी ने देख लिया जो कि उसी के समान चित्रकारी में निपुण थी और उसने राजा के चित्र के पास स्वयं सागरिका का चित्र खींचा। ये दोनों चित्र असावधानी से खो गए और वे राजा के हाथ लग गए जो कि अपने साथ इस युवती का चित्र देख कर उस पर मोहित हो गया। इस कथा में अग्निमित्र की कथा की समानता न पाना असम्भव है जिसमें कि अग्निमित्र अपनी रानी की दासी के चित्र को देख कर उस पर मोहित हो गया था।

कालिदास के दुष्यन्त की नाईं राजा उन कमल के पत्रों को उठाता है जो कि सागरिका के तप्त शरीर पर लगाए गए थे और उनके पीले वृत्तों में इस युवती की सुडौल छाती का चिन्ह आता है। इसके उपरान्त शीघ्र ही ये दोनों प्रेमी मिलते हैं परन्तु सदा की नांई यहां भी उन दोनों के मिलने में रानी के कुसमय के आगमन से बाधा पड़ती है। एक बार पुनः रानी को सागरिका पर राजा के प्रेम का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। कालिदास के पुरूरवा की नांई राजा रानी के चरणों पर गिर पड़ता है परन्तु रानी क्रोध में भरी हुई लौट जाती है।

मालविका की नाईं प्रेमासक्त सागरिका को रानी ताले में बन्द करती है। तब उज्जयिनी से एक जादूगर आता है और अपने खेल दिखलाता है। इसके उपरान्त शीघ्र

ही राजभवन जलता हुआ दिखलाई देता है और राजा सागरिका को बचाने के लिये जो कि भीतर कैद रक्खी गई थी दौड़ता है और उसे बचा लेता है। परन्तु आग अब लोप हो जाती है। वह जादूगर का केवल एक खेल थी! जब सागरिका बाहर निकली है तो यह पहिचाना जाता है कि वह लंका की रानी रत्नावली है और मालविका की नाईं अन्त में रत्नावली को भी रानी स्वयं राजा को अपर्ण कर देती है।

एक दूसरा अद्भुत नाटक नागानन्द भी शीलादित्य द्वितीय का बनाया कहा जाता है परन्तु रत्नावली की नांई यह अधिक सम्भव है कि इस ग्रन्थ को भी उसकी सभा के किसी कवि ने बनाया है। हम इसे अद्भुत ग्रन्थ कहते हैं। इसका कारण यह है कि सम्भवत: यह केवल एक ही बौद्ध नाटक है जो कि अब हम लोगों को प्राप्त है। इस बौद्ध नाटक में हम हिन्दू देवता और देवियों को बौद्धों की पूज्य वस्तुओं के साथ मिश्रित पाते हैं और यही बात है जो कि इस ग्रन्थ को विशेष मूल्यवान बनाती है।

विद्याधरों का राजकुमार जीमूतवाहन सिद्धों की राजकुमारी मलयावती को गौरी (एक हिन्दू देवी) की पूजा करते हुए देखता है और उस पर आसक्त हो जाता है वह उसके सम्मुख उपस्थित होता है जैसे कि दुष्यन्त शकुन्तला के सम्मुख हुआ था और वह उसका सुशीलता से सत्कार करती है और कदाचित यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि वह भी राजकुमार पर आसक्त हो जाती है। शकुन्तला की नाईं मलयावती में भी प्रेम का चिरपरिचित

प्रभाव देख पड़ता है। वह ज्वरग्रस्त हो जाती है, उसके शरीर में चन्दन का लेप किया जाता है और केले के पत्ते से हवा की जाती है।

जीमूतवाहन अपने हृदय को चुराने वाली युवती का चित्र खींचने में लगता है। वह चित्र खींचने के लिये लाल संखिए का एक टुकड़ा माँगता है और उसका साथी भूमि में से कुछ टुकड़े उठा लाता है जिससे कि पांच रंग (नीला पीला, लाल, भूरा और चित्रविचित्र) लिखे जा सकते हैं। इस वृत्तान्त से विदित होगा कि प्राचीन हिन्दू लोग पोम्पियाई के पुराने चित्रकारों की भांईं चित्रकारी के लिये रंग विरंग की मिट्टी और धातु को काम में लाते थे।

मलयावती राजकुमार को चित्र खींचते हुए देखती है और यह समझ कर कि वह किसी दूसरी स्त्री पर मोहित है और उसका चित्र खींच रहा है मूर्छित होजाती है। इस बीच में मलयावती का पिता जीमूतवाहन को अपनी पुत्री के विवाह के लिये सँदेसा भेजता है और जीमूतवाहन यह न जान कर कि जिस युवती को उसने देखा था वह यही राजकुमारी है और अपनी प्रियतमा के साथ धर्मपालन करने की अभिलाषा से राजकुमारी का पाणिग्रहण स्वीकार नहीं करता।

परन्तु दोनों प्रेमियों की भूल शीघ्र ही दूर होजाती है। राजकुमार को विदित होजाता है कि जिस युवती पर वह आसक्त हुआ है वह यही राजकुमारी है जिसके विवाह के लिये उससे कहलाया गया है और राजकुमारी को भी यह विदित होजाता है कि राजकुमार ने जो चित्र खींचा है

वह उसीका है। इसके उपरान्त बड़े धूम धाम से विवाह होता है।

यहां पर हमें राजा के विदूषक शेषर का एक जी बहलाने वाला वृत्तान्त मिलता है जो कि इन उत्सवों में खूब मदिरा पीकर कुछ हास्यजनक कार्य्य करता है। वह कहता है कि उसके लिये केवल दो देवता हैं अर्थात बलदेव जो कि नशा पीने के लिये हिन्दुओं का प्रसिद्ध देवता है और दूसरे काम जो कि प्रेम का हिन्दू देवता है। और यह वीर अपनी प्रियतमा से जो कि एक दासी थी मिलने के लिये जाता है। परन्तु उस मनोहर युवती से मिलने के पलटे वह राजकुमार के एक ब्राह्मण साथी से मिलता है जिसने कि कीड़े मकोड़ों से बचने के लिये अपने सिर पर कपड़ा डाल लिया था और इस प्रकार घूंघट काढ़े हुए स्त्री की नाईं देख पड़ता था। शेषर ने मदान्ध होने के कारण ब्राह्मण को अपनी प्रियतमा जान कर आलिंगन किया, जिससे कि ब्राह्मण को बड़ी ही अरुचि थी और उसने मदिरा की दुर्गन्ध से अपना नाक बन्द कर लिया। यह गड़बड़ी उस समय और भी बढ़ गई जब कि उस स्थान पर स्वयं उसकी प्रियतमा उपस्थित हुई। इस अविवेकी प्रेमी पर दूसरी स्त्री से प्रेम करने का दोष लगाया गया और ब्राह्मण को उपयुक्त कटु वाक्य यथा "भूरा बन्दर" इत्यादि कहा गया, उसका जनेऊ तोड़ डाला गया और वह इस संकट में से निकलने के लिये दासी के चरणों पर गिरने लगा परन्तु अन्त में सब बातें सन्तोषदायक रीति से प्रगट होगईं।

इसके उपरान्त दुलहा और दुलहिन की नवप्रीति के आमोद प्रमोद वर्णन किए गए हैं । राजा निम्न लिखित शब्दों में चुम्बन की प्रार्थना करता है—

"लहि लहि भानु प्रकाश नित पावन पाटल जोति ।
देखर मम निसरत जहां दसन सुरुचि नित होति ॥
जो यहि विधि शोभा लहत तव मुख कमल समान ।
तो मधुकर केहि हेत नहिं करत तहां रस पान ॥

[सीताराम]

परन्तु इस समय इस प्रेमी को उसके राज्य के समाचार बाधक होते हैं और उनके कारण उसे अपनी प्रियतमा को छोड़ना पड़ता है ।

यहां तक यह कथा अन्य हिन्दू नाटकों की कथा के सदृश है परन्तु अन्तिम दोनों अंक (पांचवां और छठां) मुख्यतः बौद्ध हैं और वे विचित्र रूप में दूसरों के हित के लिये आत्मत्याग के वास्तविक गुणों को दिखलाते हैं ।

जीमूतवाहन उसरी घाटों में जाता है और वहां समुद्र तट पर पक्षियों के राजा गरुड़ के मारे हुए नागों की हड्डियों का टीला देखता है । नाग सांप हैं परन्तु हिन्दू और बौद्ध कवियों की कल्पना में वे मनुष्य की नाईं हैं उनमें अन्तर केवल इतना है कि वे केचुलीवाले होते हैं और उनकी पीठ से फन निकले रहते हैं। गरुड़ के साथ यह प्रबन्ध होगया है कि उसके आहार के लिये प्रति दिन एक नाग आया करेगा और जीमूतवाहन जब एक नाग को अपनी रोती हुई माता से बिदा होते हुए और गरुड़ के भोजन के लिये जाने की तय्यारी करते हुए देखता है तो उसके हृदय में

बड़ी वेदना होती है। वह निष्ठुर गरुड़ को नाग के स्थान पर स्वयं अपने को अर्पण करता है और वह पक्षी उसे ले कर उड़ जाता है।

जब वह नाग जीमूतवाहन के घर में जाकर उसके इस प्रकार जाने का समाचार कहता है तो वहां बड़ा शोक और रोना होता है। उसके वृद्ध माता पिता और उसकी नव विवाहिता स्त्री उस स्थान पर दौड़ कर जाती हैं, जहां कि गरुड़ उस समय तक भी राजकुमार का मांस खा रहा है और उसका जीव निकल गया है। सच्चा नाग भी वहां दौड़ कर जाता है और निरपराधी राजकुमार को बचाने के लिये अपने को अर्पण करता है, और इस प्रकार अपने प्रगट करता है—

"स्वस्ति के लच्छन छाती के ऊपर देह पै केचुल देखत नाहीं।
जानि परैं नहिं तोहिं कहौ द्वय जीभ विशाल मेरे मुखमाहीं।
धूम सों मों विष के मनि ज्योतिहु धूमलि रंग सदा वहै जाहीं।
दुःसह सोक सो वायु चलै जहं सों फन तीन न तोहिं लखाहीं॥

[सीताराम]

उस समय गरुड़ को अपनी भूल स्मरण होती है और वह भयभीत हो जाता है।

"अरे इस महात्मा ने इसी नाग के प्रान बचाने के लिये करुणा करके अपना शरीर अर्पण कर दियो। हाय मैंने बड़ा अकाज किया और क्या कहूं यह तो बोधिसत्व ही मारा गया है"।

[सीताराम]

जीमूतवाहन गरुड़ को अपने पाप के प्रायश्चित छुड़ाने की रीत का उपदेश देता है—

"त्यागहु जीव को मारन काज सों चेतिके पाप किए पछिताए।
देह धभै सब जंतुन को अब मित्र बटोरहु पुण्य प्रवाहू" ५

[सीताराम।]

इन उपदेशों के उपरान्त इस वीर राजकुमार का अन्त हो जाता है क्योंकि उसका आधे से अधिक शरीर खाया जा चुका था। उसके माता पिता इस संसार से बिदा होने के लिये चिता पर चढ़ने की तय्यारी करते हैं। उसकी विलाप करती हुई युवा विधवा गौरी की आराधना करती है जिसकी आराधना कि उसने विवाह के पहिले की थी।

अन्त: कथा सुखपूर्वक समाप्त होती है। गौरी राजकुमार को जिला देती है और गरुण हिन्दुओं के देवता इन्द्र से प्रार्थना करके जिन नागों को उसने पहिले मारा था, उन सभों को पुन: जीवित करवाता है। जीवधारियों को हानि मत करो—यही इस बौद्ध नाटक का उपदेश है।

शीलादित्य द्वितीय के उपरान्त सौ वर्ष बीत गए और तब एक सच्चा महान कवि जो कि कालिदास की चोरी करने वाला नहीं था वरन् गुण और यश में उसकी बराबरी का था हुआ। यह भवभूति था जिसे कि श्रीकण्ठ भी कहते हैं। यह जाति का ब्राह्मण था और इसका जन्म विदर्भ अर्थात् बरार में हुआ था परन्तु उसने शीघ्र ही कन्नौज के राजदरबार से अपना सम्बन्ध किया जो कि उस समय भारतवर्ष के विद्या का केन्द्र था। अपनी जंगली जन्मभूमि से इस स्वाभाविक कवि ने प्रकृति की उस स्वाभाविक रौनक को जाना था जो कि उसे संस्कृत के अन्य सब कवियों से प्रसिद्ध बनाती है। कन्नौज के सभ्य राजदरबार से

उसने निस्सन्देह काव्य और नाटक के नियम सीखे जिनने कि उसकी बुद्धि के प्रवाह को प्रवाहित कर दिया परन्तु उसके दिनों का कन्नौज में व्यतीत होना नहीं बदा था। कन्नौज के राजा यशोवर्म्मन को काश्मीर के प्रबल राजा ललितादित्य ने पराजित किया और उसके साथ यह कवि काश्मीर को गया।

भवभूति के तीन नाटक हम लोगों को प्राप्त हैं। हम मालती माधव से आरम्भ करेंगे जिसमें कि मालती और माधव के प्रेम की कथा है।

माधव, कवि की जन्मभूमि विदर्भ अथवा बरार के राजमंत्री देवरात का पुत्र है, और वह पद्मावती अर्थात् उज्जैनी में विद्याध्ययन के लिये आया है। जब वह इस नगर की गलियों में घूम रहा था तो यहां के मंत्री की कन्या मालती ने

"अपनी खिड़की से युवा को देखा, मानों कामदेव सा सुन्दर हो और वह स्वयं उसकी यौवनप्राप्त दुलहिन—उसने देखा भी व्यर्थ नहीं—

कामदेव के वार्षिकोत्सव के समय इस देवता के मन्दिर में पूजा के लिये बड़ी भीड़ एकत्रित होती है। मालती भी हाथी पर इस मन्दिर को जाती है और वहां माधव मिलता है। इन दोनों में परस्पर देखा देखी होती है और दोनों प्रेमासक्त हो जाते हैं।

परन्तु सच्चे प्रेम का पन्थ कभी सीधा नहीं होता और पद्मावती के राजा ने नन्दन नामक अपने एक कृपापात्र से मालती का विवाह करने की प्रतिज्ञा की थी और मालती का पिता इसे खुल्लम खुल्ला अस्वीकार करने का साहस नहीं

कर सकता था । यह समाचार इस प्रेमासक्त युवती को वज्राघात के सदृश हुआ और एक बौद्धसन्यासिनी कामन्दकी ने दया के साथ ये वाक्य कहे ।

"यहां मेरा योगिनपना काम नहीं आ सकता । लड़कियों का बाप जो करे सोई होता है । उसको दैव के सिवाय और कौन रोक सकता है । पुराणों में यह लिखा सही है कि विश्वामित्र की बेटी शकुन्तला ने दुष्यन्त को बरा उर्वशी पुरुरवा के पास रही, वासदत्ता को उसके बाप ने संजय को देना चाहा था पर उसने उदयन को बर लिया । पर यह कौन करने का काम है"।

[सीताराम]

यह स्पष्ट है कि योगिनी वा कवि ने यहां अपने पूर्वज कालिदास के दो ग्रंथों का उल्लेख किया है और वासवदत्ता की कथा का भी उल्लेख किया है जो कि शीलादित्य द्वितीय की सभा में कथा वा नाटक के लिये इतना प्रसिद्ध विषय था।

परन्तु इस बौद्ध योगिनी ने मालती और माधव की सहायता करने का संकल्प कर लिया था । ये दोनों प्रेमी योगिनी के घर में मिले परन्तु रानी की आज्ञा से मालती वहां से बुला ली गई । माधव निराश होकर अपने मनोरथ में सफल होने के लिये कुछ अद्भुत क्रियाएं करता है, और यहां हमें एक भयानक तांत्रिक पूजा का दृश्य मिलता है । भवभूति की बुद्धि का सब से अधिक परिचय हमें उस समय मिलता है जब कि वह किसी ऐश्वर्य्य वा भय के दृश्य का वर्णन करता है ।

एक स्मशान में जहां कि मुर्दे जलाए जाते हैं, भयानक देवी चामुण्डा का मन्दिर है, और उसकी दुष्ट पुजेरी कपाल-

कुण्डला कपाल की माला पहिने उसकी पूजा कर रही है। वहां माधव कच्चे मांसका भोग लेकर अपने मनोरथ को सिद्ध करने में भूतों की सहायता के लिये जाता है। वह भूतों और पिशाचों को मांस देते समय कहता है—

"अरे पिशाचों की भीड़ से मसान कैसा भयङ्कर देख पड़ता है।

घोर अँधेरिया मसान में रही चहूं दिसि छाय।
चिता जोति तिन बीच में चमकत है अधिकाय॥
नाचत कूदत फिरत हैं डाइन प्रेत सियार।
टेरत वे इक एक को किल किल करत अपार॥

अब इनको पुकारूं—अरे ओ मसान के डाइन पिशाच!

काटो नर के अंग को बिन हथियार लगाय।
महा मांस हम देत हैं लेहु लेहु सब आय॥

(परदे के पीछे हुल्लड़ होता है)

अरे, हमारा पुकारना सुनते ही सारे मसान में गड़बड़ मच गया। भूत प्रेत बेताल चिल्लाते हुए दौड़ रहे हैं। बड़ा अचरज है।

ज्वाल कढ़ैं जब कान कान लौं फारे सोई मुंह आवत हैं।
दांत खुले बरछी की अनी से दृती झपटे सब आवत हैं॥
बिज्जु सी मोछैं भवें दृग केश सबै नभ में चमकावत हैं।
सूखे बड़े तन को उलका मुख ज्योति में नेक दिखावत हैं॥

अचानक माधव को एक दुखिनी युवती का सुरीला और भयानक स्वर सुनाई देता है।

"हाय बाबाजी, तुम जिसे निठुराई से राजा की भेंट किए देते थे अब वह मर रही है"।

इस स्वर से माधव अपरचित नहीं है वह मन्दिर में घुस जाता है और वहां मालती को बलि की भांति खड़े हुए देखता है जिसको कि चामुण्डा का भयानक पुजेरी अघोर-

घण्ट बलि देने के लिये प्रस्तुत है। कुछ तांत्रिक क्रियाओं के लिये कुमारी कन्या का बलि देना आवश्यक था और इस कार्य के लिये पद्मावती नगरी की यह सब से सुन्दर और सबसे पवित्र कन्या चुरा ली गई थी। मालती को स्वयं अपनी चोरी का पता नहीं था, वह कहती है।

"मैं कुछ नहीं जानती, मैं कोठे पर सो रही थी, जब जागी तो अपने को यहां देखा"।

माधव इस दुष्ट पुजेरी को मार कर अपनी प्रियतमा की रक्षा करता है। परन्तु इससे अधिक दुष्टा पुजेरिन कपालकुण्डला इसका बदला लेने का विचार करती है।

इसके उपरान्त हम बहुत सी छोटी छोटी घटनाओं को छोड़ देते हैं। अन्त में मालती माधव के साथ भागती है। राजा इन अपराधियों को पकड़ने के लिये सिपाहियों को भेजता है, परन्तु माधव उन्हें मार भगाता है और राजा उसकी वीरता के लिये उसे उदार हृदय से क्षमा कर देता है।

यहां पर यह नाटक राजा की आज्ञा से इन दोनों प्रेमियों का बिवाह होने पर सुख से समाप्त हो जाता परन्तु भवभूति प्रकृति और मनुष्य के भावों का उत्तेजित वर्णन करने के लिये इस कथा को बढ़ाता है। उसकी घटनाएं और उसकी उलझन व्यर्थ बढ़ाई गई हैं, परन्तु इसका वर्णन अद्वितीय है। मालती को एक बार पुन: दुष्ट पुजेरिन कपालकुण्डला चुरा लेजाती है, और माधव उसकी खोज में विन्ध्य पर्वत पर जाता है, सौदामिनी जो कि पहिले एक बौद्ध पुजेरिन थी परन्तु जिसने अब योगाभ्यास से दैविक शक्तियों को प्राप्त कर लिया है, माधव की

सहायता करने का संकल्प करती है, और उसके मुख से हमें उस स्थान का बड़ा अद्भुत वर्णन मिलता है।

"अरे मेरे उतरते ही पहाड़ नगर गांव नदी मानों किसी ने आंखों में डाल दिया। वाह, वाह—

एक ओर पारानदी बहै सुनिर्मल नीर।
एक ओर है सिन्धु सरि डोलत परम गंभीर॥
इन महँ पद्मावती लखै मानहुं धरे अकास।
मन्दिर फाटक अट्ट सब उलटे लखिय प्रकाश॥
ललित लहर की माल सहित लवना यह सोहै।
पावस ऋतु महँ नगर लोग कर सोइ मन मोहै॥
जासु तीर बनखगड घास मोठी उपजावैं।
रुचि मन भागि न जाय जहां चरि चरि सुख पावैं।

"अरे यह सिन्धु का झरना है जो रसातल तक फोड़े डालता है-

ऊंचे गिरि सन गिरि सरि नीरा।
गाजत मेघ समान गंभीरा॥
गुंजत शैल कुंज चहुं ओरा।
ज्यों गनेस चिघरन कर घोरा॥

देखो पहाड़ के तट पर चन्दन केसर और अश्वकर्ण का कैसा घना बन है। बेल पकने से कैसी सुगन्धि आरही है। इनको देखने से दक्खिन के पहाड़ों की सुध होती है, जिनके चारों ओर जामुन के घने बनों के अंधेरे में खोहों और घाटियों के बीच गोदावरी गरजती हुई चलती है।"

[सीताराम।]

अन्त में सौदामिनी अपने मंत्र बल से मालती को छुड़ाती है और उसका विवाह सुखपूर्वक माधव के साथ होता है।

भवभूति के अन्य दोनों नाटक रामायण से लिए गए हैं। उनमें से महावीरचरित्र में राम की बाल्यावस्था से लेकर लंकाविजय करने और सीता के सहित अपनी जन्म भूमि को लौटने तक की कथा का वर्णन है। यह नाटक निस्सन्देह भवभूति के अन्य नाटकों से घटता है परन्तु फिर भी उसमें बड़े ओजस्विता के वाक्य हैं। जहां पर प्राचीन राजा (जनक जो कि उपनिषदों का प्रगट करने वाला और क्षत्रियों को विद्या में ब्राह्मणों के बराबर कहने वाला था) जमदग्नि के पुत्र परशुराम की धमकी से क्रोधित हुआ है, सच्ची कविता देखने में आती है। यह राजा क्रोध से कहता है—

"जन्मो भृगुमुनि वंस को यही तपसी मुनि ज्ञानी।
यहीबेर लो रिपुहि कीं हम अति अनुचित बानी॥
तृन समान हम सबन गनि करत जात अपमान।
उठै धनुष एहि दुष्ट पर अब उपाय नहिं आन॥"

[सीताराम।]

उस कवि की जन्मभूमि में गोदावरी के उद्गम का इस प्रकार वर्णन किया गया है।

"देखो यह प्रस्रवण नाम पहाड़ जनस्थान के बीच में है जिसका नीला रंग बार बार पानी के बरसने से मैला सा हो गया है और जिसकी कन्दरा घने पेड़ों के अच्छे बनों के किनारे गोदावरी के हलोरों से गूंज रही है।"

दूसरा नाटक उत्तररामचरित्र है जिसमें कि इसके उपरान्त की रामायण की कथा सीता के बनवास और राम का अपने पुत्र लव और कुश से मिलाप होने तक का वर्णन है। वर्णन और ओजस्विता में यह नाटक मालती

माधव के बराबर है और कोमलता तथा करुणा के लिये वह संस्कृत साहित्य के किसी ग्रन्थ की बराबरी कर सकता है।

इसकी कथा रामायण की ही कथा है और इस कारण उसे विस्तारपूर्वक लिखने की अवश्यकता नहीं है। यह नाटक राम और सीता की बात चीत से आरम्भ होता है जो कि लङ्का से लौट कर आए हैं और अयोध्या के सिंहासन पर बैठे हुए हैं। दूसरे दृश्य में लक्ष्मण उन्हें राम के पूर्व चरित्र के चित्र दिखलाते हैं और कोमल सीता अपनी पूर्व आपत्ति के चित्रों को बिना दुःख के नहीं देख सकती। कवि निस्सन्देह अपनी प्रिय गोदावरी के लिये भी एक वाक्य लिख देता है

"जिस के खोहों के चारों ओर घने पेड़ों में अँधेरे वन में बहने से कैसा शोर होता है।"

और रामने वहां जो सुख के दिन व्यतीत किए थे उनका स्मरण हृदय वेधक वाक्यों में दिलाता है।

"स्मरसि सरसतीरां तत्र गोदावरीं वा
स्मरसि च तदुपान्तेष्वावयोर्वर्त्तनानि ॥
किमपि किमपि मन्दं मन्दमासक्ति योगा-
दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण ।
अशिथिल परिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो-
रविदितगतयामा रात्रिरेवं व्यरंसीत् ॥"

तब दुर्बल सीता जो कि उस समय गर्भवती थी विश्राम की इच्छा करती है और राम स्नेह के साथ उससे कहते हैं।

"आविवाहसमयाद् गृहे वने शैशवे ननु यौवने पुनः।
स्वापहेतुरनुपाश्रितोऽन्यया रामबाहुरुपधानमेष ते॥
सीता—अस्ति एतत् आर्यपुत्र अस्ति एतत्। [स्वपिति]
रामः—कथं प्रियवचना वक्षसि सुप्तैव।
इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्त्तिर्नयनयो-
रमवस्याः स्पर्शो वपुषि बहलश्चन्दनरसः।
अयं कंठे बाहुः शिशिरमसृणो मौक्तिक रसः
किमस्या न प्रेयो यदि पुनरसह्यो न विरहः॥

इस अन्तिम वाक्य को कवि ने चतुराई के साथ रख दिया है क्योंकि राम से सीता का फिर वियोग होने ही वाला है। सीता को नींद में छोड़ने के उपरान्त ही राम बड़े दुःख के साथ यह सुनता है कि रावण के यहां जाने के उपरान्त उसके उसे पुनः अंगीकार करने से उसकी प्रजा को बड़ा असंतोष है। प्रजा का असन्तोष सहने में असमर्थ होने के कारण वह उनकी इच्छा को स्वीकार करता है और बिचारी सीता को निकाल देता है।

इसके उपरान्त फिर १२ वर्ष व्यतीत होगए। सीता ने बनवास के उपरान्त ही जिन दोनों पुत्रों को उत्पन्न किया था वे अब बलिष्ट बालक होगए हैं और बाल्मीकि की शिक्षा में शस्त्र और विद्या में निपुण होगए हैं। सीता के दिन बन में बड़ी उदासी से व्यतीत होते हैं।

"परिपाण्डुदुर्बलकपोलसुन्दरं दधती बिलोलकबरीकमाननम्।
करुणस्य मूर्त्तिरिव वा शरीरिणी विरहव्यथेव वनमेति जानकी॥"

यह निश्चित होता है कि सीता को दैविक शक्तियों के द्वारा अदृश्य बना कर रामसे भेंट करानी चाहिए और

कब यह भेंट अपनी गोदावरी के तट पर कराता है। वहां राम सीता की सखी वासन्ती के साथ घूमते हैं और सीता और तमसा भी रम को अदृश्य होकर वहीं जाती हैं। वहां का प्रत्येक दृश्य राम को उन दिनों का स्मरण दिलाता है जब कि वह सीता के सहित यहां रहे थे और उनका हृदय दुःख से भर जाता है। और वासन्ती कटु तथा नम्र संकेत से राम को सीता पर अन्याय करने का स्मरण दिलाने में नहीं चूकती। भवभूति राम पर प्रजा की सम्मति के अधीन होने के लिये और अपनी निर्दोष, असहाय और प्रिय पत्नी को बनवास देकर उसपर अकथनीय अन्याय करने के लिये कुपित हुए बिना नहीं रह सकता। और यद्यपि इस कवि के हिन्दू हृदय में राम का सत्कार है तथापि हमारे पाठक देख सकते हैं कि इसने राम की अद्वितीय दुर्बलता और अपराध के विषय में अपने मन में बात प्रगट करने का निश्चय कर लिया है।

वासन्ती रामको स्मरण दिलाती है।

"एतत्तदेव कदलीवनमध्यवर्त्ति कान्तासखस्य शयनीयशिलातलं ते।
अत्र स्थिता तृणमदाद् बहुशो पदेभ्यः सीता ततो हरिणकैर्न विमुच्यतेस्म॥
राम--इदं तावदशक्यमेव द्रष्टुम्।

बिचारी सीता जो कि उस समय उपस्थित थी और यद्यपि राम के लिये अदृश्य थी परन्तु वह इसे सहन नहीं कर सकती और कहती है।

"सखि वासन्ति किं त्वम् अपि एवं वादिनी भियार्हः खलु सर्वस्य आर्यपुत्रः विशेषतः मम प्रियसख्याः।"

परन्तु वासन्ती निष्ठुर है और राम से कहे जाती है।

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं
त्वं कौमुदीनयनयोरमृतं त्वमङ्गे ।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां
तामेव शान्तमथवा किमिहोत्तरेण ॥"

राम व्यर्थ प्रजा की सम्मति पर टाल कर निर्दोषी बनते हैं। वासन्ती, बन में सीता की क्या दशा हुई होगी इस विषय में भयानक अनुमान करती है, राम करुणा से रोने लगते हैं। सीता अपने पति का दुःख अब नहीं देख सकती और वह तमसा से कहती है कि "देखो वे प्रमुक्तकंठ रो रहे हैं" परन्तु तमसा उत्तर देती है।

पूरोत्पीडे तडागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया ।
शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते ॥

यहां पर हमें ऐसा जान पड़ता है कि हम शेक्सपियर के मेकबेथ का अनुबाद पढ़ रहे हैं।

"Give sorrow words; the grief that does not speak
whispers the o'erfraught heart and makes it break."

और फिर भी विदर्भ का यह कवि शेक्सपियर से ८०० वर्ष पहिले हुआ है।

राम को इतनी बातें कही जाती हैं कि वे अन्त में मूर्छित हो जाते हैं। सीता जो कि स्वयं अदृश्य थी उस का सिर छूती है और इस प्रिय स्पर्श से राम यह कहते हुए उठ बैठते हैं

"सखि वासन्ति दिष्ट्या वर्द्धसे।"

और कहते हैं कि उन्हें सीता का स्पर्श जानपड़ा

"सखि कुतः प्रलापाः

गृहीतो यः पूर्वं परिणयविधौ कङ्कणधर
श्चिरं स्वेच्छास्पर्शैरमृतशिशिरैयः परिचितः॥"

परन्तु सीता अब जाती है। उसे और तमसा को अब अवश्य जाना चाहिए परन्तु वह सहज में यहां से नहीं हट सकती।

"भगवति प्रसीद क्षणमात्रम् अपि तावत् दुर्लभं जनं प्रेक्षे।"

और जाने के पहिले व्यग्र होकर कहती है।

"नमः नमः अपूर्वपुण्यजनितदर्शनेभ्यः आर्यपुत्रचरणकमलेभ्यः।"

हा बिचारी, निकाली हुई, दुखी सीता अपने प्रिय पति के चरण को नमस्कार करती है, उस पति को जिसने कि उसे अकेले निस्सहाय गर्भ के अन्तिम दिनों में बिना बिचारे दुर्बलता और निष्ठुरता से बन में निकाल दिया था। स्त्री के आत्मत्याग की सीमा इससे अधिक नहीं हो सकती, चिरस्थायी प्रेम का इससे बढ़ कर वर्णन कभी नहीं किया गया है। मनुष्य की कल्पना ने सुशील सदा प्रेम करने वाली और सब क्षमा करने वाली सीता से बढ़कर उत्तम, पवित्र और देव तुल्य चित्र नहीं खींच सकी है।

दूसरे स्थान पर कवि ने एक बार फिर राम के इस दुर्बल आचरण पर अपना पश्चाताप प्रगट किया है। प्राचीन राजा जनक जो कि अपने अधिकार और अपने पवित्र जीवन तथा वैदिक ज्ञान के लिये समान रीति से पूज्य थे अपनी कन्या के दुःख सुन कर बड़े क्रोधित होते हैं। जब वे राम के आचरण पर ध्यान देते हैं तो उनकी वृद्ध नसों का रुधिर गर्म हो जाता है और वे क्रोध में कहते हैं।

"अहो दुर्मर्य्याता पौराणाम् । अहो रामस्य राज्ञः क्षिप्रकारिता।
एतद्धि शखघोरवज्रपतनं शश्वन्नमोत्पश्यतः।
क्रोधश्च ज्वलितुं धगित्यवशरश्चापेनशापेन वा ॥

राम के अश्वमेध की कथा प्रसिद्ध है। घोड़ा छोड़ा जाता है और राम के पुत्र उसे रख लेते हैं और इस प्रकार अनजाने राम की सेना के साथ वैर करते हैं। लव और चन्द्रकेतु के मिलने का बहुत अच्छा वर्णन किया गया है। ये दोनों वीर युवा हैं जिनमें कि युद्ध का उत्साह भरा है परन्तु वे एक दूसरे के साथ विरोचित सुशीलता और सम्मान दिखलाते हैं। चन्द्रकेतु अपने रथ से उतरता है। यह क्यों ?

"यतस्तावदयं वीरपुरुषः पूजितो भवति अपि खलु आर्य क्षात्रधर्म्मश्चानुगृहीतो भवति। न रथिनः पादचारमायोधयन्ति इति शास्त्रविदः परिभाषन्ते।"

और यह यूरप में वीरता की उन्नति होने के कई शताब्दी पहिले लिखा गया था।

वाल्मीकि आनन्द सहित मिलाप करवा देते हैं जिससे कि यह नाटक समाप्त होता है परन्तु यह कवि राम पर दूसरी चुटकी लिये बिना अपनी लेखनी नहीं रख सकता। राम के सम्मुख एक नाटक होता है और इस नाटक का विषय राम को अपनी पत्नी के त्याग करने का है। नाटक में सीता त्याग किए जाने के समय सहायता के लिये पुकारती है और आपत्ति और दुःख में अपने को गंगा में गिरा देती है राम इसे नहीं सह सकते और यह कहते हुए उठते हैं।

"हा देवि हा देवि । लक्ष्मण अपेक्षस्व ।"

उनके भाई लक्ष्मण उन्हें स्मरण दिलाते हैं :

"आर्य्य नाटकमिदम् ।"

यहां पर पाठकों को हैमलेट नाटकांतरगत नाटक का स्मरण आवेगा जो कि हैमलेट के चाचा का दोष निश्चित करने के लिये रचा गया था। यह नाटक सुख से समाप्त होता है। राम सीता को अपने पुत्र लव और कुश के सहित ग्रहण करते हैं और अयोध्या के लोग पश्चाताप के साथ सीता के चरणों पर गिरते हैं।

अब हम कालिदास और भवभूति का उल्लेख कर चुके तो संस्कृत साहित्य के सर्वोत्तम सब नाटकों का वर्णन होगया। उस समय में जिसे कि हम संस्कृत साहित्य का सर्वोत्तम काल कह सकते हैं सैंकड़ों नाटक बनाए और खेले गए होंगे परन्तु उनमें से केवल उत्तम ग्रन्थ बचे रहते हैं बाकी लुप्त हो जाते हैं। चिकनी चुपड़ी नकल वा निर्जीव ग्रन्थ समय का झोंक नहीं सह सकते। शेक्सपियर के कुछ प्रधान ग्रन्थ उस समय भी पढ़े जांयगे जब कि शेक्सपियर की भाषा बोल चाल की भाषा न रह जायगी परन्तु एलिज़बथ के १२०० वर्ष के उपरान्त पील, ग्रीन, मारलो और बेन जान्सन का कदाचित किसी को नाम भी स्मरण न रहेगा।

जो हिन्दू नाटक अब वर्तमान हैं वा जिनका नाटक लिखने वालों ने उल्लेख किया है उनकी कुल संख्या प्रोफेसर विल्सन साहब ने ६० से अधिक नहीं गिनी है। परन्तु इनमें से बहुतेरे बहुत इधर के समय के हैं और उनमें बहुत हो थोड़े ऐसे हैं जो कि कुछ उपयोगी वा प्रसिद्ध हों।

ऊपर कहे हुए नाटकों के सिवाय आज कल जो नाटक साधारणतः प्रसिद्ध अथवा पढ़े जाते हैं वे ये हैं अर्थात मृच्छकटि, मुद्राराक्षस और वेणिसंहार । उनके विषय में एकाध दो वाक्य लिखना बहुत होगा ।

मृच्छकटि राजा सूद्रक का बनाया हुआ कहा जाता है और उसके बनने का समय विदित नहीं है। परन्तु भीतरी प्रमाणों से यह विदित होता है कि यह उस उज्वल साहित्यकाल का बना हुआ है जो कि छठीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है । उसकी लिखावट में इस काल के अन्य नाटकों से बहुत भेद नहीं है और उन्हीं की भांति उसके दृश्य का स्थान भी उज्जयिनी है । उसमें पौराणिक त्रि-मूर्त्ति अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, और शिव माने गए हैं (छठां अंक), बौद्ध लोग घृणा के पात्र हो गए थे परन्तु उन्हें दुःख देना अभी आरंभ नहीं हुआ था (७ वां अंक) और न्याय के लिये मनुस्मृति प्रमाण मानी गई है (९ वां अङ्क)। शेष बातों के लिये मृच्छकटि में राजाओं और रानियों का वर्णन नहीं वरन सामान्य अवस्था के पुरुष और स्त्रियों का वर्णन है । उससे हमें प्राचीन समय के नगरवासियों का जीवन तथा न्याय और राज्यप्रबन्ध, जुवा खेलने तथा अन्य पापों का वर्णन मिलता है और यह सब उनकी चाल व्यवहार का साधारण तथा यथार्थ चित्र है । जब हम इस काल की सभ्यता और चाल व्यवहार का वर्णन करेंगे तो हमें इस नाटक का बहुधा उल्लेख करना पड़ेगा ।

मुद्राराक्षस नाटक इससे नवीन ग्रन्थ है और उसका ग्रन्थकार विशाखदत्त है । इस नाटक के अन्तिम वाक्यों से

विदित होता है कि जब यह ग्रन्थ बनाया गया था उस समय भारतवर्ष मुसल्मानों के हाथ में आ चुका था। उसकी मुख्य मनोरञ्जक बात यह है कि वह ईसा के लगभग ३२० वर्ष पहिले चन्द्रगुप्त को मगध का राज्य दिलाने में चाणक्य की सहायता करने का उल्लेख करता है। इसमें युक्तिवान बदला लेने वाले अत्याचारी और निष्ठुर चाणक्य तथा उदार, सरल स्वभाव, भलेमानस और सच्चे राक्षस के चरित्रों का बड़ी उत्तम रीति से भेद दिखलाया है।

वेणी संहार नाटक भट्टनारायण का बनाया हुआ कहा जाता है और लोग ऐसा कहते हैं कि यह उनमें से एक ब्राह्मण था जो कि आदिसुर के निमन्त्रण पर कन्नौज से बंगाल को आए थे। बंगाल में अब तक भी बहुत से ब्राह्मण अपने को इस ग्रन्थकार का वंशज मानते हैं। इस नाटक का विषय महाभारत से लिया गया है। द्रौपदी को जब युधिष्ठिर जूए में हार जाते हैं तो दुःशासन उ की वेणी अर्थात् चोटी पकड़ कर सभा में घसीट ले जाता है और वह यह पण करती है कि जब तक इसका पलटा नहीं लिया जायगा तब तक वह अपने बाल खुले रक्खेगी। इसका पलटा भीम ने दुर्योधन को मार कर लिया और तब द्रौपदी के केश पुनः बांधे गए। इसमें प्रभावशाली वाक्य भी हैं परन्तु सब बातों पर ध्यान देने से इस नाटक की लिखावट कटु और अनगढ़ है और यह स्पष्ट है कि यह मुसल्मानों के भारत विजय के बहुत पहिले का नहीं बना है।

—:o:—

अध्याय १३

काव्य ।
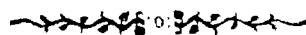
नाटक की नाईं काव्य में भी कालिदास का नाम ही सब से प्रथम है। जिस समय का हम वर्णन कर रहे हैं उसमें संस्कृत के बहुत से महाकाव्य हैं जिनमें से दो सबसे उत्तम महाकाव्य कालिदास के हैं। इनमें से एक तो रघुवंश है जिसमें रघु के वंश का वर्णन है और दूसरा कुमारसम्भव है जिसमें युद्ध के देवता कुमार के जन्म की कथा है।

पहिले महाकाव्य में अयोध्या के राज्यवंश का वर्णन है जो कि इस वंश के संस्थापक से लेकर राम के वंश के अन्तिम राजाओं तक है। यह विषय काव्य के लिये उतना उपयुक्त नहीं है जितना कि इतिहास के लिये परन्तु कवि की बुद्धि ने सारी कथा को सजीव कर दिया है। राजाओं के जीवनचरित्रों के दृश्य का वर्णन महाकवि की पूरी शक्ति के साथ वर्णन किया गया है, वर्णन सदा उत्तम और प्रभाव शाली है बहुधा उसमें सच्ची कविता पाई जाती है और आदि से लेकर अन्त तक कालिदास की उत्तम और बड़ी कल्पना और उसकी कविता की अद्वितीय कोमलता का प्रभाव पाठकों के ऊपर रहता है।

इस समस्त ग्रन्थ में सब से आनन्दमय और अद्भुत कविता वहां है जहां कि राम लङ्का से सीता को जीतकर विमान पर चढ़ कर आकाश मार्ग से अयोध्या को लौटे जा रहे हैं। सारा भारतवर्ष, नदी, वन, पर्वत, और समुद्र इनके

नीचे है और राम अपनी कोमल और प्रिय पत्नी को भिन्न भिन्न स्थानों को दिखलाते हैं। इस वर्णन की सुन्दरता के सिवाय हमें यह अंश इसलिये मनोरञ्जक है कि छठीं शताब्दी में उज्जयिनी के विद्वानों को भारतवर्ष का भूगोल विदित था इसका हमें भी कुछ ज्ञान प्राप्त होता है।

हमारी सम्मति में कुमारसम्भव में कालिदास की कल्पना अधिक बढ़ गई है। इस ग्रन्थ में वह किसी राज्य-वंश का इतिहास नहीं लिखता है वरन अपनी कल्पना शक्ति के पूर्ण भण्डार से शिव के लिये उमा की प्रीति और उनके आनन्दमय विवाह का वर्णन करता है।

उमा ने हिमालय पर्वत की कन्या की भांति जन्म लिया था और उससे अधिक कोमल सन्तान इस संसार में कभी नहीं हुई।

"स्थावर जंगम सब को, उसके होने से सुख हुआ अनन्त।
शोभित हुई उसे निज गोदी में लेकर माता अत्यन्त॥
चन्द्रकलावत नित दिन दिन वह बढ़ने लगी रूप की खान।
बढ़ने लगी लुनाई तन में परम रम्य चांदनी समान॥

(महावीर प्रसाद द्विवेदी)

इस कन्या की बाल्यावस्था का वर्णन बड़ी ही सुन्दरता और मधुरता के साथ किया गया है इस कन्या के लिये एक बड़ा भविष्य उपस्थित है। देवता लोग प्रतापी शिव के साथ उसका विवाह कराना चाहते हैं क्योंकि इस विवाह से जो बालक उत्पन्न होगा वह देवताओं के लिये असुरों को जीतेगा। इस समय शिव हिमालय पर्वत पर समाधि में मग्न हैं और यह निश्चय किया जाता है कि उमा इस

महान देवता की दासी की नाईं सेवा करे और उसकी सब आवश्यकताओं का प्रबन्ध करे। पवित्र वस्त्र धारण किए हुए तथा फूलों से सुशोभित उमा की मूर्ति का ध्यानावस्थित शिव को सेवा करने लिये पुष्प एकत्रित करने और उसको यथोचित दण्डवत करने का जो वर्णन है उससे अधिक मनोहर और प्रबल कल्पना का स्मरण हम लोगों को नहीं हो सकता। दण्डवत करने में वह इतनी झुकी कि उसके बालों से वह सुन्दर फूल गिर पड़ा जो उस रात्रि को प्रदीप्त कर रहा था।

शिव ने पूजा से प्रसन्न होकर वरदान दिया।

"पावै तू ऐसा पति जिसने देखी नहीं अन्य नारी।"

सब बातें अभीष्ट मनोरथ को सफल करने के लिये ठीक हुई होतीं यदि प्रेम के दुष्ट देवता कामदेव ने हस्तक्षेप न किया होता। वह शिव की दुर्बलता के समय की प्रतीक्षा करता है और उस समय अपना कभी न चूकने वाला बाण छोड़ता है। अब कवि योगिराज शिव पर इस बाण के प्रभाव का वर्णन करता है।

राकापति को उदित देख कर क्षुब्ध हुए सलिलेश समान,
　　कुछ कुछ धैर्य्यहीन होकर के, संयमशील शम्भु भगवान।
लगे देखने निज नयनों से, सादर, साभिलाष, सस्नेह,
　　गिरजा का बिम्बाधर-धारी मुखमण्डल शोभा का गेह॥
खिले हुए कोमल कदम्ब के फूल तुल्य अङ्गों द्वारा,
　　करती हुई प्रकाश उमा भी अपना मनोभाव सारा।
लज्जित नयनों से भ्रमिष्ट सी वहीं देखती हुई मही,
　　अति सुकुमार चारुतर आनन तिरछा करके खड़ी रही॥

महा जितेन्द्रिय थे; इस कारण, महादेव ने, तदनन्तर,
 अपने इस इन्द्रियक्षोभ का बलपूर्वक विनिवारण कर।
मनोविकार हुआ क्यों? इसका हेतु जानने को सत्वर,
 चारों ओर सघन कानन में प्रेरित किए विलोचन वर॥
नयन दाहिने के कोने में मुट्ठी रक्खे हुए कठोर,
 कन्ध झुकाए हुए, वाम पद छोटा किये भूमि की ओर।
धनुष बनाए हुए चक्र सम, विशिख छोड़ते हुए विशाल,
 मनसिज को इस विकट वेश में त्रिनयन ने देखा उस काल॥
जिनका कोप विशेष बढ़ा था तपोभंग होजाने से,
 जिनका मुख दुर्दर्श हुआ था भृकुटी कुटिल चढ़ाने से।
उन हर के, तृतीय लोचन से तत्क्षण ही अति विकराला,
 अकस्मात अग्निस्फुलिङ्ग सी निकली दीप्तिमान ज्वाला॥
"हा हा! प्रभो! क्रोध यह अपना करिए करिए करिए शान्त,"
 इस प्रकार का विनय व्योम में जब तक सब सुर करें नितान्त।
तब तक हर के दृग से निकले हुए हुताशन ने सविशेष,
 मन्मथ के मोहक शरीर को भस्मशेष कर दिया अशेष॥
 (महावीर प्रसाद द्विवेदी)

कामदेव की स्त्री अपने पति की मृत्यु पर विलाप करती है और उमा शोक और दुःख के साथ वन में जाकर तपस्या आरम्भ करती है। कवि यहां पर इस सुकुमार और कोमल कन्या की कठोर और असह्य तपस्या का पुनः प्रभावशाली वर्णन करता है। ग्रीष्म ऋतु प्रबल आंच के बीच व्यतीत होती है। शरद् ऋतु में वह वृष्टि में पड़ी रहती है और शीत ऋतु की वायु भी उसे अपने व्रत से विचलित नहीं कर सकती।

एक युवा योगी इस कोमल युवती की कठोर तपस्याओं का कारण पूछने के लिये आता है। उमा की सखियां

उसे उसका कारण बतलाती हैं परन्तु योगी उसे विश्वास नहीं कर सकता कि ऐसी सुकुमार कन्या शिव जैसे प्रेमशून्य देवता से प्रेम करे जो कि देह में भस्म लगाए रहते हैं और श्मशानों में घूमते हैं।

"उस द्विज ने इस भांति दिया जब उलटा अभिप्राय सारा।
कोप प्रकाशित किया उमा ने कम्पित अधरों के द्वारा।"

(महावीर प्रसाद द्विवेदी)

वह इस असभ्य योगी को उत्तेजित उत्तमता के साथ इस महान देवता के प्रताप का वर्णन करती है जिसे कि कोई नहीं जानता और कोई समझ नहीं सकता और वह क्रोध और घृणा के साथ उस स्थान से चली जाती है।

यह कह कर कि यहां से मैं ही उठ जाऊंगी, वह बाला,
उठी सवेग कुचों से खिसका पावन पट वल्कलवाला।
अपना रूप प्रकट करके, तब, परमानन्दित हो, हँस कर,
पकड़ लिया कर से उसको शङ्कर ने उस अवसर पर॥
उनको देख, कम्पयुत धारण किए स्वेद के बूंद अनेक,
चलने के निमित्त ऊपर ही लिए हुए अपना पद एक।
शैल मार्ग में आजाने से व्याकुल सरिता तुल्य नितान्त।
पर्वत-सुता न चली, न ठहरी; हुई चित्र खींची सी भ्रान्त॥

(महावीर प्रसाद द्विवेदी)

हां, यह स्वयं शिव ही थे जिन्होंने कि प्रीति करना अस्वीकार किया था परन्तु अब उमा की तपस्याओं से संतुष्ट और प्रसन्न होकर इस पर्वत की कन्या उमा के स्नेह की नम्रता के साथ प्रार्थना की।

कालिदास के छोटे काव्यों में सब से उत्तम और मृदु मेघदूत है। इसकी कथा सरल है। एक यक्ष अपनी स्त्री

"ठैर के नैक तहां चलियो बरसावन नीर नई बुंदियान तें ।
सींचत नाग नदी तट बागन छाइ चमेली रही कलियानतें ॥
दै छिन छांह को दान सखा करियो पहचान तू मालिनयान तें ।
कान के फूल गए जिन के कुम्हलाइ से पोंछत स्वेद मुखान तें ॥
सो दिग उत्तर चालनहार के मारग के तौहूं फेर परे किन ।
वा उज्जयनि के आछे अटा पर से बिन तू चलियो कितहूं जिन ।
चंचल नैन वहां अबलान के बिज्जु छटा चक चौंधे करैं छिन ॥
जो न लख्यो उन नैनन तू हकनाहक देह धरे ही फिरे किन ॥
... ...

ख्यात है अवन्ती जहां केतेक निवास करें
पण्डित जनग्या उद्दयन की कथान के ।
जाइ के तहां प्रवेश कीने वा विशाला बीच
देख लीजो शोभा साज सकल जहान के ।।
भूमि ते गए जो नर देव लोक भोगिवे कों
करि करि काज बड़े धर्म औ प्रमाण के ।
तेई फेर आए सँग सम्भोग स्वर्ग लाए
प्रबल प्रताप मनो सब पुन्न दान के ॥
प्रात काल फूले नित कंजन ते भेटि भेटि
रंजन हिये को होत गन्ध सरसानो है ।
दीरघ करत मद माते बोल सारस के
सुरन रसीले करत गान मुख मानो है ।
एते गुन साथ तात सिफरा नदी को वात
पीतम समान बीनती में अति सयानो है ।
सुरत ग्लानि हरत सोई तहां नारिन की
गात हितकारी जान याही ते बखानो है ॥"

[लक्ष्मणसिंह]

भारवि जो कि कालिदास का समकालीन और उत्तरा-
धिकारी था वह महान् और सच्चे कवि के सब गुणों में

कालिदास से कहीं घट कर है। कल्पनाशक्ति में सभी कोमलता और मनोहरता में और मधुरता तथा पद्य के सुस्वर में भी कालिदास उससे कहीं बढ़ कर है, परन्तु फिर भी भारवि में विचार और भाषा की वह प्रबलता तथा उसकी लेखनी में वह उत्तेजक और उग्र भाषा पाई जाती है, जिसकी कि समानता कालिदास में विरले ही कहीं है। भारवि का केवल एक ही महाकाव्य अर्थात् किरातार्जुनीय ही हम लोगों को अब प्राप्त है और वह संस्कृत भाषा का एक सब से प्रबल और उत्तेजक काव्य है।

इसकी कथा महाभारत से ली गई है। युधिष्ठिर बनवास में हैं, और उनकी पत्नी द्रौपदी उन्हें अपने चचेरे भाइयों के साथ प्रतिज्ञा भंग करके अपने राज्य को पुनः जीत लेने के लिये उत्तेजित करती है, अभिमानी और दुःखप्राप्त स्त्री के उत्तेजित वाक्यों में वह दिखलाती है कि शान्ति और अधीनता स्वीकार करना क्षत्रियों के योग्य नहीं है, अधर्म्मियों के साथ धर्म्म का व्यवहार नहीं करना चाहिए, दुर्बलता और पदत्याग से राज्य और यश की प्राप्ति नहीं होती।

"तुम सरीख कहँ नाथ सुजाना।
होत ताहि सिख गारि समाना॥
पै यहि छन मरजाद नसावत।
चित्त दुख करि ढीठ बुलावत॥
... ...
अब यह छील तजहु नर नाहू।
करहु बेगि रिपु बधन उपाऊ॥
शम धन रिपु मारत मुनि लोगा।

राम नहिं कबहुं भूपन के योगा ॥

... ...

विक्रम तजि तुम्हार जो टेका ।
क्षमा करब सुख साधन एका ॥
नृप लक्षण तो धनु शर त्यागी ।
जटा बांधि सेइय मख आगी ॥"

(सीताराम)

युधिष्ठिर का जोशीला भाई भीम द्रौपदी का समर्थन करता है, परन्तु युधिष्ठिर उनके कहने से विचलित नहीं होते । इसी बीच में व्यासजी जो कि वेदों के बनाने वाले समझे जाते हैं, राजा को बनवास में देखने आते हैं और वे अर्जुन को तपस्या के द्वारा उन स्वर्गीय शस्त्रों के प्राप्त करने की सम्मति देते हैं जिनसे कि युद्ध के समय में वह अपने शत्रुओं को जीत लेगा । इस उपदेश के अनुसार अर्जुन अपने भाइयों से जुदा होता है और द्रौपदी उसे इस कार्य्य को करने के लिये उत्तेजित वाक्यों में जोर देती है । अर्जुन हिमालय पर्वत के एकान्त स्थान में जाकर अपनी तपस्या आरम्भ करता है ।

इस काव्य के किसी अंश से भारवि की कविता शक्ति ऐसी अधिक प्रगट नहीं होती जितनी कि अर्जुन की तपस्या के वर्णन में । उसके स्वाभाविक अभिमान और बल की मिलान उसके इस शान्त कार्य्य से अद्भुत रीति के साथ की गई है, और उसकी उपस्थिति का प्रभाव उसकी शान्त कुटी के जीवधारी और निर्जीव वस्तुओं पर भी होता है । इन्द्र का दूत इस अद्भुत योगी को देखता है और इसकी सूचना इन्द्र को देता है ।

"बलकल बसन लसत निज अंगा ।
तेज पुंज सोइ बनहुं पतंगा ॥
करत घोर तप शील तुम्हारे ।
जग जीतन लालस जनु धारे ॥
यदपि भुजंग सरिस भुज दंडा ।
गहे शत्रु त्रासन को दंडा ॥
शुद्ध चरित मुनि गन अधिकाई ।
तिन निज चरितावली जनाई ॥
नव तृनयुत महि सुखद समीरा ।
धूर दवन हित बरसत नीरा ॥
नभ रह विमल तासु गुन देखी ।
करत प्रकृति जनु भक्ति विशेखी ॥
छांड़ि बैर मृग बने सनेही ।
गुरुहि शिष्य सम सेवत तेही ॥
फूल काज जब हाथ उठावत ।
रूख आप निज डार झुकावत ॥
नभ पर भयो तासु अधिकारा ।
यदपि कहावत नाथ तुम्हारा ॥
नाम सन थकै तासु नहिं देहा ।
जय समर्थ सोई बिन देहा ॥
सो मुनि भेष जात पुनि पावा ।
लखि प्रभाव उपजै मन त्रासा ॥
है ऋषि सुत कै राज कुमारा ।
कै कोउ दैत्य लीन्ह अवतारा ॥
करत यदपि तप तव मन माहीं ।
तासु रूप जान्यो हम नाहीं ॥"

(सीताराम)

इन्द्र इस समाचार से बड़ा प्रसन्न होता है क्योंकि अर्जुन उसका पुत्र है और इन्द्र उसकी सफलता चाहता है। परन्तु फिर भी वह अन्य योगियों की भांति अर्जुन की भी परीक्षा करना चाहता है, और हमारे वीर को अपनी कठोर तपस्या से ललचाने के लिये अप्सराओं को भेजता है। हमारे ग्रन्थकार ने इन सुन्दर अप्सराओं का वर्णन ४ अध्यायों में दिया है, जिनमें उसने दिखलाया है कि ये अप्सराएं किस भांति फूल बटोरती थीं, जल विहार करती थीं और नवीन सुन्दरता के साथ इस एकान्तवासी योगी के सम्मुख उपस्थित होती थीं।

यद्य तप सों परो पियरो शस्त्र-सज्जित धीर ।
वेद सम गंभीर तहं उन लख्यो अर्जुन बीर ॥
खड़ो इकलो शिखर पर द्युति आवरण तन सेव ।
यामिनी पति सरिस सुन्दर मनहुं कोउ वनदेव ॥
यदपि तप सों सूखि के सब अंग हैं पियरान ।
तदपि शान्त कुटीर में वह अगम और महान ॥
यदपि इकलो वली तो हू अमित कटक समान ।
यदपि तपसी तदपि है वह इन्द्र सम बलवान ॥

यह ऐसा वीर था जिसके सम्मुख ये अप्सराएं हुईं, और यह ऐसा योगी था जिसे कि उन्होंने व्यर्थ ललचाने का यत्न किया। इन अप्सराओं को कुछ लज्जित होकर लौट जाना पाड़ा और तब स्वयं इन्द्र एक वृद्ध योगी के वेष में अर्जुन को अपनी तपस्याओं से विचलित करने को आया जिस भांति कि कालिदास के शिव उमा को अपनी तपस्या से विचलित करने के लिये आए थे। यह वेषधारी

देवता अर्जुन को संसारी महत्त्व की अनस्थिरता, अधिकार और यश की अभिलाषा करने की मूर्खता और वास्तविक पुण्य और मुक्ति की अभिलाषा की बुद्धि का उपदेश देता है परन्तु इन सब उपदेशों से अर्जुन अपने संकल्प से विचलित नहीं होता।

अति पुनीत पिता तव सीख है। पर नहीं मम जोग सु दीख है॥
नखत मंडित ज्यों नभ रैन को। दिवस की द्युति में नहिं सोहतो॥
चाहत धोवन आज आपनो यह कलंक हम।
रहत दिवस निसि सदा हृदय को जो छेदत मम॥
उन अंसुवन सों जाहि शत्रु की विधवा नारी।
कतपि निहत पति हेतु गिरइहैं अवनि मझारी॥
यदि यह आशा वृथा मोरि सब तुम्हैं लखाई।
तऊ व्यर्थ अनुरोध सकल तव-छमौ ढिठाई॥
जौ लौं शत्रुहिं जीति दलित करिहौं मैं नाहीं।
नसी कीर्त्ति निज बहुरि थापिहौं नहीं जग माहीं॥
मुक्ति लोभ सू सकत नाहिं बाधा कछु डारी।
यहि ऊंचे संकल्प माहिं मम लेहु बिचारी॥

इन्द्र इस दृढ़ संकल्प से जो कि न तो ललचाने से और न ज्ञान से विचलित हो सकता है अप्रसन्न नहीं होता। और वह अपने को प्रगट करता है और इस वीर को स्वर्गीय शस्त्रों को प्राप्त करने के लिये शिव की आराधना करने का उपदेश देता है और कहता है कि केवल वही इन शास्त्रों को दे सकता है।

एक बार वह पुनःतपस्या और कठोर व्रतों में लगता है, यहां तक कि इसकी कठोर तपस्या का समाचार स्वयं शिव के कान तक पहुंचता है। अब शिव इस पुण्यात्मा क्षत्रिय

से मिलने के लिये आते हैं, उसे तपस्या से विचलित करने के लिये वृद्ध के वेष में नहीं वरन उसके बल की परीक्षा करने के लिये योधा के वेष में । वह किरात अर्थात् जंगली शिकारी का वेष धारण करते हैं और एक बड़ा सूअर जो कि अर्जुन पर आक्रमण करने के लिये आया था मारा जाता है। अर्जुन और वेषधारी शिव दोनों इस पशु के मारने का दावा करते हैं और इस प्रकार एक झगड़े का आरम्भ होता है और दोनों में युद्ध होने लगता है जिसे कि हमारे ग्रन्थ-कार ने पूरे छः अध्यायों में वर्णन किया है ।

यह युद्ध यद्यपि प्रभावशाली और उत्तेजित वाक्यों से भरा हुआ है तथापि वह उस अतिशयोक्ति में लिखा गया है जो कि हिन्दू कवियों में आम तरह से पाई जाती है। सर्पबाण, अग्निबाण और वृष्टिबाण छोड़े जाते हैं यहां तक कि आकाश फुफकारते हुए सर्पों, धधकती हुई अग्नि और वृष्टि की धारा से भर जाता है ! परन्तु इन सब अद्भुत शस्त्रों से अर्जुन का कार्य नहीं हुआ और उसको बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह जङ्गली किरात उसके सब शास्त्रों का जवाब अधिक बलवान शस्त्रों से देता रहा और अपने समय के सब से निपुण योधा से कहीं बढ़कर था ।

कठिन कौशल देखि किरात को चकित अर्जुन शत्रु विघातक ।
चुप रहे बहु संशय में परे । तब उठीं मन में यह भावना ॥

योधा महा अति बलिष्ठ रहे जहां ही ।
जाके भिड़ों अरु परास्त कियो तहां ही ॥
क्या भानु दीन बनि चन्द्रहिं शीश नावै ।
हा क्या गंवार इक अर्जुन को गिरावै ॥
है इन्द्रजाल अथवा यह स्वप्न कोई ।

हूं मैं यथार्थ महं अर्जुन बीर सोई ॥
क्यों हा अपार बल मोर चलै न आपै ।
बे चीख की इस बनेचर की कला पै ॥

नभ चाहत है दुइ टूक कियो । गहि भूतल पिंड कंपाइ दियो ॥
लरतो किहि भांति गंवार अरे । निहचै कोउ रुप छिपाय लरे ॥
जग द्रोण न भीष्महिं देखि परैं । अस्त्र घात बचाइ जो वार करैं ॥
बन को चर एक गंवार महां । अस युक्ति अलौकिक पावे कहां ॥

अन्त में सब शस्त्रों से विहीन होने पर अर्जुन अपने अजीत शत्रु पर मल्लयुद्ध करने के लिये टूटता है । यह मल्ल युद्ध बहुत समय तक होता है, और शिव जो कि सामान्य योधा नहीं थे अर्जुन पर आक्रमण करने के लिये उछल कर हवा में जाते हैं और अर्जुन उनका पैर खींच कर उन्हें गिराना चाहता है । इसको हमारा महान देवता सहन नहीं कर सकता, एक सच्चा भक्त उसका पैर पकड़े हुए है, अत: वह अपने को प्रगट करता है और इस देवतुल्य योधा को आशीर्वाद देता है, उसे उसके वांछित शस्त्रों को देता है जिससे कि वह अपना राज्य और यश प्राप्त कर सकता है ।

भारवि का प्रसिद्ध काव्य इस प्रकार का है । उसमें कोई मनोरञ्जक कथा वा कोई विलक्षण कल्पना नहीं है । पर उसके विचार और वाक्यों में वह प्रभाव और प्रबलता पाई जाती है जिसने कि इस ग्रन्थ को प्राचीन हिन्दुओं के अविनाशी ग्रन्थों में स्थान दिया है ।

अब सातवीं शताब्दी में हमें चीन के यात्री इत्सिंग से विदित होता है कि कवि भर्तृहरि शीलादित्य द्वितीय के समय में थे । भर्तृहरि के शतकों से विदित होता है कि वे

हिन्दू थे परन्तु फिर भी इन शतकों में उनके समय के बौद्ध विचारों के चिन्ह मिलते हैं। यहां उनमें से कुछ श्लोकों के उद्धृत करने से पाठकों को भर्तृहरि की कविता का कुछ ज्ञान हो जायगा।

प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभंगेऽप्यसुकरं ।
　　　　त्वसंतो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यः कृशधनः ।
विपद्युच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयं च महतां
　　　　सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यं
　　　　काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथामूकभावः परेषाम् ।
तृष्णास्रोतोविभंगो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा
　　　　सामान्यः सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पन्थाः ॥

लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः
　　　　सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम् ।
सौजन्यं यदि किं गुणैः स्वमहिमा यद्यस्ति किं मंडनैः
　　　　सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना ॥

आर्तानामीशिषे त्वं वयमपि च गिरामीश्महे यावदित्थं
　　　　शूरस्त्वं वादिदर्पज्वरशमनविधावक्षयं पाटवं नः ॥
सेवन्ते त्वां धनाढ्या मतिमलहतये मामपि श्रोतुकामा
　　　　मय्यप्यास्था न चेत्तत्त्वयि मम सुतरामेष राजन्गतोऽस्मि ।

किं वेदैः स्मृतिभिः पुराणपठनैः शास्त्रैर्महाविस्तरैः
　　　　स्वर्गग्रामकुटीनिवासफलदैः कर्मक्रियाविभ्रमैः ।
मुक्त्वैकं भवबन्धदुःखरचनाविध्वंसकालानलं
　　　　स्वात्मानन्दपदप्रवेशकलनं शेषा वणिग्वृत्तयः ॥

शय्या शैलशिला गृहं गिरिगुहा वस्त्रं तरूणां त्वचः
　　　　सारंगाः सुहृदो ननु क्षितिरुहां वृत्तिः फलैः कोमलैः ।

येषां निर्झरमम्बुपानमुचितं रत्यैव विद्यांगना
मन्ये ते परमेश्वराः शिरसिः यैर्बद्धो न सेवाञ्जलिः ॥

उपरोक्त कविता से हमारे पाठकों को प्रोफेसर लेसन साहब की यह सम्मति समझ में आजायगी कि यह भर्तृ-हरि के काव्य की सुन्दरता और तीक्ष्णता ही है जो कि उसे भारतवर्ष के साहित्य में प्रसिद्ध बनाती है और जिस पूर्ण निपुणता के साथ ये श्लोक बनाए गए हैं वे उन्हें भारतवर्ष के सब से उत्तम काव्यों में गणना करे जाने के योग्य बनाते हैं।

हम पहिले देख चुके हैं कि भट्टीकाव्य नाम का एक महाकाव्य भी सम्भवतः भर्तृहरि का बनाया हुआ है। इसमें रामायण की कथा संक्षेप में कही गई है और इस ग्रन्थ में विशेषता यह है कि वह व्याकरण सिखलाने के लिये बनाया गया है ! धातु के सब रूप जिनका स्मरण रखना कि कठिन है, और शब्दों के सब कठिन रूप सुस्वरयुक्त पद्य में दिए गए हैं जिसमें कि इस काव्य को जानने वाला विद्यार्थी संस्कृत का व्याकरण जान जाय। इस काव्य में कालिदास की कविता का सौन्दर्य्य अथवा भारवि की कविता की समानता नहीं है परन्तु शब्दों और वाक्यों की रचना पूर्ण और अद्वितीय तथा शतक के ग्रन्थकर्ता के योग्य है।

हिन्दू विद्यार्थी अन्य दो महाकाव्यों का भी अध्ययन करते हैं परन्तु वे पीछे के समय के हैं और सम्भवतः ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में बनाए गए थे जब कि भारतवर्ष राजपूतों के अधीन होगया था। इनमें से पहिला तो श्रीहर्ष का बनाया हुआ नैषध है और दूसरा माघ का

शिशुपालबध । इन दोनों की कथाएं महाभारत से ली गई हैं ।

नैषध में नल और दमयन्ती की प्रसिद्ध कथा है जो कि महाभारत की कथाओं में एक सब से हृदयवेधक है । डाक्टर बुहलर साहेब इस काव्य के बनाने का समय १२ शताब्दी नियत करते हैं । राजशेखर ने इस कवि का जन्म बनारस में लिखा है, परन्तु वह निस्सन्देह बंगाल से भी परिचित था और विद्यापति ने श्रीहर्ष को बंगाली लिखा है । यह अनुमान सम्भव है कि वह पश्चिमोत्तर प्रदेश से बंगाल में आकर बसा हो ।

शिशुपाल बध में कृष्ण के अहंकारी राजा शिशुपाल को बध करने की कथा है जैसा कि इस ग्रन्थ के नाम ही से विदित होता है । इसमें भारवि के किरातार्जुनीय की नकल है और ग्रन्थकार ने सम्भवतः अपना नाम माघ (जाड़े का मास) यह प्रगट करने के लिये रक्खा है कि उसने भारवि (जिसका अर्थ सूर्य है) का यश छीन लिया है । भोज-प्रबन्ध के अनुसार वह ग्यारहवीं शताब्दी में धार के राजा भोज का समकालीन था ।

समस्त संस्कृत भाषा में सब से सुन्दर राग का गीत गीतगोविन्द है जिसे बङ्गाल के जयदेव ने बारहवीं शताब्दी में लिखा है ।

जयदेव लक्ष्मण सेन की राज्य सभा का कवि था जैसा कि उसके काव्य की एक प्राचीन प्रति के अन्तिम भाग से प्रमाणित हुआ है जिसे डाक्टर बुहलर ने काश्मीर में पाया था । उसने इस राजा से कविराज की पदवी पाई थी ।

उसके काव्य में कृष्ण और राधा की प्रीति का विषय है। यहां पर एक उद्धरण ही बहुत होगा। उसमें कृष्ण का अन्य सखियों से विहार करने का तथा पांचों इन्द्रियों अर्थात् घ्राण दृष्टि, स्पर्श, स्वाद और श्रवण को सन्तुष्ट करने का वर्णन है।

चंदनचर्चितनीलकलेवरपीतवसनवनमाली।
केलिचलन्मणिकुंडलमंडितगंडयुगस्मितशाली॥
हरिरिह मुग्धवधूनिकरे विलासिनि विलसति केलि परे।
पीनपयोधरभारभरेण हरिं परिरभ्य सरागम्॥
गोपवधूरनुगायति काचिदुदंचितपंचमरागम्।
कापि विलासविलोलविलोचन खेलनजनितमनोजम्॥
ध्यायति मुग्धवधूरधिकं मधुसूदनवदनसरोजम्।
कापि कपोलतले मिलिता लपितुं किमपि श्रुतिमूले॥
चारु चुचुंब नितंबवती दयितं पुलकैरनुकूले।
केलिकलाकुतुकेन च काचिदमुं यमुनाजलकूले॥
मंजुलवंजुलकुंजगतं विचकर्ष करेण दुकूले।
करतलतालतरलवलयावलिकलितकलस्वनवंशे॥
रासरसे सह नृत्यपरा हरिणा युवतिः प्रशशंसे।
श्लिष्यति कामपि चुंबति कामपि रमयति कामपि रामाम्॥
पश्यति सस्मितचारु परामपरामनुगच्छति वामाम्।
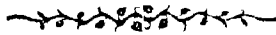
अध्याय १४

कहनी।

प्राचीन समय के लोगों को भारतवर्ष विज्ञान और काव्य के लिये उतना विदित नहीं था जितना कि कथा और कहानियों के लिये। सब से प्राचीन आर्य कहानियां जो अब तक मिलती हैं जातक कथाओं में हैं जिनका समय ईसा के कुछ शताब्दी पहिले से है और डाक्टर रहेज डेविस साहब ने दिखलाया है कि उनमें से बहुतों का प्रचार योरप के भिन्न भिन्न भागों में हुआ और उन्होंने आजकल अनेक भिन्न भिन्न रूप धारण कर लिए हैं।

पंचतंत्र की कहानियां अपने आधुनिक रूप में सहज और सुन्दर संस्कृत गद्य में संकलित की जाने के सम्भवत: कई शताब्दी पहिले से भारतवर्ष में प्रचलित थीं। इस ग्रन्थ का अनुवाद नौशेरवां के राज्य में (५३१-५७२ ई०) फारसी में किया गया था और इस कारण यह निश्चय है कि यह संस्कृत का ग्रन्थ यदि अधिक पहिले नहीं तो छठीं शताब्दी में तो अवश्य बन गया था। फारसी अनुवाद का उलथा अरबी भाषा में हुआ और अरबी से समीअन सेठ ने सन १०८० के लगभग इसका युनानी भाषा में अनुवाद किया। फिर युनानी से इसका उलथा लेटिन भाषा में पोसिनस ने किया। और इसका हीब्रू भाषा में अनुवाद रेबो जोल ने सन १२५० के लगभग किया। अरबी अनुवाद का एक उलथा स्पेन की भाषा में सन् १२५१ के लगभग प्रकाशित हुआ।

जर्मन भाषा का पहिला अनुवाद १५ वीं शताब्दी में हुआ और उस समय से इस ग्रन्थ का अनुवाद युरोप की सब भाषाओं में हो गया है और वह पिलपे वा बिडपे की कहानियों के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार कई शताब्दियों तक संसार के युवा लोग पशुओं की इन सरल परन्तु बुद्धिमानी कहानियों से प्रसन्न होते थे जिन्हें कि एक हिन्दू ने अपने देश की प्रचलित कहानियों से संकलित किया था।

जब हम छठीं शताब्दी से सातवीं शताब्दी की ओर देखते हैं तो इसें संस्कृत पद्य में बड़ा परिवर्तन देख पड़ता है। इस शताब्दी में अधिक अलंकृत और कठिन परन्तु उच्च और बनावटी भाषा में भड़कीले ग्रन्थ बनाए गए। दण्डी ने अपना दशकुमारचरित्र सम्भवतः ७ वीं शताब्दी के आरम्भ ही में बनाया है इस ग्रन्थ में जैसा कि उसके नामही से प्रगट होता है दस कुमारों की कहानी है जिन पर कई घटनाएं और विशेषतः अलौकिक घटनाएं हुईं। इस ग्रन्थ की भाषा यद्यपि अलंकृत और बनावटी है तथापि कादम्बरी की भाषा के इतनी वह फ़जूल नहीं है।

कादम्बरी का प्रसिद्ध ग्रन्थकार बाण भट्ट, जैसा कि हम पहिले देख चुके हैं शीलादित्य द्वितीय की सभा में था और उसने रत्नावली नाटक बनाया है तथा हर्षचरित्र नामक शीलादित्य का जीवनचरित्र बनाया है। बाण भट्ट का पिता चित्रभानु और उसकी माता राज्यदेवी थी और बाण जब केवल १४ वर्ष का था उस समय चित्रभानु की मृत्यु हो गई। भद्रनारायण ईशान और मयूर बाण भट्ट के बाल्यावस्था के मित्रों में से हैं।

कादम्बरी की कहानी मनमानी और थकानेवाली है। इन्हीं दोनों प्रेमियों के कई जन्म होते हैं और फिर भी उन का एक दूसरे के साथ वही अटल प्रेम बना रहता है। इस में उत्कट काम, नितान्त शोक, अटल प्रेम और भयानक एकान्त में कठोर तपस्याओं के दृश्यों का वर्णन बड़े पराक्रम और भाषा के बड़े गौरव के साथ किया गया है। परन्तु इसके पात्रों में चरित्र बहुत कम पाया जाता है। वे सब भाग्य परिवर्तन तथा उन विचारों के अधीन देख पड़ते हैं जो कि प्रारब्ध के कारण होता है। इसी को दिखलाने में हिन्दू ग्रन्थकारों को बड़ा आनन्द होता है। हिन्दुओं के कल्पना पूर्ण ग्रन्थों में संसार के साधारण दुखों को सहन करने वा उनका सामना करने के दृढ़ संकल्पों का वर्णन बहुत ही कम मिलता है। शेष बातों के लिये इस ग्रन्थ की भाषा में अद्भुत बल होने पर भी वह अलंकृत और व्यर्थ बढ़ाई हुई है और बहुधा एकही वाक्य जिसमें बहुत से विशेषण और लम्बे लम्बे समास भरे हैं और जिसमें उपमा तथा अलंकार बहुत ही अधिक पाया जाता है, कई पृष्ठों तक चला गया है।

सुबन्धु भी उसी राज्य में था और उसने वासवदत्ता लिखी। राजकुमार कंदर्पकेतु और राजकुमारी वासवदत्ता एक दूसरे को स्वप्न में देख कर परस्पर मोहित हो गए। राजकुमार कुसुमपुर (पाटलीपुत्र) में गया। वहां राजकुमारी से मिला और उसे एक हवा में उड़ने वाले घोड़े पर चढ़ा कर विन्ध्य पर्वत पर ले गया। वहां वह सो गया और जब जागा तो उसने राजकुमारी को नहीं पाया। इस पर कंदर्पकेतु आत्महत्या करने ही को था कि उसे एक

आकाशवाणी ने ऐसा करने से रोका और उसे अपनी प्रियतमा के साथ अंत में मिलाने के लिये कहा। बहुत भ्रमण करने के अनन्तर उसे एक पत्थर की मूर्ति मिली जो कि उस की बहुत दिनों से खोई हुई स्त्री के सदृश थी। उसने उसे छूआ और आश्चर्य्य की बात है कि छूते ही वासवदत्ता जीवित हो गई। एक ऋषी ने उसे पाषाण बना दिया था परन्तु दया करके यह कहा था कि जब उसका पति उसे छूएगा तो वह जीवित हो जायगी।

हमें अभी एक वा दो आवश्यक ग्रन्थों के विषय में लिखना है। वृहत कथा उन कहानियों और कथाओं का संग्रह है जो कि दक्षिणी भारतवर्ष में पैशाची भाषा में बहुत समय से प्रचलित थीं। १२ वीं शताब्दी में काश्मीरी सोमदेव ने उसे संक्षिप्त करके संस्कृत भाषा में काश्मीर की रानी सूर्य्यवती का उसके पोते हर्षदेव की मृत्यु पर जी बहलाने के लिये लिखा था और यह संक्षिप्त संग्रह कथासरितसागर के नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है कि इन कथाओं को पहिले पहिल पाणिनी के समालोचक और मगध के राजा चन्द्रगुप्त के मंत्री कात्यायन ने कहा था और उन्हें एक पिशाच ने दक्षिणी भारतवर्ष में लेजाकर पिशाची भाषा में गुणाढ्य से कहा जिसने कि उनका संग्रह करके उन्हें प्रकाशित किया। यह कहना अनावश्यक है कि इन कथाओं का कात्यायन के साथ सम्बन्ध जोड़ना कल्पित बात है। ये कथाएँ दक्षिणी भारतवर्ष की हैं और वे पहिले पहल पैशाची भाषा में थीं।

सोमदेव की संस्कृत कथा सरित्सागर में १८ भाग और १२४ अध्याय हैं और उसमें भारतवर्ष में जितनी बातें दन्त-कथा की भांति विदित हैं प्राय: वे सब आ गई हैं। इसमें उनमें बहुधा महाभारत और रामायण की कथाएं, कुछ पुराणों की कथाएँ, पञ्चतन्त्र की बहुत सी कथाएं, वैताल पचीसी की पचासें कहानियां, कुछ कहानियां जिन्हें कि हम समझते हैं कि सिंहासन बत्तीसी की हैं और उज्जैनी के प्रतापी विक्रमादित्य की बहुत सी कहानियां हैं। इन कहानियों से लोगों के गृहस्थी सम्बन्धी जीवनचरित्र और चाल व्यवहार का पता लगता है।

उज्जैनी के विक्रमादित्य के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि वह रानी सौम्यदर्शना से महेन्द्रादित्य का पुत्र था और उसका दूसरा नाम विषमशील (शिलादित्य) था। इसमें यह भी कहा गया है कि वह पृथ्वी में इस कारण भेजा गया था कि देवता लोगों में भारतवर्ष में म्लेच्छों के उपद्रव से असन्तोष हुआ और विक्रम ने अपने कार्य्य को पूरा किया और म्लेच्छों का नाश किया।

अब कथा का केवल एकही प्रसिद्ध ग्रन्थ अर्थात हितोपदेश रह गया हैं जो कि केवल प्राचीन पञ्चतन्त्र के एक अंश का संग्रह है। यह बात विलक्षण है कि कहानियों के ये सब ग्रन्थ संस्कृत में हैं यद्यपि पौराणिक काल में भारतवर्ष में प्राकृत भाषाएं बोली जाती थीं।

वररुचि जो कि विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में से है, पहिला वैयाकरण है जिसने कि प्राकृत भाषा का व्याकरण लिखा है। उसने चार प्रकार की भाषाएं लिखी

हैं अर्थात् महाराष्ट्री वा ठेठ प्राकृत, शौरसैनी जो कि महा-राष्ट्री के बहुत समान है और उसी की माईं संस्कृत से निकली है, पैशाची और मागधी इन दोनों ही की उत्पत्ति शौरसैनी से बतलाई गई है। उत्तरी भारतवर्ष में इन प्राकृत भाषाओं का प्रचार धीरे धीरे उस प्राचीन पाली भाषा से हुआ जो कि बौद्धों की पवित्र भाषा थी और १००० वर्ष तक बोलने की भाषा रही थी । वास्तव में वे राजनैतिक और धर्म्म सम्बन्धी बातें जो कि गिरते हुए बौद्ध धर्म्म के स्थान में एक नए प्रकार के हिन्दू धर्म्म को स्थापित करने के कारण हुई थीं उनका निःसन्देह प्राचीन पाली भाषा के स्थान में नवीन प्राकृत भाषाओं के प्रचार करने में बड़ा प्रभाव पड़ा ।

भारतवर्ष में तथा अन्यत्र भी राजनैतिक और धर्म्म सम्बन्धी परिवर्तन के साथ साथ प्रायः बोलने की भाषा में एकाएक परिवर्तन ही नहीं होता वरन यह परिवर्तन बल पूर्वक एकाएक स्थापित हो जाता है। जिस समय गङ्गा और यमुना के उद्योगी बसने वालों ने अपनी मातृभूमि पञ्जाब को विद्या और सभ्यता में पीछे छोड़ा तो ऋग्वेद की संस्कृत का स्थान ब्राह्मणों ने लिया । मगध और गौतम बुद्ध के उदय होने के साथ ही साथ ब्राह्मणों की संस्कृत का स्थान पाली भाषा ने लिया । बौद्ध धर्म्म के पतन और विक्रमादित्य के राज्य में पौराणिक हिन्दू धर्म्म के उदय होने के साथ प्राकृत भाषाओं ने पाली का स्थान ले लिया । और अन्त में प्राचीन जातियों के पतन और राजपूतों के उदय होने के साथ १० वीं शताब्दी में हिन्दी भाषा का उदय हुआ जो कि अब तक भी उत्तरी भारतवर्ष में बोली जाती है ।

ये सब बातें समझ में आजाती हैं। परन्तु कालिदास और भारवि के ग्रन्थों के पढ़ने वालों के हृदय में स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि क्या इन कवियों ने मृत भाषा में अपने ग्रन्थ लिखे हैं? क्या शकुन्तला और उत्तरचरित जैसे ग्रन्थ मृत भाषा में लिखना सम्भव है? क्या अन्य जातियों के इतिहास में ऐसे अद्वितीय सुन्दर ग्रन्थों के मृत भाषा में बनने का एक भी उदाहरण मिलता है?

जिन लोगों ने प्राकृत भाषाओं को संस्कृत से मिलान किया है उनके लिये इन प्रश्नों का उत्तर देना कठिन नहीं होगा। पौराणिक काल में संस्कृत उस प्रकार से मृत भाषा नहीं थी जैसे कि युरोप में आज कल लैटिन मृत भाषा है। लैटिन और स्वयं इटेलियन भाषा में जो अंतर है उससे कहीं कम अन्तर संस्कृत और प्राकृत में है। जिस समय प्राकृत साधारणतः बोली जाती थी उस समय भी संस्कृत बराबर समझी जाती थी और राजसभाओं में बोली भी जाती थी। विद्वान लोग संस्कृत में ही वाद विवाद करते थे। राज्य की सब आज्ञाएं और विज्ञापन संस्कृत में ही निकलते थे। पंडित लोग राजसभाओं और पाठशालाओं में संस्कृत में ही बातचीत करते थे। संस्कृत में ही छन्द गाए जाते थे और नाटक खेले जाते थे। सब शिक्षित और सभ्य लोग संस्कृत समझते थे और बहुधा संस्कृत बोलते थे। सम्भवतः साधारण लोग जो प्राकृत बोलते थे वे भी सामान्य सरल संस्कृत समझ लेते थे। शिक्षित और विद्वान लोग तो निस्संदेह संस्कृत से पूर्णतया परिचित थे। वे इसी भाषा को सदा पढ़ते थे, इसी को बहुधा बोलते थे और इसी भाषा में वे लिखते

और विचारते और बातचीत भी करते थे। अतः पौराणिक समय में संस्कृत ऐसी मृत भाषा नहीं थी जैसी कि अब वह है और कालिदास और भवभूति ने शकुन्तला और उत्तर-चरित्र को लिखने में ऐसी मृत भाषा का प्रयोग नहीं किया है।

अध्याय १५ ।

प्राचीन काल का अन्त ।

अब हम भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता के इस संक्षिप्त और अधूरे इतिहास को समाप्त करेंगे। इस पुस्तक में इस बड़े विषय का पूर्ण वर्णन देने का उद्योग करना असम्भव था। हमने भारतवर्ष के इतिहास को केवल मुख्य मुख्य बातों के वर्णन करने का तथा भिन्न भिन्न कालों की हिन्दू सभ्यता का वर्णन मोटी रीति से दिखलाने का उद्योग किया है। यदि इस वर्णन से हमारे देश भाइयों को हमारे प्राचीन पुरुषाओं का वर्णन चाहे कैसी अस्पष्ट रीति से विदित हो जाय तो हम अपने परिश्रम को व्यर्थ नहीं समझेंगे। अब हम थोड़े समय के लिये उनका ध्यान अपने वर्णन के अन्तिम पृष्ठों पर देने की प्रार्थना करेंगे जिसमें कि मुसल्मानी विजय के पहिले हिन्दू इतिहास के अन्तिम काल की सामाजिक चाल व्यवहार और सभ्यता का वर्णन है। हिन्दू इतिहास के अन्तिम काल में दो भाग स्पष्ट हैं। ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी के दिल्ली और अजमेर के राजपूतों की चाल व्यवहार आधुनिक काल की है और वह विक्रमादित्य और शीलादित्य के समय से भिन्न है जो कि प्राचीन काल की थी। राजपूत लोगों का सम्बन्ध आधुनिक इतिहास से है, विक्रमादित्य और शीलादित्य का प्राचीन इतिहास से। ९ वीं और १० वीं शताब्दी का वह अन्धकार-मय समय भारतवर्ष के प्राचीन काल और आधुनिक काल को जुदा करता है।

हम इस अध्याय में प्राचीन काल के अन्त समय के अर्थात् छठीं से सातवीं शताब्दी तक हिन्दुओं की सभ्यता के विषय में लिखेंगे।

हम कालिदास और भवभूति के समय के हिन्दुओं के सामाजिक जीवन को दिखलाने का उद्योग करेंगे और इस विषय की सामग्री हमें इन कवियों तथा इस काल के अन्य कवियों के अमर ग्रन्थों से मिलेगी। अगले अध्याय में हम उस समय की सभ्यता को दिखलाने का यत्न करेंगे जब कि आधुनिक काल का आरम्भ होता है अर्थात् १०वीं से १२ वीं शताब्दी तक, और इस काल की सामग्रियां हमें एक विचार शील विद्वान और सहानुभूति रखनेवाले विदेशी की टिप्पणियों से मिलेगी जो कि हमारे लिये इस काल का इतिहास छोड़ गया है।

स्वयं कालिदास ने दुष्यन्त के वर्णन में अपने समय के विक्रमादित्य जैसे बड़े राजाओं का वर्णन दिया है। हम उससे किसी अंश में उत्तरी भारतवर्ष के इस प्रतापी राजा के अपने विलासी और विद्वान सभा तथा अपने सिपाहियों और पहरुओं के बीच जीवन व्यतीत करने का कुछ अनुमान कर सकते हैं। अपने आचरण में वीरोचित और फुर्तीला होने के कारण वह युद्ध तथा शिकार खेलने में प्रसन्न होता था और बहुधा भारतवर्ष के पहिले समय के जङ्गलों में शिकार खेलने के लिये अपने सैनिकों, रथो, घोड़ों और हाथियों के सहित जाता था। मध्य समय के युरोप के सम्राटों की नाईं हिन्दू राजाओं के साथ भी सदा एक विदूषक रहता था और यह विदूषक ब्राह्मण होता था जिस

की कि मूर्खता के कारणमय स्थूल रुचि और समय समय पर हास्यजनक बातें राजा को उसके अवकाश के समय में प्रसन्न करती थीं । सैनिक लोग रात दिन महल का पहरा देते थे और महल के भीतर स्त्री पहरुए राजा के पास प्रस्तुत रहते थे और वे एक वृद्ध और विश्वास पात्र कर्म्मचारी के अधीन रहते थे । कवि के वृत्तान्त से यह विदित होता है कि शक लोगों का बड़ा बिजयी शक स्त्रियों से घृणा नहीं करता था और वे उसके महलों की रखवाली करती थीं और उसके साथ शिकार खेलने के लिये तीर और धनुष लेकर जाती थीं और फूलों से सुसज्जित रहती थीं । वास्तव में यदि हम कथासरित्सागर पर विश्वास कर सकें जो कि प्राचीन ग्रंथ वृहत कथा के आधार पर बनाए जाने के कारण बहुमूल्य है तो उज्जैनी के सम्राट ने जिन अनेक सुन्दर स्त्रियों से विवाह किया था उनकी जाति पर वह विशेष ध्यान नहीं देता था । इनमें से एक भील जाति की राजकुमारी मदनसुन्दरी थी और उसके विवाह में उसके पिता ने कहा था "मेरे सम्राट, मैं बीस हजार धनुर्धारियों के साथ दास की नाईं तुम्हारा साथ दूंगा" इसी ग्रन्थ में यह भी कहा गया है कि यह सम्राट मलयपुर की राजकुमारी मलयावती पर उसका चित्र देखकर, और बंगाल की राजकुमारी कलिंगसेना पर एक बिहार में उसकी पत्थर की मूर्ति देखकर मोहित होगया । और यह कहना अनावश्यक है कि इन दोनों स्त्रियों ने अन्त में इस सम्राट के बड़े महल में स्थान पाया । (क० स० सा० अध्याय १८)

विक्रमोर्वशी और मालविकाग्निमित्र के ग्रन्थकारों ने धन द्वेष और डाह को कुछ कम कर के दिखलाया होगा

जो कि बहुधा राज्य महलों में पाए जाते थे। राजा को सदा बहुत सी स्त्रियां होती थीं और बहुधा राजकीय कार्य्य के लिये। इन उच्च रानियों के सिवाय रानियों की बहुत सी सुन्दर दासियां भी राजा की प्रीत पात्र हो जाती थीं और वे अपनी रानियों द्वारा दण्ड पाती थीं। इन सब बातों के रहते हुए भी प्रधान रानी का सदा बड़ा सत्कार और मान होता था। वही घर की स्वामिनी होती थी और प्रत्येक राजकीय अवसर पर राजा के साथ सम्मिलित होती थी।

रानियों की नाईं सामान्य स्त्रियों के कमरे भी मनुष्यों से जुदे होते थे। यही रीति यूरोप में रोम और पोम्पियाई के प्राचीन समय में प्रचलित थी और संस्कृत कवियों ने इन सुन्दर स्त्रियों की शान्त गृहस्थी का जीवन बहुधा वर्णन किया है। परन्तु स्त्रियों का पूरा पर्दा पौराणिक काल में भी नहीं था। शकुन्तला और मलयावती के सम्मुख जब दुष्यन्त और जीमूतवाहन जैसे अपरचित लोग उपस्थित हुए तब वे पर्दे में नहीं चली गईं। मालती अपनी पूरी युवा अवस्था में एक त्योहार के दिन नगर वासियों के बड़े समूह में हाथी पर सवार होकर मन्दिर को गई थी और वहां उसे वह युवा मिला था जिसने कि उस के हृदय को चुरा लिया था और पलटे में उसने अपना भी हृदय उसे दे दिया। कथासरित्सागर के पहिले अध्याय में हम कात्यायन की माता को दो अपरचित ब्राह्मणों का अतिथ्य करते हुए और उनके साथ बिना किसी रोक टोक के बातें करते हुए पाते हैं और वर्ष की स्त्री ने भी पहिले इन्हीं

दोनों अपरचित लोगों का स्वागत किया था और उनसे अपने पति की आपत्तियों का वर्णन किया था। इस बड़े ग्रन्थ की असंख्य कहानियों में हमें एक उदाहरण भी ऐसा नहीं मिलता जिसमें कि सामान्य स्त्रियों के इस प्रकार पर्दे में रखे जाने का वर्णन हो जिस प्रकार की पीछे के समय में मुसल्मानों के राज्य में नई रीति हो गई। मृच्छकटि में चारुदत्त की धर्मात्मा और सुशील स्त्री चारुदत्त के मित्र मैत्रेय के साथ बिना किसी रुकावट के वार्तालाप करती है और कादम्बरी, नागानन्द रत्नावली तथा अन्य सब प्राचीन ग्रन्थों में हम नायिका को अपने पति के मित्रों के साथ बहुधा वार्तालाप करते हुए पाते हैं। निस्सन्देह राज्य महलों की रानियों के लिये कुछ अधिक रुकावट थीं परन्तु वे भी राजा के मित्रों से मिल सकती थीं। जब नरवाहन दत्त के मन्त्री अपनी नई रानी रत्नप्रभा से मिलने आए तो उनके सम्मुख जाने के पहिले उसे उनके आने की सूचना दी गई। रानी इस आवश्यक कार्य्य पर भी बिगड़ी और उसने कहा कि मेरे पति के मित्रों के लिये मेरा द्वार बन्द नहीं रहना चाहिए क्योंकि वे मुझे अपने देह की नाईं प्रिय हैं।" (क० स० सा० अध्याय ३६)

विवाह दुलहे और दुलहिन के माता पिता करते थे। उदाहरण के लिये जब जीमूतवाहन से विवाह के लिये कहा गया तो उसके साथी ने कहा "उनके पिता के पास जाओ और उनसे कहो।" और उसके माता ने इस युवा की इच्छा को बिना जाने हुए अपनी सम्मति दे दी। यदि हम इस काल के कवियों पर विश्वास कर सकते हैं तो विवाह

बहुधा उचित अवस्था में किया जाता था । भवभूति के नाटक की नायिका मालती युवा होने के उपरान्त भी क्वारी ही थी । मालविका मलयावती और रत्नावली पूरे यौवन को प्राप्त होने पर भी क्वारी थीं और धर्मात्मा कन्व ऋषि ने शकुन्तला का विवाह तब तक करने का विचार नहीं किया जब तक कि युवा अवस्था में दुष्यन्त से उसकी भेट न हुई और वह उसपर मोहित न हो गई । विवाह की रीति वैसी ही थी जैसी कि प्राचीन समय में थी और जैसी कि आजकल वर्तमान है । अग्नि की परिक्रमा करना, अग्नि में अन्न डालना और दुलहिन और दुलहा का कुछ प्रतिज्ञा कराना यही विवाह की मुख्य रीतें समझी जाती थीं ।

कन्याओं को लिखना और पढ़ना सिखलाया जाता था और प्राचीन ग्रन्थों में उनके चिट्ठियों के लिखने और पढ़ने के असंख्य उदाहरण हैं । मृच्छकटि में मैत्रेय कहता है कि जब मैं स्त्रियों को संस्कृत पढ़ते हुए वा मनुष्यों को गीत गाते हुए सुनता हूं तो मुझे बड़ी हँसी आती है । परन्तु मैत्रेय को इससे चाहे जितनी घृणा हो पर इस वाक्य से कोई सन्देह नहीं जान पड़ता कि स्त्रियां बहुधा संस्कृत पढ़ती थीं और वैसे ही मनुष्य भी बहुधा गाना सीखते थे । स्त्रियों का गान विद्या में निपुण होने का बहुधा उल्लेख किया गया है । नागानन्द ने एक अद्भुत स्थान पर लिखा है कि राजकुमारी मलयावती ने एक गीत गाया जिसमें मध्यम और उच्च स्वर भली भांति दर्साया था और इसके उपरान्त हमें यह भी विदित होता है कि

उसने अंगुलियों से बाजा बजाया जिसमें ताल और स्वर के सरगम आदि का पूरा पूरा ध्यान रक्खा गया था।

कथासरित्सागर (अध्याय ९) से हमें विदित होता है कि राजकुमारी मृगावती ने अपने विवाह के पहिले नाचने गाने तथा अन्य गुणों में अद्भुत निपुणता प्राप्त कर ली थी। प्राचीन ग्रन्थों में ऐसे अनेक वाक्य मिलते हैं।

चित्रकारी की विद्या के भी मनुष्यों और स्त्रियों दोनों ही को जानने का बहुधा उल्लेख मिलता है और हम नागानन्द का एक वाक्य दिखला चुके हैं जिससे कि प्राचीन भारतवर्ष में रङ्गीन मिट्टी का चित्रकारी में व्यवहार किया जाना प्रगट होता है। उत्तररामचरित्र का प्रारम्भ कुछ चित्रों के वर्णन से होता है जिन्हें कि लक्ष्मण ने सीता को दिखलाया था और कथासरित्सागर (अध्याय १२२) से हमें विदित होता है कि नगरस्वामी विक्रमादित्य की सभा का चित्रकार था और उसने राजा को भिन्न भिन्न प्रकार के स्त्री सौन्दर्य के चित्र भेंट किए थे।

भारतवर्ष के कवियों ने विवाह सम्बन्धी प्रेम का जैसा उत्तम वर्णन किया है वैसा किसी ने नहीं किया। हम उत्तर-रामचरित्र के वाक्य को उद्धृत कर चुके हैं जिसमें सीता के लिये राम के कोमल प्रेम का वर्णन है और हमारे जो पाठक संस्कृत साहित्य से परिचित हैं उन्हें निस्सन्देह सैकड़ों ऐसी बातें स्मरण होंगी जिनमें कि हिन्दू पुरुषों के प्रेम और हिन्दू स्त्रियों की पतिभक्ति दिखलाई गई हैं *।

* "हिन्दू कवियों ने अपनी स्त्रियों की विरले ही कहीं निन्दा की है उन्होंने प्रायः सदा उन्हें प्रीति पात्र की भांति लिखा है।

परन्तु गृहस्थी सम्बन्धी जीवन का वृत्तान्त सब काव्य ही में नहीं मिलता। हमें गृहस्थी के दुःखों और शोक का सच्चा ज्ञान भवभूति और कालिदास के काव्यों से नहीं मिलता जितना कि कथासरित्सागर में दरिद्र, हानि, सम्बन्धियों वा पड़ोसियों की घृणा, पति की निर्दयता वा स्त्रियों का कलह का स्वभाव बहुधा शान्त गृह को दुखी बनाता और जीवन के लिये बोझ सा होता था। अन्य सब बुराइयों में एक में रहनेवाले कुटुम्बियों में झगड़े और आज्ञाकारी पत्नी पर सास और ननद के कठोर अत्याचार कम भयानक नहीं थे। सुशील और धर्मात्मा कीर्तिसेना ने इन अत्याचारों को सहन करते हुए दुःख से कहा है "इसी कारण सम्बन्धी लोग कन्या के जन्म में शोक करते हैं जो कि सास और ननद के अत्याचारों की पात्र रहती है। (क० स० सा० अ० २९)

इस बात को दिखलाने के लिये बहुत से वाक्य उद्धृत किए जाते हैं कि पौराणिक काल में विधवा विवाह का निषेध नहीं था। याज्ञवल्क्य कहता है कि "जिस स्त्री का दूसरी बार विवाह होता है वह पुनर्भव कहलाती है" (१, ६७) विष्णु कहता है कि जिस स्त्री का पतिसंसर्ग न हो कर पुनर्विवाह हो वह पुनर्भव कहलाती है (१५, ७ और ८) और पराशर भी, यद्यपि वह आधुनिक समय का ग्रन्थकार है

इस बात में वे अधिक उन्नत जातियों के और विशेष कर यूनान के कवियों को जो सुखान्त और दुःखान्त दोनों प्रकार के नाटकों में बड़ी डाह के साथ स्त्रियों की बुराई करते हैं शिक्षा दे सकते हैं। अरिस्टोफेनीज़ इस बात में युरीपाईजीज़ से कम नहीं है यद्यपि वह इस दुःखान्त नाटक लिखने वाले की स्त्रियों प्रति कुव्यहार की हँसी उड़ाता है।

तथापि वह ऐसी स्त्री के पुनर्विवाह की आज्ञा देता है जिस का पति मर गया हो वा जाति बाहर हो गया हो वा योगी हो गया हो (४, २६) । मालवा के एक गृहस्थ की कन्या के विषय में एक हास्यजनक कहानी विदित है कि उसने निरन्तर ११ पति से विवाह किया था और ११ वें पति की मृत्यु पर इस विधवा ने सम्भवतः १२ वां विवाह किया होता परन्तु "पाषाण भी उसकी हँसी किए बिना नहीं रह सकते थे" और इस कारण उसने योगिनी का जीवन ग्रहण कर लिया । (क० स० सा० अध्याय ६६)

ऊपर हम हिन्दू स्त्रियों की प्रीति और पतिभक्ति के विषय में लिख चुके हैं । ग्रामीय जीवन तथा स्त्रियों के सत्कार के पतन के साथ ही साथ पौराणिक काल में स्त्रियों की इस पतिभक्ति ने एक निर्दयता का रूप धारण किया। पौराणिक काल के पहिले भारतवर्ष के ग्रन्थों में सती होने की रीति का कहीं भी उल्लेख नहीं है । मनुस्मृति अथवा याज्ञवल्क्य की स्मृति में भी उसका कहीं वर्णन नहीं है । हमें इस रीति की उत्पत्ति की कथा पहिले पहिल पौराणिक काल के ही ग्रन्थों में मिलती है ।

अग्नि में प्रवेश कर के आत्महत्या करना भारतवर्ष में सिकन्दर के समय में और उससे भी पहिले विदित था । पौराणिक काल में जब पति का अपनी स्त्रियों का सत्कार करने की अपेक्षा स्त्रियों की पतिभक्ति पर विशेष जोर दिया गया तो अन्य लोगों की परीक्षा विधवाओं के उपरोक्त रीति से आत्महत्या करने को एक यश का कार्य्य कहा गया । इस प्रकार वाराहमिहिर अपने ज्योतिष शास्त्र में स्त्रियों

की परीक्षा इस कारण करता है कि वे अपने पति की मृत्यु पर अग्नि में प्रवेश करती हैं परन्तु मनुष्य अपनी स्त्रियों की मृत्यु के उपरान्त पुनः विवाह कर लेते हैं। परन्तु फिर भी आग में जलने की यह रीति पौराणिक काल में भी केवल स्त्रियों वा विधवाओं के लिये नहीं थी। मालती माधव में मालती का पिता अपनी कन्या के शोक में चिता पर चढ़ने की तय्यारी करता है और नागानन्द में तो जीमूतवाहन के पिता माता और पत्नि इस राजकुमार के शोक में चिता में जलमरने का संकल्प करते हैं।

कथासरित्सागर में हम एक कुमारी को जो कि अपने प्रियतम से मिलने में निराश हो गई थी चिता में प्रवेश करने की तयारी करते हुए पाते हैं (अ० ११८ और १२०)। और अब कहानियों से इतिहास की ओर दृष्टि डालने पर भी हमें विदित होता है कि राजालोग महमूद गजनवी के अधीन होने पर भी अपने देशवासियों द्वारा घृणा की दृष्टि से देखे जाने के कारण चिता में जल मरे थे। यह निस्सन्देह आत्महत्या की एक देखौआ रीति थी जब कि शोक वा अपमान असह्य हो जाता था और जीना शोकयुक्त हो जाता था और फीका जान पड़ता था। ऐसी आत्महत्या करना बुरा तो था ही पर वह उस समय तो कायरपन और अपराध हो गया जब कि मनुष्यों ने इसका करना छोड़ दिया और केवल स्त्रियों के गले इस रीति को उनके पति की मृत्यु पर किए जाने के लिये यश के कार्य की भांति लगा दिया। और जब हिन्दू जाति में जीवन नहीं रह गया तो यह आत्महत्या एक स्थिर रीति हो गई।

प्राचीन भारतवर्ष में प्राचीन यूनान की नाईं बड़ी सुन्दर और गुणी वेश्याएं अपने आज कल की अधम बहिनों की अपेक्षा अधिक सम्मानित थीं और अधिक उत्तम और उच्च जीवन व्यतीत करती थीं। अम्बपाली जिसने कि ठाठ बाट और घमण्ड में लिच्छवि राजाओं की बराबरी की थी और जिसने धार्म्मिक गौतम बुद्ध को अपने यहां निमन्त्रण दिया था उससे अस्पेसिया का स्मरण हो आता है जिसने सुक्रात का आतिथ्य किया था। इसी प्रकार मृच्छकटि की नायिका वसन्तसेना भी बड़े ठाठ बाट से रहती थी। वह उज्जैनी के युवा लोगों का एक साधारण सभा में स्वागत करती थी जहां कि जुआ खेलने की सामग्री, पुस्तकें, चित्र तथा मन बहलाव की अन्य वस्तुएं प्रस्तुत रहती थीं, वह अपने यहां निपुण शिल्पकारों और जौहरियों को रखती थी, वह दुखी दरिद्री लोगों की सहायता करती थी और अपने व्यवसाय को करते हुए भी "वह सुशीलवती, अनन्त रूपवती और समस्त उज्जैनी का अभिमान थी।"

इसी भांति कथासरित्सागर (अध्याय ३८) से भी हमें विदित होता है कि दक्षिणी भारतवर्ष की राजधानी प्रतिष्ठान की वेश्या मदनमाला " राजा के महल के सदृश्य " महल में रहती थी और उसके रक्षक सिपाही, घोड़े और हाथी थे। उसने विक्रमादित्य का (जो कि उसके यहां वेष बना कर गया था) सत्कार स्नान, पुष्प, सुगन्धि, वस्त्र, आभूषण और बहुमूल्य भोजन से किया था। और इसी ग्रन्थ के १२४ वें अध्याय से हमें फिर विदित होता है कि उज्जैनी की वेश्या देवदत्ता अपने राजा के योग्य महल में रहती थी।

हमें कहना नहीं पड़ेगा कि जिस समय का हम वर्णन कर रहें हैं उस समय उज्जैनी भारतवर्ष में सब से बड़ी बड़ी नगरी थी । गुण और सौन्दर्य्य तथा धन और राज्य प्रभुता ने छठीं शताब्दी में इस प्राचीन नगरी की अद्वितीय शोभा बढ़ाने में योग दिया था । मेघदूत में यक्ष ने मेघ से यह ठीक ही कहा है कि वह उज्जैनी में बिना हुए न जाय और नहीं तो "तेरा दुर्भाग्य है और तेरा जन्म व्यर्थ ही हुआ है ।"

ऐसी उच्च आज्ञाओं के उल्लङ्घन करने का साहस न करके मैं कुछ वर्ष हुए कि इस नगर को देखने गया था । उसकी प्राचीन कीर्ति अब नहीं रही है, उससे प्राचीन समय की बातों का स्मरण मात्र भी नहीं होता । परन्तु फिर भी इस नगरी की ऊंची नीची पत्थर की गलियों में घूमते, कारीगरी से बने हुए पुराने मकानों पर दृष्टि डालने से यहां के सरल हृदय वाले मनुष्यों की भीड़ को प्रसन्न चित्त देखने और महाकाल के प्राचीन मन्दिर में जाने से जो कि सम्भवतः इस नाम के उसी प्राचीन मन्दिर की भूमि पर बना है कि जिसका कालिदास ने मेघदूत में उल्लेख किया है हमारे हृदय में यह भाव उत्पन्न हुआ कि यह नगर प्राचीन समय में ऐसा था इसका अनुमान कर लेना सम्भव है । और निस्सन्देह मृच्छकटि में जो इस नगर का अद्भुत वर्णन दिया है वह हमारे इस अनुमान में कम सहायता नहीं देता । इस नाटक से हम प्राचीन समय के वर्णन का उद्योग करने में सहायता लेंगे ।

राजा की छाया में शान्त व्यापारी और महाजन लोग व्यापारियों के बाजार में रहते थे जिसे कि कवि ने श्रेष्ठि चत्वर के नाम से लिखा है। हिन्दू व्यापारी लोग सदा से शान्त और सीधे सादे थे। सम्भवतः उन लोगों के कार्य्यालय की शाखाएं उत्तरी भारतवर्ष के सब बड़े बड़े नगरों में थीं और वे लोग रेशम, रत्न और बहुमूल्य वस्तुओं का बड़ा भारी व्यापार करते थे और अपनी ठसाठस और सकरी गलियों के अन्धकारमय घरों में बहुत बड़ा कोष और द्रव्य रखते थे जिसे कि आवश्यकता के समय में राजा और महाराजा भी उधार लेना बुरा नहीं समझते थे। वे लोग केवल दान पुण्य और धार्म्मिक कार्य्यों में सीधेसादे थे और इस कारण वे इस नगर को बहुत से सुन्दर मन्दिरों से सुशोभित करते थे, पुजेरियों और ब्राह्मणों को भोजन कराते और सहायता देते थे और अपने अच्छे कार्य्यों से अपने नगर के लोगों में यश पाते थे। आज तक भी उत्तरी भारतवर्ष के सेठ और व्यापारी अपने द्रव्य और पुण्य के कार्य्यों के लिये सम्मानित हैं और वे अनेक मन्दिर बनवाते हैं जहां कि नित्य प्रति जैनियों और हिन्दुओं की पूजा होती है।

जौहरी और शिल्पकार व्यापारियों के पास बहुतायत से थे। कवि के शब्दों में "निपुण कारीगर मोती, पुखराज, नीलम, पन्ना, लाल, मूंगा तथा अन्य रत्नों की परीक्षा करते हैं, कोई स्वर्ण में लाल जड़ते हैं, कोई रङ्गीन जोड़ों में स्वर्ण के आभूषण गूंथते हैं, कोई मोती गूंथते हैं, कोई अन्य रत्नों को सान पर चढ़ाते हैं, कोई सीप काटते हैं और कोई मूंगा काटते हैं। गंधी लोग केशर के थैले हिलाते हैं,

चन्दन का तेल निकालते हैं और मिलावट की सुगन्ध बनाते हैं। इन शिल्पकारों की वस्तुएं उस समय के सब विदित संसार मे बिकती थीं और उनकी कारीगरी की वस्तुओं की बगदाद में हारूनउलरशीद के दरबार में कदर की गई थी और उन्होंने प्रतापी शार्लमेगन और उसके असभ्य दर्बारियों को आश्चर्यित किया था और अंग्रेजी कवि लिखता है कि वे लोग अपनी आंख फाड़ कर बड़े आश्चर्य से रेशमी और कारचोबी के वस्त्र तथा रत्नों को देखते थे जो कि पूरब के दूर देश से यूरोप के नवीन बाजारों में आए थे।

इससे छोटे व्यापारी अन्य गलियों में थे और अपने वस्त्र आभूषण और मिठाई और बहुत सी अन्य प्रकार की वस्तुएँ दिखलाते थे। दिन भर भीड़भाड़ से भरी गलियों में प्रसन्न और सरल हृदय के लोगों की खचाखच रहती थी।

परन्तु केवल बाजार ही लोगों के आने जाने का स्थान नहीं था वरन इसके सिवाय और भी विलक्षण स्थान थे। जूआ खेलने के घर राजा की आज्ञा से स्थापित थे जैसा कि यूरोप में अब तक भी है। जूआ खेलने वाले को प्रबन्ध रखने के लिये राजा नियत करता था और अग्नि पुराण के अनुसार वह राजा के लिये जीत का पाँचवां वा दसवाँ भाग उगाहने का अधिकारी था। मृच्छकटि में एक जुआरी के दस स्वर्ण हारने का उल्लेख है और यह स्वर्ण निस्सन्देह एक सोने का सिक्का था जिसका मूल्य कि डाक्टर विल्सन साहेब ८॥।=) अनुमान करते हैं।

शकुन्तला से हमें विदित होता है कि नगर में मदिरा की दूकानें होती थीं जिनमें कि बहुत ही नीच जाति के

लोग जाते थे । परन्तु विलासी राजसभा के दुर्बारियों तथा दुराचारी और रसिक मनुष्यों में भी मदिरा पीने की रीति अविदित नहीं थी । भारवि ने एक सर्ग मदिरा पीने के आनन्द के विषय में लिखा है और कालिदास ने भी बहुधा ऐसी स्त्रियों का उल्लेख किया है जिनके मुख मदिरा की महक से सुगन्धित थे परन्तु अधिकांश लोग जो कि हिन्दू श्रेणी के तथा खेती वाणिज्य और परिश्रम करने वाले थे मदिरा नहीं पीते थे जैसा कि वे आज कल भी करते हैं ।

बड़े नगरों के अन्य दुराचार भी उज्जैनी में अविदित नहीं थे । मृच्छकटि में मैत्रेय कहता है कि "संध्या के इस समय राज्यमार्ग दुराचारियों, गला काटने वालों, दुर्बारियों और वेश्याओं से भरा रहता है" और इसी नाटक में एक दूसरे स्थान पर चारुदत्त के घर में चोरी का एक अद्भुत वृतान्त है और उसमें पहरा देने वाले के पैर को शब्द उस समय सुनाई देता है जिस समय कि चोर अपना कार्य्य कर चुकता है और माल असबाब लेकर चम्पत हो जाता है (जैसा कि आजकल बहुधा होता है) उसी नाटक में एक दूसरे स्थान पर लिखा है कि

सड़क लखौ सूनी पड़ी घूमत पहरेदार ॥
चोर फिरत हैं रात को तुम रहियो हुसियार ॥

[सीताराम]

धनाढ्य लोग बहुत से दास, बड़े ठाट बाट के कमरे और उदार आतिथ्य के साथ सुख पूर्वक रहते थे । मृच्छकटि में हमें एक धनाढ्य के घर का कुछ अत्युक्ति के साथ वर्णन मिलता है जिससे कि हमें साधारणतः धनाढ्यों के घर

का कुछ ज्ञान हो जायगा। बाहर का द्वार सुन्दर है, ड्योढ़ी रँगी हुई साफ सुथरी और पानी छिड़की हुई है, फाटक पर फूल और माला लटकी हुई हैं और द्वार ऊंचा मेहराबदार है। पहिले आंगन में प्रवेश करने पर स्वेत इमारतों की पंक्ति देख पड़ती हैं, उनकी दीवारों पर सुन्दर पलस्तर किया हुआ है, सीढ़ियां भिन्न भिन्न प्रकार के पत्थरों की बनी हुई हैं और उनके बिल्लौर के किवाड़ों से नगर की गलियों का दृश्य देख पड़ता है। दूसरे आंगन में गाड़ी, बैल, घोड़े और हाथी होते हैं जिन्हें उनके महावत चावल और घी खिलाते हैं। तीसरे आंगन में लोगों के बैठने का कमरा होता है जहां पर अतिथियों का स्वागत किया जाता है, चौथे में नाच और गाना होता है और पांचवें में रसोई घर, छठें आंगन में घर के कार्य्य के लिये शिल्पकार और जौहरी रहते हैं और सातवें में चिड़ियाखाना रहता है। आठवें आंगन में घर का मालिक रहता है। यह सम्भव नहीं है कि बड़े ही धनाढ्य के सिवाय और कोई इतने ठाट बाट से रहे परन्तु इस वृतान्त से हमें ठाट से रहने वाले हिन्दू गृहस्थों का कुछ ज्ञान होजाता है। घर के पीछे एक सुन्दर फुलवारी है जो कि प्राचीन समय में हिन्दू स्त्रियों के मनबहलाव का स्थान थी। शकुन्तला अपने वृक्षों में स्वयं पानी देती थी और यक्ष की स्त्री अपनी फुलवारी में बैठकर अपने अनुपस्थित पति का शोच किया करती थी।

नगर के भीतर इन वृहद् निवासस्थानों के सिवाय धनाढ्य लोगों के नगर से बहुत दूर गांव में बगीचे होते थे और इन बगीचों का शौक़ इस समय तक भी वर्त्तमान है।

धनाढ्य मनुष्यों की सम्पत्ति में गुलाम सब से मुख्य समझे जाते थे। भारतवर्ष में प्राचीन समय में अन्य प्राचीन देशों की नाईं गुलाम खरीदे और बेंचे जाते थे। और सम्भवतः प्राचीन समय में अधिकांश दास गुलाम ही होते थे। मृच्छकटि में एक हारा हुआ ज्वारी अपना ऋण चुकाने के लिये अपने को बेंचने का प्रस्ताव करता है। इससे भी अधिक विलक्षण एक दूसरा वाक्य है जिसमें कि एक दासी का प्रेमी उससे पूछता है कि कितना द्रव्य देने से उसकी स्वामिनी उसे स्वतंत्र कर देगी। हरिश्चन्द्र की प्रसिद्ध कथा में भी कहा है कि इस राजा ने एक ब्राह्मण का ऋण चुकाने के लिये अपने स्त्री पुत्र और स्वयं अपने को बेंच डाला था और इस सम्बन्ध में ऐसी ही अनेक कथाएं हैं। गुलामी कोमल रूप में भारतवर्ष में बहुत आधुनिक समय तक वर्तमान थी। नगर में सुखी मनुष्यों की साधारण सवारी एक प्रकार की ढकी हुई गाड़ी थी जिसमें बैल जोते जाते थे। मनुष्य और स्त्रियां दोनों ऐसी गाड़ियों में बैठते थे और वसन्तसेना अपने प्रियतम चारुदत्त से नगर के बाहर बाटिका में मिलने के लिये ऐसी ही गाड़ी में बैठ कर गई थी। जो मनुष्य बैल गाड़ी में (इस ग्रन्थकार की नाईं) उज्जैनी की ऊंची नीची पत्थर की गलियों में गया होगा उसे यह विदित होगा कि इस स्त्री की यात्रा उसके सच्चे स्नेह के मार्ग की नाईं बहुत अच्छी नहीं थी। सवारी के लिये घोड़े भी बहुधा काम में लाए जाते थे और कथासरित्सागर के १२४ वें अध्याय से हमें विदित होता है कि ब्राह्मण अपनी स्त्री देवस्वामिनि को उसके पिता के घर से घोड़ी

पर सवार करा कर एक दासी के सहित लाया था। घोड़े की गाड़ियां सम्भवतः केवल राजा लोग तथा युद्ध और शिकार में योधा लोग भी काम में लाते थे जैसा कि हम शकुन्तला में देखते हैं।

प्राचीन समय में न्याय करने का एक मात्र और बहु-मूल्य वर्णन मृच्छकटि में दिया है। उसमें ब्राह्मण चारुदत्त पर एक दुराचारी लम्पट ने इस नाटक की नायिका वसन्त-सेना के मारने का झूठा दोष लगाया है। यह लम्पट अपने को राजा का बहनोई कहता है। राजा लोग प्रीति करने में कुछ बहुत विचार नहीं करते थे और इस प्रकार जिन नीच जाति की स्त्रियों को वे अपने महल में ले लेते थे उनके भाइयों और सम्बन्धियों को नगर के प्रबन्ध करने में उच्च पद दिए जाते थे। ऐसे लोगों का कालिदास तथा अन्य कवियों ने जो अनेक स्थान पर वर्णन दिया है उनसे हमें विदित होता है कि ये लोग समाज के नाशक बन गए थे, वे भले मानुसों के द्वेषी और छोटे तथा नीच लोगों के दुःख देने वाले थे।

ऐसे ही एक दुष्ट ने जिसका नाम वासुदेव था वसंत-सेना को मारने का जी जान से जतन किया था। उसने पहिले वसन्तसेना की प्रीति के लिये व्यर्थ उद्योग किया था और तब उसने चारुदत्त पर जिसे कि वह चाहती थी उसके मारने का कलंक लगाया। न्यायाधीश सेठ और लेखक (कायस्थ) के साथ न्यायालय में आता है और वासुदेव चारुदत्त पर द्वेष आरोपित करता है। न्यायाधीश उस दिन इस बात पर विचार करने के लिये

इच्छुक नहीं है परन्तु वादी का राजा के साथ मेल जान कर इस अभियोग को उठाता है और न्यायालय में उसके ढिठाई के आचरण पर भी तरह दे जाता है। चारुदत्त बुलाया जाता है।

यह सीधा और भला ब्राह्मण न्यायालय में आता है और इसका जो वर्णन किया है वह हमारे बहुतसे पाठकों को मनोरञ्जक होगा और उससे भी प्राचीन समय के न्याय के कुटनों का भी ज्ञान हो जायगा।

ब्याकुल चलत दूत गंख औ लहर सम,
चिंता में मगन मंत्रि देखौ नीर चीर से।
बकबक करैं बक सरिस चतुर लोग,
कायथ निहारैं बैठे भुजग बेपीर से।
एक ओर भेदी खड़े नाक औ मगर सम,
हाथी घोड़े क्रूर डोलैं हिंसक अधीर से।
टेढ़े मेढ़े नीति से बिगारै तट संग सोहैं,
राजा के विचार भौन नीरधि गंभीर से॥

[सीताराम]

हमें यहां पर शाक्षी का ब्योरा देने की कोई आवश्यकता नहीं है परन्तु निस्सन्देह प्रमाण चारुदत्त के बहुत विरुद्ध थे। परन्तु फिर भी न्यायाधीश को यह विश्वास नहीं होता कि इस भले मानस से ऐसा घृणित अपराध किया होगा। वह कहता है कि "चारुदत्त पर कलङ्क लगाना वैसा ही है जैसा कि हिमालय को तौलना, समुद्र की थाह लगाना वा हवा को पकड़ना।" परन्तु यह शाक्षी और भी प्रबल होती है और न्यायाधीश को यह विदित होता है कि कानून के अनुसार

उसे चारुदत्त के विरुद्ध निश्चय करना चाहिए परन्तु फिर भी उसे इन सब बातों पर विश्वास नहीं होता। इस प्रसिद्ध पर बलवती उपमा के अनुसार "कानून के नियम स्पष्ट हैं, परन्तु बुद्धि दलदल में पड़ी हुई गाय के समान अंधी हो रही है"।

इसी बीच में चारुदत्त का मित्र न्यायालय में आता है और उसके पास उस स्त्री के आभूषण पाए जाते हैं जिसके मारने का कलंक लगाया गया है इससे चारुदत्त के भाग्य का निश्चय हो जाता है। न्यायाधीश उसे सत्य बोलने के लिये कहता है और धमकाता भी है और चारुदत्त अपने अपमान से दुखी हो कर, उसके विरुद्ध जो प्रमाण एकत्रित किए गए थे उनसे घबरा कर और अपनी प्रिय बसन्तसेना की मृत्यु का समाचार सुन कर अपना जीना व्यर्थ समझ कर उस हत्या के करने को स्वीकार कर लेता है जिसे कि उसने नहीं किया है जैसा कि बहुतेरे निरपराधियों की दशा हुई है।

न्यायाधीश आज्ञा देता है कि "अपराधी ब्राह्मण है और इस कारण मनु के अनुसार उसे फांसी नहीं दी जा सकती परन्तु वह देश से निकाला जा सकता है पर उसकी संपत्ति नहीं छीनी जायगी।"

परन्तु राजा निष्ठुरता से इस आज्ञा को बदल कर उसे फांसी देने की आज्ञा देता है। कवि राजा की इस निष्ठुर आज्ञा का पाप की भाँति उल्लेख करता है जिसका कि बदला उसे शीघ्र ही मिलता है। उसके राज्य में बड़ा उलट फेर हो जाता है और वह युद्ध में एक जबरदस्त से मारा जाता है और चारुदत्त उसी समय बच जाता है जब

कि वह फांसी दिया जाने ही वाला था और उसे उसकी प्रिय वसन्तसेना भी मिलती है जिसे कि निर्दय वासुदेव ने मरा हुआ समझ कर छोड़ दिया था परन्तु वह मरी नहीं थी। कुपित लोग इस अधम अपराधी को जो कि मृत राजा का सम्बन्धी था, मारा चाहते हैं परन्तु उदार चारुदत्त उस के जीव की रक्षा करता है और उसे छोड़ देने को कहता है। लोग उसका कारण पूछते हैं और चारुदत्त उसी सच्चे हिन्दू के सिद्धान्त से उत्तर देता है--

"बैरी जब अपराध करै और पैरों पर पड़ कर सरन मांगे तो उस पर हथियार नहीं उठाना चाहिए।"

अध्याय १६।

आधुनिक काल का प्रारम्भ

पिछले अध्याय में हमने प्राचीन काल के हिन्दू ग्रन्थकारों के ग्रंथों से जो कि छठीं और उसके उपरान्त की शताब्दियों में हुए हिन्दुओं की सभ्यता और जीवन का संक्षिप्त वृत्तान्त देने का उद्योग किया। परन्तु दूसरे लोग हमें जिस दृष्टि से देखें उस दृष्टि से हमें स्वयं अपने को देखना सदा लाभ दायक होता है और इस कारण हम इस अध्याय में आधुनिक समय के प्रारम्भ की हिन्दू सभ्यता का वृत्तान्त उन सामग्रियों से देंगे जो कि हमें एक शिक्षित और उदार विदेशी एलबेरुनी से मिलती हैं जो कि ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ है।

भारतवर्ष के विषय में एलबेरुनी के ग्रन्थ का मूल्य बहुत समय से विद्वानों को विदित है परन्तु उसके ग्रन्थ के पाण्डित्य पूर्ण संस्करण और अनुवाद का अब तक अभाव था। डाक्टर एडवर्ड सी सैक् ने अब इस अभाव को पूरा किया और पूरब देश सम्बन्धी खोज और भारतवर्ष के इतिहास के लिये एक बड़ा उपयोगी कार्य्य किया है।

एलबेरुनी वा जैसा कि उसके देश के लोग उसे पुकारते हैं अबूरैहन का जन्म आजकल के ख़ीवा में सन ९७३ ई० में हुआ था। जब महमूद गजनवी ने ख़ीवा को सन १०१७ ई० में जीता तो वह इस प्रसिद्ध विद्वान को युद्ध के बंधुए की भांति गजनी ले गया। सम्भवत: इसी घटना के कारण वह हिन्दुओं को उस सहानुभूति की दृष्टि से देखने लगा जो कि

महमूद के विजय और अत्याचार सहने वाले साथियों के योग्य है और जब कि उसने हिन्दू सभ्यता और साहित्य में जिन बातों को दुखित समझा है उन्हें दिखलाने में कभी आगा पीछा नहीं किया तथापि उसने उस सभ्यता और साहित्य का उस उदार हृदय से अध्यन करने का कष्ट उठाया है जो कि पीछे के समय के मुसल्मानों में नहीं पाई जाती और जो बात प्रशंसा करने योग है उसमें वह प्रशंसा करने में कभी नहीं चूका ।

भारतवर्ष में महमूद के नाश करने के असावधान कार्य्य के विषय में एलबेरुनी उचित निन्दा के साथ लिखता है । वह कहता है कि "महमूद ने देश की भाग्यशालिनी दशा का पूर्णतया नाश करदिया और उसने वे अद्भुत साहस के कार्य्य किए जिनसे कि हिन्दू लोग धूल के कण की नाईं तथा लोगों के मुह में पुरानी कहानी की नाईं चारों दिशाओं में छितर वितर हो गए । इस प्रकार छितर बितर हुए लोगों में निस्संदेह मुसल्मानों से बड़ी कठोर घृणा हुई । और यही कारण है कि जिन देशों को हम लोगों ने विजय किया है वहां से हिन्दू शास्त्र दूर हटा दिए गए हैं और उन शास्त्रों ने ऐसे स्थानों में आश्रय लिया है जहां कि हम लोगों का हाथ नहीं पहुंच सकता यथा काश्मीर बनारस और अन्य स्थानों में । (अध्याय १)

हिन्दुओं के विषय में एलबेरुनी को जो सब से अनुचित बात जान पड़ी वह उन लोगों का संसार की अन्य जातियों से पूर्णतया जुदा रहना था । वे लोग बाहरी संसार को नहीं जानते थे और अन्य जातियों को म्लेच्छ कह कर उन

से सहानुभूति और सरोकार नहीं रखते थे। एलबेरूनी कहता है कि "वे जिन बातों को जानते हैं उन्हें दूसरों को बतलाने में स्वभाव से ही कृपण हैं और वे अपने ही में किसी दूसरी जाति के मनुष्यों को उन बातों को न बतलाने में बड़ी ही सावधानी रखते हैं, फिर विदेशियों को उन्हें बतलाने के विषय में तो कहना ही क्या है। उनके विश्वास के साथ संसार में उनके देश के सिवाय और कोई देश ही ही नहीं है, और उनके सिवाय और कोई दानी ही नहीं है, और उनके सिवाय और कोई मनुष्य ही नहीं है, जो कि विज्ञान को कुछ भी जानता हो। उनका घमण्ड यहां तक है कि यदि तुम उनसे खुरासान और फारस के किसी शास्त्र वा किसी विद्वान का वर्णन करो तो वे तुम्हें मूर्ख और झूठा समझेंगे। यदि वे भ्रमण करें और अन्य देश के लोगों से मिलें तो उनकी यह सम्मति शीघ्र ही बदल जायगी क्योंकि उनके पूर्वज लोग ऐसे नहीं थे जैसे ये आज कल हैं।" (अध्याय १)

राजनैतिक बातों में भी एलबरूनी के समय में भारतवर्ष के पतन के अन्तिम दिन थे। वह वृहद् देश जो कि छठीं शताब्दी में प्रतापी विक्रमादित्य के अधीन था अब छोटे छोटे राजाओं में बंट गया था जो कि एक दूसरे से स्वतंत्र थे और बहुधा परस्पर युद्ध किया करते थे। काश्मीर स्वतंत्र था और वह अपने पर्वतों के कारण रक्षित था। महमूद गज़नवी ने उसे जीतने का उद्योग किया परन्तु वह कृतकार्य्य नहीं हुआ। और वीर अनङ्गपाल ने जिसने कि महमूद को रोकने का व्यर्थ उद्योग किया था एक

बार भाग कर काश्मीर में ही शरण ली थी। सिन्ध अनेक छोटे छोटे राज्यों में बंट गया था जिसमें कि मुसल्मान सर्दार लोग राज्य करते थे। गुजरात में महमूद ने सोमनाथ वा पट्टन पर जो आक्रमण किया था उसका कोई स्थायी फल नहीं हुआ। इस देश में महमूद के पहिले जिन राजपूतों ने चौलुक्यों से राज्य छीन लिया था वे सोमनाथ पर महमूद के आक्रमण के पीछे राज्य करते रहे। मालवा में एक दूसरे राजपूत वंश का राज्य था और भोजदेव जिसने कि आधी शताब्दी तक अर्थात् सन् ९९७ से सन् १०५३ ई० तक राज्य किया विद्या का एक बड़ा संरक्षक था और उसकी राजधानी धार में प्रतापी विक्रमादित्य के राज्य का सा समय जान पड़ता था।

उस समय कन्नौज बंगाल के पालवंशी राजाओं के अधीन कहा जाता है, और वे प्रायः मुंगेर में रहते थे। कन्नौज के राज्यपाल को महमूद ने सन् १०१७ में लूटा था और इस कारण बारी में एक नई राजधानी स्थापित हुई और महिपाल जिसने कि लगभग १०२६ ई० में राज्य किया था वहीं रहता था। ये दोनों राजा, बंगाल के सब पाल वंशी राजाओं की नाईं बौद्ध कहे गए हैं, परन्तु एलबेरूनी के समय में भारतवर्ष में बौद्ध धर्म्म जातीय धर्म्म नहीं रह गया था।

कन्नौज के चारों ओर का देश मध्य देश कहलाता था क्योंकि वह भारतवर्ष का केन्द्र था और यह केन्द्र, जैसा कि एलबेरूनी कहता है "भूगोल की दृष्टि से" था और "यह राजनैतिक केन्द्र भी था क्योंकि अगले समय में वह

उनके सब से प्रसिद्ध वीरों और राजाओं का निवास स्थान था"। (अध्याय १८)

एलबेरुनी ने कन्नौज से कई मुख्य स्थानों की दूरी लिखी है जो कि आज कल भी मुख्य नगर हैं। वह मथुरा का जो कि "वासुदेव के कारण प्रसिद्ध है", प्रयाग वा इलाहाबाद का "जहां कि हिन्दू लोग अपने को अनेक प्रकार की तपस्याओं से पीड़ित करते हैं, जिनका वर्णन उनकी धर्म्म सम्बन्धी पुस्तकों में है", "प्रसिद्ध वाराणसी" वा बनारस का, पाटिलपुत्र, मुंगेर और गंगासागर अर्थात् गंगा के मुहाने का उल्लेख करता करता है। वह दक्षिण में धार और उज्जैनी का, उत्तर-पश्चिम में काश्मीर, मुल्तान और लाहौर का भी वर्णन करता है और मध्य भारतवर्ष से दूर वह राम के कल्पित सेतु का, लंका के तटों का जहां मोती पाए जाते हैं तथा मालद्वीप और लक्षद्वीप का भी उल्लेख करता हैं।

(अध्याय १८)

अब देश के वृत्तान्त को छोड़ कर हम देश वासियों का वर्णन करेंगे। एलबेरुनी ने जाति भेद के विषय की कुछ संक्षिप्त आलोचना की है, जिससे कि हमें विदित होता है कि वैश्य लोग अर्थात् आर्य्य लोग की सब से वृहद् जाति का शीघ्रता से शूद्र जातियों में पतन होता जाता था। एक स्थान में यह लिखा है कि वैश्यों और शूद्रों में "बहुत भेद नहीं है"। (अध्याय ९) एक दूसरे स्थान पर हमें यह भी विदित होता है कि वैश्यों के धर्म्म सम्बन्धी विद्या पाने का प्राचीन अधिकार छीन लिया गया था, ब्राह्मण लोग

क्षत्रियों को वेद पढ़ाते थे परन्तु "वैश्य और शूद्र उसे सुन भी नहीं सकते थे उसका उच्चारण करना वा पाठ करना तो दूर रहा"। (अध्याय १२) फिर एक दूसरे स्थान पर लिखा है कि जिन कार्य्यों के अधिकारी ब्राह्मण हैं यथा पाठ करना, वेद पढ़ना और अग्नि में हवन करना वह वैश्यों और शूद्रों के लिये यहां तक वर्जित है कि उदाहरण के लिये जब किसी शूद्र वा वैश्य का वेद पाठ करना प्रमाणित होजाय और ब्राह्मण लोग राजा के सम्मुख उस पर दोष आरोपण करें तो राजा उस अपराधी की जीभ काट लेने की आज्ञा देगा। (अध्याय ६४)

यदि पाठक लोग वैश्यों के इस वर्णन को मनु में लिखी हुई स्थिति से मिलान करें तो उन्हें जाति के धीरे धीरे पतन होने और ब्राह्मणों के प्रभुत्व बढ़ाने का पूरा इतिहास विदित हो जायगा। नवीं और दसवीं शताब्दियों के धार्म्मिक और राजनैतिक उलट फेर के उपरान्त उन वैश्य सन्तानों की, जिनको कि वेद पढ़ने और हवन करने में ब्राह्मणों के समान अधिकार था, अब शूद्रों में गणना होने लगी और वे धार्म्मक ज्ञान पाने के अयोग्य समझे जाने लगे? क्षत्रियों ने अब भी अपनी स्थिति उस समय तक बना रक्खी थी जब तक कि भारतवर्ष स्वतंत्र देश था पर १२ वीं शताब्दी के पीछे उन लोगों ने भी अपनी कीर्ति और स्वतंत्रा खो दी। और तब इस साहसी कथा की कल्पना की गई कि क्षत्रिय जाति का भी वैश्यों की नांई अब लोप हो गया और ब्राह्मणों के सिवाय और सब शूद्र होगए और उन सभों को समान रीति से वेद पढ़ाने वा हवन करने का

अधिकार नहीं रहा! क्या हमारे पाठक क्षत्रियों और वैश्यों के लोप होने की इस कथा के आगे बढ़ा चाहते हैं और यह जानना चाहते हैं कि उनकी सन्तान की वास्तव में क्या क्या अवस्था हुई ? वे उन्हें नए नए नामों (कायस्थ, वैद्य, वाणिक, स्वर्णकार, कर्मकार इत्यादि) नई जातियों की भांति पावेंगे जो कि मनु और याज्ञवल्क्य के समय में नहीं थी। और इन नई जातियों को जो कि क्षत्रियों और वैश्यों से बनी हैं उन मिश्रित जातियों की बढ़ती हुई सूची में स्थान दिया गया जिसे कि मनु ने निषादों और चाण्डालों की नांई कार्य्य आदिम निवासियों के लिये रक्षित रक्खा था। परन्तु आज कल की शिक्षा ने धीरे धीरे लोगों की आंखे खोल दी हैं और बृहद् हिन्दू जाति जैसे जैसे अपने जातीय और राजनैतिक जीवन पर ध्यान देती जाती है वैसे वैसे अपने प्राचीन धार्म्मिक और सामाजिक अधिकारों का दावा करना सीख रही है।

एल बेरूनी ने शूद्रों के नीचे आठ अन्त्यज जातियां लिखी हैं अर्थात् धोबी, चमार, नट, दौरी और ढाल बनाने वाले, केवट, मछुआहा, बहेलिया, और तांती। हांड़ी डोम और चाण्डाल सब जातियों से बाहर समझे जाते थे। (अ७९)

अब जाति के विषय को छोड़ कर लोगों की रीति और चाल व्यवहार का वर्णन करेंगे परन्तु इसमें भी हम हिन्दुओं को उनकी अवनत दशा में पाते हैं। यह कहा गया है कि "हिन्दू लोग बहुत छोटी अवस्था में बिवाह करते हैं" और "यदि किसी स्त्री का पति मर जाय तो वह दूसरे मनुष्य से बिवाह नहीं कर सकती। उसके लिये केवल

दो बातें रह जाती हैं, अर्थात् या तो वह अपना सारा जीवन विधवा की भांई व्यतीत करे अथवा जल मरे और इस कारण जल मरना ही उत्तम समझा जाता है क्योंकि विधवा रहने के कारण वह जब तक जीवित रहती है तब तक उसके साथ बुरा व्यवहार किया जाता है।"

(अध्याय ६९)

हम देख चुके हैं कि पौराणिक काल में बाल विवाह की रीति प्रचलित नहीं थी और इस कारण यह स्पष्ट है कि यह रीति आधुनिक काल के आरम्भ में हिन्दुओं में प्रचलित हुई। और यही दशा सती की रीति की भी है।

विवाह की रीतों के विषय में यह कहा गया है कि माता पिता अपने बालकों के लिये विवाह का प्रबन्ध कर लेते थे, उसमें कोई दहेज निश्चित किया जाता था परन्तु पति को पहिले कुछ देना पड़ता था जो कि सदा के लिये स्त्री की सम्पत्ति (स्त्रीधन) होता था। पांच पीढ़ी के भीतर के सम्बन्धियों में विवाह वर्जित था। प्राचीन नियम के अनुसार किसी जाति का मनुष्य अपनी जाति वा अपने से नीच जाति की स्त्री से विवाह कर सकता था परन्तु यह रीति अब उठ गई थी। जाति भेद अब अधिक कठिन हो गया था और "हमारे समय में ब्राह्मण लोग अपनी जाति के सिवाय और किसी जाति की स्त्री से कभी विवाह नहीं करते यद्यपि उनको ऐसा करने का अधिकार है।"

(अध्याय ६९)।

एलबेरुनी ने ११ वीं शताब्दी के हिन्दुओं के त्योहारों का जो वर्णन लिखा है वह आजकल के हिन्दू त्योहारों के

असदृश नहीं है। वर्ष का आरम्भ चैत्र से होता था और एकादशी को हिंडोली चैत्र (आज कल का डोल) होता था जिसमें कृष्ण की मूर्ति पालने में झुलाई जाती थी। पूर्णिमा को बसन्तोत्सव (आज कल की होली का त्योहार) होता था जो कि विशेषतः स्त्रियों के लिये था। हम इस उत्सव का कुछ वर्णन पौराणिक काल के नाटकों में देख चुके हैं। रत्नावली और मालती माधव दोनों ही इस उत्सव के वृत्तान्त से आरम्भ होते हैं जिसमें कि कामदेव की पूजा होती थी परन्तु आधुनिक समय में प्राचीन कामदेव का स्थान कृष्ण ने लेलिया है और आजकल का होली का उत्सव उसी प्राचीन देवता को प्रगट करता है।

वैशाख में तीसरे दिन गौरी तृतिया होती थी जिसमें स्त्रियां स्नान करती थीं, गौरी की मूर्ति की पूजा करती थीं और उनको धूप दीप चढ़ाती थीं तथा व्रत रहती थीं। दसमीं से लेकर पूर्णिमा तक खेत जोतने और वर्ष की खेती प्रारम्भ करने के पहिले यज्ञ किए जाते थे। इसके पीछे सायन मेष होता था जिसमें कि उत्सव मनाया जाता और ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था।

भारतवर्ष में ज्येष्ठ का महीना ही फल उत्पन्न होने का महीना है और इसमें प्रतिपदा को वर्ष के नवीन फल शगुन के लिये जल में छोड़े जाते थे। पूर्णिमा के दिन स्त्रियों का एक त्योहार होता था जो कि रूपपंच कहलाता था।

आषाढ़ में पूर्णिमा के दिन पुनः ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था।

आश्वयुज के महीने में ऊख काटी जाती थी और महानवमी के त्योहार में ऊख के नवीन फल भगवती की मूर्ति को चढ़ाए जाते थे। मास के पन्द्रहवें सोलहवें और तेईसवें दिन अन्य त्योहार होते थे जिनमें बहुत खेल कूद होते थे।

भाद्रपद के महीने में बहुत ही अधिक त्योहार होते थे। मास के पहले दिन पितरों के लिये दान दिए जाते थे। तीसरे दिन स्त्रियों का एक त्योहार होता था। छठें दिन बन्दियों को भोजन बांटा जाता था। आठवें दिन ध्रुवगृह का त्योहार होता था जिसे गर्भवती स्त्रियां आरोग्य बालक पाने के लिये करती थीं। ग्यारहवें दिन पार्वती का त्योहार होता था जिसमें पुजेरी को डोरा दिया जाता था। और पूर्णिमा के उपरान्त पूरे पक्ष भर में नित्य त्योहार होते थे। ग्यारहवीं शताब्दी के इन त्योहारों का स्थान अब अधिक धूम धाम की पूजाओं ने यथा दुर्गा तथा अन्य देवी और देवताओं की पूजा ने ले लिया है।

कार्तिक में पहिले दिन दिवाली का त्योहार होता था। इसमें बहुत से दीपक जलाए जाते थे और यह विश्वास किया जाता था कि वर्ष में उसी एक दिन लक्ष्मीदेवी वीरोचन के पुत्र वलि को छोड़ देती थी। यह दिवाली के उत्सव का प्राचीन रूप था जिसके साथ कि काली की पूजा का सम्बन्ध अब किया गया है, जिस भांति कि कामदेव के प्राचीन उत्सव के साथ अब कृष्ण की पूजा का सम्बन्ध किया गया है।

मार्गशीर्ष (अग्रहायण) मास के तीसरे दिन गौरी के सम्मानार्थ स्त्रियों को भोजन कराया जाता था। और पूर्णिमा को स्त्रियों को फिर भोजन कराया जाता था।

आज कल की नाईं उन दिनों में भी पुष्य के त्योहार पर अनेक प्रकार के मिष्ठान्न बनते थे। हम देख चुके हैं कि जाड़े की खुशी मनाने की यह बड़ी उत्तम रीति सन् ईस्वी के पहिले से विदित थी।

माघ मास में तीसरे दिन गौरी के सम्मानार्थ स्त्रियों को भोजन कराया जाता था इस मास में और भी त्योहार होते थे।

फाल्गुण मास के आठवें दिन ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था और पूर्णिमा को होल होता था। उसके अगले दिन की रात्रि शिवरात्रि होती थी (अध्याय ७५)।

ऊपर दिए हुए त्योहारों के वर्णन से सर्व साधारण को धर्म्म और धर्म्माचरण का कुछ ज्ञान हो जायगा। सारे भारतवर्ष में मूर्तियां और मन्दिर बहुतायत से फैले हुए थे जहां कि असंख्य यात्री और भक्त लोग जाया करते थे। एलबेरुनी निम्न लिखित मन्दिरों का उल्लेख करता है अर्थात् मुल्तान में आदित्य वा सूर्य्य का मन्दिर और हरेश्वर में चक्रस्वामी वा विष्णु का मन्दिर, काश्मीर में सारद की काठ की मूर्ति और प्रसिद्ध सोमनाथ की मूर्ति जो कि शिवलिंग थी और जिसे महमूद ग़ज़नवी ने नष्ट किया था। (अध्याय ११) सोमनाथ के लिंग के विषय में एलबेरुनी कहता है कि महमूद उसके ऊपरी भाग को छोड़ कर के शेष सब मय स्वर्ण और रत्न के आभूषण और कारचोपी के वस्त्रों

सहित गजनी को ले गया। उसका कुछ अंश नगर के तमाशे घर में रक्खा गया और कुछ अंश गजनी की मसजिद के द्वार पर जिसमें लोग उस पर अपने पैर पोंछ कर साफ करें। यह दशा उस मूर्ति की हुई जिसे कि नित्य गंगा जल और काश्मीर के पुष्प चढ़ाए जाते थे! सोमनाथ लिंग के बड़े माहात्म्य का कारण यह था कि स्वयं यह नगर समुद्री वाणिज्य का केन्द्र और समुद्र के यात्रियों के लिये बन्दर-गाह था। (अध्याय ५८)

बनारस भारतवर्ष में सब से अधिक पवित्र स्थान हो गया था और लोग इस पवित्र नगर में अपनी वृद्धावस्था के दिन व्यतीत करने के लिये आया करते थे। पुष्कर, थानेश्वर, मथुरा, काश्मीर, और मुल्तान की पवित्र झीलों का भी उल्लेख किया गया है और निस्सन्देह यहां यात्रियों की बड़ी भीड़ एकत्रित होती थी। (अध्याय ६६) हमारे ग्रन्थकार ने पवित्र स्थानों में लम्बी चौड़ी सीढ़ियों वाले बड़े बड़े तालावों को खोदवाने की हिन्दुओं की रीति की बड़ी प्रशंसा की है। "प्रत्येक पुण्यक्षेत्र में हिन्दू लोग स्नान के लिये तालाब बनवाते हैं। इसके बनाने में उन्होंने बड़ी ही निपुणता प्राप्त करली है यहां तक कि जब हमारी जाति के लोग (मुसल्मान) उन्हें देखते हैं तो उनको आश्चर्य्य होता है और वे उनका वर्णन करने में भी असमर्थ होते हैं, उनके सदृश तालाब बनवाना तो दूर रहा। वे उन्हें बड़े भारी भारी पत्थरों से बनाते हैं जो कि एक दूसरे से नोकीले और दृढ़ लोहे के हुक से जोड़े जाते हैं और वे चट्टानों के चबूतरों की भांई देख पड़ते हैं और ये चबूतरे तालाब के

चारों ओर होते हैं और एक पोरवे से अधिक ऊंचे होते हैं।" (अध्याय ६६)।

हिन्दू लोग जिन असंख्य देवों और देवताओं की पूजा करते थे उनमें एलबेरूनी को तीन मुख्य देवताओं अर्थात् स्टष्टि करने वाले ब्रह्मा, पोषण करने वाले विष्णु और संहार करने वाले महादेव को जानने में कोई कठिनता न हुई। एलबेरूनी यह भी कहता है कि ये तीनों देवता मिलकर एक समझे जाते हैं और इस बात में "हिन्दुओं और ईसाइयों में समानता है क्योंकि ईसाई लोग भी तीन रूपों को अर्थात् पिता पुत्र और पवित्र आत्मा को मानते हैं परन्तु उन तीनों को एक ही समझते हैं।" (अध्याय ८)

एलबेरूनी ने हिन्दू धर्म्म और व्यवस्थाओं का ध्यान पूर्वक अध्ययन किया था यह बात इसीसे विदित हो जायगी कि साधारण लोग जो असंख्य हिन्दू देवताओं की पूजा करते थे उसके परे, उपरोक्त त्रिमूर्ति के भी परे, हमारे ग्रन्थकार ने पवित्र और दार्शनिक हिन्दू धर्म्म के सच्चे सिद्धान्त अर्थात् उपनिषदों के अद्वैतवाद को भली भांति समझ लिया था। वह हमें बार बार कहता है कि सब असंख्य देवता केवल साधारण लोगों के लिये हैं, शिक्षित हिन्दू लोग केवल ईश्वर में विश्वास करते हैं जो कि "एक, नित्य, अनादि, अनन्त, स्वेच्छाकारी, सर्वशक्तिमान, सर्व बुद्धिमान, जीवित, जीव देने वाला, ईश्वर और पोशक" है।

"वे ईश्वर के अस्तित्व को वास्तविक अस्तित्व समझते हैं क्योंकि जिस किसी वस्तु का अस्तित्व है वह उसी के द्वारा है।" (अध्याय २)

यह शुद्ध, शान्ति और जीवन देने वाला धर्म्म है, उसमें प्राचीन उपनिषदों का सच्चा सारांश है जो कि मनुष्यों के बनाए हुए ग्रन्थों में सब से उत्तम हैं। इतिहासकार को केवल इतनाही दु:ख है कि उत्तम धर्म्म केवल कुछ शिक्षित लोगों ही के लिये था और साधारण लोग मूर्त्तियों और मन्दिरों तथा निरर्थक विधानों और हानिकारक रुकावटों में पड़े हुए थे। जिस देश में एक प्राचीन और जीवनशक्ति देनेवाले धर्म्म की अमृतमय धारा नित्य बहा करती थी वहां के लोगों को विष क्यों पिलाया जाने लगा?

एक दूसरे स्थान पर एलबेरूनी हिन्दुओं के पुनर्जन्म के सिद्धान्त का तथा इस जीवन में किए हुए कर्मों के फलों को दूसरे जन्म में पाने का और सच्चे ज्ञान के द्वारा मुक्ति पाने का वर्णन करता है। उस समय आत्मा प्रकृति से जुदा हो जाती है। इन दोनों को जोड़ने वाले बंधन टूट जाते हैं और दोनों का संसर्ग अलग हो जाता है। विछोह और विच्छेद हो जाता है और आत्मा अपने भुवन को चली जाती है, और अपने साथ में ज्ञान के आनन्द को उसी प्रकार ले जाती है, जैसे तिल से दाने और फूल दोनों होते हैं पर वह अपने तेल से अलग नहीं हो सकता। ज्ञानवान जीव, ज्ञान और उसका आधार तीनों मिल कर एक हो जाते हैं।

(अध्याय ५)

कानून के प्रबन्ध के विषय का कुछ मनोरञ्जक वर्णन दिया हुआ है। साधारणत: अर्जी लिख कर दी जाती थी जिसमें कि प्रतिवादी के विरुद्ध दावा लिखा रहता था। जहां ऐसी लिखी हुई अर्जियाँ नहीं दी जाती थीं वहां

जबानी दावा सुना जाता था। शपथ कई प्रकार की होती थी जिनमें भिन्न भिन्न प्रथा की गम्भीरता होती थी और मुकद्मों का निर्णय शाक्षियों के प्रमाण पर किया जाता था।

(अध्याय ७०)

सब विदेशियों ने भारतवर्ष के फौजदारी के कानून के अत्यन्त कोमल होने के विषय में लिखा है और एलबेरूनी उसकी समानता ईसाइयों के कोमल कानून से करता है, और उनके विषय में कुछ बुद्धिमानी के वाक्य लिखता है जो कि यहां उद्धृत किए जाने जोग्य है। "इस विषय में हिन्दुओं की रीति और आचरण ईसाइयों के सदृश है क्योंकि ईसाइयों की नाईं वे पुण्य के तथा कुकर्म के न करने के सिद्धान्तों पर रक्खे गए हैं, यथा किसी भी अवस्था में हिंसा न करना, जो तुम्हारा कोट छीन ले उसे अपना कुर्ता भी दे देना, जिसने तुम्हारे एक गाल में तमाचा मारा है उसके सामने दूसरा गाल भी कर देना, अपने शत्रु को आशीर्वाद देना और उसकी भलाई के लिये प्रार्थना करना। मैं अपने जीव की शपथ खा कर कहता हूं कि यह बड़ा ही उत्तम सिद्धान्त है परन्तु इस संसार के सब लोग दर्शन शास्त्रज्ञ नहीं हैं, उनमें से अधिकांश लोग मूर्ख और भूल करने वाले हैं और वे बिना तलवार और चाबुक के टीक मार्ग में नहीं चलाए जा सकते। और निस्सन्देह जब से बिजयी कोन्स्टेनटाइन ईसाई हुआ तब से तलवार और चाबुक दोनों ही काम में लाए गए हैं क्योंकि उनके बिना राज्य करना असम्भव है।" (अध्याय ७१)

जो ब्राह्मण किसी दूसरी जाति के मनुष्य को मार डाले उसके लिये दण्ड केवल प्रायश्चित का था जिसमें निराहार रहना पड़ता था तथा पूजा और दान करने पड़ते थे परन्तु यदि कोई ब्राह्मण किसी दूसरे ब्राह्मण को मार डाले तो वह देश से निकाल दिया जाता था और उसकी सम्पत्ति छीन ली जाती थी। परन्तु ब्राह्मण को किसी अवस्था में भी प्राण दण्ड नहीं दिया जाता था। चोरी के लिये चुराई हुई सम्पत्ति के मूल्य के अनुसार दण्ड दिया जाता था। भारी अवस्थाओं में ब्राह्मण वा क्षत्रिय चोर को उसके हाथ वा पैर काट लेने का दण्ड दिया जा सकता था और नीच जाति के चोर को प्राण दण्ड दिया जा सकता था। जो स्त्री व्यभिचार करे वह अपने पति के घर से निकाल दी जाती थी और देश से भी निकाल दी जाती थी। (अध्याय ७१)

पिता की सन्तान उसकी सम्पति की उत्तराधिकारिणी होती थी और पुत्री को पुत्र के हिस्से का चौथा भाग मिलता था। विधवा सम्पत्ति की उत्तराधिकारणी नहीं होती थी परन्तु वह जब तक जीवित रहे तब तक उसे भोजन और वस्त्र पाने का अधिकार था। भाइयों की नांई दूर के उत्तराधिकारियों की अपेक्षा निकटस्थ उत्तराधिकारी तथा पौत्र इत्यादि सम्पत्ति पाते थे और मृतक का ऋण उसके उत्तराधिकारी को देना पड़ता था। (अ०७२)

कर लगाए जाने के विषय में भी ब्राह्मणों को वही सुबीता प्राप्त था जो कि दण्ड पाने के विषय में। भूमि में जो उत्पन्न हो उसका छठां भाग राजा का कर होता था और मजदूरे, शिल्पकार और व्यापार करने वाले भी

अपनी आय के अनुसार कर देते थे! केवल ब्रह्मणों ही को कर नहीं देना पड़ता था। (अध्याय ६७)

हिन्दू साहित्य के विषय में एलबेरूनी वेद से आरम्भ करता है, वह कहता है कि वेद जबानी सिखलाए जाते थे क्योंकि उनका पाठ आवाज के अनुसार होता था जिन्हें कि लिखने से भूल हो जाने की सम्भवाना थी। वह इस कथा का वर्णन करता है कि व्यास ने वेदों के चार भाग किए अर्थात् ऋक्, यजुस, सामन, और अथर्वण और इनमें से प्रत्येक भाग उसने अपने चारों शिष्यों अर्थात् पैल, वैशंपायन, जैमिनी, और सुमन्तु में से प्रत्येक को सिखलाया। वह उन अठारहों पर्व्व का नाम देता है जिनमें कि महाभारत अपने आधुनिक रूप में बँटा है और वह उसके अवशिष्ट हरिवंश का भी वर्णन करता है और रामायण की कुछ कथाओं का उल्लेख करता है। वह पाणिनि इत्यादि आठ वैयाकरणों के नाम लिखता है, और संस्कृत छन्द का भी कुछ वर्णन करता है। उसने सांख्य तथा अन्य दर्शन शास्त्रों के विषय में भी लिखा है, यद्यपि उसमें जो बातें लिखी हैं वे सदा इन मूल ग्रन्थों से नहीं है। बुद्ध और बौद्ध धर्म्म के विषय में इसका वृत्तान्त बहुत ही थोड़ा, अनिश्चित और अशुद्ध है। वह स्मृति पर मनु याज्ञवल्क्य इत्यादि के बीस ग्रन्थों के विषय में लिखता है, उसने अट्ठारहों पुराणों की दो भिन्न भिन्न सूचियां दी हैं और उसकी दूसरी सूची आज कल के अट्ठारहों पुराण से पूर्णतया मिलती है। यह हिन्दू साहित्य अध्ययन करने वाले के लिये एक आवश्यक बात है और उससे विदित होता है कि ये अट्ठारहों पुराण ईसा की ११

वीं शताब्दी के पहिले बन गए थे, यद्यपि इसके उपरान्त उनमें परिवर्तन किए गए हैं और अनेक बातें बढ़ाई गई हैं। परन्तु एलबेरूनी के ग्रन्थ में तंत्र साहित्य का कहीं उल्लेख नहीं मिलता । एलबेरूनी स्वयं एक निपुण गणितज्ञ था और उसने हमें हिन्दू ज्योतिषियों अर्थात् आर्यभट्ट, बाराह मिहर और ब्रह्मगुप्त का तथा उन पांचों ज्योतिष के सिद्धान्तों (सूर्य, वशिष्ठ, पुलिश, रोमक, और ब्रह्मा) का जिन्हें कि वाराहमिहर ने संक्षिप्त रूप में बनाया था बहुत लम्बा चौड़ा वर्णन किया है । एलबेरूनी विशेषत: वाराहमिहर की प्रशंसा करता है और कहता है कि यह ज्योतिषी उसके ५२६ वर्ष पहिले अर्थात् लगभग ५०५ ई० में हुआ है ।

एलबेरूनी ने इन हिन्दू ज्योतिषियों का जो लम्बा चौड़ा और पाण्डित्य पूर्ण वृत्तान्त दिया है उसका ब्योरे वार वर्णन करना हमारे लिये आवश्यक नहीं है । उसकी आलोचनाएं कहीं कहीं पर अशुद्ध हैं परन्तु सब बातों पर विचार करके उसने जिन प्रणालियों का वर्णन किया है उन्हें सचाई से समझाने का उद्योग किया है । उसने १२ आदित्यों के अर्थात् वर्ष के १२ मास के सूर्य के नामों को लिखा है अर्थात चैत्र में विष्णु, वैशाख में अर्यमन, ज्येष्ठ में विवस्वत, आषाढ़ में अंश, श्रावण में परजन्य, भाद्र में वरुण, अश्वयुज (आश्विन) में इन्द्र, कार्तिक में धातृ, मार्गशीर्ष (अग्रहायन) में मित्र, पौष्य में पुषण, माघ में भग और फाल्गुण में त्वष्टि । वह ठीक कहता है कि हिन्दुओं के मास का नाम नक्षत्रों के नाम से पड़ा है अर्थात आश्विन अश्विनी से, कार्तिक कृत्तिका से, मार्गशीर्ष मृगशिरा

से, पौष पुष्य से, माघ मघा से, फाल्गुण पूर्वाफाल्गुणी से, चैत्र चित्रा से, वैशाख विशाखा से, ज्येष्ठ ज्येष्ठा से, आषाढ़ पूर्वाषाढ़ से, श्रावण श्रवण से और भाद्रा, पूर्वभद्रपदा से। वह बारहों राशि के नाम भी देता है जिसे कि हिन्दुओं ने यूनानियों से उद्धृत किया था और जिसे यूनानियों ने भी एसीरियन लोगों से उद्धृत किया था। और वह हिन्दुओं के ग्रहों के अर्थात् मंगल, बुद्ध, बृहस्पति, शुक्र, और शनिश्चर के भी नाम देता है। (अध्याय १९)।

इसके सिवाय हिन्दू विद्यार्थियों के लिये यह उपयोगी बात है कि एलबेरूनी कहता है कि हिन्दू ज्योतिषियों को आकर्षण शक्ति के सिद्धान्त का कुछ ज्ञान था। एलबेरूनी लिखता है कि ब्रह्मगुप्त ने कहा है कि "सब भारी वस्तुएं प्रकृति के एक नियम के अनुसार पृथ्वी पर गिरती हैं क्योंकि वस्तुओं को आकर्षित करके रखना पृथ्वी का स्वाभाविक गुण है जैसे कि जल का बहना, अग्नि का जलना और वायु का चलना स्वाभाविक गुण हैं। वाराहमिहर भी कहता है कि पृथ्वी पर जो वस्तुएं हैं उन सब को पृथ्वी आकर्षित करती है" (अध्याय २६)। एलबेरूनी आर्यभट्ट के इस सिद्धान्त का भी उल्लेख करता है जिसके विषय में हम कह चुके हैं कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है और आकाश नहीं घूमता जैसा कि हमें देख पड़ता है। (अध्याय २६) पृथ्वी का गोल होना भी हिन्दू ज्योतिषियों को विदित था और पृथ्वी की परिधि ४८०० योजन कही गई है।

(अध्याय ३१)।

एलबेरुनी होम अयनभाग के विषय में भी लिखता है और वाराहमिहर के वाक्य उद्धृत करता है के पहिले के समय में (ऐतिहासिक काव्य काल में जब कि वेद सङ्कलित किए गए थे जैसा कि हम पहिले देख चुके हैं) दक्षिणायन अश्लेषा के मध्य में होता था और उत्तरायण धनिष्ठा में परन्तु अब (बराहमिहर के समय में) दक्षिणायन कर्क में होता है और उत्तरायण मकर में । (अध्याय ५६) इसके सिवाय एलबेरुनी नक्षत्रों के सूर्य्य के साथ अस्त और उदय होने के विषय में भी लिखता है और यह बतलाता है कि अगस्त नक्षत्र के सूर्य्य के साथ उदय और अस्त होने की ज्योतिष सम्बन्धी बात से किस प्रकार अगस्त्य ऋषि के विन्ध्या पर्वत को यह आज्ञा देने की कल्पित कथा की उत्पत्ति हुई कि जब तक वे न लौटें तब तक वह ज्यों का त्यों रहे । इन विषयों का तथा अनेक अन्य मनोरञ्जक विषयों का जो उल्लेख किया गया है उनका हम ब्योरेवार वर्णन नहीं दे सकते ।

भारतवर्ष का भूगोल हिन्दुओं को ईसा के उपरान्त और पहिले भली भांति विदित था । बौद्ध धर्म्म ग्रन्थों तथा कालिदास के काव्य और वाराहमिहर के ज्योतिष में जो वर्णन मिलता है उससे यह बात प्रगट होती है । परन्तु फिर भी हमें कट्टर हिन्दू ग्रन्थों में पृथ्वी का आकार, उसके सात एककैन्द्रक समुद्रों और सात एककैन्द्रक द्वीपों के साथ दिया है । सब के बीच में जम्बुद्वीप है, उसके चारों ओर खारा समुद्र है, उसके चारों ओर शाकद्वीप है, उसके चारों ओर क्षीर सागर है, उसके चारों ओर कुशद्वीप है, उसके

चारों ओर मक्खन का समुद्र है, उसके चारों ओर क्रौंच द्वीप है, उसके चारों ओर दधि सागर है, उसके चारों ओर शाल्मलि द्वीप है, उसके चारों ओर शराब का समुद्र है, उसके चारों ओर गोमेद द्वीप है, उसके चारों ओर चीनी का समुद्र है और अन्त में पुष्कर द्वीप है जिसके चारों ओर मीठा समुद्र है। (अध्याय २१ मत्स्यपुराण से उद्धृत किया हुआ) इससे अधिक शुद्ध भारतवर्ष के प्रान्तों का वृत्तान्त वायु पुराण से एलबेरूनी ने उद्धृत किया है। कुरु, पञ्चाल, काशी, कोशल इत्यादि मध्य भारतवर्ष में रहने वाले थे। अन्ध्र (मगध में), वंगीय, ताम्रलिप्तिक इत्यादि लोग पूरब में रहते थे। पाण्ड्य, केरल, चोल, महाराष्ट्र, कलिङ्ग, वैधर्व, अन्ध्र, (दक्षिण में) नाभिक्य, सौराष्ट्र इत्यादि लोग दक्षिण में रहते थे"। भोज मालव, हुन, (उस समय पंजाब का कुछ भाग हुन लोगों के अधिकार में था) इत्यादि लोग पश्चिम में रहते थे और पहलव (पारस के लोग) गन्धार, यवन, सिन्धु, शक, इत्यादि लोग उत्तर में थे (अध्याय २९)।

एलबेरूनी हिन्दुओं के अङ्क गणित और अङ्कों के विषय में कुछ वर्णन करता है और लिखता है कि इस शास्त्र में हिन्दू लोग संसार की सब जातियों से बढ़ कर हैं। "मैंने अनेक भाषाओं के अङ्कों के नामों को सीखा है परन्तु मैंने किसी जाति में भी हजार के आगे के लिये कोई नाम नहीं पाया. परन्तु हिन्दू लोगों में "अठारह अङ्क की संख्याओं तक के नाम हैं और वे उसे परार्द्ध कहते हैं। (अध्याय १६)

हमारा ग्रन्थकार भारतवर्ष में प्रचलित भिन्न भिन्न आकार की वर्णमाला का भी उल्लेख करता है, अर्थात् सिद्ध-मात्रिका जो कि काश्मीर और बनारस में लिखी जाती थी, नागर जिसका प्रचार मालवा में था, अर्द्धनागरी, मारवाड़ी, सिन्धव, कर्नाट, अन्ध्री, द्राविणी, गौड़ी, इत्यादि। यह गौड़ी निस्सन्देह बंगाल की वर्णमाला है। और भारतवर्ष के भिन्न भिन्न भागों में भिन्न भिन्न वस्तुएं लिखने के काम में लाई जाती थीं। कहीं पर तालपत्र, उत्तर और मध्य भारतवर्ष में भूर्ज इत्यादि। (अध्याय १६)

एक अध्याय में हिन्दू वैद्यक शास्त्र का भी वर्णन है। जान पड़ता है कि यह शास्त्र सदा से बहुत थोड़े लोगों के अधिकार में था और उसके विषय में बहुत से मिथ्या विचार प्रचलित थे। मूर्ख पाखण्डी लोग रसायन के द्वारा वृद्ध को युवा बनाने के समान बहुत सी अद्भुत बातों के करने का पाखण्ड करते थे और इस प्रकार मूर्ख लोगों का धन हरण करते थे। जिस प्रकार युरोप में मध्य काल में राजा लोग धातुओं का सोना बनाने के लिये बेहद लालची हो रहे थे वही दशा भारतवर्ष के राजा लोगों की भी थी और पाखण्डी लोग इस अद्भुत कार्य्य को सिद्ध करने लिये बहुत से निरर्थक और अमानुषिक विधानों को बतलाते थे।

वास्तव में भारतवर्ष की दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी से युरोप के मध्य काल की कई बातों में समानता पाई जाती है। एक उत्तम धर्म्म मानों पुजेरियों की बपौती होगया था परन्तु मिथ्या विश्वास और मूर्तिपूजा ने धर्म्म को बहुत कुछ बिगाड़ दिया था। युद्ध और राज्य करना एक दूसरी ही

जाति की बपौती होगई थी अर्थात् भारतवर्ष में राजपूत क्षत्रियों की और युरोप में फ्यूडल बेरन लोगों की और इन दोनों ही ने पहिले के अन्धकारमय समय के झगड़ों में प्रभुत्व पाया था, दोनों ही देश में समान रीति से लोग मूर्ख उत्साह-हीन और दासवत थे। अगष्टस और विक्रमादित्य के समय के कवियों का लोप होगया था और उनके उपरान्त उनके स्थान की पूर्ति करने वाला कोई नहीं रहा था। विज्ञान और विद्या के भी बड़े बड़े पण्डितों के नाम अब केवल कहानी से होगए थे और मानो इस समानता को पूर्ण करने के लिये लेटिन और प्राकृत-संस्कृत भाषाओं के स्थान पर आधुनिक भाषाएं बोली जाने लगीं, युरोप में इटेलियन, फ्रेंच और स्पेनिश भाषाएं और भारतवर्ष में हिन्दी इत्यादि। लोग मूर्ख रक्खे जाते थे और उनमें मिथ्या धर्म्म प्रचलित थे और वे भड़कीले तथा कभी न समाप्त होने वाले त्योहारों में लगाए गए। सब बातें छिन्न भिन्न और नाश को प्राप्त हुई जान पड़ती थीं और जातीय जीवन का पूरा लोप जान पड़ता था।

परन्तु यहां समानता का अन्त होता है, यूरोप के बलवान फ्यूडल बेरन लोग शीघ्र ही सर्व साधारण के साथ हिल मिल गए, उन्हों ने रणक्षेत्र राजसभा वा व्यापार में सर्व साधारण के लिये उद्योग किया और इस प्रकार आधुनिक जातियों में एक नए उत्साह और जीवन का संचार किया परन्तु भारतवर्ष में जातिभेद ने ऐसे हेल मेल को रोक रक्खा था और राजपूत क्षत्रिय लोग सर्व साधारण से जुदे

रह कर शीघ्र ही विदेशी आक्रमण करने वालों का शिकार हो गए और इस प्रकार उन सब का सत्यानाश हो गया।

हिन्दुओं को अपने जातिभेद और राजकीय दुर्बलता के लिये भारी दण्ड देना पड़ा है। सन् १२०० ई० के उपरान्त छ शताब्दियों तक हिन्दुओं का इतिहास शून्य है। ४००० वर्ष हुए कि पृथ्वी की आर्य्य जाति में केवल वेही सब से सभ्य थे और आज दिन पृथ्वी की आर्य्य जाति में केवल वेही लोग सामाजिक दृष्टि से निर्जीव और राजकीय दृष्टि से गिरे हुए हैं।

छ: शताब्दियों तक जीवहीन रहने के उपरान्त अब उनमें पुनर्जीवत होने के कुछ चिन्ह मिलते हैं। अब उनमें धर्म्म के मृत रूपों का उल्लंघन करने और शुद्ध दृढ़ और जीव देने वाले धर्म्म का प्रचार करने का उद्योग पाया जाता है। अब सामाजिक ऐक्य उत्पन्न करने का भी उद्योग हो रहा है जो कि जातीय ऐक्य की जड़ है। लोगों में जातीय ज्ञान का उदय हो रहा है।

कदाचित प्राचीन जाति में एक नए और उत्तम जीवन को देने का यत्न इङ्गलैण्ड को ही बदा है। आधुनिक सभ्यता के पुनर्जीवित करने वाले प्रभाव से यूनानी और इटली की प्राचीन जातियों में एक नई बुद्धि और जातिय जीवन का उदय हुआ है। अंग्रेजी राज्य की उत्तम रक्षा में अमेरिका और आस्ट्रेलिया में नई जातियां स्वराज्य और सभ्यता में उन्नति कर रहीं हैं। सभ्यता का प्रभाव और उन्नति का प्रकाश अब गंगा के तटों में भी फैलेगा। और यदि आधु-

निक यूरोप के विज्ञान और विद्या सहानुभूति और उदाहरण से हम लोगों को जातीय जीवन और ज्ञान को प्राप्त करने में कुछ सहायता मिले तो यूरोप आधुनिक भारतवर्ष को उस सहायता का बदला चुका देगा जो कि प्राचीन समय में भारतवर्ष ने यूरोप को धर्म्म विज्ञान और सभ्यता में पहुंचाई थी।

॥ इति ॥